मनोविज्ञान

और

शिक्षा

(विश्वविद्यालय कक्षा के मनोविज्ञान के विद्यार्थियों, शिक्षा-शास्त्रियों, अध्यापकों तथा अभिभावकों के लिए)

(द्वितीय परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण)

लेखक :

डॉ० सरयू प्रसाद चौबे,

एम० ए०, बी० टी०, (बनारस)

एम० एड० (इलाहाबाद);

ईडी० डी० (इण्डियाना, यू० एस० ए०);

(बाल मनोविज्ञान, बाल विकास, किशोर मनोविज्ञान, मनोविज्ञान, प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, शिक्षा सिद्धान्त, पाश्चात्य शिक्षा, सेकेण्डरी एडूकेशन फ़ॉर इण्डिया तथा सम फाउण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, आदि के रचयिता);

प्राध्यापक,

शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,

शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक प्रकाशक

हॉस्पीटल रोड, आगरा।

इस द्वितीय संस्करण का प्रकाशन आदरणीय बाबू राजनारायण अग्रवाल ने ही प्रारम्भ किया था। परन्तु वे इसके समाप्त होने के पहले ही हमें अकस्मात् छोड गए। लेखक वर्ग के लिए यह क्षति शीघ्र ही पूरी न हो सकेगी। उनके विगत सौहार्द्र की प्रिय स्मृति से भीतर एक हूक उठती है और हृदय हिल जाता है। दिवगत आत्मा को शान्ति मिले और प्रकाशक परिवार साहस जुटाकर उनके उच्च सिद्धान्तों को लेकर साहित्य सेवा में रत रहे यही हृदय की भावना है।

☆

प्रथम संस्करण, मार्च १९५३
द्वितीय परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण, जुलाई १९५६

☆

मूल्य ग्यारह रुपये।

स्वर्गीय
माता-पिता
की
पुण्य
स्मृति.
को.........

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

इस द्वितीय परिवर्द्धित और संशोधित सस्करण मे पुस्तक को एक नया ही कलेवर देने का प्रयास किया गया है। इसके आरम्भ और अन्त में क्रमश: "मनोविज्ञान का स्वरूप, विषय-विस्तार और पद्धतियाँ" और "आवश्यकतायें, प्रेरणाये और भग्नाशा" नामक दो नये अध्याय जोड़ दिए गए हैं। प्रथम सस्करण के पैराग्राफ साराश को इस संस्करण में प्रत्येक अध्याय के अन्त में "आपने ऊपर क्या पढा ?" शीर्षक के अन्तर्गत एक ही क्रम मे रख दिया गया है। पाठको की सुविधा के लिए अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दो को पुस्तक के क्रम में ही फुट-नोट में दे दिया गया है। सहायक पुस्तको और पारिभाषिक शब्दो की सूची तथा अनुक्रमणिका को और विस्तृत कर देने का भी प्रयत्न किया गया है। आशा है इस संस्करण में किए गए ये सब परिवर्तन पाठकों के लिए सुविधाजनक होगे।

पुस्तक मे सुधार हेतु पाठको से रचनात्मक सुझाव पाने में लेखक को बड़ी ही प्रसन्नता होगी, अत. उनसे प्रार्थना है कि वे अपने सुझाव समय-समय पर भेजते रहे।

जुलाई १९५९,
शिक्षा विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ।

सरयू प्रसाद चौबे

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

मानव को पूर्णरूपेण समझने के लिये हमारे पूर्वजो ने शताब्दियो तक चिन्तन, अध्ययन तथा परिश्रम किया है। इसी के फलस्वरूप दर्शन-शास्त्र का जन्म हुआ। दर्शन-शास्त्र का क्षेत्र दिन पर दिन बढता ही गया और बढ़ता जा रहा है, क्योकि मानव-सम्बन्धी हमारी जिज्ञासाओ का अभी तक समाधान नही हो सका है। इस समाधान के प्रयत्न में दर्शन-शास्त्र की छत्रछाया मे मनोविज्ञान का भी बहुत प्रारम्भ से ही हाथ रहा है, और अब तो मनोविज्ञान व्यक्ति को भली प्रकार समझने का दावा करने लगा है। इस जडवादी ससार में मनोविज्ञान ने जो रुख अपनाया है, अर्थात् जिस प्रकार वह व्यक्ति के स्वभाव तथा व्यवहार का अध्ययन कर उसके भविष्य की ओर सकेत करता है उससे कदाचित् प्राचीन भारतीय सस्कृति मे पला हुआ व्यक्ति सहमत न होगा। इतना ही नही, वरन् थोडी देर सोचने के बाद पाश्चात्य विद्वान भी मान लेते हैं कि मनोविज्ञान के निष्कर्ष व्यक्ति की सम्भावनाओं की ओर पूर्णत. सकेत नही कर पाते, क्योकि मानव पर किसी जड पदार्थ के सदृश् प्रयोगशाला में कोई ठीक-ठीक परीक्षण नही किया जा सकता। कारण यह है कि उसकी मानसिक स्थिति पर पूर्ण नियन्त्रण कठिन ही नही ; वरन् असम्भव भी है, क्योकि वह चेतन है। यहाँ दार्शनिक यह भी कह बैठता है कि उसकी सम्भावनाये असीमित हैं। कदाचित् इसी परस्पर झगडे के कारण इस शताब्दी के प्रारम्भ मे ही मनोवैज्ञानिको ने दार्शनिकों से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और अपने विषय का अध्ययन एकदम स्वतन्त्र कर डाला। वस्तुतः मानव को समझने के लिये केवल मनोविज्ञान का ही अध्ययन पर्याप्त नहीं है। अत. किसी का यह समझना कि मनोविज्ञान के अध्ययन से मानव को पूर्णरूप से समझा जा सकता है नितान्त भ्रम है। परन्तु हाँ, यह सत्य है कि उसे समझने के लिये यह बडी ही आवश्यक और प्रथम सीढ़ी है। इसी सीढी को हिन्दी भाषा भाषी व्यक्तियों के लिये सुलभ करने के लिये इस पुस्तक की रचना की गई है।

दर्शन-शास्त्र से अलग होने पर अपने दृष्टिकोण के अनुसार मनोविज्ञान की दिन पर दिन उन्नति होने लगी। फलत. थोडे ही दिनों में मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र की दासता से मुक्त हो गया और अब वह विभिन्न उच्च विद्या-केन्द्रो में स्वतन्त्र अध्ययन का विषय होने लगा है। इस विषय मे तो पाश्चात्य विश्वविद्यालय बहुत ही बढे हुए हैं। अब हमारे देशीय विश्वविद्यालय भी इसी पथ का अनुसरण करने लगे हैं।

यद्यपि मनोविज्ञान के निष्कर्ष व्यक्ति को सम्पूर्णत. समझने में हमारे सहायक नही होते, पर उनके सहारे व्यक्ति के बारे में हमें जो कुछ भी पता चलता है उसका

भारी महत्त्व है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के आधार पर संचालित शिक्षा से हमे आशातीत सफलता मिली है। यही कारण है कि आज का कोई भी सभ्य राष्ट्र मनोविज्ञान की उपादेयता की उपेक्षा नही कर सकता। मनोविज्ञान से केवल बालकों के शिक्षा-क्रम मे ही सहायता नही मिलती, वरन् अन्य क्षेत्रो मे भी इसकी उपादेयता अमान्य नही। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्धों में सैनिको तथा विभिन्न कोटि के अधिकारियो के चुनाव में मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों से कितनी सहायता ली गई है यह किसी शिक्षित व्यक्ति से छिपा नही। इन सब कारणो से मनोविज्ञान का अध्ययन किसी भी उन्नतिशील राष्ट्र के शिक्षको, कर्णधारों एवं नागरिको के लिये अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

शिक्षा-क्षेत्र मे मनोविज्ञान का अध्ययन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसीलिये तो प्रत्येक शिक्षक के लिये मनोविज्ञान का कुछ न कुछ ज्ञान अपेक्षित है। बालक को किसी प्रकार की शिक्षा देने के पूर्व हमे उसके स्वभाव को भली-भाँति समझ लेना है, अन्यथा हमारा शिक्षा-श्रम उसी प्रकार निष्फल जायगा जैसे, कुम्हार या बढ़ई का कार्य व्यर्थ जाता है जब वह बिना उपकरण को पहचाने ही इच्छित वस्तु बनाने बैठ जाता है। बाल-स्वभाव को समझने मे मनोविज्ञान हमारा एक मात्र सहायक है। मनोविज्ञान हमे यह बतलाता है कि "बालक कोरी पटिया नही कि उस पर जो चाहा लिख दिया।" वंशानुक्रम के अनुसार बालक कुछ गुणो व अवगुणो अर्थात् सम्भावनाओं को जन्म से ही ले कर आता है। बालक की इन सम्भावनाओ को समझे बिना उसे शिक्षा देने का प्रयत्न करना मानो बिना पेंदी के घडे मे पानी डालना है। बालक की शिक्षा का उत्तरदायित्व अभिभावक और शिक्षक पर ही नही, वरन् उसके सम्पर्क मे आने वाले सभी सुजान व्यक्तियो पर है। बालक के स्वभाव को अच्छी तरह समझे बिना ही इस उत्तरदायित्व का निभाना असम्भव ही नही, प्रत्युत पाप भी है। बाल-स्वभाव का मर्म मनोविज्ञान के अध्ययन बिना अच्छी प्रकार नही जाना जा सकता। स्पष्ट है कि मनोविज्ञान का अध्ययन केवल अभिभावक और शिक्षको के लिये ही नही, वरन् अन्य उत्तरदायी व्यक्तियों के लिये भी आवश्यक है। कदाचित् यहाँ पर यह कहने की आवश्यकता नही कि मनोविज्ञान के अध्ययन से केवल बाल व्यापार का ज्ञान नही होता, वरन् अध्येता को अपनी कुछ गत विपम क्रियाओ, व्यवहार तथा मन. स्थिति का भी बोध हो जाता है। फलत. इस ज्ञान के आधार पर वह अपने "आत्म" के समझने के 'पहले सोपान' की ओर भी अग्रसर हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से मनोविज्ञान के अध्ययन की महत्ता स्पष्ट है। पाश्चात्य देशो में तो इसका पर्याप्त प्रचार हो चला है। प्राय: सभी पाश्चात्य बड़े नगरो में मनोवैज्ञानिक परीक्षण-शालाये खुल गई हैं जहाँ भावना-ग्रन्थियो से भाजित व्यक्तियो

के उपचार का आयोजन रहता है। फलत मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो चला है और इससे वयस्को की पुनर्शिक्षा मे पर्याप्त सहायता मिलती है। हमारा देश तो इस क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। परन्तु हर्ष है कि स्वराज्य-प्राप्ति के फलस्वरूप हमारी राष्ट्रीय व प्रदेशीय सरकारे तथा देश के विश्वविद्यालय अब मनोविज्ञान के अध्ययनार्थ आवश्यक आयोजन करने के लिये प्रयत्नशील हैं।

मनोविज्ञान की परिधि अब बहुत बढ गयी है। फलत. इसके कई अग कर दिये गये हैं। इन विभिन्न अगो का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक व सम्भव नही। प्रस्तुत पुस्तक में केवल आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान (जनरल साइकॉलॉजी) के आधार पर शिक्षा मनोविज्ञान की एक संक्षिप्त रूपरेखा खीचने की चेष्टा की गई है। इसीलिए इसका नामकरण "मनोविज्ञान व शिक्षा" किया गया है। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण के साथ साथ इसमें शिक्षा-शास्त्रियो, शिक्षको तथा अभिभावको के दृष्टिकोणो का भी यथा-सम्भव आदर करने का प्रयत्न किया गया है। अत. आशा है पुस्तक सभी वर्ग के अध्येता के लिये उपादेय होगी।

अब यह निश्चित हो चुका है कि देश के हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशो के विश्वविद्यालयो की शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगा तथा अन्य प्रदेशो के विश्वविद्यालयो में भी हिन्दी को एक प्रमुख स्थान मिलेगा। फलत. हिन्दी मे शास्त्रीय ढग पर लिखी गई विभिन्न विषयो की पुस्तको की माँग है। अत अब हमे हिन्दी का वाड्मय सभी दृष्टिकोणो से पूर्ण करना है जिससे दीक्षा (डिग्री) कक्षाओ के लिये उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें सुलभ हो सके। इस उद्देश्य की आशिक पूर्ति के लिए भी इस पुस्तक की रचना की गई है।

इस पुस्तक मे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको व मान्य विद्वानो की उक्तियो एव मतों को स्थान देते हुए लेखक ने अपनी अनुभूतियो और अन्वेषणो का भी यथास्थान उल्लेख किया है। ऐसे ही स्थलो पर वह कुछ मौलिकता का अधिकारी है। लेखक का यह प्रयत्न रहा है कि पुस्तक अपने क्षेत्र में सभी दृष्टिकोण से शास्त्रीय होकर विशेपकर एम० एड० तथा एम० ए० (मनोविज्ञान और दर्शन-शास्त्र) के छात्रो के लिए सहायक हो। दूसरे अध्याय के लिखने मे तो केवल उन्ही की आवश्यकता पर ध्यान रक्खा गया है। अत साधारण पाठक उसे सबसे अन्त मे पढने के लिए स्थगित कर सकते हैं। पुस्तक के अन्य अध्याय बी० एड०, बी० टी० तथा एल० टी० के विद्यार्थियो तथा अन्य पाठको के लिये भी सहायक होगे।

विभिन्न अध्यायो मे विषय का अनुशीलन व स्पष्टीकरण किस प्रकार किया गया है इस पर सकेत करना पाठक की अध्ययन-शक्ति और क्षमता पर आक्षेप करना होगा। ऊपर यह कहा जा चुका है कि यह पुस्तक मनोविज्ञान के विद्यार्थियो, शिक्षा-

शास्त्रियो, अध्यापको तथा अभिभाविकों के लिए लिखी गई है। अतः इस पुस्तक-सम्बन्धी प्रत्येक के विशिष्ट क्षेत्र की ओर सकेत करना आवश्यक जान पडता है। परन्तु प्रथम तीन श्रेणी के पाठकों के लिये तो ऐसा सकेत आवश्यक नही, क्योकि बालक के विकास-क्रम और शिक्षा-सिद्धान्त को समझने के लिए उन्हे पूरी ही पुस्तक पढने को कहा जा सकता है। परन्तु अभिभावको के लिए अध्याय ३–१०, १४ और २४ विशेष उपयोगी हो सकते हैं।

लेखक अपने उपर्युक्त उद्देश्यो मे कहाँ तक सफल हुआ है यह तो पाठक ही जाने; पर यदि इससे किसी को इस क्षेत्र मे आगे कार्य करने अथवा जानने की प्रेरणा मिल सकी तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

पुस्तक के प्रथम दो अध्याय लेखक की "नियो-हार्मिक फाउण्डेशन आव एडूकेशन" नामक एम० एड० के डिजर्टेशन के पहले और तीसरे अध्यायो के आधार पर लिखे गये हैं। इसकी स्वतन्त्रता पाने के लिये लेखक 'इलाहाबाद विश्वविद्यालय' के वाइस चान्सलर का आभारी है।

पाण्डुलिपि के दोहराने का कठिन कार्य लेखक के मित्र श्री प्यारेलाल रावत, एम० ए०, एल० टी० ने किया है। रावत जी को केवल धन्यवाद दे कर उनसे उऋण होना सम्भव नही। अतः इस विषय मे लेखक मूक ही रहना चाहता है।

पारिभाषिक शब्दों की सूची के क्रम को वर्णानुसार-संशोधन मे श्री शिवप्रसाद सिंह, एम० एस-सी० ने बडी सहायता की है। लेखक इनका बडा अनुगृहीत है। अनुक्रमणिका के वर्णानुसार-क्रम को सुधारने मे सर्वश्री रमेश पाण्डेय, भगवान सिंह भदौरिया, भूपसिंह, नरेन्द्र सिंह, जगरूप सहाय जैन, साहसकरन महेश्वरी, निर्भय स्वरूप वर्मा, रघुवीर सिह चौहान, रामनाथसिह, हरप्रसाद गुप्त और भगवानसिह बुन्देल से बडी सहायता मिली है। इनके प्रति लेखक आभारी है।

पुस्तक के इस रूप मे प्रकाशन और छपाई में सहयोग के लिए प्रकाशक तथा प्रेस के अध्यक्ष को लेखक हृदय से धन्यवाद देता है।

सरयू प्रसाद चौबे

मार्च १, १९५३।
बलवन्त राजपूत कॉलेज ऑव् एडूकेशन,
आगरा।

अध्याय १

मनोविज्ञान का स्वरूप, विषय-विस्तार, और पद्धतियाँ १–१६

अध्याय २

शिक्षा का मनोविज्ञान से सम्बन्ध २०-४५

अध्याय ३

कुछ मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय और शिक्षा ४६-१०७

अध्याय- ४

विकास का रूप और शिक्षा १०८-१३०

अध्याय ५

वंशानुक्रम और वातावरण १३१-१५१

अध्याय ६.

मूलप्रवृत्तियाँ और शिक्षा १५२-१८२

अध्याय ७

कुछ मूलप्रवृत्तियाँ १८३-२०७

अध्याय ८

कुछ सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ २०८-२६६

अध्याय ९

संवेग २७०–२८२

अध्याय १०

कुछ स्थायीभाव और भावना-ग्रन्थियाँ २८३-३०६

अध्याय ११

संकल्प-शक्ति और चरित्र ३०७-३२५

अध्याय १२

समूह मनोविज्ञान ३२६-३३८

अध्याय १३

वैयक्तिक भेद और शिक्षा में उनकी व्यवस्था ३३६-३४५

अध्याय १४

व्यक्तित्व ३४६-३६२

अध्याय १५

अन्तर्द्वन्द ३६३-३८०

अध्याय १६

सीखना ३८१-४००

अध्याय १७

शिक्षा का स्थानान्तर ४०१-४०६

अध्याय १८

स्मृति ४१०-४३६

अध्याय १९

अवधान, रुचि और थकान ४३७-४५९

अध्याय २०

कल्पना ४६०-४७२

अध्याय २१

संवेदना, प्रत्यक्षीकरण और पूर्वानुवर्ती ज्ञान ४७३-४८६

अध्याय २२

चिन्तन, तर्क और भाषा ४९०-५१२

अध्याय २३

बुद्धि और उसकी परीक्षा ५१३-५५६

अध्याय २४

ज्ञान, स्वभाव और झुकाव-परीक्षाएँ ५५७-५७५

अध्याय २५

विशिष्ट बालक ५७६ ५८८

अध्याय २६

आवश्यकतायें, प्रेरणाये और भग्नाशा ५८९-६०२

————

१

मनोविज्ञान का स्वरूप, विषय-विस्तार, और पद्धतियाँ[1]

इस अध्याय मे मनोविज्ञान के स्वरूप के अन्तर्गत 'मनोविज्ञान है क्या', 'मनोविज्ञान . एक विज्ञान', मनोविज्ञान की 'शाखायें', 'उद्देश्य', 'समस्या', 'मनोविज्ञान द्वारा मनुष्य की कल्पना', तथा 'मनोविज्ञान की देन', की क्रमश चर्चा की जायगी। इसके बाद 'विषय-विस्तार', और 'पद्धतियो' पर प्रकाश डाला जायगा।

मनोविज्ञान है क्या[2] ?

यो तो मनोविज्ञान लगभग दो हजार वर्षो से एक स्वतत्र विपय माना जाता है, परन्तु वस्तुत यह शताब्दियो तक दर्शन-शास्त्र[3] का ही सहचर बना रहा। पिछले लगभग तीस-पैंतीस वर्पो से मनोवैज्ञानिको ने कडा रुख लिया है और मनोविज्ञान को 'विज्ञान'[4] के रूप मे ला दिया है। यही कारण है कि अब विश्वविद्यालयो मे 'मनोविज्ञान' के भी अलग-अलग विभाग खुलने लगे हैं।

पहले इस विज्ञान का सम्बन्ध 'आत्मा'[5] से समझा जाता था। आत्मा के ही विषय मे 'अन्वेपरा'[6] तथा 'विचार करना'[7] इसका प्रधान उद्देश्य था। फलत मनोविज्ञान-सम्बन्धी प्राचीन विचारो मे हम 'अध्यात्मवाद'[8] का पुट पाते हैं। मनोवैज्ञानिक जब तक अध्यात्मवाद के सहारे लटके रहे तब तक मनोविज्ञान की वैज्ञानिक उन्नति न हो सकी। सोलहवीं शताब्दी तक प्राय यही दशा रही। तत्पश्चात् आत्मा का स्थान 'मस्तिष्क'[9] ने ले लिया। अब 'मस्तिष्क' के बारे मे पता लगाना मनोविज्ञान का क्षेत्र माना गया। परन्तु 'आत्मा' के सदृश् 'मस्तिष्क' की भी ठीक-ठीक परिभाषा न की जा सकी। अत वैज्ञानिक दृष्टि से मनोविज्ञान की विशेप उन्नति न हो पाई। यह 'शुद्ध' वैज्ञानिक विपय न हो सका। अत कुछ विद्वानो ने मनोविज्ञान को 'चेतना'[10] का विज्ञान माना। परन्तु इस विषय मे भी बहुत मतभेद रहा। क्योकि 'चेतना' के अतिरिक्त 'अचेतना'[11] को भी मानसिक जीवन का एक अग माना गया। इस प्रकार मनोविज्ञान की परिभापा प्राय समय-समय पर बदलती रही।

---

1. Nature, Scope and Methods of Psychology. 2. What is Psychology ? 3 Philosophy. 4. Science. 5. Soul 6. Investigation. 7 Think 8 Spiritualism. 9. Mind. 10. Consciousness. 11. Unconsciousness

आजकल की मनोविज्ञान की 'परिभाषा' पहले से बहुत भिन्न है। अब मनोविज्ञान को मानव तथा पशु के व्यवहार[1] का विज्ञान माना जाता है। इस प्रकार मनोविज्ञान के अन्तर्गत् केवल मानव व्यवहार की ही चर्चा नही आती, वरन् 'पशु के व्यवहार' की भी विवेचना की जाती है। पशु के 'व्यवहार' के आधार पर 'मानव व्यवहार' विषयक बहुत सी बातो की पुष्टि होती है। हमारे व्यवहार दो प्रकार के होते हैं—एक स्वाभाविक[2] और दूसरे 'अर्जित'[3] अथवा 'सीखे हुए'[4]। मनोविज्ञान इन दोनो प्रकार के व्यवहार पर अपनी दृष्टि डालता है।

मनोविज्ञान : एक विज्ञान[5]

उपर्युक्त विवेचन से हम मनोविज्ञान के 'विषय'[6] का अनुमान कर सकते हैं। इसके अन्तर्गत 'व्यवहार' विषयक सभी बातो पर विचार किया जाता है। अध्ययन तथा गहन अन्वेषण के आधार पर कुछ सिद्धान्त तथा नियमो को स्वीकृत कर लिया गया है। इन्ही के आधार पर हम किसी 'व्यवहार' के 'भूत' और 'भविष्य' की सम्भावित बातो का अनुमान लगाते है। इन्ही के सहारे हम किसी 'व्यवहार' के कारण की खोज करते हैं। किसी व्यवहार के कारण को ही बतलाना मनोविज्ञान का प्रधान विषय है। अपने इस प्रयत्न मे मनोवैज्ञानिक विज्ञान की विधियो का यथासम्भव सहारा लेता है। कोरे विचार के आधार पर वह कुछ भी नही मानता। उसे प्रत्येक बात के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। अतएव मनोविज्ञान को विज्ञान माना गया है; परन्तु यह मानव व्यवहार अथवा 'वातावरण' मे स्थित विभिन्न उद्दीपको के प्रति मानव प्रतिक्रियाओ[7] के अध्ययन का विज्ञान है।

मनोविज्ञान को 'प्राकृतिक मनोविज्ञान'[8] की एक शाखा माना जाता है। परन्तु हमे यह ध्यान रखना है कि मनोविज्ञान मानव व्यवहार का विज्ञान है, न कि किसी पदार्थ[9] का। इस वस्तु-स्थिति के कारण मनोविज्ञान तथा अन्य विज्ञानो मे एक मौलिक भेद आ जाता है। पदार्थ से सम्बन्धित विज्ञान अपने विश्लेषण तथा निष्कर्षो मे एकदम ठीक हो सकते हैं, क्योकि प्रयोगशाला मे पदार्थ के विभिन्न अगो अर्थात् विज्ञान के विषय पर सम्पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु ऐसी बात मनोविज्ञान के विषय मे नही कही जा सकती। मनोविज्ञान का विषय मानव मस्तिष्क से नियन्त्रित मानव व्यवहार है। लाख चेष्टा करने पर भी मानव मस्तिष्क पर हम पूर्ण नियन्त्रण नही प्राप्त कर सकते। यह नही कहा जा सकता कि मानव मस्तिष्क किस समय किधर घूम जायगा। क्षण-क्षण मे वह हजारो मील की दूरी नापता है। एक समय वह

---

1. Science of human and animal behaviours. 2. Natural. 3. Acquired. 4. Learned. 5. Psychology : A Science. 6. Subject-matter. 7. Human responses to the various stimuli present in the environment. 8. Natural Science 9. Matter.

न्यूयार्क के विषय मे सोचता है तो दूसरे ही क्षण वह पेकिंग पहुँच सकता है। एक क्षण वह किसी व्यक्ति से बातें सुनता है तो उसी समय उसका चित्त मन ही मन किसी अन्य घटना की ओर जा सकता है। कहने का अर्थ यह है कि मस्तिष्क की कूद पर किसी का वश नही चल सकता। फलत मानव मस्तिष्क से सम्बन्धित जो कुछ नियम और सिद्धान्तो की रचना की जायगी उसमें अनुमान तथा सम्भावना[1] की भी मात्रा अवश्य रहेगी। अतएव मनोविज्ञान को रसायन-शास्त्र अथवा गणित आदि जैसे विज्ञानो की तरह शुद्ध विज्ञान नही कहा जा सकता।

मनोविज्ञान तथा पदार्थ-सम्बन्धी विज्ञानो में दूसरा मौलिक भेद यह है कि पदार्थ-सम्बन्धी विज्ञानो मे सर्वव्यापकता[2] के लक्षण अधिक मिलते हैं, परन्तु मनोविज्ञान मे इसके विपरीत हमें वैयक्तिकता[3] अथवा वैयक्तिक[4] विभिन्नता मिलती है। "मनोविज्ञान किसी एक मस्तिष्क-विशेष के सम्बन्ध मे उसकी विभिन्न क्रियाओ का अध्ययन करता है। मनोवैज्ञानिक जब किसी घटना या 'वस्तु-विशेष' के विषय में विचार करता है तो उसके विचार का विषय तत्सम्बन्धी केवल एक व्यक्ति के मस्तिष्क से रहता है। वह सोचता है कि यह वस्तु अमुक व्यक्ति को कैसी लगती है। पदार्थ-सम्बन्धी विज्ञानो की बात दूसरी है। वैज्ञानिक किसी वस्तु विशेष के प्रति सभी मनुष्यो की प्रतिक्रिया के आधार पर अपना काम प्रारम्भ करता है। उदाहरणार्थ— मनोवैज्ञानिक जब हाथी पर विचार करता है तो उसके प्रति एक मनुष्य की प्रतिक्रिया का अध्ययन करता है। इसके विपक्ष मे एक वैज्ञानिक अपना अध्ययन हाथी के प्रति सभी व्यक्तियो के सामान्य विचार की भूमिका के आधार पर प्रारम्भ करता है।"[5]

परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, हमे यह मानना पडेगा कि मनोविज्ञान एक प्रकार का प्राकृतिक विज्ञान है, क्योकि प्राकृतिक विज्ञान की तीन मुख्य विधियो— निरीक्षण[6], परीक्षण[7] और वर्णन[8]—को यह भी अपनाता है। दर्शन-शास्त्र, नीति-शास्त्र अथवा सौन्दर्य-विज्ञान की तरह मनोविज्ञान आदर्शवाद की चर्चा नही करना चाहता। मनोविज्ञान किसी 'वस्तु' की वास्तविक स्थिति का अध्ययन करना चाहता है। इस अध्ययन मे उपरोक्त वैज्ञानिक विधि का ही यह सहारा लेता है। अत मनोविज्ञान को एक विज्ञान माना जा सकता है।

मनोविज्ञान की शाखाएँ[9]

सक्षेप मे मनोविज्ञान के प्राय दो भाग किये जा सकते हैं—साधारण[10] और

---

1. Probability. 2. Universalistic Marks. 3. Individualistic Marks. 4. Individual Differences.

5. सरयूप्रसाद चौबे मनोविज्ञान, पृष्ठ १३, आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९५३।

6. Observation. 7. Experiment. 8. Description. 9. Branches of Psychology. 10. Normal.

असाधारण[1]। 'साधारण' मनोविज्ञान मे मनुष्य और पशु के सभी व्यवहारो का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। 'असाधारण' मनोविज्ञान मे विशेषकर मनुष्य की अस्वस्थ अवस्था का विश्लेषण कर उसके कारण को समझने का प्रयत्न किया जाता है। 'साधारण' मनोविज्ञान के 'शुद्ध',[2] 'वैयक्तिक',[3] 'सामूहिक',[4] 'सामाजिक',[5] और 'व्यावहारिक'[6] आदि शाखाये मानी गयी हैं। 'असाधारण' मनोविज्ञान मे भी 'वैयक्तिक' और 'सामूहिक' दो भाग किये जाते हैं। 'साधारण' और 'असाधारण' मनोविज्ञान की इन विविध शाखाओ मे से कई प्रशाखाये भी प्रस्फुटित हुई है। उनकी ओर यहाँ संकेत करना हमारी सीमा के बाहर है।

शिक्षा के क्षेत्र मे हमारा प्रयोजन विशेषकर व्यावहारिक मनोविज्ञान से ही रहता है। व्यावहारिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत 'शिक्षा',[7] 'व्यावसायिक',[8] और धर्म मनोविज्ञान[9] आदि आदि हैं। इस पुस्तक मे हमारा क्षेत्र शिक्षा मनोविज्ञान का ही है।

*मनोविज्ञान के उद्देश्य[10]

अन्य विज्ञानो की तरह मनोविज्ञान के अपने उद्देश्य हैं। संक्षेप मे अधोलिखित मनोविज्ञान के उद्देश्य माने जा सकते हैं —

१—वातावरण[11] के विभिन्न अगो के साथ अपने को 'व्यवस्थित[12] करने के क्रम' मे मनुष्य के प्रयत्न अथवा क्रियाओ का वर्णन करना।

२—किसी वातावरण अथवा परिस्थिति-विशेष मे व्यक्ति तथा समूह व समाज के भावी व्यवहार की कल्पना करना।

३—उपर्युक्त ज्ञान के आधार पर व्यक्ति की क्रियाओ मे मनोनुकूल सुधार लाने और साथ ही साथ वातावरण को भी सुधारने के लिए उपाय बतलाना।

मानव क्रियाओं का वर्णन[13]—

मनोविज्ञान का प्रधान उद्देश्य मानव क्रियाओ का वर्णन करना है। इस उद्देश्य की सफलता पर ही उसके अन्य दो उद्देश्य निर्भर है। किसी व्यक्ति तथा स्थिति-सम्बन्धी भावी बातो का पता लगाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके बारे मे वर्तमान बातो को समझा जाय। कोई बालक भविष्य मे क्या होगा इसका अनुमान करने के पहले उसकी वर्तमान शक्ति, योग्यता तथा दुर्बलता आदि का ज्ञान होना आवश्यक है।

---

1. Abnormal. 2. Pure 3 Individual. 4 Group. 5, Social. 6. Applied. 7. Educational Psychology 8. Industrial Psychology. 9. Religious Psychology. 10. Objects of Psychology.

*(इस अध्याय के इस भाग तथा अगले अन्य भागों के लिये लेखक द्वारा रचित 'मनोविज्ञान' पृष्ठ, ३-५, ८-११, ५५-६६, देखिये, आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९५३)

11. Environment. 12. In the Process of Adjustment. 13. To Describe human behaviour.

भावी व्यवहार की कल्पना करना[1]—

यदि हम किसी उम्र विशेष मे बालक के किसी आचरण के कारण को समझना चाहते हैं तो उस उम्र के सैकडो बालको का हमे अध्ययन करना होगा। इस अध्ययन के आधार पर उस उम्र-विशेष के किसी बालक के व्यवहार के सम्बन्ध में कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार किसी कौटुम्बिक अवस्था-विशेष के आधार पर यह कहना कठिन न होगा कि उस कुटुम्ब के बालको का आचरण कैसा होगा, यदि वैसी ही कौटुम्बिक अवस्था के हजारो बालको का अध्ययन कर उनके आचरणो की समीक्षा की जा चुकी है। इस प्रकार कई समान व्यक्तियो के अध्ययन के आधार पर मनोविज्ञान किसी परिस्थिति-विशेष मे मनुष्य के भावी व्यवहार की कल्पना करता है।

व्यवहार और वातावरण में सुधार लाना[2]—

भावी व्यवहार की कल्पना के आधार पर कुछ आवश्यक उपचार तथा नियन्त्रण की आवश्यकता हो सकती है। इस उपचार तथा नियन्त्रण मे मनोविज्ञान की ही सहायता लेनी पडती है, क्योकि मानव व्यवहार के ज्ञान के आधार पर ही यह निश्चय किया जा सकता है कि किस प्रकार का उपचार तथा नियन्त्रण उपयोगी होगा। इस प्रकार मानव व्यवहार और वातावरण मे आवश्यक सुधार लाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

मनोविज्ञान की समस्या[3]

मनोविज्ञान को अपने उपर्युक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए एक समस्या का सामना करना होता है। इस समस्या के तीन अग किए जा सकते हैं :—

१—व्यवहार के लक्षण को समझना[4]
२—उसका विश्लेषण[5], तथा
४—व्याख्या[6]

व्यवहार के लक्षण—

मानव व्यवहार के छ अग किए जा सकते है :—
१—ज्ञानेन्द्रियो द्वारा अनुभव करना[7]।
२—प्रत्यक्षीकरण करना या समझना[8]।
३—सोचना[9]।

---

1. To predict human behaviour 2 To bring in desirable changes in environment and human behaviour. 3. The problem of psychology. 4. To understand the characteristics of behaviour. 5 Analysis. 6. Interpretation. 7. Sensing. 8. Perceiving. 9 Thinking.

४—अनुभव करना[1]।
५—सकल्प करना[2]।
६—करना[3]।

उपर्युक्त छ अगो की पुस्तक के विभिन्न अध्यायो मे स्थानानुकूल व्याख्या की जायगी। मानव व्यवहार के लक्षण को समझने के लिए सबसे पहले यह देखना चाहिए कि उपर्युक्त अगो मे से इसका सम्वन्ध किससे है। इसके वाद जिज्ञासु को यह समझना चाहिए कि शारीरिक[4] और मनोवैज्ञानिक[5] क्रियाओ मे अन्तर क्या है। इस अन्तर को समझे विना वह 'एक' के स्थान पर 'दूसरे' को समझ जायगा। इसके अतिरिक्त उसे विभिन्न मनोवैज्ञानिक क्रियाओ के परस्पर–भेद और निर्भरता को समझना चाहिए।

विश्लेषण—

व्यवहार के लक्षण को पहचान लेने के वाद उसका विश्लेषण करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि विना विश्लेषण के घटना की विस्तृत बाते समझना असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन है।

व्याख्या[6]—

विश्लेषण के वाद व्याख्या करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा विश्लेषण का कुछ अर्थ ही न होगा। व्याख्या मे विभिन्न वातो को एक क्रम मे वाँधा जाता है। इस क्रम के विना उनका अर्थ समझना अत्यन्त कठिन है। उदाहरणार्थ, वालक के किसी समस्यात्मक व्यवहार को समझने के लिए उसकी गत और वर्तमान मानसिक स्थिति, विगत वीमारियो, कुटुम्व के विभिन्न व्यक्तियो से उसका सम्वन्ध, पडोस के साथी तथा स्कूल मे उसका कार्य आदि की व्याख्या करनी आवश्यक होगी।

मनोविज्ञान द्वारा मनुष्य की कल्पना[7]

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य वातावरण के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाये दिखलाने वाला एक प्राणी[8] है। यह प्राणी विभिन्न अवयवो से इस प्रकार सुसज्जित है कि वह अपनी देख-रेख और रक्षा स्वय कर लेता है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि इन अवयवो की सहायता से प्राणी[9] वातावरण मे अपने को व्यवस्थित कर लेता है। आत्म-रक्षा,[10] जाति-रक्षा,[11] सीखने,[12] तथा सोचने[13] के सम्वन्ध मे प्राणी की सहायता करने वाले अवयव ही वातावरण सम्वन्धी व्यवस्थापन में

---

1. Feeling. 2. Willing. 3. Doing. 4. Physical and biological Phenomena 5. Psychological Phenomena. 6 Interpretation 7. Conception of Man according to Psychology 8. Organism. 9. The organism is able to adjust itself in the environment. 10 Self-preservation. 11. Race-preservation 12. Learning 13. Thinking.

प्राणी की सहायता करते हैं। मनोविज्ञान विशेषत व्यवस्थापन-सम्बन्धी अवयवों से ही अपना सम्बन्ध रखता है। इन अवयवों के सक्षेप मे तीन भाग किये जा सकते हैं :—

१—ग्रहण करने वाले यन्त्र[1]।

२—जोडने वाले यन्त्र[2]।

३—प्रतिक्रिया दिखलाने वाले यन्त्र[3]।

ग्रहण करने वाले यत्र के अन्तर्गत मनुष्य की सभी ज्ञानेन्द्रियाँ आ जाती हैं; जैसे, आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा आदि। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने-अपने क्षेत्र मे प्रधान हैं। एक का कार्य दूसरे से नही हो सकता।

जोडने वाले यन्त्र के अन्तर्गत मस्तिष्क और नाडी-मण्डल आते हैं। रक्त-धमनियाँ भी इनके साथ कभी-कभी कार्य करती है। 'जोडने वाले यन्त्र' ग्रहण करने वाले और प्रतिक्रिया दिखलाने वाले यत्रो को एक साथ जोडते है।

प्रतिक्रिया दिखलाने वाले यन्त्र के अन्तर्गत ग्रन्थियो[4] और मासपेशियो[5] को लिया जा सकता है। इनके सहारे व्यक्ति मे परिवर्त्तन आया करता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मनुष्य को वातावरण का प्राणी माना जा सकता है, क्योकि उसका विकास तथा विभिन्न क्रियाये और प्रतिक्रियाये किसी वातावरण मे ही होती है। वस्तुत बिना वातावरण के किसी प्राणी की कल्पना करना अत्यन्त कठिन है। प्राणी का वातावरण सदा उसके साथ रहता है। वातावरण का अर्थ वडा व्यापक है। इसके अन्तर्गत प्राणी के प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण दोनो आ जाते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य का कोई अग अकेले काम नही करता है। किसी अग की क्रियाशीलता के समय सारा शरीर ही क्रियाशील हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी उद्दीपक के प्रति मनुष्य पूर्ण रूप से प्रतिक्रिया दिखलाता है।[6]

मनोविज्ञान की देन[7]

१—मनोविज्ञान हमे किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व[8] के स्वरूप का ज्ञान देता है और दूसरे व्यक्तियो के व्यक्तित्व के अध्ययन की विधियाँ हमें वतलाता है।

२—मनोविज्ञान की सहायता से वालको के साधारण व्यवहार तथा दुर्व्यवहार के कारणो को अव पहले से हम अधिक समझने लगे हैं। फलत मनोविज्ञान ने स्कूलो

1. The Receiving Mechanism. 2 The Connecting Mechanism. 3. The Responding Mechanism. 4. Glands. 5 Muscles 6. Man responds as a whole to a particular stimulus 7 Contributions of Psychology. 8 Personality.

की शिक्षा-प्रणाली मे क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है। शारीरिक दण्ड के स्थान पर सहानुभूति का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है। फलत शिक्षा अब विषय[1]—केन्द्रित न होकर बाल-केन्द्रित[2] हो चली है। अर्थात् शिक्षा के क्रम मे अब बालक की योग्यता[3], प्रवृत्ति[4] रुचि[5] और झुकाव[6] पर अधिक ध्यान दिया जाता है। अत यह कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान ने बालक के लिए शिक्षा को अधिक रोचक बना दिया है।

३—मनोविज्ञान ने यह बतलाया है कि बालक कोरी[7] पटिया नही है कि उस पर जो चाहा लिख दिया। वह अपने वंशानुक्रमीय[8] गुणो के फलस्वरूप अपने साथ कुछ अन्तर्निहित शक्तियाँ लाता है। इन अन्तर्निहित शक्तियो के अनुसार उपयुक्त वातावरण[9] के अन्तर्गत उसका समुचित विकास हो सकता है। अत शिक्षक, माता-पिता तथा अभिभावक का यह कर्तव्य है कि वे बालक के लिए उपयुक्त वातावरण का आयोजन करे। विकास तो बालक अपना स्वय कर लेगा, यदि उसे मनोनुकूल वातावरण दिया गया। फलत शिक्षक को अब केवल पथ-प्रदर्शक[10] के कर्तव्यो और उत्तरदायित्वों को निभाना है। यह दृष्टिकोण शिक्षा के लिए एकदम नया है, और इसके अनुसार कार्य करने मे बालक के व्यक्तित्व का वाछित विकास पूर्णत किया जा सकता है। यह मनोविज्ञान की ही देन है।

४—मनोविज्ञान हमे यह बतलाता है कि जीवन के प्रथम ६ या ७ वर्ष विकास की दृष्टिकोण मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है और जीवन के भावी सुख का बीज इसी समय बोया जा सकता है।

५—मनोविज्ञान की सहायता से हम यह समझने लगे है कि दुर्व्यवहार दिखलाने वाला व्यक्ति मानसिक रोगी और दया तथा आवश्यक उपचार का अधिकारी है। फलत दुर्व्यवहार दिखलाने वाले व्यक्तियो के प्रति हमारी प्रतिक्रियाये डॉक्टर के समान होने लगी है। जिस प्रकार डॉक्टर रोगी की दवा और परिचर्या करता है उसी प्रकार अपराधियो के प्रति हमारा दृष्टिकोण हो चला है।

६—मानव विकास मे सवेगात्मक[11] अनुभव के स्थान को मनोविज्ञान स्पष्ट करता है।

७—मनोविज्ञान ने हमे बतलाया है कि व्यक्ति वंशानुक्रम और वातावरण का गुणनफल होता है। अत उसके व्यवहार को समझने के लिए इन दोनो का हमे अध्ययन करना चाहिए।

---

1. Subject centred. 2. Child-centred. 3. Ability 4. Attitude. 5. Interest. 6 Aptitude (रुझान या प्रवणता) 7 The child is not a clean slate. 8. He brings with him certain hereditary traits 9. Suitable environment. 10. Guide. 11. Emotional experience

८—मनोविज्ञान से हमे वैयक्तिक[1] वैभिन्य का ज्ञान होता है।

९—विकास की विभिन्न अवस्थाओ की आवश्यकताओ के स्वरूप की ओर मनोविज्ञान सकेत करते हुये वतलाता है उनकी पूर्ति कैसे की जा सकती है।

१०—मनोविज्ञान मनुष्य की विभिन्न मानसिक शक्तियो और प्रक्रियाओ से हमे अवगत करता है।

११—मनोविज्ञान की सहायता से हम किसी व्यक्ति की रुचियो और झुकाव का पता चला सकते हैं, और इसके आधार पर उसका व्यावसायिक[2] व्यवस्थापन किया जा सकता है।

१२—मनोविज्ञान ने बुद्धि-परीक्षा[3] और ज्ञान-परीक्षा[4] की प्रणाली निकाली है। इन प्रणालियो से शिक्षा-क्षेत्र का वडा कल्याण हुआ है।

१३—मनोविज्ञान के मनोविश्लेषण[5] सम्प्रदाय की खोजो से हमे समस्यात्मक व्यक्तियो के निदान और उपचार का ज्ञान होता है।

१४—विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो सम्बन्धी[6] अनुभवों, सीखने[7] और चिन्तन[8] आदि क्षेत्रो मे परीक्षण से मनोवैज्ञानिको ने कुछ ऐसे निष्कर्ष दिए है जिनसे शिक्षण-पद्धति मे वडा सुधार लाया गया है।

१५—मन्द-बुद्धि व्यक्तियो, मानसिक दोषो तथा अन्य मानव दुर्बलताओ का मनोविज्ञान ने विपद व्याख्या की है। इस व्याख्या से मानव का वडा उपकार हुआ है।

मनोविज्ञान का विषय-विस्तार[9]

मनोविज्ञान का विषय-विस्तार उसकी परिभाषा तथा उद्देश्य पर निर्भर करेगा। परिभाषा तथा उद्देश्य की चर्चा गत पृष्ठो मे की गई है। अव इसी चर्चा के आधार पर यहाँ मनोविज्ञान के विषय-विस्तार की रूपरेखा खीची जायगी। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान मानव व्यवहार का विज्ञान है अथवा वह व्यक्ति की विभिन्न क्रियाओ और मानसिक प्रक्रियाओ का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। इस अध्ययन के आधार पर मनोविज्ञान यह वतलाना चाहता है कि विकास की विभिन्न अवस्थाओ मे वातावरण मे अपने को व्यवस्थित करने के लिए व्यक्ति किन-किन उपायो का अवलम्बन करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के क्रम मे मनोविज्ञान को अधोलिखित[10] प्रश्नो के उत्तर देने पडते हैं —

---

1 Individual Differences 2 Vocational Adjustment. 3 Intelligent Testing. 4 Achievement Testing. 5 Psychoanalysis 6 Sense experiences 7 Learning 8 Thinking 9 Scope of Psychology

10 लेखक की मनोविज्ञान, पृष्ठ ५४-५५, आगरा बुक स्टोर आगरा, प्रथम संस्करण, १९५३।

"१—उम्र के बढने के साथ मानव व्यवहार मे किस प्रकार के परिवर्तन आते रहते है ?

२—ये परिवर्तन अन्य साधारण व्यक्तियो से किस प्रकार भिन्न होते है ?

३—व्यवहार मे वैयक्तिक भिन्नता क्यो आती है ?

४—व्यक्ति के कुटुम्ब और जाति के इतिहास (की क्या विशेषता है ?)

५—व्यवहार को वाछित दिशा की ओर सुधारने की विधि (क्या है ?)

६—सीखना-क्रिया को सरल बनाने के (उपाय क्या हैं ?)

७—अवाछित आदतो को छोडने और अच्छी डालने की विधियाँ (क्या हैं ?)

८—शारीरिक बाते जिनका व्यवहार पर प्रभाव पडता है, अर्थात् अच्छा स्वास्थ्य, रोग, नाडी-मण्डल का विकास व क्रिया, ज्ञानेन्द्रियो के कार्य, रस निकालने वाली ग्रन्थियाँ" (आदि के स्वरूप और प्रकार क्या हैं ?)

स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रश्नो का उत्तर देना ही मनोविज्ञान का विषय-विस्तार है। ऊपर कहा गया है कि मनोविज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति को अपने वातावरण मे व्यवस्थित होने मे सहायता करना है। अत. व्यक्ति को प्रवृत्तियो,[1] इच्छाओ,[2] रुचियो,[3] विचार[4], तथा उसके विभिन्न[5] अगो की गतियो के कारण तथा स्वरूप को स्पष्ट करना मनोविज्ञान के विषय-विस्तार के अन्तर्गत आ जाता है। इन सबके अतिरिक्त मानव मन के भेद का स्पष्टीकरण करना भी इसके विस्तार के अन्तर्गत आता है। इन सब बातो मे मनोविज्ञान अभी पूर्णरूपेण सफल नही हो सका है। अत इसका प्रयास इस ओर अभी चल ही रहा है।

व्यक्ति के मन मे समय-समय पर घृणा, प्यार, आनन्द, दु ख तथा चिन्ता आने के कारण हो सकते हैं और इनका व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास[6] पर क्या प्रभाव पडता है—इसे समझाना भी मनोविज्ञान की विषय-वस्तु[7] है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि अपने जीविकार्थ, मनोरजनार्थ तथा वातावरण मे सफलतापूर्वक व्यवस्थापनार्थ व्यक्ति जो कुछ शारीरिक क्रियाये अथवा मानसिक प्रक्रियाये दिखलाता है उन सबका वैज्ञानिक अध्ययन करना मनोविज्ञान के विषय-विस्तार के अन्तर्गत है।

मनोविज्ञान की पद्धतियाँ[8]

अन्य विज्ञानो की तरह मनोविज्ञान की भी अपनी अलग अध्ययन-पद्धति है। इसे दो भागो मे बाँटा जा सकता है —१—निरीक्षण-पद्धति[9], और २—विवरण-पद्धति[10]। कही पर एक पद्धति अधिक सफल होती है तो कही दूसरी, परन्तु किसी

1. Impulses 2. Desires. 3. Interests. 4 Thoughts 5. Movements of particular limbs 6. Personality Development. 7. Subject. matter. 8. Methods of Psychology 9. Methods of Observation. 10. Methods of Exposition

विषय की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए प्राय इन दोनो पद्धतियो की किसी न किसी अर्थ मे सहायता लेनी पडती है। नीचे इन दोनो पद्धतियो की अलग-अलग व्याख्या की जायगी।

(अ) निरीक्षण पद्धतियाँ[1]

१—अन्तर्दर्शन पद्धति—

इस पद्धति के अनुसार व्यक्ति अपनी मानसिक प्रक्रियाओ का अध्ययन तथा व्याख्या स्वय करता है। अत इस पद्धति को आत्म-निरीक्षण[2] तथा आत्म-चेतनता[3] की भी सज्ञा दी गई है। अन्तर्दर्शन पद्धति अन्य विज्ञानो में नही पाई जाती, परन्तु मनोविज्ञान की प्रधान पद्धतियो मे इसकी गणना है। इस पद्धति मे व्यक्ति अपनी अनुभूतियो के रूप तथा मानसिक प्रक्रियाओ[4] के नियम को समझना चाहता है। अन्तर्दर्शन का तात्पर्य केवल आत्म-विचार[5] से ही नही समझना चाहिए। अन्तर्दर्शन मे किसी विशिष्ट समय मे व्यक्ति को अपने आत्म[6] से परिचय होता है। अत अन्तर्दर्शन आत्म-चेतना का एक विकसित रूप है। स्टाउट के अनुसार अन्तर्दर्शन के क्रम मे अधोलिखित तीन सीढियाँ आती है —

(क) किसी वाह्य वस्तु के निरीक्षण के क्रम मे व्यक्ति अपनी ही मानसिक प्रक्रियाओ पर चिन्तन करने लगता है।

(ख) स्वतन्त्र रूप से व्यक्ति अपनी ही किसी क्रिया के सम्बन्ध मे सोचने लगता है, जैसे 'मैंने ऐसा क्यो कहा ?" "उक्त परिस्थिति मे मैंने वैसा व्यवहार क्यो किया ?" ऐसे प्रश्नो के विचार में व्यक्ति अपने को भूल जाता है।

(ग) अपनी मानसिक क्रियाओ और शक्तियो में सुधार के सम्बन्ध में सोचना, जैसे, "क्या मैं अपनी तार्किक शक्ति बढा सकता हूँ ?' "क्या मैं अपने कटु सवेगो पर नियन्त्रण पा सकता हूँ ?"

अन्तर्दर्शन पद्धति के दोष—

कुछ लोग अन्तर्दर्शन-पद्धति को वैज्ञानिक दृष्टि से पुष्ट नही समझते। उनका कहना है कि व्यक्ति अपनी मानसिक प्रक्रियाओ का अध्ययन सफलतापूर्वक स्वय नही कर सकता, क्योकि जब वह उनका अध्ययन करने बैठता है तो उनका लोप हो जाता है अथवा उनके पूर्व स्वरूप मे परिवर्तन आ जाता है, तत्पश्चात् उनके विषय मे उसे अनुमान करना पडता है। सवेगो[7] के अध्ययन मे ऐसी परिस्थिति का बहुधा सामना करना पडता है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति ज्यो ही अपनी 'घृणा' का अध्ययन करने बैठता है तो 'घृणा' का लोप हो जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ लोगो का कहना है कि पश्चातदर्शन[8] करना चाहिए। परन्तु यह तो अन्तर्दर्शन नही हुआ।

1. Subjective Observation, or Introspection. 2 Self-Observation. 3. Self-Consciousness 4. Mental processes. 5 Self-reflection. 6 Self. 7. Emotions. 8. Retrospection.

पश्चातदर्शन मे जो कुछ देखा जाता है वह मानसिक क्रिया न होकर उसकी स्मृति-मात्र रह जाती है। कुछ लोगो का कहना है कि अन्तर्दर्शन मे मानसिक प्रक्रिया लोप के क्रम मे अवश्य रहती है, परन्तु उसका सर्वथा लोप नही हुआ रहता। दूसरे, व्यक्ति यदि सतर्क रहे तो क्रिया के लोप होने के पूर्व ही उसका वह अच्छी तरह अध्ययन कर ले। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध मे यह भी कहा जाता है कि कई व्यक्ति मिलकर अपना अलग-अलग अध्ययन करे और तुलना के आधार पर उसकी सत्यता का निर्धारण करे।

कुछ लोगो का कहना है कि अन्तर्दर्शन पद्धति अवैज्ञानिक है, क्योकि एक ही क्रिया के सम्बन्ध मे विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार का मत दे सकते है।

अन्तर्दर्शन पद्धति मे तीसरा दोष यह है कि यह वैयक्तिक है और इससे एक ही व्यक्ति की मानसिक दशा का पता चल सकता है। एक व्यक्ति की मानसिक दशा को सार्वलौकिक रूप दे देना वैज्ञानिक नही जान पडता। इस आपत्ति के उत्तर मे कुछ लोगो का कहना है कि मस्तिष्क का अध्ययन केवल एक ही व्यक्ति से आरम्भ किया जा सकता है। इस अध्ययन के आधार पर उन नियमो को जानने का प्रयत्न किया जाता है जो अन्य मस्तिष्को के विषय मे भी लागू हो सकते हैं।

अन्तर्दर्शन मे चौथा दोष यह है कि मानसिक दशा प्रति क्षण बदलती रहती है और बदलती रहने वाली क्रिया का अध्ययन करना यदि असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन है। इसमे बडा धोखा हो सकता है और कुछ के स्थान पर कुछ और ही समझा जा सकता है। इस दोष के कारण इस पद्धति मे निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान को केवल अन्तर्दर्शन-पद्धति पर ही नही छोडा जा सकता।

२—वहिर्दर्शन-पद्धति—

जब तक मनोविज्ञान ने चेतना के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रक्खा अन्तर्दर्शन पद्धति उपयुक्त जान पडी। परन्तु जब मनोविज्ञान ने अपने विषय-विस्तार मे मानव के सभी प्रकार के चेतन और अचेतन व्यवहार तथा मानसिक प्रक्रियाओ को लिया तो अन्तर्दर्शन के दोष स्पष्ट होने लगे। जब मनोविज्ञान की विषय-वस्तु के अन्तर्गत वालक, किशोर तथा विक्षिप्त व्यक्तियो की मानसिक प्रक्रियाये आ गई तो उनका अध्ययन अन्तर्दर्शन से कैसा किया जा सकता था? अत मनोवैज्ञानिको ने वहि-र्दर्शन-पद्धति की कल्पना की।

वहिर्दर्शन-पद्धति से दूसरे के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। परन्तु किसी के व्यवहार के देखने मात्र से ही हम उसका वर्णन नही कर सकते। जब हम किसी व्यक्ति को दुख मे आँसू वहाते हुए देखते हैं तो हम अनुमान करते है कि वह दुख का अनुभव कर रहा है। इस अनुमान के वाद हम अपने पूर्व अनुभव के आधार

पर उसके व्यवहार का वर्णन करते हैं। इस वर्णन में हमे अन्तर्दर्शन-पद्धति की आवश्यकता होती है। वहिर्दर्शन के निम्नलिखित तीन अगो का उल्लेख किया जा सकता है—

१—व्यवहार का देखना,

२—अनुमान करना, तथा,

३—उसकी व्याख्या करना।

वहिर्दर्शन-पद्धति के दोष—

वहुत सम्भव है कि दूसरे के व्यवहार का वर्णन करते हुए वहिर्दर्शक अपने ही विचारो का वर्णन करने लगे। किसी परिस्थिति-विशेष मे वहिर्दर्शक जैसा सोचता है वैसा ही वह सोचता है कि दूसरे भी अनुमान करते होगे। इस प्रवृत्ति के कारण वहिर्दर्शन-पद्धति दोषपूर्ण हो जाती है। यह पद्धति और भी दोपमय हो जाती है जव वहिर्दर्शक और विपयी[1] के मानसिक विकास मे बडा अन्तर होता है। उदाहरणार्थ, बालक के किसी व्यवहार की व्याख्या कोई प्रौढ वहिर्दर्शक गलत रूप से कर सकता है, क्योकि वालक के मानसिक विकास के स्तर पर अपने को लाना उसके लिए कठिन हो सकता है। कुछ लोगो का कहना है कि यह कठिनाई थोडे मनोवैज्ञानिक विचार और अनुमान से दूर की जा सकती है। यदि बालक के व्यवहार का अध्ययन 'मूल-प्रवृति'[2] तथा 'अचेतन अनुकरण'[3] के आधार पर किया जाय तो वहिर्दर्शन का दोष कुछ हद तक दूर किया जा सकता है।

वहिर्दर्शन मे दूसरा दोष यह है कि वहिर्दर्शक किसी व्यवहार की व्याख्या मे पक्षपात अथवा पूर्व धारणा से प्रभावित हो सकना है। प्राय यह देखा जाता है कि हम अपने मित्रो के अवगुणो को भूल जाते हैं और शत्रुओ की हर वात मे दोप ही देखते हैं। परन्तु निष्पक्ष भाव के अपनाने से इस दोष को दूर किया जा मकता है।

कभी-कभी विषयी के ढोगपूर्ण व्यवहार से भी व्याख्या गलत हो सकती है। उदाहरणार्थ, विषयी की वाह्य मुद्रा उसकी आन्तरिक अनुभूति को सदैव व्यक्त नही कर सकती। बहुत सम्भव है कि विपयी अपनी अनुभूति को छिपाने का प्रयत्न करे। इस दोप का निराकरण विषयी के कई प्रकार के व्यवहारो के निरीक्षण से किया जा सकता है।

३—प्रयोगात्मक पद्धति[4]—

प्रयोगात्मक पद्धति मे पूर्व निश्चित परिस्थिति मे मानसिक प्रक्रियाओ का अध्ययन किया जाता है। परीक्षण के लिए कोई एक निश्चित वस्तु चुन ली जाती है। इसमे वाधा देने वाली वातो को परीक्षणशाला से एकदम दूर रक्खा जाता है, अर्थात्

---

1. Subject. 2 Instinct. 3 Unconscious imitation. 4 Experimental Method.

वातावरण पर परीक्षणकर्त्ता पूरा नियन्त्रण रखता है। यह निश्चित वस्तु कोई शुद्ध मानसिक क्रिया-विशेष होती है, अथवा उपयुक्त वातावरण के आयोजन से कृत्रिम रूप से उसे उत्पन्न किया जाता है। विषयी को पूरी बाते समझा दी जाती हैं और उसे किसी भाव-विशेष मे आने के लिए कहा जाता है। इस विधि से उसकी रुचि, ध्यान, स्मृति, तर्क तथा विविध मानसिक प्रक्रियाओ के गुण और विलक्षणताओं को समझने का प्रयत्न किया जाता है। प्रयोगात्मक पद्धति से केवल जाति और गुण-सम्बन्धी बातो को ही नही समझा जाता, वरन् चेतना के विविध अगो तथा तत्सम्बन्धी उद्दीपको के परस्पर-सम्बन्ध को भी समझने की चेष्टा की जाती है। कहने का अर्थ यह है कि प्रयोगात्मक पद्धति से गुण और परिमाण दोनो की परीक्षा की जाती है। इसीलिए प्रयोगात्मक मनोविज्ञान मे गुणात्मक[1] नापो और परिमाणात्मक[2] नापो की कल्पना की गई है।

प्रयोगात्मक पद्धति के दोष—

ऊपर यह सकेत किया गया है कि प्रयोगात्मक पद्धति मे कृत्रिम वातावरण उपस्थित करने की आवश्यकता होती है। इस वातावरण के आयोजन मे कठिनाई यह है कि मानसिक प्रक्रियाओ पर एक निर्जीव पदार्थ की तरह नियन्त्रण नही प्राप्त किया जा सकता। दूसरे, हर समय कृत्रिम वातावरण उपस्थित करना भी कठिन हो सकता है।

सामूहिक और वैयक्तिक[3] बुद्धि-परीक्षायें मनोविज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धति की ही उदाहरण हैं। परन्तु इन परीक्षाओ मे परीक्षार्थियो की मन स्थिति पर नियन्त्रण प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, जैसे, व्यक्तिगत परीक्षा मे आते हुए उत्तर को भी व्यक्ति भयवश गलत बतला सकता है। दूसरे, लाख प्रयत्न करने पर भी विषयी की मानसिक स्थिति को उसकी पूर्व स्वाभाविक दशा मे नही लाया जा सकता। कुछ विषयी इतने हठी होते हैं कि परीक्षण के लिए आवश्यक वातावरण मे योग देना अपने सम्मान के विरुद्ध समझते है। ऐसे लोग प्राय यह कहते हुये सुने जाते हैं कि उन्हे परीक्षण के लिए कोई 'विषयी' नही बना सकता। यदि सयोगवश इस प्रवृत्ति के विषयी मिल गए तो परीक्षण का सफल होना असम्भव हो जाता है।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी प्रयोगात्मक पद्धति के कारण ही मनोविज्ञान आज विज्ञान के कक्ष मे गिना जाता है। इस पद्धति के सहारे अनेक सफल परीक्षण किये गये है और किए जा रहे हैं। फलत मनोविज्ञान गतिशील विज्ञान हो चला है। इस पद्धति से किसी मानसिक दशा का कई प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है

---

1. Qualitative Measurements. 2. Quantitative Measurements.
3. Group and Individual Intelligence Tests.

और एक परीक्षण के बाद दूसरा व्यक्ति भी उसे दोहरा कर उसकी सत्यता की जाँच कर सकता है।

(ब) विवरण-पद्धतियाँ

१—विकासात्मक पद्धति[1]—

इस पद्धति के द्वारा व्यक्ति अथवा जाति के विकास का अध्ययन कर उसकी व्याख्या की जाती है। इस अध्ययन मे किसी मानसिक गुण, विलक्षणता अथवा व्यक्ति के किसी स्वभाव के विकास की व्याख्या शैशव से बुढापे तक की जाती है। वशानुक्रम और वातावरण के फलस्वरूप व्यक्ति मे जो सम्भावनाये आती हैं उन्हे वास्तविक रूप मे ऊपर आने मे कई सीढियो को पार करना होता है। विकासात्मक पद्धति इन सीढियो का अध्ययन करती है। इस पद्धति मे प्रयोगात्मक पद्धति का भी सहारा लिया जाता है। व्यक्ति मे विक्षिप्तता, अपराध-भावना अथवा अन्य किसी दोष का आ जाना उसके विकास की कहानी के अन्तर्गत ही आता है। इन दोषो के अन्वेषण मे प्रश्नावलियाँ तथा प्रयोगशाला की अनेक विधियो का उपयोग किया जाता है।

२—व्यक्ति-इतिहास पद्धति[2]—

इस पद्धति के अनुसार किसी व्यक्ति-विशेष के जीवन की विलक्षणताओ का अध्ययन किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति घोर अपराधी, पागल अथवा विक्षिप्त हो चला है तो उसके व्यक्तिगत इतिहास के अध्ययन से उसके कारणो को समझने की चेष्टा की जाती है। इसी प्रकार इस पद्धति का प्रयोग प्रतिभाशाली व्यक्तियो के अध्ययन मे भी किया जाता है। इस विधि मे विषयी को अपने विश्वास मे रक्खा जाता है और उसके जीवन के सम्बन्ध मे विविध प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं और बाते की जाती हैं। इसमे व्यक्ति के माता-पिता, भाई-बहिन, तथा मित्र आदि सभी से सहायता ली जाती है, क्योंकि यह आशा रहती है कि इन लोगो को व्यक्ति के बारे मे बहुत सी बात मालूम होगी। स्पष्ट है कि इस पद्धति मे पूर्व स्मृति पर निर्भर रहा जाता है। अत इसमे कुछ दोष का आ जाना स्वाभाविक है। परन्तु व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ बाते जानने के लिए यह बडा अच्छा उपाय जान पडता है।

विकासात्मक पद्धति का प्रयोग बहुधा अवाछित व्यवहार वाले व्यक्तियो के सम्बन्ध मे ही किया जाता है। वर्तमान व्यवहार की गुत्थियो को समझने और सुलझाने के लिए व्यक्ति के विगत सवेगात्मक विषमताओ को समझने की चेष्टा की जाती है, क्योकि गत अनुभूतियो का प्रभाव व्यक्ति के आचरण पर पडता ही है।

---

1. Developmental or Genetic Method. 2. The Case History Method.

३—तुलनात्मक पद्धति[1]—

जब किसी व्यक्ति के व्यवहार को समझना कठिन हो जाता है तो उसकी अन्य व्यक्तियों से तुलना की जाती है। इस तुलना मे समानता और भेद दोनो पर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार के समानता और भेद के आधार पर एक माप-दण्ड निश्चित किया जाता है। इस माप-दण्ड से यह अनुमान किया जाता है कि विषयी सामान्य व्यवहार से कितना निकट अथवा दूर है। परन्तु मनुष्य और मनुष्य की तुलना से ही सभी बाते नही समझी जा सकती, क्योकि मनुष्य पर सभी परीक्षण नही किये जा सकते। अत मनुष्यो की कुछ मानसिक दशाओ और प्रक्रियाओ को समझने के लिये पशुओ का अध्ययन आवश्यक समझा गया, क्योकि दोनो प्राणि-विज्ञान के कुछ नियमो के अन्तर्गत आते हैं। जहाँ तक इन नियमो मे समानता है वहाँ तक पशु पर किये गये परीक्षण के फल मानव व्यवहार को कुछ समझने मे सहायक हो सकते हैं। कदाचित् इसीलिए पशु मनोविज्ञान की कल्पना की गई है। परन्तु पशु और मनुष्य मे भेद भी बहुत है। अत दोनो की तुलना करते समय उनकी परस्पर विभिन्नताओ पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए, अन्यथा हम गलत निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

४—मनोविश्लेषण पद्धति[2]—

तीसरे अध्याय मे मनोविश्लेषण की कुछ विस्तार पूर्वक व्याख्या की गई है। अत यहाँ पर इसकी विशेष व्याख्या करना ठीक न होगा। इस पद्धति के जन्मदाता फ्रॉयड[3] कहे जाते हैं। इसके अनुसार मन के गुह्यतम भागो को समझने का प्रयत्न किया जाता है। फ्रॉयड के अनुसार मन का $\frac{9}{10}$ भाग छिपा रहता है अथवा अचेतन[4] होता है और $\frac{1}{10}$ चेतन[5] अथवा जागृत। बचपन के दुखद सवेगात्मक अनुभवो से अचेतन मन का विकास होने लगता है। धीरे-धीरे अचेतन मन इतना प्रबल हो जा सकता है कि व्यक्ति की सारी क्रियाओ पर इसका नियन्त्रण हो जाता है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति विक्षिप्त अथवा पागल हो जाता है। अचेतन मन से प्राय सभी व्यक्ति प्रभावित होते हैं। जिसका विकास जितना स्वस्थ होता है वह उतना ही अचेतन मन पर अपना नियत्रण रखता है। परन्तु इतना तो हमे मानना ही होगा कि पूर्ण रूप से किसी का स्वस्थ विकास नही हो पाता। इसलिए अचेतन मन सभी के वास रहता है और समय-समय पर वह व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता रहता है। व्यक्ति कभी कुछ का कुछ कह जाता है। वह 'लकड़ी' के स्थान पर 'लड़की' कह जाता है अथवा कुछ अन्य ऐसी अवाछित बातें कह जाता है जिनके कारण को वह प्रत्यक्षत नही समझ पाता। व्यक्ति के ऐसे ही व्यवहारो को समझने के लिए फ्रॉयड ने मनोविश्लेषण पद्धति का आविष्कार किया है।

1. Comparative Method 2. Psychoanalytic Method. 3. Freud, Sigmund. 4. Unconscious 5 Conscious.

स्वप्न[1], शब्द-साहचर्य[2], स्वतन्त्र-साहचर्य[3], और सम्मोहन[4], आदि विधियाँ इस पद्धति के विभिन्न अग हैं। इन सब विधियो के स्वरूप की ओर तीसरे अध्याय मे सकेत किया गया है। एडलर[5] और यूङ्ग[6] भी अपनी-अपनी विधियो से अचेतन मन को समझाने मे हमारी सहायता करते हैं, यद्यपि उनका फ्रॉयड से कुछ सिद्धान्तत. विरोध है। उपर्युक्त विधियो से अचेतन मन के स्वरूप अर्थात् व्यक्ति के मानसिक रोग अथवा अवांछित व्यवहार के कारण को समझने की चेष्टा की जाती है। यदि इस कारण को व्यक्ति को समझा दिया जाता है तो व्यक्ति रोगमुक्त हो जाता है और उसका व्यवहार सामान्य व्यक्तियो की तरह होने लगता है। इस प्रकार मनोविश्लेषण पद्धति से व्यक्ति के कुछ व्यवहार और चरित्र को समझने का प्रयत्न किया जाता है।

५—मनोविकृत्यात्मक पद्धति[7]—

मनोविकृत्यात्मक पद्धति से मानसिक अवनति के कारण को समझने की चेष्टा की जाती है। विकासात्मक पद्धति और इस पद्धति मे भेद यह है कि विकासात्मक पद्धति से व्यक्ति के विकास के प्रत्येक पहलू को समझने की चेष्टा की जाती है, परन्तु मनोविकृत्यात्मक मे किसी एक मानसिक विकार के कारण को समझने का प्रयत्न किया जाता है। इस पद्धति से मस्तिष्क के रोग अथवा विभिन्न मानसिक दोष तथा मानसिक शक्तियो के ह्रास के विभिन्न कारणो पर प्रकाश डाला जाता है। कहना न होगा कि इस पद्धति से कुछ मानव व्यवहारो को समझने मे बडी सहायता मिल सकती है।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

मनोविज्ञान है क्या—

'आत्मा', 'मस्तिष्क', 'चेतना', 'व्यवहार', मानव और पशु व्यवहार का विज्ञान। मनोविज्ञान स्वाभाविक और अर्जित दोनो व्यवहार का अध्ययन करता है।

मनोविज्ञान एक विज्ञान—

विज्ञान की विधियो का सहारा। प्रत्येक बात के लिए प्रमाण की आवश्यकता। वातावरण मे स्थित विभिन्न उद्दीपको के प्रति मानव प्रतिक्रियाओ के अध्ययन का विज्ञान।

मनोविज्ञान प्राकृतिक मनोविज्ञान की एक शाखा। मनोविज्ञान की विषय-वस्तु मानव मस्तिष्क। मस्तिष्क पर पूर्ण नियन्त्रण असम्भव, अत मनोविज्ञान शुद्ध विज्ञान नही।

---

1. Dream 2. Word Association. 3. Free-Association 4. Hypontism 5. Adler 6. Jung. 7 Pathological method

विज्ञानो मे सर्व व्यापकता के लक्षण और मनोविज्ञान मे वैयक्तिकता के लक्षण ।

प्राकृतिक विज्ञान की तीन मुख्य विधियाँ—निरीक्षण, परीक्षण, और वर्णन-मनोविज्ञान मे भी । आदर्शवाद की चर्चा नही । वस्तु स्थिति का अध्ययन ।

मनोविज्ञान की शाखाएँ—

साधारण मनोविज्ञान—शुद्ध, वैयक्तिक, सामूहिक, सामाजिक और व्यावहारिक ।

असाधारण मनोविज्ञान—वैयक्तिक और सामूहिक ।

व्यावहारिक मनोविज्ञान शिक्षा, व्यावसायिक और धर्म आदि ।

मनोविज्ञान के उद्देश्य—

वातावरण मे व्यवस्थापन-सम्बन्धी प्रयत्न का वर्णन । भावी व्यवहार की कल्पना । सुधार लाने के उपाय ।

मनोविज्ञान की समस्या—

मानव व्यवहार के लक्षण को समझना, उसका विश्लेपण करना तथा उसकी व्याख्या करना ।

मनोविज्ञान द्वारा मनुष्य की कल्पना—

ग्रहण करने वाला यन्त्र—ज्ञानेन्द्रियाँ । जोडने वाला यन्त्र—मस्तिष्क, नाडी-मण्डल, रक्त-धमनियाँ । प्रतिक्रिया दिखलाने वाला यन्त्र—ग्रन्थियाँ और मासपेशियाँ ।

मनोविज्ञान की देन—

व्यक्तित्व का ज्ञान, शिक्षा अब बालक । केन्द्रित । शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक । वचपन मे भावी जीवन की नीव । दुर्व्यवहार दिखलाने वाला मानसिक रोगी । सवेगात्मक अनुभव का महत्व । वालक वशानुक्रम और वातावरण का गुणनफल । वैयक्तिक वैभिन्य का ज्ञान । विकास की आवश्यकताओ की पूर्ति के साधनो का ज्ञान । मानसिक शक्तियो और प्रक्रियाओ का ज्ञान । रुचियो और झुकाव का ज्ञान । बुद्धि परीक्षा और ज्ञान-परीक्षा प्रणालियाँ । मनोविश्लेषण सम्प्रदाय । परीक्षण से शिक्षण-पद्धति मे सुधार । मानसिक रोगो की व्याख्या ।

मनोविज्ञान का विषय-विस्तार—

प्रवृत्तियो, इच्छाओ, रुचिओ, विचार तथा विभिन्न अगो की गतियो के कारण और स्वरुप को समझना । मानव मन के भेद को स्पष्ट करना । विविध सवेगो का व्यक्तित्व पर प्रभाव की व्याख्या ।

मनोविज्ञान की पद्धतियाँ—

निरीक्षण-पद्धति—अन्तर्दर्शन, वहिर्दर्शन, प्रयोगात्मक विवरण-पद्धति-विकासात्मक, व्यक्ति-इतिहास, तुलनात्मक, मनोविश्लेपण, मनोविकृत्यात्मक ।

सहायक पुस्तकें

१—सरयू प्रसाद चौबे—मनोविज्ञान, अध्याय १ और ५, आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९५३।

२—उडवर्थ और मार्क्विस—मनोविज्ञान, अध्याय १, दी अपर इण्डिया-पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९५२,।

३—डनलप, के०—एलमेण्ट्स ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय, १, दी सी० वी० मॉसबी कम्पनी, सेण्टलुई, यू० एस० ए०।

४—डॉकरे, एफ० सी०,—साइकॉलॉजी, अध्याय १, प्रेन्टिस-हॉल, न्यूयार्क, १९४६।

५—बोरिङ्ग, ई० जी०, लैंगफेल्ड, एच० सी०, एण्ड, वेल्ड, एच० पी०,—फॉउन्डेशन्स ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय १, जॉन विली, १९४८।

६—मन ए०—साइकॉलॉजी, अध्याय १,

७—मर्फी—साइकॉलॉजी, अध्याय १।

———

२

शिक्षा का मनोविज्ञान से सम्बन्ध[1]

शिक्षा मनोविज्ञान क्या है ?[2]

शिक्षा-मनोविज्ञान 'मनोविज्ञान' का एक अत्यन्त विस्तृत अग है। शिक्षा-क्षेत्र में मनोविज्ञान की सभी शाखाओ से सहायता आवश्यक होती है। मनुष्य सदा कुछ न कुछ सीखा ही करता है। अत. शिक्षा-मनोविज्ञान 'मनोविज्ञान' की सभी शाखाओ से अधिक उपयोगी सिद्ध हो रहा है। सीखने की कला के विपय मे सारी वातो का पता लगाना शिक्षा-मनोविज्ञान का प्रधान कार्य है। यहाँ सीखने के अन्तर्गत अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की आदते निहित है। सीखने के विषय मे 'सिद्धान्त' और नियमों को निर्धारित करना शिक्षा-मनोविज्ञान के आगे सवसे वडी समस्या है। शिक्षा-मनोविज्ञान का कार्य केवल पाठशाला की कक्षा तक ही सीमित नही है। प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य के सीखने के लिये वातावरण उपस्थित रहता है। शिक्षा-मनोविज्ञान को मनुष्य की सभी सम्भावित परिस्थितियो को अपनी सीमा मे लेना होगा। केवल छोटे-छोटे वालक ही नही सीखते, अपितु युवा अथवा वृद्ध जन भी कुछ परिस्थितियो मे सीखते ही रहते हैं। इसका भी शिक्षा-मनोवैज्ञानिक को ध्यान रखना चाहिये। जहाँ तक विधि का सम्वन्ध है शिक्षा-मनोविज्ञान एक विज्ञान है, क्योंकि इसमे सभी कार्य कठिन निरीक्षण, गहन विचार तथा वास्तविक प्रमाण के आधार पर किये जाते हैं और इसके सभी नियम और सिद्धान्त एक क्रम में वद्ध कर दिये जाते है। हाँ, यह सत्य है कि शिक्षा-मनोविज्ञान गणित अथवा खगोलविद्या के सदृश् शुद्ध विज्ञान नही है, क्योकि मनुष्य तो परिवर्तनशील है। उसकी मानसिक क्रियाएँ किसी भी प्रयोगशाला मे पूर्णत: नियन्त्रित नही की जा सकती। वातावरण मे भिन्नता और परिवर्तन आते रहने के कारण भी इसके शुद्ध विज्ञान होने मे अडचन पडती है। तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इसकी विधि और कार्य-प्रणाली विज्ञान जैसी है। परन्तु विज्ञान की वास्तविक एकता तो उसकी विधि मे है, न कि उसके सचित ज्ञान मे। विज्ञान की विधि क्या है ? वैज्ञानिक पहले तत्व को इकट्ठा करता है, तत्पश्चात् उसका वर्गीकरण करके

1. The Relation of Psychology to Education 2. What is Educational Psychology.

एक ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना चाहता है जो सदा के लिये सत्य हो। मनोवैज्ञानिक की भी विधि यही है। यह सत्य है कि गणित तथा भौतिक शास्त्र के सदृश् मनोविज्ञान मे निश्चित ज्ञान का अभाव है। परन्तु मनोवैज्ञानिक भी विज्ञान की सभी विधियो की अपनी प्रयोगशाला मे सहायता लेता है। यही करण है कि शिक्षा-मनोविज्ञान को विज्ञान मानने मे हमें आपत्ति नही।

मनुष्य वडा व्यापक प्राणी है। इसलिये शिक्षा-मनोविज्ञान को वहुत-से विषयो से सहायता मिलती है। वालक और वालिकाओ की शिक्षा से जीव-विद्या, शरीर-विद्या तथा समाज-शास्त्र की खोजों का घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाई पडता है। उनके 'सीखने' की वहुत-सी समस्याओ पर ये प्रकाश डालते हैं। सख्याशास्त्र[1] से भी शिक्षा-सम्बन्धी कुछ नियमो के निर्धारण मे वहुत सहायता मिली है। इस प्रकार शिक्षा-मनोविज्ञान का क्षेत्र वडा व्यापक है। इसकी सीमा वडी विस्तृत है। शिक्षा-क्षेत्र के सभी अङ्गो पर इसका प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पडता है। मानसिक विकास के सिद्धान्तो का निरूपण, सीखने का साधारण रूप, मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक एकाकार, मार्ग-प्रदर्शन-विधि, नाप, अध्यापन का मनोविज्ञान,' मानसिक योग्यता तथा वैयक्तिक भिन्नता और शिक्षा की विभिन्न समस्याओं पर विचार कर उनका समाधान निकालना शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र के अन्दर आता है।

शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता[2]

१—शिक्षा में मनोविज्ञान की अवहेलना (पूर्व स्थिति)—

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता पर दृष्टिपात करना असङ्गत न होगा। पहले शिक्षा मे मनोविज्ञान को विशेप महत्व नही दिया जाता था। वाल मनोविज्ञान से अध्यापक विलकुल अपरिचित रहते थे। कक्षा का पाठ्य-क्रम वडा अमनोवैज्ञानिक होता था। अध्यापको का विश्वास था कि सुन्दर शब्दावली मे वस्तु को व्यक्त कर देने से ही वालक अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। सभी वालक समान योग्यता के समझे जाते थे। असामान्य वालको के लिये कुछ अलग शिक्षा की व्यवस्था नही की जाती थी। 'सभी धान वाईस पसेरी' वाली कहावत पूर्णत चरितार्थ होती थी। यदि कोई अध्यापक किसी मन्द-वुद्धि विद्यार्थी की योग्यता अथवा आवश्यकतानुसार शिक्षा की व्यवस्था करता तो यह उसकी अयोग्यता का चिह्न माना जाता था। अध्यापक का एकमात्र उद्देश्य विद्यार्थी को परीक्षा मे उत्तीर्ण होने योग्य वनाना था। 'परीक्षा-समिति' अथवा 'शिक्षा-विभाग' द्वारा निर्धारित नियम ही उसके लिये व्रह्म-वाक्य थे। वातावरण को वे सदा के लिये स्थायी समझते थे। उसमें किसी प्रकार

---

1. Statistics 2. The need of a psychological basis of education.

के परिवर्तन की वे अपेक्षा न करते थे। मस्तिष्क विभिन्न शक्तियो का एक समूह माना जाता था। शिक्षा का अभिप्राय इन शक्तियों के विकास से था। निरीक्षण का एकमात्र उद्देश्य ज्ञानेन्द्रियो[1] को विकसित करना था। स्मरण-शक्ति की वृद्धि के लिये 'रटना' और 'दोहराना' सर्वोत्तम साधन माना जाता था। विवेक 'शक्ति' की प्रौढ़ता के लिये कठिन से कठिन प्रश्नो का वालको को अभ्यास कराया जाता था।

२—आधुनिक स्थिति—

मनोविज्ञान के क्षेत्र मे कुछ नये अन्वेषणो के कारण अब स्थिति एकदम वदल गई हैं। शिक्षा के प्राचीन सिद्धान्त या तो आवश्यकतानुसार परिवर्द्धित कर लिये गये है या पूर्णत अस्वीकृत कर दिये गये हैं। फलत. अध्यापक के सामने अब नई-नई विधियाँ आने लगी है, उसके शुष्क कार्य में अब जीवन आ गया है। अब सारा काम वैज्ञानिक होता जा रहा हैं। अध्यापक के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व मे अब पहले से वहुत परिवर्तन हो चला है। अब उसे अपने को बालको के वैयक्तिक और सामाजिक आदि वातावरण से परिचित करना है। अध्यापक को अब यह जानना है कि वे किस कुटुम्ब से आये है। उन्हे यह जानना है कि उनके रहने का वातावरण कैसा है। जिस समाज और देश से वालक आता है उसके भी हित का अध्यापक को भलीभाँति ध्यान रखना है। अब यह चारो ओर ध्वनि सुनाई पडती है कि वैयक्तिक भिन्नता[2] के आधार पर शिक्षा का पुनर्सङ्गठन करना परमावश्यक है। सभी एक धातु के नही बने होते। कोई तीव्र है तो कोई मन्द, कोई कुशाग्र-बुद्धि है तो कोई मन्द-बुद्धि। जब तक सख्या-शास्त्र और मनोविज्ञान की कसौटी पर बालको की योग्यता और सम्भावनाओ की परीक्षा नहीं हो जाती तब तक उनके विषय मे कुछ निश्चित निर्णय देना शिक्षा के न्यायालय मे अक्षम्य अपराध माना जाता है। अब लोग एक स्वर से स्वीकार करने लगे है कि मानव परिवर्तनशील है। अत. वालक विषयक सारी वाते निर्णयात्मक न होकर साकेतिक होनी चाहिये। वालक-सम्बन्धी सभी बुराइयो के कारण को समझने की अध्यापक में पूर्ण योग्यता होनी चाहिये। इन्हे दूर करने के उपायो से भी उसे परिचित होना आवश्यक है। 'सीखने के सिद्धान्त'[3] को ही अध्यापक को अपना प्रधान मार्ग-प्रदर्शक समझना चाहिये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अध्यापक को शरीर-विद्या, समाज-शास्त्र तथा मनोविज्ञान का कुछ न कुछ ज्ञान होना आवश्यक है।

३—वड़े-वड़े शिक्षकों के अनुसार भी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार आवश्यक—

पूर्व काल के शिक्षा-विशेषज्ञ भी शिक्षा और मनोविज्ञान के परस्पर-सम्बन्ध को अच्छी प्रकार समझते थे। प्लैतो[4] के अनुसार शिक्षा का अभिप्राय स्त्री व पुरुष के

---

1 Senses. 2. Individual differences. 3. Principles of learning. 4. Plato.

चरित्र का उचित निर्माण करना है। उसका विश्वास था कि यह तब तक सम्भव नही हो सकता जब तक कि शिक्षक मानव-स्वभाव से भलीभाँति परिचित न हो। अपनी 'रिपब्लिक'[1] नामक पुस्तक मे वह मानव स्वभाव का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है और शिक्षा के उद्देश्य का उल्लेख करता है। उसका कहना है कि शिक्षक को विषय-ज्ञान के साथ ही साथ विद्यार्थी के स्वभाव का ज्ञान भी आवश्यक है।

अपने समय की शिक्षा मे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो की अवहेलना रूसो[2] को बडी खटकती थी। वह कहता है, "मै चाहता हूँ कि कोई विचारशील पुरुष बालको के निरीक्षण की कला पर एक पुस्तक लिखता। यह कला हम लोगो के लिये अत्यन्त उपयोगी होती। इसके विषय मे अभी स्कूल और बच्चो के पिता कुछ भी नही जानते।"[3]

पेस्तालॉजी[4] के अनुसार शिक्षा का अभिप्राय बालक के सर्वाङ्गीण उन्नति से था। इस उद्देश्य मे सफलता के लिये शिक्षक को बालक के मस्तिष्क का अच्छा ज्ञान आवश्यक है। उसकी आवश्यकता, इच्छा तथा योग्यता से उसे भलीभाँति परिचित होना चाहिये। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि बालक अमुक परिस्थिति मे कैसा व्यवहार करेगा तथा क्या करना उसका साधारण स्वभाव है।

हरबार्ट[5] अपने समय की शिक्षा-प्रणाली को दोषपूर्ण समझता था, क्योकि उसका आधार मनोवैज्ञानिक न था। उसका पक्का विश्वास था कि शिक्षा-सिद्धान्त का आधार मनोविज्ञान ही हो सकता है। अतएव शिक्षा-सम्बन्धी उसके सभी कार्य मनोविज्ञान पर आधारित दिखलाई पडते हैं।

फ्रोबेल[6] ने समझा कि शिक्षक को मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियो का ठीक-ठीक ज्ञान होना आवश्यक है। उसका पक्का विश्वास था कि यदि पढाते समय इन प्रवृत्तियो को प्रेरित करने का प्रयत्न किया जाय तो बालक के लिये शिक्षा एक मनोरजन हो जायगी। फ्रोबेल का कहना है कि "जीवन की प्रत्येक अवस्था किसी भविष्य की ओर सकेत नही करती। उसका उद्देश्य उसी मे सीमित रहता है। बच्चा किसी विशिष्ट अवस्था के प्राप्त करने पर ही बालक नही कहलाता अथवा युवक युवावस्था प्राप्त करने पर युवक कहलाने का अधिकारी नही बनता तथा वृद्ध युवावस्था के ढलने से ही वृद्ध नही हो जाता, वरन् अवस्था विशेष के अनुभवो से परिचित होने के नाते ही हमे किसी को बालक, युवक अथवा वृद्ध कहना चाहिये।"[7]

मॉन्तेसरी[8] के समय तक मनोविज्ञान की उन्नति पर्याप्त हो चुकी थी। तब मनोविज्ञान का स्वतन्त्र अस्तित्व प्राय. सब को मान्य था। मॉन्तेसरी के अनुसार शिक्षक को अपने कार्य के सफल सम्पादन के लिये प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक

---

1. Republic. 2. Rousseau. 3. एमील, तीसरा अध्याय, 4. Pestalozzi. 5. Herbart. 6. Froebel, 7 एडूकेशन ऑव मैन—२२. 8. Montessori.

है । मॉन्तेसरी-शिक्षा-प्रणाली मनोविज्ञान के ज्ञान विना चलाई ही नही जा सकती । मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की सहायता से शिक्षक उचित अवसर पर वालक के कार्य में हस्तक्षेप कर सकेगा और इस प्रकार उसकी शिक्षा मनोवैज्ञानिक ढङ्ग पर चलने लगेगी ।

४—शिक्षा का नया अर्थ[1]—

पहले शिक्षा का तात्पर्य मस्तिष्क को ज्ञान से भरना था । अब यह अभिप्राय नही रह गया । अनिश्चित भविष्य की ओर अब वहुत कम ध्यान दिया जाता है । वालक के जीवन को भारपूर्ण नही वनाना है । उसे युवक और वृद्ध के कर्त्तव्यो मे शिक्षा नही देनी है । अव सव लोग यह वात अच्छी प्रकार समझने लगे है कि वालको से अधिक परिश्रम कराने से उनमे सदैव के लिये निर्वलता आ जाती है । जीवन-आनन्द को वे सदा के लिये भूल जाते हैं । उनकी प्रवृत्ति सदा के लिए अस्वस्थ हो जाती है । उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन लाना वडा कठिन हो जाता है । इस प्रकार अब शिक्षा के उद्देश्य और अर्थ मे वहुत परिवर्तन आ गया है । इस परिवर्तन के फलस्वरूप अब लोग समझने लगे है कि प्राणी का विकास स्वत होता है और उसमे अमनोवैज्ञानिक हस्तक्षेप भयानक होता हैं । शिक्षा का यही उद्देश्य है कि यह विकास निरन्तर एक रस से उन्नतिशील रहे । इसके लिए वालको को परिश्रमी और अध्यवसायी वनाना है । यह देखना है कि उनमे मानसिक आलस्य न आने पाये । उन्हे स्वतत्र विचार के लिए उत्साहित करना है जिससे वे समाजहित मे योग दे सके । उनके कार्य मे उत्पादकता लानी है और विचार मे मौलिकता । यदि शिक्षा के इन उद्देश्यो की पूर्ति करनी है तो वालको के स्वाभाविक विकास मे अनावश्यक हस्तक्षेप नही करना है । उन्हे कुछ कार्यो मे पूर्णत. स्वतन्त्र छोड देना है ।

अध्यापक को कठिन नियम-निर्धारक नही होना चाहिए । उसे तो वालको का मित्र और मार्ग-प्रदर्शक होना है । वालको के सामने ऐसी समस्याएँ उपस्थित करनी हैं जिन्हे हल करने के हेतु वे हर समय क्रियाशील रह सके, जिनसे वे अपने को पहचान सके और समाज-हित को भलीभाँति समझ सके । शिक्षा वालको को इतना समर्थ वना दे कि वे अपनी समस्याओ का हल स्वय निकाल ले । अपने कार्यक्रम को पूरा कर ले और अपनी नीति निर्धारित करने का उनमे आत्म-विश्वास आ जाये । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिक्षा से पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए । अत: स्कूलो मे शिक्षा का रूप इतना विस्तृत हो कि प्रत्येक वालक के व्यक्तित्व का विकास सरलता से हो सके । हमारा उद्देश्य उन्हे केवल भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल आदि पढा देना ही नही है, वरन् स्कूल मे शिक्षा का ऐसा वातावरण उपस्थित करना है कि वालक का शारीरिक,

1. The new meaning of education.

मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास अविरल गति से चलता रहे। शिक्षा के इस नये अभिप्राय को कार्यान्वित करने मे बहुत से परिवर्तन आवश्यक होगे। ये परिवर्तन ऐसी समस्याएँ उपस्थित करेंगे जिनका समाधान मनोविज्ञान की सहायता बिना नही हो सकता। अत शिक्षा का आधार मनोवैज्ञानिक होना नितान्त आवश्यक है।

५—बालक के विकास[1] की विभिन्न अवस्थाएँ और शिक्षा में उनका महत्व—

यदि हम बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओ पर दृष्टिपात करें तो शिक्षा मे मनोविज्ञान का महत्व अधिक स्पष्ट हो जायगा। शैशव[2] में बालक की क्रियाएँ बहुत सीमित होती है। उसके व्यवहार प्राय मूलप्रवृत्तियो[3] के आधार पर ही होते हैं। सबसे पहले वह 'भूख' से ही अभिप्रेरित होता है। ज्यो-ज्यो वह बढता है त्यो-त्यो उसके व्यवहार मे गूढता आती जाती है। उसकी बडी-बडी योग्यताएँ विभिन्न प्रकार से अपने रूप दिखलाती हैं। विशेपकर यही से शिक्षक का कर्त्तव्य प्रारम्भ होता है। यह कहा जाता है कि "बालक प्रथम दो या तीन वर्षो मे अपने जीवन की किसी भी अवस्था से अधिक सीखता है।" शिक्षक भले ही इस बात को न पहचान सके, परन्तु इसकी सर्वथा अवहेलना करना विकास के क्षेत्र मे घातक सिद्ध होगा।

सात वर्प का हो जाने पर बालक 'खेल' और 'कार्य' के अन्तर को समझने लगता है। अब वह अपनी रुचि समझने लगता है, और दूसरो की रुचियो से अपनी रुचि की तुलना करने लगता है। उसमे अपने 'ध्यान' को एकाग्र करने की कुछ शक्ति आ जाती है। स्मरण-शक्ति का अभी यथेष्ट विकास नही हुआ रहता, परन्तु अब अपने अनुभवो की छाप उसे पहले से अधिक काल तक स्मरण रहती है। उसके विचारो की उडान भी धीरे-धीरे इसी समय से प्रारम्भ हो जाती है। जगत की मानसिक जीत मे वह तल्लीन हो जाता है। यदि स्वास्थ्य अच्छा रहा तो आठ या नव वर्प के होने पर उसमे कुछ आत्म-नियन्त्रण आने लगता है। अब वह बडो की आज्ञा का पालन करना प्रारम्भ कर देता है। आज्ञा-पालन मे अपने विवेक से कुछ काम लेने की उसमें कुछ शक्ति आ जाती है। पहले के सदृश् वह आज्ञा का तर्कहीन पालन नही करता। बडो के व्यवहार को वह आदर्श मानने लगता है और उसी के अनुसार अपने को ढालने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार उसका नैतिक विकास बडो के अनुकरण करने तक ही सीमित रहता है। अपनी आचार-नीति का निर्धारण वह अपने विवेक से नही करता। इस विषय मे किसी व्यक्ति के प्रति उसकी भक्ति ही उसका मार्ग-प्रदर्शक होती है। यदि शिक्षक विभिन्न अवस्थाओ की इन छोटी-छोटी बातो को नही समझता तो वह अपना उत्तरदायित्व नही निभा सकता। इन अवस्थाओ से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो

---

1. The various stages of child development and their importance in education. 2. Infancy. 3 Instincts.

से जब तक शिक्षक अपने को परिचित नही कर लेता तव तक वह अपने कर्त्तव्य को अच्छी प्रकार समझ ही नही सकता।

ग्यारह और चौदह वर्प की अवस्था के भीतर मानसिक विकास मे 'रूप' और सकेत का विशेप हाथ होता है। किशोरावस्था[1] मे वालक या वालिका को अपने भविष्य के सम्वन्ध में अधिक ध्यान रहता है। वर्तमान उसके लिये एक प्रकार से पीछे रहता हे। हर समय उसे अपने भविष्य की ही चिन्ता रहती है। उसका मस्तिष्क आशा, स्वप्न, इच्छा तथा आकाक्षा आदि से आक्रान्त रहता है। वह अपने भावी व्यवसाय अथवा जीवन-वृत्ति के सम्वन्ध मे चिन्तित-सा दिखलाई पडता है। सामाजिक चेतना के विकास से आचार व व्यवहार के नैतिक मूल्य को भी वह समझने लगता है। इस समय उसकी भावनाओ का पुनर्सङ्गठन प्रारम्भ हो जाता है। इस पुनर्सङ्गठन मे हमे उसकी शारीरिक व मानसिक शक्ति का आभास मिल सकता है। उसकी आन्तरिक मॉग और वाह्य वस्तु-स्थिति मे घोर द्वन्द चलता है। वह स्वतन्त्रता का इच्छुक हो जाता है। अपने सरक्षक से पूर्णत अलग सा होना चाहता है। कभी वह परदेश भाग जाना चाहता है। कभी वह सोचता है कि अपने अभिभावक से एक पैसा न लूँ और स्वय कमाऊँ। अपने विचारो पर उसे आत्म-विश्वास की अनुभूति होती है। किसी की आलोचना से उसे भारी चिढ हो जाती है। वह अपना व्यक्तित्व स्थापित करने के लिए व्याकुल हो जाता है। अपने से छोटो को वह डॉटना प्रारम्भ कर देता है और चाहता है कि वे उसकी आज्ञाओ का पालन करे। उसमे एक ऐंठ आ जाती है। इस ऐंठ मे वह कभी अपने से वडो की आज्ञाओ का उल्लघन भी कर वैठता है। इसी अवस्था मे उसमे स्त्री-पुरुष-सम्वन्धी वातो[2] को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किशोरावस्था मे व्यक्ति चारो ओर से विषम परि-स्थितियो से घिरा रहता है। इन विपम परिस्थितियो से निकाल कर उसे उचित मार्ग प्रदर्शित करना शिक्षक का कर्त्तव्य है। यदि वालक किशोरावस्था मे सँभल गया तो पौ वारह, यदि नही तो उसकी जीवन-नौका किनारे शीघ्र नही लगेगी। शिक्षक का कार्य यहाँ अत्यन्त दुष्कर है। यहाँ शिक्षक को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो से वडी सहायता मिलेगी। मनोविज्ञान के अनुसार किशोरावस्था मे शिक्षा का तात्पर्य विभिन्न प्रकार का ज्ञान ही नही देना है, वरन् वालक को क्रियाशील भी वनाना है, जिससे उसे अपनी अन्तर्हित भावनाओ और विचारो को व्यक्त करने का पूर्ण अवसर मिल सके। कभी-कभी उसे ऐसे कार्य मे लगा देना चाहिए जिससे उसके शारीरिक अथवा मानसिक शक्तियो का यथाशक्ति उपयोग हो सके। ऐसे ही समय मे भाँति-भाँति के खेल और व्यायाम उसे कराये जा सकते हैं। प्रयोगशाला मे प्रयोग करने मे पर्याप्त समय देना मानसिक

1. Adolescence. 2. Matters pertaining to sex.

द्वन्द और व्यतिरेक को रोकने का अच्छा साधन होगा। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के अनुसार किशोरावस्था मे ही वालक मे सदा के लिए उच्च भावनाओ का सचार किया जा सकता है। उसके वौद्धिक, सौन्दर्य तथा प्रेम-भावना के विकास की नीव इस समय वडी दृढ डाली जा सकती है। मनोविज्ञान कहता है कि अन्त प्रेक्षण की प्रवृत्ति क्रियाशीलता से और अतिरञ्जित आकाक्षा की प्रवृत्ति गम्भीर अध्ययन से रोकनी चाहिये। कहना न होगा कि मनोवैज्ञानिक आधार के विना शिक्षा-भावना की नीव वालू पर खडी की हुई दीवाल के समान होगी।

६—मनोविज्ञान शिक्षक के लिए क्या कर सकता है ?[1]—

मनोविज्ञान के सम्वन्ध मे कुछ लोगो के विचार भ्रमात्मक हैं। शिक्षा मे इसके रूप और महत्व को वे नही समझ सके हैं। इसके रूप और महत्व को ठीक-ठीक समझना सरल नही। तथापि इसके क्षेत्र की ओर हम सकेत कर सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि शिक्षा मे वह किस प्रकार सहायक है। शिक्षा-मनोविज्ञान का क्षेत्र वहुत ही विस्तृत है। 'घर' और 'समाज' दोनो के सम्वन्ध मे इसमे चर्चा रहती है। इसकी सीमा के अन्तर्गत विद्यार्थी, उसकी मानसिक योग्यता, व्यक्तित्व-निर्माण, सीखने, विभिन्न विषयो का अध्यापन तथा शिक्षक और विद्यार्थियो से सम्वन्धित सारी वातो का उल्लेख रहता है। शिक्षा-मनोविज्ञान की सहायता से कुशाग्र, मन्द, दोपयुक्त तथा अच्छे सभी प्रकार के बालको की समस्याओ का वज्ञानिक हल हमे मिलता है। इसकी सहायता से शिक्षक अपने विद्यार्थी के वारे मे सारी वातो का पता लगा सकता है। इससे वह जान सकता है कि उसे कव 'क्या' और 'कैसे' पढाना चाहिए। मनोविज्ञान की सहायता से वह समझ सकता है कि व्यक्तित्व-निर्माण किस प्रकार करना चाहिए। मनोविज्ञान के ज्ञान से शिक्षक बालको को उत्साहित कर सकता है, उनकी रुचि के स्थायित्व मे उचित योग दे सकता है और पाठन-विधि को उत्तम वना सकता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान 'अचेतनता' पर भी कुछ दृष्टि डालता है, परन्तु इसके क्षेत्र मे इसे विशेष रुचि नही। अन्तर्लौकिक और दार्शनिक प्रमाण से यह विशेप सहमत नही। विशेषकर शिक्षक और विद्यार्थी की सम्भावित समस्याओ पर विचार करना ही इसका प्रयोजन है। माता-पिता तथा पुत्र-सम्वन्धी वातो पर भी शिक्षा-मनोविज्ञान मे चर्चा रहती है। इस प्रकार शिक्षक शिक्षा-मनोविज्ञान के प्रति उदासीन रह ही नही सकता।

७—मनोविज्ञान की देन से मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता स्पष्ट—

यदि हम मनोविज्ञान को 'देन' पर दृष्टिपात करे तो शिक्षा के मनोवैज्ञानिक

---

1 What can psychology do for the teacher ?

आधार की आवश्यकता हमे और अधिक स्पष्ट हो जायगी। जैसा की पहले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि मनोविज्ञान की सहायता से हमे अधोलिखित बातो का ज्ञान होना है :—

१—बालको की वैयक्तिक भिन्नता।
२—स्कूल-जीवन के सभी क्षेत्र मे बालको की भावनाओ का महत्व।
३—विभिन्न अवस्थाओ मे बालको की आवश्यकताएँ, इन आवश्यकताओं के ज्ञान का महत्व, सभी प्रकार के बालको की मानसिक स्थितियाँ।
४—बुद्धि का रूप। बुद्धि-परीक्षा से स्कूल समस्याओ का हल कैसे निकाला जा सकता है ?
५—बालको की विशेष योग्यताओ का रूप और महत्व।
६—मन्द बालको की समस्याएँ।
७—'ज्ञान-परीक्षा' के सिद्धान्त।
८—बालको के दोषो का पता लगाने के लिये प्रश्नो का चुनाव।
९—पाठन-सिद्धान्त और उसका उपयोग।
१०—परीक्षा-विधि।
११—कुशाग्र तथा मन्द-बुद्धि बालकों का स्वभाव और उनके लिये शिक्षा-विधि।

८—प्रत्येक बालक का अपना पृथक व्यक्तित्व[1]—

'बालक-अध्ययन-आन्दोलन' (चाइल्ड स्टडी मूवमेण्ट) के कार्य से यह स्पष्ट हो गया है कि प्रत्येक बालक का अपना अलग व्यक्तित्व होता है। उसकी रुचि, स्वभाव तथा योग्यता दूसरे से भिन्न होती है। बालक के व्यक्तित्व का विकास उसके जन्म से ही चार बातो पर निर्भर करता है, उसके स्वास्थ्य की दशा, उसका बाह्य-वातावरण, उसकी बुद्धि और स्वभाव। मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षक यह समझ सकता है कि ये चारो बाते एक दूसरे पर निर्भर हैं। किसी का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही। इन बातो का शिक्षा पर बहुत ही प्रभाव पडा है। वैयक्तिक भिन्नता के प्रमाण का शिक्षा के पूरे सगठन पर प्रभाव दिखलाई पडा है। अब लोग आवश्यकतानुसार स्कूल और कक्षा की व्यवस्था पर ध्यान देने लगे हैं। शिक्षक पहले से अब अधिक दयालु हो गये है। उनमे बालको के प्रति सहानुभूति दिखलाई पडती है। अब लोग समझने लगे हैं कि सभी बालक समान योग्यता के नही होते। तीव्र, साधारण और मन्द तीनो प्रकार के बालको के प्रति उचित सहानुभूति दिखलाना शिक्षको ने सीख लिया है। कहना न होगा कि मनोविज्ञान ने अध्यापक के पूरे दृष्टिकोण मे महान् परिवर्तन ला दिया है। अतः शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की अत्यन्त आवश्यकता है।

1 Every child has his own separate personality.

६—बालको की भावना के अध्ययन का महत्व[1]—

बालको की भावनाओ का उनके स्कूल-जीवन पर वडा प्रभाव पडता है। उनकी वैयक्तिक भिन्नता के ज्ञान के अतिरिक्त उनकी भावनाओ का भी अध्यापक को ज्ञान होना चाहिये, क्योकि उनके विकास मे उनका वड़ा महत्व होता है। दुर्भाग्यवश वहुत से अभिभावक और शिक्षक इस बात को अभी ठीक से नही समझ सके हैं। फलत वच्चो का पालन-पोपण वे अमनोवैज्ञानिक ढग पर करते हैं। आजकल बहुत से ऐसे सम्प्रदाया हैं जो वालको की शिक्षा मे उनकी भावनाओ पर विशेप ध्यान देते हैं। इनमे पहला नाम प्रगतिशील सम्प्रदाय[2] का है। ये वालको की भावनाओ का आदर करते हैं, और प्राचीन प्रणाली पर उन्हे दण्ड देना अनुचित समझते हैं। इन सम्प्रदायो से ऐसे वालक निकलते है जिनमे आह्लाद दिखलाई पडता है। वे स्वस्थ होते है और जान पडता है है वे अपना व्यक्तित्व स्थापित कर सुखमय जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

एक दूसरे प्रकार का भी सम्प्रदाय मिलता है जिसमे बालको की भावनाओ का आदर किया जाता है। इसमे हस्तकला, नाटक तथा सगीत आदि की सहायता से उन्हे अपनी भावनाओ के प्रदर्शन का पूर्ण अवसर दिया जाता है। इसका फल यह होता है कि आगे चल कर बालक जीवन मे शीघ्र व्यवस्थित हो जाते हैं, और कुशल नागरिको में उनकी गणना होने लगती है।

कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय होते हैं जहाँ वालको की आवश्यकताओ पर सवसे पहले ध्यान दिया जाता है। अध्यापक और विद्यार्थी का सम्बन्ध इन्ही आवश्यकताओ के समझने पर निर्भर होता है। योग्यता और कठिनाई के प्रति हर समय सहानुभूति का वातावरण रहता है।

चौथे प्रकार के सम्प्रदाय मे विभिन्न प्रकार के दोप-युक्त वालको की शिक्षा की व्यवस्था रहती है। इन सम्प्रदायो द्वारा किये गये अन्वेषणो से हमे यह भलीभाँति ज्ञात हो गया है कि व्यक्तित्व के विकास मे 'भावना' का कितना वडा हाथ है। उनसे हमे यह भी ज्ञात होता है कि शारीरिक तथा मानसिक भावना का विकास एक दूसरे पर निर्भर है। एक की भी अवहेलना करने से दूसरे की हानि हुए विना नही रहती। इन अध्यनो से अव हमारा यह विश्वास हो गया है कि वालक की प्राय सभी असफलताएँ और विकट समस्याएँ उनकी भावनाओ की अवहेलना के ही कुफल है। कोई भी शिक्षक इन सव बातो को अच्छी प्रकार नही समझ सकता, यदि वह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो से परिचित नही।

अव यह सप्रमाण सिद्ध बात है कि वालक अथवा युवा पुरुप के मानसिक कार्य

---

1. The importance of study of children's feelings. 2 Progressive School.

के लिये भावनाओं मे द्वन्द नही होना चाहिये, अन्यथा मन किसी वात पर एकाग्र हो ही नहीं सकता। सफलता की भावना से ही अच्छे व्यक्तित्व का विकास सम्भव हो सकता है। शान्त वातावरण में ही हम अपनी रुचियो तथा शक्तियो का सदुपयोग कर सकते है। अति मन्द बालक भी बहुत लाभ उठा सकता है, यदि उसकी कठिनाइयो को समझ कर उसके साथ सहानुभूति का व्यवहार किया जाय। जब तक असफलता, भय, निराशा, आलोचना, व्यङ्ग, दण्ड और प्रतियोगिता की भावनाये बालको मे चलती रहेगी तब तक उनकी कुछ भी उन्नति सम्भव नही, तब तक उनमे आत्म-निर्भरता और आत्म-संयम की भावनाओं का सचार हो ही नही सकता। अत प्रत्येक अध्यापक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह इन सब बातो को समझे और तदनुसार आचरण करने की चेष्टा मे सदैव रत रहे, तभी वह अपने उत्तरदायित्व को निभा सकता है, अन्यथा नही।

१०—बालको की कुछ प्रधान आवश्यकताएँ और शिक्षा में उनका महत्व[1]—

जेसेल[2], बूलर[3], शर्ली[4], ब्लाज[5], आइजक्स,[6], वैलेन्टाइन[7] तथा बारबरालो[8] आदि मनोवैज्ञानिको ने घोर परिश्रम कर बालको के सम्बन्ध मे कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। पाँच अथवा छ साल की अवस्था के बालको की आवश्यकता के सम्बन्ध मे वे एक स्वर से सहमत हैं। इन आवश्यकताओं का उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं—

१—रक्षा की आवश्यकता।[9]

२—खेल की आवश्यकता।[10]

३—दूसरे बालको से सम्बन्ध। इसका बालक के सामाजिक तथा मानसिक विकास मे योग।

४—कुछ निश्चित कार्यक्रम तथा इच्छा-शक्ति बढाने का साधन।

५—बालक मे आत्म-विश्वास, मौलिकता और स्वतन्त्र्य-भाव की वृद्धि।

६—बालक के साथ मनोवैज्ञानिक व्यवहार—

(१) उसके प्रश्नो को धैर्य-पूर्वक सुनना और उसके समझने योग्य उनका उत्तर देना।

(२) उसकी तर्क-शक्ति की उचित अवसर पर प्रशंसा करते रहना।

(३) उसके भय को प्रमाण के सहारे धीरे-धीरे दूर करना।

इन आवश्यकताओं के पता लग जाने से अब अभिभावकगण बालक के प्रार-

---

1 Some basic needs of children and their importance in education 2 Gesell 3. Buhler. 4 Shirley 5. Blatz 6. Issacs. 7. Valentine. 8. Burbara Low. 9 The need for security. 10. The need for play

म्भिक काल का महत्व भलीभाँति समझने लगे हैं। फलतः बालको के पालन-पोषण मे पहले से बहुत अधिक उन्नति दिखलाई पडती है। स्पष्ट है कि शिक्षा का आधार मनोवैज्ञानिक ही होना चाहिये। माता-पिता तो अब भी पालन-पोषण विषयक बहुत से मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो से अनभिज्ञ हैं, परन्तु शिशु-पाठशाला[1] (नर्सरी स्कूल) के बहुत से शिक्षक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो को समझने लगे हैं। पर ऐसी पाठशालाएँ अभी बहुत कम हैं, और हमारे उद्देश्य की पूर्ति अभी नही दिखलाई पडती। यदि ऐसी पाठ-शालाएँ बढ जाँय तो हमारे देश मे सुखी बालक पहले से अधिक दिखलाई पडेगे। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम उनकी मनोवैज्ञानिक और शारीरिक आवश्यक-ताओ का ध्यान रक्खे।

११—बालकों का सहज स्वभाव क्या है ?[2]

अन्वेषण के आधार पर सात और चौदह वर्ष के भीतर बालको का सहज स्वभाव इस प्रकार बातलाया गया है :—

१—आत्म-प्रकाशन की उत्कट इच्छा।
२—शारीरिक क्रियाशीलता की आवश्यकता।
३—सामाजिक भावना का धीरे-धीरे विकास।
४—विचार-मग्न होने की प्रवृत्ति।
५—मानसिक जिज्ञासा की अभिवृद्धि।
६—लयमय गति मे आनन्द का अनुभव।
७—नई वस्तुओ को बनाने तथा इकट्ठा करने की प्रवृत्ति।
८—साहसिक कार्य करने की भावना की जागृति।

हमारे देश मे बहुत कम ऐसे स्कूल हैं जो बालको की विचार-भावना तथा मानसिक जिज्ञासा के अनुकूल शिक्षा देते है। अब भी विषयो के सह-सम्बन्ध[3] से अध्या-पक अनभिज्ञ से दिखलाई पडते हैं। स्कूलो मे क्रिया-शीलता को बहुत कम स्थान दिया जाता है। बालको मे आत्म-प्रकाशन की शक्ति बढाने की चेष्टा बहुत कम की जाती है। इसके अतिरिक्त, हमारे यहाँ मनोविज्ञान के क्षेत्र मे जो कुछ अन्वेषण किये गये हैं वे एक सूत्र मे बँधे नही मालूम होते। हम अपने स्कूलो मे बहुत-सी ऐसी बाते देखते हैं जिनका कुछ मनोवैज्ञानिक आधार ही नही मिलता। यदि अपने बालको को कुशल नागरिक बनाना है तो हमे उनकी शिक्षा का प्रबन्ध मनोवैज्ञानिक ढग से करना ही होगा।

---

1. Nursery School. 2. What is the spontaneous nature of the child? 3 Correlation.

१२—शिक्षक और प्राकृतिक शक्तियाँ[1] (अर्थात मूलप्रवृत्तियाँ)—

वालक की विभिन्न प्राकृतिक शक्तियो का विकास स्कूल मे तव तक अच्छी प्रकार नहीं हो सकता जब तक अध्यापक को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का पूर्ण ज्ञान नही हैं। यदि वालक कक्षा मे कही हुई वात को अच्छी प्रकार नही सुनता तो अध्यापक प्रश्नों के सहारे उसमे जिज्ञासा उत्पन्न करना चाहता है। यदि किसी शका के समाधान के लिये वालको मे एक प्रवृत्ति उत्पन्न की जा सके तो वे कठिन से कठिन कार्यो के समझने मे अपना उत्साह दिखला सकते हैं और उसके सम्पादन मे नये ज्ञान को भी सरलता से ग्रहण सकते हैं।

जिज्ञासा-शक्ति के साथ-साथ निर्माण-शक्ति के विकास मे भी योग दिया जा सकता है। इस प्रकार वालक सदैव कुछ न कुछ काम करते रहेगे और उनमे 'आत्म-अनुभव' से 'सीखने' की प्रवृत्ति आ जायगी। कभी-कभी बालको मे आत्महीनता की भावना[2] (इनफीरियॉरिटी कॉम्प्लेक्स) आने लगती है। यदि इस भावना का प्रतिकार मनोवैज्ञानिक ढग पर नही किया गया तो उनमे हीनता की भावना-ग्रन्थि आ जायगी जिसे सरलतापूर्वक खोला नही जा सकता। यदि शिक्षक मनोविज्ञान से परिचित है तो इन सव वातो पर वह उचित ध्यान दे सकता है।

शिक्षक को यह नही कहना है कि 'इस समस्या का हल निकालो'। यदि वह कहता है कि आओ हम सव इस समस्या का हल निकाले तो वह वालक मे आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति को उकसाता है। वालको मे यह प्रवृत्ति वडी ही उत्साहवर्द्धक होती है। यदि शिक्षक मे मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि है तो वह बालक की सफलता पर उसकी अवश्य प्रशंसा करेगा। यदि अपने दल की सफलता व असफलता उन्ही के परिश्रम पर निर्भर रहती है तो वे 'दल-भावना'[3] से अभिप्रेरित हो जाते हैं। जो अध्यापक उनमे इस भावना को भरता है वह-उनकी मन शारीरिक शक्ति को तीक्ष्ण करता है। सहोद्योग और दल-भावना 'समुदाय मे रहने की प्रवृत्ति' का दूसरा नाम है। शिक्षा मे इसका वडा महत्व है।

यदि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का अनुसरण किया जाय तो वालको की भावना उनकी शिक्षा का अच्छा साधन हो सकती है। शैशव मे दूसरो का वालक पर वडा प्रभाव पडता है। यदि उसकी मूलप्रवृत्तियो को उकसाया जाय तो वे शीघ्र ही प्रभावित हो जाते है। वच्चे छोटे-छोटे पालतू जानवरो, वच्चो तथा खिलौने से खेलते हुए पाये जाते हैं। कभी-कभी वे अपनी माँ के अनुकरण मे अपने खिलोने को ऐसा प्यार करते हुए दिखलाई पडते हैं मानो वे उनके वच्चे हो। वे उसके प्रति दया और सहानुभूति का

1. The teacher and the Instincts. 2. Inferiority Complex. 3. Team Spirit.

व्यवहार करते हुए दिखलाई पडते है। यदि बालक किसी वस्तु मे रुचि नही दिखलाता तो उस वस्तु का उसके खिलौने या पालतू जानवर से सम्बन्ध दिखला कर उसमे उसके लिये रुचि उत्पन्न की जा सकती है। यदि बालको को यह विश्वास दिलाया जाय कि अमुक काम करने से वे अपनी प्रिय वस्तु की सेवा करेंगे तो वे उस काम को सहर्ष करेंगे। उदाहरणत. चतुर माँ अपने वच्चे से उससे खिलौने के लिये यह कह कर कुछ कपडे बनवा सकती है कि जाडे मे उसे जाडा लगेगा। इस प्रकार वालक मे रचनात्मक भावना का सचार होगा, और उसके खेल मे उचित क्रियाशीलता आ जायगी।

किशोरावस्था में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी जिज्ञासा का निवारण करना वडा ही कठिन है। यदि शिक्षक या अभिभावक इस जिज्ञासा का उचित ढङ्ग से समाधान न कर सके तो बालको के व्यक्तित्व का विकास अधूरा रह जायगा। उनमे बुरी भावना-ग्रन्थियाँ[1] पड जायगी। बाद मे उन्हे दूर करना अत्यन्त कठिन हो जायगा। शिक्षक को बालको के युयुत्सा, अनुकरण, निर्देश तथा खेल आदि प्रवृत्तियो के प्रति उचित व्यवहार करना अत्यन्त आवश्यक है। 'खेल-शक्ति' का बालको की शिक्षा मे विशेष महत्व है। गॉडफ्रे थॉमसन का कथन है कि "मनुष्यो ने पशुओ को अपनी मूल-प्रवृत्तियो' के कारण जीत लिया है, क्योकि उनका बचपन खेल का ही समय कहा जाता है।" मौलिकता को क्रियाशील बनाने के लिए खेल-शक्ति का उचित उपयोग नितान्त आवश्यक है। प्रारम्भिक स्कूलो तथा कक्षाओ मे इन खेलो का उचित उपयोग करना समीचीन दिखलाई पडता है। वर्तमान शिक्षा-विशेषज्ञो का भी यही कहना है। यदि हम बालको से कहे कि आओ तुम्हे 'अक्षर लिखना' सिखलावे तो उन्हे यह प्रस्ताव अरुचिकर लगेगा, परन्तु यदि हम उनसे कहे कि आओ हम लोग खेल खेले तो वे कूद पडेंगे।

वच्चो की अनुकरण-शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। दूसरे जैसा करते या सोचते हैं वैसा ही वे भी करना अथवा सोचना चाहते हैं। फलत शिक्षक उनके लिए आदर्श-रूप हो जाता है। वे शिक्षक के सदृश् लिखना, पढना, बोलना, चलना, वैठना इत्यादि अनजान मे सीखने लगते हैं। शिक्षको के विचार को भी वे धीरे-धीरे अपनाने लगते हैं। अत शिक्षक को अपने सभी व्यवहारो मे वडा सतर्क रहना चाहिये, विशेषकर जब वे बालको के साथ हो। यदि शिक्षको को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का ज्ञान है तो वे इन बातो को कभी नही भूल सकते। कुछ लोगो का कहना है कि बालको मे अनुकरण-शक्ति को प्रोत्साहन देना उचित नही, क्योकि इससे उनकी मौलिकता मारी जायगी। इस विचार के पक्ष मे हमे कोई मनोवैज्ञानिक प्रमाण नही मिलता। ऐसी धारणा भ्रमात्मक प्रतीत होती है। वस्तुत 'अनुकरण करना' तो किसी भी मन शारीरिक

1. Complexes.

प्राणी के विकास में एक आवश्यक 'स्थिति' है। शिक्षक को इन सब बातो का समझना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा बालको की शिक्षा मे वह उचित योग न दे सकेगा।

कभी-कभी बालक को दण्ड भी देना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में शिक्षक उसकी भय-प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है। विनय-स्थापन मे शिक्षक को इस प्रवृत्ति का सहारा लेना पडता है। भय देकर शिक्षक बालक से कई काम कराता है। भय मे बालक काम में अपनी सारी शक्ति लगा देता है और कक्षा मे उद्दण्डता दिखाने का साहस नही करता। यदि बालक स्वस्थ और बली हुआ तो भय से काम कराना विशेप हानिकर नही। परन्तु निर्बल बालक से बार-बार भय दिखा कर काम लेना ठीक नही, क्योकि यह उसकी उन्नति मे घातक होगा। इससे बालक का नैतिक पतन हो जाता है। उसकी सारी शक्ति जाती रहती है। इस प्रकार शिक्षक के हाथ में 'भय' बडा अमोघ और भयानक अस्त्र है। यदि इसका वह उचित प्रयोग न कर सका तो बालको के व्यक्तित्व-निर्माण[1] मे सहायता के स्थान पर वह बाधा पहुँचायेगा। अत. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का ज्ञान प्राप्त करना शिक्षक का परम कर्तव्य है।

१६—मनुष्य की शक्तियाँ[2]—

प्रतिदिन हम कुछ न कुछ सफलतापूर्वक कार्य किया करते हैं। स्पष्ट है कि हमारी 'शक्तियाँ' इसमे सहायक होती हैं। हम साँस लेते हैं, भोजन पचाते है, हमारे सारे शरीर मे रुधिर का दौरा हो जाता है, हम शत्रुओ से अपनी रक्षा कर लेते हैं। अपने वातावरण की वस्तुओ को देख कर उन्हे हम पहचान लेते हैं। अपनी आवश्यकतानुसार हम योजना बनाते हैं और उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य की इन विभिन्न शक्तियो मे से शिक्षक को अपनी आवश्यकतानुसार कुछ ऐसी शक्तियों को चुनना है जो कि बालक के सभी कार्यों के मूल मे हो, तभी वह शिक्षा की उचित व्यवस्था कर सकता है। क्या चलना, कूदना, दौड़ना, बोलना, पढना, लिखना तथा नई वस्तुओ को बनाना आदि हमारी पृथक्-पृथक् शक्तियाँ हैं या कुछ विशेप शक्तियाँ उनके मूल मे निहित हैं? मनोवैज्ञानिक अन्वेपण से यह पता चला है कि मनुष्य की शक्तियाँ सीमित होती हैं और उन्ही के आधार पर उसके सब कार्य हुआ करते हैं। एक ही शक्ति मनुष्य को 'जोडना' 'घटाना' और 'गुणा-भाग' कराना सिखाती है। इसके लिये अलग-अलग शक्तियाँ नही होती। यदि यह एक शक्ति उसमे अन्य शक्तियो से प्रबलतर हुई तो इन सब कार्यों को वह अधिक कुशलता से कर सकेगा। मनोवैज्ञानिको के अनुसार हमारी विभिन्न रुचियो और शक्तियो के पीछे कुल चार शक्तियाँ हैं :—(१) यान्त्रिक शक्ति[3], (२) अंकगणित-शक्ति[4], (३) कल्पना-शक्ति,[5] तथा (४) शाब्दिक शक्ति[6]।

1. Personality Development. 2. Abilities of Man. 3. Mechanical Ability. 4. Arithmetic Ability. 5. Imaginative Ability. 6. Verbal Ability.

शिक्षक को वालको का वर्गीकरण उनकी योग्यतानुसार करने मे समर्थ होना चाहिए। कहना न होगा कि अपने इस प्रयत्न मे उसे वालको की विभिन्न शक्तियो का ज्ञान करना आवश्यक होगा और उसे मनोविज्ञान से वडी सहायता मिलेगी।

१७--सिद्धान्तत और वस्तुत शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता---

शिक्षक की स्थिति प्राय माली के सदृश् है। माली के लिए पौधो के विषय मे पूरा ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार शिक्षक को वालक का पूरा ज्ञान होना चाहिए। माली को यह देखना है कि सभी पौधे वढ कर ठीक से फूल-फल इत्यादि देते हैं। इसी प्रकार शिक्षक को वालको के सभी सद्गुणो को एक ओर केन्द्रित कर उनके 'व्यक्तित्व-निर्माण' मे योग देना है। परन्तु इसमे वह सफल नही हो सकता यदि वह यह नही जानता कि मन शारीरिक प्राणी का विकास किस ढग से होता है।

शिक्षक न तो स्वामी है और न शासन-कर्त्ता। उसकी स्थिति एक मित्र अथवा मार्ग-प्रदर्शक की है। स्वत विकास के सिद्धान्त की यही माँग है। शिक्षक को केवल अनुकूल वातावरण उपस्थित कर देना है जिससे बालक अपनी मूल-प्रवृत्तियो का सदुपयोग करते हुए अपनी जिज्ञासा का समाधान कर सके। वालकों की किसी 'स्थिति' को स्वय समझना है और शिक्षक को देखना है कि वे समस्याओ का हल स्वय निकालने में सफल होते हैं। इस प्रकार शिक्षक को अब केवल वातावरणो को ही अपने नियन्त्रण मे रखना है, वालको को नही। अत. मनोविज्ञान का ज्ञान उसके लिए वहुत ही आवश्यक है। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि बाल-मन किस प्रकार कार्य करता है जिससे वह पढाने के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर सके। उसे यह जानना चाहिये कि वालको का व्यवहार किस प्रकार का होता है और वे अप अनुभवो की प्रतिक्रिया मे उसमे किस प्रकार का परिवर्तन ला सकते हैं। उसमे भले और बुरे अनुभवो को पहचानने तथा तदनुसार उचित आयोजन करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। उसे यह समझना चाहिए कि चरित्र-निर्माण के लिये किन अनुभवो को दोहराना आवश्यक होगा।

केवल अध्यापन-विधि का ज्ञान ही किसी को सफल शिक्षक नही बना सकता। उसके लिये मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का परिचय आवश्यक है। शिक्षक को यह समझना चाहिये कि अध्यापन मे अमुक विधि का अनुसरण क्यो आवश्यक है। इसके लिये उसे बाल-मन का अध्ययन करना होगा। शिक्षक अध्यापन के नियमो और विधियो को कण्ठाग्र कर सकता है। परन्तु 'कव' 'कौन-सा' नियम लगाना होगा यह वह मनोविज्ञान के सहारे ही जान सकता है। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि अमुक विधि का बाल-मन पर क्या प्रभाव पडेगा। अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञान से शिक्षक यह समझ सकता है कि विधियो का प्रयोग उचित किया जा रहा है अथवा नही। इस प्रकार वह अपनी तथा अपने सहयोगियो की त्रुटियो को सुधार सकता है।

पाठ्य-क्रम के निर्माण मे मनोविज्ञान की सहायता अमूल्य है। किसी 'अवस्था' की शक्ति के ज्ञान बिना उसके लिये विपयो को चुनना कठिन है। इसके लिये हमे विभिन्न 'अवस्थाओ' की शक्तियो का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि हम ऐसा नही करते तो हमारी दशा उस बढई के समान होगी जो बिना लकडी पहचाने काम करने बैठ जाता है। पाठ्य-क्रम के निर्माताओ को बाल-मन का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। विकास की प्रत्येक अवस्था की अपनी अलग-अलग माँग होती है और उसके लिये विशेप ध्यान की आवश्यकता होती है। अतः निर्माताओ को यह समझना चाहिये कि बालकों का कल्याण सबसे अधिक किस मे है। ये सब बाते मनोविज्ञान के ज्ञान बिना नही जानी जा सकती।

आजकल शिक्षा मे 'सिद्धान्त' तथा 'परीक्षण' की दिन प्रति दिन उन्नति हो रही हैं। इस क्षेत्र मे मनोविज्ञान का हाथ भी बढता चला जा रहा है। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के कारण स्मरण-शक्ति, बुद्धि, ध्यान, कल्पना-शक्ति तथा रुचि आदि मे हमारा ज्ञान विस्तृत होता जा रहा है। इन अन्वेषणो का हमारी शिक्षा पर पूरा प्रभाव पड रहा है। अतः शिक्षक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो की अवहेलना कर ही नही सकता।

१८—कुछ आपत्तियों के उत्तर—

पहले शिक्षक मनोविज्ञान के प्रति उदासीन थे और समझते थे कि कुशल अध्यापन में मनोविज्ञान कुछ भी सहायता नही कर सकता। आजकल भी कुछ दार्शनिको का कहना है कि शिक्षक को मनोविज्ञान के पचडे मे न पडना चाहिये, क्योकि उससे उसे कुछ भी सहायता नही मिल सकती। उनका कहना है कि व्यक्तित्व-निर्माण मे मनोविज्ञान की सहायता की कुछ भी आवश्यकता नही। दार्शनिको के ऐसे विचार का कदाचित् कारण यह है कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति विश्लेपणात्मक होती है और शिक्षक की संश्लेपणात्मक। मनोवैज्ञानिक 'व्यवहार' का अध्ययन करता है। उसके सुधार से उसका कुछ भी प्रयोजन नही। उसका यह काम नही कि व्यवहार को नैतिक अथवा सामाजिक कसौटी पर कस कर उसका मूल्य बतलावे। व्यवहार चाहे अच्छा हो अथवा बुरा—इससे उसका कुछ भी योजन नही। उसे दोनो का समान दृष्टि मे अध्ययन करना है। पर शिक्षक का उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा यदि वह अपनी वस्तु का विश्लेपण करने लगे। वह तो एक उत्पादक कलाकार हैं। उसे आदर्शवादी होना है। यदि वह महान् आदर्शो से प्रेरित न हुआ तो वह शिक्षक होने योग्य नही। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक को यथार्थवादी होना है। उसे वास्तविकता को पहचानना हैं। आदर्शवाद से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। भविष्य की सम्भावनाओ के विपय मे सोचना उसका कर्तव्य नही। उसे तो वर्तमान परिस्थितियो का अध्ययन कर अपना निष्पक्ष निर्णय देना है। उसे यह देखना है कि बालक है 'क्या'। शिक्षक बालक को उसकी 'योग्यता'

और 'सम्भावनाओं' के दृष्टिकोण से देखता है। वह कभी भविष्य की अवहेलना नही कर सकता। उसके सभी कार्यो मे कुछ 'गोपनीय वास्तविकता' की छाप रहती है। वह चाहता है कि बालक इस 'वास्तविकता' को पहचान सके और तदनुसार अपने को मोड सके। ऐसे तर्को के बल पर कुछ दार्शनिको का मत है कि मनोविज्ञान 'शिक्षा' की किसी प्रकार की सहायता नही कर सकता। मनोवैज्ञानिक ज्ञान से शिक्षक उच्च आदर्शों से बहुत दूर हट जायगा और उसके व्यक्तित्व से बालक उत्साह और प्रेरणा नही ले सकेगे।

उपर्युक्त तर्क मे कुछ तथ्य तो दिखलाई पडता ही है। मनोविज्ञान यह नही बतलाता कि शिक्षक का कर्त्तव्य क्या है। इसके लिये तो हमे दर्शनशास्त्र की ही सहायता लेनी पडेगी। शिक्षा को हम प्रयोगात्मक मनोविज्ञान नही कह सकते। स्कूल को हम मनोविज्ञान की प्रयोगशाला नही बना सकते। ऊपर के तर्क का तात्पर्य केवल इतना है कि शिक्षक को केवल मनोवैज्ञानिक ही नही होना है, उसे अपनी कक्षा को प्रयोगशाला नही बना लेनी है, वरन् शिक्षक को आदर्शवादी होना है। उच्च विचार और आदर्श उसकी नस-नस मे भरे रहने चाहिये। उसे बालक को आत्म-बोध के लिये उत्साहित करना है। उसे बालक को रास्ता दिखा देना है जिससे वह वास्तविकता को स्वय पहचान सके। उसे बालक को सिखाना है कि जीवन उपयोगी कैसे बनाया जा सकता है। उसे उसका व्यक्तित्व-निर्माण पूर्ण रूप से करना है। शिक्षक को अपने इस कर्त्तव्य और कार्य मे पूर्ण भक्ति और विश्वास रखना है, तभी वह अपने उत्तरदायित्व को निभा सकता है। उसे बालको को ऐसा बनाना है कि वे अपने दैवत्व को पहचान सके। शिक्षक के इन सब कर्त्तव्यो मे मनोविज्ञान से किसी प्रकार की बाधा न होगी। शिक्षक अपनी कला में कितना ही निपुण क्यो न हो, परन्तु यदि वह मनः शारीरिक जीव अर्थात् बालक के स्वभाव-गुण से परिचित नही है तो उसे अपनी कुशलता का अधूरा ही फल मिलेगा। हम यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षक को मनोविज्ञान के पठन की अधिक आवश्यकता नही, क्योकि कुशल अध्यापन मनोविज्ञान के ज्ञान पर उतना निर्भर नही जितना वास्तविक विषय के ठीक ज्ञान पर। मनोविज्ञान का एक अच्छा विद्यार्थी विषय के ज्ञान से अनभिज्ञ हो सकता है और इस प्रकार कुशल अध्यापक बनने मे वह असमर्थ हो सकता है। परन्तु इन सब बातो के होते हुए भी मनोविज्ञान शिक्षक की प्रत्येक दशा मे सहायता ही करेगा। उसकी सहायता से शिक्षक बहुत-सी त्रुटियो से बच जायगा और इस प्रकार अबोध बालको की हानि कम होगी। अनुभव-सिद्ध-रीति ही हर समय सहायता नही दे सकती। हमे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की सहायता लेनी ही पडेगी।

यह सोचना भ्रमात्मक है कि मनोवैज्ञानिक की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति शिक्षक

की सश्लेषणात्मक प्रवृत्ति मे बाधक होगी। इतिहास इसका प्रमाण है। पेस्तालॉजी, हरबार्ट और फ्रोबेल आदि ऐसे महान् शिक्षक उच्च कोटि के आदर्शवादी थे। परन्तु इन्होने ही शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार पर लाने की चेष्टा की है। इन्होने ही हमे सिखलाया कि शिक्षा के लिये बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है। इन्होने हमें बतलाया कि मनोविज्ञान की सहायता के बिना शिक्षा-उद्देश्य की पूर्ति सम्भव नही। विज्ञान 'कला' का विरोधी नही, अपितु कुछ अश मे एक दूसरे के सहायक माने जा सकते है। यदि कलाकार की अन्तर्दृष्टि वैज्ञानिक है तो वह अपनी कला को उत्कृष्ट रूप दे सकता है, और उसे सदा के लिये स्थायी बना सकता है। शिक्षा के विषय मे तो इस पर कुछ सन्देह ही नही किया जा सकता। 'बालक-अध्ययन आन्दोलन' से शिक्षा का जितना कल्याण हुआ है उतना कभी सिद्धान्तवादियो से नही हुआ।

यदि कलाकार अपनी वस्तु को जानता है तो वह अधिक सुन्दर काम कर सकता है। 'बालक' ही शिक्षक की 'वस्तु' है। यदि वह अपनी वस्तु से अनभिज्ञ है तो वह अपने कार्य मे कभी सफल नही हो सकता। शिक्षक के लिये केवल वस्तु-ज्ञान ही आवश्यक नही ; उसे बालक के स्वभाव से भी अच्छी प्रकार भिज्ञ होना चाहिये। उसे यह समझना चाहिये कि बालक की आवश्यकतानुसार वस्तु-ज्ञान किस प्रकार देना चाहिये।

यह सत्य है कि मनोविज्ञान के सहारे हम शिक्षा-उद्देश्य को निर्धारित नही कर सकते। इसके लिये हमे दर्शन-शास्त्र और आचार-शास्त्र की सहायता लेनी पडेगी। परन्तु अमुक उद्देश्य सफल होगा अथवा नही यह हम मनोविज्ञान से ही जान सकते हैं। बालक कहाँ तक उन्नति कर सका, उसकी उन्नति मे 'क्या-क्या' बाधाएँ उपस्थित हो रही हैं—ये सब बाते हमे मनोविज्ञान की सहायता से ही मालूम हो सकती है। शिक्षा मे हम बालक के 'व्यवहार' को ही सुधारना चाहते हैं। 'व्यवहार'का सुधार मनोविज्ञान के आधार पर ही किया जा सकता है, अन्यथा शिक्षक और बालक दोनो की शक्तियो का अपव्यय होगा। किसी 'व्यवहार' का 'छिपा हुआ' अभिप्राय मनोविज्ञान की सहायता से ही हम समझ सकते हैं। कभी-कभी हमारे अभिप्राय स्पष्ट नही दिखलाई पडते। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही इस उलझन को दूर कर उचित रास्ता दिखला सकता है। यदि 'छिपे हुए' अभिप्राय का उचित समाधान न हुआ तो बालको मे अवांछित भावना-ग्रन्थियॉ पड जाती हैं। बाद मे इन ग्रन्थियो से उन्हे मुक्त करना कठिन हो जाता है। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व-निर्माण अधूरा पड जाता है। अब वैयक्तिक-भिन्नता का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है। शिक्षा मे प्रोत्साहन का महत्व अब ठीक से समझा जाने लगा है। बालक मे 'स्वच्छन्दता की भावना बढाना' शिक्षा के प्रधान सिद्धान्तो मे माना जाने लगा है। अब यह ध्वनि चारो ओर है कि बालक के

सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर ध्यान देना वाछित है। इन सब सुधारों के कारण शिक्षा मे मनोविज्ञान का महत्व वहुत वढ गया है।

मनोविज्ञान की सहायता से एक शुष्क विषय भी रुचिकर वनाया जा सकता है। रुचि उत्पन्न करने और वालको के ध्यान को एकाग्र करने में विशेष विधियो की आवश्यकता होती है। ये विधियाँ मनोवैज्ञानिक प्रयोगो द्वारा ही निर्धारित की जा सकती हैं। वालक की रुचि के विरुद्ध कुछ न हो इसके लिये यह आवश्यक है कि शिक्षक उसके स्वभाव को समझे। शिक्षक को वालक की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिये इस प्रकार कार्य करना है कि बालक कुशल व्यक्ति हो सके। मनोविज्ञान इस विषय मे शिक्षक का वडा ही सहायक है।

शिक्षा का अभिप्राय केवल अध्यापन से ही नही है। अध्यापन तो शिक्षा का साधन मात्र है। शिक्षा से हमारा तात्पर्य सभी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियो के विकास से है। जन्म से मरण तक जितनी बातें हमारे जीवन मे आती हैं उन सव का शिक्षा से घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि शिक्षा का अर्थ इतना विस्तृत है तो मानव व्यक्तित्व-सम्बन्धी सारी बातो से शिक्षक का परिचय होना आवश्यक है। मनोविज्ञान में हम इन्ही सब वातो का विश्लेषणात्मक उल्लेख पाते हैं। रूसो ने कहा है कि 'वालक एक ऐसी पुस्तक के समान है जिसे शिक्षक को भली भाँति पढना है।' शिक्षक वालक के व्यक्तित्व-निर्माण मे तव तक उचित योग नही दे सकता जब तक उसे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का पूरा ज्ञान नही है। बचपन में पडी हुई बुरी आदतो को दूर करना वहुत कठिन हो जाता है। यदि शिक्षक की भूल से बालक ने कोई बुरी आदत डाल ली तो उसे दूर करना सरल नही। बालक का तन्तु-सस्थान बडा ही कोमल होता है। यदि वह कुशाग्र बुद्धि का हुआ तो वह और भी अधिक सूक्ष्म-गुणग्राही होगा। उत्कृष्ट वुद्धि वालक रूखे व्यवहार को सहन नही कर सकता। रूखे व्यवहार से उसकी सारी गुणग्राहकता पर पानी फिर सकता है। अत शिक्षक को इन सब वातो के बारे मे वडा ही सतर्क रहना है। अपने सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार द्वारा शिक्षक ने वालक का जो कुछ भी कल्याण किया है वह उसके एक रूखे शब्द से विनष्ट हो सकता है। विगडे हुए वालको के 'कारण' उनके शिक्षक और अभिभावक ही हैं। वास्तव मे हमे 'समस्या-वालक'[1] न कह कर 'समस्या-पिता'[2] या 'समस्या-अभिभावक'[3] कहना चाहिये। यदि अभिभावको का व्यवहार अमनोवैज्ञानिक न हुआ तो 'समस्या-वालक' होगे ही नही। वाल-मन की क्रिया से अनभिज्ञ होने के कारण हमारा अच्छा अभिप्राय भी अबोध बालको को ऐसी हानि पहुँचा सकता है जिसका कभी प्रतिकार ही नही किया जा सकता।

---

1. Problem-child. 2. Problem-parents. 3. Problem-guardian

स्पष्ट है कि बालको के लालन-पालन मे बडी सावधानी की आवश्यकता है। इन सब के लिये मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि आवश्यक है।

शिक्षा-क्षेत्र मे आज हम जितना परिवर्तन देख रहे हैं उसका उत्तरदायित्व केवल दर्शन-शास्त्र पर ही नही है। मनोविज्ञान परिवर्तन लाने मे दर्शन-शास्त्र से पीछे नही। आजकल के प्रायः सभी स्कूलो और कॉलेजो मे हमे मनोविज्ञान का प्रभाव दिखलाई पड रहा है। उन्नतिशील देशों मे समस्या-बालको के अध्ययन के लिये दिन प्रतिदिन प्रयोगशालाएँ स्थापित की जा रही हैं। इनमे मनोवैज्ञानिक, डॉक्टर, मानसिक रोग-चिकित्सक तथा कुछ सामाजिक कार्यकर्त्ता सहयोग देते हैं। ये विशेषज्ञ बालक-सम्बन्धी सभी समस्याओ पर विचार करते हैं। अन्य विज्ञानो की सहायता से मनोविज्ञान इन समस्याओ के हल मे आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है। इस प्रकार शिक्षा-क्षेत्र मे मनोविज्ञान की आवश्यकता बढती ही जा रही है।

मनोविज्ञान की सहायता से हम किसी व्यक्ति की बुद्धि-परीक्षा करते हैं। इस बुद्धि-परीक्षा के सहारे हम बालको का वर्गीकरण बडी ही सरलता से कर सकते हैं। यदि एक कोटि के बालको को हम एक ही कक्षा मे रख सके तो शिक्षा-कार्य बडा ही सरल और लाभप्रद हो जायगा। यदि समान बुद्धि वाले बालक एक ही कक्षा मे पढते हैं तो उनमे कोई बुरी भावना-ग्रन्थि पडने का भय न रहेगा। यदि उत्कृष्ट बुद्धि बालक 'मन्द-बुद्धि बालको' के साथ पढता है तो सारा अध्यापन-कार्य उसके लिये अरुचिकर हो जाता है। मन्द-बुद्धि बालको की भी उनके साथ पर्याप्त उन्नति नही हो पाती। स्पष्ट है कि यदि स्कूल मे बालको का वर्गीकरण ठीक न हो सका तो शिक्षक का कार्य अत्यन्त कठिन हो जायगा और कभी-कभी तो उसके सारे परिश्रम व्यर्थ जायेंगे। यदि बालक मन्द-बुद्धि हुआ तो शिक्षा से वह उतना लाभ नही उठा सकता जितना उत्कृष्ट-बुद्धि बालक उठाता है। मन्द-बुद्धि के बालको की आवश्यकता एक विशेष प्रकार के स्कूलो द्वारा ही भली भाँति पूरी हो सकती है। उत्कृष्ट-बुद्धि के बालको की आवश्यकता कुछ विशेष विधियो से पूरी हो जाती है। बालको की उम्र तथा ऊँचाई आदि के अनुसार उनका वर्गीकरण कर देना युक्तिसगत न होगा। इस सम्बन्ध मे बुद्धि-परीक्षा के फल पर ही हमे कार्य करना होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शिक्षा-क्षेत्र मे हमे पग-पग पर मनोविज्ञान की सहायता की आवश्यकता है। शिक्षा-दार्शनिक को भी मनोविज्ञान सहायता देता है। दार्शनिक अपनी कल्पना-शक्ति की उडान मे मस्त रहता है। उसे वास्तविकता की सुधि कम रहती है। मनोविज्ञान उसे वास्तविकता की ओर खीचता है। यदि दार्शनिक वास्तविकता को भूल जाय तो उसके विचार से हमे क्या लाभ ? मनोविज्ञान दार्शनिक को मानव दुर्बलताओ से परिचित कराता है और उसके विचार पर अपनी बागडोर

लगा कर उसे हमारी साधना से योग्य वना देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिक्षक, शिक्षा-विशेपज्ञ तथा शिक्षा-दार्शनिक सभी के लिये मनोविज्ञान की सहायता आवश्यक है। मनोविज्ञान की सहायता विना कोई भी अपने कार्य का सफल सम्पादन नही कर सकता। अतः शिक्षा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो पर ही आधारित होनी चाहिये।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

शिक्षा मनोविज्ञान क्या है ?

मनोविज्ञात का विस्तृत अग, 'सीखने' के वारे मे सभी वातो का पता लगाना, कक्षा तक ही सीमित नही, विधि के अर्थ मे यह एक विज्ञान।

वहुत से विषयो से सहायता, जीव-विद्या, शरीर-विद्या और समाज-शास्त्र, सख्याशास्त्र विभिन्न सिद्धान्तो का निरूपण, शिक्षा—सम्वन्धी सभी समस्याओ पर विचार।

१—शिक्षा में मनोविज्ञान की अवहेलना—

पूर्व स्थिति—शिक्षा में मनोविज्ञान की अवहेलना, सुन्दर शब्दावली सव कुछ, वैयक्तिक भिन्नता का ज्ञान नही, मस्तिष्क विषयक भ्रमात्मक ज्ञान, रटना और दोहराना सर्वोत्तम साधन।

२—आधुनिक स्थिति—

मनोवैज्ञानिक अन्वेषणो के कारण स्थिति मे महान् परिवर्तन, अध्यापक को वालको के वातावरण से परिचित होना, समाज-हित का ध्यान रखना, वैयक्तिक भिन्नता के आधार पर शिक्षा का पुनर्सङ्गठन, वालक सम्वन्धी सारी वाते निर्णयात्मक न होकर साकेतिक।

३—बड़े-बड़े शिक्षको के अनुसार भी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार आवश्यक—

प्लैतो—मानव-स्वभाव का ज्ञान आवश्यक, रूसो—वालको का निरीक्षण, पेस्तालॉजी—वाल-मन का ज्ञान, सर्वाङ्गीण विकास, हरवार्ट, फ्रोबेल—स्वाभाविक मानव-प्रवृत्तियो का ज्ञान; मॉन्तेसरी—प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक।

४—शिक्षा का नया अर्थ—

अनिश्चित भविष्य की ओर ध्यान नही, प्राणी का विकास स्वत, अमनोवैज्ञानिक हस्तक्षेप भयानक, कार्य उत्पादकता और विचार मे मौलिकता, अध्यापक कठिन नियम निर्धारक नही, वह वालको का मित्र और मार्ग-प्रदर्शक, वालक अपने को और समाजहित को पहचान सके, पूरे व्यक्तित्व का विकास।

५—बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ और शिक्षा में उनका महत्व—

शैशव मे उनके व्यवहार स्वाभाविक प्रवृत्तियो के आधार पर, सात वर्ष के होने पर अपनी रुचि को समझना, आठ या नव वर्ष मे आत्म-नियन्त्रण, वडो

का व्यवहार उसके लिये आदर्श रूप, आचार-नीति का निर्धारण अपने विवेक द्वारा नही।

किशोरावस्था में वर्तमान की अपेक्षा भविष्य का अधिक ध्यान, भावनाओ का पुनर्संङ्गठन, आन्तरिक भाव और वाह्य-स्थिति मे द्वन्द, स्वतन्त्रता की इच्छा, आत्म-निर्भरता का भाव, व्यक्तित्व स्थापित करने के लिये व्याकुल, किशोरावस्था मे विषम परिस्थितियाँ, अत इस काल में क्रियाशीलता पर अधिक बल, उच्च भावनाओ का सचार, वौद्धिक, सौन्दर्य तथा प्रेम-भावना के विकास की नीव।

६—मनोविज्ञान शिक्षक के लिये क्या कर सकता है ?

शिक्षा-मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत—घर, समाज, मानसिक-विकास, व्यक्तित्व-निर्माण···बालको की समस्याओ का हल, 'कब', 'क्या' और 'कैसे' पढाना, रुचि के स्थायित्व मे योग, पाठन-विधि का उत्तम बनाना।

अचेतनता पर दृष्टिपात, अन्तर्लौकिक और दार्शनिक प्रमाण से असहमत, शिक्षक और विद्यार्थी की सम्भावित समस्याएँ।

७—मनोविज्ञान की देन से मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता स्पष्ट—

८—प्रत्येक बालक का अपना पृथक व्यक्तित्व—

'विकास' स्वास्थ्य, वातावरण, बुद्धि और स्वभाव पर निर्भर; सभी बालक समान योग्यता के नही, मनोविज्ञान के कारण शिक्षक के पूरे दृष्टिकोण मे परिवर्तन।

९—बालकों की भावना के अध्ययन का महत्त्व—

बालको की भावनाओ का ज्ञान आवश्यक, बालक की असफलताएँ और विकट समस्याएँ उनकी भावना की अवहेलना का कुफल।

भावनाओ मे द्वन्द मानसिक कार्य मे बाधक, सहानुभूति आवश्यक।

१०—बालकों की कुछ प्रधान आवश्यकताएँ और शिक्षा में उनका महत्व—

११—बालकों का सहज स्वभाव क्या है ?

हमारे देश के स्कूलो की बुरी दशा।

१२—शिक्षक और प्राकृतिक शक्तियाँ (अर्थात मूल प्रवृत्तियाँ)—

शंका-समाधान के लिये जिज्ञासा का उत्पन्न करना आवश्यक।

'निर्माण-शक्ति' के विकास मे योग, 'आत्म-अनुभव' से 'सीखने' की प्रवृत्ति, आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि का उचित प्रतिकार करना।

आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति को उकसाना, सफलता पर वालक की प्रशसा करना, सहोद्योग और दल-भावना जागृत करना।

बालकों की भावना उनकी शिक्षा का अच्छा साधन, उनकी मूलप्रवृत्तियो को उकसाना, उत्पादक भावना का सचार करना, खेल मे उचित क्रियाशीलता लाना।

स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी जिज्ञासा का निवारण पूर्ण व्यक्तित्व-निर्माण के लिये आवश्यक, विभिन्न मूलप्रवृत्तियो के प्रति उचित व्यवहार, 'खेल-शक्ति' का महत्व, मौलिकता को क्रियाशील बनाना।

बच्चो की 'अनुकरण-शक्ति' प्रबल, शिक्षको का अनुकरण अनजान में, अतः शिक्षको को सतर्क रहना, अनुकरण 'मौलिकता' मे बाधक नही।

विनय-स्थापन (डिस्सीप्लिन) मे भय-प्रवृत्ति का सहारा, बार-बार भय दिखाने से नैतिक पतन।

१३—मनुष्य की शक्तियाँ—

मनुष्य की शक्तियाँ सीमित, चार प्रधान शक्तियाँ—

१—यान्त्रिक शक्ति, २—अकगणित-शक्ति, ३—कल्पना-शक्ति, ४—शाब्दिक-शक्ति,

बालको का वर्गीकरण इन शक्तियो के अनुसार।

१४—सिद्धान्ततः और वस्तुतः शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार की आवश्यकता—

शिक्षक की स्थिति माली के सदृश्, विकास-ढग का ज्ञान आवश्यक।

शिक्षक एक मित्र अथवा मार्ग-प्रदर्शक, अनुकूल वातावरण उपस्थित करना, बालक का 'स्थिति' का स्वय समझना और उसका हल निकालना, नियन्त्रण वातावरण पर,—बालक पर नही, शिक्षक को बालक के व्यवहार को समझना।

अध्यापन के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो से परिचय आवश्यक, बाल-मन का अध्ययन, 'कब', 'किस' नियम का प्रयोग आवश्यक ?

पाठ्य-क्रम के निर्माण मे मनोविज्ञान की सहायता, विभिन्न अवस्थाओ की शक्तियो का ज्ञान आवश्यक।

'सिद्धान्त' तथा 'परीक्षण' की अविरल गति से उन्नति।

१५—कुछ आपत्तियों के उत्तर—

पहले शिक्षक मनोविज्ञान के प्रति उदासीन, आज कल भी कुछ दार्शनिक शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार के विपक्ष मे, उनके तर्क।

उपर्युक्त तर्क मे कुछ तथ्य, शिक्षक का कर्त्तव्य, मनोविज्ञान प्रत्येक दशा मे शिक्षक का सहायक।

विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति सश्लेषणात्मक प्रवृत्ति में बाधक नही, महान् शिक्षको द्वारा शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाने की चेष्टा, विज्ञान् कला का विरोधी नही, कलाकार की अन्तर्दृष्टि वैज्ञानिक ही।

कलाकार को अपनी वस्तु का जानना आवश्यक, केवल वस्तु-ज्ञान ही आवश्यक नही, बाल-स्वभाव को भी जानना आवश्यक।

शिक्षा-उद्देश्य की सफलता मनोविज्ञान की सहायता से जानना सम्भव, 'व्यवहार' का सुधार मनोविज्ञान के आधार पर ही, 'व्यवहार' का छिपा हुआ अभिप्राय मनोविज्ञान की सहायता से जानना।

अध्यापन-विधियो का निर्माण मनोवैज्ञानिक प्रयोगो द्वारा ही।

अध्यापन शिक्षा का साधन मात्र, मानव व्यक्तित्व-सम्बन्धी सारी बातो का मनोविज्ञान मे विश्लेषणात्मक उल्लेख, समस्या-बालक नही, वरन् समस्या-पिता।

मनोविज्ञान का प्रभाव शिक्षा-क्षेत्र मे सर्वत्र, समस्या-बालको के अध्ययन के लिये प्रयोगशालाएँ।

बुद्धि-परीक्षा के फल पर बालको का वर्गीकरण सुगम, बुद्धि के अनुसार बालको का अलग-अलग वर्गीकरण आवश्यक।

शिक्षा-दार्शनिक को भी विज्ञान की सहायता अपेक्षित।

सहायक पुस्तकें

१—ड्रेवर . ऐन इण्ट्रोडक्शन टू दी साइकॉलॉजी ऑव एडूकेशन।
२—फ्रेड, जे० शॉनेड—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, दी न्यू एरा इन होम एण्ड स्कूल, भाग २७, न० ६।
३—रॉस . ग्रॉउन्ड वर्क ऑव एडूकेशनल साइकॉलॉजी।
४—रेमॉण्ट दी प्रिन्सीपुल्स ऑव एडूकेशन।
५—नन टी० पी० . एडूकेशनइट्स डेटा एण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स।
६—ब्रुक्स चाइल्ड साइकॉलॉजी।
७—फॉक्स—एडूकेशनल साइकॉलॉजी।
८—सोरेनसन—साइकॉलॉजी इ। एडूकेशन, मैकग्रा-हिल बुक कम्पनी, न्यूयार्क, १९५५।
९—जड . एडूकेशनल साइकॉलॉजी—हॉटन मिफलिन कम्पनी १९३९।
१०—स्कीनर · एडूकेशनल साइकॉलॉजी, न्यूयार्क, प्रेण्टिस हाल, १९४७।
११—थॉर्नडाइक, ई० एल०, : एडूकेशनल साइकॉलॉजी, ब्रीफर कोर्स—न्यूयार्क, टीचर्स कॉलेज, कोलम्बिया यू०, १९१४।
१२—जॉर्डन ए० एम०—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, न्यूयार्क, हॉल्ट, १९४१।
१३—पीटर सैण्डीफोर्ड . फाउन्डेशन्स ऑव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी—न्यूयार्क लॉङ्गमैंस, ग्रीन १९३८।
१४—गेट्स, ए० आई० : एडूकेशनल साइकॉलॉजी, मैकमिलन, १९४९।
१५—हार्टमैन, जी० डब्लू : एडूकेशनल साइकॉलॉजी, न्यूयार्क, अमेरिकन बुक, १९४१।

१६—केलो, डब्लू० एच० एडूकेशनल साइकॉलॉजी—मिलवॉकी, ब्रूस, १६३५।
१७—स्टुअर्ट ऐण्ड ओकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी एण्ड एडूकेशन, केगेन पॉल, १६४६।
१८—डेविड केनिडी फ्रेसर—दी साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, मेथ्यून ऐण्ड क० लन्दन, १६४४।
१६—हालिङ्गवर्थ—एडूकेशनल साइकॉलॉजी।
२०—कोल ऐण्ड ब्रूस—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, वर्ल्ड बुक कम्पनी, न्यूयार्क १६५०।
२१—स्टीफेन्स जे० एम०—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, हेनरी हॉल्ट ऐण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, १६५१।

———

३

कुछ मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय और शिक्षा[1]

गत अध्याय मे हमने यह बतलाया कि मनोविज्ञान हमे मानव मस्तिष्क का पूरा ज्ञान कराता है इसलिए शिक्षा का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रस्तुत अध्याय मे हम मनोविज्ञान के कुछ आधुनिक प्रधान सम्प्रदायो पर दृष्टिपात करेगे और यह पता लगाने की चेष्टा करेगे कि वे मानव मस्तिष्क को समझने मे हमारी कहाँ तक सहायता करते हैं। इन सम्प्रदायो के अध्ययन से हमे यह पता लग जायगा कि मनोविज्ञान का क्षेत्र कितना विस्तृत है और उससे शिक्षा का कितना घनिष्टतम सम्बन्ध है। यदि अपने बालको की शिक्षा की नीव दृढ बनानी है तो हमे प्रत्येक सम्प्रदाय के अन्वेषणो का गहन अध्ययन करना होगा और शिक्षा के लिये उनकी 'देन' को समझना होगा। सभी सम्प्रदायो पर विचार करना इस पुस्तक की सीमा के बाहर है। अत. कुछ प्रधान सम्प्रदायो का अध्ययन ही यहाँ सम्भव है। हम व्यवहारवाद[2], अवयवीवाद[3], स्पीयरमैन[4] के दो अश का सिद्धान्त, मनोविश्लेषणवाद[5], तथा प्रयोजनवाद[6] को मनोविज्ञान के कुछ प्रधान सम्प्रदाय मान सकते है। इन्ही के साथ-साथ कुछ और सम्प्रदायो की चर्चा स्वत: हो जायगी। इन सम्प्रदायो के विचारो का शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत नीचे हम इन सम्प्रदायो के प्रधान विचारो तथा शिक्षा मे उनके महत्व पर विचार करेंगे।

१—व्यवहारवाद (विहेवियरिज्म)—

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से मनोविज्ञान के अध्ययन मे प्रमाणात्मक सिद्धान्तों का विशेष मूल्य किया जाने लगा। इसके पहले अन्त प्रेक्षण[7] विधि की ही प्रधानता थी। फलत: अन्त प्रेक्षणवादी[8] इस स्थिति की कडी आलोचना करने लगे। बहुत दिनो तक अमेरिका के मनोवैज्ञानिको का ध्यान विशेषकर 'मानव मस्तिष्क की क्रिया' के समझने पर था। व्यक्ति के अनुभवो के अध्ययन पर उनका ध्यान कम था। मनोविज्ञान के

---

1 Some Schools of Psychology and Education. 2. Behaviourism. 3. Gestalt School 4 Spearman's Two Factor Theory. 5. Psychoanalysis 6. Perposivism or Hormism. 7. Introspection. 8. Introspectionist.

अन्तर्गत वे 'चेतना'[1] को स्वीकार ही नही करते थे। उनका कहना था कि मनोविज्ञान का 'चेतना' से प्रयोजन नही। 'चेतना-रचना-वाद'[2] के अनुयायियो ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि मानव मस्तिष्क की गति को समझने के लिये चेतना के भिन्न-भिन्न तत्वो का समझना आवश्यक है। किन-किन तत्वो से मिल कर चेतना की रचना हुई हैं यह समझना ही मनोविज्ञान का विषय होना चाहिये। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे इस विचार की तीव्र आलोचना की गई। इस आलोचना के प्रमुख नेता विलियम जेम्स[3] (१८४२-१९१०) थे। उनका कहना था कि चेतना के तत्त्वों का अध्ययन करना पूर्णतया व्यर्थ है। चेतना के तत्त्वो का विश्लेषण करने के पूर्व हमे यह देखना चाहिये कि किसी 'चेतना' का हमारे शरीर के विभिन्न अङ्गो पर क्या प्रभाव पडा। मान लीजिये, किसी घटना को देख कर या उसका स्मरण कर हमे विषाद हुआ। तो हमे यह देखना है कि उस विषाद का हमारे विभिन्न अङ्गो पर क्या प्रभाव पडा। चेतना का वर्णन न कर यदि हम इस प्रभाव का अध्ययन करें तो अधिक उपयुक्त होगा। हमारे सभी कार्य चेतना के फलस्वरूप होते हैं। चेतना का प्रधान उद्देश्य है जीवन-रक्षा के लिये कार्य करना। इस प्रकार जेम्स ने यह साराश निकाला कि चेतना के फलस्वरूप हमारे विभिन्न अङ्गो पर जो प्रभाव पडता है उसका अध्ययन करना ही मनोविज्ञान का प्रधान क्षेत्र है। जेम्स के इस दृष्टिकोण को 'चेतना-कार्य-वाद'[4] (फङ्क्शनल साइकॉलॉजी) कहते हैं।

'चेतना-रचना-वाद' तथा 'चेतना-कार्य-वाद' के द्वन्द ने वाटसन[5] के 'व्यवहार-वाद' को १९१२-१९१४ मे जन्म दिया। वाटसन का कहना था कि चेतना के तत्त्वों तथा चेतना से विभिन्न अङ्गो पर पडे हुए प्रभाव का अध्ययन करना व्यर्थ है। उससे मानव स्वभाव को समझने मे हमे विशेष सहायता नही मिलती। शरीर के कार्य, उसकी चेष्टा तथा व्यवहार के अध्ययन से ही हम मनुष्य को कुछ समझ सकते हैं। वाटसन के अनुसार चेतनावादी मनुष्य के व्यक्तित्व का पूरा पता नही देते। 'अन्त प्रेक्षण-वादी' भी अस्पष्ट वस्तु की ही खोज करना चाहते हैं। जो वस्तु नही है उसकी खोज करने से क्या लाभ ? वाटसन ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'चेतना' को स्वीकार ही नही किया। उसने 'सवेदना'[6] भाव[7] तथा प्रतिभा[8] को चेतना का अश नही माना। स्मृति, प्रतिभा और भाव को भी उसनें प्रत्यक्ष वस्तु स्वीकार नही किया। वाटसन का कहना था कि मस्तिष्क पर अनुचित ध्यान नही देना चाहिये। उसका विश्वास था कि ऐसा करने मे मनोवैज्ञानिको ने 'मस्तिष्क' को 'आत्मा' के सदृश् पूर्णतया अस्पष्ट बना दिया है। उसके अनुसार मनोविज्ञान को मानव चेष्टा तथा व्यवहार का अध्ययन करना आवश्यक है।

---

1. Consciousness 2. Structural Psychology. 3, William James. 4. Functional. Psychology 5. Watson. 6. Sensation. 7. Feeling. 8. Image.

व्यवहारवादियो के अनुसार 'चेष्टा' तथा 'व्यवहार' ही प्रत्यक्ष वस्तु है। जो प्रत्यक्षता की कसौटी पर नही कसा जासकता उसे व्यवहारवादी अपने क्षेत्र मे लेने के लिये तैयार नही। 'स्वाभाविक' तथा 'अर्जित' दोनो प्रकार के व्यवहार को व्यवहारवादियो ने स्वीकार किया। अत. उन्होने स्पष्ट और अस्पष्ट दोनो प्रकार के व्यवहार को अपने अध्ययन के क्षेत्र मे रक्खा।

जिस समय अमेरिका मे 'व्यवहारवाद' का जन्म हुआ उसी समय रूस मे भी 'सम्वद्ध-सहज-क्रिया'[1] और 'अभिसधानित सहज-क्रिया'[2] की कल्पना की गयी। वेशेरेव[3] (१८५७-१९२७) और पवलव[4] (१८४९-१९३६) ने शरीर-विज्ञान के अध्ययन मे इन बातो का पता लगाया। वेशेरेव 'गतिवाहक[5] सहज-क्रियाओ' (मोटर रिफ्लेक्सेज) पर काम कर रहा था। इसलिये उसने 'सवद्ध-सहज-क्रिया' का पता लगाया। पवलव् 'स्राव-सम्बन्धी-क्रियाओ' पर कार्य कर रहा था। अत. उसने 'अभिसधानित सहज-क्रिया' का पता लगाया।

वेशेरेव मानसिक विकारो पर कार्य कर रहा था। इसके लिये उसने पशुओ और मनुष्यों दोनो पर प्रयोग किया। वह मानसिक रोगो का पता लगाना चाहता था। 'सवद्ध-सहज-क्रिया' पर निर्भर रह कर प्रमाण के आधार पर वह बढना चाहता था। 'अन्त.प्रेक्षण-वादियो' से झगडा मोल लेना उसे पसन्द न था। उसका दावा था कि बिना सवेदना, भाव और 'विचार', ऐसे शब्द का प्रयोग किये ही उसने मानसिक विकारो का बहुत कुछ पता लगा लिया। (उसके अनुसन्धानों से हमे यहाँ विशेष प्रयोजन नही)

पवलव ने अपने अन्वेषण में एक कुत्ते को आधार माना। उसे निश्चित समय पर वह नित्य भोजन देता रहा। कुछ दिन के बाद उसने देखा कि भोजन देने वाले आदमी को ही देख कर अथवा उसके पैरो की आहट सुन कर ही कुत्ते के मुँह से लार टपकने लगती है। पवलव पहले तो इस बात को ठीक से न समझ सका। उसने सोचा कि भोजन को देख कर लार का टपकना तो ठीक है, परन्तु उसे बिना देखे लार टपकने का कारण उसकी समझ मे न आया। उसने समझा कि भोजन लाने के साथ जो और बाते सम्बन्धित है उनका भी प्रभाव पडे बिना नही रहता। अत उन्हे भी देखने से लार आ जाती है। भोजन देखनें से लार का टपकना स्वाभाविक है। अत· यह 'सहज-क्रिया'[6] है। परन्तु तश्तरी, आदमी अथवा उसकी आहट सुन कर लार का टपकना स्वाभाविक नही। इसलिये इसे पवलव ने 'अभिसधानित सहज-क्रिया' का नाम दिया। पवलव् ने सोचा कि वातावरण के अनुसार अपने को बनाने मे पशु अपनी इस योग्यता

---

1 Associated Reflex. 2. Conditioned Reflex. 3. Bechterev. 4. Pavlov. 5. Motor Reflexes. 6. Reflex action

पर अवश्य हीं अधिक निर्भर करता है। पवलव इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हमारी 'सहज क्रिया' स्वाभाविक होती है। उसे हम अपने आप सीख लेते हैं। परन्तु 'अभिसधानित सहज-क्रिया' स्वाभाविक नही होती। तथापि उसे भी हम अपने आप ही सीख लेते हैं।

अपने उपरोक्त निष्कर्ष से पवलव ने शिक्षा का एक सिद्धान्त निकाला। उसका कहना है कि हम सब कुछ 'अभिसधानित सहज-क्रिया' के आधार पर ही सीखते हैं। बच्चा अपनी अनुकरण करने की शक्ति से हमारे बिल्ली कहने पर बिल्ली कहने लगता है। जब-जब हम बिल्ली कहते हैं वह भी बिल्ली कहता है। कुछ दिन के बाद बिल्ली देखने पर हमारे न कहने पर भी वह 'बिल्ली' 'बिल्ली' कह कर चिल्ला उठता है। इसका क्या कारण है ? 'बिल्ली' शब्द अब बिल्ली 'जानवर' से जुट गया है, न कि हमारे 'शब्द' के अनुकरण करने से। इसीलिये बिल्ली के सामने आने पर वह 'बिल्ली' 'बिल्ली' पुकारने लगता है। अर्थात् 'बिल्ली' शब्द अब एक जानवर के साथ सबद्ध हो गया है। बच्चा जानवर और शब्द के सम्बन्ध को अब समझता है।

अपने इस परीक्षण से पवलव को विश्वास हुआ कि उसे मानसिक क्रियाओ के एक भेद का पता चल गया है। इससे वह मानसिक क्रिया के एक सिद्धान्त का निरूपण करता है। पवलव ने देखा कि मानसिक क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं। सवेगात्मक प्रत्यक्ष अनुभवो के क्षेत्र में मस्तिष्क मे विश्लेषण करने की एक अद्भुत शक्ति होती है। यह शक्ति विभिन्न प्रेरक अनुभवो मे से कुछ प्रधान उत्तेजनाओ को चुन लेती है। इस दृष्टिकोण से मस्तिष्क एक समाचार खीचने वाले रेडियो के समान कहा जा सकता है। हमारी समस्त चेष्टाओ के क्षेत्र मे मस्तिष्क 'अभिसधानित सहज-क्रिया' के अनुसार ही काम करता है।

'व्यवहारवाद' के उत्कर्ष मे पशु-मनोविज्ञान का भी हाथ माना जाता है। पशु-मनोविज्ञान के क्षेत्र मे थॉर्नडाइक[1] ने बहुत काम किया है। उसने पशुओ पर बहुत से परीक्षण किये। अपने परीक्षणो के आधार पर थॉर्नडाइक ने यह दिखलाया कि यदि किसी मुर्गी के बच्चे को किसी ऊँचे सन्दूक पर रख दिया जाय तो बिना किसी डर के वह नीचे कूद जायगा। यदि सन्दूक कुछ ऊपर कर दिया जाय तो वह कुछ सन्देह के साथ कूदेगा, और यदि कुछ और ऊपर कर दिया जाय तो वह नीचे कूदेगा ही नहीं। इस प्रकार बिना किसी के सिखाये ही वह 'दूरी' का अर्थ समझने लगा है। एक पिंजड़े मे एक मुर्गी का बच्चा रख कर थॉर्नडाइक ने दूसरा परीक्षण किया। पिजडे से बाहर निकलने का रास्ता सीधा न होकर टेढा था। बच्चा बाहर निकलने का बार-बार प्रयत्न करता रहा। परन्तु बहुत देर बाद वह पिजडे से बाहर होकर अपने झुण्ड मे मिल

1 Thorndike.

सका। बार-बार उसी पिंजडे में बन्द होने से बाहर निकलने की कला मे वह अभ्यस्त होता गया और कुछ दिन बाद वह शीघ्र ही पिजडे से बाहर निकल आता था। थॉर्नडाइक ने मछली, कुत्ते तथा बिल्ली आदि जानवरो पर भी कई परीक्षण किये। उसने निष्कर्ष निकाला कि पशु अपने 'प्रयास' और 'त्रुटि' के बल पर सीखता है। पहले वह प्रयत्न करता है और असफल होता है। फिर प्रयत्न करते-करते वह अन्त मे सीख लेता है। इस प्रकार पशु के पास बुद्धि कम होती है। वह किसी दूसरे से नही सीखता। किसी बात को सीखने मे वह सोच-विचार से कम काम लेता है। परन्तु वह अन्त मे अपने ही प्रयत्न से स्वय सीख लेता है। इस विधि को 'प्रयास एव त्रुटि से सीखने की[1] विधि' कहते है। थॉर्नडाइक का कहना है कि इस विधि से केवल पशु ही नही, वरन् मनुष्य भी सीखता है। 'सीखना' नामक अध्याय मे हम इस पर अधिक विस्तार-पूर्वक विचार करेगे।

थॉर्नडाइक के इस विचार से वाटसन को बडा सहारा मिला, क्योकि थॉर्नडाइक के सिद्धान्त के अनुसार 'चेतना' का नाम लिये बिना ही पशु तथा मनुष्य की सभी चेष्टाओ और व्यवहार की व्याख्या की जा सकती थी। प्रारम्भ मे लोग व्यवहारवाद की 'शरीर-विज्ञान' से तुलना करने लगे। वाटसन ने इसका घोर विरोध किया। उसका कहना था कि व्यवहारवाद और शरीर-विज्ञान मे मौलिक भेद है। व्यवहारवाद पूरे व्यक्ति के व्यवहार और चेष्टाओ की व्याख्या करता है और शरीर-विज्ञान का सम्बन्ध केवल व्यक्ति के विभिन्न अङ्गो से है। तथापि यह मानना पडेगा कि व्यवहारवाद का क्षेत्र बहुत ही सीमित है, क्योकि वह स्मृति[2], चिन्तन[3], संवेग[4] तथा सकल्प-शक्ति[5] के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार करने के लिये तैयार ही नही है। सदवेना और प्रत्यक्षीकरण[6] को इसने किसी प्रकार अपनी सीमा मे ले लिया। परन्तु अन्य महत्वपूर्ण बातो को तो इसने छोड ही दिया।

संवेग और मूलप्रवृत्तियाँ[7]—

वाटसन के अनुसार 'सवेग' से हमारे शरीर मे विशेषकर आँत और ग्रन्थि-सम्बन्धी बहुत से परिवर्तन होते है। उसके इस दृष्टिकोण मे हमे जेम्स-लैग-सिद्धान्त[8] की गन्ध आती है। वाटसन ने बच्चो में होने वाले सवेग का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। बच्चो मे भय, क्रोध और प्रेम तीन प्रकार के सवेगात्मक व्यवहार को उसने माना। परन्तु इन व्यवहारो को उसने वातावरण की उत्तेजना के फलस्वरूप स्वीकार किया, न कि शरीर के किसी ग्रन्थि-सम्बन्धी परिवर्तन से। उदाहरणत. किसी ऊँची ध्वनि

---

1 Learning by Trail and Error Method. 2. Memory. 3. Thinking 4 Emotion. 5. Will. 6. Perception. 7. Emotion and Instinct. 8. नवाँ अध्याय देखो।

अथवा अवलम्ब के छूट जाने से उनमे डर उत्पन्न हो जाता है । यदि उनकी स्वतन्त्रता मे किसी प्रकार की वाधा उपस्थित की गई तो वे क्रोधित हो जाते हैं । थपथपाने से उनमे प्रेम का भाव उत्पन्न हो जाता है ।

पहले तो वाटसन ने किसी 'मूलप्रवृत्ति' के अस्तित्व को स्वीकार न किया । किसी वशानुक्रमीय[1] मानसिक गुण को भी उसने न माना । वह कट्टर वातावरणवादी दिखलाई पडा । उसका कहना था कि उचित वातावरण की सहायता से किसी भी वालक को उच्च कोटि का चिकित्सक, कलाकार या कुछ भी वनाया जा सकता है । इस प्रकार 'वशानुक्रमीय-योग्यता' को उसने कुछ महत्व ही नही दिया । आगे चल कर व्यवहारवाद इस वातावरणवाद के कारण निर्बल दिखलाई पडने लगा । फलत वाध्य होकर अन्त मे वाटसन को कुछ मानव 'मूलप्रवृत्तियो' को मानना ही पडा । इतना ही नही, वरन् उसने इन शक्तियो को वहुत सी आदते सीखने का आधार भी माना ।

व्यवहारवाद के अनुसार सीखने का सिद्धान्त[2]—

पीछे हम यह कह चुके हैं कि थॉर्नडाइक के "प्रयास एव त्रुटि से सीखने की विधि" से वाटसन को वहुत सहारा मिला । परन्तु वाटसन ने इस विधि की व्याख्या दूसरे प्रकार मे की । उसने कहा कि गलत प्रतिक्रियाओ[3] को त्याग कर ठीक प्रतिक्रियाओ का नई आदतो मे सगठित करने को सीखना कहते हैं, परन्तु इसको, 'प्रयास एव त्रुटि से सीखने की विधि' नहीं कह सकते । इसे 'सफल प्रतिक्रियाओ के आधार पर सीखना[4]', कहते हैं । व्यवहारवादियो का दावा है कि पशु और मनुप्य दोनो इस विधि से सीखते हैं । यदि किसी छोटे वच्चे को किसी टेढे रास्ते वाले पिंजडे मे छोड दिया जाय तो वह भी साधारण जानवरो के सदृश वहुत से असफल प्रयत्न करने के वाद ही वाहर निकलने मे सफल हो सकेगा । कोहलर का 'सूझ से सीखने[5] की विधि' मे भी 'प्रयास एव त्रुटि से सीखने की विधि' छिपी हुई है । केवल उसका विश्लेपण स्पष्ट नही दिखलाई पडता, क्योकि यह वहुत शीघ्रता से सीखने की विधि है, और यह सरल समस्याओ तक ही सीमित जान पडती है । किसी समस्या या प्रश्न पर सोचते-सोचते अचानक हम वोल उठते हैं कि 'आ गया', 'आ गया' । वास्तव में हमें उस प्रश्न का हल अचानक नही आया । वहुत से असफल प्रयत्न करने के वाद ही अन्त मे हम ठीक निश्चय पर पहुँच सके है । इस प्रकार व्यवहारवादी सूझ[6] को भी 'प्रयास एव त्रुटि से सीखने की विधि' पर आधारित मानते हैं और कहते हैं कि हम अपनी असफल प्रतिक्रियाओ को त्याग कर 'सफल' को चुनने मे ही किसी आदत को सीखते हैं ।

---

1. Hereditary, 2 Principles of Learning according to Behaviourism. 3 Responses 4 Learning by successful varients 5 Learning by Insight. 6. Insight

थॉर्नडाइक के अनुसार सीखने की विधि के दो भाग—

१—'अभ्यास का नियम'[1] और २—'परिणाम का नियम'[2]। यदि हम किसी काम को बार-बार करते हैं तो हम मे उस काम के करने की शक्ति बढ जाती है। यदि उसका अभ्यास छोड देते है तो शक्ति क्षीण हो जाती है। इस प्रकार के सीखने को 'अभ्यास का नियम' कहते हैं। परन्तु सीखने मे हर स्थान पर अभ्यास ही काम नही देता। कोई काम ऐसा होता है कि उसमे बार-बार गलती नही होती, क्योंकि उस काम को करने मे हमे आनन्द आता है। उसका परिणाम हमारे लिये सुखदायी होता है। इसलिये उसका अभ्यास छूट जाने पर भी उसे हम भूलते नही। परन्तु जिस काम को करने मे हमे कष्ट होता है उसे हम शीघ्र भूल जाते हैं। यदि सगीत मे हमारी रुचि हुई तो हम उसे शीघ्र सीख लेते हैं, क्योकि उसका परिणाम सुखदायी होता है। परन्तु गणित में रुचि न होने से हम उसके प्रश्न बार-बार भूल जाते हैं। सुखद परिणाम के फल से प्रेरित होकर सीखने को 'परिणाम का नियम' कहते हैं। वाटसन 'परिणाम के नियम' को मानने के लिए तैयार न था। 'अभ्यास के नियम' से तो उसने किसी प्रकार समझौता कर लिया। परन्तु 'परिणाम' मे उसे 'चेतना' की गन्ध आ रही थी। इसलिये उसने 'परिणाम के नियम' को एकदम निकाल देने का प्रयत्न किया। उसने कहा कि परिणाम के फल से कोई व्यक्ति नही सीखता, वरन् पुनरावृत्ति[3] नवीनता[4] तथा स्पष्टता[5] के आधार पर ही मनुष्य सीखता है। इस प्रकार वाटसन ने 'अभ्यास' के नियम को ही प्राधान्य दिया। उसका कहना है कि हमारी सफल प्रतिक्रियाए पुनरावृत्ति के कारण हमारे व्यवहार की अङ्ग बन जाती है और तदनुसार हम नई बात सीख लेते हैं। परन्तु थॉमसन ने इस विचार की तीव्र आलोचना की। उन्होने यह सिद्ध किया कि 'परिणाम का नियम' मनुष्य और पशु दोनो के सीखने मे महत्व रखता है। थॉर्नडाइक और थॉमसन के प्रश्नो का उत्तर वाटसन को पवलव के परीक्षणो मे स्पष्ट दिखलाई पडा। अत पवलव के निष्कर्षो को उसने स्वीकार कर लिया। वाटसन ने 'परिणाम के नियम' को अस्वीकृत कर 'सवद्ध-सहज-क्रिया' को सीखने का आधार माना। ऐसा मानने मे 'चेतना' शब्द के प्रयोग से उसकी जान बच जाती थी। वाटसन ने 'चेतना' के स्थान पर 'उत्तेजना'[6] शब्द का प्रयोग किया। अपने व्यवहारवाद के सिद्धात से 'देखने की क्रिया' को वाटसन ने इस प्रकार समझाया —पहले हमारे सामने कोई वस्तु उपस्थित होती है। इस वस्तु को वाटसन ने उत्तेजना कहा। 'उत्तेजना' के सामने आने पर आँखो की 'प्रतिक्रिया'[7] हुई। इस प्रकार 'उत्तेजना-प्रतिक्रिया' के सयोग से 'देखने की क्रिया' सम्पन्न हुई। इसी प्रकार हमारी अन्य क्रियाओ की भी व्याख्या

1. Law of Exercise. 2. Law of Effect. 3. Frequency 4 Recency. 5. Vividness. 6. Stimulus. 7. Response.

की जा सकती है। व्यवहारवादी 'उत्तेजना-प्रतिक्रिया' के अनुसार अपने भावो को प्रकट करना अधिक पसन्द करते हैं। इसलिये 'व्यवहारवाद' को 'उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद'[1] नाम भी दे दिया गया है।

व्यवहारवाद और शिक्षा—

व्यवहारवादियो के अनुसार मस्तिष्क के विकास मे वशानुक्रमीय गुण का कुछ भी अश नही होता। प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क उसके वातावरण के अनुसार अच्छा या बुरा होता है। यदि कोई शिक्षक व्यवहारवादियो के इस सकीर्ण विचार के अनुसार चले तो वह धोखा खायेगा। मस्तिष्क कोई यन्त्र नही है। वह 'जीव' से बडा होता है। क्योकि जीव तो प्राय: एक ही प्रकार के रूप को धारण किये हुए भूतकाल की ही गति को स्थिर रखने की चेष्टा मे रहता है। मस्तिष्क के सम्बन्ध मे हम ऐसी बात नही कह सकते। अपनी 'क्रियाशीलता' मे मस्तिष्क इससे अधिक स्वतन्त्र दिखलाई पडता है। किसी प्रकार के अनुभव को धारण करने की उसमे शक्ति होती है। जो कुछ भी जाना जा सकता है वह सब कुछ उसके क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है। स्वय मस्तिष्क मे कुछ ऐसे गुण निहित हैं जिनसे उसके विकास की धारा प्रवाहित होती रहती है। अत व्यवहारवादियो का यह सोचना कि मस्तिष्क के विकास को प्रचलित करने के लिये उसमे वशानुक्रमीय गुण के अश नही होते भ्रमात्मक है। यदि ऐसी ही बात होती तो उचित शिक्षा की व्यवस्था कर हम प्रत्येक बालक को अपनी तथा उसकी इच्छानुसार चाहे जो बना सकते। व्यवहारवादियो के अनुसार तो मस्तिष्क वातावरण की दया पर निर्भर हो जायगा, परन्तु यह एकदम असम्भव है।

मनुष्य का अपना अलग व्यक्तित्व होता है। उस व्यक्तित्व के अनुसार वह अपनी इच्छा और अनिच्छा प्रकट किया करता है। इच्छा के विरुद्ध उससे हम कोई भी कार्य नही करा सकते। उसे किसी भी परिस्थिति मे हम क्यो न रख दे, वह अपनी प्रकृति के अनुसार सदैव क्रियाशील रहेगा। हमारा व्यक्तित्व हमारे सभी अनुभवो मे एकत्व स्थापित करने की चेष्टा करता है। इसकी छाप हमारे सभी प्रयोजनो और अनुभवो मे उपस्थित रहती है। यदि हम कोई वस्तु बनाते हैं तो उसमे हमारे व्यक्तित्व की छाप आ जाती है। बालक के प्रत्येक कार्य मे हमे उसकी आत्मा की झलक दिखलाई पडती है। उसमे एक सौन्दर्य-भावना होती है जो उसके व्यक्तित्व मे सदैव निहित रहती है और उसके प्रत्येक कार्य मे अपनी छाप उपस्थित कर देती है। यदि हम बच्चे को उसके विकास के लिये स्वय उत्तरदायी बना दे तो वह अनैतिक कभी नही होगा। उसके जीवन मे हर समय हमे पूर्णता की प्राप्ति की एक चेष्टा का भान होता रहेगा।

व्यवहारवाद मानव के व्यक्तित्व की सन्तोषप्रद व्याख्या नही करता। मस्तिष्क

1. Stimulus-Response Theory.

जीव अथवा पौधे की श्रेणी से वहुत ही ऊपर है। उसका विकास जीव-विद्या-सम्वन्धी नियमो के अनुसार नही होता। मानव व्यक्तित्व को भली-भाँति समझने के लिये हमें आगे पीछे दोनो ओर जाना होगा। हमे अपनी मूलप्रवृत्तियो के विकास के इतिहास का अध्ययन करना होगा। इस अध्ययन से हमे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के वर्तमान व्यक्तित्व के विकास की कहानी बहुत पुरानी है, और यह बहुत से तत्वो और गुणो से युक्त एक सामञ्जस्यपूर्ण सत्य है। व्यक्तित्व का विकास 'पूर्ण-जीवन' की इच्छा तक ही सीमित नही है। वह तो 'सत्य शिव सुन्दरम्' का मूर्त्ति सत्ता है जिसका इतिहास वश-परम्परागत है। यह सही है कि हम 'सवद्ध-सहज-क्रियाओ' द्वारा सीखते है। परन्तु इन क्रियाओ का ठीक समय पर उचित रूप से एकीकरण कैसे होता है? स्पष्ट है कि व्यक्ति मे कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो इन क्रियाओ को उचित रूप से परिचालित कर व्यक्तित्व-निर्माण मे योग देती है। इससे यह स्पष्ट है कि वाटसन का यह कहना कि मनुष्य का व्यवहार उसकी वाह्य चेष्टाओ के अध्ययन से ही जाना जा सकता है भ्रमात्मक है, क्योकि वाह्य चेष्टाओ की परिचालक तो हमारी आन्तरिक शक्तियाँ है। अतः उन शक्तियो का भी अध्ययन आवश्यक है।

२—अवयवीवाद[1]—

अमेरिका के व्यवहारवाद के साथ ही साथ जर्मनी मे 'अवयवीवाद' का जन्म हुआ। अवयवीवाद को जर्मन भाषा मे 'गेस्टाल्ट साइकॉलॉजी' कहते है। 'गेस्टाल्ट' शब्द का अर्थ रूप[2] (शेप), 'आकृति'[3] (फॉर्म), अवयवी[4] (होल), सवद्ध-प्रत्यक्ष, अथवा नमूना[5] या आदर्श होता है। गेस्टाल्ट शब्द का ठीक-ठीक अनुवाद नही किया जा सकता। अँग्रेजी मे इसे 'कॉनफिगरेशन'[6] भी कहते हैं। व्यवहारवाद मनुष्य अथवा पशु को व्यवहार-प्रधान जीव मानता है। व्यवहार के विश्लेषण पर ही व्यवहारवादी विशेप बल देते हैं। अवयवीवादियो का कहना है कि व्यवहार या अनुभव के विश्लेपण से मानव व्यक्तित्व को अच्छी प्रकार नही समझा जा सकता। व्यवहारवादियों ने सवेदना'[7] को नही माना, क्योकि वह 'गतियुक्ति प्रतिक्रिया'[8] नही है। इसे अवयवीवादियो ने अनुभव का एक अङ्ग होने के नाते अस्वीकार किया। व्यवहारवाद ने अन्त प्रेक्षण की आलोचना की, क्योकि इससे व्यवहार की व्याख्या न होकर केवल अनुभव की व्याख्या होती थी। अवयवीवाद ने केवल विश्लेपणात्मक अन्त प्रेक्षण की ही आलोचना की। व्यवहारवाद 'सत्तावाद'[9] को 'चेतना-सम्बन्धी' समझता था। अवयवीवाद 'सत्तावाद' को केवल कृत्रिम समझता है। उसको इसमें वास्तविकता की झलक नही दिखलाई पडती थी।

---

1. Gestalt Psychology. 2. Shape. 3 Form. 4. Whole 5. Pattern. 6. Configuration. 7 Sensation. 8. Motor Response. 9. Existentialism

अवयवीवादी परीक्षणवादी थे। वे अपने निष्कर्षो को परीक्षणशालाओ की कसौटी से सच्चा सिद्ध करना चाहते थे। फलत. उन्होने हमे बहुत सारगर्भित परीक्षण दिये हैं। नई और पुरानी समस्याओ का हल उन्होने नवीन दृष्टिकोण से किया है। अन्य मनोवैज्ञानिको के अध्ययन मे विश्लेषणात्मक शैली की प्रधानता रहती थी। वे सब कुछ विश्लेषण से ही समझना चाहते थे। वे चेहरे की आकृति तथा चरित्र के अध्ययन के लिये विभिन्न अशो का विश्लेषण करते थे। वे चेहरे के प्रत्येक भाव का अलग-अलग अध्ययन कर प्रत्येक का आशय समझने की चेष्टा करते थे। अवयवीवादियो ने कहा कि चेहरे का अध्ययन उसके भिन्न-भिन्न अङ्गो को अलग-अलग लेकर करना भ्रमात्मक है। इससे हमें कुछ भी ज्ञान नही हो सकता। अवयवो[1] का अध्ययन 'अवयवी'[2] के सम्बन्ध मे किया जाय तभी उसका कुछ अर्थ हो सकता है, क्योकि चेहरे का रूप पूरे चेहरे मे है, न कि नाक' मुह व आँख इत्यादि मे अलग-अलग। नाक अथवा आँख कहने मे हमे चेहरे का पूरा बोध नही होता, परन्तु चेहरा कहने से इन सब अङ्गो का बोध हो जाता है। वस्तुत आँख या नाक का चेहरे मे अपना अलग अस्तित्व नही। वे तो चेहरे के अङ्ग मात्र हैं। ऐसे ही यदि हम किसी राग, उदाहरणार्थ, 'भीमपलासी' का नाम लेते हैं तो हमें पूरे राग का बोध होता हे, न कि उसके विभिन्न स्वरो के अलग-अलग अस्तित्व का। भीमपलासी राग की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। चेहरे की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। अतएव इनकी कल्पना भिन्न-भिन्न भागो के रूप मे नही करनी चाहिये। इसी प्रकार 'अवयवीवादियो' ने कहा कि किसी व्यक्ति के चरित्र को समझने के लिये उसके व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणो के अध्ययन से हमारा काम नही चलेगा, क्योकि इस प्रकार के अध्ययन मे हम उसके साधारण, असाधारण तथा विशिष्ट गुणो को अच्छी प्रकार नही पहचान सकते। व्यक्तित्व तो एक 'सङ्गठित अवयवी'[3] है वह विभिन्न लक्षणो का योग नही है। रुधिर-सचार और तन्तु-सस्थान से प्राणी के सभी अङ्ग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। प्राणी एक सयुक्त सत्ता के रूप से व्यवहार करता हैं। उसका व्यवहार विभिन्न 'सहज क्रियायो'[4] का योग नही है अत· सारॉश यह निकला कि किसी वस्तु के अध्ययन मे हमें सम्पूर्ण वस्तु अर्थात् 'अवयवी' पर ध्यान देना है, न कि उसके विभिन्न भाग अथवा 'अवयवो' पर।

मेक्स वर्थीमर[5] (१८८०–१९४३), कर्ट कॉफका[6] (१८८६–१९४१) और वोल्फाग कोहलर[7] (१८८७) अवयवीवाद के प्रमुख नेता माने जाते हैं। वर्थीमर ने छिपे हुए ज्ञान की खोज मे विशेप परिश्रम किया। हमारा उससे यहाँ प्रयोजन नही। कॉफका ने 'प्रतिमा' और 'विचार' पर महत्वपूर्ण काम किया। कोहलर ने सीखने की

1. Parts 2 Whole 3. Organized whole. 4 Reflexes 5 Max Wertheimer, 6. Kurt Koffka, 7 Wolfgang Kohler,

विभिन्न समस्याओ पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। कॉफका और कोहलर ने विशेषकर अपने परीक्षण 'दृष्टि'[1] पर किये। मान लीजिये, दस मीटर की दूरी पर रखी हुई वस्तु हमसे बीस मीटर की दूरी पर हटा दी जाती है। ऐसा करने से आँख के पिछले चित्रपट पर उस वस्तु की प्रतिमा पहले से आधी हो जाती है। तथापि वह वस्तु पहले जैसी ही हमे बडी दिखलाई पड़ती है। इसका अर्थ हम यह समझते है कि दूरी के अनुपात मे वस्तु के आकार को समझना हमने सीख लिया है। अवयवीवादी इस व्याख्या से सहमत नही। उनका कहना है कि पदार्थ की आकृति की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही। वस्तु की आकृति परिस्थिति विशेष मे मस्तिष्क पर पडी हुई प्रतिक्रिया का फल है। मतिष्क परिस्थिति को भली-भाँति समझता है। वस्तु का चित्र आँख की दीवार पर पडता है। इस चित्र को समझने के लिये इतना ही पर्याप्त नही। पदार्थ की परिस्थिति और अवस्था का भी ज्ञान उसके समझने के लिये आवश्यक है। यह ज्ञान प्राप्त करना मस्तिष्क का काम है। वस्तु की दूरी का प्रभाव मस्तिष्क पर पडता है; क्योकि "दूरी" 'सम्पूर्ण परिस्थिति' का एक अङ्ग हो जाती है। 'सम्पूर्ण परिस्थिति' मे मस्तिष्क की जो प्रथम प्रतिक्रिया हुई है उसके कारण वस्तु के दूर हट जाने पर भी उसका आकार नही बदलता। पहले जिस आकार का भान मस्तिष्क को हो गया है वही आकार स्थायी रह जाता है।

अवयवीवादियो के अनुसार 'देखने' के क्रम मे 'आकार'[2] और 'भूमि'[3] का भेद प्रधान है। 'आकार' 'भूमि' से अधिक आकर्षक होता है। साधारणत: हम लोगों का ऐसा विचार है कि छोटा बालक चेहरे को ठीक-ठीक समझ नही सकता। परन्तु अवयवीवादियो का कहना है कि छोटे बच्चे चेहरे को तुरन्त समझ लेते हैं, क्योकि वह दृष्टि सम्बन्धी एक सयुक्त सत्ता अथवा इकाई[4] है। इस प्रकार आगे चलकर 'आकार' और 'भूमि' के भेद को बच्चा शीघ्र समझ लेता है।

अवयवीवादियो ने 'प्रत्यक्षीकरण' पर अन्वेषण करने मे अधिक परिश्रम किया है। उनका विश्वास है कि 'व्यवहार' केवल मस्तिष्क-सम्बन्धी बातो के अध्ययन से ही समझ मे नही आ सकता। इसके लिये 'प्रत्यक्षीकरण' सम्बन्धी क्रियाओ को भी समझना आवश्यक है। व्यवहार समझने के लिये किसी प्राणी की गतियुक्त प्रतिक्रियाओ के अध्ययन के पूर्व उसके वातावरण को समझ लेना आवश्यक है। उनका विचार है कि 'इन्द्रिय ज्ञान' तथा गतियुक्त प्रतिक्रियाएँ प्राणी की सम्पूर्ण क्रियाशीलता मे निहित होती हैं। अवयवीवादी 'उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद'[5] के विरुद्ध है। उनका कहना है कि व्यवहार का हम भौतिक पदार्थ के विभिन्न तत्वो के सदृश् विश्लेषण नही

1. Sight. 2. Figure. 3. Ground. 4. Unit. 5. Stimulus Response Theory,

कर सकते । 'उत्तेजना' और 'प्रतिक्रिया' की इकाइयो में भी इसको हम ठीक-ठीक नही समझ सकते । बहुत से व्यवहारवादियो ने हरवर्ट स्पेन्सर[1] के अनुसार यह स्वीकार कर लिया कि 'व्यवहार' हमारी 'सहज क्रियाओ'[2] की शृङ्खला है । अवयवीवादियो ने इस विचार का खण्डन किया । उनका कहना है कि बालक पृथक पृथक सहज क्रियाओ (रिफलेक्सेज) द्वारा नही दीखता । उसका व्यवहार विभिन्न क्रियाओ के एक मे मिलने से नही होता । वह तो सगठित व्यवहार से ही अपना जीवन प्रारम्भ करता है ।

अवयवीवाद के अनुसार 'सीखना'[3]

हमारे 'सीखने की क्रिया' का रूप क्या है ? थॉर्नडाइक का कहना है कि हम सुखद अथवा दुखद प्रतिक्रियाओ के फलस्वरूप सीखते है । यदि प्रतिक्रिया सुखद हुई तो वह हमे सदा के लिये याद हो जाती है । यदि वह दुखद हुई तो वैसा न करने की भी हमारी आदत पड जाती है । अर्थात् हम अपनी सफलता के अनुसार नई-नई आदते सीखते हैं । यदि किसी विषय मे बालक को सफलता मिल गई तो वह प्रशसा अथवा पुरस्कार पाता है, अन्यथा दण्ड का भाजन होता है । थॉर्नडाइक के अनुसार हमारी प्रतिक्रिया किसी 'उत्तेजना विशेष' के प्रति होती है । अवयवीवादी इसको नही मानते । उनके अनुसार हमारी प्रतिक्रिया किसी आदर्श या नमूने[4] (पैटर्नस) के प्रति होती है । इस बात को सिद्ध करने के लिये उन्होने एक परीक्षण किया । एक घोडे के आगे दो बाल्टियो मे से एक में भोजन रखा जाता है । एक बाल्टी पर 'अ' नम्बर लगा हुआ है, इसका रग हल्का नीला है । दूसरे का नम्बर 'ब' है और इसका रग गहरा नीला है । घोडे को नित्य 'ब' बाल्टी मे भोजन दिया जाता है । कुछ दिन के बाद 'अ' बाल्टी हटा ली जाती है और उसके स्थान पर 'स' नम्बर की दूसरी बाल्टी रख दी जाती है । इस बाल्टी का रग 'ब' से भी अधिक गहरा नीला है । दूसरे दिन घोडा 'ब' बाल्टी की ओर न जाकर 'स' बाल्टी में मुँह डालता है । ऐसा क्यो ? यदि उसकी प्रतिक्रिया 'उत्तेजना विशेष' के साथ हुई होती तो वह 'ब' बाल्टी की ओर जाता । उसकी प्रतिक्रिया तो गहरे नीले रग के साथ हुई थी, अवयव के प्रति नही, अवयवी के प्रति । अर्थात् 'विषय विशेष' के प्रति न होकर किसी 'आदर्श' के प्रति उसकी प्रतिक्रिया हुई थी । अतएव वह 'स' बाल्टी की ओर गया ।

प्राणी यन्त्र से भिन्न होता है । उसकी प्रतिक्रिया सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति होती है । वह अपने व्यवहार मे सम्पूर्ण परिस्थिति को अपनी दृष्टि मे रखता है । कोहलर ने अफ्रीका देश के वनमानुषो[5] (शिम्पाजियो) पर कुछ परीक्षण कर इस बात को और भी सिद्ध कर दिया । सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति मनुष्यो की प्रतिक्रिया को तो

---

1 Herbert Spencer, 2. Reflexes 3 Learning according to Gestalt Psychology, 4. Patterns, 5 Chimpanzees,

समझा भी जा सकता है, क्योकि उसके पास बुद्धि है। पर पशुओ के विषय मे इसे कैसे माना जाय ? कोहलर के परीक्षण ने इसे भी स्पष्ट कर दिया। कोहलर को यह जानने की जिज्ञासा हुई कि वनमानुषो के पास कुछ अधिक बुद्धि होती है कि नही और क्या वे 'प्रयास व त्रुटि' की सीखने की विधि से ऊपर उठ सकते हैं अथवा नही। कोहलर बनमानुष के पथ मे कुछ बाधाएँ उपस्थित करना चाहता था, जिससे उसकी बुद्धि का ठीक-ठीक पता चल जाय, अन्यथा वह सीधे-सीधे अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जायगा और सीखने की बात ही कुछ न आयेगी। परन्तु कोहलर यह भी चाहता था कि बनमानुष की 'सूझ'[1] की भी परीक्षा होनी चाहिये। इसके लिये उसके सामने 'सम्पूर्ण परिस्थिति'[2] उपस्थित करनी चाहिये जिससे वह परिस्थिति की सभी बातो को देख ले। कोहलर ने सोचा कि इससे यह पता चल जायगा कि बनमानुप को सभी बातो के अध्ययन करने के बाद पूर्ण परिस्थिति अर्थात् 'अवयवी' का अथवा 'आदर्श' का ज्ञान हो जाता है कि नही। उसने एक बनमानुप को एक पिजडे मे बन्द कर दिया। एक केले को रस्सी से बाँध कर पिजडे के पास जमीन पर रख दिया गया। कई रस्सियाँ पिंजडे से केले तक फैला दी गई। बनमानुष ने रस्सी खीचना प्रारम्भ किया। पहले प्रयत्न मे उसके लिये सफल होना कठिन था। मनुष्य ने तो शीघ्र ही ठीक रस्सी को खीच कर केला पा लिया होता। बनमानुष ने कई रस्सियो को थोडा-थोडा खीच कर छोड दिया क्योकि उनसे केला आता हुआ दिखलाई नही पडता था। थोडी ही देर मे जिस रस्सी से केला आ रहा था उसी को उसने खीच लिया और शेष को छोड दिया। बनमानुष को इस कार्य मे अन्य जानवरो की अपेक्षा शीघ्रतर सफलता मिली। इससे उसकी 'सूझ' का पता लगता है। उसने और भी बहुत से परीक्षणो मे अपनी 'सूझ' का प्रमाण दिया। उदाहरणार्थ—वह सन्दूको को एक दूसरो के ऊपर जोडकर उसके ऊपर चढ गया और ऊचे रखे हुए अपने भोजन को प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार उसने छडी के दो टुकडो को उनके स्थान पर जोड कर ऊपर रखे हुए अपने भोजन को खोज कर नीचे गिरा लिया। हाँ, यह सत्य है कि बनमानुषो को बहुत से असफल प्रयत्न करने के बाद ही सफलता मिली। परन्तु समस्या का हल उसे अन्य जानवरो की अपेक्षा अधिक शीघ्र मिला और दूसरे दिन भी उसे सब याद रहा। इससे उसकी 'सूझ' का पता लगता है। समस्या का हल उसे अचानक नही मिला, अपितु सम्पूर्ण परिस्थिति को अच्छी प्रकार समझ लेने के बाद ही यह सफल हो सका। सम्पूर्ण परिस्थिति के इस प्रकार के देखने को अवयवी[3] (गेस्टाल्ट) कहते है। अवयवीवादियो के अनुसार मनुष्य और पशु दोनो इसी प्रकार से सीखते हैं। कोहलर के अनुसार बालक पहले अशो को नही सीखता। वह सम्पूर्ण परिस्थिति को पहले समझता है। अत. उसे पहले यह नही सिखाना चाहिए

1. Insight. 2. Total situation. 3. Gestalt.

कि शब्द किन-किन अक्षरो से बनते हैं, उसे पहले शब्दो का ज्ञान कराना चाहिये, अपितु शब्दो से पहले वाक्यो का ही। अवयवीवाद का यह कथन है कि हम 'अवयवी'[1], (होल) से 'अवयव'[2] (पार्ट) की ओर जाते हैं, 'अवयव से 'अवयवी की ओर नहीं।

अवयवीवादियो ने एक और बडा महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला है। हम पीछे कह चुके हैं कि 'उत्तेजना प्रतिक्रिया-वाद' से अवयवीवाद सहमत नही। उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद (अथवा व्यवहारवाद) के अनुसार 'उत्तेजना' और प्रतिक्रिया' मे एक बन्धन होता है जिससे 'प्रतिक्रिया' होती है। परन्तु अवयवीवादी प्रो० ल्यूविन (१८९०–१९४७) का कहना है कि केवल यह बन्धन ही प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर देने के लिये पर्याप्त नही है। अपने कथन की पुष्टि ल्यूविन ने इस प्रकार की है। हम एक पत्र पोस्ट बॉक्स मे छोडने के लिये जेब मे डालकर चलते हैं। पोस्ट बॉक्स 'उत्तेजना'[3] है और जेब मे पत्र निकाल कर उसमे डालना 'प्रतिक्रिया' है। दोनो में हमने एक बन्धन जोड लिया है। पोस्ट बॉक्स देखने पर हम झट पत्र जेब से निकाल कर उसमे डाल देते हैं। इस प्रकार उस बन्धन के कारण प्रतिक्रिया होती है। परन्तु 'उत्तेजना-प्रतिक्रिया' सिद्धान्त के अनुसार तो अभ्यास से यह बन्धन और पुष्ट होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब जब हम पोस्ट बॉक्स देखें तब तब जेब से पत्र निकाल कर उसमे छोडने का ध्यान आना चाहिये, पर ऐसा नही होता। क्यो ? इससे अवयवीवादी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'उत्तेजना, और प्रतिक्रिया' मे बन्धन स्थापित हो जाने से ही 'प्रतिक्रिया' आवश्यक नही हो जाती। पत्र पोस्ट बॉक्स मे डालने का जब हमने विचार किया था उस समय हमारे मस्तिष्क मे एक तनाव[4] पैदा हो गया था। पत्र डाल देने के बाद ही वह तनाव हट गया। यदि पत्र छोडने के लिये दूसरे को दे दिया गया होता तो तनाव कम हो जाता, और उस व्यक्ति से पत्र छोडने के बारे मे पूछने का 'तनाव' हमारे मस्तिष्क मे आ जाता। उससे भेट होने पर पत्र छोडने के बारे मे हम तुरन्त पूछते और हमारा तनाव दूर हो जाता है। यह तनाव दूर हो जाने पर हम बार-बार उस व्यक्ति से नही पूछेगे कि उसने पत्र छोडा अथवा नही। सामने किसी कठिनाई के आने पर 'तनाव' उत्पन्न हो जाता है। इस तनाव से हमारी क्रिया-शक्ति बढ जाती है, क्योकि हम काम को पूरा कर तनाव को दूर करना चाहते हैं। इसी प्रकार यदि विद्यार्थी को हम कोई समस्या[5] देते हैं तो उसके मस्तिष्क मे एक तनाव आ जाता है। उसकी चेष्टा होती है कि समस्या का हल निकाल कर उस तनाव को शीघ्र दूर करे। उसकी यह चेष्टा अवयवीवाद की पुष्टि करती है। क्योकि उसकी इच्छा 'सम्पूर्ण-परिस्थिति' को देखने की है। परिस्थिति का एक अश ही वह देख सका है। इसीलिये उसके मस्तिष्क मे 'तनाव' उत्पन्न हो गया है। यह तनाव स्वाभाविक नही है। हमे

---

1. Whole. 2 Part. 3. Stimulus. 4. Tension 5. Problem.

सम्पूर्ण परिस्थिति का अध्ययन कर उस काम को पूरा करके इस तनाव को दूर करना है।

नीचे हम यह देखेंगे कि अवयवीवाद से शिक्षा को क्या-क्या लाभ हो सकते है। इसे समझने मे अवयवीवाद के कुछ और मौलिक सिद्धान्त हमारे सामने आ जायँगे ।

अवयवीवाद और शिक्षा—

अवयवीवाद ने मनोविज्ञान के क्षेत्र मे एक क्रान्ति सी उपस्थित कर दी है। हम अपने व्यावहारिक जीवन मे हर समय 'अवयवी' और 'अवयव' से साक्षात् करते हैं। हम यह मानते है कि किसी वस्तु को ठीक-ठीक समझने के लिये हमे उसके अवयवो की अवहेलना न कर पहले उसकी सम्पूर्ण परिस्थिति से अवगत होना होगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देने पर भी हमे वांछित फल प्राप्त नही होता। परन्तु यदि हम अपने दृष्टिकोण मे परिवर्तन कर वस्तु-स्थिति की ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो अज्ञात वस्तु भी हमारे लिये ज्ञात हो जाती है। कोहलर के परीक्षणो से यह स्पष्ट है कि बनमानुप वस्तु स्थिति के 'सम्पूर्ण' ज्ञान के बाद ही अपनी समस्या को हल कर सका। जब तक वह परिस्थिति के विभिन्न अशो को सयुक्त न कर सका तब तक उसे अपनी वांछित वस्तु प्राप्त न हुई। छड़ी की खोज मे बनमानुष पेड पर चढ कर छडी तोड लेता है। यदि पेड को वह एक इकाई ही मानता तो उससे वह छडी न निकाल सकता। छडी की खोज मे उसे पेड के प्रति अपने विचार को बदलना पडा। पेड को उसने 'सम्पूर्ण' अर्थात् 'अवयवी' माना, तभी तो उससे वह एक छडी अर्थाद् 'अवयव' प्राप्त कर सका। इस प्रकार अवयवीवाद ने हमे सम्पूर्ण अर्थात् अवयवी (होल) और अग, इकाई अथवा 'अवयव' (पार्ट, यूनिट) का महत्व समझाया। अवयवीवाद से हम यह भी सीखते है कि दृष्टिकोण के परिवर्तन से अज्ञात वस्तु भी ज्ञात हो सकती है।

अवयवीवाद ने बुद्धि[1] की व्याख्या अन्य सम्प्रदायो से अधिक स्पष्टता से की है। बुद्धि का आशय केवल मेधा (इन्टलेक्ट) से ही नही है, अपितु इसके अन्तर्गत अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने की हम मे जो शक्ति अथवा सूझ[2] होती है वह भी आ जाती है। इसमे हमारी नैतिक व सामाजिक गति और इन्द्रिय-सम्बन्धी बुद्धि और ज्ञान आ जाता है। वातावरण के अनुकूल बनने की हम मे जो शक्ति है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। हम छोटे बच्चे को वातावरण के अनुसार शिक्षा देना चाहते है जिससे वह भावी जीवन के लिये तैयार हो जाय। परन्तु अपने निराले व्यक्तित्व के कारण वह अपना ही रास्ता पकड़े हुए दिखलाई पडता है। इसलिये हमे

1. Intelligence. 2 Insight

परिस्थिति को कुछ उसके स्वभाव के अनुकूल बनाना पडता है। हम उसके सामने कुछ आकर्पक खेल, व्यायाम तथा अभ्यास उपस्थित करते हैं; अर्थात् हम वातावरण को उसके स्वभाव के अनुसार घटाते, बढाते अथवा परिवर्तित करते हैं, जिससे बालक के व्यक्तित्व पर वातावरण की छाप पडे। अवयवीवाद हमें यह बतलाता है कि हमे मदा 'अवयवी' पर ही ध्यान देना चाहिये। इससे हम यह निष्कर्प निकाल सकते हैं कि हमे बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर ध्यान देना है। अवयव-सम्बन्धी हमारा कार्य उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व (अवयवी) से सम्बन्धित होना चाहिये। अवयवीवाद के अनुसार मानसिक परिस्थिति को समझने के लिये उसकी सम्पूर्ण स्थिति का ज्ञान आवश्यक है। इस विचार के कारण पूरे मनोविज्ञान का रूप थोडा बदल जाता है। 'अवयवीवाद' की शिक्षा के लिये कुछ महत्वपूर्ण देन हैं। सर्वप्रथम अवयवीवाद 'व्यक्ति' का अध्ययन एक 'पूर्ण सत्व'[1] के अनुसार करता है। वह उसे कुछ 'अवयवो' का योग नही मानता। दूसरे, अवयवीवाद सब कुछ परीक्षण की कसौटी पर कसना चाहता है। जो इस कसौटी पर खरा नही उतरता उसकी पूछ नही। वह व्यक्ति का वास्तविक परिस्थितियों मे अध्ययन कर ठीक-ठीक निष्कर्प देना चाहता है। तीसरे, अवयवीवाद गतिशील दिखलाई पडता है। व्यवहारवाद के सदृश् यह केवल बाह्य चेष्टाओ से ही सम्बन्ध नही रखता। यह तो 'पूरे' व्यक्ति का अध्ययन करना चाहता है। हम यह भी कह सकते हैं कि अवयवीवाद 'व्यक्ति' को एक 'पृथक अवयवी' मान कर नही समझना चाहता। किसी व्यक्ति को समझने के लिये उसके पूरे वातारण तथा वातावरण के इतिहास का परिचय आवश्यक हैं। वातावरण परिवर्तनशील है। अत व्यक्ति को समझने के लिये इसका अध्ययन और भी आवश्यक हो जाता है।

अवयवीवाद के सिद्धान्त उत्पत्त्यात्मक[2] मनोविज्ञान (जेनेटिक साइकॉलॉजी) के विचारो के विरोधी दिखलाई पडते हैं। अवयवीवाद ने इसे सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि व्यक्ति का जीवन पृथक-पृथक घटनाओ का योग नही है, अपितु वह तो एक सुसगठित 'अवयवी' है। किसी क्षण पर बालक की सभी गतियाँ उसकी पूरी क्रियाशीलता की परिणाम है। बालको का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व होता है। एक ही प्रकार के खेल में वे अपने स्वभावानुसार अलग-अलग परिणाम निकाल कर अनुभव कर सकते हैं, अर्थात् सबके विपय में एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना भ्रमात्मक है।

बालक का वातावरण नवयुवको के वातावरण की अपेक्षा अधिक बदलता रहता है। उसका सासारिक बातो से उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नही होता जितना बडो का। तथापि बाह्य वातावरण का उस पर औरो से अधिक प्रभाव पड़ता है, पर उसके मानसिक द्वन्द्व को हम अधिक सरलता से समझ सकते हैं। उसके काम मे कोई बाधा

1. Complete entity. 2. Genetic Psychology.

उपस्थित होती है तो उसकी पूरी छाप उसके चेहरे पर उतर आती है। इसका उसके पूरे शरीर पर प्रभाव पडता है। प्रो० ल्यूविन ने विभिन्न परिस्थितियो मे कुछ बालको का एक क्रम मे फिल्म की सहायता से चित्र उठाया है। उससे यह पता चलता है कि अवयवीवाद व्यक्ति को समझने मे किस प्रकार सहायता दे सकता है। अब उससे यह स्पष्ट होता है कि अवयवीवाद की सहायता से शिक्षक बालको मे भाषा, सङ्गीत, बोलने की शक्ति, चित्रकला, लिखना व पढ़ना आदि का विकास अधिक सरलता से समझा सकता है। आजकल सामाजिकता का विकास एक नये ढङ्ग से होता दिखलाई पड रहा है। इसकी छाप शिक्षा मे स्पष्ट दिखाई पडती है। सम्भवतः कुछ दिन बाद शिक्षा के मनोवज्ञानिक आधार मे कुछ परिवर्तन आवश्यक जान पडेगा। प्रगतिशील होने के नाते अवयवीवाद इन सब परिवर्तनो मे बडी सहायता देगा। इसमे कुछ भी सन्देह नही।

हम यह मानते है कि शिक्षा के क्षेत्र मे विश्लेषण की कही न कही आवश्यकता पड ही जाती है। आजकल शिक्षा के बहुत से सिद्धान्त निकलते दिखलाई पडते है। प्रत्येक सिद्धान्तवादी को यह ध्यान रखना है कि उसका विश्लेषण अन्त मे सश्लेषण की ही ओर प्रवाहित हो। अवयवीवाद की यही माँग है। यदि हम इस माँग को पूरी नही करते तो शिक्षा-क्षेत्र मे हमारा सारा प्रयत्न विफल जायगा।

विश्लेषणात्मक पद्धति के अनुसार किसी परिस्थिति के विभिन्न अगो का अध्ययन कर साधारण नियमो का निर्धारण करना वैज्ञानिक जान पडता है, परन्तु इसे भली-भाँति कार्यान्वित नही किया जा सकता। यदि शिक्षक अशो (अवयवो) पर दृष्टि डालता है तो वह 'अवयवी' की अवहेलना करता है। और यदि 'अवयवी' पर ध्यान केन्द्रित करता है तो उसके सामने अन्य कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पहले तो उसे 'अवयवी' के अध्ययन मे विभिन्न अवयवो का ज्ञान भली-भाँति नही हो पाता। दूसरे उसके पास कोई ऐसी अच्छी विधि नही जिससे वह किसी परिस्थिति की सम्पूर्णता को एक साथ ही वैज्ञानिक ढग से समझ सके। इस कठिनाई के समाधान के लिये अमेरिका के मनोवैज्ञानिको ने बुद्धि परीक्षा और विद्या परीक्षा की विधि निकाली है। किसी परिस्थिति विशेष मे व्यक्ति क्या करता है इसके आधार पर वे यह अनुमान करना चाहते है कि व्यक्ति की योग्यता कैसी है, वास्तव मे वह क्या कर सकता है ? परन्तु इस प्रयोग मे उसी परिस्थिति के चुने जाने का डर है जिसके बारे मे व्यक्ति की योग्यता का निश्चित पता है। इस प्रकार परिणाम के एकाङ्गीय होने का तथा 'अवयवी' की अवहेलना का भय है। अत किसी वस्तु के 'सीखने की क्रिया' मे सम्पूर्ण व्यक्ति के समझने की विधि का आविष्कार करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। शिक्षा के क्षेत्र मे यह एक बडी समस्या है जिसकी ओर अवयवीवाद सकेत कर रहा है।

आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे रचनात्मक प्रवृत्ति की माँग उपस्थित की जा रही है। अतएव शिक्षा के प्रत्येक कार्यक्रम में हमें इस माँग की छाप मिलती है। पाठशाला के प्रत्येक कार्य मे रचनात्मक प्रवृत्ति की कल्पना निहित है—चाहे खेलना हो, लिखना हो या चित्र बनाना हो। वास्तव मे व्यक्ति की सम्भावनाओ को कार्यान्वित करना ही शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है। अवयवीवाद यहाँ सकेत करता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति में मनुष्य के व्यक्तित्व को नही भूल जाना है। ललित कलाओ मे शिक्षा पाते समय व्यक्ति को 'रहने की कला' मे भी उत्तम शिक्षा पानी है, अर्थात् हमे अपने जीवन-उद्देश्य (अवयवी) की अवहेलना नही करनी है। अवयवीवाद के सिद्धान्त की पुष्टि यहाँ भली-भाँति दिखलाई पडती है।

आजकल शिक्षा-क्षेत्र मे हम सामाजिकता कीध्वनि बहुत सुनते हैं। अब स्कूल में बहुत सी बाते हम सामूहिक ढँग पर कराना चाहते हैं। कुछ बालको को एक टोली मे रख कर काम दिया जाता है। सब अपना अलग-अलग काम करते है। पर प्रत्येक का कार्य वास्तविक कार्य का एक अगमात्र होता है। किसी विषय पर कुछ वादविवाद करना हुआ तो उसे भी सामूहिक ढँग पर कराना आदर्श माना जाता है। इन सब कार्यो मे समूह के व्यवहार का हमे आभास मिलता है। अब 'स्कूल समुदाय' की चर्चा की जाने लगी है। शिक्षा की इस नवीन लहर मे कुछ राजनैतिक, नैतिक तथा धार्मिक समस्याएं भी आ जाती हैं। ऐसी स्थिति के उत्पन्न होने से अब हमे एक नये शिक्षा-मनोविज्ञान की आवश्यकता जान पडती है। इस मनोविज्ञान का सामाजिक होना आवश्यक है जिससे हमारी सामाजिक समस्याओ का समाधान हो सके। आधुनिक मनोविज्ञान इसमे हमारी किस प्रकार सहायता कर सकता है? 'अवयवीवाद' मे हमे सहायता मिलने की आशा दिखलाई पडती है, क्योकि उसकी दृष्टि सदैव 'सम्पूर्ण' (अवयवी) पर रहती है। अवयवीवाद के सिद्धान्त हमे कभी-कभी तर्कसगत भले ही न जान पडे, परन्तु उनमे कुछ ऐसी बाते मिलती हैं जिनकी सहायता से हम अपनी शिक्षा-समस्याओ के समाधान मे बहुत दूर तक जा सकते हैं। अवयवीवाद अन्य सम्प्रदायो से अधिक प्रगतिशील और सम्पूर्ण दिखलाई पडता है और इसकी सहायता से हम आगे अन्वेषण करने मे भी सफल हो सकते है।

किसी प्राणी के विकास मे वातावरण उससे अलग नही किया जा सकता। उसके सभी कार्यो मे वातावरण की छाप रहती है। हम एक प्रकार से यह भी कह सकते हैं कि वातावरण उसके कार्य का एक अङ्ग होता है। अपनी परिस्थिति को सगठित कर एक निश्चित अनुभव कर लेना हमारा स्वभाव सा हो गया है। इस स्वभाव के कारण हम अपने को सदैव वातावरण के अनुकूल बनाने की चेष्टा मे रहते हैं। वातावरण और कार्य एक साथ मिल कर हमारे जीवन का रूप ढालते हैं। ये दोनो एक ही

'अवयवी' (अर्थात् हमारे जीवन) के अङ्ग हैं। अत अवयवीवाद यह संकेत करता है कि शिक्षक वातावरण की उपेक्षा नही कर सकता।

'उत्तेजना प्रतिक्रियावाद' के अनुसार 'व्यवहार' में प्राणी और वातावरण एक दूसरे पर पृथक-पृथक प्रभाव डालते है। परन्तु ऐसी बात नही है। अवयवीवाद व्यवहार मे 'सूझ' का अश लाकर इस सिद्धान्त को गलत सिद्ध कर देता है। 'उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद' की भी शिक्षा मे कुछ उपयोगिता अवश्य है। परन्तु हमे तो किसी घटना की सम्पूर्ण वातो पर एक साथ ही ध्यान देना है, नही तो हमारी शिक्षा-योजना उस पुराने वस्त्र के समान प्रतीत होगी जिसमे कही-कही लाल विरगे टुकडे जोड दिये हैं। उत्तेजना 'प्रतिक्रियावाद' से हमे मनुष्य के वास्तविक स्वभाव के समझने मे कुछ सहायता अवश्य मिलती है। परन्तु उसके सिद्धान्तो के आधार पर हम शिक्षा-योजना नही बना सकते, क्योकि उसके अन्वेषण गलत ढङ्ग पर किये गये हैं। स्वभाव को समझने के लिये हमे सम्पूर्ण परिस्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है, क्योकि हमारा व्यवहार सम्पूर्ण स्थिति का फल है, न कि उसके एक अंग का। उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद 'व्यवहार' को समझने के लिये उसके विभिन्न अंगो का अध्ययन करता है। अवयवीवाद यह बतलाता है कि जीवन की घटनाओ के पथ-प्रदर्शन के लिये हमे व्यक्ति के पूरे स्वभाव का अध्ययन करना है—उसके सूक्ष्मतम अगो की परीक्षा करने से हम सफलीभूत नही हो सकते।

हमारे सभी अनुभव चरित्र मे निहित हो जाते हैं। किसी घटना के घटित होने से हमारे जीवन-क्रम मे बाधा आती है, परन्तु फिर यह बाधा दूर हो जाती है। बाधा का आना और जाना सदैव लगा रहता है और अन्त मे एक सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। यह सामञ्जस्य समय-समय पर बनता बिगडता रहता है। मनोवैज्ञानिको ने इस सामञ्जस्य को मानव व्यवहार का केन्द्र माना है। अवयवीवादियो ने अपने मानव व्यवहार के अध्ययन मे इस सामञ्जस्य का महत्व अच्छी प्रकार समझाया है। अपने परीक्षणो मे कोहलर ने इस सामञ्जस्य की ओर भली-भाँति सकेत किया है। यदि बालक के व्यक्तित्व मे हम सामञ्जस्य लाना चाहते हैं तो उसके व्यवहार मे उसकी शारीरिक और मानसिक दोनो गतियो पर हमे ध्यान देना होगा। सामञ्जस्य के सिद्धान्त की यही माँग है। मनोवैज्ञानिको की अब यह धारणा हो गई है कि किसी को समझने के लिये उसके जीवन के विभिन्न अङ्गो का पृथक-पृथक अध्ययन नही करना है। अपितु उन्हे जीवन के सम्पूर्ण एकीकरण के सम्बन्ध मे समझना है। मनोविश्लेषणवादी इस सिद्धान्त की ओर अधिक प्रगतिशील दिखलाई पडते हैं। कहना न होगा कि मनोवैज्ञानिकों की इस प्रगति का प्रथम श्रेय अवयवीवादियो को ही है। शिक्षको को यह समझना चाहिये कि जीवन की घटनाओ का एकीकरण चरित्र मे होता है। हमारी सारी विचारमाला इस एकीकरण के स्थापित करने की ओर ही केन्द्रत होती है। इससे यह

स्पष्ट है कि हमारी विचारमाला में एक ही प्रकार के वस्तु का प्राधान्य न हो। दूसरे शब्दों मे यह भी कहा जा सकता है कि पाठ्य वस्तु मे केवल विचारात्मक विषयो की ही भरमार न हो। उसमे ऐसे विषय हो कि बालको की सद्भावना तथा स्थायीभाव को भी भोजन मिल सके। उसमे बालको को ऐसे कार्य करने पडे जिनसे उनके चरित्र मे एक सामञ्जस्य उपस्थित हो सके। वास्तव मे उनकी शिक्षा-योजना में इन बातो पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

स्पीयरमैन का 'दो तत्व का सिद्धान्त'[1]

[अर्थात् 'सामान्य'[2] (जी) और 'विशिष्ट' (एस)[3] का अस्तित्व]

हमारे सारे शिक्षा-क्रम की नीव 'बुद्धि' पर ही स्थापित होती है। अतः इसके रूप को समझना आवश्यक है। इसके वास्तविक रूप के निर्णय मे मनोवैज्ञानिको मे अधिक वाद-विवाद चला है। अभी एक निश्चित निर्णय पर वे नही पहुँच सके हैं। तथापि उनके अन्वेषणो मे शिक्षक को बड़ी सहायता मिल सकती है। उनके वाद-विवाद मे जाना हमारी सीमा के बाहर है। हम यहाँ केवल थॉर्नडाइक और स्पीयरमैन के निष्कर्षो पर ही सक्षेप मे विचार करेगे, क्योकि उनका शिक्षा से स्पष्ट सम्बन्ध दिखलाई पडता है। थॉर्नडाइक के अनुसार 'बुद्धि' हमारी बहुत सी स्वतन्त्र योग्यताओ का योग है। अर्थात् हमारे पास 'बुद्धि' नही, अपितु 'बुद्धियाँ' हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी मानसिक कार्य के करने में हमारी बुद्धि का स्पष्टीकरण होता है। शिक्षा मे परीक्षणो के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि थॉर्नडाइक का सिद्धान्त भ्रमात्मक है। मनुष्य की स्थिति अत्यन्त दयनीय और हास्यास्पद होती यदि वह स्वतन्त्र योग्यताओ का एक योग होता। जहाँ परिस्थिति से उसकी बुद्धि अथवा योग्यता का मेल न खाता वहाँ एक दम नष्ट हो जाता, परन्तु ऐसी बात नही। उसमे वातावरण और परिस्थिति मे लडने की शक्ति होती है और वह उनके साथ अपना एकीकरण स्थापित करना चाहता है। हम देखते हैं कि इसमे वह बहुधा सफल भी हो जाता है। यह बात हमे स्पीयरमैन के सिद्धान्त की ओर ले आती है। स्पीयरमैन के अनुसार हमारी सभी मानसिक योग्यताओ का विश्लेषण दो अगो मे किया जा सकता है। पहले अग का नाम उसने सामान्य योग्यता (जी, अर्थात् जनरल) दिया है। हमारे सभी कार्यो मे इस 'सामान्य' योग्यता का हाथ रहता है। यह एक ऐसी मानसिक शक्ति है जो हमे हर समय व हर स्थान पर सहायता देती है। दूसरे अग का नाम स्पीयरमैन ने 'विशिष्ट' योग्यता ('एस' अर्थात् स्पेसिफिक एबीलिटी) दिया है। हमारी 'विशिष्ट' योग्यता हमे परिस्थिति विशेष मे सहायता देती है। यह केवल अपने ही क्षेत्र मे प्रमुख रहती है, अन्य स्थान पर इसका

---

1 Spearman's Two Factor Theory. 2 General or G. 3 Specific or S.

उपयोग नही किया जा सकता। हमारी विभिन्न विशिष्ट योग्यताओ में कोई सामञ्जस्य नही होता। जब हम शिक्षा में इनके महत्त्व पर विचार करेंगे तो इनका रूप अधिक स्पष्ट हो जायगा। 'सामान्य' और 'विशिष्ट' के अतिरिक्त स्पीयरमैन ने 'सकल्प शक्ति'[1] की गणना हमारी योग्यता के अन्तर्गत की है। इस 'सकल्प शक्ति' का सम्वन्ध विशेषकर व्यक्तित्व से होता है। इन सभी शक्तियो मे स्पीयरमैन केवल 'सामान्य' (जी) को ही बुद्धि की संज्ञा देता है। कुछ मनोवैज्ञानिक स्पीयरमैन के सिद्धान्त से पूर्णत सहमत नही हैं। परन्तु उसके सिद्धान्त से हमारी शिक्षा-योजना की कुछ कठिनाइयो का समाधान हो जाता है। अतः अब हम शिक्षा से उसके सम्बन्ध पर आते हैं।

स्पीयरमैन के अन्वेषण का शिक्षा में महत्त्व—

सख्याशास्त्र के आधार पर स्पीयरमैन ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हमारे सभी प्रयत्नो के पीछे एक साधारण शक्ति छिपी रहती है। यह साधारण शक्ति ही हमारी 'बुद्धि' होती है। किसी वस्तु का दूसरे से परस्पर सम्वन्ध समझना हमारी बुद्धि के अन्तर्गत आता है। हम अपने सभी अनुभवो मे वस्तुओ के परस्पर सम्वन्ध को ही जानने की चेष्टा करते हैं। यदि शिक्षक ने बालको को वस्तुओ के परस्पर सम्वन्ध को समझने योग्य बना दिया तो उसका कार्य सफल हुआ, अन्यथा नही। परस्पर सम्बन्ध को समझने की शक्ति पाने से ही वे जीवन की परिस्थितियो से मुठभेड ले सकते हैं। इसके लिये यह आवश्यक है कि बालको के समस्त कार्यो मे एक प्रयोजन निहित हो। 'चिन्तन' एक प्रयोजनवद्ध मानसिक क्रिया है। प्रयोजनबद्ध मानसिक क्रिया मे वालको को रखना शिक्षक का उद्देश्य होना चाहिये, तभी वे तार्किक रूप मे किसी बात पर विचार कर सकेंगे। इसके लिए हमें उनकी स्वाभाविक रुचियो पर ध्यान देना होगा। उनकी अवस्था तथा झुकाव के अनुसार ही उनके सामने किसी समस्या को रखना होगा। ऐसा करने से ही वे प्रयोजनबद्ध मानसिक क्रिया को सचालित कर वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को समझ कर कोई अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। स्पीयरमैन के उपर्युक्त 'सम्वन्ध तथा परस्पर सम्बन्ध के सिद्धान्त'[2] से शिक्षक का पथ स्पष्ट हो जाता है। उसे 'बुद्धि' के वास्तविक रूप का पता चल जाता है।

स्पीयरमैन के अनुसार 'सामान्य' योग्यता सदा एक सी रहती है, चाहे उसका उपयोग हम किसी भी कार्य मे क्यो न करे। 'विशिष्ट योग्यता' मे विपय के अनुसार अन्तर हुआ करता है। किसी में गणित के लिये विशिष्ठ योग्यता हो सकती है, परन्तु सगीत मे वह पूरा अनभिज्ञ हो सकता है, अथवा सगीत की 'विशिप्ट योग्यता' रखते हुए गणित मे वह शून्य हो सकता है। एक व्यक्ति मे 'सामान्य' या 'विशिष्ट' तत्व दूसरे

1. Will or Volitional factor or W 2. Theory of Education of Relations and of Correlates.

से भिन्न-भिन्न होता है। उसकी सफलता व असफलता 'सामान्य' या 'विशिष्ट' तत्व के उचित रूप मे न होने के कारण हो सकती है। यदि किसी बालक की 'सामान्य योग्यता' अच्छी है तो प्राय वह हर स्थल पर अपना कार्य अच्छी प्रकार सम्पादित करेगा, अन्यथा वह सदा मन्द ही दिखलाई पड़ेगा। किसी कार्य मे अधिक 'सामान्य योग्यता' की आवश्यकता होती है और किसी मे अधिक 'विशिष्ट' योग्यता की। यदि दो बालक साहित्य-परीक्षा में समान अङ्क पाते हैं तो इसका तात्पर्य यह नही कि संगीत-परीक्षा मे भी उनके प्राप्ताङ्क समान ही होगे, क्योकि व्यक्ति की 'विशिष्ट योग्यताये' विभिन्न कार्यों के लिये अलग-अलग होती हैं। अतः हमें बालक की 'विशिष्ट' तथा 'सामान्य' योग्यता का पता लगाना बहुत ही आवश्यक है। उसकी योग्यता का पता लगने से ही उसकी शिक्षा की उचित व्यवस्था की जा सकती है।

स्पीयरमैन ने विभिन्न विषयो के लिये आवश्यक 'सामान्य' और 'विशिष्ट' योग्यता पर परीक्षण किया है। उसका निष्कर्ष है कि गणित तथा प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिये अधिक 'सामान्य योग्यता' की आवश्यकता होती है, और संगीत, चित्रकला व हस्तकला जैसे विषयो के लिये अधिक 'विशिष्ट' योग्यता की। जिन विषयो के लिये अधिक 'विशिष्ट' तत्व की आवश्यकता होती है उनके लिये बहुत 'सामान्य' तत्त्व की आवश्यकता नही, अर्थात् एक बहुत बडा संगीतज्ञ व चित्रकार बडा बुद्धिमान होगा यह आवश्यक नही। अपने क्षेत्र मे उसकी महानता उसकी 'विशिष्ट योग्यता' के कारण हो सकती है, न कि 'सामान्य' योग्यता के कारण। हाँ, यह सत्य है कि यदि 'विशिष्ट योग्यता' के साथ उसमे 'सामान्य योग्यता' भी अच्छी है तो वह अपनी कला मे अधिक जान डाल सकता है। अपने परीक्षणो से स्पीयरमैन को ज्ञात हुआ कि गणित के लिये 'सामान्य' और 'विशिष्ट' योग्यता मे लगभग चार और एक का अनुपात है, और संगीत के लिये एक और चार का। इसका अर्थ यह हुआ कि गणित मे 'सामान्य' तत्व और संगीत मे 'विशिष्ट' तत्व अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः यदि कोई बालक संगीत में अच्छा रहता है तो इसका यह तात्पर्य नही कि गणित मे भी वह अच्छा ही रहेगा। परन्तु इतना निश्चित है कि गणित मे बालक की योग्यता जानने से यह अनुमान किया जा सकता हैं कि वह अपने जीवन-कार्य को अच्छी प्रकार सभाल लेगा, क्योकि जीवन परिस्थितियो मे विशेषकर 'सामान्य' योग्यता की अधिक आवश्यकता होती है।

४—मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय[1] फ्रॉयड[2]—

मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय के प्रवर्तक वियना के फ्रॉयड (१८५६-१९३९) थे। अपने समय के मनोवैज्ञानिको की विचारधारा फ्रॉयड को पसन्द न आई। वे

---

1 Psychoanalytic School. 2 Freud, Sigmund

मानसिक जीवन को मनुष्य की सकल्प-शक्ति के अनुपात मे एक प्रकार से गतिशून्य ही समझते थे। फ्रॉयड ने अज्ञात-चेतना का पक्ष लिया। उनका कहना है कि 'ज्ञात-चेतना'[1] के सदृश् 'अज्ञात-चेतना'[2] भी गतिशील होती है, क्योकि व्यक्ति के व्यवहारों पर इसकी गहरी छाप रहती है। फ्रॉयड के इस विचार ने मनोविज्ञान के क्षेत्र मे एक क्रान्ति-सी मचा दी है। फ्रॉयड का कहना है कि हमारी 'ज्ञात-चेतना' के अतिरिक्त एक 'अज्ञात-चेतना' भी होती है। 'ज्ञात-चेतना' पर 'अज्ञात-चेतना' का पूरा-पूरा प्रभाव रहता है। 'अज्ञात-चेतना' तो मानो समुद्र है—उसका अन्वेपरण करना सरल नही, और 'ज्ञात-चेतना' इस समुद्र के ऊपर की सतह है। मनोविश्लेषरणवादी का कार्य-क्षेत्र इस 'अज्ञात-चेतना' का अध्ययन करना है। अत. कोई-कोई मनोविश्लेषरणवाद को "अन्तश्चेतना मनोविज्ञान'[3] भी कहते हैं।

फ्रॉयड एक वहुत वडे अनुभवी चिकित्सक थे। उन्हे मूर्छा, मृगी, वातोन्माद आदि रोगो की चिकित्सा करने मे विशेष रुचि थी। उनकी चिकित्सा की प्रधान विधि मोहनिद्रा[4] या सम्मोहन थी। मोहनिद्रा के सहारे वे रोगी को अचेत कर दिया करते थे। इस अचेतावस्था मे वे रोगी से कुछ प्रश्न पूछा करते थे। रोगी के उत्तर ऐसे होते थे जिसकी अपनी जागृतावस्था मे वह कल्पना भी नही कर सकता था। पेरिस के जेनेट महोदय के परीक्षणो ने फ्रॉयड के विचार को और भी पुष्ट कर दिया। जेनेट ने देखा कि मोहनिद्रा के सहारे रोगी कुछ ऐसी बातो को कह डालता है जिससे उसके रोग का कारण प्राय· स्पष्ट हो जाता है। उसे अपने जीवन में कभी 'ऐसे मानसिक सवेग का धक्का[5]' लगा है जिससे उसकी सारी मनोवृत्ति ही बदल गई है। इस मनोवृत्ति के बदलने की उसे सुधि नही। उस धक्के के कारण उसकी 'अज्ञात-चेतना' मे कुछ ऐसे विचारो ने अपना अड्डा जमा लिया है जो उसका पिण्ड छोडने को जल्दी तैयार नही। ये विचार उसके जीवन की सम्पूर्ण घटनाओ पर अपना प्रभाव डाला करते हैं; परन्तु रोगी को इसका कुछ भी पता नही। जब मोहनिद्रा की अवस्था मे रोगी 'अज्ञात-चेतना' के सहारे अपनी सारी बाते स्पष्ट करता है उस समय चिकित्सक अपने तर्क की सहायता से उसके रोग को भगा सकता है। फ्रॉयड को मोहनिद्रा की विधि बहुत पसन्द आई और उसने कई रोगियो का कल्याण किया।

कुछ दिन के बाद फ्रॉयड को पता चला कि कुछ रोगी इतने हठी होते हैं कि उन पर मोहनिद्रा का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता। ऐसे लोगो की 'अज्ञात-चेतना' का पता लगाना अत्यन्त कठिन जान पडता था। पर उसे अपने मित्र ब्रुअर (१८४२-१९२५) से इस विषय मे बडी सहायता मिली। ब्रुअर मोहनिद्रा से एक स्त्री रोगी

1 Conscious-self. 2. Unconscious self. 3. Depth Psychology. 4 Hypnotism. 5. Emotional Shock.

की चिकित्सा कर रहा था। उसने रोगी को इच्छानुसार सब कुछ कहने की आज्ञा दे दी। वस्तुतः रोगी की यही माँग थी, क्योकि उसने अनुभव किया था कि अपने सारे विचारो के व्यक्त कर देने से उसका रोग हलका हो जाता था। इतना ही नही, अपितु इस विधि को बार-बार दोहराने से वह मृगी रोग से मुक्त भी हो गई। फ़ॉयड ने भी इस विधि का अवलम्बन लिया। उसने अपने रोगी से कह दिया कि बिना किसी हिचक के जो कुछ मन मे आवे सब कह डालो। यह न सोचो कि 'यह इतनी छोटी और गन्दी बात है इसे कैसे मुँह से निकालूँ'। परन्तु फ़ायड ने इतना बन्धन लगा दिया था कि सब कुछ अपने रोग और कष्ट मे बारे मे ही कहना है। इस विधि का नाम फ़ॉयड ने 'स्वतन्त्र साहचर्य'[1] दिया है। फ़ॉयड का विचार है कि 'मोहनिद्रा' और 'स्वतन्त्र साहचर्य' की सहायता से 'अज्ञात-चेतना' का रूप भली-भाँति समझा जा सकता है। अब हमारे सामने प्रश्न यह उठता है कि 'अज्ञात-चेतना' से व्यक्ति क्यो अनभिज्ञ रहता है? फ़ॉयड का कथन है कि इसका कारण कुछ सामाजिक बन्धनो मे हमे दिखलाई पडता है। हमारे कुछ कार्य ऐसे होते है जिसका समाज समर्थन करता है, और कुछ की निन्दा। सामाजिक बन्धनो को तोडना सरल नही। उनके अनुकूल चलने से ही हमारी नैतिक उन्नति हो सकती है। हम सदैव समाज की आँखो मे ऊँचा उठने के प्रयत्न मे रहते हैं। हमारी इच्छा होती है कि हम अच्छा काम करते रहे जिससे समाज हमारा आदर करे। अच्छे कार्यो तथा उनके सामाजिक प्रभाव की स्मृति हमारी 'ज्ञात-चेतना' के अन्तर्गत आ जाती है। परन्तु यदि कोई बुरा कार्य हो गया तो हम उसे छिपाने की चेष्टा करते हैं। हम चाहते हैं कि उसे कोई न जानने पावे। बुरे कार्य की प्रतिक्रिया हमारे चरित्र पर पडती ही है। इससे मस्तिष्क में एक विचित्र हलचल मच जाती है। सवेग के एक धक्के से पूरा शरीर झकृत हो जाता है। हमारा विवेक हमे कोसने लगता है। बुरे विचारो को समाज के भय से हम बाहर फेंकना चाहते हैं। फ्रॉयड का कहना है कि मस्तिष्क मे आये हुये विचार को हम बाहर फेक ही नही सकते, चाहे वह भला हो या बुरा। भले विचार तो हमारी 'ज्ञात चेतना' में स्थान पा जाते हैं, पर बुरे विचार हमारी 'अज्ञात-चेतना' मे अपना घर बनाते हैं। उनकी उपस्थिति हमे नही जान पडती, पर वे हमारे कार्यो पर बहुधा प्रभाव डाला करते हैं। कुछ दिन बाद हम यह भूल जाते हैं कि हम मे कोई ऐसा बुरा विचार था अथवा नही क्योकि हमारी प्रवृत्ति सदा उन्हे दबाने की ही रहती है। अपनी 'इच्छा' अथवा 'विचार' को इस प्रकार दबाने को फ्रॉयड महोदय ने 'अवदमन'[2] की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि हमारी इच्छाएँ अवदमित हो जाने पर मर नहीं जाती। वे समय-समय पर 'ज्ञात-चेतना' मे आने की चेष्टा करती हैं। पर हमारे भीतर एक ऐसी शक्ति होती है जो उन्हे ज्ञान-चेतना मे आने से रोकती है।

1. Frece Association 2. Repression.

यह शक्ति क्या है ? मनुष्य नैतिक प्राणी है। जन्म लेते ही उसे नाना प्रकार के नैतिक बन्धन जकड़ लेते हैं। झूठ बोलना, चोरी करना व गाली देना आदि पाप हैं। दूसरे पर कुदृष्टि डालना व्यभिचार है, निर्बलो को सताना अत्याचार है। इन सब नैतिक बन्धनो से हम शीघ्र ही अवगत हो जाते हैं। इन बन्धनो के अनुकूल हम मे एक 'विवेक' उत्पन्न हो जाता है जिसे फ्रॉयड ने 'उच्च अन्त.करण'[1] का नाम दिया है। यह 'उच्च अन्तःकरण' हमारे लिये 'सरक्षक' का काम करता है। यदि हम नैतिक बन्धनो के तनिक भी विरुद्ध जाते है तो इस सरक्षक का कोडा तुरन्त हमारी पीठ पर पड़ जाता है। हमे भारी पश्चाताप होने लगता है। मानो हमारा 'उच्च अन्तःकरण' सामाजिक आदर्शो की ओर से नियुक्त किया हुआ ऐसा शासक है जो 'ज्ञात' और 'अज्ञात' चेतना के परस्पर सम्पर्क मे बाधा उपस्थित किया करता है, अर्थात् प्रतिहारी का काम किया करता है।

फ्रॉयड के अनुसार मनुष्य का 'साधारण अन्त.करण'[2] इच्छाओ का घर है। इसमे अच्छी और बुरी सभी प्रकार की इच्छाएँ निवास करती हैं। अच्छी इच्छा पर तो कोई प्रतिरोध ही नही। पर बुरी इच्छा के द्वार पर हमारा 'उच्च अन्त'करण' सदैव डटा रहता है। अपनी चेतनावस्था मे उसे बाहर निकलने का वह तनिक भी अवकाश नही देना चाहता। जब तक सतरी पहरे पर जाग रहा है तब तक चोर जेल से बाहर निकलने का साहस नही कर सकता। परन्तु जहाँ सतरी की आँख ढपी नही कि चोर ने बाहर निकलने का प्रयास किया। 'उच्च अन्त'करण' रूपी सतरी कब सोता है ? मनुष्य की सुप्तावस्था मे उसकी भी आँख ढप जाती है। ऐसे ही समय हमारी बुरी इच्छाएँ स्वप्न रूपी क्षेत्र मे प्रवेश कर अपना कार्य करती हैं और इस प्रकार अपने अस्तित्व का परिचय देती हैं। पर उनका परिचय स्पष्ट नही दिखलाई पडता। मानो सतरी की आँखे खुल जाने के भय से वे विभिन्न आडम्बरपूर्ण प्रतिरूप[3] या चिन्ह मे बाहर निकलने का प्रयत्न करती हैं। अमुक प्रतिरूप का अर्थ क्या होगा ?—स्वप्न मे ऐसी ऐसी वस्तुएँ अथवा घटनाओ का तात्पर्य क्या हो सकता है ?—इसका अपने सिद्धान्त के अनुसार फ्रॉयड ने भली-भाँति स्पष्टीकरण किया है। 'उच्च अन्तःकरण' के कारण हमारी अतृप्त इच्छाएँ बाहर नही आने पाती, पर अवरोध हट जाने से वे इस प्रकार धड़ाधड बाहर निकती हैं मानो रुके हुए पानी का रास्ता खोल दिया गया हो। यह देखा है कि रोगी 'मोहनिद्रा' अथवा 'स्वतन्त्र साहचर्य' के सहारे अपनी इच्छाओ का वर्णन करते करते कुछ दिन बाद अपने-आप रोग-मुक्त हो जाता है। पहले भूल से जो उसके मन मे गाँठ पड गई थी वह खुल जाती है और वह चगा हो जाता है। 'मोहनिद्रा' अथवा स्वप्नावस्था मे हम असावधान रहते हैं। इसीलिये हमारी

1. Super-ego. 2. Ego 3. Symbol.

इच्छाएँ विना किसी प्रतिरोध के वाहर निकलने लगती हैं। इसी प्रकार साधारण जागृतावस्था मे जव हम क्रोधवश असावधान हो जाते हैं तो वर्षों की सुसुप्त इच्छाएँ, विचार अथवा भावनाएँ हमारे मुँह से निकलने लगती हैं। कभी-कभी अपने सम्बन्धियों के क्रोध मे कहे हुए विचारो पर हमें आश्चर्य होता है। वस्तुत इसमें आश्चर्य करने की कोई वात नही। क्रोध मे 'उच्च अन्त करण' काम नही करता। इसलिये छिपे हुए विचार अथवा इच्छाएँ अपना रूप प्रदर्शित करने लगते हैं। यदि व्यक्ति क्रोध मे न होता तो वह वैसी वात कभी न कहता। अत. क्रोध में कही हुई वात पर विशेष ध्यान देना अव्यावहारिक और अमनोवैज्ञानिक है। परन्तु इतना तो मानना ही पडेगा कि क्रोधावस्था में व्यक्ति के चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, क्योकि उसी समय यह जाना जा सकता है कि उसके 'उच्च अन्त करण' की वागडोर कितनी ढीली है, अर्थात् उसका 'विवेक' कितना पोला है। सवसे अच्छा रास्ता यह है कि क्रोध आने पर व्यक्ति अपने को सयमित करने की चेष्टा करे और कुछ न वोले। क्रोधावस्था में ज्ञानी लोगो का 'उच्च अन्त.करण' सोता नही। क्रोध का यह विश्लेषण यहाँ प्रासगिक नही। पर पाठक मानेंगे कि यह विचार तारतम्य के अन्तर्गत ही है।

हमारी अतृप्त इच्छाएँ सदा वाहर आने की चेष्टा मे रहती हैं। पर कभी-कभी वे अपनी इस चेष्टा मे सफल नही होती। इसके दो कारण हो सकते हैं; १—हमारे अन्त करण की प्रतिरोध करने की शक्ति, अथवा २—सामाजिक आदर्शों के प्रतिकूल जाने का भय। ये इच्छाएँ 'ज्ञान चेतना' मे तो रह नही सकती। इसलिये वे 'अज्ञात-चेतना' में ही अपना घर वनाती हैं। फ्रॉयड का कथन है कि इच्छा मे क्रियाशीलता भरी रहती है। यह उसका स्वभाव है। अत दिन प्रतिदिन वह प्रवलतर होती जाती है। हमारे अनुभव वढते ही रहते हैं। फलत इन अतृप्त इच्छाओ का वढना भी स्वाभाविक है। ये विभिन्न अतृप्त इच्छाएँ 'अज्ञात-चेतना' मे जाकर एक गुत्थी मे नथ जाती हैं। इस गुत्थी को फ्रॉयड ने 'भावना-ग्रन्थि'[1] का नाम दिया है। चोर जेल के भीतर वन्द कर दिये जाने पर भी अपनी शरारत से नही चूकता। वह अपने स्वभाव के अनुसार क्रियाशील रहता है। यही कारण है कि उसके व्यवहारो का जेल के कर्मचारियो की कार्य-नीति पर प्रभाव पडता है। उनका स्वभाव भी चोरो के साथ उपयुक्त व्यवहार करने के अनुसार हो जाता है। इसी प्रकार भावना-ग्रन्थि का हमारे चरित्र पर प्रभाव पडता है, क्योकि भावना-ग्रन्थि वहुत क्रियाशील होती हैं। इनके कारण हम मे एक विचित्र सवेग[2] उत्पन्न होता है। यह सवेग सदा भावना-ग्रन्थि से ही अपना सम्वन्ध रखता है। यदि यह सवेग न हो तो भावना-ग्रन्थि का अस्तित्व ही नष्ट हो जाय और उसमें क्रियाशीलता ही न दिखलाई पडे।

---

1. Complex 2. Emotion.

हमारी अतृप्त इच्छाओ तथा भावना-ग्रन्थियो का हमारे चरित्र पर वहुत प्रभाव पडता है। हमारे पूरे रहन-सहन पर उसकी छाप रहती है। कुटुम्ब मे इकलौते बालक के दृष्टान्त से हम इस ग्रन्थि को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। इकलौते बेटे का वहुत लाड-प्यार किया जाता है। उसकी प्रत्येक इच्छा को पूरी करने की चेष्टा की जाती है। यदि वह चश्मे के साथ खेलने का हठ करता है तो उसे पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाती है। जिन खिलौनो को वह माँगता है उन्हे वाजार से खरीद कर उसे दिये जाते है। यदि वह प्रात:काल होते ही पूडी खाने की इच्छा प्रकट करता है तो उसके लिये पूडी बनाई जाती है। यदि वह किसी आकर्षक पुस्तक को लेने के लिये अड जाता है तो वह पुस्तक उसे फाडने के लिये दे दी जाती है, परन्तु दूसरे पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर माता-पिता की मानसिक स्थिति मे बहुत परिवर्तन आ जाता है। अब बडे पुत्र पर उतना ध्यान नही रहता। उनका ध्यान छोटे बच्चे की ओर अधिक खिच जाता है। इसका वडे बच्चे पर वहुत प्रभाव पडता है। वह वडा ऊधम मचाता है। वह शरारत और हठ के बल पर अपनी इच्छाओ की पूर्ति चाहता है। अपनी इच्छाओ की पूर्ति न देख वह कुछ दिन के वाद चुप हो जाता है। इसका यह तात्पर्य नही कि उसकी इच्छा का लोप हो गया, अपितु उसकी इच्छा एक सवेगात्मक धक्के[1] के कारण 'अज्ञात-चेतना' मे निवास करने चली गई। वही पर वह अपनी भावना-ग्रन्थि बनाती है। इसका बालक के चरित्र पर वडा प्रभाव पडता है।

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिये। यदि बालक अपने घर मे अत्याचार देखता है तो उसके चरित्र पर उसका वहुत बुरा प्रभाव पडता है। मान लीजिये, वालक की माँ ऐसी दु:खद परिस्थिति मे है कि वालक की साधारण इच्छाओ की भी वह पूर्ति नही कर सकती, अथवा माँ विधवा हो गई है और अपने को दूसरे पर आश्रित समझती है। उसकी इस मनोवृत्ति का उसके व्यवहार पर वडा प्रभाव पडेगा, और उसके व्यवहार की छाप बालक पर पडे विना न रहेगी। फलतः वालक महा डरपोक हो जाता है और वात-वात मे रोना सीख लेता है, या हठी हो जाता है—इसकी प्रतिक्रिया उसके व्यवहारो मे स्पष्ट दिखलाई पडती है—उदाहरणार्थ, आवेश मे कभी-कभी वह अपने कपडे फाड डालता है और कभी हाथ मे ली हुई वस्तु को झट पटक देता है। यदि घर का मालिक वात-वात मे तडपता है या व्यर्थ मे ही क्रोध के आवेश मे वालक को 'मूर्ख' की सज्ञा दिया करता है तो इसका उसकी कोमल भावनाओ पर वडा ही आघात पड़ता है। फल यह होता है कि वालक निराशावादी हो जाता है और उत्कृष्ट बुद्धि रखते हुए भी मन्द बुद्धि का हो जाता है। यदि सौभाग्यवश आगे चल कर वालक की किसी ऐसे मनस्वी से भेंट हो जो उसे आत्म-विश्वास का सन्देश दे सके तभी वालक का कल्याण हो जाता है, अन्यथा नही।

---

1. Emotional Shock.

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह हुआ कि बालक के सभी असामान्य व्यवहारो की अपनी अलग-अलग रामकहानी होती है। उसके 'निराशावाद', 'हठ'; तथा निर्बलता के अन्दर घुस कर यदि उसके 'अज्ञात-चेतना' की दीवार तोडी जाय तो बालक निर्दोष सिद्ध होगा और उसकी प्रत्येक दोष के लिये उसके अभिभावक या शिक्षक ही उत्तरदायी दिखलाई पडेगे।

फ्रॉयड की कुछ कल्पनाएँ सारभूत प्रतीत होती है। वह मनुष्य के सभी व्यवहारो मे एक 'प्रयोजन' देखता है। उसके अनुसार हमारे सभी काम किसी न किसी प्रयोजन से अभिप्रेरित होते है। वह स्वाभाविक कार्यो को भी इच्छा-पूर्ति का आधार मानता है। उसका विश्वास है कि मानसिक रोगी अपनी प्रतिरुद्ध इच्छाओ के कारण ही विकल रहता है। पर इसका उसे कुछ पता नही। किसी मानसिक रोग का लक्षण रोगी की निर्बलता के कारण नही दिखलाई पडता। परन्तु किसी इच्छा-पूर्ति के प्रयत्न मे ही वह स्पष्ट दिखलाई पडता है। फ्रॉयड की इस उक्ति से सहमत होना कठिन है। पर उसने अपने परीक्षणो से यह सिद्ध कर दिया है कि 'अन्धापन' या 'वात रोग' का स्वागत, किसी सामाजिक अथवा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से बचने के लिये किया जा सकता है। इसके प्रमाण मे फ्रॉयड का एक परीक्षण बडा ही मनोरजक है। एक स्त्री अपने बूढे पिता की सेवा बडी श्रद्धा के साथ करती थी। उसका एक युवक से प्रेम था। उसके साथ वह विवाह कर ग्राहस्थ्य जीवन व्यतीत करना चाहती थी। परन्तु पिता की 'सेवा करना' उसके मार्ग मे बाधक था। फलत इस सेवा के विपक्ष मे उसमे कुछ भाव उत्पन्न हुआ। पिता के साथ उसकी बडी श्रद्धा थी। अत इस भाव का 'ज्ञात-चेतना' मे रहना कठिन था। अत यह भाव 'अज्ञात-चेतना' मे जा टिका। कुछ दिन बाद वह स्त्री वात रोग से पीडित होकर अपग हो गई। फ्रॉयड ने अपनी विधि के अनुसार उसकी परीक्षा की। 'मोहनिद्रा' और 'स्वतन्त्र-साहचर्य' के सहारे स्त्री ने यह स्वीकार किया कि वह अपनी 'अज्ञात-चेतना' मे पिता की सेवा के व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से बचना चाहती थी। फलत 'अज्ञात-चेतना' के सहारे वात रोग से पीडित होकर अपग हो जाना उसे सुखद प्रतीत हुआ।

हमारे बोलने अथवा लिखने मे बहुधा भूल हो जाया करती है। हम 'लकडी' लिखना चाहते है पर 'लडकी' लिख देते है, 'नदी' लिखने की जगह 'नाँद' लिख देते है, 'पिता' के स्थान पर 'भाई' पुकार देते हैं। हम चाहते कुछ और हैं पर कलम अथवा मुँह से कुछ और ही निकल जाता है। इसका क्या कारण है ? फ्रॉयड के पहले लोगो का विचार था कि भूले सयोगवश हो जाती हैं। इनका कुछ कारण नही। परन्तु फ्रायड कहता है कि ऐसी बात नही। क्या कारण है कि त्रुटियाँ कुछ विशेष अवसरो पर ही होती हैं और दूसरे समय पर नही ? फ्रॉयड की धारणा है कि प्रत्येक मानसिक क्रिया

का एक पूर्व निश्चित कारण होता है। उसने वहुत-सी त्रुटियों का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया और प्रत्येक की जड मे कुछ न कुछ प्रयोजन छिपा देखा। एक व्यक्ति ने 'विश' (इच्छा) के स्थान पर 'फिश' (मछली) लिख दी। विश्लेषण के बाद पता चला कि मछली (फिश) खाने की उसकी वडी इच्छा (विश) रहती थी। पर उसके पिता इसके वडे विरोधी थे। अत. वह अपनी इच्छा की पूर्ति नही कर पाता था। इसलिये वह वहुधा 'विश' के स्थान पर 'फिश' लिख दिया करता था। इसी प्रकार 'भूलने' की जड़ मे फ्रॉयड कुछ न कुछ प्रयोजन के छिपे रहने की वात कहता है।

स्वप्न के विपय मे फ्रॉयड के अपने अनोखे विचार हैं। वह 'स्वप्न' को व्यक्ति की भूतकाल की अनुभूतियो का प्रतिबिम्व वतलाता है। पूर्वकाल के मनोवैज्ञानिको ने इसके कारण की खोज पर विशेष परिश्रम नही किया था। उनकी धारणा थी कि स्वप्न स्वत. अकारण हुआ करता है। फ्रॉयड प्रत्येक 'स्वप्न' में एक न एक कारण खोजना चाहता है। वह पूछता है कि हम क्यो ऐसा स्वप्न देखते हैं—वैसा क्यो नही देखते ? उसकी धारणा है कि अपनी जागृत अवस्था मे वालक अपने भविष्य के कार्य-क्रम के वारे मे जो सोचता है अथवा जागते समय दिन मे वह जो कुछ करना चाहता है उसी के वारे मे वह अपनी स्वप्नावस्था मे देखता है। पर नवयुवको के स्वप्नों के विषय में उसका विचार भिन्न है। वह सोचता है कि उनके स्वप्नो मे आई हुई इच्छाएँ 'अवदमित'[1] हो सकती है। परन्तु उनके स्वप्नो को भी इच्छापूर्ति का एक साधन ही वह मानता है, क्योकि स्वप्न मे आये हुए विभिन्न 'प्रतिरूप' अथवा 'सँकेत'[2] से हम इसका कुछ अनुमान कर सकते हैं, या हम यह समझ सकते हैं कि निहित इच्छा अपनी 'पूर्ति' की चेष्टा मे है।

फ्रॉयड का कथन है कि किसी 'कारण' अथवा 'इच्छा' को समझने के लिये हमे व्यक्ति के भूतकाल के अनुभवो की ओर जाना चाहिये। हमारी 'त्रुटियाँ' और 'स्वप्न' वर्तमान काल की इच्छा की पूर्ति नही करते, अपितु 'अज्ञात-चेतना' मे छिपी हुई भूतकाल की इच्छा को पूरी करने की चेष्टा करते है। एक वर्प के वच्चे का अध्य-यन भी वह इसी सिद्धान्त के अनुसार करता है। वह वच्चे के भूतकाल का भी सूक्ष्मतम अन्वेषण करना चाहता है। यही पर फ्रॉयड, एडलर तथा यू ग मे सिद्धान्तत विरोध दिखलाई पडता है। अन्य दो मनोविश्लेषण-वादियो से भिन्न फ्रॉयड यह सोचता है कि जो कुछ एक वार अनुभव कर लिया गया उसे भुलाया नही जा सकता। वह सदा व्यक्ति में उपस्थित रहता है और समय-समय पर स्वप्न अथवा और दूसरे रूप मे अपना परिचय दिया करता है। फ्रॉयड यह भी कहता है कि एक वार की अनुभव की हुई इच्छा व्यक्ति मे सदा के लिये घर कर लेती है।

---

1. Repressed. 2. Symbol,

भावना-गन्थियाँ केवल इच्छाओ के अवदमन से ही नही वनती। यह आवश्यक नही कि वे सदैव बुरी ही हो अथवा अच्छी हो। विभिन्न परिस्थितियों की रगड़ में आने से हमारे मस्तिष्क मे वचपन से ही सवेग की लहरे उठा करती हैं। इन लहरो से हमारी 'अज्ञात-चेतना' मे 'गुत्थियाँ' अथवा 'भावना-ग्रन्थियाँ' वनती रहती हैं। वचपन में किसी ने कह दिया कि अमुक इमली के पेड के नीचे प्रेत का निवास है, अथवा अमुक 'भीटे' पर 'चुडैल' रहती है। वस क्या पूछना ? अव जीवन भर के लिये मस्तिष्क मे यह भावना आ गई। हम जव-जव उस 'पेड' या 'भीटे' से होकर आयेंगे तव-तव हमे उस 'प्रेत' ग्रोर 'चुड़ैल' का ध्यान आ जायगा, चाहे दृढ होने के कारण हम उनसे भले ही न डरें, पर कलेजा एक वार धडक तो जायगा ही। इसी भाँति वहुत सी वातो के लिये वचपन मे ही 'भावना-ग्रन्थियाँ' पड जाती हैं। बचपन में जो ग्रन्थियाँ पड जाती हैं उनसे पीछा छुडाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। 'भावना-ग्रन्थि' की गति स्वाभाविक होती है। वह अपने आप वन जाती है, और उसी के अनुसार हमारा स्वभाव भी वनता रहता है।

फ्रॉयड की धारणा है कि 'अज्ञात-चेतना' मे छिपे हुए प्राय सभी विचार 'काम-सम्वन्धी'[1] होते हैं। प्रत्येक वालक में 'काम-सम्वन्धी' भावना बचपन से ही आने लगती है। वालक माता की ओर झुकता है और वालिका पिता की ओर। जव तक वच्चा अवोध रहता है तव तक इस झुकाव में कोई वाधा नही पहुँचती। पर वडा होने पर माता वालक से कुछ दूर हटने लगती है और उसे अपना दूध पिलाना पसन्द नहीं करती। माता-पिता के परस्पर व्यवहार को देख कर वह ईर्ष्या करता है और सोचता है कि मैं भी वैसा ही व्यवहार क्यो न करूँ! पर वालक अपने इस विचार मे सफल नही होता। फलत वह पिता को अपना प्रतिद्वन्दी मान वैठता है। उसके मन में एक द्वन्द उपस्थित हो जाता है। फ्रॉयड का कथन है कि अपनी अवदमित इच्छा की पूर्ति के लिये वालक कई प्रकार से प्रयत्न करता है। अगूठा चूसने, पेशाव करने व मल त्याग इत्यादि मे फ्रॉयड को वालक की काम-भावना का प्रतिविम्व दिखलाई पडता है। इतना ही नही, अपितु, वालक अपना सारा कार्य काम-भावना[2] से ही प्रेरित होकर करता है। वाद मे वालक की काम-भावना गुह्य अगो तक ही सीमित होने लगती है। वालक अपने गुह्य अँगो को स्पर्श करने लगता है। इसमे वह आनन्द का अनुभव करता है। माता-पिता इस बुरी वादत को छुडाने के लिये उसे दण्ड देते है। यही पर वालक की भावना का अवदमन प्रारम्भ हो जाता है। 'काम-भावना' तो अवदमित हो ही नही सकती। अत वह दूसरी प्रकार से वाहर निकलने लगती है। इसका अनुमान वालक-व्यवहार के सूक्ष्मतम अध्ययन से लग सकता है। वालक अन्त मे अपने को ही आदर्श मानने लगता है। वह

1. Sexual. 2. Libido.

सोचता है कि अपने पिता के समान वह अवश्य ही हो जायगा, इसके साथ ही साथ उसके मन मे यह भी विचार आने लगता है कि उसे अपने पिता का प्रतिद्वन्दी नही होना है। बालक की ऐसी मानसिक स्थिति को फ्रॉयड ने इडीपस[1] भावना-ग्रन्थि, की सज्ञा दी है। फ्रॉयड का अनुमान है कि प्राय: सभी मानसिक रोगी 'इडीपस भावना-ग्रन्थि' के भयानक शिकार होते है।

एडलर (१८७०–१९३७) :

एडलर ने फ्रॉयड के साथ बहुत दिनो तक काम किया। परन्तु सन् १९१२ मे यह स्पष्ट हो गया कि फ्रॉयड से उसका सिद्धान्तत. विरोध है। वह उसके सभी निष्कर्षो को मानने के लिये तैयार नही था। एडलर का विचार है कि फ्रॉयड ने 'काम-भावना' को व्यर्थ ही मे बहुत अधिक महत्त्व दिया है। वह 'काम-भावना' को जीवन की प्रधान शक्ति मानने को तैयार नही। उसके अनुसार किसी व्यक्ति को अपने जीवन मे 'समाज', 'जीवन-वृत्ति' तथा 'प्रेम'-सम्बन्धी परिस्थितियो का विशेष रूप से सामना करना होता है। जीवन के इस सघर्ष मे उसे बडे कटु अनुभव हुआ करते हैं। कभी वह अपनी निजी निर्बलता के कारण सफलीभूत नही होता और कभी किसी वाह्य परिस्थिति के वश उसे धक्का खाना पडता है। प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व की रक्षा करना चाहता है। प्रत्येक चाहता है कि लोग उसका लोहा माने। अपनी असफलता किसी को सहन नही होती। अत व्यक्ति किसी न किसी प्रकार अपने को बडा बनाना चाहता है। यदि वह वस्तुत बडा न हुआ तो कभी-कभी वह अपने को बडा दिखलाने का ढोग रचता है। यदि अपना मान बचाने मे वह सफल न हुआ तो उसके व्यवहार मे एक विचित्र कृत्रिमता आ जाती है। कोई भी समझदार व्यक्ति उसे देख कर तुरन्त कह देगा कि उसका 'दिमागी पुरजा'[2] (स्क्रू) कुछ ढीला है। हमे बहुधा ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो सदा अपनी ही प्रशसा किया करते है। जब तक वे रहेगे अपने ही बारे मे लम्बी चौडी हॉकेंगे। हम कभी-कभी कहते है कि अमुक व्यक्ति बडा घमण्डी है। वास्तव मे घमण्ड दिखलाना, या 'अपनी प्रशसा करते रहना' अपने को छोटा समझने का स्पष्ट प्रमाण है। ऐसे व्यक्ति सदैव 'आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि'[3] से आक्रान्त रहते हैं। उनकी दिन पर दिन अवनति ही होती जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति मे 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा' रहती है। इसी 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा' को एडलर

---

1 Oedipus Complex. इडीपस यूनानी पौराणिक कथा का एक वीर है। उसने भूल से पिता की हत्या कर अपनी माता से विवाह कर लिया था। चार बच्चे पैदा हो जाने के बाद जब उसे सत्य का पता चला तो उसने अपनी आखे निकलवा दी और बहुत दिनों तक कष्ट झेलना पसन्द किया।

2 Screw. 3 Inferiority Complex.

जीवन-कार्यों का प्रधान आधार मानता है। वह 'काम-भावना' को यह स्थान देने को तैयार नही। एडलर का कथन है कि विषम परिस्थितियो के कारण हमारी इस 'अभिलाषा' की पूर्ति में बहुधा कठिनाइयाँ आती रहती हैं।

एडलर के अनुसार वास्तव में प्रत्येक मानसिक रोगी सदा 'हीनता' की भावना से बचना चाहता है। वह अपने को दूसरो की आँखो मे ऊँचा उठाना चाहता है। यहाँ एडलर और फ्रॉयड के सिद्धान्तो की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। पहले, एडलर सभी मानसिक रोगियो को एक ही श्रेणी में रख देता है। दूसरे, उसके रोग का कारण कोई 'अपराध'[1] न होकर रोगी की 'हीनता की भावना' होती है। तीसरे, रोगी का उद्देश्य काम-भावना की तृप्ति नही, अपितु 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा' होती है। फ्रॉयड के 'अन्त करण[2] सिद्धान्त' को एडलर वास्तविकता को छिपाने का एक साधन मात्र मानता है। फ्रॉयड के अनुसार 'हीनता की भावना' से बचने के लिये व्यक्ति अपनी काम भावना की तृप्ति के लिये कल्पित भावनाओ का सहारा लेता है। एडलर के अनुसार व्यक्ति 'हीनता की भावना' से बचने के लिये एक अपना विचित्र 'जीवन-ढग'[3] अपनाता है। इसकी सहायता से वह अपने को दूसरो की आँखो मे ऊँचा उठाना चाहता है। ऐसा व्यक्ति ठीक रास्ते को नही पकड पाता। उसका जीवन-पथ सदा भ्रमात्मक बना रहता है। उसे कुछ भी सफलता नही मिलती। एडलर का कथन है कि प्रत्येक मानसिक रोगी के सामने यह विकट समस्या रहती है कि वह कैसा आचरण करे कि एक उच्च 'जीवन-ढग' बनाने मे वह सफल हो। अपनी इस धुन में वह वास्तविकता से सदा एक हाथ दूर ही रहता है।

बच्चे को बहुत पहले से ही अपनी 'हीनता' का आभास मिल जाता है। वह अपने कुछ प्रथम वर्षों में ही अपना 'जीवन-ढग' बना लेता है और तदनुसार चलने की चेष्टा करता है। एडलर का कथन है कि बचपन मे जो 'जीवन-ढग' आ गया उसकी छाप अमिट हो जाती है। शिक्षा के कारण, सम्भव है, उसमे कुछ परिवर्तन आ जाय, पर उसकी मुहर गहनतम अध्ययन करने वालो को अवश्य मिल जाती है। घर तथा बाहर जिन-जिन परिस्थितियो का बालक को सामना करना पडता है। उन सब का उसके 'जीवन-ढग' बनाने मे हाथ रहता है। 'वशानुक्रम'[4] का योग इसमे बहुत ही कम रहता है। किसी बहुत ही योग्य पुरुष का पुत्र यह सोच सकता है कि उसे 'अपने पिता मे ऐसी सफलता कभी प्राप्त न होगी'। इस प्रकार उसमे 'हीनता की भावना' का प्रवेश हो जायगा। इस प्रकार किसी भिक्षुक का लडका याचना-वृत्ति को ही अपना जीवन का उद्देश्य बना सकता है और उससे ऊपर उठने की सामर्थ्य की अपने मे कल्पना ही नहीं कर सकता। माता-पिता द्वारा बिगाडा हुआ बालक हठी हो जाता है और चाहता है कि

---

1 Guilt. 2 Ego 3. Style of life 4. Heredity

सब लोग उसकी आज्ञा मानने को तैयार रहे। इसके विपरीत बेचारा उपेक्षित बालक सदा अपना मुँह ही चुराता फिरता है। वह चाहता है कि उसे कोई देख न ले। ज्येष्ठ लडका इस घमण्ड मे रहता है कि वह तो मालिक है। मझला अपने बडे भाई से ऊपर उठना चाहता है। उसे अपनी योग्यता के प्रमाण देने की ही सदैव चिन्ता लगी रहती है। सबसे छोटे लडके का क्या पूछना ? उसे तो सभी हथेली पर लिये रहते हैं। फलत. उसके निकम्मे हो जाने मे कम सन्देह रहता है। एकलौता लडका तो मानो अठारहवी शताब्दी का नवाब बना बैठा रहता है। उसके सकेतो पर नाचने के लिये सदैव किसी न किसी को तैयार रहना चाहिये। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वातावरण और विशेषकर प्रारम्भिक कौटुम्बिक वातावरण 'जीवन-ढग' के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी है।

एडलर सबसे पहले रोगी के 'जीवन-ढग' का पता लगाना चाहता है; क्योकि बचपन मे जो 'जीवन-ढग' पड जाता है वह प्राय. उसी या कुछ परिवर्द्धित रूप मे बाद मे भी चलता रहता है। कुटुम्ब की परिस्थितियो के अध्ययन से भी रोगी के गत जीवन का कुछ आभास हमे हो सकता है। इस प्रकार हमे उससे उसकी 'रुचि' और 'अरुचि' का पता चल सकता है। हम यह जान सकते है कि उसे कैसी पुस्तकों के पढने की धुन थी और वह कैसे 'चरित्रों' को पसन्द किया करता था। हमे यह भी अनुमान हो सकता है कि प्रारम्भ मे उसका झुकाव किस जीवन-वृत्ति की ओर था। एडलर का कथन है कि रोगी की प्रत्येक गति मे उसके जीवन-ढग की मुहर है। वह किस प्रकार बैठता है, उठता है, खडा होता है, सोता है, चलता है, दौडता है, बातचीत करता है तथा उँगलियो और हाथ को बातचीत करते समय कैसे नचाता है इत्यादि बातों से रोगी के चरित्र का ठीक-ठीक अध्ययन किया जा सकता है। जो पीठ के बल बिलकुल सीधा सोता है उसमे अपने को बडा दिखलाने की भावना पाई जा सकती है। जो मुँह ढक कर सिकुड कर सोता है उसमे डरपोक होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जो पेट के बल सोता है वह बहुधा हठी होता है—उसमे तथ्य की मात्रा कम रहती है। इस प्रकार की व्याख्या से एडलर यह दिखलाना चाहता है कि 'जीवन-ढग' की हमारे प्रत्येक कार्य मे प्रधानता रहती है। अत रोगी के 'जीवन-ढग' के अध्ययन से विश्लेषणवादी को बडी सहायता मिल सकती है।

एडलर फ्रॉयड के स्वप्न-सिद्धान्त से सहमत नही। उसके अनुसार स्वप्न हमारी गत इच्छाओ की ओर सकेत नही करते। उनका सम्बन्ध भविष्य से होता है। हम जो कुछ आगे करना चाहते है उसका प्रतिबिम्ब हमारे मस्तिष्क मे आ उपस्थित होता है, और वही स्वप्न मे दिखलाई पडता है। यहाँ भी व्यक्ति के 'जीवन-ढग' की छाप दिखलाई पडती है। जो समस्याएँ हमारी जागृत अवस्था मे हल नही होती वे

स्वप्न में अपना रूप दिखलाती हैं। अतः स्वप्न के अध्ययन से हम उन समस्याओं के प्रति व्यक्ति के मानसिक रुख का अनुमान लगा सकते हैं। परन्तु एडलर की यह बात सदा सत्य होती नही दिखलाई पड़ती, क्योंकि हमारा अनुभव है कि स्वप्न कभी-कभी गत घटनाओं की ओर भी संकेत करते है।

एडलर के सिद्धान्त हमें फ्रॉयड से अधिक सबद्ध दिखलाई पडते हैं। परन्तु एडलर फ्रॉयड की तरह बहुत गहरे में डुबकी नही लगाता। एडलर 'अज्ञात-चेतना' को 'ज्ञात-चेतना' का एक अंग मानता है। वह इनमे कोई विरोध नही देखता। उसके अनुसार दोनो एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और दोनो का उद्देश्य भी एक ही है। व्यक्ति अपनी 'अज्ञात-चेतना' में तो 'हीनता की भावना' का अनुभव करता है, परन्तु 'ज्ञात-चेतना' मे अपने को श्रेष्ठ दिखलाने की चेष्टा करता है। अत. ये दोनो भावनाएँ साथ मिल कर उसे आगे बढाती हैं। व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार मे 'अज्ञात' और 'ज्ञात' दोनो चेतनाओं का अपना-अपना हाथ रहता है। दोनो अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार व्यक्ति को गतियुक्त बनाती हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि एडलर के सिद्धान्त हमे कुछ ऐसी बाते देते हैं जिनकी सार्थकता हमारे जीवन मे स्पष्ट दिखलाई पडती है। वे कुछ परिस्थितियो पर प्रकाश डालते हैं जिससे हमारे आगे का पथ कुछ स्पष्ट हो जाता है। एडलर के सिद्धान्त का केन्द्र इसी बात पर है कि व्यक्ति अपनी निर्बलता को छिपाने तथा श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिये एक अपना अनोखा 'जीवन-ढंग' अपनाता है। यही कारण है कि एडलर के मनोविज्ञान को 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' (इण्डीविड्अल साइकॉलॉजी) भी कहते हैं। एडलर के निष्कर्ष कुछ अंगो मे फ्रॉयड से अधिक लाभप्रद सिद्ध हुए हैं। फलत शिक्षा पर उनका पर्याप्त प्रभाव पडा है।

यूङ्ग[1] (१८७५—)—

मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय के तीसरे प्रमुख व्यक्ति यूङ्ग माने जाते है। यूङ्ग के सिद्धान्त फ्रॉयड और एडलर दोनो से भिन्न दिखलाई पडते हैं। वस्तुत. यूङ्ग के विचार मनोवैज्ञानिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक दिखलाई पडते हैं। फ्रॉयड की भाँति वह मानता है कि 'ज्ञात-चेतना' ही मानसिक जीवन का सर्वेसर्वा नही है। वह 'अज्ञात-चेतना' को भी स्वीकार करता है, अपितु उसे 'ज्ञात-चेतना' से अधिक विस्तृत और महत्वपूर्ण मानता है। परन्तु यूङ्ग के ऐसा सोचने का कारण फ्रॉयड से भिन्न हैं। वह ऐसा सोचता है, क्योंकि 'अज्ञात-चेतना' वास्तविकता के सम्पर्क मे नही आई है। उसका कथन है कि 'अज्ञात-चेतना' मे केवल 'ज्ञात-चेतना' द्वारा अवदमित विचारो का ही जमघट नही है, प्रत्युत वहाँ कुछ ऐसे भी विचार हैं जिनका व्यक्ति के निजी अनुभव मे

---

1. Jung, C. G.

कोई सम्बन्ध ही नही । वे अनुभव बहुत ही प्राचीन और सार्वलौकिक रूप के होते हैं। उनकी व्याख्या केवल जातिगत स्मृति के आधार पर ही की जा सकती है। यूङ्ग 'अज्ञात-चेतना' को ज्ञात-चेतना का क्षति-पूरक समझता है। यदि कोई व्यक्ति 'ज्ञात-चेतना' मे भीरु है तो वह अपनी 'अज्ञात-चेतना' मे साहसी और वीर हो सकता है। यदि 'ज्ञात-चेतना' मे हम अपने को दृढ समझते हैं तो 'अज्ञात-चेतना' मे निर्बल हो सकते है। 'अज्ञात-चेतना' के अन्तर्गत बुरे और अच्छे दोनो प्रकार के अश मिलते है। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि व्यक्ति का अपने विषय मे जो अनुमान होता है उससे वह बुरा अथवा अच्छा हो सकता है।

जातिगत स्मृति को भी यूङ्ग 'अज्ञात-चेतना' का एक अङ्ग ही मानता है। परन्तु यह स्मृति ऐसी है जो 'अज्ञात-चेतना' पर प्रभाव डाला करती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के अनुभव तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त सभी प्रकार की अनुभूतियाँ आ जाती हैं। व्यक्ति का इसे समझना सरल नही। साधारण अन्त प्रेक्षण अथवा स्मृति के दौडाने मात्र से उसका समझना कठिन है। इस प्रकार यूङ्ग मानसिक जीवन का एक अस्पष्ट चित्र सामने उपस्थित करता है। इस चित्र मे दो भिन्न-भिन्न वस्तुओ का समागम दिखलाई पडता है।

यूङ्ग और बर्गसन[1]—

यूङ्ग काम-भावना[2] को 'जीवन का एक आवेग'[3] मानता है। यह आवेग सदैव स्थायी रहता है। यूङ्ग का यह दृष्टिकोण बर्गसन के 'जीवनी शक्ति'[4] से मिलता हुआ दिखलाई पडता है। यह आवेग हर एक व्यक्ति मे स्वाभाविक होता है। यूङ्ग का कहना है कि विकास की क्रिया मे काम-भावना के कई ऐसे अग हो जाते हैं जो काम-सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे भी उपयोग मे लाये जाते है। इन अन्य क्षेत्रो के अन्तर्गत परोपकार की भावना भी आ सकती है। यूङ्ग कहता है कि काम-भावना के कुछ अग परोपकार मे भी काम आ सकते हैं। उसके अनुसार परोपकार की प्रवृत्ति उतनी ही स्वाभाविक और प्राचीन है जितनी कि 'अहकार की भावना', क्योकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यूङ्ग की इस धारणा के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि 'नैतिकता' उतनी ही 'प्राचीन' है जितनी कि स्वय 'मानव जाति'। यहाँ यूङ्ग फ्रॉयड का स्पष्ट विरोधी दिखलाई पडता है। फ्रॉयड का मत है कि व्यक्ति में जो वास्तविक द्वन्द चलता है वह अज्ञात-चेतना मे स्थिति काम-भावना और ज्ञात-चतना की सामाजिक रूढियो मे चलता है। इसके विपरीत यूङ्ग का मत है कि बिना किसी वाह्य प्रभाव के व्यक्ति मे द्वन्द चला करता है।

---

1 Bergson. 2. Libido. 3. Life Impulse. 4. Elan vital

यूङ्ग के अनुसार स्वप्न का रूप—

फ्रॉयड के अनुसार 'स्वप्न' भूतकाल की ओर संकेत करते हैं। यूङ्ग के अनुसार हमारी सभी मानसिक क्रियाएँ किसी प्रयोजन के कारण चलती हैं। बिना किसी अभिप्राय के हमारे मानसिक जीवन मे गति आती ही नही।। अत. यूङ्ग कहता है कि 'स्वप्न' केवल भूतकाल की ही ओर सकेत नही करता, वरन् वह वर्तमान और भविष्य की वातो पर भी प्रकाश डाल सकता है। अज्ञात-चेतना तो ज्ञात-चेतना की क्षतिपूरक है। अत. स्वप्न मे एक शोधक प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही दिखलाई पडता है। यूङ्ग फ्रायड से केवल अंशत' सहमत होता है और कहता है कि स्वप्न मे हम किसी 'नीति' की ओर सकेत पा सकते हैं। यूङ्ग अपने स्वप्न-विश्लेषण-क्रिया मे फ्रॉयड की स्वतन्त्र-साहचर्य विधि का उपयोग करता है। वह कहता है कि मानसिक रोगियों के स्वप्नो मे हम उनकी उन्नति की अवदमित अभिलाषा का आभास पा सकते हैं। इतना ही नही, अपितु यूङ्ग इससे भी आगे जाता है। वह कहता है कि स्वप्न मे हम व्यक्ति की केवल अवदमित अभिलाषाओ का ही चित्र नही पाते, प्रत्युत उसमे उसकी भावी उन्नति की प्रगति भी पहचानी जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यूङ्ग ने फ्रॉयड और एडलर के कार्य को आगे ही वढ़ाया है। वस्तुत उसके विचारो मे हम दोनो का सामञ्जस्य पाते हैं। यूङ्ग के अनुसार व्यक्ति दो प्रकार का होता है। इस वर्गीकरण को 'मनोवैज्ञानिक[1] प्रकार' की सज्ञा दी गई है। जो व्यक्ति एडलर के विचारानुसार श्रेष्ठता प्राप्त करने की धुन मे रहता है वह सदा अपने ही विषय मे सोचा करता है। परन्तु फ्रॉयड के अनुसार व्यक्ति काम-भावना से प्रेरित होकर अपना सारा ध्यान अपनी प्रेम-वस्तु पर लगा देता है। पहले व्यक्ति का सारा विचार अपने ही विषय मे होता है। वह वहुधा अन्त.प्रेक्षण मे मग्न रहता है। अत यूङ्ग ने उसे 'अन्तर्मुख'[2] की सज्ञा दी है। दूसरे प्रकार के व्यक्ति को 'वहिर्मुख'[3] कहते हैं, क्योकि उसका ध्यान विशेपकर वाह्य वस्तुओ पर रहता है। वहिर्मुख काम-भावना से प्रेरित होने के कारण भावना से वशीभूत रहता है। अन्तर्मुख श्रेष्ठता प्राप्त करने की चेष्टा मे विचार-प्रधान हो जाता है।

व्यक्तियो का उपर्युक्त वर्गीकरण ठीक नही जान पडता, क्योकि सभी व्यक्ति केवल दो ही कोटि मे नही रखे जा सकते। यूङ्ग इस कठिनाई का अनुभव कर रहा था। अत' उसने एक तीसरे प्रकार के व्यक्ति की भी चर्चा की है। इसका नाम उसने 'उभयमुख'[4] दिया है। 'उभयमुख' घडी के लगर की तरह 'अन्तर्मुख' और 'वहिर्मुख' के वीच मे हिला करता है। उसके विचार का केन्द्र न तो 'प्रेमवस्तु' ही होती है, और न वह केवल 'अपने' पर ही अपना विचार केन्द्रित करता है। अपने इस सिद्धान्त को

१. Psychological Type. 2. Introvert. 3. Extrovert. 4. Ambivert.

यूङ्ग ने बहुत विस्तृत बनाया है और इसके अन्तर्गत उसने भावना-प्रधान, विचार-प्रधान, संवेदना-प्रधान तथा अर्न्तदृष्टि-प्रधान आदि प्रकार के व्यक्तियो का उल्लेख किया है। यूङ्ग का कहना है कि ऐसे व्यक्ति 'अन्तर्मुख' और 'बहिर्मुख' दोनो श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। यूङ्ग के इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या व्यक्तित्व नामक तेरहवे अध्याय मे की जायगी।

मनोविश्लेषणवाद और शिक्षा—

वर्तमान शिक्षा पर मनोविश्लेषणवाद का बहुत ही प्रभाव पडा है। मनोविश्लेषणवाद विशेषकर 'अज्ञात-चेतना' का विवेचन करता है। ऊपर हम यह देख चुके हैं कि प्राय हमारी सभी क्रियाओ पर 'अज्ञात-चेतना' की छाप रहती है। कभी-कभी हम अनायास कुछ काम कर बैठते हैं। कभी-कभी बालको का व्यवहार ऐसा होता है कि उसे समझना असम्भव-सा जान पड़ता है। परन्तु मनोविश्लेषणवाद की सहायता से अब इन सब समस्याओ का समाधान होने लगा है। शिक्षक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह 'अज्ञात-चेतना' के प्रभाव को समझे। इसके जाने बिना बालको को वह उचित रास्ता नही दिखला सकता। किसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को अच्छे पथ पर तभी लगाया जा सकता है जब व्यक्ति की 'अज्ञात-चेतना' की गहराई नापी जा सके। माता-पिता अथवा अभिभावको के अमनोवैज्ञानिक व्यवहार से बालको के मन मे विभिन्न प्रकार की हानिकारक ग्रन्थियाँ पड जाती है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये इन ग्रन्थियो का दूर करना आवश्यक है। पर इन ग्रन्थियो को समझना तथा दूर करना मनोविश्लेपणवाद की सहायता से ही सम्भव है। मनोविश्लेपणवाद के सिद्धान्तो से यह स्पष्ट हो गया है कि बालक गलती नही करते। उनकी सभी गलतियो के लिये उनके अभिभावक और शिक्षक ही उत्तरदायी है। उनके स्वाभाविक कार्यो मे बाधा पडने से ही वे हठी, चचल अथवा उदण्ड हो जाते हैं। इन सब बातो का अकाट्य प्रमाण देकर मनोविश्लेपणवाद ने, वास्तव में, बालको का बडा कल्याण किया है। अब शिक्षा-क्षेत्र मे बालको के प्रति सहानुभूति की ध्वनि सर्वत्र सुनाई पडती है। इसका श्रेय विशेषकर मनोविश्लेपणवाद को ही है।

अज्ञात-चेतना मे छिपे हुए विचारो को बाहर निकालने का उत्तरदायित्व शिक्षा पर ही है। माता-पिता तथा अभिभावक कदाचित् इसमे विशेप सफलता प्राप्त न कर सके, क्योकि उनकी स्थिति ऐसी है कि बालक उनके आगे अपने हृदय के उद्गार निकालने मे सकोच कर सकता है। शिक्षक के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही। यदि उसका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण है तो बालक अपनी भावना-ग्रन्थियो की व्याख्या उनके सामने स्वत' कर देगा। परन्तु शिक्षक को यहाँ अपने कर्त्तव्य को समझना है। उसे बालक की 'अज्ञात-चेतना' को उसकी ज्ञात-चेतना के नियन्त्रण मे लाना है। ऐसा करने से उनका बुरा प्रभाव

जाता रहेगा और बालक के व्यक्तित्व के विकास के क्षेत्र से एक भारी अडचन दूर हो जायगी। मूल-प्रवृत्तियो को ज्ञात-चेतना के नियन्त्रण मे लाने से ही शिक्षा का कुछ प्रयोजन समझा जा सकता है, अन्यथा नही। 'अज्ञात-चेतना' के सामने 'ज्ञात-चेतना' की बहुत कम चलती है। हमारी बहुत सी इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ अज्ञात-चेतना के प्रभाव से आक्रान्त रहती हैं। यदि ये हानिकर हुई तो इनमे परिवर्तन लाना आवश्यक है। मनोविश्लेपणवाद की सहायता से हम इनकी शक्ति को अच्छे काम मे लगा सकते है। मूल-प्रवृत्तियो को यथासमय हम शोधित कर सकते हैं। उनके शोधन से उनका सामाजिक मूल्य बढ जायगा, इसमे तनिक भी सन्देह नही। वस्तुत इन प्रवृत्तियो का इस प्रकार शोधन करना ही शिक्षा का प्रधान कर्त्तव्य कहा जा सकता है। कहना न होगा कि मनोविश्लेषणवाद किसमें इतना सहायक सिद्ध होगा। कभी-कभी बालको के व्यवहार को समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ऐसे बालको को समस्या-बालक की सज्ञा दी गई है। इन्हे समझने के लिये हमे मनोविश्लेपणवाद के विशेपज्ञ की सहायता लेनी पडेगी। इन विशेपज्ञो ने बहुत से समस्या-बालको का कल्याण किया है। उनकी अज्ञात-चेतना को मथ कर उन्होने उनकी हानिकर भावना-ग्रन्थियो को दूर किया और इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के निर्माण मे योग दिया है। पाश्चात्य देशो मे हमे ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं। हमारे देश मे ऐसे विशेपज्ञो की बडी कमी है। समस्या-बालको के उद्धार के लिये ऐसे परीक्षणशालाओ का स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है।

ऊपर हम यह देख चुके हैं कि हमारी साधारण से साधारण त्रुटि का भी एक निश्चित कारण होता है। हम कहना कुछ चाहते हैं और मुँह से कुछ और ही निकल जाता है। हम कुछ के अतिरिक्त कुछ और ही लिख जाते हैं। ऐसी त्रुटियाँ बालको में बहुधा पाई जाती हैं। यदि शिक्षक को मनोविश्लेपणवाद के सिद्धान्तो का ज्ञान है तो वह तुरन्त समझ लेगा कि बालक की कौन-सी भीतरी इच्छा बाहर आने का प्रयत्न कर रही है। शिक्षक यह भी समझ लेगा कि बालक का व्यवहार कभी-कभी अनुचित क्यो हुआ करता है। इस प्रकार शिक्षक बालक के असामान्य व्यवहार का कारण समझ सकता है। कभी निदान को समझना दवा करने से अधिक लाभदायक सिद्ध होता हैं। निदान का पता चल जाने पर बालक विशेपज्ञ के नियन्त्रण में दिया जा सकता हैं। ऐसे कार्यों मे विशेपज्ञ के लिये भी शिक्षक की सहायता अत्यन्त आवश्यक होगी, क्योकि बिना शिक्षक की सहायता के विशेषज्ञ निदान को अच्छी प्रकार नही समझ सकता। कभी-कभी शिक्षको और अभिभावको की अज्ञानता से बालक के दोप बढते जाते हैं। यदि उनके निदान का पता चल जाय तो कम से कम उनका बढना तो रुक जायगा। शिक्षक को मनोविश्लेपणवाद के विधि-प्रयोग के नियमो का जानना उतना आवश्यक नही जितना कि उसके सिद्धान्तो का, क्योकि उसके ज्ञान से निदान को वह शीघ्रता से पकड सकता है।

शिक्षक और बालक के सम्बन्ध पर भी शिक्षा की सफलता बहुत कुछ निर्भर है। शिक्षक के हाथ मे कुछ अधिकार व शक्ति रहती है। इस शक्ति के घमण्ड में वह अपने वास्तविक कर्त्तव्य को भूल कर पुलिस-दारोगा के समकक्ष मे आ सकता है। उसका व्यवहार अमानुषिक हो सकता है। मनोविज्ञान के इतना प्रचार होने पर भी कुछ शिक्षक डण्डो से बालकों की पीठ-पूजा करते हुए पाये जाते हैं। अपनी धाक जमाने के लिये उन्हे इन्ही की शरण लेनी पडती है। कुछ शिक्षक तो ऐसे होते हैं कि उन्हें बच्चो को पीटने मे बडा ही आनन्द आता है। ऐसे शिक्षको के कौटुम्बिक जीवन का अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि वे वहाँ बहुत ही असन्तुष्ट रहते है। वहाँ भी अमानुषिक विधि से ही वे अपना सिक्का जमाना चाहते हैं। शिक्षक की यह प्रवृत्ति अज्ञात-चेतना मे अत्यन्त गुप्त रूप से कार्य करती रहती है। बालको के चरित्र-विकास पर इसका बडा बुरा प्रभाव पडता है। यदि शिक्षक निर्बल हुआ और कक्षा को नियन्त्रण में न रख सका तो इसका भी प्रभाव अच्छा न होगा। ऐसी स्थिति मे बालक उदण्ड हो जा सकता है। उसमे मिथ्या आत्म-प्रदर्शन की भावना कार्य करने लगती है और उसकी उन्नति वही रुक जाती है। अत. शिक्षक को अपनी मानसिक स्थिति का पूरा ज्ञान होना चाहिये। बिना इस ज्ञान के वह हानिकर भावना-ग्रन्थियो का उचित उपचार नही कर सकता। इन ग्रन्थियो से मुक्त व्यक्ति ही आदर्श शिक्षक हो सकता है। शिक्षक ऐसा हो कि उसे जीवन की विभिन्न परिस्थितियो का अनुभव हो। जीवन के वास्तविक स्वाद को चखना उसके लिये आवश्यक है, तभी वह हानिकर भावना-ग्रन्थियो से मुक्त हो बालक को उचित पथ की ओर अग्रसर कर सकता है। शिक्षक को भावुक नही होना है। उसे सवेगात्मक तथा मानसिक क्रियाओ के सम्बन्ध को ठीक-ठीक समझना है, अन्यथा उसका परिश्रम उचित फल नही देगा। इन सब बातो को समझने तथा प्राप्त करने मे मनोविश्लेषणवाद की सेवा अमूल्य है।

शिक्षा मे प्रकृतिवाद के सिद्धान्त मनोविश्लेषणवाद से कुछ मिलते है। प्रकृतिवाद बालक के स्वाभाविक पथ मे किसी प्रकार की बाधा पसन्द नही करता। उसके अनुसार हमे बालक को अपने कार्यो मे पूर्ण स्वतन्त्रता देनी है। कहना न होगा कि मनोविश्लेषणवाद भी इन्ही सिद्धान्तो का समर्थन करता है। इसके अनुसार भी स्वाभाविक उन्नति मे किसी प्रकार की बाधा नही उपस्थित करनी चाहिये, और मानसिक रोग को समझने के लिये अज्ञात-चेतना का द्वार खोलना आवश्यक है। पहले शिक्षा-क्षेत्र में काम-भावना-सम्बन्धी विचारो को अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता था। पहले यह ज्ञात न था कि इनको समझना व्यक्तित्व-निर्माण मे आवश्यक है, क्योकि हमारे जीवन से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनोविश्लेषणवाद के जन्म से अब 'काम-भावना' के प्रति उचित्त ध्यान दिया जाने लगा है। इस पर उचित ध्यान न देने से

व्यक्ति में हानिकर भावना-ग्रन्थियाँ पड जाती हैं। भविष्य मे इनसे मुक्ति पाना बडा ही कठिन हो जाता है। पर अब यह सन्तोष की बात है कि लोग इसे समझने लगे हैं। मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्तो के प्रचार से शारीरिक दण्ड देने की हानियाँ अधिक स्पष्ट हो गई हैं। अब लोग यह समझने लगे हैं कि बालको की अज्ञात-चेतना मे हानिकर भावना-ग्रन्थियो का एकत्र होना ठीक नही। अत. उनके साथ घर तथा पाठशाला में सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार होना आवश्यक है। अब अभिभावक और शिक्षकगण यह समझने लगे हैं कि बालकों को यथासमय आत्म-प्रदर्शन के लिये अवसर देते रहना चाहिये, तभी उनके चरित्र का पूर्ण विकास हो सकता है। इन सब विचारो के प्रचार का श्रेय मनोविश्लेषणवाद को ही है। आजकल शिक्षा-क्षेत्र मे यह विवादात्मक प्रश्न उपस्थित हुआ है कि "क्या हमें बालको को विषय-ज्ञान के लिये पढाना चाहिये, अथवा हमे उनके व्यक्तित्व-निर्माण के लिये पढाना चाहिये ?" एडलर के सिद्धान्तो से यह स्पष्ट है कि हम इन दोनो को मिला सकते हैं और वस्तुत. दोनो एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं, यदि प्रत्येक पर ठीक-ठीक ध्यान दिया जाय।

मनोविश्लेषणवाद ने हमे यह बतलाया है कि बालक अपनी स्थिति को समझने मे ही भूल करते हैं। अत उनकी त्रुटि पर क्रोध करना अथवा उन्हे दण्ड देना उचित नही। केवल गलती करने वाले ही तो सीखते हैं। वास्तव में, हम बालको को शिक्षित करने में सफल होते है केवल इसीलिये कि वे भूल करते हैं। यदि वे गलती न करे तो उन्हे शिक्षा कैसे दी जा सकती है ? यदि उनमे विभिन्न मानसिक शक्तियाँ न हो तो उन्हे शिक्षित करना असम्भव हो जायगा। तब उनमे और पशु मे कोई अन्तर ही न होगा। प्रत्येक शिक्षक इस बात को अपने हृदय मे अच्छी प्रकार जमा ले, तभी उसका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण हो सकता है, अर्थात् वह अपने कर्त्तव्य मे सफल हो सकता है।

मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्तो से हमे यह ज्ञात होता है कि बालक का विकास उसके 'विभिन्न वस्तुओ को व्यक्तिगत रूप में समझने' से होता है। किसी नई अथवा कठिन परिस्थिति से साक्षात् होने पर बालक का व्यवहार एक अनोखे रूप में होता है। बालक विचारशील होता है। किसी-किसी विषय में उसका अपना विचार होता है। किसी वस्तु के प्रति उसका विचार उस वस्तु पर उतना निर्भर नही करता जितना कि उसकी अपनी धारणा पर। इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ लेने पर ही शिक्षक का व्यवहार मनोवैज्ञानिक हो सकता है, और तभी उसके द्वारा बालक का व्यक्तित्व-निर्माण भी सम्भव है।

५—प्रयोजनवादी सम्प्रदाय[1]—

हमारी सभी क्रियाएँ किसी न किसी प्रयोजन से ही हुआ करती हैं, इसीलिये

1. Hormic Psychology

हमारी उन्नति सदा होती रहती है। हम अपने बचपन से ही सदा आगे बढने की चेष्टा किया करते हैं। हम सदा एक उद्देश्य लिये रहते हैं। पूर्ण तथा महान् बनने की भावना सदा हमे जगाती रहती है। मनुष्य मे जन्म से ही ऐसी सोचने और समझने की शक्ति होती है जो उसे सदा एक निर्दिष्ट स्थान की ओर अग्रसर करने मे तत्पर रहती है। इस मत के प्रवर्त्तक मैग्डूगल महोदय[1] (१८७१-१९३९) हैं। इन्होने व्यवहारवादियो के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इनका कहना है कि 'उत्तेजना' के उपस्थित होने से ही 'प्रतिक्रिया' का हो जाना आवश्यक नही। 'प्रतिक्रिया' के पीछे एक ऐसी 'प्रेरक-भावना'[2] रहती है जिससे उसका जन्म होता है। हाथ जल जाने पर पास रखे हुए मिट्टी के तेल मे हम हाथ डाल देते है। यदि हाथ न जला होता तो हम हाथ मिट्टी के तेल मे न डालते। 'उत्तेजना' अर्थात् मिट्टी का तेल तो वहाँ उपस्थित है, परन्तु बिना 'प्रेरक भावना' अर्थात् 'हाथ को बचाने के प्रयोजन' के हम उसमे हाथ नही डालते। मिठाई देखने से ही हम मे उसे खाने की इच्छा का उत्पन्न हो जाना आवश्यक नही। खाने का प्रयोजन तो हमारी भूख अर्थात् 'प्रेरक-भावना' पर निर्भर है। मैग्डूगल का कथन है कि ऐसी स्थिति केवल मनुष्यो मे ही लागू नही, वरन् पशुओ मे भी पाई जाती है। पवलव ने अपना परीक्षण भूखे कुत्ते पर किया न कि तृप्त पर। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रेरक-भावना के भिन्न होने पर प्रतिक्रिया भी भिन्न हो जाती है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मैग्डूगल प्राणी के प्रत्येक कार्य मे एक प्रयोजन देखता है। उसके इस मत को प्रयोजनवाद कहते हैं।

मैग्डूगल की मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त[3]—

मैग्डूगल ने मनुष्य की मूलप्रवृत्तियो[4] को उसके कार्यो की प्रेरक-भावना माना है। हरबर्ट स्पेन्सर ने मूलप्रवृत्ति को सहज-क्रियाओ[5] की एक शृङ्खला माना है। मैग्डूगल इस विचार से सहमत नही। मैग्डूगल के अनुसार हमारी मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया[6] मे सदा एक सवेग[7] उपस्थित रहता है। इस सवेग के बिना किसी क्रिया का होना सम्भव नही। वास्तव मे, सवेग ही 'क्रिया' का केन्द्र होता है। हमारे सभी कार्यो मे एक सकल्प-शक्ति[8] निहित रहती है, जिसे हम सरलता से सवेग से पृथक नही कर सकते। सवेग के अश को निकाल देने से मूलप्रवृत्ति की परिभाषा पूरी हो ही नही सकती। मैग्डूगल का कथन है कि उत्तेजक वस्तु के उपस्थित होने पर प्राणी एक प्रकार का सवेग अनुभव करता है। यह भाव सदा मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया के साथ रहता है। मैग्डूगल के अनुसार मूलप्रवृत्ति एक मन शारीरिक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के होने से व्यक्ति किसी परिस्थिति-विशेष मे किसी वस्तु विशेष के प्रति एक विशेप प्रकार का

---

1 McDougall. 2. Motive. 3. McDougall's Theory of Instincts. 4. Instincts 5. Reflexes. 6. Instinctive Activity. 7. Emotion. 8. Conative Element

व्यवहार करता है। इस प्रकार मैग्डूगल मूलप्रवृत्ति को एक ऐसी प्राथमिक प्रेरक-भावना मानता है जिससे व्यक्ति का सारा व्यवहार चलता है। किसी भी मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया के मैग्डूगल तीन अग करता है—जानना[1] अनुभव करना[2] और सकल्प करना[3]।

स्थायीभाव[4]—

अनुभव के बल पर मन:शारीरिक प्राणी मे परिवर्द्धन किया जा सकता है। सभी मे समान मूलप्रवृत्तियाँ होती हैं, पर वे कहाँ तक परिवर्द्धित की जा सकती हैं यह व्यक्ति के वातावरण पर निर्भर होता है। हम लोग सभी किसी न किसी वस्तु को चाहते हैं। अनुभव के कारण उस वस्तु के चारो ओर हमारे सवेग सगठित हो जाते हैं। संवेगो का यह सँगठन उस वस्तु के प्रति हम मे प्रेम उत्पन्न कर देता है—जिसे हम स्थायीभाव कहते हैं—यह स्थायीभाव व्यक्ति के उस वस्तु के प्रति सभी सवेगो का योग होना है। मैग्डूगल के अनुसार हमारी मूलप्रवृत्तियाँ स्थायीभाव के रूप मे सगठित हो सकती हैं; परन्तु हमारे सवेग सदा एक से रहते हैं। हमारे सभी व्यवहार मूलप्रवृत्ति के सशोधित रूप अर्थात् स्थायीभाव के अनुसार ही होते हैं। इस प्रकार प्रयोजनवाद के अनुसार मूलप्रवृत्तियाँ मानव व्यवहार के आधार हैं। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि स्थायीभाव ही हमारे व्यवहार के प्रेरक होते हैं और इन स्थायीभावो का हम मूलप्रवृत्तियो तथा सवेगो मे विश्लेषण कर सकते हैं।

मैग्डूगल के अनुसार प्रयोजनवाद की पर्याप्तता—

मैग्डूगल का विश्वास है कि प्रयोजनवाद की सहायता से हम सभी मानव तथा पशु के व्यवहार की व्याख्या कर सकते है। जीव-विद्या के विशेषज्ञो को यान्त्रिक सिद्धान्तो की अपर्याप्तता का आभास अब होने लगा है। प्राणी के विभिन्न अवयवो को समझने के लिये अब वे भी प्रयोजन की खोज मे आने लगे हैं। निर्जीव वस्तु और जीवधारी मे अन्तर होता है। जीवधारी के समस्त व्यवहारो मे एक प्रयोजन दिखलाई पडता है। परन्तु निर्जीव वस्तु मे हम ऐसी बात नही देख सकते। डॉ० रसेल (ड०एस०) का तो कहना है कि जीवधारी प्राणी के व्यवहार की व्याख्या सदा मन शारीरिक प्राणी के सिद्धान्तो के अनुसार करनी चाहिये। मैग्डूगल डॉ० रसेल की इस उक्ति से असहमत नही हो सकता। वह सोचता है कि शरीर-विज्ञान और जीव-विद्या की समस्याओ का समाधान प्रयोजनवाद की सहायता मे सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

मैग्डूगल के आलोचक—

कुछ लोगो ने प्रयोजनवाद की अत्यन्त कटु आलोचना की है, क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य पशु की श्रेणी मे आ जाता है। प्रयोजनवादी मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार

1. Knowing. 2. Feeling. 3. Willing. 4. Sentiments.

मे एक प्रयोजन की खोज करता है। यदि किसी दयालु ने किसी दुखी की सहायता कर दी तो इसमे भी प्रयोजनवादी को दयालु के व्यवहार मे अपने को सतुष्ट करने का प्रयोजन ही दिखलाई पडेगा। अर्थात् बिना प्रयोजन के मनुष्य कोई कार्य ही नही करता, चाहे वह कार्य सामाजिक अथवा व्यक्तिगत दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का हो या निकृष्ट। मैग्डूगल के आलोचक इस धारणा से सहमत नही। उनका कहना है कि मनुष्य उच्च भावना के आवेश मे बिना किसी प्रयोजन के भी कार्य कर देता है। अत. उसके प्रत्येक व्यवहार मे प्रयोजन का लाना ठीक नही। परन्तु यदि हम युद्ध के दृश्य को सामने रक्खे तो मैग्डूगल की उक्ति की सत्यता का आभास मिल जाता है। युद्ध और आन्तरिक उपद्रव के क्रूर कर्मो से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अभी अपनी सभ्यता की आदिकालीन प्रवृत्तियो को अपनाये हुए है। इस दृष्टिकोण से मैग्डूगल का यह कथन कि—'मनुष्य मूलप्रवृत्ति का जीव[1] है'—सत्य दिखलाई पडता है। परन्तु यहाँ यह न भूलना चाहिये कि मैग्डूगल मनुष्य को पशु की श्रेणी में नही रखता। उसने उसकी 'बुद्धि' की उपेक्षा नही की है। ऊपर हम देख चुके हैं कि मैग्डूगल के अनुसार मानव व्यवहार का कारण स्थायीभाव होता है। पशु मे यह स्थायीभाव नही होता। परन्तु इतना तो मानना ही पडेगा कि मनुष्य और पशु दोनो एक ही स्वाभाविक सतह से अपना-अपना व्यवहार प्रारम्भ करते हैं। मनुष्य ने अपने को उस सतह से उठा कर स्थायीभाव की सीढी पर ला दिया है, परन्तु पशु अभी उसी पर रुका हुआ है।

प्रयोजनवाद की देन—

प्रयोजनवाद इन्द्रियो की विकास-क्रिया का ज्ञान हमें बिलकुल स्पष्ट देता है। अन्य मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय इसकी स्पष्ट व्याख्या नही करते। प्रयोजनवाद के अनुसार किसी अनुभव को हम विभिन्न भागों मे अलग-अलग नही बाँट सकते, यद्यपि उसके विभिन्न भागो को पहचाना जा सकता है। प्रयोजनवाद के अनुसार प्रत्येक जाति विशेष मे जीवित रहने की स्वाभाविक इच्छा होती है। यह इच्छा ही सदा उससे विभिन्न कार्य कराया करती है, जिससे जाति का नाश न हो। प्रयोजनवाद से हमे यह स्पष्ट पता लगता है कि बालक अपनी भावी उन्नति का रूप बहुत पहले ही दिखा देते हैं। प्रयोजनवाद के अनुसार स्मरणशक्ति दूरदर्शिता के लिये होती है, और दूरदर्शिता कार्य के लिये होती है।

इस सिद्धान्त में कि 'बुद्धि शुद्ध अनुमान से ही प्राप्त होती है' प्रयोजनवाद का विश्वास नही। इस सिद्धान्त की त्रुटियो को भी इसने स्पष्ट कर दिया है। प्रयोजनवाद का सम्बन्ध केवल ज्ञान-सम्बन्धी अनुभव[2] से ही नही है। यह सकल्प-शक्ति (कोनेशन) पर विशेष बल देता है और ज्ञान को संकल्प-शक्ति का सेवल मात्र समझता है। यहाँ

---

1. Instinctive animal. 2. Cognitive Experience.

शिक्षक को यह ध्यान रखना होगा कि 'पाठ्य-वस्तु बालक के लिये है न कि बालक पाठ्य-वस्तु के लिये।' प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-उद्देश्य के अनुसार ही विषय-ज्ञान देना उचित होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रयोजनवाद गतिपूर्ण है। इसका उपयोग हम जीवन की विभिन्न समस्याओ के समाधान मे भली-भाँति कर सकते है।

प्रयोजनवाद के सिद्धान्तों मे दर्शन-शास्त्र को अच्छा मनोवैज्ञानिक आधार मिल सकता है। दर्शन-शास्त्र का सम्बन्ध विशेपत' मानव स्वभाव की सारता से है। उसे मानव स्वभाव की सम्भावनाओ का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये, जिससे मनुष्य अपनी जीवन-सारता को पहचान सके। इस दृष्टिकोण से प्रयोजनवाद के सिद्धान्त दर्शनशास्त्र के लिये बडे सहायक सिद्ध होगे।

प्रयोजनवाद विश्व की पहेली का समाधान करने का दावा नही करता। इसे वह भविष्य पर छोड देता है, परन्तु वह यह बतलाता है कि मनुष्य इस समय अन्धकार मे फँसा हुआ है, और उसे उचित पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है। वह विभिन्न क्षेत्रो की ओर हमारी अन्वेषण-प्रवृत्ति को उत्तेजित करता है। मैग्डूगल के समर्थको का विश्वास है कि स्थायीभाव की व्याख्या से प्रयोजनवाद ने मानव चरित्र का स्पष्टीकरण बडे वैज्ञानिक ढग से किया है। इस वैज्ञानिक व्याख्या की सहायता से हमारी राज-नीति, सभ्यता, इतिहास तथा सौन्दर्य-विज्ञान पर नया प्रकाश पडता है।

प्रयोजनवाद और शिक्षा—

प्रयोजनवाद से हमे यह ज्ञात होता है कि सवेग से ही हमे एक प्रकार की मानसिक शक्ति प्राप्त होती है जो हमारे सकल्प को पूरा करने मे सहायक होती है। इससे यह स्पष्ट है कि सवेग का सगठन ऐसा हो कि हमे उचित मानसिक शक्ति प्राप्त हो सके। विना इसके उचित सगठन से हमारे व्यवहार समाज के लिये हितकर हो ही नही सकते। अब तक हमारे स्कूलो मे सवेग की शिक्षा की बडी अवहेलना की गई है। फलत. व्यक्तित्व-निर्माण मे स्कूल अपने उत्तरदायित्व को नही निभा सका है। व्यक्ति-तथा समाज के कल्याण के लिये आवश्यक है कि मानव भावनाओ और सवेगो को शिक्षा के सहारे उचित पथ की ओर लगाया जाय। बालक मे सेवा-भावना, ललित-कला के प्रति अनुराग, देश और विदेश के महान् पुरुपो के जीवन-चरित्र तथा महान् प्राचीन परम्परा के लिए प्रेम उत्पन्न करने से उसके सवेग को उचित ढग से शिक्षित किया जा सकता है।

मूलप्रवृत्तियाँ—

प्रयोजनवाद के अनुसार मूलप्रवृत्तियाँ हमारे कार्यो की मूल प्रेरक हैं। बालको के सुधार के लिये इन प्राथमिक प्रवृत्तियो पर विशेप ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। मूलप्रवृत्तियो के आधार पर ही हमारा मस्तिष्क ठहरा हुआ है। शिक्षा का तात्पर्य ही

मूलप्रवृत्तियो के 'शोधन'[1] करने से है। शोधन वह सज्ञा है जिससे हमारी मूलप्रवृत्तियो का उपयोग उच्च कार्यो के लिये किया जाता है। स्थायीभाव के निर्माण की व्याख्या से प्रयोजनवाद मूलप्रवृत्तियो के शोधन करने मे सहायक होता है। फ्रॉयड-मत के मानने वालो ने भी सर्वशक्तिमान काम-प्रवृत्ति के शोधन करने का उल्लेख किया है। काम-प्रवृत्ति के शोधन से बालक कवि, लेखक, अथवा कला-प्रेमी बनाया जा सकता है। 'जिज्ञासा' और 'निर्माण' प्रवृत्ति के शोधन से उसे वैज्ञानिक या आविष्कारक बनाया जा सकता है। उचित खेल और अध्यापन की सहायता से 'युयुत्सा' प्रवृत्ति को हम अच्छे पथ पर नियोजित कर सकते हैं। इससे बालक, वास्तव मे, जीवन कठिनाइयो से युद्ध करने के योग्य हो जायगा। उसमे आत्म-सम्मान की भावना प्रबल हो जायगी और वह कभी असामाजिक कार्य करेगा ही नही। प्रयोजनवाद शिक्षक से खुले शब्दो मे कह देता है कि 'मूलप्रवृत्तियाँ ही सब की जड और हेतु हैं; अत उनकी अवहेलना व्यक्ति और समाज दोनो के लिये घातक सिद्ध होगी'। प्रयोजनवाद शिक्षक को यह भी बतलाता है कि व्यक्ति की बुरी वृत्तियो को उच्च कार्यो की ओर सरलता से लगाया जा सकता है। मनोविश्लेषणवाद के सदृश् प्रयोजनवाद भी कहता है कि बालको की मूल-प्रवृत्तियो को अवदमित न कर शोधित करना चाहिये।

हमारी मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाओ के प्रयोजनवाद ने तीन अङ्ग किये है—जानना, अनुभव करना और सकल्प करना। इन तीनों अङ्गो का सामाजिक महत्त्व बडा ही गूढ है। इनका विकास समाज से पृथक रहने पर नही हो सकता। सामाजिक सघर्षो मे ही उनकी उत्कृष्ट उन्नति सम्भव है। स्कूल एक सामाजिक सस्था है। अत वहाँ उनके विकास का अच्छा क्षेत्र है। प्रयोजनवाद यह बतलाता है कि तीनो अङ्गो पर उचित ध्यान देना आवश्यक है। यदि एक की अवहेलना कर दूसरे पर अनुचित ध्यान दिया गया तो आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण नही हो सकता।

आत्म-सम्मान का स्थायीभाव[2]—

मैग्डूगल अपनी 'इन्ट्रोडक्शन ऑव सोशल सॉइकॉलॉजी' मे आत्म-सम्मान के स्थायीभाव की चर्चा करता है। उसके अनुसार शिक्षा का महान् उद्देश्य इस स्थायी-भाव के प्राप्त करने से ही है। यह स्थायीभाव 'आत्म-भावना' के चारो ओर सगठित होता है। किसी वस्तु मे हमारी रुचि है इसका तात्पर्य यह है कि वह हमारी 'आत्म-भावना' से सम्बन्धित है। अत विभिन्न वस्तुओ के प्रति हमारा स्थायीभाव हमारी आत्म-भावना से ही सम्बन्धित रहता है। अत सभी का संगठन 'आत्म-भावना' के चारो ओर ही होता है। इस प्रकार 'आत्म-सम्मान के स्थायीभाव'[3] का विकास होता है। हमारे व्यवहार के सकल्प-अङ्ग[4] पर इस स्थायीभाव का बहुत प्रभाव पडता है।

---

1. Sublimation 2. Self-regarding Sentiment. 3. दसवाँ अध्याय देखिए। 4. Conative Phase.

मानसिक उलझनों और कष्ट के दिनो मे आत्म-सम्मान के स्थायीभाव की ही सहायता से हम शान्ति पाते हैं। मझधार में डूबती हुई जीवन नैया का वही सहारा होता है। अर्थात् शिक्षको को बालको में इस स्थायीभाव के विकास के लिये विशेष चेष्टा करनी है। इस चेष्टा में ही वह अपने कार्य का सफल सम्पादन कर सकता है। कहना न होगा कि शिक्षा मे इस भाव को लाने का श्रेय प्रयोजनवाद को ही है।

प्रयोजनवाद 'सकल्प-शक्ति' और चरित्र के विकास पर विशेष बल देता है। सकल्प-शक्ति के विकास से आत्म-सम्मान के स्थायीभाव के विकास मे सहायता मिलती है। व्यक्ति के चरित्र से ही उसके सामाजिक व्यवहार की व्याख्या की जा सकती है। हमारे सभी सकल्प चरित्र द्वारा ही नियन्त्रण मे लाये जा सकते हैं। सामाजिक सघर्ष से ही हमारे चरित्र का विकास हो सकता है। प्रयोजनवाद ने चरित्र के विभिन्न अगो का बडा ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के स्वाभाविक व्यवहार, इच्छा, तथा विभिन्न स्थायीभाव आ जाते हैं। किसी व्यक्ति की शिक्षा मे प्रयो-जनवाद के इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सदैव ध्यान रखना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रयोजनवाद व्यक्तित्व के विषय मे शिक्षक के ज्ञान को और आगे बढाता है। बालक की शिक्षा के विभिन्न अङ्गो को एक स्थान पर केन्द्रित कर देने की प्रयोजनवाद मे शक्ति दिखलाई पडती है। प्रयोजनवाद शिक्षक को एक ऐसी अन्तर्दृष्टि देता है जिससे वह बालक की स्वाभाविक रुचि का पता लगा कर उसकी शिक्षा की वह समुचित व्यवस्था कर सकता है। इतना ही नही, वरन्, प्रयोजनवाद मनोविश्लेषणवाद से हाथ मिलाते हुए दिखलाई पडता है और ऐसा जान पडता है कि वह उसके अभाव की पूर्ति करता है।

विभिन्न मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का संश्लेषण आवश्यक[1]—

शिक्षा-क्षेत्र मे आजकल हम विभिन्न प्रकार की बातें सुनते हैं। बहुत से दार्श-निक हो गये हैं जो कि अपने मत की एक दूसरे से श्रेष्ठता स्थापित करना चाहते हैं। फलत आजकल के विभिन्न शिक्षा-सिद्धान्तो मे हम एक सामान्य सिद्धान्त का अभाव पाते हैं। कभी-कभी यह समझना कठिन हो जाता है कि किसका अनुसरण किया जाय और किसकी अवहेलना। परन्तु यदि विभिन्न सिद्धान्तो के सश्लेषण की हम चेष्टा करे तो इस सङ्कट-स्थिति का निवारण सम्भव हो सकता है। शिक्षा-प्रयत्नो के विश्लेषण से हमे पता चलता है कि सब मे आध्यात्मिकता की ओर जाने का एक झुकाव है। स्पष्ट है कि पूरी समस्या मनोवैज्ञानिक है। अत मनोविज्ञान की सहायता बिना काम चलने वाला नही। परन्तु मनोविज्ञान से सहायता लेने के पूर्व हमें यह जान लेना है कि मनोविज्ञान स्वय सकट-काल मे फँसा हुआ है। अब तक के विवेचनो से यह स्पष्ट

1 A synthesis of various psychological principles necessary.

होगा कि यहाँ भी मतभेद की कमी नही। मनोविज्ञान अभी अपने शैशव काल मे ही दिखलाई पडता है। अभी तो केवल वर्तमान शताब्दी मे ही इसे कुछ स्वतन्त्रता मिली है। आजकल के मनोवैज्ञानिक अपना-अपना राग अलापने की धुन मे मस्त दिखलाई पडते हैं। प्रत्येक की यही इच्छा मालूम होती है कि लोगो का ध्यान केवल उसी पर पडे। फलत मनोविज्ञान के क्षेत्र मे हमे परस्पर-विरोधी विचार मिलते हैं। व्यवहार-वाद मानव व्यवहार की परिभाषा कुछ और ही करता है। अवयवीवाद व्यवहारवाद की आलोचना करता है। मनोविश्लेषणवाद का तो कुछ पूछना ही नही। प्रयोजन-वाद तो सबसे आगे बाजी मार लेता है जब वह कहता है कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य में कुछ न कुछ प्रयोजन छिपा रहता हैं, और वह अभी अपनी मूलप्रवृत्ति की सतह पर ही अपना कार्य करता है। प्रत्येक सम्प्रदाय की खोज मे हमें कुछ न कुछ अच्छी बात मिलती ही हैं। अत शिक्षा के लिये हमे उन्हे स्वीकार ही करना पडेगा। परन्तु यह जानना चाहिये कि आजकल हमे किस प्रकार के मनोविज्ञान की आवश्यकता है। इसे जानने के लिये हमे शिक्षा की नवीन प्रगति पर दृष्टिपात करना होगा।

शिक्षा में नई गति[1]—

मानव हित, मानव महत्त्व और मानव व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे आजकल शिक्षा का तात्पर्य क्या है ? आज हमे 'स्वतन्त्रता' की माँग की 'दुहाई' सुनाई पडती है। अब हमे व्यक्तियो का एक नया वर्ग दिखलाई पडता है। 'व्यक्ति' की परिभाषा अब दूसरे रूप मे की जाती है। उसे अब गति और उत्पादक शक्ति से परिपूर्ण समझा जाता है। अब लोगो का यह दावा है कि प्रत्येक व्यक्ति का आदर करना मनुष्यता की पहली माँग है। प्रत्येक का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व होता है। इस व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ही शिक्षा का ध्येय होना चाहिये। ससार भी अब एक नई सस्कृति की ओर बढता हुआ दिखलाई पडता है। अब यह इच्छा की जाती है कि नया वशज अपनी आवश्यकतानुसार पूर्वजो के अनुभवो को ध्यान मे रखते हुए अपनी सस्कृति का स्वय निर्माण करे। अत ससार एक परिवर्तन काल मे आ गया है। ऐसी स्थिति के दुष्परिणामो से तभी बचा जा सकता है जब व्यक्ति की शिक्षा का उद्देश्य पूर्णता प्राप्त करना हो और व्यक्ति को एक 'पूर्ण मनुष्य' के दृष्टिकोण से देखा जावे। इसका तात्पर्य यह है कि बालक को अब एक मन.शारीरिक प्राणी समझना चाहिये। उसके शरीर और मस्तिष्क को अलग-अलग समझना घातक होगा। शिक्षा मे हमे 'शरीर' और 'मस्तिष्क' दोनो पर उचित ध्यान देना होगा। कदाचित् इस वस्तु-स्थिति की अवहेलना ही वर्तमान शिक्षा की असफलता का प्रधान कारण है। अत. शिक्षा-क्षेत्र मे हमारा नारा यह होना चाहिये कि 'व्यक्ति मन·शारीरिक प्राणी है' और शिक्षा की

1. A new trend in education

व्यवस्था इसी के अनुसार होनी चाहिये, अर्थात् शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की ओर सदा उचित ध्यान देना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन मे हम एक नये मनोविज्ञान की आवश्यकता का उल्लेख कर चुके हैं। शिक्षा की नवीन प्रगति को समझने से इस आवश्यकता का महत्त्व और भी स्पष्ट हो जाता है। यदि यह आवश्यकता पूरी न की गई तो शिक्षा का उद्देश्य सफल नही हो सकता। मनोविश्लेषणवाद विशेषकर अज्ञात-चेतना से सम्बन्ध रखता है और प्रयोजनवाद ज्ञात-चेतना से, क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य मे कुछ न कुछ प्रयोजन छिपा रहता है। हमारा विचार है कि इन दोनो के सश्लेपण से ही हमे एक ऐसे सन्तोपजनक मनोविज्ञान का मिलना सम्भव है जिससे हमारी सभी उपर्युक्त समस्याओ का समाधान हो सकता है। मानव मस्तिष्क के दो पहलू हैं—अज्ञात-चेतना और ज्ञात-चेतना। अत. इन दोनो का सश्लेपण निश्चय ही हमारी समस्या का समाधान करेगा।

मनोविश्लेषणवाद और प्रयोजनवाद का संश्लेषण[1]—

१—दोनों में समानता[2]—

भिन्नता होते हुए भी हमें मनोविश्लेपणवाद और प्रयोजनवाद मे कुछ समानता अवश्य ही दिखलाई पडती है। मानव व्यवहार की विभिन्न समस्याओ पर इनके समर्थक अपने विभिन्न दृष्टिकोण से विचार करते हैं, परन्तु उनके साराश मे कुछ समानता भी दिखलाई पडती है। ये दोनो सम्प्रदाय गतिपूर्ण हैं। इन दोनो की धारणा है कि मस्तिष्क 'नाडी-मण्डल'[3] में स्थित नही रहता। दोनो का कथन है कि मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में कुछ न कुछ प्रयोजन छिपा रहता है। दोनो का विश्वास है कि मस्तिष्क अपने स्वाभाविक रूप, क्रिया और अवस्थानुसार वढता रहता है। मैग्डूगल स्थायीभाव के विकास का उल्लेख करता है और फ्रॉयड हानिकर स्थायीभाव अथवा भावना-ग्रान्थियो की चर्चा करता है। आपस की इन समानताओ के कारण दोनो में सश्लेपण की आशा दिखलाई पडती है।

२—दोनों मे भेद[4]—

मनोविश्लेषणवाद अज्ञात-चेतना की व्याख्या करता है। यह केवल 'काम-भावना'[5] को ही 'प्रधान' मानता है। फ्रॉयड ने 'कोमल प्रवृत्तियो' 'घृणा' तथा 'आत्म-गौरव'[6] की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नही किया है। परन्तु मैग्डूगल इन सव के अस्तित्व को मानता है। मनोविज्ञान के अध्ययन मे मानसिक 'आकृति' और 'क्रिया' के

1. A Synthesis between Hormism and Psychoanalysis. 2. Points of Similarity 3. Nervous System. 4 Points of Contrast. 5 Sex Instinct. 6 Self-assertion.

भेद को समझना बडा आवश्यक है। मैग्डूगल दोनो मे एक सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। उसकी धारणा है कि 'क्रिया' के अध्ययन से 'आकृति' को बडी सरलता से समझा जा सकता है, क्योकि 'क्रिया' मे 'आकृति' अपने रूप को स्पष्ट कर देती है। मैग्डूगल का कथन है कि स्थायीभाव के सम्बन्ध मे भी हम इस निष्कर्ष को ठीक मान सकते हैं। यहीं पर प्रयोजनवाद की भूल स्पष्ट हो जाती है और यही पर उसे मनोविश्लेषणवाद की सहायता आवश्यक है। 'आकृति' को 'क्रिया' मे सदा समझना सम्भव नही हो सकता। कदाचित् असभ्य मनुष्य की ही 'क्रिया' मे उसके मस्तिष्क की 'आकृति' को समझा जा सकता है। परन्तु सभ्य मनुष्य के विषय मे ऐसा सम्भव नही। वह तो विभिन्न विचार, स्थायीभाव, भय तथा उन्माद का गुणनफल है। अत उसकी 'क्रिया' से मस्तिष्क की 'आकृति' को समझना असम्भव है। पहले फ्रॉयड का 'आनन्द-सिद्धान्त'[1] मे विश्वास था। उसका कथन था कि व्यक्ति आनन्द प्राप्ति के लिये विभिन्न कार्य किया करता है। बाद मे 'आनन्द-सिद्धान्त' को छोड कर फ्रॉयड 'वास्तविकता सिद्धान्त'[2] की ओर आ जाता है। मनोविश्लेषणवाद मे यह भारी कमी दिखलाई पडती है और यहाँ हमे प्रयोजनवाद की सहायता की आवश्यकता जान पडती है। प्रयोजनवाद का कथन है कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य 'आनन्द-प्राप्ति' नही है। मनुष्य तो उद्देश्य प्राप्ति के बाद ही आनन्द का अनुभव करता है, अर्थात् 'आनन्द' उसके लिये गौण वस्तु है। मुख्य वस्तु तो एक निश्चित उद्देश्य है जिसकी ओर मनुष्य की सारी शक्तियाँ सलग्न रहती है।

(३) प्रत्यागमन में संश्लेषण की सम्भावना[3]—

प्रत्यागमन[4] के विश्लेषण मे ही मनोविश्लेषणवाद और प्रयोजनवाद मे सश्लेषण की सम्भावना मालूम होती है। जीव तथा मानसिक विकास के क्षेत्र मे प्रत्यागमन का प्रधान हाथ दिखलाई पडता है। हम देखते है कि कुछ जानवर वातावरण के संघर्ष से पाये हुए अपने कुछ अवयवो को खो बैठते हैं, और अन्त मे अपनी प्राथमिक अवस्था पर आ जाते हैं। आजकल एक राष्ट्र की दूसरे से बडी लडाइयाँ होती है। इसमे हमे विकास के सम्बन्ध मे प्रत्यागमन का आभास मिलता है। इस प्रकार प्रत्यागमन हमारी उन्नति मे बडा बाधक है। यदि सभ्यता और सस्कृति की रक्षा करनी है तो इसका पूर्ण रूप से नाश करना होगा।

फ्रॉयड ने सर्वप्रथम व्यक्ति के मस्तिष्क के सम्बन्ध मे प्रत्यागमन के रहस्य को समझा। प्रत्यागमन को ही उसने मानसिक रोगी के बुरे कार्यो का प्रधान कारण माना। मैग्डूगल ने भी प्रत्यागमन को समझने की चेष्टा की, पर वह सफल न हो

---

1. Pleasure-principle 2 Reality-principle 3. A probable Synthesis in regression 4 Regression

सका। वह अपने प्रयोजनवाद की योजना मे प्रत्यागमन के अस्तित्व को स्वीकार ही नही करता। प्रयोजनवाद मे प्रत्यागमन का तात्पर्य उच्च स्थायीभावो से मूलप्रवृत्तियो की सतह पर आना है। अर्थात् प्रत्यागमन के वशीभूत होकर एक सभ्य व्यक्ति भी निकृष्ट कोटि का कार्य कर सकता है। इसी को मानसिक विकास की क्रिया की 'उलटी[1] गति' (रीवर्सल) कहते हैं। मैग्डूगल अपनी चौदह मूलप्रवृत्तियो के पीछे नही जाना चाहता। उसके अनुसार वे सभी कार्यो के मूलउद्गम हैं। यहाँ मैग्डूगल भूल करता है। उसका यह विश्वास कि चौदह मूलप्रवृत्तियो के पूर्व कोई शक्ति होती ही नही भ्रमात्मक है। परन्तु मनोविश्लेपणवाद मानसिक विकास की आदि-अवस्था की व्याख्या करता है। यही कारण है कि मैग्डूगल मनोविश्लेपणवाद का विरोधी दिखलाई पडता है। अपने मानव व्यवहार के परीक्षणो मे मैग्डूगल को अपनी धारणा की भूल स्पप्ट हो गई है। फलत उसने अपनी कुछ भूलो को स्वीकार किया है। अत हम प्रयोजनवाद और मनोविश्लेपणवाद मे सश्लेषण करने का प्रयत्न कर सकते हैं।

ऊपर हम देख चुके हैं कि स्थायीभाव का विकास मूलप्रवृतियो से ही प्रारम्भ होता है। मैग्डूगल का कथन है कि व्यक्ति के समस्त कार्य स्थायीभाव के ही अनुसार चलते हैं। कभी-कभी व्यक्ति अपने स्थायीभाव की श्रेणी से नीचे उतर आता है और उसका व्यवहार पाशविक दिखलाई पडता है। प्रयोजनवाद के अनुसार इसी को प्रत्यागमन कहते है। इसी का नाम 'ऊचे से नीचे को पतन' दे सकते हैं। मैग्डूगल फ्रॉयड का विरोधी दिखलाई पडता है, क्योकि फ्रॉयड चौदह के स्थान पर केवल एक ही मूल-प्रवृत्ति अर्थात् काम-भावना के अस्तित्व को स्वीकार करता है। परन्तु मैग्डूगल की चौदह मूलप्रवृत्तियो की उत्पत्ति तो किसी एक 'शक्ति' से ही हुई होगी। जब हम उनके विकास के उद्गम का सकेत एक ही शक्ति की ओर करते है तो प्रयोजनवाद और मनो-विश्लेपणवाद एक दूसरे के पूरक दिखलाई पडते हैं।

फ्रॉयड और मैग्डूगल के विकास की भावना मे खाई दिखलाई पडती है। दोनो सम्प्रदायो के बीच की इस खाई को भरने से ही हम सश्लेपण पा सकते हैं। वास्तव मे प्रयोजनवाद और मनोविश्लेपणवाद एक ही मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के दो पहलू प्रतीत होते हैं। यह दिखलाया जा सकता है कि मैग्डूगल की चौदह मूलप्रवृत्तियाँ एक ही 'गर्भस्थान' अथवा 'प्राथमिक जीवनी शक्ति' से उत्पन्न हुई हैं। मैग्डूगल का अध्ययन करते समय पाठक को यह ध्यान रखना चाहिये कि वह विकास की 'प्राथमिक अवस्था' से न प्रारम्भ कर 'मध्य अवस्था' से प्रारम्भ करता है। उसकी चौदह मूलप्रवृत्तियो के सूक्ष्म विश्लेपण से हम पाँच मूलप्रवृत्तियो को सारभूत मान सकते हैं—भोजनान्वेपण, पलायन, पुत्र-कामना, भोग तथा सामूहिक जीवन। इन पाँच शक्तियो के विकास का

1. Reversal.

एक इतिहास है जिसके विश्लेषण से हम फ्रॉयड द्वारा प्रवर्तित 'काम-भावना' के विचार पर आ जाते हैं। 'काम-भावना' के उद्‌गम-स्थान के बारे मे हम सोचते है तो मूल-प्रवृत्तियो का 'गर्भस्थान' हमे एक ही मालूम पड़ता है। इसी गर्भस्थान से मानव मस्तिष्क का विकास हुआ है और बढते-बढते उसका यह वर्त्तमान रूप हो गया है।

अन्त मे फ्रॉयड ने 'काम-भावना' के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रवृत्तियो के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। इनमे आक्रमण करने की भावना, अज्ञात-चेतना मे पाप का विचार, भय तथा सकेत की प्रवृत्तियाँ हैं। मैग्डूगल ने फ्रॉयड के इस परिवर्तित विचार का स्वागत किया और कहा कि फ्रॉयड का सिद्धान्त दूसरे सम्प्रदायो की तुलना में प्रयोजनवाद से अधिक सन्निकट है। परन्तु वह फ्रॉयड के 'अज्ञात-चेतना' के सिद्धान्त से सहमत न हो सका। कुछ लोगो ने मैग्डूगल की चौदह मूलप्रवृत्तियो के सिद्धान्त की कडी आलोचना की है। उनका कहना है कि उसका सिद्धान्त शक्ति-मनोविज्ञान[1] की कोटि मे आते हुए दिखलाई पडता है। मैग्डूगल को इस विषय-स्थिति से बचाने के लिये गार्नेट[2] ने मूलप्रवृत्तियो का उद्‌गम स्थान नाडीमण्डल बतलाता है। इस प्रकार मस्तिष्क के एकत्व की रक्षा भली-भाँति हो जाती है। हमारे जीवित रहने की प्रवृत्ति मानसिक है। इस प्रवृत्ति का रूप हम मानव जीवन मे विभिन्न रूप मे देखते हैं। ये विभिन्न रूप नाडीमण्डल से आरम्भ होते हैं और ये हमारी मूलप्रवृत्तियाँ ही है। इस प्रकार गार्नेट प्रयोजनवाद को नाडीमण्डल की ओर विस्तृत करना चाहता है।

डा० लन्दहॉम[3] का कुछ और ही कहना है। वे गार्नेट के विचारो को अपना कर एक अलग विचार प्रतिपादित करते हैं। उन्होने 'जिज्ञासा प्रवृत्ति', को हमारी समस्त प्रवृत्तियो का मूल माना है। 'जिज्ञासा' से ही हमारी विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियाँ उठ कर अपनी-अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये इधर-उधर दौडती है। परन्तु डा० लन्दहॉम अपने 'जिज्ञासा' सिद्धान्त के प्रतिपादन मे 'नाडीमण्डल' को ही उसका उदगम स्थान मानते हैं। मैग्डूगल तथा उसके कुछ समर्थक कुछ प्रमाण के आधार पर अपने मत का प्रतिपादन करते है। उनकी धारणा है कि :—

१—शरीर और मस्तिष्क समान नही हैं,

२—शरीर और मस्तिष्क का एक दूसरे पर प्रभाव पडता है,

३—जीवित रहने की प्रवृत्ति मे सन्देह नही किया जा सकता,

४—मानसिक और शारीरिक शक्ति एक दूसरे से भिन्न है, और,

५—चेतन प्राणी का व्यवहार सदैव एक निश्चित उद्देश्य के अनुसार होता है।

परन्तु मैग्डूगल और उसके समर्थक अज्ञात-चेतना के प्रोत्साहन के प्रति उदासीन दिखलाई

1. Faculty Psychology 2 Garnett. 3. Lundholm.

पड़ते हैं। इसीलिये उनकी धारणा अपूर्ण सी दिखलाई पडती है और हमारी शिक्षा-योजना के आधार के लिये पर्याप्त नही हो सकती।

हमें अपनी शिक्षा-योजना के लिये एक ऐसे मनोविज्ञान की आवश्यकता है जो मानव व्यक्तित्व के सभी पहलुओ पर प्रकाश डाल सके। सर्वप्रथम हमे 'उत्कृष्ट-चेतना'[1] (सुपर कॉन्शस) के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। पाश्चात्य लोगों ने इसके प्रति उदासीनता ही दिखलाई है। परन्तु हम प्राच्य लोग ऐसा नही कर सकते, क्योकि हमारी ऐसी परम्परा ही नही रही है। हम सब मे जीवित रहने की इच्छा रहती है। हमारे जीवन की प्रेरणा इस इच्छा से कुछ ऊपर रहती है, क्योकि उसमे कुछ उद्देश्य निहित रहता है। वस्तुत हमारी इस 'इच्छा' तथा 'प्रेरणा' का उद्गम स्थान एक ही है। इच्छा मे विशेषकर हम शारीरिक सुख का आदर्श रखते हैं और प्रेरणा मे मानसिक का। शरीर हमारी मानसिक शक्तियो के सयोग की एक सज्ञा है, क्योकि वह सदैव मस्तिष्क का अस्त्र वना रहता है। वहुधा कहा जाता है कि हमारा शरीर अमुक वस्तु चाहता है। परन्तु ऐसी वात नही। चाह तो हमारी मस्तिष्क की प्रेरणा से ही होती है। हमारा मस्तिष्क शरीर को साधन बनाकर अपनी इच्छा की पूर्ति करता है। परन्तु मस्तिष्क की यह इच्छा अथवा 'प्रेरणा' क्या है? अथवा हमारे मानसिक प्रयत्नो का उद्देश्य क्या रहता है? प्रयोजनवाद तो केवल शरीर-सम्वन्धी प्रेरणाओं का उल्लेख करता है। परन्तु हमे तो इन शारीरिक और भौतिक उद्देश्यो से ऊपर उठना है। हमे आध्यात्मिक प्रवृत्ति से अभिभूत होने की शक्ति प्राप्त करनी है। हमे 'सत्य शिव सुन्दरम्' की सतह पर पहुँचना है। जो मनोविज्ञान इन भावनाओ को छोड देता है वह हमारी शिक्षा के लिये उपयुक्त नही हो सकता। अत' हमे अपनी शिक्षा के लिये एक ऐसे मनोविज्ञान की आवश्यकता है जिसमे ये सब भाव निहित हो। इस धारणा के अनुसार शिक्षा के लिये वाछित नवीन प्रयोजनवाद का निम्नलिखित आधार होना चाहिये:—

१—आत्मिक शक्ति का अस्तित्व स्पष्ट है।

२—व्यक्ति की विभिन्न मानसिक शक्तियाँ उसकी एक ही आत्मिक शक्ति के विभिन्न पहलू हैं।

३—मौलिक शक्ति व्यक्ति के मस्तिष्क का सत्य है।

४—यह मौलिक शक्ति व्यक्ति को आध्यात्मिक प्रवृत्ति अथवा सूक्ष्मभावना की प्राप्ति के लिये उत्तेजित करती है।

५—'सत्य शिवं सुन्दरम्' इस आध्यात्मिक प्रवृत्ति के तीन पहलू हैं।

यदि उपर्युक्त धारणा के अनुसार हम किसी के व्यक्तित्व को समझने की चेष्टा करे तो हमे उसके विषय मे सभी वातो का स्पष्ट पता लग सकता है। उसके व्यवहार

1. Super-Conscious.

और चरित्र के सारे अंग हमारे सामने स्पष्ट हो जायेगे। यदि हम व्यक्ति को समझने के लिये उसे उपर्युक्त कसौटी पर कसना चाहते है तो हमे अपने शिक्षा के आदर्शो में भी परिवर्तन लाना होगा। आधुनिक समाज के रूप को देख कर एक अरुचि सी उत्पन्न हो जाती है। समाज की वर्तमान दशा महात्मा गाधी के लिये असह्य थी। इसे देखने के वदले उसे ठीक करना अथवा मर जाना उन्हे श्रेयस्कर लगता था। अब हम एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते है जिसमे मनुष्य मनुष्य से घृणा न करे, वरन् प्रेम से रहे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हमे उपर्युक्त मनोविज्ञान के आधार पर अपने शिक्षा के आदर्शो को बदलना होगा। हमारे नई शिक्षा के आदर्श निम्नलिखित होने चाहिये—

हमारे नई शिक्षा के आदर्श—

१—शिक्षा का उद्देश्य किसी 'रूप' अथवा 'परम्परा' की रक्षा न होकर 'जीवनोद्धार' होना चाहिये। वर्तमान उद्योगवाद के उन्माद मे व्यक्तित्व का विकास नही रोकना चाहिये।

२—शिक्षा से व्यक्ति को उच्च आदर्शो की प्राप्ति होनी चाहिये। समाज-सेवा की भावना से वह ओतप्रोत हो जाय और उसका मन वास्तविकता की प्राप्ति मे रत रहे।

३—व्यक्ति मे 'सत्य शिव सुन्दरम्' की भावना बडी प्रबल होती है। इसी की खोज मे वह शान्ति पा सकता है। शिक्षा को इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये पूरा आयोजन करना है।

४—मनुष्य मन.शारीरिक प्राणी है। उसका विकास इसी सिद्धान्त के अनुसार होता है। अतएव उसकी शिक्षा भी इसी के अनुकूल हो।

५—बालक का जीवन गतिपूर्ण होता है। वह वातावरण से आदान व प्रदान मे लीन रहता है। अत शिक्षा का उद्देश्य बालक को आदंश वातावरण देना है जिससे उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके।

६—पुरस्कार, दण्ड और धमकी के बल पर पाठशाला मे नियन्त्रण रखना हानिकर है। नियन्त्रण तो बालकों के तात्कालिक उद्देश्य से स्थापित हो जाना चाहिये। इस उद्देश्य का निर्धारण वालक अपने वातावरण के अनुसार स्वय करेगा।

७—रचनात्मक क्रियाशीलता मानव स्वभाव है। शिक्षक यदि इस उद्देश्य के अनुसार चले तो वे निश्चय ही एक आदर्श समाज का निर्माण करने मे सफल होगे।

८—शिक्षक और बालक के उद्देश्य मे भिन्नता नही होनी चाहिये। शिक्षक को यह सोचना चाहिये कि बालक के साथ वह भी सीख रहा है।

९—शरीर पर ध्यान देने के साथ ही साथ प्रारम्भ से ही भावनाओ और सवेगो की शिक्षा पर भी ध्यान देना चाहिये। वस्तुत. मानसिक विकास की पूर्णता इन तीनो पर निर्भर है।

१०—शिक्षा ऐसी हो कि मनुष्य उसके सहारे आत्म-बोध प्राप्त कर सके।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

१—व्यवहारवाद (बिहेवियरिज्म)—

'चेतना-रचना-वाद' और 'चेतना-कार्य-वाद'।

चेतना-रचना-वाद और चेतना-कार्य-वाद के द्वन्द से व्यवहारवाद का जन्म; मानव चेष्टा और व्यवहार का अध्ययन ही आवश्यक, स्वाभाविक तथा अर्जित व्यवहार।

वेशेरेव से 'सम्वद्ध-सहज-क्रिया' का पता, पवलव—'अभिसधानित सहज-क्रिया', हमारा सब कुछ सीखना अभिसधानित सहज-क्रिया के आधार पर।

मस्तिष्क समाचार खींचने वाले रेडियो के समान, 'अभिसधानित सहज-क्रिया' के अनुसार उसका काम।

थॉर्नडाइक, 'प्रयास एव त्रुटि से सीखने की विधि' (ट्रायल ऐण्ड एरर मेथड), पशु और मनुष्य दोनो का इस विधि से सीखना।

व्यवहारवाद और शरीर-विज्ञान में मौलिक भेद, व्यवहारवाद को स्मृति, विचार, सवेग तथा सकल्प का अस्तित्व स्वीकार नही।

संवेग और मूलप्रवृत्तियाँ—

बच्चो मे भय, क्रोध और प्रेम वातावरण के उत्तेजना के फलस्वरूप।

पहले वाटसन ने वशानुक्रमीय मानसिक गुण को न माना, 'मूलप्रवृत्तियाँ' नहीं, पर बाद मे कुछ 'मूलप्रवृत्तियाँ' स्वीकार।

व्यवहारवाद के अनुसार सीखने का सिद्धान्त—

"प्रयास एव त्रुटि मे सीखने की विधि" को "सफल प्रतिक्रियाओ को चुनने से सीखना" कहना ठीक, पशु और मनुष्य दोनो का इस विधि से सीखना।

थॉर्नडाइक के अनुसार सीखने की विधि के दो भाग—

अभ्यास तथा परिणाम का नियम, वाटसन के अनुसार परिणाम का नियम गलत, पुनरावृत्ति, नवीनता तथा स्पष्टता के आधार पर सीखना, 'अभिसधानित सहज-क्रिया' भी सीखने का आधार, 'व्यवहारवाद या उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद'।

व्यवहारवाद और शिक्षा :

वशानुक्रमीय गुण को न मानने मे व्यवहारवाद सकीर्ण, अपने विकास की

धारा प्रवाहित करने के लिये मस्तिष्क मे कुछ शक्ति निहित, व्यक्तित्व की छाप हमारे सभी प्रयोजनो और अनुभवो में, मनुष्य वातावरण की दया पर निर्भर नही।

व्यवहारवाद मे मानव व्यक्तित्व की सन्तोषप्रद व्याख्या नही, वाह्य चेष्टाओ के अध्ययन से ही मनुष्य का व्यवहार समझना कठिन, वाह्य चेष्टाओ की परिचालक आन्तरिक शक्तियाँ।

२—अवयवीवाद—

व्यवहारवाद और अवयवीवाद मे भेद।

परीक्षणवादी, विश्लेषण के आधार पर किसी वस्तु को समझना भ्रमात्मक, अवयवी के सम्बन्ध मे अवयवो का अध्ययन करना आवश्यक, किसी वस्तु को समझने के लिये सम्पूर्ण वस्तु अर्थात् अवयवी पर ध्यान देना।

वस्तु की आकृति की विशिष्ट रूप से स्वतन्त्र सत्ता नही, आकृति 'परिस्थिति विशेष' मे मस्तिष्क पर पडे हुये परिणाम का फल।

आकार भूमि से अधिक आकर्षक।

अवयवीवाद के अनुसार 'व्यवहार', प्रत्यक्षीकरण-सम्बन्धी क्रियाओ को भी समझना आवश्यक, व्यवहार क्रियाओ की शृङ्खला नही।

अवयवीवाद के अनुसार 'सीखना'—

प्रतिक्रिया 'विषय विशेष' के प्रति नही, अपितु किसी आदर्श के प्रति।

प्राणी की प्रतिक्रिया सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति, कोहलर का बनमानुष पर परीक्षण, 'सम्पूर्ण' से 'अश' की ओर जाना, अश से सम्पूर्ण की ओर नही।

'उत्तेजना' और 'प्रतिक्रिया' का बन्धन ही प्रतिक्रिया उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त नही, मानसिक 'तनाव' से क्रिया शक्ति का बढ जाना, इस तनाव को दूर करने के लिये सम्पूर्ण परिस्थिति के अध्ययन के बाद हममे प्रतिक्रिया का होना।

अवयवीवाद और शिक्षा—

अवयवीवाद से 'सम्पूर्ण' और 'अश' का महत्व स्पष्ट, दृष्टिकोण के परिवर्तन से अज्ञात वस्तु का भी ज्ञात होना।

अवयवीवाद से बुद्धि की परिभाषा स्पष्टतर, वालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर ध्यान देना, सब कुछ परीक्षण की कसौटी पर, केवल वाह्य चेष्टाओ का ही अध्ययन नही।

व्यक्ति का जीवन पृथक-पृथक घटनाओ का योग नही—वह एक सुसगठित अवयवी, सब के विषय मे एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना भ्रमात्मक।

वालकों का वातावरण अधिक परिवर्तनशील, अवयवीवाद की सहायता से व्यक्ति को अधिक समझ सकना, अवयवीवाद अधिक प्रगतिशील।

विश्लेपण का आशय सश्लेपण ही।

अवयवी के अध्ययन मे अवयवो का ज्ञान स्पष्ट नही, सम्पूर्ण के अध्ययन के लिये कोई वैज्ञानिक विधि नही, 'बुद्धि परीक्षा' और 'विद्या-परीक्षा' पर्याप्त नही, 'सीखने की क्रिया' मे सम्पूर्ण व्यक्ति के समझने की विधि का आविष्कार करना आवश्यक।

वर्तमान शिक्षा में रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास का प्राधान्य, शिक्षा केवल ललित-कलाओ में ही नही, अपितु 'रहने की कला' मे भी।

स्कूल मे सामाजिकता की ध्वनि, सामूहिक रूप मे कार्य करना आदर्श, नये शिक्षा-मनोविज्ञान की आवश्यकता, अवयवीवाद से आशा।

अवयवीवाद के अनुसार शिक्षक का वातावरण की उपेक्षा कर सकना।

अवयवीवाद के आगे 'उत्तेजना-प्रतिक्रियावाद' भ्रमात्मक, स्वभाव को समझने के लिये सम्पूर्ण परिस्थिति का ज्ञान आवश्यक।

'सामञ्जस्य' मानव व्यवहार का केन्द्र 'सामञ्जस्य' के लिये शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य आवश्यक, 'सामञ्जस्य' पर विशेष ध्यान देना।

३—स्पीयरमैन का 'दो तत्व का सिद्धान्त'—

[अर्थात् 'सामान्य (जी) और 'विशिष्ट' (एस) का अस्तित्व]

थॉर्नडाइक—'बुद्धि' कुछ स्वतन्त्र योग्यताओ का योग, 'स्पीयरमैन-सामान्य' और 'विशिष्ट' योग्यता, सकल्प-शक्ति'।

स्पीयरमैन के अन्वेषण का शिक्षा में महत्व—

'सम्बन्ध तथा परस्पर सम्बन्ध का सिद्धान्त,' 'चिन्तन' (थिंकिंग) प्रयोजन-बद्ध मानसिक क्रिया, इसके लिये बालको के सामने समस्या उपस्थित करना।

'सामान्य योग्यता' प्राय· प्रत्येक काम मे सदा समान, 'विशिष्ट योग्यता' में विभिन्न कार्य के अनुसार एक ही व्यक्ति में अन्तर, जीवन की सफलता 'सामान्य योग्यता' पर अधिक निर्भर।

गणित के लिये अधिक 'सामान्य' तत्व और 'सगीत' के लिये अधिक 'विशिष्ट' तत्व, गणित मे विद्यार्थी की सफलता से उसकी जीवन सफलता की ओर सकेत।

४—मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय फ्रॉयड—

अज्ञात-चेनना की मानव व्यवहारो पर गहरी छाप, ज्ञात-चेतना सतह मात्र, मनोविश्लेपणवादी सम्प्रदाय का कार्य 'अज्ञात-चेतना' का अध्ययन करना।

'मोहनिद्रा' फ्रॉयड की प्रधान चिकित्सा-विधि, जेनेट के परीक्षण, मानसिक सवेग के धक्के से अज्ञात-चेतना मे कुछ विचारो का जमघट होना, इसका जीवन-घटना पर प्रभाव।

'स्वतन्त्र साहचर्य' और 'मोहनिद्रा' की सहायता से अज्ञात-चेतना का रूप समझना सम्भव, 'मस्तिष्क मे आये हुए बडे विचारो को सामाजिक भय से बाहर न निकालने की हमारी चेष्टा, पर यह सम्भव नही, उनका अज्ञात-चेतना मे केन्द्रित होना, अवदमन द्वारा उन्हे रोके रहना।

हमारे 'उच्च अन्त करण' का 'प्रतिहारी' (सेन्सर) का कार्य करना।

'साधारण अन्त करण' (इगो) इच्छाओ का घर, 'उच्च-अन्त करण' सतरी-बुरी इच्छाओ को वाहर न आने देना, सुप्तावस्था मे 'उच्च-अन्त करण' के ढीले हो जाने पर स्वप्न मे बुरी इच्छाओ का विभिन्न रूप मे दिखलाई पडना, क्रोधावस्था मे भी 'उच्च-अन्त करण' ढीला।

'इच्छा' की क्रियाशीलता से परिपूर्ण अतृप्त इच्छाओ की 'अज्ञात चेतना' मे भावना-ग्रन्थि'—इससे एक मानसिक उद्वेग की उत्पत्ति, इसका व्यक्ति के चरित्र और व्यवहार पर विपम प्रभाव।

फ्रॉयड की कुछ कल्पनाये सारभूत, मनुष्य के सभी व्यवहारो मे एक 'प्रयोजन', मानसिक रोगी अपनी प्रतिरुद्ध इच्छाओ के कारण ही विकल।

हमारी त्रुटियाँ सकारण।

स्वप्न भूतकाल की अनुभूतियो का प्रतिबिम्ब, बच्चो का स्वप्न जागृत अवस्था की कल्पना, नवयुवको का स्वप्न उनकी इच्छा-पूर्ति का साधन।

'कारण' तथा 'इच्छा' को समझने के लिये भूतकाल के अनुभव सहायक, हमारे अनुभव समय-समय पर स्वप्न अथवा दूसरे रूप मे।

भावना-ग्रन्थियाँ केवल बुरी ही नही, बचपन मे पडी हुई भावना-ग्रन्थियो से मुक्त होना अत्यन्त कठिन, गति स्वाभाविक, उसके अनुसार हमारे स्वभाव का बनना और विगडना।

अज्ञात-चेतना मे छिपे हुए प्राय सभी विचार 'काम सम्बन्धी', बालक का सारा कार्य काम-भावना से प्रेरित, इडीपस भावना-ग्रन्थि।

एडलर (१८७०–१९३७)—

काम-भावना हमारे कार्यो का प्रधान आधार नही, व्यक्ति सदैव अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की चेष्टा मे, 'समाज', 'जीवन-वृत्ति' और 'प्रेम' के क्षेत्र मे अपने को अनुकूल बनाने का प्रयत्न, अतः उसमे 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा', यही अभिलाषा प्रधान आधार।

प्रत्येक मानसिक रोगी की अपने को श्रेष्ठ दिखलाने की इच्छा, 'हीनता की भावना' से वचने के लिये एक विचित्र 'जीवन-ढग' को अपनाना, वह 'वास्तविकता' से सदा दूर।

बच्चे को अपनी हीनता का बहुत पहले ही आभास, बचपन में ही जीवन-ढग की नीव, वातावरण का विशेष प्रभाव।

जो 'जीवन-ढग' पड जाता है उसका किसी न किसी रूप मे सदा रहना, 'रुचि' तथा 'अरुचि' से रोगी के जीवन पर प्रकाश, उसकी सभी प्रकार की गतियाँ सारगर्भित; 'जीवन-ढग' की सब स्थान पर प्रधानता।

एडलर के अनुसार स्वप्न के सकेत भविष्य की ओर, उनसे 'जीवन-ढग पर प्रकाश'।

एडलर का सिद्धान्त फ्रॉयड से अधिक सवद्ध, एडलर के अनुसार 'अज्ञात' और 'ज्ञात' चेतना एक दूसरे की विरोधी नही, दोनो का व्यक्ति को गतियुक्त बनाना, एडलर के सिद्धान्त फ्रॉयड से अधिक लाभप्रद।

यूङ्ग (१८७५—)—

यूङ्ग के विचार फ्रॉयड और एडलर से भिन्न, अज्ञात-चेतना केवल ज्ञात-चेतना द्वारा अवदमित विचारो का ही जमघट नही, उसकी व्याख्या जातिगत स्मृति के आधार पर, अज्ञात-चेतना ज्ञात-चेतना की क्षतिपूरक।

जातिगत स्मृति के अन्तर्गत व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त सभी अनुभूतियाँ, साधारण अन्त प्रेक्षण से समझना कठिन, मानसिक जीवन अस्पष्ट चित्र।

यूङ्ग और वर्गसन—

विकास की क्रिया मे परोपकार के लिये काम-भावना के विभिन्न अङ्ग हो जाना, नैतिकता उतनी ही प्राचीन जितनी मानव जाति।

यूङ्ग के अनुसार स्वप्न का रूप—

स्वप्न से वर्तमान और भविष्य की ओर सकेत, स्वप्न वर्तमान स्थिति का व्यङ्गचित्र, सारगर्भित रूपक लिये हुए, भावी उन्नति की ओर सकेत।

यूङ्ग मे फ्रॉयड और एडलर दोनो के कार्यो का सामञ्जस्य, अन्तर्मुख और वहिर्मुख।

'मध्यमुख', अन्तर्मुख और 'वहिर्मुख के अन्तर्गत कई प्रकार के व्यक्ति।

मनोविश्लेषणवाद और शिक्षा—

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये 'अज्ञात-चेतना' का समझना आवश्यक, वालक की अज्ञात-चेतना को समझे विना शिक्षक का अपने कर्त्तव्य का पालन न कर सकना, वालको की गलतियो का उत्तरदायित्व अभिभावको पर।

वालक की अज्ञात-चेतना को समझने का उत्तरदायित्व शिक्षक पर, मूल-प्रवृत्तियो को ज्ञात-चेतना के नियन्त्रण मे लाना आवश्यक, मनोविश्लेषणवाद की सहायता से उनका शोधन सम्भव, विशेषज्ञों की सहायता आवश्यक।

मनोविश्लेषणवाद की सहायता से 'मूल' मे छिपी हुई भीतरी इच्छा को समझ सकना, विशेषज्ञ को शिक्षक की सहायता आवश्यक, निदान का शीघ्र पता लगाना।

शक्ति के घमण्ड मे बालक के प्रति शिक्षक का अमानुषिक व्यवहार, यदि शिक्षक निर्बल हुआ तो बालको मे मिथ्या आत्म-प्रदर्शन की भावना, शिक्षक को अपनी मानसिक स्थिति का पूरा ज्ञान आवश्यक, उसका हानिकर भावना-ग्रन्थियो से मुक्त होना आवश्यक, इन सब मे मनोविश्लेषणवाद की सेवा अमूल्य।

प्रकृतिवाद और मनोविश्लेषणवाद के शिक्षा-सिद्धान्तो मे कुछ समानता, 'काम-भावना' पर अब उचित ध्यान, शारीरिक दण्ड ठीक नही, बालको के प्रति सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार, बालको को आत्म-प्रदर्शन के लिये अवसर देना आवश्यक, विषय-ज्ञान और व्यक्तित्व-निर्माण के उद्देश्य मे सामञ्जस्य उपस्थित करना सम्भव।

बालको का अपनी स्थिति को समझने मे भूल करना, उनकी गलती करने से ही उन्हे शिक्षित बनाना सम्भव, इसे समझने मे ही शिक्षक की सफलता।

बालक का विकास 'विभिन्न वस्तुओ को व्यक्तिगत रूप मे समझने' पर निर्भर।

५—प्रयोजनवादी सम्प्रदाय—

हमारी समस्त क्रियाएँ प्रयोजनवश ही, 'विषय' के उपस्थित होने से ही 'प्रति-क्रिया' का होना आवश्यक नही, 'प्रतिक्रिया' प्रेरक-भावना पर निर्भर, प्राणी के प्रत्येक कार्य मे प्रयोजन।

मैग्डूगल की मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त—

मूलप्रवृत्ति प्राथमिक प्रेरक-भावना, सवेग मूलप्रवृत्ति का केन्द्र, हमारी प्रवृत्यात्मक क्रिया के तीन अग—जानना, अनुभव करना और सकल्प करना।

स्थायीभाव—

वातावरण के अनुसार अनुभव से मन शारीरिक प्राणी मे परिवर्द्धन, किसी वस्तु के प्रति सवेगो के सगठन से स्थायीभाव की उत्पत्ति, व्यवहार स्थायीभाव से ही, स्थायीभाव ही कारणभूत।

मैग्डूगल के अनुसार प्रयोजनवाद की पर्याप्तता—

प्रयोजनवाद की सहायता से समस्त व्यवहारो की व्याख्या सम्भव, शरीर-विज्ञान और जीव-विद्या की समस्या का भी समाधान प्रयोजनवाद से सम्भव।

मैग्डूगल के आलोचक—

प्रयोजनवाद के आलोचक, क्योकि इसके अनुसार मनुष्य पशु की श्रेणी मे, युद्ध के क्रूर दृश्य से मैग्डूगल के कथन की पुष्टि, पर मनुष्य के पास बुद्धि भी, वह स्थायीभाव की सतह पर, परन्तु पशु नही।

प्रयोजनवाद की देन—

प्रयोजनवाद से इन्द्रियो की विकास-क्रिया का ज्ञान स्पष्ट, अनुभव को विभिन्न भागो मे पृथक-पृथक नही बाँट सकना, प्रत्येक जाति-विशेष मे जीवित रहने की इच्छा, बालक की भावी उन्नति का रूप स्पष्ट, स्मरण-शक्ति दूरदर्शिता के लिये और दूरदर्शिता कार्य के लिये।

प्रयोजनवाद के अनुसार बुद्धि शुद्ध अनुमान से प्राप्त नही, ज्ञान सकल्प शक्ति का सेवक मात्र, प्रयोजनवाद गतिपूर्ण।

प्रयोजनवाद दर्शन-शास्त्र का अच्छा मनोवैज्ञानिक आधार।

प्रयोजनवाद से हमारी अन्वेषण प्रवृत्ति उत्तेजित।

प्रयोजनवाद और शिक्षा—

सवेग से सकल्प को पूरा करने के लिये मानसिक शक्ति प्राप्त, सवेग की शिक्षा की अवहेलना घातक।

मूलप्रवृत्तियाँ—

मूलप्रवृत्तियो का शोधन आवश्यक, स्थायीभाव की व्याख्या से प्रयोजनावाद शोधन मे सहायक, मूलप्रवृत्तियाँ हेतु, अत उनकी अवहेलना घातक।

ज्ञान, अनुभव और सकल्प का सामाजिक महत्व, स्कूल में तीनो पर समुचित ध्यान आवश्यक।

आत्म-सम्मान का स्थायीभाव—

मानसिक उलझनो और जीवन कठिनाइयो मे सहायक, इसका श्रेय प्रयोजन-वाद को ही।

चरित्र के विभिन्न अशो का प्रयोजनवाद द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।

प्रयोजनवाद से व्यक्तित्व के विषय मे शिक्षक की ज्ञान-वृद्धि, शिक्षा के अङ्गो को एक स्थान पर केद्रित कर देने की इसमे शक्ति, मनोविश्लेषणवाद के अभाव की पूर्ति।

विभिन्न मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का संश्लेषण आवश्यक—

शिक्षा-क्षेत्र मे विभिन्न मत, पर सब की प्रगति आध्यात्मिकता की ओर, अत मनोविज्ञान की आवश्यकता अपेक्षित, परन्तु वह भी सकट-स्थिति मे, अतएव एक नये मनोविज्ञान की आवश्यकता।

शिक्षा मे नई गति—

व्यक्ति गति और उत्पादकता से परिपूर्ण, ससार परिवर्तन काल मे, पूर्ण मनुष्य बनाने का उद्देश्य, व्यक्ति मन शारीरिक प्राणी, तदनुसार उसकी शिक्षा।

मनोविश्लेषणवाद और प्रयोजनवाद के सश्लेषण से समस्या का समाधान सम्भव ।

मनोविश्लेषणवाद और प्रयोजनवाद का संश्लेषण—

(१) दोनों में समानता—

गतिपूर्ण, मस्तिष्क नाडीमण्डल में स्थित नही, मानव व्यवहार मे प्रयोजन निहित, स्थायी-भाव और हानिकर भावना-ग्रन्थियाँ ।

(२) दोनों में भेद—

मनोविश्लेषणवाद मे 'काम-भावना' को प्रधानता, प्रयोजनवाद की धारणा कि 'क्रिया' से आकृति को समझा जा सकता है भ्रमात्मक, फ्रॉयड 'आनन्द-सिद्धान्त' की ओर, मैग्डूगल इसके विरुद्ध ।

(३) प्रत्यागमन में संश्लेषण की सम्भावना—

जीवन तथा मानसिक विकास मे प्रत्यागमन वाधक, इसका नाश आवश्यक ।

प्रत्यागमन का रहस्य पहले फ्रॉयड को मिला, मैग्डूगल इसको नही मानता, चौदह मूलप्रवृत्तियाँ ही सब का मूल, परन्तु उसे अपनी भूल स्वीकार ।

व्यक्ति के सारे कार्य स्थायीभाव के अनुसार ही, कभी-कभी उसका व्यवहार पाशविक, वही प्रत्यागमन, प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद एक दूसरे के पूरक ।

प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के दो पहलू, केवल पाँच मूलप्रवृत्तियाँ सारभूत, इनका और फ्रॉयड की 'काम-भावना का गर्भस्थान एक ही ।

फ्रॉयड को कुछ और प्रवृत्तियाँ मान्य, गार्नेट के अनुसार मूलप्रवृत्तियो का उदगम नाडीमण्डल ।

डा० लन्दहॉम के अनुसार 'जिज्ञासा' सवका मूल, मैग्डूगल की धारणाएँ ।

भौतिक दृष्टिकोण से ऊपर उठना, नवीन प्रयोजनवाद का आधार और शिक्षा के नये आदर्श ।

हमारे नई शिक्षा के आदर्श—

सहायक पुस्तकें

१—फ्रॉयड, एस—इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ।
२— ,, —द हिस्ट्री ऑव साइकोएनलिटिक मूवमेण्ट ।
३— ,, —द प्रॉवलेम ऑव ले एनलिसिस ।
४—एडलर—प्रॉवलेम्स ऑव न्यूरोसिस ।
५—कोहलर—गेस्टाल्ट सॉइकॉलाजी ।

६—कॉफका—द ग्रोथ ऑव द माइण्ड।
७—मैग्डूगल—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकॉलॉजी।
७— ,, —ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी।
६—नायडू, पी० एस०—द हॉर्मिक थियरी।
१०—उडवर्थ—कण्टेम्पोररी स्कूल्स ऑव साइकॉलॉजी।
११—क्रिकटन मिलर—सॉइकोएनलिस एण्ड इट्स डिराइवेटिवस।
१२—वारवरा लो—द अनकॉनशस इन ऐक्शन।
१३—गैरेट—ग्रेट एक्सपीरियन्स इन साइकॉलॉजी।
१४—प्रेसी ऐण्ड रॉबिन्सन—साइकॉलॉजी एण्ड द न्यू एडूकेशन।
१५—व्यूमॉण्ट ऐण्ड मैकोम्बर—साइकॉलॉजिकल फैक्टर्स इन एडूकेशन।

४

विकास का रूप[1] और शिक्षा

अब 'संस्कृति-युग-सिद्धान्त'[2] असत्य सिद्ध कर दिया गया है। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि बालक को अपने विकास-काल मे जाति-विकास की सभी अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। अत उसके अनुसार बालक और असभ्य आदमी मे बडी समानता पाई जाती है। यदि ऐसी स्थिति होती तो बालक की शिक्षा असम्भव हो जाती, क्योकि हमे उसे असभ्य समझ कर बहुत ही साधारण से साधारण बातो में शिक्षा देनी होती। परन्तु भाग्यवश ऐसी स्थिति नही। वातावरण का प्रभाव जो बालक पर पडता है उसी से 'संस्कृति-युग-सिद्धान्त' की भूल सिद्ध हो जाती है। अतः बाल विकास को समझने के लिये हमे दूसरी ही ओर झुकना पड़ेगा।

प्रोफेसर हेनरी बर्गसन का कथन है कि व्यक्ति का विकास उसकी अन्त·प्रेरणा से होता है। उसके अनुसार व्यक्ति मे एक ऐसी 'जीवन शक्ति'[3] होती है जो उसके विकास मे वातावरण के सभी साधनो का उपयोग करती है। कुछ 'शिक्षा-विशेषज्ञो के अनुसार व्यक्ति के विकास पर बाह्य वातावरण का अत्यधिक प्रभाव पडता है। सामाजिक वातावरण जैसा रहता है उसी के अनुसार विकास होता है। अत इस विकास-क्रिया मे व्यक्ति अपनी अन्त प्रेरणा से कुछ योग नही देता। परन्तु ये दोनो दृष्टिकोण केवल आधे ही सत्य को पकड़ते हैं। वास्तव में विकास तो हमारी अन्त.प्रेरणा और सामाजिक वातावरण का 'गुणनफल' है। दोनो के परस्पर प्रभाव से हमारा विकास होता है। दोनो का होना आवश्यक है। हमारे शरीर और मस्तिष्क की परिक्वता तथा उसके 'सीखने की शक्ति' पर विकास का रूप निर्भर रहता है। अपनी मूलप्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे मनुष्य पशुओ के समान ही कहा जा सकता है। परन्तु अपनी बुद्धि और सामाजिक गुण के कारण वह पशु से श्रेष्ठ ठहरता है। यदि व्यक्ति की मूल-प्रवृत्तियाँ अवदमित न की जाँय तो उनका शोधन किया जा सकता है। पिछले अध्याय मे हम यह कह चुके हैं कि मानव मन.शारीरिक प्राणी है और उसकी शारीरिक उन्नति

1 The Nature of Growth. 2 Culture-Epoch Theory. 3. Elan Vital.

तथा अवनति के साथ मस्तिष्क भी सदा जुडा रहता है। यदि शरीर स्वस्थ हुआ तो मस्तिष्क भी स्वस्थ रहेगा अन्यथा नही। एक का दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शरीर के अस्वस्थ होने से मस्तिष्क के भी अस्वस्थ होने का भय रहता है। मूलप्रवृत्तियो और रुचियो के अध्ययन में हमें व्यक्ति के शरीर और मस्तिष्क दोनो की स्थिति पर ध्यान देना चाहिये, क्योकि वे मन शारीरिक प्रवृत्तियाँ हैं। स्पष्ट है कि किसी भी शिक्षा-योजना मे हमे शरीर और मस्तिष्क दोनो पर उचित ध्यान देना है। यदि हम किसी एक की अवहेलना करते हैं तो फल हानिकर होगा।

गत अध्याय मे ज्ञान, सवेग और सकल्प-शक्ति के भेद पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। यह समझना कि ये एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं, भूल होगी। वास्तव मे ये तीनो एक ही क्रिया के तीन परस्पर-सम्बन्धी अग हैं। किसी भी मानसिक क्रिया मे इन तीनो का सामञ्जस्यपूर्ण मिश्रण रहता है। केवल 'ज्ञान'[1] व्यर्थ होता है, यदि उसके साथ ही सवेग और सकल्प शक्ति का सन्निवेश न हो। इसी प्रकार शुद्ध सवेग की भी कोई उपयोगिता नही, यदि व्यक्ति अपनी संकल्प-शक्ति के बल पर उसके अनुसार एक निश्चित उद्देश्य की ओर अग्रसर नही होता। मैग्डूगल का तो यहाँ तक कहना है कि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियो की क्रिया मे भी इन तीनो प्रकार के अनुभव निहित रहते हैं। स्पष्ट है कि शिक्षक को इन तीनो अगो पर ध्यान देना है। तभी बालक का पूर्ण विकास सम्भव हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति की क्रिया एक इकाई से रूप में होती है। उसके अनुभव एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। वह मन शारीरिक व सामाजिक प्राणी है। शक्ति-मनोविज्ञान[2] की त्रुटि अब सिद्ध की जा चुकी है। व्यक्ति की विभिन्न मानसिक शक्तियाँ एक दूसरे से स्वतन्त्र नही होती। अपने ज्ञान, सवेग और सकल्प-शक्ति के आधार पर व्यक्ति रुचि तथा गुण प्राप्त किया करता है। उसका अपना नैतिक व्यवहार होता है। वह अपना अलग आदर्श बनाता है। बालक की इन सम्भावनाओ को बहुत ही विस्तृत रूप दिया जा सकता है, यदि उसकी मूलप्रवृत्तियो का दमन न किया जाय। यह तभी सम्भव है जब हम उसे मन.शारीरिक प्राणी समझें और उसी के अनुसार उसकी शिक्षा का आयोजन करे। व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और सामाजिक उन्नति का एक ही क्रम होता है। आधुनिक सभ्य समाज मे मानव व्यक्तित्व के विकास में हम एक गति और क्रम पाते हैं। इस क्रम को हम 'विकास की विभिन्न अवस्थाओ' का नाम दे सकते हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि एक अवस्था के आने पर उन्नति रुक जाती है और वहाँ से दूसरा क्रम चलता है।

1. Cognition. 2. Faculty Psychology.

वास्तव मे क्रम तो एक ही रहता है, परन्तु उसके रूप मे कुछ विभिन्नता आ जाती है। इस प्रकार व्यक्ति बदलता रहता है। परिवर्तन ही तो जीवन है।

शैशव, बाल्यावस्था, कैशोर, परिपक्वावस्था तथा वृद्धावस्था, मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ मानी जा सकती है। साधारणत पाँच वर्ष तक शैशव, बारह तक बाल्यकाल, तथा इक्कीस तक कैशोर माना जाता है। परिपक्वावस्था और वृद्धावस्था का काल निश्चित नही, क्योकि वे सदा व्यक्ति के स्वास्थ्य पर निर्भर रहेगे। कोई चालीस वर्ष पर वृद्ध दिखलाई पडता है और किसी को साठ वर्ष पर भी झुर्रियाँ नही पडती। हम यहाँ पर केवल प्रथम तीन अवस्थाओ पर ही विचार करेगे।

शैशव[1]

शैशव का महत्व सबसे अधिक है। हमारी सभी शारीरिक व मानसिक उन्नति की नीव इसी समय पडती है। सर जॉर्ज न्यूमैन के अनुसार पाँच वर्ष तक की अवस्था शरीर और मस्तिष्क के लिये बहुत ही ग्रहणशील रहती है। जो कुछ किया या सिखाया जाता है उसका प्रभाव इस काल मे तत्काल पडता है। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार भी शैशव पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। एडलर का कथन है कि 'शैशव जीवन का पूर्ण क्रम तैयार कर देता है।' फ्रॉयड महोदय की उक्ति है कि 'मनुष्य चार या पाँच वर्ष के अन्दर ही जो कुछ बनने को रहता है बन जाता है।' प्रथम चार या पाँच वर्षो मे जितनी उन्नति होती है उस अनुपात मे फिर बाद मे कभी नही होती। परीक्षणो के आधार पर मनोवैज्ञानिको ने इसे अच्छी प्रकार सिद्ध कर दिया है। एक स्वस्थ शिशु प्रथम वर्ष मे अपनी तौल का तिगुना बढ जाता है। मस्तिष्क की तौल भी अत्यन्त तीव्र गति से बढती है। यही स्थिति नाडी मण्डल की भी होती है। इस प्रकार शैशव शारीरिक और मानसिक विकास के दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्व-पूर्ण है। बालक और बालिकाओ की विकास की गति मे कुछ अन्तर होता है। पाँच से दस वर्ष तक बालिका के विकास की गति बालक से धीमी होती है। परन्तु दस से पन्द्रह वर्ष के अन्तर्गत उसके विकास की गति बालक से तीव्र होती है। पन्द्रह वर्ष के बाद बालक फिर बढ जाता है। मस्तिष्क के विकास की गति निराली ही होती है। प्रथम नौ महीने के भीतर मस्तिष्क सम्पूर्ण तौल का एक तिहाई ले लेता है। ढाई वर्ष के अन्त तक इसकी तौल दो तिहाई हो जाती है। सात वर्ष आते-आते तो मस्तिष्क की तौल लगभग सदा के लिये पूरी हो जाती है।

शैशव में मानसिक विकास[2]—

इस काल में बालक कोई भी बात बडी शीघ्रता से सीख लेता है। जेसेल के

1. Infancy. 2 Mental development during infancy.

अनुसार प्रथम छ: वर्षों मे बालक बाद के बाहर वर्षों से दुगना सीख जाता है। मॉन्तेसरी और फ्रोबेल के अनुसार इस काल मे मानसिक क्रियाएँ बडी तीव्रता के बढती हैं। प्रथम दो या तीन साल के भीतर भूख, प्यास, भोजन तथा शौच इत्यादि पर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योकि मानसिक स्वास्थ्य का इन सब बातो से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अत माता-पिता को यह ध्यान रहे कि इन मूलप्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे बालको को कोई बुरी आदत न पडने पाये। बहुधा यह देखा जाता है कि माताएँ बच्चो को असमय दूध आदि पिलाया करती है। जब कभी बच्चा रोता है तो उसे खिलाने व पिलाने पर ही ध्यान दिया जाता है। माँ का कार्य-क्रम यदि अनियमित रहा तो बच्चे का भी कार्य वैसा ही हुए बिना न रहेगा। उसकी भी भूख, प्यास तथा शौच इत्यादि मे व्यतिक्रम ही दिखलाई पडेगा। भूख, प्यास इत्यादि केवल शारीरिक तृष्णा ही नही है, वरन् इनका बच्चो की भावनाओ से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

छोटे बच्चो का पालन-पोषण करना सरल नही। परन्तु खेद है कि इस कार्य की गुरुता हमारे देश के माता-पिता ठीक ढङ्ग से नही समझते। यही कारण है कि हमारे बच्चे अयोग्य दिखलाई पडते है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि यदि माँ-बाप बुद्धिमान हुए तो जीवन की सारी नीव बचपन मे ही डाली जा सकती है। बच्चा जब पेट मे रहता है तभी से माता-पिता उसके विषय में हवाई किले बनाने लगते हैं। उनके इन मनोभावो की पूर्ति असम्भव नही। परन्तु इसके लिये मनोवैज्ञानिक ढग से चलना होगा। बहुत से माँ-बाप मनोविज्ञान से बिलकुल अनभिज्ञ दिखलाई पडते हैं। उनके साधारण से साधारण व्यवहार में भी इस अज्ञानता का नग्न चित्र देखने को मिलता है। बच्चे हमारे राष्ट्र के भावी निर्माता हैं। अत राष्ट्र की उन्नति के लिये हमे उनका पालन मनोवैज्ञानिक ढग से करना आवश्यक है। यदि किसी माता-पिता ने मनोवैज्ञानिक ढग पर किसी बालक को पाल कर उसे आदर्श युवक बनाने की चेष्टा की तो वास्तव मे राष्ट्र की दृष्टि से उनका कार्य अत्यन्त महान् है।

बालक बहुत प्रारम्भ से ही अपनी इच्छाओ की पूर्ति चाहता है। उसे और किसी का ध्यान नही। घर मे आग लगे या पत्थर पडे, पर उसे भोजन चाहिये ही। घर मे चाहे पैसा भले ही न हो पर उसे लाल खिलौने चाहिये ही। यदि कुछ भी उसकी इच्छा के विरुद्ध किया गया तो अपनी अप्रसन्नता दिखलाने के लिये वह रोने लगता है। रोना उसका सबसे भारी अस्त्र है। कुछ माता-पिता के लिये तो उसका रोना रामबाण सिद्ध होता है। जहाँ बच्चा रोया कि उसे चुप कराने के प्रयत्न मे वे लग गये। रोने का कारण क्या है इस पर वे ध्यान नही देते। यदि रोने के कारण पर ध्यान दिया जाय तो उसे भावी जीवन की अनेक विषम कठिनाइयो से बचाया जा सकता है। बिना समझे-बूझे बालक के हठ के अनुसार चलने से उसकी आदतें बुरी हो जाती हैं,

और बाद मे वे अपना विभिन्न हानिकर रूप प्रकट करती हैं। बालक कभी गलती नही करता। उसकी गलती का उत्तरदायित्व उसके माता-पिता पर ही है। बहुत ही कम माता-पिता आदर्श होते हैं। उनकी अज्ञानतावश बालको की आदते बुरी हो जाती हैं। यदि हमारे देश के माता-पिता बच्चो का पालन-पोषण मनोवैज्ञानिक ढंग से करे तो वे निश्चय ही राष्ट्र का बड़ा कल्याण करेगे। बच्चे का जीवन बडा ही प्राकृतिक होता है। इसीलिये उनके छोटे से शरीर मे बहुत अधिक शक्ति होती है। अनुपात की दृष्टि से हमारे पास उसकी दसवी शक्ति भी नही होती। उसमे इतनी अधिक शक्ति होती है कि वह हर समय खेला करता है। उसका हाथ, पैर और मुँह किसी न किसी कार्य मे सदा लगा रहता है। ब्राह्मी वेला ही मे वह जग जाता है। उसकी इन आदतो से हम अपने लिये शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। उसका शरीर पवित्र और स्वस्थ रहता है। उसमे कोई भी मनोविकार नही, इसीलिये उसके मुख पर कितनी कान्ति झलकती है। उसका शरीर इतना पवित्र होता है कि उसमे किसी भी हानिकार वस्तु के चले जाने से उसका कुपरिणाम उसी तरह प्रगट हो जाता है जैसे कि खूब चमकती हुई कुर्सी पर थोडी सी धूल। बच्चो के पालन-पोषण के सम्बन्ध मे हमारे यहाँ बडा अन्धकार है। माँ बच्चे को मोटा करने के लिये खूब घी पिलाती हैं। उसे वह गोद से नीचे नही उतारती कि वह थक जायगा। बाहर उसे वह खेलने को नही भेजती कि वह धूल मिट्टी लपेटेगा। बच्चे के सारे अग को ढक करके सुलाया जाता है। यदि उसका मुँह खुल गया तो अज्ञान माता उसे फिर ढँक देती है। यदि बच्चा सबेरे चार या पाँच बजे जग जाता है तो उसे मारपीट कर सुलाने की चेष्टा की जाती है। माता के इन सब अमनोवैज्ञानिक व्यवहारो का बालक के मनोभावो पर बड़ा बुरा प्रभाव पडता है। ऐसी स्थिति मे उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नही।

अपनी बुद्धि तथा सामाजिक वातावरण के कारण बालक शीघ्र ही 'सीखना' प्रारम्भ कर देता है। अपनी कुछ शक्तियो तथा तृष्णा पर उसका शीघ्र ही अधिकार हो जाता है। अपने अनुभव के आधार पर वह अपने सुधार और उन्नति मे जुट जाता है। अपनी विभिन्न इन्द्रियो के उपयोग को सीखने के प्रयत्न मे वह अपने वातावरण को कुछ समझने लगता है। अपने होठ, सिर तथा पैर की क्रिया से अपनी गति पर वह कुछ अधिकार करने लगता है। इधर-उधर घूमने से वह अपनी इन्द्रियो के अनुभव तथा अपनी गति मे कुछ सामञ्जस्य पाने लगता है। एक वर्ष का स्वस्थ बालक अपने हाथ से किसी वस्तु को पकड़ सकता है, वह बैठता है, खड़ा होता है और कुछ निरर्थक शब्द भी बोल लेता है। दूसरे साल के अन्त होते वह सरलता से चल, दौड़ तथा कूद सकता है। गेंद, खिलौनो तथा अन्य छोटी वस्तुओ को वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकता है। ढाई वर्ष का हो जाने पर वह कुछ भाषा का भी प्रयोग करने लगता है। अपनी

इच्छाओ को कुछ सीमा तक वह प्रकट कर सकता है। उसे मातृभाषा के बहुत से शब्द याद हो जाते हैं। रूसो का कथन है कि 'हमारे हाथ, पाँव और आँखे प्रारम्भिक गुरु हैं।' यदि बालको को उनके वातावरण मे ठीक से रक्खा जाय तो बहुत सी बाते वे स्वय सीख लेगे। पाँच वर्ष के पहले ही साधारण बालक 'पहचान', 'याद कर' और 'सोच' सकता है। स्वप्न तो वह दो वर्ष के पहले ही देखने लगता है। उसके खेलो में हमे उसके अनुकरण और आविष्कार शक्ति का पता लगता है। अपने खिलौने को अपने सदृश् वह वस्त्र पहनाता है। छोटे बच्चे तर्क भी कर सकते हैं। परीक्षण मे कोहलर ने यह सिद्ध किया है कि सम्बन्ध को समझते हुए अन्तर्दृष्टि के आधार पर बच्चे कुछ समस्याओ को सुलझा भी सकते हैं। दो वर्ष की गिरिजा चूल्हे पर से शाक की कडाही हटा कर दूध का बर्तन उस पर रखने को कहती है। उसने यह समझ लिया है कि चूल्हे के एक भाग पर दो बर्तन नही रखे जा सकते।

शैशव मे बालको मे कई प्रकार के सवेग उठते हैं। उनके मनोभावो का निश्चित अर्थ होता है। मनोविश्लेषणवादियो के अनुसार तो मानसिक रोगो का कारण बचपन के मानसिक सवेगो मे ही पाया जा सकता है। दो वर्ष के भीतर ही बालक भय, क्रोध, घृणा, आश्चर्य तथा प्रेम-भाव का अनुभव कर लेता है। कभी-कभी वह आत्महीनता और आत्माभिमान का भी अनुभव करता है। पाँचवे वर्ष मे उसे अपने मनोभावो पर कुछ नियन्त्रण होने लगता है। वह कुछ वस्तुओ से प्रेम करन लगता है। धीरे-धीरे उसमें उसके लिये स्थायीभाव उत्पन्न हो जाता है। अब वह अपनी माँ से प्यार करने लगता है। माँ के कष्ट मे होने से उसे दु ख होने लगता है। माँ बीमार होती है तो वह दुःखी हो जाता है। यदि माँ से कोई दुर्व्यवहार करता है तो उसे क्रोध आ जाता है। जब माँ का आदर किया जाता है तो वह प्रसन्न होता है। बचपन में केवल स्थूल वस्तुओ के प्रति ही बच्चे मे स्थायीभाव उत्पन्न हो सकते हैं। भाववाचक वस्तुओ को समझना उसके लिये कठिन होता है। धीरे-धीरे उसके व्यवहार मे एक विनय[1] आने लगती है और वह केवल मूलप्रवृत्तियो का ही प्राणी नही रह जाता।

शैशव और शिक्षा[2]—

शिशु मे बहुत से गुण सुसुप्त अवस्था मे होते हैं। माता-पिता का यह कर्त्तव्य है कि वे इन गुणो को जागृत करे। शिक्षा तो व्यक्ति मे निहित गुणो के खोजने की एक क्रिया है। यदि बालक की सद्वृत्तियो की क्रिया मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित की गई तो वे कुप्रवृत्तियों मे परिणित हो जॉयगी। वास्तव में उसके दोष केवल कुशिक्षा के ही फल होते हैं। बालक के प्रति माता-पिता की बडी-बडी आकाक्षाएँ होती हैं। अपने जीवन में जो वे न हो सके वही वे बालक को बनाना चाहते हैं। इस प्रकार बालक

---

1. Discipline. 2. Infancy and education.

की ओट मे उन्हे अपनी इच्छा तथा आकांक्षाओं की पूर्ति का अवसर मिलता है। संसार में वहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो वहुधा पश्चाताप किया करते हैं कि उन्हे अपनी प्रतिभा के विकास का अवसर न मिला। ऐसे व्यक्ति अपने वच्चो मे ही अपनी विगत इच्छाओं की पूर्ति देखना चाहते हैं। उनकी इच्छा की पूर्ति असम्भव नही, यदि वे मनोवैज्ञानिक ढंग पर अपने बच्चो का पालन-पोषण करे। अभिभावको को यह ध्यान रखना है कि वालक का स्वभाव शुद्ध और पवित्र होता है। उसमे कुछ भी दोष नही होता। इस विचार मे विश्वास करने से ही हम उसका कुछ कल्याण कर सकते हैं। साधारण कुटुम्व के वच्चो के भी व्यक्तित्व का पूर्ण निर्माण सरलता से किया जा सकता है, यदि उनका पालन-पोषण मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया जाय। आदर्श तो यह है कि शिक्षक कुटुम्व के गत दोपो को एकदम भूल जाय और वच्चे की शिक्षा नई भावना से ही प्रारम्भ करे।

वस्तुत शिशु की शिक्षा तो उसके जन्म होने के पहले से ही प्रारम्भ हो जानी चाहिये। उसकी शिक्षा की नीव उसके माता-पिता के जीवन मे ही डाल देनी चाहिये। जव वच्चा गर्भ मे है तभी से माँ के विचार तथा स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। वच्चे को गर्भ मे आ जाने पर माता-पिता को उसकी शिक्षा के लिये अपने को तैयार करना प्रारम्भ कर देना चाहिये। माँ के स्वास्थ्य और मानसिक भाव का गर्भ मे स्थित भ्रूण पर बडा प्रभाव पड़ता है। परीक्षणो द्वारा यह देखा गया है कि माँ के दृढ विचार के अनुसार वच्चे के रूप, रंग व स्वभाव मे परिवर्तन हो सकता है। जन्म के वाद प्रथम कुछ महीनो तक वच्चे मे भोजन तथा शौचादि के सम्वन्ध में ठीक आदतो के डालने का प्रयत्न करना चाहिये। उसके स्वभाव व नाडी-मण्डल का उनसे घनिष्ठ सम्वन्ध रहता है। अतः उन्ही पर उसका शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य निर्भर है।

माँ को प्रसन्नचित्त होकर वच्चे का लालन-पोपण करना चाहिये। कभी-कभी देखा जाता है कि वच्चे की परिचर्या करते समय माँ झटकती—पटकती है और उसे डाँटती है। वच्चे पर इसका वडा घातक प्रभाव पड़ता है। उसका सारा नाडी-मण्डल झक्झन हो उठता है। वह समझ नही पाता कि उसे क्या करना चाहिये। माता सव कुछ वच्चे की भलाई के लिये ही करती है। पर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो की अज्ञानता तथा घरेलू झझटो के भार से वह अपने वास्तविक कर्त्तव्य को भूल जाती है। फलतः उसकी अच्छी नीयत का भी परिणाम बुरा ही होता है। यदि वच्चे की सेवा करते समय माँ को आनन्द नही आता तो वह माँ होने योग्य नही। सेवा के समय उसको ऐसा अनुभव होना चाहिये मानो वच्चा और उसकी आत्मा एक हो। उसी समय उसके सारे सुखद स्वप्न और विचार उसे घेर ले तो अच्छा है। एक माता के हृदय मे इन सव भावनाओ का आना कठिन नही, यदि घर के लोग यह ध्यान रक्खे कि घरेलू झझटों के कारण उसे कोई मानसिक आघात न लगे। हमारे शिक्षित घरो मे भी कुछ

ऐसी माताएँ हैं जो इस सम्बन्ध मे अपना कर्त्तव्य भूल रही हैं। उन्हे अपने बालको की सेवा भार-सी मालूम होती है। वे अपने झूठे सौन्दर्य-भावना की रक्षा में शिशु को अपना दूध नही पिलाती। वे अपना उत्तरदायित्व दाइयो पर ढकेल देती हैं। ये निर्दोष दाइयाँ अपनी अज्ञानतावश बच्चो की प्रारम्भिक शिक्षा की नीव ही ढीली कर देती हैं। अपने बच्चो के उत्तरदायित्व को न समझने वाली स्त्रियाँ प्राय बडी ही कामुक होती हैं। अपनी काम-वासना की तृप्ति मे ही उनकी शक्तियो का ह्रास हो जाता है और वे इस ओर से एकदम उदासीन सी दिखलाई पडती हैं। यदि जीवन मे सयम से काम लिया जाय तो हमारे सभी दु खो का अन्त हो सकता है।

बच्चों की परिचर्या का वातावरण बिलकुल शान्त होना चाहिये। वहाँ दूसरे लडकों की खटपट तथा बडे लोगो की ठट्टाबाजी नही होनी चाहिये। परिचर्या के कुछ देर बाद तक शिशु को न छेडना चाहिये। प्रथम तीन महीनो के भीतर शिशु बहुत सोता है। अत उसे कर्कश ध्वनि से बहुत दूर रखना चाहिये। उसका पहनावा बहुत हलका हो। बच्चो को बहुत अधिक घुटनो या गोद मे झुलाना ठीक नही। उसके साथ बहुत खेलना भी ठीक न होगा। उनको पुचकारना, थपथपाना तथा उसके प्रति अधिक लाड मनोवैज्ञानिक नही, अपितु क्रूरता है। ऐसा करने से बच्चे बडे ही व्याकुल हो जाते हैं। प्राय लोग इस छोटी सी मनोवैज्ञानिक बात से अनभिज्ञ दिखलाई पडते हैं। यदि लोग अपने ही बचपन के अनुभव पर कुछ सीखने का प्रयत्न करे तो बच्चो के प्रति उनका व्यवहार कुछ मनोवैज्ञानिक अवश्य हो जायगा, इसमे तनिक भी सन्देह नही। शिशु का नाडी-मण्डल बडा ही कोमल होता है। अत उसकी रक्षा बडे ही ध्यानपूर्वक करनी चाहिये। उसे अत्यधिक उछालने, झुलाने या गुदगुदाने से नाडी-मण्डल को भारी धक्का लगने का डर रहता है। अत यदि मनोविज्ञान की नही तो कम से कम मानुषिक व्यवहार की यह माँग है कि शिशु के साथ बहुत ही कोमलता का व्यवहार किया जाय। हमें यह सदा ध्यान रखना चाहिये कि उचित वातावरण के उपस्थित कर देने से ही हम बालको का बहुत कल्याण कर सकते हैं।

बहुत प्रारम्भ से ही बच्चो के वातावरण में सगीत को कुछ स्थान दिया जा सकता है। अविकसित मस्तिष्क सगीत से बहुत शीघ्र आकर्षित होता है। यदि बालको को अपनी गति के लिये पूरी स्वतन्त्रता है तो उसके विभिन्न अवयवो का व्यायाम स्वत हो जायगा। उनके लिये अलग व्यायाम ढूँढने की आवश्यकता नही। जब से बच्चा बैठने लगता है उसे खेलने की पूरी स्वतन्त्रता दे देनी चाहिये। बालको के लिये खिलौने चुनने मे बड़े ध्यान की आवश्यकता है। उन्हे ऐसे ही खिलौने देने चाहिये जिससे वे इधर-उधर घूम फिर सके। बहुत से बालको को ऊँचे स्थान पर चढ़ने की बडी इच्छा होती। परन्तु माता-पिता को उन्हे ऐसी स्वतन्त्रता देने मे डर लगता है। वे बालको को

रोकते हैं और सदैव अपने पास ही रखना चाहते हैं। वालकों की स्वाभाविक क्रियाओं में वाधा डालने से उनकी बुद्धि का विकास रुक जाता है। कुछ सीमा तक तो वालकों को स्वतन्त्र छोड ही देना चाहिये, जिससे वे कुछ अनुभव भी प्राप्त कर ले और उन्हे अधिक चोट भी न लगे। अपनी मूलप्रवृत्तियो की क्रिया मे वालक जो अनुभव प्राप्त करता है वह अमूल्य होता है। अत. उसे सदैव क्रियाशील रखने की चेष्टा करनी चाहिये। ज्यो ही वालक चलने लगता है उसकी मूलप्रवृत्तियाँ कुछ ऐसी दिखलाई पडती हैं कि वडे लोग उसका विरोध करने लगते हैं। उनकी इच्छाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति मे बालक कुछ विघ्न से दिखलाई पडते हैं। इन बातो के सुलझाव पर ही वालक का चरित्र-निर्माण निर्भर रहता है। यदि वालक की इच्छाओ और आवश्यकताओ की अवहेलना की गई तो उसके जीवन-भवन की नींव ही वहुत दुर्बल हो जायगी। वस्तुत. वड़े लोग वालको के साथ अपने व्यवहार मे कम गलती नही करते, अपितु कभी-कभी तो वालको से उनका नम्बर वढ जाता है। यदि बालक कोई हानि पहुँचाता है तो उसे दण्ड दिया जाता है। उसकी भावनाओ पर हम कम ध्यान देते हैं।

कुछ लोग अपने कर्त्तव्य से इतने अनभिज्ञ दिखलाई पडते हैं कि वे माता-पिता होने योग्य नही। वे जानते ही नही कि बालक का पालन-पोषण किस प्रकार करना चाहिये। फलत. वालक हठी हो जाता है और उसकी आदते बुरी हो जाती हैं। यदि वहुत दिन प्रतीक्षा के वाद पुत्र की कामना पूरी हुई तो माता-पिता वालक के इशारो पर नाचने के लिये तैयार हो जाते हैं। उनकी इच्छा होती है कि 'अपने लाल को क्या खिला पिला दे कि वह शीघ्र मोटा हो जाय, कितने जेवर और भडकीले कपडे पहना दे कि वह सबसे सुन्दर जँचे'। ऐसी भावना वाले माता-पिता अपने बालक को हठी वना डालते हैं। बालक का स्वास्थ्य गिर जाता है। वह सदा अपना हठ पकडे रहता है। वह ज्वर से पीडित है, परन्तु जलेवी खाने के लिये तो वह हठ करेगा ही। कुछ माता-पिता ऐसे होते हैं कि अपने क्रोध को वे वच्चों पर ही उतारते हैं। यदि घर मे या वाहर किसी से झगडा हुआ तो उसका कुपरिणाम निर्दोष वच्चो को भोगना पडता है। उनकी साधारण वातो का उत्तर डाँट कर दिया जाता है। यदि कुछ हो गया तो उन्हे पीटना साधारण सी वात हो जाती है। यदि वच्चे इतने अधिक हो गये कि उनकी देख-रेख कठिन हो गई तो इसका प्रभाव कुछ दूसरा ही होता है। यह सोचना कि 'एक ही कुटुम्ब मे वालको को समान वातावरण मिलता है' भूल है। लोग सभी वालकों के साथ समान व्यवहार नही कर पाते। कुछ को अधिक प्यार किया जाता है और कुछ को अधिक डाँट फटकार देनी पडती है। डाँट पाने वाला वालक विशेषकर दब्बू हो जाता है। दिन-प्रति-दिन उसके व्यक्तित्व का ह्रास होता रहता है। आगे चलकर उसका जीवन दयनीय हो जाता है।

वालक मे कुछ 'नैतिक-न्याय' की भावना अवश्य होती है। वह शीघ्र ही समझ जाता है कि किसी वस्तु का सब लोगो मे समान वितरण होना चाहिये। इस प्रकार न्याय शब्द को समझने के वहुत पहले ही वह न्यायानुसार व्यवहार करना चाहता है। इसी भावना के फलस्वरूप उसकी अन्य नैतिक भावनाओ का भी प्रादुर्भाव होता है। अत. बालको के साथ हमारे सभी व्यवहार 'न्याय' भावना के ही अनुसार होने चाहिये। हमे यह सदा ध्यान रखना है कि अपने जन्म से ही वालक एक अनोखा व्यक्ति रहता है। उसके मस्तिष्क मे प्राय सभी प्रकार की शक्तियाँ उपस्थित रहती हैं। वालक सोचता है, निर्णय करता है, तर्क करता है। वह क्या नही करता ? मनोवैज्ञानिको का कहना है कि बालक और एक युवक की मानसिक शक्तियो में 'प्रकार'[1] का भेद नही है, अपितु 'मात्रा'[2] का ही है। बालको की इच्छाओ का सदा आदर करना चाहिये। इसके लिये सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि उन्हे इधर-उधर थोडी दूर तक घूमने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय। यदि उनकी स्वतन्त्रता मे वाधा की गई तो वे भविष्य मे उपद्रवी हो जाते हैं। कैशोर मे आने पर उनका व्यवहार अत्यन्त दु खदायी हो जाता है। वालक वडे ही कृतज्ञ होते हैं। कुत्तो के अतिरिक्त उनसे वढकर कोई दूसरा कृतज्ञ प्राणी नही। कृतज्ञता की भावना उसे सामाजिक व्यवहारो मे निपुण करने मे वडी सहायक होती है। यदि बच्चे के लिये कुछ किया जाता है.तो वह उसका वदला तुरन्त देने का प्रयत्न करता है। प्राय सभी पाठको का ऐसा अनुभव होगा। परन्तु वच्चो की इस भावना से बार-बार खेलना ठीक नही, अन्यथा वह जाती रहेगी।

जहाँ तक सम्भव हो वालको को खेलने के लिये सभी आवश्यक खिलौने देने चाहिये। वालक को ऐसा बनाना चाहिये कि स्वत खेलने की उसकी आदत पड जाय। वहुधा यह देखा जाता है कि माताएँ बच्चो के रोने से एकदम तग आ जाती हैं। बच्चो की इच्छा होती है कि कोई न कोई उन्हे गोद मे लिये ही रहे। उन्हे भली-भाँति समझा देना चाहिये कि इस प्रकार का हठ ठीक नही। उन्हे अपना काम करना है और हमें अपना। यदि प्रारम्भ से ही सावधानी रखी जाय तो वालक स्वत अपने ही काम मे मस्त रहना सीख लेगा। यदि उसे कुछ सिखाना हुआ तो आज्ञा के रूप में कहना ठीक नही। उसे अनुमति के रूप मे वतलाना अच्छा होगा। अभावात्मक आदेश देना हानिकर होता है। अभावात्मक आदेश आवश्यक हुआ तो बुरी आदतो के सम्बन्ध में ही वह ठीक होगा। यदि दण्ड देना उचित जान पडता है तो क्रूरता दिखाना बुरा होगा। उचित दण्ड यही होगा कि अपने किये हुए काम का फल वालक यथासम्भव स्वय भोगे। वालको के ऊपर बहुत से अवरोध डालना हानिकर होता है। वहुत से वच्चो मे अनायास ही रोने की आदत पड जाती है। इसमे माता पिता को घवडाना ठीक नही। स्वास्थ्य के लिये कभी-कभी रोना भी आवश्यक होता है। अपनी भावनाओ

1. Kind 2 Degree.

और संवेग के प्रकाश का कभी-कभी यह अच्छा साधन होता है। बच्चो मे क्रोध आने पर उन्हे शान्त वातावरण मे रखना चाहिये। चिढाने से उन्हे ऐसा मानसिक धक्का लगता है जिससे उनके विकास मे रुकावट पडती है। उच्च कोटि के त्याग और दया को बच्चा नही समझता। परन्तु नैतिक भावना का आभास उसको दिया जा सकता है। इस भावना के विकास के लिये बच्चो में कभी-कभी अच्छी वस्तुओ को बाँटना चाहिये। वितरण का अधिकारी उन्ही को बना दिया जाय तो अधिक अच्छा होगा। इससे उनमे 'न्याय' भावना का भी प्रादुर्भाव हो सकता है।

मानसिक विकास की जड शैशव मे ही पड जाती है। इस विकास मे मातृभाषा सब से उपयोगी साधन है। बालक अपने विचारो को जितनी ही सरलता से प्रकट करता है, उतना ही वह भविष्य मे बुद्धिमान और चतुर निकलता है। उसे छोटी-छोटी कहानियाँ, भजन तथा गीत याद कराये जा सकते है। लययुक्त छोटे-छोटे गीतो मे बच्चे बहुत ही आनन्द लेते हैं। कभी-कभी अच्छी बातो को पढ कर उन्हे सुनाया भी जा सकता है। किण्डरगार्टन खिलौने की सहायता से उन्हे वर्णज्ञान देना अच्छा होगा। इस प्रकार खेलने मे ही उन्हे कुछ अक्षरो का भी ज्ञान हो जायगा। बच्चो को बहुधा पैसे की आवश्यकता हुआ करती है। उनकी आवश्यकता इतनी कम होती है कि एक या दो आने पा जाने पर ही वे आनन्द-विभोर हो जाते है। पैसे देने के पहले उनकी आवश्यकता को समझ लेना चाहिये। उन्हे मितव्ययी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। उन्हे समझाना चाहिये कि छोटी वस्तुओ पर पैसा खर्च करना ठीक नही, वरन् अधिक उपयोगी वस्तुओ को खरीदना ही उचित है।

बालक अपनी ही उम्र के बालको की टोली में जाना पसन्द करता है। उसके विकास के लिये अन्य बालको का साथ बहुत आवश्यक है। अत. उन्हे बाहर खेलने जाने देने से रोकना ठीक नही। अपनी टोली मे ही वे सामाजिकता का पहला पाठ सीखते हैं। उसी मे उनके विभिन्न भावो का विकास होता है। इसलिये माता-पिता को टोली के अन्य बालको के कुटुम्ब को समझ लेना आवश्यक है। यदि कुटुम्ब अच्छा हुआ तो बालक भी अच्छे होगे, अन्यथा बुरे। सग का बडा प्रभाव पडता है। यदि बुरा सग हो गया तो बालक बुरा हो सकता है। इसलिये उसे अच्छे बालको के साथ खेलने का अवसर देना चाहिये। बच्चो के लिये खेलना अत्यन्त आवश्यक है। घर मे अन्य बडे लोगो के साथ उनका मन नही लगता। वे अपनी टोली मे जाना पसन्द करते हैं। अतः उनके खेल का उचित आयोजन करना आवश्यक है।

बालकों की विचार-शक्ति का विकास उनके वातावरण पर बहुत निर्भर रहता है। वातावरण ऐसा हो कि उनकी 'जिज्ञासा' को प्रोत्साहन मिल सके, तभी उनमे अनुसन्धान और अन्वेषण शक्ति का प्रादुर्भाव हो सकता है। 'सौन्दर्य' से प्रेम करने की

बालक मे स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसलिये उसका वातावरण ऐसा हो कि वह प्रकृति, कला तथा सगीत के सौन्दर्य का आभास पा सके। बच्चे को न बहुत डाँटना ही और न अधिक प्यार ही करना ठीक होगा। जब जैसा व्यवहार आवश्यक हो तदनुसार व्यवहार उचित होगा, और तभी उसके व्यक्तित्व का सुन्दर विकास सम्भव हो सकता है।

बाल्यावस्था में विकास[1]

शारीरिक[2]—

बाल्यावस्था मे शारीरिक विकास बडी द्रुत गति से चलता है। अब शैशव की मोटाई कुछ कम हो जाती है और शरीर पहले से पतला हो जाता है। दूध के दाँत गिरने लगते हैं और स्थायी दाँत आने लगते है। पाँच से सात वर्ष तक ऊँचाई खूब बढती है। सात से ग्यारह वर्ष तक विकास धीमा रहता है, परन्तु उसकी गति रुकती नही। इस काल मे साधारणत स्वास्थ्य अच्छा रहता है। केवल गले की ग्रन्थियो के अस्वस्थ रहने का कभी-कभी सन्देह रहता है। विभिन्न अगो की शक्ति खूब बढ जाती है और शरीर की गति पर बालक का कुछ नियन्त्रण भी हो जाता है।

मानसिक[3]—

शैशव मे मूलप्रवृत्तियाँ विशेषकर क्रियाशील रहती हैं। परन्तु बाल्यकाल मे प्राय सभी स्वाभाविक शक्तियाँ जागृत होकर क्रियाशील हो जाती हैं। जिज्ञासा शक्ति इस काल मे विशेषकर जागृत रहती है। बालक विभिन्न पेड, पौधो, जीव तथा प्राकृतिक क्रियाओ के विषय में जानने के लिये बहुत ही उत्सुक हो जाता है। जब कभी वह अपने बडो के साथ रहता हैं प्रश्नो की झडी लगाकर उन्हे तग कर डालता हैं। बालको की जिज्ञासा-शक्ति को कभी नही दबाना चाहिये। बडो को उचित है कि उनके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर सावधानी से ठीक-ठीक दे, अन्यथा बालको को बडा मानसिक धक्का लगेगा। मनोवेग की गति उलटी होकर उनके हृदय को दुर्बल कर देगी। बाल्यावस्था मे बालक की सचय-प्रवृत्ति भी अधिक जागृत रहती है। वह विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का सचय करना चाहता है। वह उन्हे अपनी सम्पत्ति समझता है। किसी शिक्षित कुटुम्ब का बालक पुस्तक, लेखनी और पेन्सिल आदि एकत्रित करने मे ही लीन रहेगा। वह अपने बडो से बार-बार पुस्तके खरीदने के लिये कहेगा। खिलाड़ी के घर का बालक खेल के सामान को सचित करने के प्रयत्न मे रहेगा। बढई के घर का बालक काम करने वाले हथियार के संचय की धुन मे होगा। बाल्यकाल मे नई वस्तुओ के निर्माण करने की प्रवृत्ति भी जाग उठती है। बढई का लडका अपने घर की दूकान में 'खट खुट खट खुट' करते पाया जायगा। कुछ लडके खेल मे एक छोटा घर बनाने के प्रयत्न में भी

1. Gr^wth during Childhood 2 Physical. 3. Mental.

पाये जा सकते है। अनुकरण-शक्ति भी बाल्यकाल मे प्रबल हो जाती है। बालक अपने बडो और साथियो का अनुकरण करने लगता है और उनकी अच्छी और बुरी आदतो को सीखने लगता है।

खेल[1]—

खेल बाल्यकाल की प्रधान प्रवृत्ति होती है। प्रोफेसर ग्रॉडफ्रे थॉमसन का कथन है कि "मनुष्य अपनी विभिन्न मूलप्रवृत्तियो के कारण अन्य जीवो से श्रेष्ठ हो गया है, क्योकि उसके बाल्यकाल की प्रधान प्रवृत्ति 'खेल' होती है।" 'खेल' प्रवृत्ति की उत्पत्ति के बारे मे मनोवैज्ञानिको मे परस्पर मतभेद है। शिलर और स्पेन्सर के अनुसार अतिशय शक्ति होने के कारण प्राणी खेल के द्वारा अपनी शक्ति को प्रकट करता है। इस सिद्धान्त को 'अतिशय शक्ति-व्यय[2] का सिद्धान्त' का नाम दिया है। स्टैनली हाल के अनुसार बालक को बचपन से युवावस्था तक उसी रास्ते को तय करना है जिसे उसके पूर्वजों ने सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक तय किया है। इस प्रकार बच्चो का खेल उनके कार्यो की पुनरावृत्ति है। इस सिद्धान्त को 'जाति-स्वभाव-पुनरावर्तन सिद्धान्त'[3] कहते हैं। कार्ल ग्रूस के अनुसार प्राणी अपने भावी जीवन की तैयारी मे खेला करता है। खेल के ही अभ्यास से वह अपने को पुष्ट और योग्य बनाना चाहता है। इसको 'पूर्वाभिनय का सिद्धान्त'[4] कहते है। खेल का सिद्धान्त चाहे जो हो परन्तु इतना तो सत्य है कि खेल एक शक्तिशाली प्रवृत्ति है। खेल ही के बहाने हमारी अन्य शक्तियाँ भी क्रियाशील हो जाती हैं। खेलते समय बालक मे 'आत्माभिमान' या 'आत्महीनता' का भाव उपस्थित रहता है। यदि विजयी हुआ तो 'आत्माभिमान', नही तो 'आत्महीनता' ही रहेगी। 'खेल' की क्रिया मे वह लड़ता है, अनुकरण करता है, संचय करता है, निर्माण करता है या समय की आवश्यकतानुसार कुछ और ही करता है। इस प्रकार 'खेल' से कई प्रकार के अवसर बालक को मिल जाते हैं। यदि खेल का व्यवस्थापन व संगठन ठीक किया जाय तो उसके सहारे बहुत सी मूलप्रवृत्तियो का शोधन किया जा सकता हैं।

पूर्व-बाल्यकाल में खेल[5]—

अवस्था के बदलने के साथ खेल का रूप भी बदलता रहता है। शैशव मे खेल 'प्रत्ययानुभव'[6] की सतह पर रहता है, अर्थात् बालक जो स्वय अपने हाथो से कर सकता है, उदाहरणार्थ गेंद फेकना, धूल खोदना या खिलौने के साथ खेलना आदि। पाँच व सात वर्ष के बीच मे बच्चो के खेल मे कल्पना का भाग अधिक मिलता है।

1. Play. 2. Surplus Energy Theory. 3 Recapitulatory Theory 4. Anticipatory Theory. 5. Play during pre-childhood. 6. Perceptual level.

इस काल में बालक को किसी समूह मे जाकर खेलने की चिन्ता कम होती है। वह अपने अकेले खेल मे ही मस्त दिखलाई पड़ता है। लडका ऐसे खेल मे मन लगाता है जिससे उसकी निर्माण-शक्ति का प्रयोग हो। लडकियाँ अपनी गुडियो के लिये कपडे बनाने मे लीन पाई जाती हैं। बालक दौडने, छिपने तथा कुश्ती आदि खेलो में आनन्द लेते है, अर्थात् बाल्यकाल मे उनमे प्रतियोगिता की भावना आने लगती है। लडकियाँ गाने तथा नाचने इत्यादि मे प्रसन्नचित्त दिखलाई पडती हैं। इस प्रकार कल्पना-जगत से बालक बाल्यकाल मे कुछ वास्तविक जगत मे आ जाते हैं। वे धीरे-धीरे सामाजिक गुणो को भी अपनाने लगते हैं। परियो की कहानियाँ तथा इसी प्रकार की अन्य बाते केवल सात या आठ वर्ष तक आकर्षक होती हैं। परन्तु बाद मे उनकी सत्यता के विषय मे उन्हे सन्देह होने लगता है। अब उनका प्रेम चिडियो, जानवरो तथा मोटर आदि वास्तविक वस्तुओ से हो जाता है। बाल्यकाल मे बालक कुछ कौशल प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी निर्माण-प्रवृत्ति इस समय बडी प्रबल होती है। नियम पूर्वक कार्य करने मे भी उसकी कुछ रुचि हो जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि पूर्व बाल्यकाल मे बालको की शिक्षा-प्रणाली मे 'निर्माण', 'कौशल' तथा 'स्वतन्त्र-गति' को प्रधानता देनी चाहिये। भाषा के कौशल पर विशेष ध्यान देने की इस काल मे आवश्यकता नही। प्रधान उद्देश्य बालक को हर समय क्रियाशील बनाने का ही होना चाहिये।

उत्तर-बाल्यकाल में खेल[1]—

उत्तर-बाल्यकाल में बालक वास्तविक जगत से विशेष रुचि रखते हैं। उनमे कुछ उपयोगी कार्य करने की भावना उपस्थित रहती है। वे अपने माता-पिता को उनके कार्य मे कुछ सहायता देना चाहते हैं। इस काल मे उनकी कल्पना तर्क सगत होने लगती है और वे विभिन्न वस्तुओ के सम्बन्ध को कुछ समझने लगते हैं। ग्यारह या बारह वर्ष की अवस्था मे तो कुछ बालक अत्यधिक तर्क करना सीख लेते है। वस्तुत कल्पना-शक्ति का विकास तो क्रमानुसार धीरे-धीरे होता है। परन्तु इस अवस्था में बालक की कल्पना-शक्ति पहले से बहुत ऊँचे स्तर पर पाई जाती है। इस समय तक बालको मे कई शक्तियो का विकास हो जाता है। फलत उनमे एकाग्रता की शक्ति बढने लगती है। उनकी बुद्धि भी पहले से अब तीव्र दिखलाई पडती है।

बाल्यकाल मे संवेगात्मक विकास[2]—

हम ऊपर देख चुके हैं कि शैशव के अन्त होते-होते स्थूल-वस्तुओं के प्रति बच्चो मे कुछ स्थायीभाव पैदा हो जाता है। धीरे-धीरे अपने सवेगात्मक जीवन मे वह अधिक स्थिर दिखलाई पडने लगता है। अपने माता-पिता के प्रति उसके प्रेम मे यह स्पष्ट है

1. Play during Post Childhood Period. 2. Emotional Development during Childhood.

कि पांच व सात वर्ष के बीच मे बालक मे कुछ सवेगात्मक परिवर्तन होता है। अब वह अपने माता-पिता के प्रति पूर्व की भाँति विशेष प्रेम नही दिखलाता। उसकी रुचि अपने मित्रो की ओर अधिक बढने लगती है। यह रुचि दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जाती है। स्वस्थ बालक मे आत्म-निर्भरता की भावना आने लगती है। अब वह अपने माता-पिता से कुछ उदासीन सा रहता है। वह अपने कार्यो मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप पसन्द नही करता। उसकी इच्छा अब स्वतन्त्रता की ओर होती है। यदि इस वस्तु-स्थिति की अभिभावको द्वारा अवहेलना की जाती है तो बालक के मानसिक विकास को बडा धक्का लगता है। अत. बालक को कुछ स्वतन्त्रता देना नितान्त आवश्यक है। हर समय उसका पिता के पीछे-पीछे लगे रहना ठीक नही। अपने से छोटी तथा बडी उम्र वाले से मित्रता करना उसके लिये आवश्यक है, तभी उसके मस्तिष्क का पूर्ण विकास हो सकता है। ऐसा करने से ही बालक मे आत्म-सम्मान की भावना का प्रादुर्भाव हो सकता है। सदैव अपने पिता के साथ ही रहने मे उसमे आत्महीनता की ग्रन्थियाँ पडने का भारी डर है। दूसरे बालको की सगत से ही बच्चे अपनी शक्ति का अनुमान लगा सकते है और तदनुसार विभिन्न गुणो की प्राप्ति मे उनका प्रयत्न हो सकता है।

शैशव मे बालक को नैतिकता का ज्ञान नही होता। छ या सात वर्ष के हो जाने पर उनकी नैतिकता माता-पिता तथा अभिभावकों के आज्ञापालन तक सीमित रहती है। अपनी टोली के अन्य बालको से मित्रता के बाद उसकी नैतिकता का क्षेत्र बहुत विकसित हो जाता है। अपनी टोली के प्रति उसमे भक्ति आ जाती है। वह पहले से अब अधिक नैतिक, सहिष्णु और विचारवान् हो जाता है। नम्रता उसको प्रिय हो जाती है। कठोरता और कर्कशता से उसे घृणा हो जाती है। परन्तु बाल्यकाल मे उसमें आदर्श नैतिक निर्णय की भावना नही आ सकती। इसका विकास कैशोर या और बाद मे ही सम्भव है।

बाल्यकाल और शिक्षा[1]—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बाल्यकाल क्रियाशीलता मे पूर्ण रहता है। इस काल मे बालक का वास्तविक जगत से कुछ परिचय हो जाता है और उसके सवेगात्मक जीवन मे कुछ स्थिरता भी दिखलाई पडती है। वास्तव मे बाल्यकाल पूरे जीवन का दर्पण है। इसमें भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो का चित्र दिखलाई पडता है। बालक आगे चलकर क्या होगा इसका स्पष्ट प्रमाण हमे इसी काल मे मिल जाता है। बाल्यकाल का अन्त होते-होते बालक मे सहनशक्ति आ जाती है। अब वह कुछ देर तक कार्य कर सकता है और उसे थकान शीघ्र नही आती। बालक का अपने तथा वातावरण के ऊपर कुछ नियन्त्रण हो जाता है। अपने अभिभावको के ऊपर उसकी निर्भ-

---

1. Childhood and education.

रता भी पहले से बहुत कम हो जाती है। वह अब शीघ्र हताश नही होता। निराश होने के पहले वह अपनी शक्ति की परीक्षा कर लेना चाहता है। इन सब बातो मे स्पष्ट है कि बाल्यकाल मे नियमित कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। इस काल मे भाषा तथा अङ्कगणित उसे पढाये जा सकते हैं। इस प्रकार आगे के लिये उसकी रुचि तैयार की जा सकती है। बाल्यकाल मे बालक जगल की विभिन्न वस्तुओ मे परिचित होना चाहता है। वह खुले मैदान मे इधर-उधर घूम व दौड कर कुछ साहसिक कार्य करना चाहता है। वह नई नई वस्तुए बनाना चाहता है। इन सब से यह स्पष्ट है कि इस काल की शिक्षा मे केवल पुस्तकीय शिक्षा लाभप्रद न होगी। व्यावहारिक कार्यों मे भी उसे शिक्षा देनी होगी जिसमे उसका शारीरिक परिश्रम भी हो जाय और वह कुछ व्यावहारिक कौशल भी प्राप्त कर ले। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य केवल मस्तिष्क को ज्ञान से भर देना ही नही है, अपितु, हस्तकला और रचनात्मक प्रवृत्ति पर भी ध्यान देना है। बाल्यकाल की यही माँग है। इस माँग पर पूरा ध्यान दिये बिना व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव ही नही।

कैशोर[1]

शारीरिक विकास[2]—

कैशोर जीवन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण काल है। इस काल मे बडे-बडे मानसिक और शारीरिक परिवर्तन होते हैं। यदि इसकी लहरो को ठीक से नियन्त्रण में न रखा जाय तो व्यक्ति का पूर्ण जीवन ही अन्धकारमय हो सकता है। इस काल मे व्यक्ति अपनी कल्पना-शक्ति की उडान में हर समय मस्त रहता है। साहसिक कार्य करने की भावना भी बहुधा बनी रहती है। शारीरिक विकास की गति इस काल मे बडी तीव्र होती है। शरीर पर पहले जैसा अब नियन्त्रण नही रहता, क्योकि अब उसकी नई नई शक्तियो का विकास होता रहता है। किशोर के गले की आवाज फट जाती है। कभी-कभी वह समझ ही नही पाता कि किस प्रकार बोलने से उसकी आवाज मधुर या कर्कश होगी। पहले अपनी आवाज पर उसका पूरा नियन्त्रण था। पर अब ऐसी बात नही। इस काल मे जननेन्द्रियो का भी समुचित विकास हो जाता है। काम-भावना की जागृति अच्छी प्रकार हो जाती है। बालिकाओं में तो रजोदर्शन के बाद उनके शरीर और नाडीमण्डल मे अनेक परिवर्तन होते हैं। ऐसा जान पडता है कि वे जीवन के एकदम नये छोर पर आ गई हैं। बालको मे बालिकाओ की अपेक्षा परिपक्वता कुछ बाद में आती है। विभिन्न परिवर्तन के कारण कैशोर मे स्वास्थ्य के बिगड जाने का सदा भय बना रहता है। बालिकाओ मे रक्तहीनता आ सकती है। प्राय.

---

1. Adolescence, लेखक द्वारा रचित 'किशोर मनोविज्ञान की भूमिका' अध्याय २, आगरा बुक स्टोर आ रा, १९५४ (द्वितीय संस्करण)। 2 Physical development

वे बहुत थोडे परिश्रम के बाद थक जाया करती हैं। बालकों मे हृदय और फेफडे की कुछ निर्बलता पाई जा सकती है, अथवा उनके चेहरे पर मुँहासे निकल आ सकते हैं। मुँहासे मे मुख का सौन्दर्य और कान्ति लुप्त हो जाती है। यह सब उनके स्वास्थ्य की गडबडी का ही फल-होना है। कैशोर के अन्त होते-होते युवावस्था आ जाती है और व्यक्ति प्रत्येक दृष्टिकोण से समर्थ व बलशाली बन जाता है।

मानसिक विकास[1]—

कैशोर मे व्यक्ति मे विभिन्न विषयो के ज्ञान प्राप्त करने की बडी प्रबल इच्छा आ जाती है। रचनात्मक प्रवृत्ति भी प्रबल दिखलाई पडती है। व्यक्ति कुछ उपयोगी वस्तुएं बनाने की इच्छा करता है। उसका ध्यान केवल मानसिक परिश्रम की ही ओर नही रहता, वरन् शारीरिक परिश्रम मे भी वह रुचि रखता है। बुद्धि-परीक्षा के आधार पर यह निश्चय किया गया है कि सोलह अथवा सत्तरह वर्ष तक व्यक्ति की बुद्धि एक नियमित क्रम से प्रति साल बढती रहती है। कैशोर मे रुचि का भी कुछ विकास होता है। चौदहवे या पन्द्रहवे वर्ष के बाद व्यक्ति मे नयी नयी भावनाओ की उत्पत्ति होती है। इसके साथ ही साथ कुछ पुरानी भावनाएँ पहले से अधिक दृढ हो जाती हैं। फलत व्यक्ति के पूरे सवेगात्मक जीवन मे ही उथल-पुथल सी मच जाती है। पूर्व विकसित स्थायीभाव नई भावनाओ और सवेगो के नियन्त्रण मे असमर्थ दिखलाई पडते हैं। फलत कभी-कभी व्यक्ति को ऐसी परिस्थितियो का सामना करना पडता है कि वह अपना कर्त्तव्य ही नही समझ पाता। वह बहुधा उदास या हताश सा दिखलाई पडता है। कभी-कभी अपनी इस स्थिति की प्रतिक्रिया मे बालक डीग मारते हुए सुनाई पडता है, या अपने हवाई किले बनाने मे ही मस्त रहता है। उसकी डीगें और हवाई किले उसकी स्वतन्त्रता की भावना का आभास देते हैं। अब बालक कुछ उत्तरदायित्व सभालने की इच्छा करता है। अपने व्यक्तित्व को दूसरो के सामने वह पूर्ण रूप से रखना चाहता है। उसकी इच्छा होती है कि लोग उसे योग्य समझे और आदर करे। कैशोर मे व्यक्ति का सामाजिक जीवन भी विस्तृत होने लगता है। उसकी मित्र-मण्डली का विस्तार पहले से बहुत बढ जाता है। अपनी मित्र-मण्डली अथवा पाठशाला के प्रति उसकी भक्ति बढ जाती है। सामाजिक सेवा की भावना भी कैशोर मे पहले से बहुत अधिक जागृत हो जाती है। निर्बलो की सहायता की भावना व्यक्ति मे स्वय उत्पन्न हो जाती है।

सौन्दर्य और धार्मिक भावना कैशोर मे बडी प्रबल हो जाती है। व्यक्ति प्रकृति, कविता, संगीत और कला मे रुचि दिखलाने लगता है। धार्मिक विश्वासो मे वह सन्देह करने लगता है। जब तक उसकी शकाओ का समाधान नही होता, वह धर्म

1. Mental Development.

के विषय मे उदासीन सा दिखलाई पडता है। इस प्रकार कैशोर में व्यक्तित्व का शारीरिक, बौद्धिक और सवेगात्मक दृष्टि से नया जन्म होता है। अपनी मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्रता मे मस्त व्यक्ति एक निश्चित व्यवसाय की ओर झुकना चाहता है। जननेन्द्रियो की परिपक्वता के कारण वह जीवनसगिनी की प्राप्ति की इच्छा करता है। अपनी सामाजिक और नैतिक जागृति के फलस्वरूप व्यक्ति समाज और नैतिकता के विषय मे अपने नये विचार रखना चाहता है। व्यक्ति की इन विभिन्न भावनाओ का समुचित आदर करना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नही। परन्तु समाज मे हम उचित व्यवस्था का प्राय हर स्थान मे अभाव पाते हैं। फलतः व्यक्ति की उन्नति मे पग पग पर हमे वाधा दिखलाई पडती है। वह निर्दोष होते हुए भी भ्रमजाल मे फँसा दिखलाई पडता है।

कैशोर और शिक्षा[1]

व्यक्ति की शिक्षा की गम्भीरता तो वस्तुत कैशोर से ही प्रारम्भ होती है। उपर्युक्त क्रान्तिकारी परिवर्तनो से यह स्पष्ट है कि कैशोर की शिक्षा का सगठन एक नये सिरे से करना चाहिये। शारीरिक तथा मानसिक सभी क्षेत्रो मे शिक्षा का रूप पहले से दृढ हो जायगा। कैशोर मे सारा स्वास्थ्य ढीला पड जाता है। प्राय सभी अवयवो मे परिवर्तन दिखलाई पडते हैं। अत यह काल कठिन व्यायाम का है। शरीर की उन्नति के लिये उचित व्यायाम के आयोजन की आवश्यकता है। स्कूलो मे विभिन्न खेलो का समुचित प्रवन्ध आवश्यक है। अध्यापक को यह देखना चाहिये कि प्रत्येक वालक निर्धारित खेल खेलता है। प्रत्येक स्कूल के वालको के स्वास्थ्य निरीक्षण के लिये चिकित्सको की नियुक्ति आवश्यक है। उनकी सहायता से प्रत्येक वालक के "स्वास्थ्य का विवरण-पत्र'[2] रखना चाहिये। स्कूलो मे व्यायामशाला का होना उतना ही आवश्यक है जितना कि 'विज्ञान-प्रयोगशाला' का। यदि कैशोर मे वालक या वालिका के स्वास्थ्य पर उचित ध्यान न दिया गया तो उनके सारे जीवन के विगड जाने का भय है।

कैशोर मे व्यक्ति मे इधर-उधर घूमने की इच्छा प्रवल हो जाती है। इस इच्छा की पूर्ति स्कूलो मे कुछ सीमा तक की जा सकती है। प्रकृति अध्ययन, भूगोल तथा इतिहास के सम्वन्ध मे वालको को छोटी-छोटी यात्राओ पर ले जाना चाहिये। योग्य शिक्षक के निरीक्षण मे वे अपनी यात्रा से प्रकृति, भूगोल और इतिहास का ऐसा ज्ञान प्राप्त करेंगे जो सदा के लिये स्थायी होगा। स्काउटिङ्ग का महत्व इस सम्वन्ध मे कम नही। कैशोर मे उत्तरदायित्व सँभालने की इच्छा आ जाती है। व्यक्तित्व के विकास के लिये इस इच्छा की पूर्ति आवश्यक है। स्कूलो मे खेल तथा 'विनय-व्यवस्था'

1. Adolescence and Education. 2. Health Chart.

के सञ्चालन मे बालको और बालिकाओ के ऊपर कुछ भार दिया जा सकता है। इससे उत्तरदायित्व के सँभालने मे उनको कुछ शिक्षा मिल जायगी और उनके हृदय का उद्गार भी पूरा हो जायगा। बालक के उत्साह का शिक्षक को सदा सदुपयोग करना चाहिये, अन्यथा उसकी शक्ति सदैव के लिये जाती रहेगी। ऊपर हम देख चुके हैं कि कैशोर मे नई-नई रुचियाँ उत्पन्न होती हैं। स्कूल मे सभी प्रकार के विषयो के पढाने का आयोजन आवश्यक है जिससे व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर अपना व्यक्तित्व-निर्माण कर सके। साहित्यिक, रचनात्मक तथा वैज्ञानिक सभी प्रकार के विषयो का स्कूल मे होना आवश्यक है। हमे व्यक्ति को उदार शिक्षा देनी है। रुचि के अनुसार उदार शिक्षा पाने पर ही व्यक्ति स्कूल से बाहर निकलने पर अपने को असहाय नही पायेगा। तब उसे अपना व्यवसाय ठीक-ठीक दिखलाई पडेगा और उसी ओर वह तन मन से झुक जायगा।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

'सस्कृति-युग-सिद्धान्त' ठीक नहीं, विकास हमारी अन्त प्रेरणा और सामाजिक वातावरण का गुणनफल, मस्तिष्क और शरीर की 'परिपक्वता' और 'सीखने की शक्ति' का भी प्रभाव, शरीर और मस्तिष्क दोनो पर उचित ध्यान देना आवश्यक।

ज्ञान, सवेग और सकल्प-शक्ति एक ही क्रिया के तीन आवश्यक अग, शिक्षा मे इन तीनो पर उचित ध्यान देना आवश्यक।

मूलप्रवृत्तियो को अवदमित करना हानिकर, व्यक्ति के विकास मे एक गति और क्रम।

मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ।

शैशव

शारीरिक विकास सबसे अधिक महत्वपूर्ण, इस काल मे जीवन की पूरी गति निश्चित।

शैशव में मानसिक विकास—

सीखने की शक्ति बडी तीव्र, मानसिक स्वास्थ्य का भूख, प्यास तथा शौचादि से घनिष्ठ सम्बन्ध; भावनाओ के विकास का इनसे सम्बन्ध।

जीवन की सारी नीव बचपन मे, बच्चे राष्ट्र के भावी निर्माता, उनका पालन मनोवैज्ञानिक ढग पर आवश्यक।

बच्चों के रोने के कारण पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक शरीर के अनुपात मे उसमे शक्ति अधिक, उसका जीवन बडा प्राकृतिक।

'सीखना' शीघ्र प्रारम्भ, अपनी गति पर कुछ अधिकार, दूसरे वर्ष मे चलना

और दौडना, छोटी वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना, ढाई वर्ष मे बातचीत, पाँच वर्ष के अन्दर पहचानना, याद करना और सोचना, दो वर्ष के पहले ही स्वप्न देखना, तर्क शक्ति और अन्तर्दृष्टि ।

मनोभावो का निश्चित अर्थ, दो वर्ष के भीतर भय, क्रोध, घृणा, आश्चर्य, प्रेमभाव, आत्महीनता तथा आत्माभिमान, पाँचवे वर्ष मे मनोभावो पर नियन्त्रण, स्थूल वस्तुओ के प्रति स्थायीभाव, माँ के प्रति सहानुभूति, व्यवहार मे विनय भी ।

शैशव और शिक्षा—

शिक्षा 'गुणो के खोजने की एक क्रिया', वालक के दोप कुशिक्षा के फल, वालक की ओट मे माता-पिता को अपनी इच्छा पूर्ति का अवसर, कुटुम्ब दोषो को भूल कर वालको की शिक्षा नई भावना से प्रारम्भ करना ।

शिशु शिक्षा की नीव माता-पिता के जीवन मे ही, गर्भ में आने के साथ ही माता का सावधान होना, भोजनादि के सम्बन्ध मे नियमित आदत, परिचर्या के समय बच्चो को डाँटना ठीक नही. परिचर्या में आनन्द, वच्चो की परिचर्या का भार दाइयो पर नही ।

परिचर्या का वातावरण शान्त हो, वहुत पुचकारना, थपथपाना, उछालना, झुलाना और गुदगुदाना नाडीमण्डल के लिये हानिकर ।

सगीत को स्थान, पूरी स्वतन्त्रता से विभिन्न अवयवो का व्यायाम स्वत, खिलौने द्वारा उन्हे गतिशील वनाना, मूलप्रवृत्तियो की क्रिया मे अमूल्य अनुभव, वालक की इच्छा और आवश्यकता की अवहेलना नही ।

वालक का हठी तथा दब्बू वनना, एक ही घर मे सवके लिये समान वातावरण नही ।

वालक मे नैतिक-न्याय की भावना, वालक जन्म से ही अनोखा व्यक्ति, उसमे सभी मानसिक शक्तियाँ, उसकी इच्छाओ का आदर करना, वालक वडा ही कृतज्ञ ।

स्वत. खेलने की आदत डालना आवश्यक, अनुमति के रूप में सिखाना, अभावात्मक उपदेश हानिकर, दण्ड देने मे क्रूरता का न होना, रोने के समय शान्त वातावरण मे रखना, नैतिक भावना का आभास देना ।

कहानी, भजन और गीत याद कराना, पढ कर सुनाना, किण्डरगार्टन द्वारा वर्णज्ञान, अधिक उपयोगी वस्तुओ मे ही पैसा खर्च करना ।

विकास के लिये अन्य वालको का साथ आवश्यक, वाहर जाने से रोकना ठीक नही, अच्छे वालको का सङ्ग आवश्यक ।

विचार-शक्ति के विकास के लिये वातावरण मे जिज्ञासा को प्रोत्साहन, प्रकृति, कला तथा संगीत से प्रेम-भाव उत्पन्न करना, न अधिक डाँटना और न अधिक प्यार करना ।

शारीरिक—

द्रुतगति, मोटाई पहले से कम, स्थायी दाँतो का आना, स्वास्थ्य अच्छा, अगों मे शक्ति, गति पर नियन्त्रण।

मानसिक—

प्राय सभी मूलप्रवृत्तियाँ जागृत, 'जिज्ञासा' क्रियाशील संचय, निर्माण अनुकरण करने की प्रवृत्ति।

खेल—

प्रधान प्रवृत्ति, विभिन्न मत, खेल के बहाने अन्य मूलप्रवृत्तियाँ क्रियाशील, खेल के उचित सगठन से शक्तियो का परिवर्द्धन सम्भव।

पूर्व-बाल्यकाल में खेल—

सात वर्ष तक कल्पना का भाग अधिक, समूह मे नही, निर्माण-शक्ति का प्रयोग, सात वर्ष के बाद प्रतियोगिता की भावना, कल्पना कम, वास्तविक जगत मे, सामाजिक होना, कौशल प्राप्त करने की इच्छा।

उत्तर-बाल्यकाल में खेल —

वास्तविक जगत से विशेष रुचि, उपयोगी कार्य करने की भावना कल्पना तर्क-सगत, एकाग्रता की शक्ति और तीव्र बुद्धि।

बाल्यकाल में संवेगात्मक विकास—

पहले से अधिक स्थिर, सात वर्ष के बाद उसकी रुचि अपने मित्रो मे, आत्म-निर्भरता और स्वतन्त्रता की भावना, अन्य बालको की संगति आवश्यक।

सात वर्ष मे नैतिकता की सीमा आज्ञा पालन तक, मित्रता के बढने से सीमा विस्तृत, अधिक नैतिक, सहिष्णु और विचारवान्, नम्रता से प्रेम, रुक्षता से घृणा।

बाल्यकाल और शिक्षा—

बाल्यकाल पूरे जीवन का दर्पण, नियमित कठिन परिश्रम की आवश्यकता, भाषा और अकगणित, व्यावहारिक कौशल मे भी शिक्षा, हस्तकला और रचनात्मक प्रवृत्ति पर ध्यान देना।

शारीरिक विकास—

कल्पना-शक्ति की उडान, साहसिक कार्य, शरीर पर पहले जैसा नियन्त्रण नही, आवाज का फटना, जननेन्द्रियों का पूर्ण विकास, स्वास्थ्य के बिगड जाने का सदा भय।

मानसिक विकास—

विभिन्न विषयो के ज्ञान की प्रबल इच्छा, रचनात्मक प्रवृत्ति, शारीरिक परिश्रम

में भी रुचि. रुचि का विकास, नये-नये संवेग, विषम परिस्थितियों का सामना, डींग मारना, हवाई किले बनाना, उत्तरदायित्व लेने की इच्छा, सामाजिक जीवन पहले से अधिक विस्तृत, सहायता देने की इच्छा।

सौन्दर्य व धार्मिक भावना; प्रकृति, कविता, संगीत और कला में रुचि, धार्मिक विश्वासो मे सन्देह, निश्चित व्यवसाय की ओर झुकने की इच्छा समाज और नीति विषयक, उसके नये विचार।

कैशोर और शिक्षा—

शिक्षा का संगठन नये सिरे से होना आवश्यक, कठिन व्यायाम, विभिन्न खेलो का समुचित प्रबन्ध, स्कूलो मे व्यायामशाला।

प्रकृति, भूगोल तथा इतिहास के अध्ययन मे छोटी-छोटी यात्रायें, स्काउटिंग खेल तथा विनय-व्यवस्था के संचालन में बालको का हाथ आवश्यक, सभी प्रकार के विषयो का पढ़ाना आवश्यक।

सहायक पुस्तकें

१—स्किनर (सम्पादक) एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ६।
२—रॉस—ग्राउण्ड वर्क ऑव एडूकेशन साइकॉलॉजी, अध्याय ८।
३—डेविड केनेडी—फ्रेसर—दी साइकॉलॉजी ऑव एडूकेशन, सेक्सन ४, अध्याय ४।
४—हाल—एडोलिसेन्स—भाग १ और २।
५—वैलेण्टाइन सी० डब्लू—दी साइकॉलॉजी ऑव अर्ली चाइल्डहूड।
६—रूथ स्ट्रैङ्ग—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू चाइल्ड साइकॉलॉजी।
७—नन—एडूकेशन, इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय १२।
८—थॉमसन, जी० एच०—ए मॉडर्न फिलासॉफी ऑव एडूकेशन, अध्याय १२।
९—ग्रुयेनबर्ग—गाइडेन्स ऑव चाइल्डहूड ऐण्ड यूथ, अध्याय २२, २३।
१०—ए, वेरिल, एल० ए०—एडोलिसेन्स।
११—वेले, नैन्सी—स्टडीज इन दी डीवलेपमेण्ट ऑव यङ्ग चिल्ड्रेन।
१२—ब्रूक्स—चाइल्ड साइकॉलॉजी, साइकॉलॉजी ऑव एडोलेसेन्स।
१३—कोल, एल० सी०—साइकॉलॉजी।
१४—मार्गन—चाइल्ड साइकॉलॉजी।
१५—लेनार्ड करमाइकेल—मैनुअल ऑव चाइल्ड साइकॉलॉजी।
१६—एलिजाबेथ बी० हरलॉक—चाइल्ड डीवलपमेण्ट।
१७—एलिजाबेथ बी० हरलॉक—एडोलेसेन्स डीवलपमेण्ट।
१८—वेन डेनिस—रीडिंग्ज इन चाइल्ड साइकॉलॉजी।

१९—ग्ररट्रूड ड्रीस्कॉल—हाउ टु स्टडी बीहेवियर ऑव चिल्ड्रेन (टीचर्स कॉलेज, कोलम्बिया यू०, १९५०)।

२०—आइरेन एम० जोसेलिन—साइकॉलॉजिकल डीवलपमेण्ट ऑव चिल्ड्रेन (फेमिली सर्विस एसोसियेशन ऑव् अमेरिका, १९४८)।

२१—बेंजामिन सी० ग्रेयेनबर्ग (सम्पादक,—गाइडेन्स ऑव चाइल्डहूड ऐण्ड यूथ चाइल्ड स्टडी एसोसियेशन ऑव् अमेरिका, १९२६)।

२२—जोजेफिन हीमेनवे केनयन—हेल्दी बेबीज ऑर हैपी बेबीज।

२३—स्कीनर ऐण्ड हैरीमैन—चाइल्ड साइकॉलॉजी।

२४—लूई पी० थॉर्प—चाइल्ड साइकॉलॉजी ऐण्ड डीवलपमेण्ट।

२५—हैविगहर्स्ट ऐण्ड टवा : ऐडोलेसेण्ट कैरेक्टर ऐण्ड परसनालिटी।

२६—क्रो एण्ड क्रो—ऑवर टीन एज ब्यायेज ऐण्ड गर्ल्स।

५

वंशानुक्रम और वातावरण[1]

१—वशानुक्रम का अर्थ[2]—

मनोविज्ञान मे वशानुक्रम का प्रयोग हम बहुधा दो अर्थ में किया करते हैं। पहले इसका तात्पर्य हम उन बीज-कोषो के वितरण से समझते हैं जिनसे व्यक्ति की शारीरिक बनावट तथा विभिन्न योग्यता निर्धारित होती है। इन्ही बीजकोषो के कारण पुत्र पिता के समान दिखलाई पडता है। वशानुक्रम का प्रयोग एक दूसरे अधिक व्यापक अर्थ मे भी किया जाता है। इस प्रयोग के अन्तर्गत व्यक्ति के सभी स्वजात गुण और अवगुण आ जाते है, अर्थात् वशानुक्रम से हमारा तात्पर्य उस क्रिया से है जिससे पृथ्वी पर विभिन्न जीव अपने पूर्वजो के सदृश उत्पन्न हुआ करते है। यह क्रिया इतनी अविरल गति तथा एक क्रम से चला करती है कि मनुष्य-मनुष्य ही है और शेर शेर ही। यह सत्य है कि कुछ पाठक कह बैठेंगे कि इस नियम की प्रकृति कभी-कभी अवहेलना भी करती है, क्योकि गाय अथवा ऊँट को बकरी होते देखे गये हैं—आधुनिक जीव-शास्त्र-वेत्ताओ के समक्ष भी ऐसी बात आई है। पर ऐसे प्रमाण इतने कम हैं कि सामान्य के समक्ष वे बहुधा नगण्य है। इस प्रकार वशानुक्रम से ही किसी जाति विशेष की स्वाभाविक परम्परा जीवित दिखलाई पड़ती है।

१—वातावरण का अर्थ[3]—

वातावरण का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने इसे 'सामाजिक वशानुक्रम'[4] की सज्ञा दे रखी है। इसके अन्तर्गत उन सभी बातो का तात्पर्य निहित है जिनका प्रभाव व्यक्ति के विकास पर किसी प्रकार का पडता है। इन बातों के वर्णन के लिये स्वय एक पुस्तक की आवश्यकता होगी, क्योकि मनुष्य विभिन्न दशाओ और परिस्थितियो के सघर्ष मे आता है और वह अपनी शक्ति के अनुसार उन परिस्थितियों में परिवर्त्तन भी ला देता है। सामान्य रूप से हम वातावरण का वर्गीकरण प्राकृतिक[5] और सामाजिक[6] रूप मे कर सकते हैं।

1. Heredity and Environment. (प्रतिवेश) 2. The meaning of heredity 3 The meaning of environment. 4. Social heredity. 5. Natural Environment 6. Social Environment.

प्राकृतिक वातावरण—

प्राकृतिक वातावरण से हमारा तात्पर्य पृथ्वी की उन विभिन्न शक्तियो तथा उस पर रहने वाले जीवो से है जिनका प्रभाव मनुष्य पर पडता है। पौराणिक धार्मिक कथाओ के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव मनुष्य के विकास मे कहाँ तक रहा है। आज भी विभिन्न वातावरण मे रहने से मनुष्य के रूप, रग तथा रहन-सहन मे स्पष्ट भेद दिखलाई पडता है। पौधो तथा साधारण जानवरो के सदृश् मनुष्य मे भी वातावरण का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पडता है। शरीर की आकृति मे मनुष्य अनेक शताब्दियो से कदाचित् आज ही की तरह रहा है, पर सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उसमे सदा परिवर्तन होते रहे हैं। इतिहास और भूगोल से हमे यह पता चलता है कि ये परिवर्तन क्यो और कैसे होते रहते हैं। जलवायु के भेद मे किसी स्थान के मनुष्य स्वस्थ और क्रियाशील होते हैं और कहीं के एकदम आलसी। प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव मनुष्य के साधारण रूप, रग व स्वभाव पर तो पडता ही है, पर उसका प्रभाव नेत्र, कान तथा चर्म आदि इन्द्रियो पर भी अत्यन्त व्यापक होता है। इन इन्द्रियो पर जैसा प्रभाव पडता हैं उसी के अनुसार मनुष्य की विभिन्न शक्तियाँ निर्धारित होती हैं। इन्ही शक्तियो के अनुसार मनुष्य वातावरण की उत्तेजना के प्रभाव मे आकर अपना विकास करता है। अत' मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिये वातावरण की उन समस्त बातो का ज्ञान आवश्यक है जिनका प्रभाव मनुष्य की इन्द्रियो पर पड सकता है।

सामाजिक वातावरण—

अब हम मनुष्य के सामाजिक वातावरण की ओर आते हैं। वातावरण की विभिन्न बातो के प्रति एक निश्चित प्रतिक्रिया दिखलाने की मनुष्य मे एक विशेष शक्ति होती है। इसी विशेष शक्ति के कारण वह अन्य जीवो से श्रेष्ठ समझा जाता है। मनुष्य अपनी सुनने, बोलने और बातचीत करने की शक्ति से अपने लिये एक सामाजिक वातावरण उत्पन्न कर सका है। मनुष्य का यह सामाजिक वातावरण उतना ही प्राचीन है जितनी कि उसकी सभ्यता। इस वातावरण के अन्तर्गत 'पूर्वजो द्वारा दी हुई सारी सभ्यता' तथा 'वर्तमान मानव समाज' दोनो आ जाते है। पूर्वजो द्वारा दी हुई सारी सभ्यता' से हमारा तात्पर्य उन सभी बातो से है जो व्यक्ति अपनी चेतना प्राप्त करने के बाद अपने चारो ओर देखता है —उदाहरणार्थ, भाषा, विभिन्न कलाये, धर्म, विधान, यातायात के साधन, धन तथा सुख के साधन इत्यादि। मानव समाज से हमारा तात्पर्य उन सस्थाओ से है जिन्हे मनुष्य अपनी रक्षा के लिये स्थापित किये हुए है। इन्हो सस्थाओ में घर, पाठशाला, जाति, गाँव, नगर तथा अन्य सगठन आते है। इन सस्थाओ के अन्तर्गत आकर मनुष्य अपनी जीवन-रक्षा के अतिरिक्त अपने व्यवहार तथा चरित्र का भी विकास करता है। इन सस्थाओ मे किसी प्रकार का परिवर्तन लाना सरल नही।

इनमे परिवर्तन केवल क्रान्ति मे ही सम्भव होता है। इस क्रान्ति मे या तो व्यक्ति नष्ट हो जाता है या वह इच्छित परिवर्तन ला देता है। व्यक्ति के समक्ष वातावरण के अनुकूल अपने को वना लेने की ही समस्या नही उठती, वरन् आवश्यकतानुसार उसमे परिवर्तन लाने की अपने मे शक्ति करना भी कभी कभी वाछित जान पडता है। वास्तव मे उसका जीवन वातावरण के साथ अविरल सघर्ष का है। इस प्रकार वातावरण का स्थान उसके विकास मे वहुत ही उच्च है। स्पष्ट है कि वालक के वातावरण को विना भली-भाँति समझे शिक्षक अपने उत्तरदायित्व का सुचारु रूप से सम्पादन नही कर सकता।

३—वंशानुक्रम तथा वातावरण में कौन अधिक महत्वपूर्ण ?—

वंशानुक्रम और वातावरण मे वालक के विकास पर किसका अधिक प्रभाव पडता है—यह निश्चित रूप से कहना अभी सम्भव नही हो सका है। भाग्यवादी सव कुछ वशानुक्रम पर ही छोड वैठ जाते हैं, पर आशावादी की गति ऐसी नही। वह वालक के विकास में वातावरण को ही प्रधानता देता है। कुछ तो यहाँ तक कह वैठते हैं कि 'हमे चाहे जैसा सामान्य वालक दो हम उसे चाहे जो वना सकते हैं, उदाहरणार्थ डाक्टर, इञ्जीनियर, शिल्पकार अथवा लेखक। यदि वातावरण को ही सारा श्रेय दिया जाय तो कदाचित् असम्भव को भी सम्भव वनाया जा सकता है। पर वशानुक्रम पर ही सव कुछ निर्भर समझना बुद्धिमता से शून्य होगा। यदि ऐसी वात होती तो शिक्षा का प्रयोजन ही क्या ? शिक्षा न देने पर भी बुद्धिमान माता-पिता की सन्तान बुद्धिमान ही होगी। इसी प्रकार चाहे जितनी शिक्षा दी जाय मूर्ख माता-पिता की सन्तान मूर्ख ही होगी। पर ऐसा समझना भारी भूल है। तो व्यक्ति के विकास के लिये वशानुक्रम और वातावरण मे अधिक उपयोगी कौन है ? वास्तव में यह प्रश्न ही वेतुका प्रतीत होता है। भवन-निर्माण के लिये ईंटे, पत्थर, चूना व गारा इत्यादि अधिक आवश्यक है या कारीगर ? क्या इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है ? स्पष्ट है कि वशानुक्रम और वातावरण में अधिक उपयोगी कौन है यह हम निश्चय रूप से नही कह सकते। लेखक का अनुभव है कि ट्रेनिङ्ग कॉलिज के विद्यार्थी इस प्रश्न को अपने प्रारम्भिक दिनो में वहुधा पूछा करते हैं। वस्तुत इस प्रश्न का उत्तर तो दिया ही नही जा सकता। उनसे वार-वार यही कहना पडता है कि दोनो की गरिमा समान है। दोनो एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। व्यक्ति का विकास दोनों की परस्पर-प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है।

विकास-सम्वन्धी सव कुछ का कारण केवल वातावरण अथवा केवल वशानुक्रम समझना भारी भूल है। ऐसे विश्वास से व्यक्ति के उद्योग मे वडा विघ्न पड सकता है। वंशानुक्रम और वातावरण तो एक ही विकास-क्रम के दो अङ्ग हैं। उनमे पारस्परिक विरोध नही। एक दूसरे की सहायता करता है। वशानुक्रम स्वभावत वातावरण के प्रभाव को स्वीकार करता है। कहना न होगा कि वातावरण पर भी वशानुक्रम का

प्रभाव पड़ता ही है । हमारे सभी गुणो के उत्पादन के लिये वंगानुक्रम और वातावरण के अंगो की आवश्यकता होती है। अतएव मूलतः हम यह कह सकते हैं कि हमारे सभी गुण वशानुक्रम के फल है और साथ ही साथ वे वातावरण के प्रभाव के भी फल है। अत. शुद्ध रूप से हमारा कोई भी गुण न केवल वंशानुक्रम से और न केवल वातावरण से ही सृजित होता हैं। उसके उत्पादन मे तो दोनो के प्रभाव अपेक्षित होते है। व्यक्ति का विकास तो दोनो पर निर्भर होता है। एक की भी अवहेलना हानिकर सिद्ध होगी। अत शिक्षक को दोनो के रूप को अच्छी प्रकार समझना आवश्यक है। इसके समझने से ही वह निर्णय कर सकता है कि अमुक बालक के लिये किस प्रकार की शिक्षा उपयोगी होगी।

पहले हमारी शिक्षा का रूप अधिक मनोवैज्ञानिक न था। बिना भली-भाँति समझे ही शिक्षक वहुधा कह दिया करते थे कि अमुक बालक व्यर्थ है। इस प्रकार वे उसके भविष्य पर बहुत प्रारम्भ मे ही कुठाराघात कर दिया करते थे। पर आधुनिक मनोवैज्ञानिक अन्वेषणो के फलस्वरूप अब स्थिति ऐसी नही रही। फलत शिक्षक का कार्य अव कुछ सरल हो गया है। इस क्षेत्र मे थॉर्नडाइक, मैग्डूगल, फ्रॉयड, स्पियरमैन, ड्रेवर तथा शैण्ड आदि जैसे मनोवैज्ञानिको के नाम विशेष उल्लेखनीय है। मूलप्रवृत्तियो तथा बुद्धि के वास्तविक रूप को समझने की चेष्टा से अब यह विदित हो गया है कि व्यक्ति की वशानुक्रमीय[1] शक्तियो की सीमा क्या हो सकती है और उस पर वातावरण का प्रभाव कहाँ तक पड सकता है। जैसे बढई काष्ठ पर कार्य करता है उसी प्रकार शिक्षक के सामने बालक है। यदि बढई ने बिना काष्ठ को पहचाने ही कार्य प्रारम्भ कर दिया तो उसे अपने कार्य मे इच्छित सफलता प्राप्त न होगी। यदि शिक्षक भी बालक को पहचानने की चेष्टा न करे तो उसकी भी यही गति होगी। अत सर्वप्रथम शिक्षक को बालक के स्वरूप को समझना चाहिये।

क्या बालक एकदम कोरी पटिया के सदृश् है और उस पर हम अपनी इच्छानुसार चाहे जो लिख सकते हैं? क्या बालक एक खाली घडे के समान है, और उसे हम चाहे जिस प्रकार की शिक्षा से भर दे? क्या माध्यमिक काल के शिक्षको की धारणानुसार बालक स्वभावत बुरा होता है और शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य उसे पाप से मुक्त करना ही है? क्या बालक रूसो के कथनानुसार स्वभावत. अच्छा होता है और शिक्षक का उद्देश्य केवल उसे बुरी सङ्गतो से बचाना ही है? कुछ लोग कहा करते हैं कि ईश्वर सब को एक आँख से देखता है, अत. उसने सब को समान शक्ति प्रदान की है। तो क्या हम यह मान ले कि सभी बालक अपनी मानसिक शक्तियो मे समान होते हैं? विद्वानो की रचनाओ मे इन प्रश्नो का उत्तर एक सा नही मिलता। पर इनका ठीक-ठीक उत्तर

---

1. Hereditary.

समझना शिक्षक के लिये बहुत आवश्यक है। वस्तुत: यह कहा जाता है कि पुत्र प्राय: पिता का गुण व अवगुण लेकर आता है। यदि पिता स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट हुआ तो पुत्र भी वैसा ही होगा अन्यथा इसके विपरीत। यह सर्व साधारण के ज्ञान की बात है कि गौर वर्ण वाले माता-पिता के प्राय: गौर वर्ण के ही पुत्र होते हैं और मूर्ख की सन्तान प्राय: मूर्ख ही पाई जाती है। पर हमें इतने से ही निर्णय पर नही पहुँच जाना है। वंशानुक्रम के प्रभाव को ठीक-ठीक समझने के लिये गाल्टन, डार्विन, मेण्डेल, वीजमैन, लेमार्क, मैग्डूगल प्रभृति विद्वानो के अन्वेषणो पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। विकास-सिद्धान्त को समझे बिना शिक्षक वंशानुक्रम के प्रभाव को ठीक-ठीक नही समझ सकता। अत: नीचे हम यथास्थान इनका उल्लेख करेंगे।

एक सामान्य व्यक्ति यह बडी ही सरलता से कह देता है कि जैसी ककडी वैसा बीज, जैसे माता-पिता वैसे पुत्र। पर कभी-कभी पुत्र पिता से बिलकुल भिन्न दिखलाई पडता है। इसका क्या कारण है ? इस प्रश्न की ओर सामान्य व्यक्ति की रुचि नही। केवल वंशानुक्रम ही समानता नही ले आता। वस्तुत वंशानुक्रम में तो समानता और असमानता दोनो निहित होती हैं। यदि समानता का कारण वंशानुक्रम है तो असमानता भी वंशानुक्रम के ही कारण होती है ; अर्थात् वंशानुक्रम व्यक्ति के विभिन्न गुणो और अवगुणो का गुणनफल मात्र है।

जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ विद्वान वातावरण को ही सारा महत्व देते हैं। उनके अनुसार वंशानुक्रम का व्यक्ति के विकास मे विशेष स्थान नही। इस मत के अधिष्ठाता प्रसिद्ध दार्शनिक हरबार्ट और हेल्वेशस कहे जाते हैं। इनका कहना है कि व्यक्ति की भिन्नता केवल वंशानुक्रम पर ही नही, वरन् वातावरण पर भी निर्भर होती है। जैसी शिक्षा दी जायगी वैसा ही बालक का विकास होगा। वंशानुक्रम का इस पर कुछ भी प्रभाव नही पडता। यदि लोगो को समान शिक्षा दी जाय तो कुछ दिनो में सभी लोगो के मस्तिष्क समान हो जायेंगे। पर लाख चेष्टा करने पर भी वातावरण की पूर्ण रूप से समानता उपस्थित करना सम्भव नही। इसीलिये भिन्नता का आ जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार हरबार्ट के मतानुसार वैयक्तिक भिन्नता का कोई मौलिक कारण नही है, वरन् उसका कारण तो वातावरण की भिन्नता है। परन्तु हरबार्ट का मत मान्य नही हो सकता, क्योंकि वंशानुक्रम का प्रभाव हमें बालक के जन्म मे ही दिखलाई पडता है। अत: अब वंशानुक्रम के प्रभाव पर दृष्टि डालना समीचीन होगा।

४—परिवार तथा रक्त के सम्बन्ध का प्रभाव[1]—

कई कुटुम्ब के वंशजों के अध्ययन से भी मनोवैज्ञानिको ने यह जानने की

1. The influence of family and blood-relationship.

चेष्टा की है कि व्यक्ति के गुणो का सम्बन्ध विशेषकर वशानुक्रम से होता है या वातावरण से। इस प्रकार के अध्ययन मे उन्नीसवी शताब्दी के अँग्रेजी वैज्ञानिक गाल्टन[1] का नाम विशेष उल्लेखनीय है।—गाल्टन ने प्रत्येक चार हजार व्यक्तियो मे से एक व्यक्ति को श्रेष्ठ मानने की कसौटी के आधार पर ९७७ सुप्रसिद्ध व्यक्तियो की सूची बनाई। इस प्रकार गाल्टन के हिसाब से एक लाख व्यक्तियो मे केवल २५ को ही सुप्रसिद्ध समझना चाहिये। इन ९७७ सुप्रसिद्ध व्यक्तियो के निकटतम रक्त-सम्बन्धियो का पता लगाया गया तो उनमे ५३५ सुप्रसिद्ध व्यक्ति निकले। वशानुक्रम का प्रभाव स्पष्ट करने के लिये गाल्टन ने ९७७ सामान्य व्यक्तियो का भी अध्ययन किया। इनके निकटतम रक्त-सम्बन्धियो मे केवल चार ही सुप्रसिद्ध व्यक्ति प्रमाणित हो सके।

वशानुक्रम की महत्ता का प्रमाण हमे अन्य अध्ययनो से भी मिलता है। डॉ० ए० ई० विनशिप ने एडवर्ड कुटुम्ब का अध्ययन किया। रिचर्ड एडवर्ड ने एलिजाबेथ नामक एक सुप्रसिद्ध महिला से विवाह किया। इस कुटुम्ब से उत्पन्न सभी वशजो ने विभिन्न क्षेत्रो मे प्रतिष्ठा प्राप्त की। इनमे लब्ध प्रतिष्ठित डाक्टर, भाषण वक्ता, प्रोफेसर तथा राजनीतिज्ञ हुए। रिचर्ड ने सयोगवश कुछ दिनो बाद एक बहुत ही साधारण महिला से भी विवाह किया। इस महिला से उत्पन्न पुत्रो के वशजो मे सभी सामान्य कोटि के व्यक्ति हुए।

गॉडर्ड[2] ने कालीकॉक कुटुम्ब का अध्ययन किया। मार्टिन कालीकॉक एक सामान्य कोटि का सिपाही था। अपने सिपाही जीवन मे एक मन्द-बुद्धि स्त्री के साथ उसका अवैध सम्बन्ध हो गया था। इससे एक वश की शाखा चली। लडाई से वापस आने के बाद उसने एक कुलीन वंश की सच्चरित्र व श्रेष्ठ महिला से विवाह किया। इससे एक दूसरे वश की शाखा चली। पहले वश की शाखा से ४८० व्यक्ति उत्पन्न हुए जिनमे १४३ मन्द-बुद्धि, ४६ सामान्य, ३६ जार-सन्तान, ३३ वेश्याएँ, २४ शराबी, ३ मिरगी के रोगी, ३ घोर अपराधी और ८ वेश्यालयो के स्वामी निकले। दूसरे विवाह से उत्पन्न वशजो मे ४९६ व्यक्तियो का पता लगाया जा सका। इनमे केवल पॉच व्यक्ति व्यभिचारी अथवा मन्द बुद्धि के निकले और शेष सभी ने विभिन्न क्षेत्रो मे प्रतिष्ठा प्राप्त की।

कार्ल पियर्सन[3] ने वशानुक्रम का प्रभाव प्रमाणित करने के लिये 'वेजउड-डारविन-गाल्टन' कुटुम्ब के इतिहास का पता लगा डाला। इससे पता चला कि लगातार पॉच पीढियो तक इस कुटुम्ब के वशज इङ्गलैण्ड के 'रॉयल सोसायटी' के सदस्य रहे तथा विभिन्न क्षेत्रो मे प्रतिष्ठावान् गिने जाते थे।

अमेरिका के जूकस परिवार के इतिहास से भी यह पता चलता है कि वशानु-

---

1 *Francis Galton* 2 Goddard. H H 3 *Pearson*, K

क्रम का प्रभाव कितना व्यापक होता है। इस परिवार का अध्ययन श्री डगडेल तथा इस्टाब्रूक ने किया। जूकस एक भ्रष्टाचरण वाला व्यक्ति था तथा उसने अपनी ही कोटि की एक महिला से विवाह किया। इस प्रकार उसने एक अपराधी कुटुम्ब की रचना की। इस कुल की पाँच पीढियो मे १७२० से १८७७ के भीतर प्राय. एक हजार स्त्री व पुरुष हुए। टी० पी० नन[1] के कथनानुसार इन हजार व्यक्तियो मे ३०० तो शैशव मे ही कालग्रस्त हो गये, ३१० व्यक्तियो ने २३०० वर्ष तक अनाथालयो मे जीवन व्यतीत किया, ४४० सदैव रोगग्रस्त रहे, १३० अपराधी घोषित किये गये, केवल २० ही कुछ व्यवसाय कला सीख सके, पर इनमे भी दस अपनी कला कारागार मे ही सीख सके। यह भी अनुमान किया गया है कि इन व्यक्तियो मे प्रत्येक की व्यवस्था के लिये राज्य को प्राय ४००० रु० व्यय करने पडे।

व्यक्ति के विकास-पथ का निर्धारण वशानुक्रम कहाँ तक करता है यह निश्चित करने के लिए मनोवैज्ञानिको ने कुछ जुडवो अथवा यमजो[2] का भी अध्ययन किया। इस प्रकार के अध्ययन का प्रारम्भ गत शताब्दी के अन्त मे गाल्टन ने किया। गाल्टन ने प्रश्न-प्रणाली का अवलम्बन लिया। अत उसके निष्कर्ष अधिक प्रमाणित नही दिखलाई पडते। पर उसके पश्चात् के मनोवैज्ञानिको ने अपनी विधि अधिक मनोवैज्ञानिक बनाई। इसमे थॉर्नडाइक का कार्य अधिक मनोरजक है। प्रश्न-प्रणाली के अतिरिक्त थॉर्नडाइक ने सख्या-शास्त्र[3] विधि का भी प्रयोग किया। थॉर्नडाइक ने यह सिद्ध किया कि भाई व बहिनो की अपेक्षा यमजो मे अधिक समानता होती है। उसके अनुसार यमजो मे प्राय तीन चौथाई की आपस मे समानता रहती है और भाई व बहिनो मे अनुमानत केवल ३/१० की ही समानता होती है। छोटे यमजो मे बडो से अधिक समानता होती है। ९ से ११ वर्ष के भीतर यमजो मे प्राय ८/१० की समानता मिलती है और १२ से १४ वर्ष के भीतर उनमे केवल ४/१० की समानता रह जाती है।

उपर्युक्त विवरण से वशानुक्रम का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पडता है, पर वातावरण के महत्व को भी हम अस्वीकार नही कर सकते। वशानुक्रमवादी यह कह सकते है कि वातावरण के लाख बदलने पर भी बीज-कोष से लाये हुए गुण से निर्मित व्यक्ति मे किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नही। पर वातावरणवादी भी यह कह सकता है कि प्रतिकूल वातावरण के फलस्वरूप उच्च वशानुक्रम वाला व्यक्ति भी निम्न कोटि मे ही रह जायगा। वातावरण की महत्ता भी अनेक उदाहरणो द्वारा सिद्ध की गई है। फ्रान्स के कण्डोल नामक विद्वान् ने ५५२ सुप्रसिद्ध व्यक्तियो का अध्ययन किया। इससे पता चला कि इन सुप्रसिद्ध व्यक्तियो मे प्राय. सभी के लिये सदा समुचित वाता-

---

१ टी० पी० नन, एडूकेशन इट्स डेटा, एण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, पृ० ११७। २ Twins
३ Statistical Method

वरण उपस्थित रहा। मरी द्वीप के निवासी पहली परीक्षा मे अपनी भाषा के कुल छः शब्दो की गणना कर सके पर बाद मे स्कॉट लोगो द्वारा शिक्षा पाने पर उनमें गणित का अच्छा बोध हो गया। ऊपर हम कह चुके हैं कि व्यक्ति के विकास मे वंशानुक्रम और वातावरण दोनो का प्रभाव अपेक्षित है। यदि बालक की वंशानुक्रम-प्राप्त बुद्धि-लब्धि (आई० क्यू०)[1] केवल ८० है तो उसे हम ११० नही बना सकते, पर उचित वातावरण की सहायता से हम उसे ६० तक खीच सकते हैं। इसी प्रकार यदि उचित वातावरण नही उपस्थित किया गया तो वंशानुक्रम-प्राप्त उच्च गुण भी कुण्ठित रह जायेगे। यदि वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि हमारे देश की अपढ जनता मे अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो समुचित वातावरण के मिलने पर राजेन्द्र, जवाहर और राधाकृष्णन् होते।

वंशानुक्रम के कुछ नियम[2]

५—बीज-कोष की सनातनता[3]—

इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक वीजमैन[4] हैं। हमारा शरीर जीव-कोषो[5] से निर्मित होता है। विभिन्न अङ्गों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के जीव-कोषो का प्रकृति ने आयोजन किया है। इन जीव-कोषो मे एक सन्तति-उत्पादन के हेतु भी जीव-कोष होता है। यह पुरुष मे शुक्र और स्त्री मे अण्ड के रूप मे पाया जाता है। इन्हे क्रमशः अँग्रजी मे जर्म-सेल और गैमिट[6] कहते है। इन्ही दोनो के सयोग से गर्भाधान होता है और सन्तान की उत्पत्ति होती है। इनके सयोग से भ्रूण-कोष की सृष्टि होती है। किसी कोष से आँख बनती है, किसी से हड्डी, किसी से कान किसी से हृदय, किसी से पेट इत्यादि। यह ध्यान देने की बात है कि विभिन्न अवयवो के निर्माण कर देने पर भी मूल बीज-कोष का नाश नही होता। यह बीज-कोष शरीर से भिन्न पहले के सदृश् बना रहता है। एक ही बीज-कोष से वंशपरम्परागत बहुत से व्यक्तियो का जन्म होता है। पिता इस बीज-कोष को उसके मूल रूप मे ही अपनी सन्तान मे भेज देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि पिता सन्तान का उत्पादक नही, अपितु वह तो इस बीज-कोष का सरक्षक मात्र है। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि बालक उतना ही प्राचीन है जितना कि उसके पूर्वज। इन्ही बीज-कोषो के कारण पूर्वजों की सभी बाते बालक मे पाई जाती है।

६—अर्जित गुणों का अवितरण[7]—

अपने उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर बीजमैन इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि

---

1. Intelligence Quotient. (I Q) 2 Some Laws of Heredity. 3 Continuity of germ-plasm 4. Weismann. 5. Living cell. 6. Gamete. 7 Non-Transmission of acquired traits.

पिता अपनी सन्तान को बीज-कोप के रूप मे अपने गुणो को देता है। पर यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। क्या सन्तान पिता के जीवन-काल में उसके अर्जित गुणो को भी वशपरम्परागत रूप मे प्राप्त कर लेती है ? इस शका के समाधान के लिये वीजमैन ने कुछ चूहों पर प्रयोग किया। लगातार कई पीढियो तक वह चूहो की दुम काटता रहा। पर किसी भी पीढी में विना दुम का नवजात चूहा उसने उत्पन्न होते न देखा। प्रत्येक चूहा अपने पूर्वजो के सदृश् दुम सहित ही उत्पन्न हुआ। इससे वीजमैन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि व्यक्ति अपने पूर्वजो के अर्जित अथवा अनुभव से प्राप्त गुणो को नही सक्रमित करता। पिता ने जो कुछ अपने जीवन-काल मे प्राप्त किया है उसका प्रभाव बीज-कोप पर नही पडता। अतएव उसके अर्जित गुणो का अधिकारी उसकी सन्तान स्वभावतः नही होती। यदि एक सगीतज्ञ की सन्तान सगीतज्ञ होती है तो वह वशानुक्रम-प्राप्त गुण के कारण नही, वरन् वातावरण के प्रभाव से सगीतज्ञ के वालक का वातावरण सगीतमय रहता है। फलत सगीत की ओर उसका झुकना स्वाभाविक हो जाता है।

क्या अर्जित गुण संक्रमित होते है[1] ?

. वीजमैन के सिद्धान्त के विपरीत लेमार्क[2] की धारणा है कि अर्जित गुणो को भी भावी सन्तति वशानुक्रमीय नियम के अनुसार प्राप्त करती है। वास्तव मे यदि अर्जित गुणो का कुछ प्रभाव भावी सन्तान पर न पडता तो विभिन्न जातियो का उत्तरोत्तर विकास सम्भव न होता और प्रत्येक वालक की शिक्षा सभ्यता के आदिकाल की परम्परा से प्रारम्भ करनी होती। पर वालक कोरी पटिया नही। वह कुछ व्यक्तिगत शक्तियो के साथ जन्म लेता है। हम उसे यह करने के लिये कहते हैं तो वह 'वह' करता है। क्यो ? इससे यह स्पष्ट है कि किसी न किसी तरह अर्जित गुणो का कुछ प्रभाव तो पडता ही है। हमारी इस धारणा की पुष्टि लेमार्क, मैग्डूगल तथा हैरीसन[3] के अन्वेषणो और परीक्षणो से होती है। लेमार्क का कथन है कि अपनी आवश्यकतानुसार प्राणी अपने को वातावरण के अनुकूल वनाने की चेष्टा किया करता है। इस उद्योग मे उसकी कुछ आदते तथा रहन-सहन के नियम मे भारी परिवर्तन आ जाता है। वातावरण के अनुकूल वनाने की चेष्टा मे जिन अवयवो मे परिवर्तन होता है वे अपने परिवर्तित रूप मे ही भावी सन्तान मे आ जाते हैं। इस प्रकार नई-नई जातियो का उत्तरोत्तर विकास हुआ करता है। लेमार्क की धारणा की पुष्टि जीरैफ[4] के उदाहरण से होती है। जीरैफ अफ्रीका के जगलो मे रहने वाला एक जानवर है। यह पेडो की पत्तियो पर अपना जीवन निर्वाह करता है। पेडो की पत्तियो तक पहुँचने

---

1. Are the acquired traits inherited. 2. Lamark. 3. Harrison 4. Giraffe

के लिये लम्बी गर्दन का होना आवश्यक है। अत जीरैफ जाति प्रत्येक पीढी मे अपनी गर्दन वढाने की चेष्टा करती रही। फलत: धीरे-धीरे अब उसकी गर्दन इतनी लम्बी हो गई है। लेमार्क के सिद्धान्त की पुष्टि हमे गर्म तथा ठण्डे देशो मे पाये जाने वाले जानवरो से भी होती है। इन जानवरो पर वातावरण का विभिन्न प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पडता है। गर्म देश के कुत्तो के शरीर पर उतने अधिक और वडे वाल नही होते जितने कि ठण्डे देश मे रहने वाले कुत्तो पर। यदि गर्म देश के कुत्ते ठण्डे देशो मे पाले जाते है तो उनके भी वाल धीरे-धीरे वडे होने लगते है। देखा गया है कि वाद मे वशानुक्रमीय नियम के अनुसार वालो का यह परिवर्तन सन्तति मे सक्रमित हो जाता है।

मैग्डूगल और हैरीसन के परीक्षणो से लेमार्क की धारणा पर और प्रकाश पडता है। मैग्डूगल ने कुछ चूहो को एक तालाब मे रख छोडा। उस तालाव से निकलने के दो मार्ग थे—एक मे प्रकाश था और दूसरे मे अँधेरा। चूहे प्रकाश वाले मार्ग से वाहर निकल जाने का प्रयत्न किया करते थे। पर इसी समय उन्हे विजली का धक्का दिया जाता था। वे घवडा कर वाहर निकल आते थे। वे कई प्रयत्न करने के वाद ही अँधेरे वाले मार्ग को पा सकते थे। मैण्डूगल ने देखा कि पहिली पीढी वाले चूहे १६५ बार गलती करने के वाद ठीक रास्ते (अर्थात् अँधेरे रास्ते) की ओर जा सके। पर २३ वी पीढी वाले चूहे केवल २५ वार ही गलती करके अँधेरे मार्ग से निकल जाने मे सफल हुए। मैग्डूगल ने इससे यह सिद्ध किया है कि भावी सन्तति अपने पूर्वजो के अर्जित गुणो को भी वशपरम्परानुसार प्राप्त करती है।

हैरीसन ने कुछ पतगो पर परीक्षण किया। उसने देखा कि फैक्टरियो के पास रहने वाले पतगे काले होते है, पर अन्य स्थानो मे रहने वाले उसी जाति के पतगे काले नही होते। हैरीसन को वडा आश्चर्य हुआ। उसने कुछ सामान्य पतगो को इकट्ठा कर उन्हे दो टोलियो मे विभाजित कर दिया। एक टोली को साधारण मैदान मे पाये जाने वाले पत्तो तथा घास पर उसने पाला। दूसरी टोली को उसने फैक्टरियो के आस-पास के पत्तो और घास पर पाला। ये घास और पत्ते साधारण मैदान के पत्तो से भिन्न थे, क्योकि इन पर फैक्टरी के धातुज नमक व अन्य पदार्थ जम जाया करते थे। इन्ही पर जीवन निर्वाह करने से वहाँ के पतगो का रग काला पड गया था। हैरीसन ने अपना परीक्षण पतगो की कई पीढियो तक किया। उसने पहले भाग के पतगो के रग मे कोई परिवर्तन न देखा। वे स्वाभाविक रग के ही होते थे। पर जिनको फैक्टरी के पास पाये जाने वाले पत्तो पर पाला गया था उनका रग कुछ पीढियो के वाद वदलने लगा। धीरे-धीरे वे सव काले रग के हो गये। हैरीसन ने भी इस प्रकार लेमार्क के सिद्धान्त की कुछ पुष्टि ही की है।

डार्विन का मत[1]—

डार्विन का मत लेमार्क से भिन्न है। डार्विन के अनुसार विकास मे व्यक्ति का कुछ भी हाथ नही होता। विकास सदैव प्रकृति पर ही निर्भर रहता है। डार्विन यह मानता है कि वातावरण मे प्राणी मे परिवर्तन आता है और वह परिवर्तन भावी सन्तति मे सक्रमित हो जाता है, परन्तु वातावरण प्राणी में कैसे परिवर्तन उत्पन्न करता है, इस सम्बन्ध मे डार्विन ने एक नये मत का प्रतिपादन किया है। डार्विन की धारणा है कि प्रकृति शक्तिहीन प्राणियो का नाश कर देती है। जिनमे वातावरण से युद्ध करने की क्षमता होती है वही जीवित रहते हैं और शेष नष्ट हो जाते हैं। निर्बल प्राणी इच्छा और प्रयास करते हुए भी जीवित नही रह सकता, क्योकि प्रकृति उसे नष्ट कर देती है। किसी जगल मे शेर और हिरण दोनो प्रकार के जीव रहते हैं। शेर हिरण का शिकार करता है। यदि उसे हिरण न मिला तो वह भूखो मर जायगा। उसमे उछलने, छलांग भरने और दौडने की पर्याप्त शक्ति आवश्यक है। डार्विन के मतानुसार केवल वही शेर बच सका जिसमे पर्याप्त शक्ति थी। शेष भूखो मर गये। इस प्रकार शक्तिहीन शेर अपने आप मर गये और शक्तिशाली ही बचे रहे। इन शक्तिशाली शेरो के गुण इनकी सन्तानो मे सक्रमित हुए। फलत वे भी अपने पूर्वज के अनुसार शक्तिशाली हुए। इसी प्रकार अपनी जाति की रक्षा के लिये हिरण के लिये आवश्यक था कि वह खूब तेज दौड सके, अन्यथा शेर के पजो द्वारा वह मारा जायगा। शक्तिहीन हिरण शेर द्वारा मारे गये, और केवल शक्तिशाली ही बच रहे। इन्ही शक्तिशाली हिरणो मे उनकी जाति अभी तक चलती रही है। निर्बल हिरणो का प्रकृति ने नाश कर दिया।

इस प्रकार डार्विन ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'प्राकृतिक चुनाव'[2] के आधार पर निर्बलो का नाश हो जाता है और शक्तिशाली की प्रकृति रक्षा करती है। शक्तिशाली के सभी अर्जित गुण उसकी भावी पीढी मे सक्रमित हो जाते हैं। डार्विन की उक्ति का कि 'केवल शक्तिशाली की ही प्रकृति रक्षा करती है'[3] 'आचरण और नीतिशास्त्र' मे लोगो ने बडा ही दुरुपयोग किया है। डार्विन के कुछ अनुयायियो ने यह तर्क निकाला कि निर्बलो को जीने का अधिकार ही नही, क्योकि प्रकृति तो उन्हे नष्ट कर देती है। यहाँ डार्विन के सिद्धान्त की विशद व्याख्या करना हमारा प्रयोजन नही, क्योकि यह हमारे क्षेत्र के बाहर है। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही पता लगाना है कि अर्जित गुणो के सक्रमण पर डार्विन का क्या मत है। यद्यपि लेमार्क और डार्विन के विचारो मे सिद्धान्तत मतभेद है; परन्तु दोनो मानते है कि अर्जित गुण सक्रमित होते हैं। डार्विन के अनुसार अर्जित गुणो का सक्रमण दो प्रकार

1 Darwin's view. 2 Natural Selection 3. Survival of the Fittest.

का होता है—(१) 'क्रमिक परिवर्त्तन'[1] और (२) 'अक्रमिक परिवर्त्तन'[2]। अर्जित गुणो के सक्रमण के सम्बन्ध मे डार्विन का कहना है कि शरीर के प्रत्येक अवयव का नमूना अर्थात् 'जेम्यूल्स' 'वीज-कोषो' (जर्म सेल्स) मे जाता रहता है। इन वीज-कोषो की सहायता से उसी प्रकार का अवयव उत्पन्न होता रहता है। डार्विन का यह मत अव मान्य नही।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अर्जित गुण भी सक्रमित होते हैं। पर एक हाथ वाले आदमी की सन्तान एक हाथ वाली क्यो नही होती ? वीजमैन के कथानुसार दुमकटे चूहो की सन्तान दुमकटी क्यो नही हुई ? ऊपर की वातो से हम यह सरलता से निष्कर्ष निकाल सकते है कि केवल वे ही अर्जित गुण सक्रमित होते है जिनका 'वीज-कोपो' पर कुछ प्रभाव पडता है। यदि अपने जीवन रक्षार्थ वातावरण के संघर्ष के कारण कोई जाति कुछ गुण अर्जित कर सको तो उन गुणो का प्रभाव धीरे-धीरे वीज-कोपो पर होने लगता है। यह प्रभाव शीघ्र ही स्पष्ट नही होता, वरन् कुछ पीढियो बाद प्रकट होता है। यह मैग्डूगल तथा हैरीसन के परीक्षणो से स्पष्ट है। तेईस पीडियों तक सघर्प करते-करते ही चूहो के वीज-कोपो पर पर्याप्त रूप मे परिवर्तन आ सका। इसी प्रकार पतगो का रग कुछ पीढी के वाद ही वदल सका। जीरैफ की गर्दन अथवा ठण्डे देश में कुत्ते के वाल एक ही पीढी मे नही वडे हो जाते। चूहे की दुम काट देने से उसके 'वीज-कोषो' पर प्रभाव पडना सम्भव नही, क्योकि उसकी दुम तो वलात् काट दी गई है। चूहे ने अपने जीवन रक्षार्थ वातावरण के साथ सघर्प के फलस्वरूप अपनी दुम नही कटवाई है। इसी प्रकार एक हाथ कटे मनुष्य की सन्तान एक हाथ कटी नही होती। उपर्युक्त विवेचन का साराश यह है कि अपने जीवन रक्षार्थ वातावरण से संघर्प के फलस्वरूप यदि कोई जाति कोई गुण प्राप्त करती है तो उसका प्रभाव भावी पीढियो पर पडता है, क्योकि इस सधर्प के कारण धीरे-धीरे वीज-कोपों की आकृति पर कुछ प्रभाव आ जाता है। वीज-कोषो पर अर्जित गुणो का प्रभाव आ जाने से उसका रूप भावी सन्तति में भी स्पष्ट हो जाता है।

भिन्नता का नियम[3]—

साधारणत यह समझ लिया जाता है कि समान 'समान' ही उत्पन्न करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धिमान या स्वस्थ माता-पिता अपने ही समान सन्तान उत्पन्न करते है और निर्बल 'निर्बल' सन्तान उत्पन्न करते हैं। पर कही-कही हमे इस नियम मे परिवर्त्तन दिखलाई पडता है। बुद्धिमान माता-पिता के मूर्ख सन्तान क्यो उत्पन्न होती है ? वहुत साधारण कुटुम्व मे कभी-कभी वड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति कैसे उत्पन्न हो जाते

---

1. Continuous Variation 2 Discontinuous Variation or Mutation.
3 The Law of Variation

है ? इस शंका का समाधान 'भिन्नता के नियम' मे होता है। वंशानुक्रमीय गुणों[1] के वाहक बीज-कोष[2] हुआ करते हैं। ये बीज-कोष अनेक रेशे से बने हुये होते हैं। इन रेशो को अँग्रेजी मे 'क्रोमोजोम्स'[3] कहते है। इसे हम वंश-सूत्र की संज्ञा देंगे। एक बीज-कोष में अनेक वंश-सूत्र पाये जाते हैं। आश्चर्य है कि इन वंश-सूत्र के और भी सूक्ष्म भाग होते हैं, जिन्हे अँग्रेजी मे 'जीन्स' कहते हैं। ये 'जीन्स'[4] अनेक संख्या मे मिलकर वंश-सूत्र बनाते हैं। वास्तव मे ये 'जीन्स' ही विभिन्न गुण व दोषो के वाहक[5] होते हैं। कोई जीन्स पैर की लम्बाई का हुआ तो कोई नाक का। कोई छोटी आँख का हुआ तो कोई विशाल वक्षस्थल अथवा भुजा का। कोई तीव्र बुद्धि का हुआ तो कोई चिड-चिडापन का, इत्यादि। जीव-विज्ञान के अनुसार प्रत्येक भ्रूण-कोष में चौबीस पिता के तथा चौबीस माता के वंश-सूत्रो का समागम होता है। वैज्ञानिको का अनुमान है कि इनके संयोग से १६,७७७,२१६ प्रकार की विभिन्न सम्भावनाये अपेक्षित हो सकती है। प्रकृति की लीला कितनी विचित्र हैं !!! वैज्ञानिको का कथन है कि वंश-सूत्रो का मिश्रण एक माता-पिता मे भी सदैव समान नही होता, क्योंकि उनकी मानसिक तथा शारीरिक स्थिति सदैव एक सी नही रहती। अतएव सन्तानो मे भिन्नता[6] का आ जाना सर्वथा स्वाभाविक ही है। अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि वंश-सूत्रो के क्रम मे सदा समानता होने से असमानताओ का होना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि समानता का। अत. 'असमानता' अथवा भिन्नता का होना वंशानुक्रम के सिद्धान्त का विरोधक नही, अपितु समर्थक है।

३—प्रत्यागमन[7]—

भिन्नता के नियम मे हमारी उपर्युक्त शंका, अर्थात् "कभी-कभी तीव्र बुद्धि वाले माता-पिता के मन्द बुद्धि सन्तान क्यो उत्पन्न होती है अथवा छोटे कुटुम्ब में कभी-कभी बहुत प्रतिभाशाली बालक कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ?" का भी समाधान हो जाता है। साधारण व्यक्ति को इस प्रश्न का उत्तर नही मिलता कि अमुक श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ के भोंदू सन्तान कैसे उत्पन्न हुई ? तथा उस श्रेष्ठ महात्मा के वंश मे व्यभिचारी सन्तान कैसे आगई ? इस 'प्रत्यागमन' के कई कारण होते हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि गर्भ-धारण के समय विभिन्न मानसिक व शारीरिक स्थिति के अनुसार वंश-सूत्रो का मिश्रण सदैव समान नही होता। अतः कभी-कभी एक ही सन्तान मे दो विरोधी गुण पहुँच जाते हैं। संयोगवश कभी-कभी मिश्रण अच्छा हो जाता है तो सन्तान मे अच्छे ही गुण आ जाते हैं। यही कारण है कि माता-पिता के सभी सन्तान समान मानसिक अथवा शारीरिक शक्ति के नहीं होते। यह तो एक ही माता-पिता के सन्तान के सम्बन्ध की

1 Hereditary traits. 2 Germ Plasm. 3. Chromosomes. 4 Genes 5. Carriers 6. Variation. 7. Regression.

बात हुई। हमें कभी-कभी किसी साधारण कुटुम्ब मे भी प्रतिभाशाली बालक उत्पन्न होते दीखते हैं। इसका क्या कारण है। वैज्ञानिको का कहना है कि वंशानुक्रम से व्यक्त[1] और सुप्त[2] दो प्रकार के गुण प्राप्त होते हैं। ये दोनो ही गुण पिता से पुत्र के क्रम मे भावी सन्तति मे आते रहते हैं। परिस्थितियो के प्रभाव से कभी सुप्त गुण व्यक्त हो जाता है और कभी व्यक्त गुण सुप्त हो जाता है। यही कारण हैं कि कई पीढियो बाद भी पूर्वजो के गुण अथवा दोष सन्तान मे आ जाते है।

इस प्रकार 'समानता', 'भिन्नता' तथा 'प्रत्यागमन' के नियम हमे विभिन्न लोगो के गुण अथवा दोष के समझने मे सहायता सिद्ध होते हैं। साधारणत यह समझा जाता है कि सन्तान माता-पिता के सदृश् होती है। पर सन्तान मे माता-पिता से असमानता औसत के बहुत नीचे अथवा ऊपर दिखलाई पडती है। पाठक को यह जान कर आश्चर्य होगा कि 'प्रत्यागमन' के नियम के अनुसार सन्तान बहुधा उन बातो मे बडे दिखलाई पडते हैं जिसमे उनके माता-पिता बडे होते है।

उपर्युक्त विवेचन मे यह भी स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति के वंशानुक्रमीय गुणो का सम्बन्ध केवल उसके मातापिता से ही नही होता, वरन् पूर्वजो से भी हो सकता है। इस बात की पुष्टि मेण्डलवाद से भी होती है। परन्तु यह मानी हुई बात है कि सन्तति अधिकतर अपने माता-पिता से ही गुण प्राप्त करती है। साधारणत यह कहा जाता है कि बालक अपना आधा गुण माता-पिता से चौथाई अपने दादा, आठवाँ अपने परदादा तथा सोलहवाँ अपने पर-परदादा से प्राप्त करता है।

मेण्डलवाद[3]—

स्वभावत प्रकृति सामान्यता की ओर बढती है। विलक्षणता की ओर अग्रसर होना उसका स्वभाव नही। यही कारण है कि बहुधा सामान्य प्रकृति के ही मनुष्य दृष्टिगोचर होते है। अति मन्द बुद्धि अथवा अति तीव्र बुद्धि वाले व्यक्ति विरले ही हुआ करते हैं। इस प्रकार प्रकृति सदैव स्थैर्य और सतुलन को निभाने की चेष्टा करती रहती है। मेण्डल के प्रयोग इस धारणा की पुष्टि करते है। अत अब हम उसी का उल्लेख करेंगे। मेण्डल का निष्कर्ष मेण्डलवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसे 'प्रधान प्रकार की ओर प्रत्यागमन का सिद्धान्त' भी कहते हैं। इसका तात्पर्य हम यह भी समझ सकते है कि प्रकृति शुद्ध गुण वाली सन्तति को बढाती रहती है। मेण्डल ने मटर पर परीक्षण करना प्रारम्भ किया। छोटे और बडे दोनो प्रकार के मटर अलग-अलग बोने पर उसने देखा कि छोटी मटर से केवल छोटी और बडी से केवल बडी ही मटर उत्पन्न होती है। परन्तु जब उसने छोटे और बडे मटर को बराबर की सख्या मे मिला कर बोया तो देखा कि छोटी मटरे एक दम विलीन हो गयी अर्थात् शुद्ध गुण वाली सन्तति को बढाने

---

1 Dominant 2 Recessive 3 Mendalism
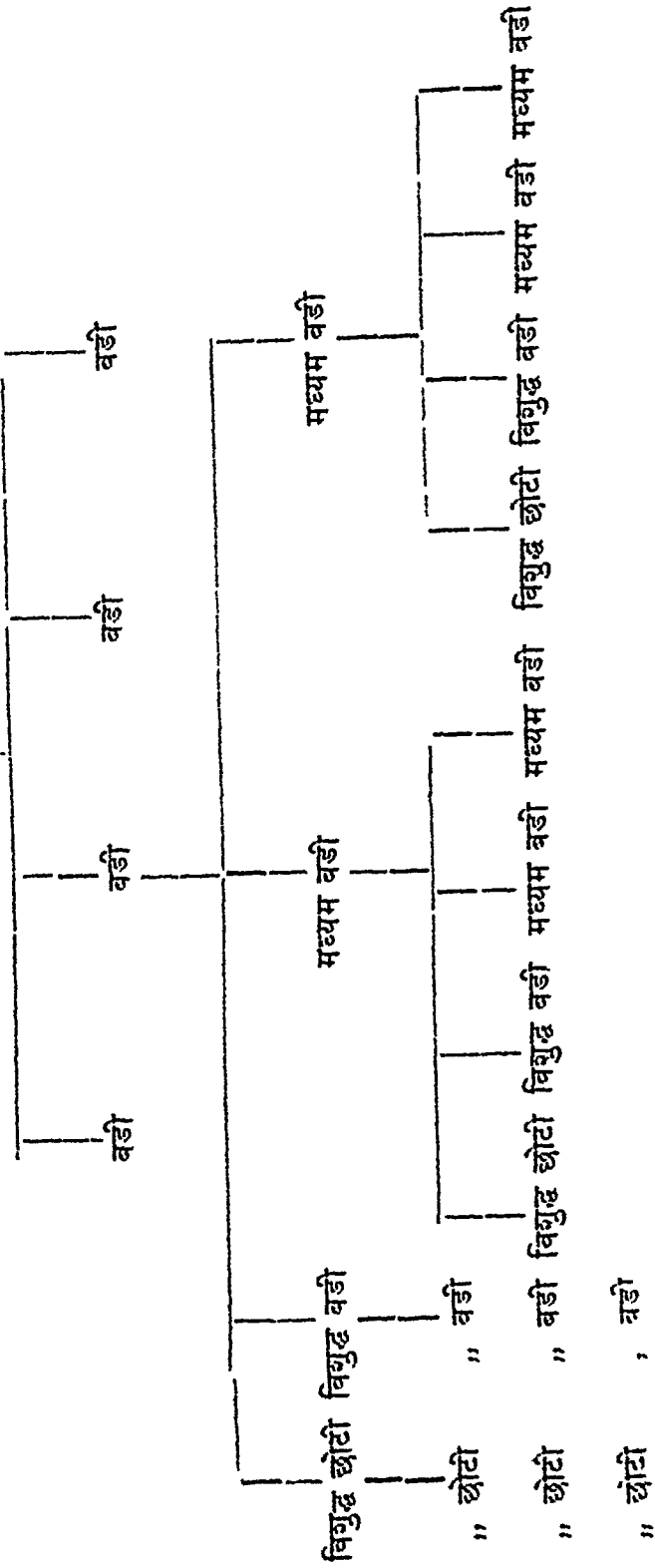
वाली प्रकृति की चेष्टा सफल रही। छोटेपन का गुण सुप्त रह गया और बडापन व्यक्त रहा। पर जब वर्णसङ्कर जाति की मटर बोई गई तो पता चला कि वर्णसङ्करता का प्रभाव गया नही। उसमे एक चौथाई मटर विशुद्ध छोटी निकली। इस विशुद्ध छोटी मटर के बोने पर सदा छोटी ही मटर उत्पन्न होती रही। वर्णसङ्कर मटर से एक चौथाई विशुद्ध बडी भी निकली, क्योकि उसके बोने पर सदैव बड़ी ही मटर उत्पन्न हुई। शेष दो चौथाई मिश्रित जाति की अथवा मध्यम बडी। इस मिश्रित जाति वाली मटर के बोने से एक चौथाई विशुद्ध बडी, एक चौथाई विशुद्ध छोटी और दो चौथाई मिश्रित अथवा मध्यम बडी निकली। इस प्रयोग की तालिका पृष्ठ १४५ पर दी गई।

मटर के समान चूहो पर भी प्रयोग करने से मेण्डलवाद की पुष्टि पाई गई। ऐसा जान पडता है कि प्रकृति 'जाति' के स्वभाव की रक्षा करना चाहती है; क्योंकि मेण्डलवाद से यह स्पष्ट होता है कि सकर जाति की वृद्धि नही होती। प्रकृति विशुद्ध जाति को ही बढाना चाहती है। इस प्रकार उसकी गति प्रधान प्रकार के बढाने की ओर रहती है। अतएव मेण्डलवाद को, जैसा ऊपर कहा गया है, 'प्रधान प्रकार की ओर प्रत्यागमन का सिद्धान्त' भी कहते है।

वंशानुक्रम, वातावरण और शिक्षा[1]

वास्तव मे अभी तक यह निश्चित नही किया जा सका है कि अर्जित गुण संक्रमित होते है अथवा नही। पर यह निर्विवाद है कि व्यक्तियो के कुछ ऐसे स्वाभाविक गुण होते है जिन पर वातावरण का कुछ भी प्रभाव नही दिखलाई पडता। वातावरण का प्रभाव आँकने के लिये एक ही वशानुक्रम के कई बालक विभिन्न वातावरण मे पाले गये। एक ही वशानुक्रम के होते हुए भी वातावरण की भिन्नता के कारण उनका विकास समान न हो सका। वशानुक्रम का प्रभाव देखने के लिये विभिन्न वंशानुक्रम के बालक समान वातावरण मे पाले गये। अनाथालय इसका एक उदाहरण हो सकता है। साधारणत हम यह मान सकते हैं कि अनाथालयो मे विभिन्न वशानुक्रम के बालको को समान वातावरण मे रखा जाता है। फिर भी उनका विकास समान नही होता। इससे यह स्पष्ट है कि वशानुक्रम के प्रभाव की हम अवहेलना नही कर सकते। यदि वशानुक्रम अच्छा न हुआ तो सन्तान कभी अच्छी नही हो सकती। इसीलिये यह राज्य[2] का कर्त्तव्य हो जाता है कि भयानक रोग से पीडितो को सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति से वचित कर दे। वशानुक्रम के अच्छे रहने पर भी यदि वातावरण अनुकूल न हुआ तो विकास वाछित नही हो सकता। अत: आवश्यक है कि माता-पिता अपने बच्चो के लिये उचित वातावरण का आयोजन करे। जो अपने बालको के लिये अच्छी

1. Heredity, Environment and Education 2. State

अच्छी पुस्तको तथा स्वस्थकर मनोरजन के उपकरणो का आयोजन किया करते हैं वे निश्चय ही उनकी उन्नति के लिये भारी अवसर प्रदान करते हैं।

यहाँ पर एक शका उठती है। एक ही माता-पिता के पुत्र समान वातावरण में पाले जाते हैं, उनका वशानुक्रम भी समान ही है, परन्तु उनके विकास मे भिन्नता क्यो आ जाती है ? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर मालूम होगा कि जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध जीव-विज्ञान से है, वहाँ तक इसका उत्तर ऊपर के विवेचनो मे दिया जा चुका है अत यहाँ पर उसका पृष्ठपेषण अनुपयुक्त होगा। साधारणत यह माना जा सकता है कि एक ही माता-पिता से उत्पन्न सन्तान का वशानुक्रम एक ही होता है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा विश्वास भ्रमात्मक है, क्योकि माता-पिता की मानसिक और शारीरिक स्थिति सदैव समान नही रहती, दूसरे, किसी बालक के वशानुक्रम का निर्णय केवल उसके माता-पिता पर ही निर्भर नही रहता। अत यह स्पष्ट है कि एक ही माता-पिता से उत्पन्न सन्तानो का वशानुक्रम एक ही नही होता। इसीलिये भाई व बहिनो के वशानुक्रमीय गुणो मे भेद दिखलाई पडता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि एक ही घर मे पले हुए बालको के लिये वातावरण भी समान नही हो सकता। हम यह मानते हैं कि वे एक ही प्रकार का भोजन करते हैं—वे एक ही प्रकार का वस्त्र भी पहनने को पाते हैं—वे एक ही मोटर अथवा ताँगे पर बैठकर एक ही स्कूल मे शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नही कि उनका वातावरण समान है। एक ही घर मे कोई बालक अधिक प्यार पाता है, कोई कम, किसी पर बहुत डाँट पडती है, तो किसी पर कुछ भी नही। इसके कारण चाहे जो हो—उनके बीच मे जाना यहाँ हमारा प्रयोजन नही। पर इससे यह स्पष्ट है कि बाह्य रूप से एक ही वातावरण मे रहते हुए भी वस्तुत व्यक्तियो का वातावरण भिन्न-भिन्न होता है। अत हम यह सरलता से मान सकते हैं कि इस ससार मे प्रत्येक व्यक्ति का वशानुक्रम और वातावरण दूसरे से भिन्न है। इसीलिये तो कोई दो व्यक्ति पूर्ण रूप से समान नही दिखलाई पडते।

हम अपनी उपरोक्त धारणा के अनुसार वशानुक्रम तथा वातावरण मे से किसी एक को ही प्रधानता नहीं दे सकते। दोनो का अपना अलग-अलग महत्व है। पर इसके साथ ही हमे यह भी याद रखना है कि बालक का विकास केवल इन दोनों बातो पर ही निर्भर नही रहता। बालक का अपना एक अलग आध्यात्मिक व्यक्तित्व होता है। इस व्यक्तित्व के अनुसार ही वह अपने विकास के प्रवाह का नियन्त्रण करता रहता है। श्री टी० पी० नन[1] का कथन है कि "बालक रचनात्मक शक्ति का एक केन्द्र होता है। वशानुक्रम और वातावरण का उपयोग वह अपने विकास के लिए साधन के रूप मे

---

१ टी. पी. नन, एडूकेशन इट्सडेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीप्ल्स, पृ० ११६।

करता है।" हम यह मानते हैं कि वशानुक्रम और वातावरण व्यक्ति के विकास के दो प्रधान अङ्ग है। पर व्यक्ति को भूल जाना और उसे केवल इन्ही दोनो का अभियुक्त समझ लेना भारी भूल है। कम से कम हमारे प्राच्य दर्शनशास्त्र की तो यही माँग हैं। यदि हम शिक्षा को कला की दृष्टि से देखे तो उससे इसकी पुष्टि हो जाती है। विज्ञान की दृष्टि से वशानुक्रम हमे व्यक्ति की सम्भावनाओ का कुछ अनुमान करा देता है। वातावरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन सम्भावनाओ को कहाँ तक कार्यान्वित किया जा सकता है। यह सत्य है कि मन्द बुद्धि बालक शिक्षा से उतना लाभ नही उठा सकता जितना तीव्र बुद्धि बालक उठा पाता है, और वशानुक्रमीय गुणो पर कभी-कभी शिक्षा का प्रभाव इच्छित रूप से नही पडता। पर यह मानना पडेगा कि यदि किसी भी पीढ़ी के समय-काल मे शिक्षा मे ढिलाई कर दी जाय अथवा उसके लिये उचित वातावरण न उपस्थित किया जाय तो आगामी पीढी की दशा और भी हीन हो जायगी। अत. वातावरण की भी महत्ता माननी ही होगी।

आपने उपर क्या पढ़ा ?

१—वंशानुक्रम का अर्थ—

१—बीज-कोप के वितरण से शारीरिक बनावट तथा विभिन्न योग्यता का निर्धारण, २—वह क्रिया जिससे जीव पूर्वजो के सदृश उत्पन्न, वंशानुक्रम से जाति विशेष की स्वाभाविक परम्परा जीवत।

२—वातावरण का अर्थ—

इसके अन्तर्गत वे बातें जिनका प्रभाव विकास पर, प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव रूप, रग व स्वभाव पर, इन्द्रियो पर बडा व्यापक प्रभाव।

सामाजिक वातावरण—

इसके अन्तर्गत सारी प्राचीन सभ्यता और वर्तमान मानव समाज, व्यक्ति का जीवन वातावरण के साथ अविरल सघर्ष का, अत. इसका स्थान बहुत उच्च।

३—वशानुक्रम तथा वातावरण में कौन अधिक महत्वपूर्ण—

भाग्यवादी का विश्वास वशानुक्रम पर, आशावादी के लिये वातावरण प्रधान—ऐसा समझना भूल दोनों की गरिमा समान. दोनों की परस्पर प्रतिक्रिया पर विकास निर्भर, दोनो एक ही विकास क्रम के दो अग, एक की भी अवहेलना हानिकर।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों से शिक्षक का कार्य पहले से सरल, बालक को समझना आवश्यक, क्या बालक कोरी पटिया के समान ? क्या सब की शक्तियाँ समान ? विकास सिद्धान्त को समझना अत्यन्त आवश्यक।

वंशानुक्रम में समानता और असमानता दोनो निहित, वंशानुक्रम व्यक्ति के विभिन्न गुणो का योग मात्र।

हरबार्ट और हल्वेशश के अनुसार वातावरण प्रधान, समान शिक्षा से सभी समान, पर वातावरण की समानता उपस्थित करना असम्भव, अत. भिन्नता स्वाभाविक, पर यह मत मान्य नही।

४—परिवार तथा रक्त के सम्बन्ध का प्रभाव—

गाल्टन का अध्ययन।

विनशिप का अध्ययन।

गॉटर्ड का अध्ययन।

कार्ल पियर्सन का अध्ययन.

डगडेल और इस्टाब्रुक के अध्ययन।

यमजो का अन्वेषण, थॉर्नडाइक का निष्कर्ष।

वातावरण की महत्ता भी अनेक उदाहरणो द्वारा सिद्ध, उचित वातावरण बिना वंशानुक्रमीय उच्च गुण भी कुण्ठित।

५—बीज-कोश की सनातनता—

शरीर जीव-कोषो से निर्मित, सन्तति उत्पादन के हेतु बीज-कोष अलग, मूल बीज-कोष का नाश नही, एक ही बीज-कोष से वंश-परम्परागत अनेक व्यक्तियो का जन्म, "पिता सन्तान का उत्पादक नही, अपितु इस बीज-कोष का संरक्षक मात्र", बालक अपने पूर्वज के समान पुराना।

६—अर्जित गुणो का अवितरण—

बीजमैन के अनुसार पिता का अपने वंशानुक्रमीय गुणो को बीज-कोष के रूप मे अपनी सन्तान को देना, अर्जित गुणो का बीज-कोष पर प्रभाव न पडने के कारण सन्तान का उन्हे वंशपरम्परागत न प्राप्त करना।

क्या अर्जित गुण संक्रमित होते हैं ?

लेमार्क के अनुसार अर्जित गुण कुछ सीमा तक सक्रमित, वातावरण के अनुसार अपने को बनाने की हर प्राणी की चेष्टा, इस चेष्टा से कुछ अवयवो मे परिवर्तन, इस परिवर्तन का भावी सन्तान में आना, जीरैफ तथा ठण्ड और गर्म देश के कुत्तो के उदाहरण से इस धारणा की पुष्टि।

मैग्डूगल का परीक्षण।

हैरीसन का परीक्षण।

डार्विन का मत—

लेमार्क से भिन्न, विकास मे व्यक्ति का कुछ भी हाथ नही, विकास प्रकृति पर

निर्भर, 'प्राकृतिक चुनाव' के आधार पर निर्बलो का प्रकृति द्वारा स्वय नाश, शक्तिशाली की रक्षा प्रकृति द्वारा, शक्तिशाली के सभी गुण उसकी भावी पीढी मे सक्रमित, यह सक्रमण दो प्रकार का १—क्रमिक परिवर्तन और २— आकस्मिक परिवर्तन, डार्विन का यह सिद्धान्त अब मान्य नही।

केवल वे ही अर्जित गुण सक्रमित होते हैं जिनका बीजकोपो पर प्रभाव, जीवन रक्षार्थ वातावरण के सघर्प के कारण प्राप्त अर्जित गुण का प्रभाव बीज-कोपो पर, फलत भावी पीढी का इस गुण को सक्रमित करना, मैग्डूगल और हैरीसन के परीक्षणो से इसकी पुष्टि।

भिन्नता का नियम—

बुद्धिमान पिता की मूर्ख सन्तान कैसे ? बीज-कोप वशानुक्रमीय गुणो के वाहक, वंश-सूत्र (क्रोमोजोम्स), जीन्स; प्रत्येक भ्रूण कोप मे २४ पिता और २४ माता के वश-सूत्रो का मिश्रण, माता-पिता की विभिन्न मानसिक व शारीरिक स्थिति के कारण यह मिश्रण सदा समान नही, अतएव सन्तानो मे भिन्नता स्वाभाविक, असमानता का होना वशानुक्रम सिद्धान्त का समर्थक।

३—प्रत्यागमन—

व्यक्त और सुप्त गुण का पिता से पुत्र के क्रम मे भावी सन्तान मे आना, परिस्थितियो के प्रभाव से कभी व्यक्त सुप्त और सुप्त व्यक्त, फलत कई पीढियो वाद भी पूर्वजो के दोप व गुण सन्तान मे।

सन्तान में असमानता औसत से बहुत नीचे या बहुत ऊपर, प्रत्यागमन के नियमानुसार सन्तान पिता से वडा या छोटा।

वशानुक्रमीय गुण का सम्बन्ध माता-पिता से ही नही, वरन् पूर्वजो से भी।

मैण्डलवाद—

प्रकृति सामान्यता की ओर, अत. सामान्य प्रकृति के ही मनुष्य अधिक, मेण्डल के परीक्षण से इसकी पुष्टि, शुद्ध गुण वाली सन्तति का वढना।

प्रकृति का जाति स्वभाव की रक्षा करना, सकरजाति की वृद्धि नही।

वंशानुक्रम वातावरण और शिक्षा—

शिक्षा मे दोनो का महत्त्व समान, एक ही माता-पिता से उत्पन्न सन्तानो का वंशानुक्रम समान नही होता, वंशानुक्रम का निर्णय पूर्वजो पर भी, एक ही घर मे रहने वालो का वातावरण समान नही, अत प्रत्येक का वंशानुक्रम और वातावरण दूसरे से भिन्न।

बालक का विकास केवल वशानुक्रम और वातावरण पर ही निर्भर नही, उसका

अलग आध्यात्मिक व्यक्तित्व, इसके अनुसार उसका व्यक्तित्व वंशानुक्रम और वातावरण का अभियुक्त नही, वंशानुक्रम मे केवल कुछ सम्भावनाओं का अनुमान, वातावरण द्वारा इन सम्भावनाओ का कार्यान्वित होना।

सहायक पुस्तकें

१—थॉमसन—इन्स्टिक्ट, इण्टेलीजेन्स ऐण्ड कैरेक्टर, अध्याय २।
२—मैग्डूगल—इनरजीज आव मैन।
३—नन—एडूकेशन . इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय ६।
४—रॉस—ग्राउण्डवर्क आव एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ५।
५—बैगले—एडूकेशनल डिटरमिनिजम।
६—सैण्डीफोर्ड—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १।
७—केनेडी-फ्रेसर—दी साइकॉलॉजी आव एडूकेशन, अध्याय १।
८—डगलस ऐण्ड हालैण्ड—फण्डामेण्टल्स आव एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ३।
९—क्रूज—एडूकेशनल साइकॉलॉली, अध्याय ३।
१०—थॉमसन जी० एच०, ए मॉडर्न फिलासाफी आव एडूकेशन, अध्याय ७, ८,।
११—सोरेन्सन—साइकॉलॉजी इन एडूकेशन, अध्याय १०।
१२—थॉर्नडाइक—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, भाग १ और ३।
१३—जे० ए० थॉमसन—दी स्टडी आव एनीमल लाइफ।
१४—प्रेसी ऐण्ड रॉबिनसन—साइकॉलॉजी ऐण्ड द न्यू एडूकेशन—(संशोधित संस्करण)।

———

६

मूलप्रवृत्तियाँ और शिक्षा[1]

मूलप्रवृत्तियो के रूप और परिभाषा पर जितना वादविवाद मनोवैज्ञानिको मे हुआ है, कदाचित् ही उतना किसी अन्य विषय पर हुआ हो। वास्तव मे इसका निर्णय करना कठिन है कि मानव ने अपने पूर्वजो से कितनी मूलप्रवृत्तियाँ सङ्क्रमित की हैं। इसीलिये तो हम विद्वानो के मत मे इतना मतभेद पाते हैं। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से मूलप्रवृत्तियो के वास्तविक रूप के निर्णय मे बडी-बडी समस्याये अभी सुलझानी हैं। पर एक साधारण शिक्षक का उन समस्याओ से विशेष प्रयोजन नही। उसके लिये मूलप्रवृत्तियो का साधारण रूप और क्रिया समझ लेना ही पर्याप्त है। इन्हे यदि हम एक उपमा की सहायता से समझे तो सरलता होगी। मान लीजिये, मनुष्य समुद्र मे पडे हुए एक जहाज के समान है। जैसे समुद्र की लहरे और धाराये जहाज के पथ मे विघ्न उपस्थित करती हैं, उसी प्रकार सामाजिक रीतियाँ और परम्पराये मनुष्य की स्वेच्छाचारिता मे बाधक होती हैं। जहाज अपने इञ्जिन की सहायता से लहरो और धाराओ को काटता हुआ आगे बढने की चेष्टा करता है। उसी प्रकार मनुष्य की मूलप्रवृत्तियाँ सामाजिक बन्धनो के होते हुए भी उसकी स्वाभाविक इच्छाओ की सन्तुष्टि के लिये उसे अभिप्रेरित किया करती हैं। इस प्रकार मूलप्रवृत्तियाँ जहाज के इञ्जिन के सदृश् "अभिप्रेरक" होती हैं। यदि उपर्युक्त उपमा को हम आगे बढाये तो कह सकते हैं कि मनुष्य का 'विवेक' जहाज के 'कप्तान' के सदृश् है। कप्तान इञ्जिन पर पूर नियन्त्रण करते हुए जहाज को ठीक रास्ते पर ले जाने की चेष्टा मे रहता है, उसी प्रकार 'विवेक' भी मूलप्रवृत्तियो की स्वाभाविक क्रियाओ पर नियन्त्रण रखना चाहता है और मनुष्य को अधोगति के गर्त मे गिरने से बचाने की चेष्टा किया करता है। इस प्रकार हमे स्मरण रखना है कि मूलप्रवृत्तियाँ स्वाभाविक होती हैं। वे जीव को अपने स्वाभावानुसार किसी ओर भी ले जा सकती है। इसीलिये उन पर विवेक का नियन्त्रण आवश्यक है। मनुष्य मे इस नियन्त्रण की शक्ति है, अत. अन्य प्राणियो मे वह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

---

1. Instincts and Education.

१—मूलप्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक रूप अथवा विशेषतायें[1]:—

बालको की स्वाभाविक क्रियाओ के अध्ययन मे पता चलता है कि मस्तिष्क प्रारम्भ से ही एक निश्चित पथ की ओर अग्रसर होता है। बालक को माँ के स्तनपान के लिये शिक्षा देने की आवश्यकता नही। गाय का बछड़ा जन्म लेने के थोडी ही देर बाद स्वत माँ के स्तन की ओर झुकता है। इसी प्रकार बालको के कुछ अन्य व्यवहार भी एकदम स्वाभाविक मे प्रतीत होते है। क्रोध आने पर मारने के लिये वे हाथ उठायेंगे। डरने पर भागने की क्रिया उनमें अवश्य ही दीख पडेगी, किसी को हँसते हुए देखने पर वे भी हंसने लगेगे, किसी अद्भुत वस्तु को देखने पर उनका ध्यान उधर अवश्य ही आकर्षित हो जायगा। ऐसा क्यो ?

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हमारा मस्तिष्क स्वभावत कुछ अंशो मे सुसङ्गठित होता है। इससे हम यह भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमारा मस्तिष्क मानव जाति की सभ्यता के निचोड का एक ऐसा प्रतिरूप है, जो उचित शिक्षा के मिलने पर सभ्यता के सारे अच्छे अशो का फिर से हमे और दूसरो को दिग्दर्शन करा सकता है। किसी विशेष परिस्थिति मे हमारा स्वाभाविक व्यवहार सदा एक सा रहता है। यह व्यवहार किसी जाति के प्रत्येक प्राणी के साथ समान होता है। कदाचित् इन व्यवहारो से सम्बन्धित कुछ विशेष स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ कार्य किया करती हैं। हम इन्ही प्रवृत्तियो का यहाँ पता लगायेंगे। ये स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि प्राणी उनसे छुटकारा नही पा सकता। यदि मनुष्य उनसे मुक्त हो तो वास्तव मे वह देवता हो जाय। जान या अनजान मे हम इन्ही प्रवृत्तियो के अभियुक्त हुआ करते हैं। यदि 'विवेक' प्रबल हुआ तो हमे अधोगति के गर्त मे गिरने मे वह बचा लेता है। पर यदि हम सदैव उन्ही के अभियुक्त बने रहे तो वास्तव मे हमारा जीवन घृणित होगा। इससे यह स्पष्ट है। इन मूलप्रवृत्तियो का पता लगाकर उनकी स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण रखना होगा। एक दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य इन प्रवृत्तियो पर समुचित नियन्त्रण की स्थापना करना ही है, क्योंकि हम आगे देखेंगे कि हमारे सभी आचरण का एक मात्र आधार हमारी मूलप्रवृत्तियाँ होती हैं। तो यह मूलप्रवृत्ति है क्या ? साधारणत हम लोग इसका प्रयोग गलत अर्थ मे किया करते है। हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति की उस कार्य मे स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हम कहते हैं कि उस व्यक्ति की संगीत अथवा गणित मे स्वाभाविक प्रवृत्ति है। क्या किसी की किसी कार्य के करने मे स्वाभाविक प्रवृत्ति हो सकती है ? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा कहना एकदम गलत है। गणित अथवा संगीत मे किसी की स्वाभाविक

---

1. The psychological nature or Chief Characteristics of Instincts

प्रवृत्ति नही हो सकती। यदि कोई किसी कला अथवा विज्ञान मे निपुण हैं तो वह अपनी उच्च शिक्षा के कारण, न कि किसी स्वाभाविक प्रवृत्ति अथवा मूलप्रवृत्ति के फलस्वरूप। इस प्रकार हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अथवा मूलप्रवृतियाँ जन्मजात होती हैं। जन्म लेने के बाद उन्हे सीखने की आवश्यकता नही। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियो को हम मूलप्रवृत्तियो की सज्ञा देगे।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूलप्रवृत्तियाँ प्रकृति दत्त होती हैं। मानसिक सस्कारो के रूप मे व्यक्ति उन्हे लेकर जन्म लेता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि शिशु के जन्म लेते ही सारी मूलप्रवृत्तियाँ गतिशील हो जाती हैं। प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के उदय के लिये एक निश्चत समय होता है। उस समय के आने पर वह गतिशील हो जाती हैं। तीसरे अध्याय मे हम देख चुके है कि बालक के विभिन्न विकास-काल मे मूलप्रवृत्तियो की गति भिन्न-भिन्न होती है। अत हर अवस्था के लिये पृथक शिक्षा-व्यवस्था की चर्चा हमने की है। हम ऊपर सकेत कर चुके हैं कि मूलप्रवृत्तियाँ हमारे लिये अभिप्रेरक होती हैं। वे स्वभावत हमारे मन मे पडी रहती हैं। किसी उत्तेजना के मिलने मे उनके कारण हम किसी विशेप पदार्थ की ओर आकर्पित होते हैं। इस पदार्थ की उपस्थिति मे हमे एक विशेप प्रकार के सवेग की अनुभूति होती है। इस अनुभूति के फलस्वरूप हम एक विशिष्ट कार्य की ओर प्रवृत्त होते हैं। मान लीजिये, एक व्यक्ति अन्धेरे मे कही जा रहा है। रास्ते मे उसे एक कुत्ता दिखलाई पडा। परन्तु भ्रमवश उसे कुत्ता न समझकर वह भेडिया समझता है। डर से वह व्यक्ति भाग खडा होता है। यहाँ पर उसके पलायन की मूलप्रवृत्ति क्रियाशील हुई। भागने की स्वाभाविक क्रिया जिस प्रवृत्ति से होती है उसे पलायन मूलप्रवृत्ति कहते हैं, भाग जाने की इच्छा को स्वाभाविक प्रेरणा[1] कहते हैं, और भागने की क्रिया को मूल-प्रवृत्यात्मक आचरण[2] कहते है।

अब हम दूसरी विशेपता की ओर आते हैं। मूलप्रवृत्ति द्वारा सचालित कार्य मे वैयक्तिक भेद नही होता। अर्थात् किसी परिस्थिति विशेप मे पड कर मूल-प्रवृत्तियो के फलस्वरूप एक व्यक्ति का जैसा व्यवहार होगा, दूसरे व्यक्ति का भी उस परिस्थिति मे वैसा ही व्यवहार होगा। ऊपर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो रही है। कुत्ते के स्थान पर भेडिये का भ्रम हो जाने पर प्राय. सभी का व्यवहार एक ही प्रकार का होगा। इस प्रकार मूलप्रवृत्ति किसी जाति-विशेष मे सामान्यरूप से पाई जाती है।

मूलप्रवृत्तियो को आदतो का समीकक्ष समझना भारी भूल होगी, यद्यपि कुछ अश मे दोनो की कियाओ मे समानता दीख पडती है। आदत में व्यक्तिगत भेद आ जाता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति की उपन्यास पढने की आदत हो सकती है, दूसरे

---

1 Instinctive impulse 2 Instinctive behaviour

की विभिन्न शहरों में घूम-घूम कर सिनेमा देखने की और तीसरे की बात बात में खिल-कने और हँसने की आदत हो सकती है। इस प्रकार आदतों में भिन्नता पाई जाती है। पर मूलप्रवृत्ति का स्वभाव ऐसा नहीं। इसकी सीमा के अन्तर्गत तो पूरी जाति ही आ जाती है। इसे मूलप्रवृत्ति की तीसरी विशेषता समझना चाहिये।

अभ्यास के छूटने पर हम किसी आदत को भूल सकते हैं, पर मूलप्रवृत्ति नहीं भुलाई जा सकती। आदत के सदृश इसके स्मरण के लिये अभ्यास की आवश्यकता नहीं। जेम्स महोदय का यह कहना भ्रमात्मक है कि कुछ समय बाद मूलप्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। वास्तव में बात कुछ और ही है। मूलप्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं होती। यदि चेतना में नहीं तो अज्ञात चेतना में वे सदैव जीवित रहती हैं, और वहाँ से वे व्यक्ति के व्यवहार पर अपना प्रभाव डाला करती हैं। ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के लिये एक विशेष जागृत काल होता है। उदाहरणार्थ कामप्रवृत्ति कैशोर में विशेष जागृत रहती है—इसका तात्पर्य यह नहीं कि बाल्यकाल अथवा शैशव में वह एकदम शून्य रहती है। जैसे आदतों में कभी-कभी परिवर्त्तन आ जाता है, उसी प्रकार मूल-प्रवृत्तियों में परिवर्त्तन आता है। पर यह परिवर्त्तन एकदम दूसरे प्रकार का होता है। यह परिवर्त्तन समाज के लिये शिक्षा-साधन द्वारा लाया जाता है। यदि यह परिवर्त्तन सम्भव न हुआ होता तो मानव भी आज जगली पशु के समान ही दृष्टिगोचर होता। इस परिवर्त्तन को मूलप्रवृत्तियों का शोधन कहते हैं। वास्तव में मानव सभ्यता का इतिहास इस शोधन की ही कहानी है। शोधन द्वारा परिवर्त्तित होना मूलप्रवृत्ति की चौथी विशेषता है। इस पर आगे हम अधिक प्रकाश डालेंगे।

मूलप्रवृत्ति की पाँचवी विशेषता उसकी सप्रयोजनता है। बिना किसी प्रयोजन के मूलप्रवृत्ति हमें प्रेरित नहीं करती। इसीलिये तो प्रारम्भ में ही हमने इसे 'अभिप्रेरक' की संज्ञा दी है। मूलप्रवृत्ति की सप्रयोजनता की एक भारी विशेषता यह है कि जब तक निर्दिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक क्रिया की गति रुकती नहीं। जब तक व्यक्ति भाग कर सुरक्षित स्थान पर नहीं पहुँचता तब तक उसके पलायन की क्रिया चलती ही रहती है। आत्मरक्षार्थ भोजनान्वेषण में लीन प्राणी भोजन प्राप्त कर लेने पर ही विश्राम करेगा। चिड़िया के घोंसला बनाने अर्थात् विधायकता प्रवृत्ति में अण्डे के सेने की प्रयोजनता निहित है। इसी प्रकार हम प्रत्येक मूलप्रवृत्ति विषयक क्रिया में किसी न किसी प्रयोजन की छाप देखेंगे।

मूलप्रवृत्ति की छठी विशेषता यह है कि इसकी क्रिया में ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक अङ्गों का होना आवश्यक है। हमारी प्रत्येक मूलप्रवृत्ति का सम्बन्ध किसी न किसी संवेग से होता है। इस संवेग की जागृति के लिये एक विशेष कुञ्जी की आवश्यकता होती है। जैसे ताला एक कुञ्जी-विशेष से ही खुल सकता है, उसी प्रकार

मूलप्रवृत्ति भी एक विशेष ज्ञान के होने से ही जागृत हो सकती है। उदाहरणार्थ, विधायकता की मूलप्रवृत्ति बनाने की उपयुक्त सामग्री के उपस्थित होने पर ही जागृत हो सकती है। कुछ मूलप्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे आगे चलकर इस पर हम और प्रकाश डालेंगे। विधायकता की प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे वस्तु-विशेष का देखना ज्ञानात्मक अग हुआ। विधायकता-क्रिया मे आनन्द की अनुभूति सवेगात्मक अग है। बनाने की क्रिया क्रियात्मक अग हुई। मूलप्रवृत्तियो मे सवेग बडे महत्व के होते हैं। उन्ही के कारण वे सचालित होती हैं। सवेग के बिना मूलप्रवृत्ति का कोई अस्तित्व ही नही।

सप्रयोजनता के नाते मूलप्रवृत्ति मे एक सातवी विशेषता भी जान पडती है। यह विशेषता अनुभव से उसके लाभ उठाने की है। मूलप्रवृत्ति की क्रिया मे गत अनुभव का प्रभाव आ जाना स्वाभाविक सा है। उदाहरणार्थ, यदि एक बार हम किसी पेड़ को अधेरे मे देख कर डर जाते हैं, तो दुबारा उसके पास नही जाते। ढाई साल की आद्या एक बार गर्म दाल से भोजन करने की आतुरता मे जल गई। अब ठण्डा भोजन पाने पर भी कम से कम दो बार वह अवश्य कहती है कि 'ठण्डा हो जाने दो' ठण्डा हो जाने दो।'

पशु और मनुष्य में भेद—

मूलप्रवृत्तियो की इन विशेषताओ के उल्लेख के बाद अब इस सम्बन्ध मे पशुओ और मनुष्यो के भेद पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक जान पडता है। ध्यान देने की बात है कि मूलप्रवृत्तियो की उपर्युक्त विशेषताये सभी प्राणियो मे पाई जाती हैं। तो पशु और मनुष्य मे भेद क्या है ? पशुओ की मूलप्रवृत्तियो मे किसी प्रकार का परिवर्त्तन बडी ही कठिनाई के साथ सम्भव होता है, और वह भी सभी के सम्बन्ध मे नही। मनुष्य के सम्बन्ध में ऐसी बात नही, अतएव वह सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। मनुष्य की मूलप्रवृत्ति मे कभी-कभी इतना परिवर्तन आ जाता है कि उसका पहचानना कठिन हो जाता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि उस प्रवृत्ति का नाश ही हो जाता है। केवल उसके प्रकाशन-पद्धति मे ही परिवर्तन आ जाता है। काम-प्रवृत्ति की जागृति पर मनुष्य अपने समाज अथवा वातावरण पर ध्यान देता है। पशु के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही। भूखा कुत्ता दूसरे कुत्ते अथवा बालक के हाथ की रोटी छीन लेगा, पर मनुष्य उसके लिये प्रार्थना करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य और पशु की मूलप्रवृत्तियो के प्रकाशन-पद्धति मे अन्तर है। यह अन्तर मनुष्य की परिवर्तनशीलता का प्रमाण है।

मनुष्य और पशु की मूलप्रवृत्तियो के विकास-क्रम मे भारी भेद है। इस भेद मे हम विकास-सिद्धान्त की झलक पा सकते है। विकास-सिद्धान्त का यहाँ उल्लेख करना हमारे क्षेत्र के बाहर है। तथापि इतना कहा जा सकता है कि जीव जितना ही बुद्धि-

मान और परिवर्तनशील होता है उतना ही अधिक समय उसकी विभिन्न शक्तियों के विकास में लगता है। मुर्गी का बच्चा शीघ्र ही भोजन के लिये कूड़े में चोंच लगाने लगता है, हिरण का बच्चा एक ही दिन में दौड़ना सीख जाता है परन्तु मनुष्य का बच्चा दौड़ना सीखने में प्राय दो तीन साल ले लेता है और अपनी भोजन की व्यवस्था कई साल बाद ही कर पाता है। मनुष्य का बालक पशुओं के बच्चों की अपेक्षा अधिक दिन तक असहाय और निर्बल बना रहता है, क्योंकि उसकी मूलप्रवृत्तियों के विकास में अधिक देरी लगती है। पर यह विलम्ब एक वरदान सा है। इसी विलम्ब के कारण बालक को शिक्षा देना सम्भव होता है। यदि मूलप्रवृत्तियाँ शीघ्र विकसित हो जाँय तो उनका शोधन करना अत्यन्त कठिन हो जायगा और पशु और मनुष्य का अन्तर भी केवल नाम मात्र के लिये ही रह जायगा।

कुछ लोगों का मत है कि मूलप्रवृत्ति से अभिप्रेरित कार्य में बुद्धि का अभाव होता है, वह प्राय: यान्त्रिक होता है और उसमे चेतना का अभाव रहता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि प्रयोजनता (परपजिवनेस) मूलप्रवृत्ति की एक विशेषता है। प्रयोजनता मे बुद्धि एकदम शून्य कैसे हो सकती है? गत अनुभव से लाभ उठाने की मूलप्रवृत्ति मे क्षमता का भी ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। पर यह बिना चेतना के सम्भव नही हो सकता। अत यह कहना कि मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया मे बुद्धि और चेतना का अभाव रहता है भ्रमात्मक है।

मूलप्रवृत्ति का मूलरूप—[1] (5)

ऊपर के विवरण के आधार पर मूलप्रवृत्ति के सम्बन्ध में हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं —

(१) यह वंशानुक्रमीय तथा प्रकृतिप्रदत्त होती है।

(२) एक प्रकार से चैतन्य प्राणियो के समान मूलप्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। इनसे सचालित क्रिया में व्यक्तिगत भेद नही होता।

(३) ये आदतो की समीकक्ष नही है।

(४) मूलप्रवृत्ति शोधनशील होती है।

(५) मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया मे प्रयोजनता निहित होती है।

(६) इसकी क्रिया मे ज्ञानात्मक, संवेगात्मक तथा क्रियात्मक अङ्गो का होना आवश्यक है।

(७) अनुभव से लाभ उठाने की इसमे क्षमता होती है।

(८) मनुष्य की मूलप्रवृत्तियाँ पशुओं की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होती हैं।

---

1. The Nature of Instinct.

(९) पशुओ की अपेक्षा मनुष्य मे इनका विकास देरी से होता है ।

(१०) इसकी क्रिया मे बुद्धि और चेतना का एकदम अभाव नहीं होता ।

२– मूलप्रवृत्ति और सहज-क्रिया में अन्तर[1] —

मूलप्रवृत्ति के स्वरूप के स्पष्ट ज्ञान के लिये सहज-क्रिया पर भी प्रकाश डालना आवश्यक जान पडता है । सहज-क्रिया कुछ बातो में मूलप्रवृत्ति सी दिखलाई पडती है, अत दोनो मे भ्रम हो जाना स्वाभाविक है । समानता ही के कारण हर्बर्ट स्पेन्सर मूलप्रवृत्ति को 'विषम-सहज-क्रिया'[2] की सज्ञा देता है । पर यह ठीक नही । सहज-क्रिया भी मूलप्रवृत्ति के सदृश् प्रकृतिदत्त होती है । व्यक्ति के प्राणरक्षार्थ दोनो सहायक होती है । पर दोनो मे मौलिक भेद हैं । दूसरे अध्याय मे हम देख चुके हैं कि व्यवहारवादी[3] सहज-क्रिया और मूलप्रवृत्ति मे कोई भेद नही मानते । मूलप्रवृत्तियों को वे शृङ्खलाबद्ध सहज-क्रियाएँ ही मानते हैं । उनका कहना है कि वातावरण के सम्पर्क से ये क्रियाएँ अपने आप गतिशील हो जाती हैं । एक बार के गतिशील होने मे उसका सस्कार मस्तिष्क पर रह जाता है । समान परिस्थिति मे इस पूर्व सस्कार के फलस्वरूप सहज-क्रियाएँ समान हुआ करती है । यदि बालक आग से जल कर एक बार अपना हाथ खीच लेता है तो हर बार जलने पर उसकी यही क्रिया होगी । सहज-क्रियाओ के सचालन पर अधिकतर मस्तिष्क का नियन्त्रण नही रहता । इसके सचालन के लिये बुद्धि की आवश्यकता नही । ये एकदम यान्त्रिक होती हैं । पर बालक के लिये इसका विशेष महत्व है । मूलप्रवृत्तियो के विकास मे विलम्ब होता है । पर सहज-क्रिया के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही । उत्तेजना के मिलने पर इसकी क्रिया विकास के प्रत्येक अवस्था मे समान रहती है । सक्षेप मे सहज-क्रिया और मूलप्रवृत्ति मे निम्नलिखित भेद माने जा सकते हैं —

१—सहज-क्रिया उत्तेजना के मिलने पर ही सचालित होती है । किसी कीडे के आने पर हम अपनी आँखे बन्द कर लेते हैं । अत्यन्त गर्म अथवा ठण्डी वस्तु के छू जाने पर हम अपना हाथ झट खीच लेते हैं । यह सब सहज-क्रिया हुई । इसके विपरीत मूलप्रवृत्तियाँ स्वत सचालित होती है । कुछ आघात पडने की सम्भावना पर ही आँखे बन्द होगी । हम मानते हैं कि मूलप्रवृत्ति की भी क्रिया-शीलता के लिये एक प्रकार की उत्तेजना की आवश्यकता होती है । पर यह उत्तेजना भिन्न प्रकार की होती है । इसकी क्रिया मे बुद्धि का कुछ अश निहित रहता है । कुत्ते के डर से भागते हुये सियार की गति टेढी-मेढी झाडियो मे से होकर होती है ।

२—मूलप्रवृत्ति की क्रिया मे प्रयोजनता रहती है । इस प्रयोजनता से प्राणी

---

1 The distinction between Instincts and Reflexes 2 Complex Reflex action. 3 Behaviourists.

अवगत रहता है। जब तक इस प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो जाती तब तक कार्य चलता रहता है। सहज-क्रिया में किसी निश्चित लक्ष्य का ज्ञान नही होता। वह यान्त्रिक हुआ करती है।

३—अभ्यास के बाद मूलप्रवृत्ति की क्रिया मे सुधार की अपेक्षा की जाती है। इसीलिये इसमें अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता रहती है। फलत उनका शोधन करना सम्भव होता है। सहज-क्रिया मे ऐसी बात नही।

४—सहज-क्रिया मे चेतना का अभाव रहता है, क्रिया हो जाने पर उसका ज्ञान होता है। पर मूलप्रवृत्ति की क्रिया से मस्तिष्क सदा अवगत रहता है।

३—मूलप्रवृत्ति की परिभाषा[1]—

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब हम मूलप्रवृत्ति की परिभाषा दे सकते हैं। इसकी परिभाषा तो बहुत से विद्वानो ने दी है। पर मैग्डूगल की दी हुई परिभाषा को अधिकाश लोग विश्वस्त मानते हैं। मैग्डूगल का कथन है कि "मूलप्रवृत्ति एक प्रकृति-दत्त शक्ति है। इसके कारण प्राणी किसी वस्तु-विशेष को देख कर उस ओर स्वभावत आकर्षित होता है। इस आकर्षण के फलस्वरूप वह एक विशेष प्रकार के भावो और क्रियात्मक प्रवृत्ति का अनुभव करता है। इस अनुभूति के परिणाम स्वरूप वह उपस्थित वस्तु से सम्बन्धित एक विशेष प्रकार की क्रिया मे सलग्न हो जाता है।"[2] इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि मैग्डूगल किसी मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया मे ज्ञानात्मक, सवेगात्मक और क्रियात्मक अङ्गो की अपेक्षा करता है। इन अङ्गो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

४—मूलप्रवृत्तियों का वर्गीकरण[3]—

मूलप्रवृत्तियो का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिको ने कई प्रकार से किया है। साधारणत किसी प्राणी का आकर्षण आत्मरक्षा और जातिरक्षा से सम्बन्धित उद्देश्यो की ओर जीवन के प्रारम्भिक काल मे अधिक जाता है। अत कुछ मनोवैज्ञानिको के अनुसार आत्मरक्षा तथा सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्तियाँ ही दो प्रधान मूलप्रवृत्तियाँ हैं। कर्कपैट्रिक महोदय ने पांच मूलप्रवृत्तियो का उल्लेख किया हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) आत्मरक्षा की प्रवृत्ति, (२) सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति, (३) सामूहिक जीवन की प्रवृत्ति, (४) परिस्थितियो के अनुकूल करने की प्रवृत्ति, और (५) आदर्श-पालन की प्रवृत्ति। ड्रेवर मूलप्रवृत्तियो का केवल दो ही वर्ग मानता है—(१) रूच्यात्मक[4] और (२) प्रतीकारात्मक[5]। थॉर्नडाइक महोदय वैयक्तिक और समाजिक वर्गीकरण के अन्तर्गत सभी मूलप्रवृत्तियो की गणना करते हैं। इन दो वर्गों के आधार

---

1. Definition of Instinct 2. मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑफ साइकॉलोजी, पृ० ११० । 3. The classification of Instincts. 4 Appetitive. 5. Reactive.

पर वे मूलप्रवृत्तियो की एक बडी लम्बी सूची बनाते हैं। उडवर्थ मूलप्रवृत्तियो को तीन भागो मे बाँटते हैं। वे इस प्रकार हैं .—

१—शरीर रक्षार्थ मौलिक आवश्यकताओ से सम्बन्धित हमारी प्रतिक्रिया, जैसे, प्यास, भूख, कष्ट, चोट इत्यादि से बचना, थकावट, नीद इत्यादि।

२—दूसरे व्यक्तियो से सम्बन्धित प्रतिक्रिया : जैसे, सामूहिक जीवन, काम-तृप्ति, पुत्र-कामना इत्यादि।

३—खेल-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ . चलना, दौडना, बोलना, हँसना, आत्म-गौरव तथा आत्महीनता का भाव। उडवर्थ के अनुसार इस वर्गीकरण के अन्तर्गत सभी प्रधान प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिक केवल आत्मरक्षा, सन्तानोत्पत्ति तथा सामूहिक जीवन की प्रवृत्तियो को ही प्रधान मूलप्रवृत्तियाँ मानते हैं। उनका कहना है कि इन तीन वर्गो के अन्तर्गत सभी मूलप्रवृत्तियो का समावेश हो जाता है। तीसरे अध्याय मे हम देख चुके हैं कि मनोविश्लेषणवाद सम्प्रदाय वाले काम-प्रवृत्ति को ही प्रधानता देते हैं। पर ऐसा विचार ठीक नही। किसी जाति के इतिहास मे आत्मरक्षार्थ और सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्तियो का महत्व समान है। आत्मरक्षा प्रवृत्ति से व्यक्ति अपनी रक्षा करना चाहता है और सन्तानोत्पात्ति से जाति की। वास्तव मे हमारी प्रेरणाशक्ति[1] रूपी वृक्ष की ये दो प्रधान शाखाएँ है। इस वृक्ष की तीसरी शाखा सामूहिक जीवन की है। इसका उतना महत्व नही, क्योकि इस का उपभोग विशेपकर प्रथम दो प्रधान मूलप्रवृत्तियो की सेवा मे किया जाता है। सामूहिक जीवन कभी-कभी आत्मरक्षा के लिये बडा ही उपयोगी होता है। इसी प्रकार जातिरक्षा की प्रवृत्ति बिना सामूहिक जीवन के क्रियाशील हो ही नही सकती। सामूहिक जीवन की प्रवृत्ति से छोटे बच्चो की भी रक्षा हो जाती है। यह बात नीचे की तालिका से अधिक स्पष्ट हो रही है —
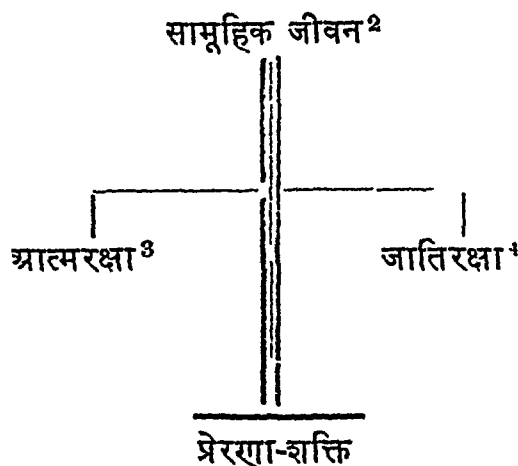
1. Horme 2. Herd Instinct. 3. Self-preservation Instinct. 4. Race-preservation Instinct.

मूलप्रवृत्तियो के इस सिद्धान्त के अवलम्बन से बहुत से मनोवैज्ञानिको के सिद्धान्तो को आश्रय मिल जाता है। हम यह कह सकते हैं कि वे प्राणी की एक 'प्रेरणाशक्ति' में तो विश्वास करते ही हैं। अर्थात् सभी एक 'प्रेरणाशक्ति' रूपी वृक्ष को मानते हैं। मूलप्रवृत्तियाँ तो इस प्रधान वृक्ष की केवल शाखाएँ है। कुछ उदार मनोवैज्ञानिको का कहना है कि इस वृक्ष की चाहे हम जितनी शाखाएँ मान सकते हैं, क्योंकि शाखाओ के बाहुल्य से वृक्ष का विश्रृङ्खलन नही होता।

मैग्डूगल उपर्युक्त तीन प्रधान मूलप्रवृत्तियों के आधार पर चौदह मूलप्रवृत्तियों का उल्लेख करता है। मैग्डूगल का यह वर्गीकरण सबसे अधिक वैज्ञानिक जान पडता है। इसके अन्तर्गत प्राणी की प्राय. सभी मूलप्रवृत्तियाँ आ जाती हैं। इन चौदह के अतिरिक्त यदि कोई किसी दूसरी मूलप्रवृत्ति का उल्लेख करता है तो उसमें हमारा विशेष विरोध नही। प्रेरणाशक्ति रूपी वृक्ष तो है एक ही—फिर उसकी हम चाहे तीन, पाँच, चौदह, चालीस अथवा सौ शाखाएँ माने। ऊपर हम कह चुके हैं कि बिना सवेग के कोई प्रवृत्त्यात्मक क्रिया हो ही नही सकती। अत मैग्डूगल ने प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के साथ एक सवेग का भी उल्लेख किया है। मैग्डूगल का वर्गीकरण[1] इस प्रकार है —

मूलप्रवृत्ति	सम्बद्ध संवेग
१—पलायन	भय
२—युयुत्सा	क्रोध
३—निवृत्ति	घृणा
४—पुत्र-कामना	वात्सल्य, स्नेह
५—शरणागति	करुणा, दु ख
६—काम-प्रवृत्ति	कामुकता
७—कौतूहल, जिज्ञासा	आश्चर्य
८—दैन्य	आत्महीनता
९—आत्म-गौरव या आत्म-प्रदर्शन	आत्माभिमान
१०—सामूहिकता	एकाकीपन
११—भोजनान्वेषण	भूख
१२—सग्रह-वृत्ति	अधिकार-भावना
१३—विधायकता, रचना-प्रवृत्ति	कृतिभाव, रचना जात आनन्द
१४—हास	आमोद

[1] *Instincts*	*Allied Emotion*
1—Escape	Fear
2—Combat, Pugnacity	Anger
3—Repulsion	Disgust

५—सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ[1]—

मूलप्रवृत्तियो के अतिरिक्त हममे कुछ अन्य प्रकार के भी सक्रमित गुण होते हैं। इनके कारण भी हमारे व्यवहार विभिन्न अवसरो पर विशेप प्रकार के हुआ करते है। मैग्डूगल ने इन सक्रमित गुणो को सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियो की संज्ञा दी है। इनके नाम इस प्रकार हैं।

१—सकेत, निर्देश[2]

२—सहानुभूति[3]

३—अनुकरण[4]

४—खेल[5]

५—आवृत्ति की प्रवृत्ति[6]

६—आदत[7]

सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों और मूलप्रवृत्तियो में भेद—

इन सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सामाजिक महत्व वडा भारी है। वालक के विकास मे इनका वडा हाथ रहता है। अत शिक्षा के दृष्टिकोण से इनकी अवहेलना कदापि नही की जा सकती। अव यहाँ मूलप्रवृत्तियो तथा सामान्य प्रवृत्तियो के मतभेद पर दृष्टि डालना समीचीन होगा। सामान्य प्रवृत्तियाँ भी मूलप्रवृत्तियो के सदृग् प्रकृति-दत्त होती है। दोनो वशानुक्रमीय नियमानुसार चेतन प्राणी को प्राप्त होती है। दोनो मस्तिष्क[8] के अग है। इस प्रकार दोनो मे विशेप अन्तर नही दिखलाई पडता। यही कारण है कि कुछ मनोवैज्ञानिक सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियो का भी वर्गीकरण मूल-प्रवृत्तियो की ही कक्षा मे करते हैं। पर मैग्डूगल को दोनो मे मौलिक भेद दिखलाई पडता है। उसने अपनी धारणा की पुष्टि इस प्रकार की है। मैग्डूगल प्रत्येक मूलप्रवृत्ति

4—Parental	Tender emotion, love
5—Appeal	Distress
6 —Sex, Mating	Lust
7—Curiosity	Wonder
8—Submission	Negative self-feeling
9—Self-assertion or Self-display	Positive self-feeling
10—Social Instinct or Gregariousness	Loneliness
11—Food-seeking	Appetite
12—Acquisition, Collection	Feeling of ownership
13—Construction	Feeling of Creativeness
14—Laughter	Amusement

1 Innate General Tendencies 2. Suggestion 3 Sympathy. 4 Imitation. 5. Play. 6. Routine Tendency. 7. Habit 8. Mental structure.

को एक निश्चित संवेग के साथ सम्बद्ध मानता है। पर सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में उसके अनुसार किसी संवेग का होना आवश्यक नहीं। मूलप्रवृत्ति केवल एक परिस्थिति-विशेष में ही क्रियाशील होती है। यह एक ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्ति है जो कि केवल एक ही दिशा में प्रवृत्त हो सकती है। सामान्य प्रवृत्तियों की क्रिया के मूल में कई मूलप्रवृत्तियाँ दिखलाई पड सकती हैं। उदाहरणार्थ, 'खेल' सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति में विधायकता और युयुत्सा मूलप्रवृत्तियों की झलक दिखलाई पड़ सकती है। पर विधायकता अथवा युयुत्सा में जिस संवेग की उपस्थिति रहती है वह खेल में सम्भव नहीं। पर मैग्डूगल की मूलप्रवृत्ति की परिभाषा से ड्रेवर और रीवर सहमत नहीं। ड्रेवर महोदय का कहना है कि मूलप्रवृत्तियों की क्रिया में संवेगात्मक अनुभूति का होना आवश्यक नहीं। बिना संवेगात्मक अनुभूति के भी मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया का संचालन हो सकता है। इस क्रिया में किसी बाधा के उपस्थित होने से ही संवेग की अनुभूति होती है। ड्रेवर के कहने का तात्पर्य यह है कि युयुत्सा में क्रोध अथवा पलायन में भय की अनुभूति किसी बाधा के उपस्थित होने पर ही होगी। रीवर का कथन है कि भयानक परिस्थितियों में हम अचानक कोई कार्य कर बैठते हैं और यह कार्य किसी मूल-प्रवृत्ति से ही संचालित होता है। इस शीघ्रता में हमें संवेगात्मक अनुभूति नहीं होती। रीवर ड्रेवर से सहमत दिखलाई पडता है जब वह कहता है कि संवेग मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया के असफल होने पर ही उत्पन्न होता है। रीवर और ड्रेवर की उक्ति आपत्ति-जनक नहीं प्रतीत होती। पर यह प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है कि प्रवृत्त्यात्मक क्रिया में बाधा बहुधा उपस्थित हुआ करती हैं। अत संवेगात्मक अनुभूति का होना निश्चित सा है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से मैग्डूगल ठीक ही प्रतीत होता है। पर सैद्धान्तिक दृष्टि से रीवर और ड्रेवर के कथन का भी महत्व हो सकता है।

६—मैग्डूगल के मत से मनोविश्लेषणवादी सहमत नहीं—मूलप्रवृत्तियों में एकत्व की झलक[1]—

आधुनिक मनोविश्लेषणवाद मैग्डूगल के सिद्धान्तों से सहमत नहीं। मैग्डूगल मूलप्रवृत्तियों को चेतन प्राणी की विभिन्न शक्तियाँ मानता है। सभ्यता के आदिकाल में आजकल की सभी मूलप्रवृत्तियों का विकास नहीं हुआ था। अत इनके विकास की गति सभ्यता की गति के समानान्तर चलती रही है, अर्थात् इनका विकास धीरे-धीरे हुआ है। हम यह कह सकते हैं कि भोजनान्वेषण, सन्तानोत्पत्ति, सामूहिक जीवन, पलायन और युयुत्सा मूलप्रवृत्तियाँ सबसे पहले विकसित हुई। इनके बाद जीवन में अपने-अपने महत्व के अनुसार अन्य प्रवृत्तियाँ विकसित हुई। ध्यान देने की बात है कि इन मूलप्रवृत्तियों के रूप में भी उत्तरोत्तर विकास होता रहा है। फलत आज प्रत्येक

---

1 The unity in Instincts.

में अपनी-अपनी विलक्षणता दिखलाई पडती है। इस विलक्षणता के कारण एक का समावेश दूसरे मे नहीं हो सकता। प्रत्येक एक भिन्न प्रकार की शक्ति है। वस्तुत इन शक्तियो का गुणनफल ही मानव जीवन है। इन्ही के विकास मे मानव जीवन अथवा सभ्यता का विकास निहित है।

फ्रॉयड, युङ्ग तथा उनके अनुयायियो का मत मैग्डूगल की उक्त धारणा से भिन्न है। ये लोग चेतन प्राणी की शक्तियो का उद्गम स्थान एक ही शक्ति मानते है। फ्रॉयड इस एक शक्ति को काम-शक्ति[1] की संज्ञा देता है। युङ्ग इसे 'जीवन-शक्ति' (लिबिडो) पुकारता है। शोपनहावर महोदय ने इसका नाम करण 'जीने की इच्छा'[2] किया है। बर्गसन इसको 'प्राण-शक्ति[3]' समझता है। इन विद्वानो की धारणा है कि प्राणी की विभिन्न शक्तियाँ एक ही शक्ति की विभिन्न शाखाएँ हैं। प्रत्येक प्राणी मे जीने की प्रबल इच्छा होती है। इस इच्छा के प्रकाशन का साधन समयानुसार विभिन्न हुआ करता है। पर मूलप्रवृत्तियाँ एक ही निश्चित उद्देश्य की ओर अभिप्रेरित होती हैं। यह उद्देश्य प्राणी की जीने की इच्छा है। जीने की इच्छा से ही प्राणी विभिन्न व्यापार में लीन रहता है। इस व्यापार की श्रेणी उसके विकास की मात्रा के अनुसार होगी। भेद केवल मात्रा का होगा, प्रकार का नही। यदि परिस्थितिवश किसी मूलप्रवृत्ति में परिवर्त्तन आ जाना आवश्यक होता है तो वह मूलप्रवृत्ति नष्ट नही होती है। केवल उसके प्रकाशन-पद्धति मे अन्तर आ जाता है। उदाहरणार्थ, युयुत्सा मूलप्रवृत्ति के शोधन पर प्राणी मे अन्याय से विरोध करने की प्रवृत्ति तथा प्रारम्भ करने पर किसी कार्य के समाप्त कर देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार मनोविश्लेषणवादी मूल-प्रवृत्तियो को मैग्डूगल के मतानुसार सर्वथा पृथक नही समझते। किसी एक मूलप्रवृत्ति के प्रबल होने से दूसरी प्रवृत्ति निर्बल पड जाती है। उदाहरणार्थ, यदि भोजनान्वेषण की ही प्रवत्ति प्रबल हुई तो 'आत्मगौरव' प्रवत्ति का ह्रास हो सकता है। यदि युयुत्सा प्रवृत्ति प्रबल हुई तो सामूहिक-जीवन सम्बन्धी मूलप्रवृत्तियाँ निर्बल हो सकती हैं। इस स्थिति से मनोविश्लेषणवादी के इस धारणा की कि 'मूलप्रवृत्तियो का उद्गम स्थान एक ही है" पुष्टि होती दिखलाई पडती है।

७—क्या मनुष्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत कर सकता है?[4]

पशु अपनी मूलप्रवृत्तियो का जीव माना जाता है। उसकी सारी क्रियाएँ मूल-प्रवृत्तियो द्वारा ही संचालित होती हैं। यदि मनुष्य पर शिक्षा तथा अपने वातावरण का समुचित प्रभाव न पडे तो उसका जीवन भी पशुओ के सदृश् प्राकृतिक हो जाय। पर क्या मनुष्य के लिये जीवन का प्राकृतिक होना वाञ्छनीय है? आधुनिक कृत्रिमता

---

1. Sex. 2. Will to live. 3. Elan Vital 4 Can man lead a natural life.

गे ऊब कर बहुत से विद्वानों ने प्राकृतिक जीवन की श्रेयस्करता की ध्वनि उठाई है। उनका कहना है कि मानव के सब दुःखों की जड उसका कृत्रिम जीवन ही है। वह प्रकृति से बहुत दूर होता जा रहा है। अत उसमे बाह्याडम्बर बढता जा रहा है। इस आडम्बर के फलस्वरूप उसकी शक्तियो का ह्रास निश्चित है। किसी प्राकृतिक प्रवृत्ति के दमन से ही उसके मन मे क्रान्ति उत्पन्न होती है। वह उद्विग्न हो उठता है। उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियो का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य का शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य उसके जीवन की प्राकृतिकता पर निर्भर है।

रूसो ने तो यहाँ तक कह डाला है कि 'मनुष्य 'अच्छा' उत्पन्न होता है, पर समाज उसे बुरा बना डालता है'। अत वह प्रकृति की ओर प्रत्यागमन का आदेश देता है। फ्रॉयड तथा उसके अनुयायी मनोविश्लेषणवादियो का विश्वास है कि मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों के प्रकाशन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाना अहितकर होता है। मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया अवश्यम्भावी है अत उस पर रोक लगाने से लाभ की अपेक्षा हानि ही होती है। खेद है कि मनोविश्लेषणवाद के इस सिद्धान्त का गलत अर्थ लगाने वाले नैतिकता का बन्धन तोडने मे अपने पुरुषार्थ की परीक्षा करने लगे हैं। प्रगतिशीलता की आड मे आजकल बहुत से नवयुवक इस प्रकार मानव सभ्यता की हत्या करने मे सलग्न हैं। वास्तव मे मनुष्य का जीवन पशु के सदृश् प्राकृतिक नही हो सकता। सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास से उसके जीवन मे प्राकृतिकता का ह्रास स्वाभाविक ही है। मनोविश्लेषणवाद मूलप्रवृत्तियो के पूर्ण प्रकाशन की माँग उपस्थित करता है। पर उसका यह तात्पर्य नही कि मनुष्य को पशु के सदृश् प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना चाहिये। वास्तव मे उसका अर्थ यह है कि बालक अपने प्रारम्भिक काल मे पशु के समान अपनी मूलप्रवृत्तियो का दास होता है। उसका विकास मूल-प्रवृत्तियो के पूर्ण प्रकाशन पर ही निर्भर है। अत उनका दमन हानिकर सिद्ध होगा। पर इसका यह अर्थ लगाना कि 'मूलप्रवृत्तियो के प्रकाशन-पद्धति मे किसी प्रकार का परिवर्तन न लाना चाहिये' बुद्धिमानी से खाली होगा। मनुष्य मे विचार-शक्ति होती है। इसी शक्ति के कारण वह पशु से श्रेष्ठ समझा जाता है। मनुष्य समाज मे उसकी श्रेष्ठता की कसौटी मूलप्रवृत्तियो पर नियन्त्रण करने की उसकी शक्ति है। इस प्रकार मूलप्रवृत्तियो पर नियन्त्रण से वह अधिक सुखी और समाज की दृष्टि मे अधिक शक्तिशाली होता है।

लाख प्रयत्न करने पर भी मनुष्य पशु के सदृश् प्राकृतिक जीवन नही व्यतीत कर सकता, क्योकि दोनो की मूलप्रवृत्तियो मे कुछ मौलिक भेद है। पशु की मूलप्रवृ-त्तियो के प्रकाशन में अनिश्चितता नही रहती। वे मनुष्यो की मूलप्रवृत्तियो के सदृश्

अधिक परिवर्त्तनशील नही होती। दोनो के भेद पर हम पीछे प्रकाश डाल चुके हैं। मनुष्य पर वातावरण का प्रभाव शीघ्र पडता है। वह अनुभव से सीखना जानता है। अत उसका जीवन पशु के समान प्राकृतिक नहीं हो सकता। अपनी मूलप्रवृत्तियो पर नियन्त्रण रखना भी उसका जन्मजात स्वभाव उसी प्रकार है जैसे पशु का अपनी मूलप्रवृत्तियो के अनुसार ही चलना। अर्थात् मनुष्य को अपने को मूलप्रवृत्तियो के स्तर से ऊँचा उठाना है। अपने को उसके नियन्त्रण मे नही रखना है, दूसरे शब्दो मे, उसमे परिवर्त्तन लाना आवश्यक है। अब हम विचार करेंगे कि यह परिवर्त्तन कैसे लाया जाता है।

८—मूलप्रवृत्तियों मे परिवर्तन[1]

व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास उसकी मूलप्रवृत्तियो के परिवर्त्तन पर ही निर्भर होता है। मनोवैज्ञानिको के अनुसार यह परिवर्त्तन चार पद्धतियो द्वारा सम्भव है :—

१—अवदमन[2]
२—विलयन[3]
३—मार्गान्तरीकरण[4]
४—शोधन[5]

(१) अवदमन—

थॉर्नडाइक की धारणा है कि शिक्षा से कुछ मूलप्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिल सकता है, कुछ की क्रिया हम प्राणी की ज्ञात चेतना से निकाल सकते हैं, और कुछ को हम रूपान्तरित कर सकते हैं। मूलप्रवृत्तियो को नष्ट करने की चेष्टा सर्वथा व्यर्थ होती है, क्योकि, जैसा ऊपर कहा गया है, उन्हे हम नष्ट नही कर सकते। मूलप्रवृत्तियो के अवदमन से क्या बुरा प्रभाव पड सकता है इस पर मनोविश्लेषणवाद ने भलीभाँति प्रकाश डाला है। वास्तव में इस प्रकाश को फ्रॉयड, युङ्ग तथा उनके अनुयायियो की प्रधान देन कहते है। व्यक्ति के विकास मे मूलप्रवृत्तियो के शोधन के महत्व को हम मनोविश्लेपणवाद के विश्लेषण से अधिक समझने लगे हैं। मूलप्रवृत्तियो का अवदमन बडा ही हानिकर होता है। मूलप्रवृत्तियो का अवदमन करना घाटी के स्वाभाविक जलप्रवाह पर बाँध बाँधने के समान कहा जा सकता है। इस बाँध से जलप्रवाह पर तीन प्रकार का प्रभाव पड सकता है। पहली सम्भावना यह है कि बाँध के पास जल इकट्ठा होता जायगा। यदि बाँध कम दृढ हुआ तो जल उसे तोड कर आगे बढ जायगा। इस प्रकार बाँध से लाभ नही होगा। मूलप्रवृत्तियो पर नियन्त्रण रखने का भी प्रथम

1. Changes in Instincts. 2 Repression 3. Inhibition 4 Redirection. 5. Sublimation.

परिणाम यही हो सकता है। कडे नियन्त्रण में रखे जाने वाले व्यक्ति के व्यवहार मे यह अधिक स्पष्ट होगा। व्यक्ति नियन्त्रण के फन्दे को तोड कर अपने वास्तविक व्यवहार मे आ जाता है। इस समय उसकी मूलप्रवृत्तियो का प्रवाह भलीभाँति देखा जा सकता है। अत मूलप्रवृत्तियो पर हठात् नियन्त्रण डालने मे कुछ लाभ नही, वरन् हानि की अधिक सम्भावना है।

दूसरी सम्भावना यह है कि यदि बाँध अधिक दृढ हुआ तो उसके नीचे से जल धीरे-धीरे चुकचुका कर निकल सकता है, और बाँध का प्रयोजन सिद्ध न होगा। इसी प्रकार मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया मे बाधा उपस्थित करने मे परिणाम अच्छा न होगा और व्यक्ति के अनुरूप विकास मे गाँठ पड जायगी। कडे नियन्त्रण मे रखे हुए व्यक्ति के व्यवहार मे सत्यता का अभाव देखने मे आता है। यह मानी हुई बात है कि मूल प्रवृत्तियो की स्वाभाविक क्रियाशीलता मे बाधा उपस्थित करना व्यर्थ हुआ करता है। किसी न किसी प्रकार मूलप्रवृत्त्यात्मक रुचियाँ अपनी सन्तुष्टि के लिये मार्ग ढूँढ ही लेती है। व्यक्ति समाज की दृष्टि बचा कर चोरी-चोरी अपनी प्रवृत्त्यात्मक इच्छाओ की पूर्ति किया करता है। मूलप्रवृत्तियो के दमन का यह फल पहले से अधिक भयानक है। इसमे व्यक्ति का अधिक नैतिक पतन हो जाता है।

यदि बाँध अत्यधिक दृढ हुआ तो जलप्रवाह एकदम रुक जायगा। आगे की भूमि सूख कर बञ्जर हो जायगी। इसी प्रकार यदि मूलप्रवृत्तियो का अवदमन बहुत कडे नियन्त्रण से किया गया तो परिणाम बडा घातक होगा। उनके पूर्ण अवदमन से व्यक्ति असहाय हो जायगा। उसकी विभिन्न शक्तियो का विकास रुक जायगा। उसकी दशा दयनीय हो जायगी। जीवन मे उसके लिये कोई लोच न होगा। उसके मस्तिष्क मे कई प्रकार की ग्रन्थियाँ पड जायँगी। उनसे मुक्त होना उसके लिये अत्यन्त कठिन हो जायगा। जल का प्रवाह अपने उद्गम स्थान पर बडी ही सरलता से रोका जा सकता है। फ्रॉयड का कथन है कि इसी प्रकार मूलप्रवृत्तियो का प्रवाह शैशव तथा बाल्यकाल मे बडी सरलता से रोका जा सकता है। अत शिक्षा की दृष्टि से इस काल का विशेष महत्व है। माता-पिता व अभिभावको को बालको के प्रति अपने व्यवहार में अत्यधिक मनोवैज्ञानिक होना है, जिससे उनकी मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाओ का अवदमन न हो।

मूलप्रवृत्तियो का दमन न हो इसका तात्पर्य यह नही कि बागडोर एकदम ढीली कर दी जाय और बालक को अपने कार्य में एकदम स्वतन्त्र छोड दिया जाय। उदाहरणार्थ, यदि सग्रह मूलप्रवृत्ति पर कुछ नियन्त्रण न रखा जाय तो बालक के लोभी, स्वार्थी तथा चोर बन जाने का डर हो सकता है। इसी प्रकार युयुत्सा पर भी नियन्त्रण रखना आवश्यक है। इस प्रवृत्ति का संवेग 'क्रोध' बडा भयानक होता है।

इससे व्यक्ति की शक्ति का ह्रास होता है और वह अपने ही नाश का कारण हो सकता है। काम-प्रवृत्ति के विपय मे भी यही वात कही जा सकती है। यदि इस प्रवृत्ति पर समुचित नियन्त्रण न रखा जाय तो सृजन का कार्य ही अस्त-व्यस्त हो जायगा।

अत हम कह सकते हैं कि व्यक्ति के विकास के लिये कुछ मूलप्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक सुधार उनके प्रकाशन के समान ही आवश्यक है। पर यह सुधार यदि स्वय व्यक्ति द्वारा हो तभी उसका वाछित परिणाम हो सकता है, अन्यथा नही। यह सुधार विचार करने वाले प्राणी द्वारा ही सम्भव होता है। विचार का प्राणी केवल मनुष्य है पशु नही। यदि विवेक द्वारा व्यक्ति अपनी कुछ मूलप्रवृत्तियो मे सुधार कर सका तो निश्चय ही उसका विकास आदर्श रूप होगा। कभी-कभी व्यक्ति अपनी इच्छा के विरुद्ध दूसरो के प्रभाव मे आकर अपनी मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओ का अवदमन करता है। यह वडा ही हानिकर होता है। इससे मस्तिष्क मे विभिन्न भावनाग्रन्थियाँ[1] उत्पन्न हो जाती हैं। इन ग्रन्थियो के फलस्वरूप व्यक्ति के आचरण मे अनेक प्रकार के दोप आ जाते हैं। वह बहुधा किसी बात की स्वाभाविक सीमा का अतिक्रमण करने का प्रयास किया करता है। इस अतिक्रमण का भान स्वय उसे नही होता। उसकी अज्ञात चेतना मे स्थित एक प्रेरणा उसके व्यवहार पर प्रभाव डालती रहती है। व्यक्ति मे एक अन्तर्द्वन्द आ जाता है। इससे उसके चित्त को बहुधा क्लेश हुआ करता है। अत अभिभावको को बालक के सामने ऐसे अवसर उपस्थित करने हैं कि वह स्वय अपनी कुछ इच्छाओ का अवदमन करना आवश्यक समझ ले। इसके लिये आत्म-नियन्त्रण-शक्ति आवश्यक है। यह शक्ति कुछ अनुभव के बाद ही प्राप्त होती है। यह अनुभव मूलप्रवृत्तियो के प्रकाशन के लिये उपयुक्त अवसर देने से ही होता है। अत कुछ समय तक मूलप्रवृत्तियो के प्रकाशन मे रुकावट डालना ठीक नही। पर यदि इन्हे बन्द करना आवश्यक हुआ तो उचित उपकरणो के आयोजन से बन्द करने की प्रेरणा स्वयं व्यक्ति मे से ही निकलवानी चाहिये।

विलयन—

विलयन मूलप्रवृत्तियो मे परिवर्त्तन लाने का दूसरा उपाय है। इसके दो अग हैं—(१) निरोध व (२) विरोध। निरोध का तात्पर्य प्रवृत्ति को उत्तेजित होने के लिये अवसर ही न देने से है। यदि हम काम-प्रवृत्ति को दवाना चाहते है तो उसकी जागृति के लिये बालक के वातावरण मे कोई उत्तेजना ही न रखनी चाहिये। प्राचीन काल मे पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन का धर्म माना जाता था। इसीलिये वालक को उस काल तक के लिये गुरुकुल मे भेज दिया जाता था। गुरुकुल का वातावरण शुद्ध, प्राकृतिक और स्वास्थ्यवर्द्धक होता था। वहाँ कामवासना के जागृत होने का कोई

---

1. Emotional Complexes

अवसर ही न था। आजकल भी इस प्रवृत्ति को सुप्त रखने के लिये व्यक्ति को प्राकृतिक व शुद्ध जीवन व्यतीत करने के लिये राय दी जाती है। कृत्रिमता से दूर रहना श्रेयस्कर समझा जाता है। स्त्री का पुरुष के साथ घूमना, रहना तथा बातचीत करना हानिकर समझा जाता है। इसी प्रकार युयुत्सा-प्रवृत्ति मे परिवर्त्तन हेतु क्रोध संवेग के लिये अवसर न देना चाहिये। ऊपर हम उल्लेख कर चुके हैं कि जेम्स महोदय के अनुसार मूल-प्रवृत्तियाँ कुछ काल के बाद नष्ट हो जाती हैं। उनका कहना है कि यदि प्रकाशन का अवसर न दिया जाय तो वे अपने आप नष्ट हो जायगी। हम संकेत कर चुके हैं कि आधुनिक वैज्ञानिको को यह बात मान्य नही। पर जेम्स के कहने मे इतना सत्य तो अवश्य दिखलाई पडता है कि प्रकाशन के लिये अवसर न देने से प्रवृत्तियाँ निर्बल और असहाय हो जाती है। हमारा साधारण अनुभव भी कहता है कि अभ्यास के अभाव से हमारी शक्तियाँ निर्बल पड जाती हैं।

दो पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियो को साथ ही उत्तेजित कर देने मे भी कुछ मूलप्रवृत्तियो मे परिवर्त्तन लाया जा सकता है। काम-प्रवृत्ति के उत्तेजित होने के समय यदि भय अथवा क्रोध उत्पन्न कर दिया जाय तो काम-भावना ठण्डी पड जायगी। सहानुभूति, स्नेह और खेल की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देने से युयुत्सा-प्रवृत्ति मे परिवर्त्तन लाया जा सकता है। संग्रह-प्रवृत्ति त्याग-भावना से शान्त की जा सकती है। 'विरोध' उपाय श्रेष्ठ नही, पर निरोध से यह अच्छा है, क्योकि इसमे भावना-ग्रन्थियो की सृष्टि का कम भय रहता है। निरोध मे तो अतृप्ति रहती है। अतृप्ति से मानसिक व्यभिचार का भय रहता है। मानसिक व्यभिचार शारीरिक व्यभिचार से कही अधिक घातक है। पर हम विरोध को भी अच्छा नही मान सकते, क्योकि इससे प्रवृत्तियो मे सदा के लिये परिवर्त्तन नही आता। अवसर पाने पर अज्ञात चेतना मे छिपी हुई प्रवृत्तियाँ उमड पडती हैं, और व्यक्ति के आचरण पर अपनी पूरी छाप डालती हैं। स्पष्ट है कि विलयन मूल-प्रवृत्तियो मे परिवर्त्तन लाने का अच्छा उपाय नही है।

मार्गान्तरीकरण—

मार्गान्तरीकरण उपर्युक्त दोनो उपायो से श्रेष्ठ है। इसमे न तो प्रवृत्ति का अवदमन किया जाता है, और न निरोध अथवा विरोध से उसमे परिवर्त्तन लाने की चेष्टा ही की जाती है। इस विधि में केवल प्रकाशन-पद्धति मे परिवर्त्तन ला दिया जाता है। युयुत्सा की प्रवृत्ति हम सब मे होती है। यदि इसी प्रवृत्ति को निर्बलो को अत्याचार से बचाने की ओर प्रवृत्त कर दिया जाय तो यह युयुत्सा का मार्गान्तरीकरण कहा जायगा। इस विधि से मूलप्रवृत्तियों द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो हित सम्भव है। संग्रह-वृत्ति से व्यक्ति कृपण और लोभी हो सकता है, पर इसी की प्रकाशन-पद्धति मे यदि परिवर्त्तन कर दिया जाय तो इस वृत्ति की क्रिया से व्यक्ति, गाँव अथवा शहर के पुस्तकालय हेतु

अच्छी-अच्छी पुस्तके सग्रह कर सकता है अथवा प्राचीन सभ्यता-सम्बन्धी वस्तुओ का सग्रह कर उसके विकास के इतिहास-निर्माण मे योग दे सकता है ।

शोधन—

शोधन वास्तव मे मूलप्रवृत्तियो का एक प्रकार से सन्मार्गान्तरीकरण है। मार्गान्तरीकरण मे मूलप्रवृत्ति के स्वरूप मे किसी प्रकार का परिवर्त्तन नही होता, वरन् उसको उसी रूप मे अधिक वैयक्तिक अथवा उच्च सामाजिक हित मे लगा दिया जाता है । उदाहरणार्थ, युयुत्सा की प्रवृत्ति को देश व जाति की दशा की ओर केन्द्रित किया जा सकता है । इस प्रकार इस प्रवृत्ति मे प्रबल व्यक्तियो को चुन कर एक दृढ सेना का सगठन किया जा सकता है। शोधन अथवा सन्मार्गान्तरीकरण से मूलप्रवृत्तियो के स्वरूप और प्रकाशन-पद्धति दोनो मे परिवर्त्तन आ जाता है । यह उपाय सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसका प्रयोग काम-प्रवृत्ति मे परिवर्त्तन लाने के लिये सर्वप्रथम फ्रॉयड महोदय ने किया था । अपने स्वाभाविक भौतिक उद्देश्य से किसी मूलप्रवृत्ति को व्यक्ति तथा समाज के हित के लिये सन्मार्गान्तरीकरण कर देने को शोधन कहते हैं। शोधन से प्रकाशन-पद्धति मे एक नया परिवर्त्तन आ जाता है । प्रवृत्ति की असस्कृतता एकदम दूर हो जाती है । उसमे निहित शक्ति का प्रयोग दूसरे मार्गो मे किया जाता है इस प्रकार मूलप्रवृत्ति का रूप ही एकदम परिवर्त्तित कर दिया जाता है । अप्रत्यक्ष रूप से प्रवृत्ति को तृप्ति देनें की चेष्टा की जाती है ।

फ्रॉयड ने शोधन का प्रयोग केवल काम-प्रवृत्ति के सीमित क्षेत्र मे ही किया था । पर अब इसका प्रयोग प्राय हर मूलप्रवत्ति के सम्बन्ध मे किया जाता है । व्यर्थ की वस्तुओ मे लगी हुई जिज्ञासा की प्रवृत्ति को विज्ञान की सफलताओ की ओर झुकाया जा सकता है । वस्तुत. विज्ञान की सारी सफलता इसी प्रवृत्ति की शोधित फल है । पलायन की प्रवृत्ति को हम पाप अथवा अत्याचार से दूर भागने की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं । इसी प्रकार पुत्र-कामना, सामूहिक-जीवन, आत्म-गौरव तथा दैन्य इत्यादि प्रवृत्तियो को आदर्श सामाजिक व्यवहारो की ओर झुकाया जा सकता है ।

स्पष्ट है कि शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मूलप्रवृत्तियो को शोधित करना ही है । वस्तुत आज की सभ्यता मूलप्रवृत्तियो के शोधन का ही परिणाम है । इनका शोधन मानव-प्राणी मे ही सम्भव है । इसीलिए तो वह एक सभ्यता का सृजन करने मे सफल हो सका । मनुष्य अपनी शक्तियो को सञ्चित कर समाज-हित के लिये अपने को अर्पण कर देता है । महात्मा गाधी, जवाहर और राजेन्द्र आदि ऐसे देशसेवक मूलप्रवृत्तियो के शोधन के ही फल हैं । शोधन के लिये सर्वप्रथम मूलप्रवृत्तियो के स्वाभाविक प्रवाह पर नियन्त्रण करना होता है । इस नियन्त्रण से विवेक उत्पन्न होना है जिसके फलस्वरूप शोधन सम्भव होता है । शोधन् का प्रयोग बहुधा काम-प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे किया

जाता है। काम-प्रवृत्ति सभी मूलप्रवृत्तियों में प्रबलतम होती है। यदि इस पर मनोवैज्ञानिक रोक न लगाया गया तो प्राणी का या तो नाश हो जायगा या वह घोर अपराधी हो जायगा। पशुओं के सम्बन्ध में यह समस्या नहीं उठती, क्योंकि उनकी काम-प्रवृत्ति पर स्वयं प्रकृति नियन्त्रण करती है। पर मानव प्राणी की ऐसी बात नहीं। उस पर तो रोक लगानी ही होगी। यह रोक शोधक रूप में ही श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है। मनोविश्लेषणवादियों की धारणा है कि व्यक्ति का ध्यान कला अथवा कविता आदि की ओर केन्द्रित कर देने से उसकी काम-वासना दूसरा रुख ले लेती है और उसका शोधन हो जाता है। चिरस्थायी कला तथा साहित्य का निर्माण मूलप्रवृत्तियों (विशेषकर काम-प्रवृत्ति) के शोधन से ही हो सकता है। काम-प्रवृत्ति के शोधन से ही तुलसीदास भगवान् में मन लगा कर अमर रामायण की रचना कर सके। यही बात कालिदास, सूरदास तथा मीराबाई प्रभृति कलाकारों के विषय में भी कही जा सकती है।

शोधन की सीमा—

शोधन की एक सीमा होती है। मूलप्रवृत्ति को पूर्णतः शोधित नहीं किया जा सकता। उसका कुछ न कुछ अंश अपने नैसर्गिक रूप में बच ही जायगा। ट्रेन्सले महोदय इस धारणा का समर्थन करते हैं। उनका कथन है "मूलप्रवृत्तियों का सम्पूर्णतः मार्गान्तरीकरण करने से मन और चरित्र का एकाङ्गी विकास होता है। इसका जीवन में बड़ा भयानक परिणाम हो सकता है। उनके स्वाभाविक प्रवाह को रोक कर हम मूलप्रवृतियों को दुर्बल भले ही कर सकते हैं, पर उनका सर्वथा नाश सम्भव नहीं। मूलप्रवृत्तियों के शोधन की एक सीमा होती है। उस सीमा तक का शोधन लाभकारी होता है। उस सीमा का अतिक्रमण व्यर्थ सिद्ध होता है।"[1] प्रत्येक मूलप्रवृत्ति में दो प्रकार की शक्तियाँ निहित होती हैं। एक को तो शोधित किया जा सकता है, पर दूसरी स्वतः अपने प्रकाशन का द्वार निकाल ही लेती है, चाहे उसको रूपान्तरित करने का कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय। यही कारण है कि हम कभी-कभी बड़े प्रतिष्ठित और प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मुख से अथवा व्यवहार में अवाञ्छित बातें सुनते या देखते हैं। उनके इस व्यवहार का मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि लाख चेष्टा करने पर भी मनुष्य अपनी कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हो सकता। जब समाज का बन्धन कुछ ढीला होता है, अथवा जब व्यक्ति अपने अन्तरङ्ग मित्रों के साथ रहता है तो उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों का प्रकाशन बरबस हो जाता है। इसमें उस व्यक्ति का विशेष दोष नहीं, क्योंकि स्वभाव तो सदा साथ ही रहेगा। उसके एक दोष से उसके विभिन्न गुणों के विषय में हमारा विचार नहीं बदलना चाहिये। कौन-सा ऐसा व्यक्ति है जो दोषयुक्त नहीं है? हमें दोषों पर ध्यान न देते हुए दूसरों के गुणों पर ध्यान देना है। हमारी शिष्टता

१. ट्रेन्सले—न्यू साइकॉलॉजी, पृष्ठ ६७।

और शिक्षा तो इसी मे है कि हम केवल गुणो पर ही दृष्टि रखे । पर-प्रशसा से अपनी शक्ति की वृद्धि होती है; क्योकि 'पर-पशसा' आत्म-स्तुति है ।

अगले अध्याय मे कुछ मूलप्रवृत्तियो का अलग-अलग वर्णन करते समय इस विपय पर प्रत्येक के सम्बन्ध मे अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा ।

६—मूलप्रवृत्तियाँ और शिक्षा[1]

(१) मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाशीलता का सिद्धान्त[2]—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा का मूलप्रवृत्तियो से घनिष्ट सम्बन्ध है। अत कुछ मनोवैज्ञानिको का मत है कि शिक्षा का आधार मनोवृत्तियाँ ही हो । इस सम्बन्ध मे तीन सिद्धान्तो का उल्लेख किया गया है । पहला मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया-शीलता के सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है । इस सिद्धान्त के मानने वालो की धारणा है कि मूलप्रवृत्तियाँ मनुष्य के लिये वरदान स्वरूप हैं । अत' बालको की शिक्षा उनकी मूलप्रवृत्तियो पर ही आधारित होनी चाहिये । पर इस विचार को कैसे कार्यान्वित किया जाय ? मूलप्रवृत्तियो का तो कक्षा के कार्य से विशेप सम्वन्ध दिखलाई ही नही पडता । भाषा को किसी मूलप्रवृत्ति से कैसे सम्वन्धित करे ? अङ्कगणित का ज्ञान देने के लिये मूलप्रवृत्तियो की किस प्रकार सहायता ले । ध्यान देने की बात है कि मनुष्य का आचरण केवल मूलप्रवृत्तियो पर ही निर्भर नही होता । पशु और मनुष्य मे यही प्रधान भेद है । मनुष्य के पास एक विवेक-शक्ति भी होती है । इस शक्ति के कारण उसका आचरण कभी-कभी मूलप्रवृत्तियो के स्तर से बहुत ऊँचा होता है । कभी-कभी उसका आचरण पशु से भी घृणित दिखलाई पडता है। मनुष्य मे आत्मस्वातन्त्र्य की ओर झुकने का भी स्वभाव होता है । इस आत्म-स्वातन्त्र्य की सहायता से वह वाह्य प्रकृति पर विजय पाने के साथ अपनी मूलप्रवृत्तियो पर भी विजय प्राप्त कर सकता है । यदि इन पर विजय पा सका तो वह अपने वर्ग के सभी प्राणियो से सर्वश्रेष्ठ है । मूल-प्रवृत्यात्मक क्रियाशीलता के सिद्धान्त से शिक्षक बालक को अपनी मूलप्रवृत्तियो पर विजय पाने की ओर सलग्न कर सकता है । इस सिद्धान्त के अनुसार मूलप्रवृत्तियो की क्रियाओ मे किसी प्रकार की बाधा नही उपस्थित करनी चाहिये । इस सिद्धान्त के समर्थको की धारणा है कि मूलप्रवृत्तियाँ प्राणी के मङ्गल हेतु ही होती हैं । उनसे अभिप्रेरित क्रियाएँ सदा प्राणी के हित के लिये ही होती हैं । पर हम इस धारणा मे विश्वास नही कर सकते । ऊपर हम देख चुके है कि मूलप्रवृत्तियो पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। यदि उसकी वागडोर ढीली कर दी जाय तो मनुष्य अधोगति के गर्त मे गिर जायगा। व्यक्ति के वाछित विकास के लिये आवश्यक है कि वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो मे सुधार करे और अपने पर वह नियन्त्रण प्राप्त करे और मन को यकायक जिधर

1. Instincts and Education 2 The Dynamic Theory of Instincts.

चाहे उधर न जाने दे। इस नियन्त्रण की शक्ति से ही उसका चरित्र-बल बढ़ सकता है।

"मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाशीलता" के सिद्धान्त के समर्थको का कथन है कि मूल-प्रवृत्तियो के आधार पर यदि व्यक्ति कुछ अवांछित कार्य करता है तो उसमे बाधा डालना लाभप्रद नही सिद्ध हो सकता। वे इस अवांछित आचरण को रेचक[1] समझते हैं, अर्थात् उसे अन्दर के बुरे विचारो के दूर करने का एक साधन मानते है। यदि इस आचरण पर रोक डाली जायगी तो व्यक्ति मे वह दुर्वृत्ति ज्वालामुखी पर्वत के सदृश् कभी अवश्य ही फूट पडेगी। पर यह सिद्धान्त ठीक नही प्रतीत होता। हमारा अनुभव है कि किसी कार्य के करने से उसका सस्कार दृढ ही हो जाता है। उसकी छाप हमारे स्वभाव पर पड जाती है और वह हमारी आदतो का एक अग हो जाता है। एक बार पाप करने मे मन शुद्ध नही होता, वरन् उस पाप की ओर पुन झुकने की प्रवृत्ति आ जाती है। अत उपर्युक्त सिद्धान्त की उपयोगिता सदिग्ध है।

(२) मूलप्रवृत्तियो का अस्थायीपन का सिद्धान्त[2]—

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक जेम्स महोदय कहे जाते हैं। इसके अनुसार किसी मूल-प्रवृत्ति के विकास के लिये एक निश्चित समय होता है। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अत यहाँ शिक्षा से सम्बन्ध पर ही प्रकाश डाला जायगा। जेम्स के अनुसार शिक्षक को प्रत्येक मूलप्रवृत्ति की विकासावस्था को भली-भाँति समझना चाहिये और तदनुसार शिक्षा के उपकरण का आयोजन करना चाहिये। जेम्स का कहना है कि यदि यह समय खो दिया गया तो अवसर फिर हाथ न लगेगा और वह मूलप्रवृत्ति नष्ट हो जायगी और उससे सम्भावित लाभ से व्यक्ति वचित हो जायगा। उदाहरणार्थ, जिज्ञासा-प्रवृत्ति बाल्यकाल मे विशेष जागृत होती है। यदि इस प्रवृत्ति से लाभ उठाना हो तो उचित वातावरण के उपस्थित करने से इस प्रवृत्ति की वृद्धि कर सभ्यता की अद्भुत वस्तुओ के लिए रुचि उत्पन्न करनी चाहिये, अन्यथा समय निकल जाने पर प्रवृत्ति का लोप हो जायगा।

ऊपर हम सकेत कर चुके हैं कि जेम्स का सिद्धान्त अब मान्य नही। यह कहना कि एक निश्चत काल के बाद मूलप्रवृत्तियाँ लुप्त हो जाती हैं ठीक नहीं। बहुत दिनो तक पिजडो मे बन्द चिडियो की उडन की प्रवृत्ति मुक्त होने पर तुरन्त जागृत हो जाती है। हमारी युयुत्सा की प्रवृत्ति प्रौढावस्था तक जीवित रहती है। परीक्षण से सिद्ध हुआ है कि काम-प्रवृत्ति वृद्धावस्था तक भी जीवित रहती है। इस प्रकार जेम्स की धारणा सिद्धान्तत सत्य नही प्रतीत होती। पर जैसा ऊपर कहा गया है, इतना तो ठीक ही

1. Cathartic. 2. The Transitoriness of Instincts.

है कि प्रत्येक मूलप्रवृत्ति की अधिकतम क्रियाशीलता के लिये एक निश्चित काल होता है। अत उस काल मे उस पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

(३) पुनरावृत्ति का सिद्धान्त[1]—

जीव-विकास के सिद्धान्त को समझाने के लिये प्राणि-विज्ञान वेत्ताओ[2] ने पुनरावृत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनका कहना है कि मानव प्राणी अपनी वर्त्तमान अवस्था पर यकायक नही पहुंच गया है, अपितु सभी प्रधान जीवो की अवस्थाओ से होकर वह वर्तमान रूप को प्राप्त कर सका है। अतएव गर्भ मे भी इसे सभी अवस्थाओ को पार करना होता है। उसकी अन्तिम अवस्था मानव की होती है। विभिन्न भ्रूणो की परीक्षा से यह बात अधिकाश विद्वानो को मान्य है। जन्म हो जाने के उपरान्त मानव सभ्यता के विकास की जितनी अवस्थाएँ हैं उन सब की उसे पुनरावृत्ति करनी पडती है। पुनरावृत्तिवादियो का कथन है कि शिशु तथा बालक की क्रियाओ के सूक्ष्मतम अध्ययन से इन सब बातो की पुष्टि होती है। सर्वप्रथम बालक जगली मनुष्य की अवस्था पर, तब अर्धसभ्य और अन्त मे पूर्ण सभ्य अवस्था पर पहुँचता है। प्रत्येक काल मे एक विशिष्ट अवस्था की वृत्तियाँ उसमे प्रबल रहती हैं। अतएव उस काल मे उस अवस्था विशेष से सम्बन्धित बातो को बालक बडी सरलता से सीख सकता है। व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियो के विकास की विभिन्न अवस्थाओ को देखने से विदित होता है कि वे मानव सभ्यता की विभिन्न अवस्थाओ की पुनरावृत्ति कर रही हैं। ऐसी प्राणि-विज्ञान वेत्ताओ की धारणा है।

उपर्युक्त धारणा के आधार पर हरबर्ट स्पेन्सर तथा उसके अनुयायी जिलर ने 'सस्कृति-युग-सिद्धान्त'[3] का प्रतिपादन किया। मूलप्रवृत्तियो के विकास के अनुसार शिक्षा को चलाने का तात्पर्य यह है कि "जिस क्रम और जिस रीति से मानव जाति ने शिक्षा पाई है उसी क्रम और रीति से बच्चो की शिक्षा होनी चाहिये।" इस सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक भित्ति गलत नही जान पडती। प्रारम्भ मे मनुष्यो ने वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण प्राप्त किये। उन्होने पहले उनका वर्णन नही पढा, वरन् उनके रूप, रग व गुण का ज्ञान प्राप्त किया। पहले वर्णन पढा देना स्वाभाविक नही। अत बालको की भी शिक्षा पहले वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा ही होनी चाहिये। इस विचार के अनुसार फ्रोबेल और मॉन्तेसरी की शिक्षा-प्रणाली बडी मनोवैज्ञानिक है। यहाँ तक हमारा पुनरावृत्तिवादियो अथवा "सस्कृति-युग-सिद्धान्त" वालो से विरोध नही। पर इन सिद्धान्तो के प्रतिपादक यही तक न रुक कर और आगे बढते हैं। वे विषय और विधि का चुनाव मानव सभ्यता के विकास तथा बालको के विकास के अवस्थानुसार करते हुए अपनी गति को बालक के एक ही अग तक सीमित कर देते है। सम्पूर्ण

---

1 The Recapitulation Theory. 2 Biologists. 3. The Culture-epoch Theory.

जीवन के प्रति वे उदासीन से दिखलाई पडते हैं। पर हमें पाठ्य-वस्तु के चुनाव में बालक के वर्तमान समाज पर भी ध्यान देना है। आज का समाज सभ्यता के प्रारम्भ काल से सर्वथा भिन्न है। इसके अतिरिक्त सभ्यता का विकास बडे टेढे ढङ्ग से होता रहा है। अत इसका अनुसरण करना युक्तिसगत न होगा। पुनरावृत्तिवाद में कुछ सत्यता अवश्य है। पर बालक की शिक्षा पूर्णत उसी पर आधारित करना ठीक न होगा।

मानव व्यवहार के विकास मे मूलप्रवृत्तियो का विशेष हाथ है। अत. शिक्षा से उनका घनिष्ट सम्बन्ध है। चरित्र का विकास मूलप्रवृत्तियो से ही होता है। अध्यापक का सम्बन्ध बालक के चरित्र-विकास से है। इस प्रकार उसे पग-पग पर मूलप्रवृत्तियो का सामना करना पडेगा। मूलप्रवृत्तियो की क्रियाओ से शिक्षक को यह अनुमान हो जाता है कि बालक किस धातु का बना है। बालक का व्यवहार मूलप्रवृत्यात्मक होने के कारण विनैतिक[1] होता है। उसके सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि बालक नैतिकता से बहुत दूर होता है। नैतिकता का विकास उसमे धीरे-धीरे होता है। हमे पानी पीते देख कर बालक स्वय पानी पीने के लिये उकता जाता है और ऊधम मचा-कर रख देता है। इस पर हमारा यह समझना कि बालक बडा ही स्वार्थी और मूर्ख है एकदम गलत है। वास्तव में बालक तो नैतिक वा अनैतिक नही होता। अत शैशव मे उसे नैतिकता का पाठ पढाना व्यर्थ है। ऐसा करना भैंस के सामने बीण बजाने के समान होगा।

शिक्षा की नवीन प्रणालियो मे मूलप्रवृत्तियो पर बडा ध्यान दिया गया है। यह किण्डरगार्टेन, मॉन्तेसरी तथा डिवी आदि द्वारा प्रवर्त्तित प्रणालियो मे स्पष्ट है। बालको मे जिज्ञासा की प्रवृत्ति बडी प्रबल होती है। अपने बडो के साथ कही जाने मे वह अपने प्रश्नो द्वारा उन्हे तग कर डालता है। "वह क्या है ? वह क्या है ?" की राडी उसकी टूटती ही नहीं। ऐसे अवसरो पर बडो का व्यवहार बडी नम्रता तथा सहानुभूति का होना चाहिये। बच्चे को डाट कर चुप कर देना मानो हरे-हरे उगते कोपलो का नाश कर देना है। ऐसी अमनोवैज्ञानिक घुडकी से उसे बडा धक्का लगता है और उसमे विभिन्न भावना-ग्रन्थियो के पडने की सम्भावना हो जाती है। यदि बच्चा कोई वस्तु पाता है तो उसे बिगडाना अथवा नष्ट करना उसका स्वभाव सा है। हम उसे 'नष्ट करना' कह सकते है, पर वस्तुत नष्ट करने मे बालक की विधायकता प्रवृत्ति का ही सकेत होता है। उसे मना करना बडा अमनोवैज्ञानिक होगा। बालक के कुछ कार्य हमे व्यर्थ से लग सकते है। पर वे उसके लिये व्यर्थ नहीं, वरन् बडे महत्व के होते हैं। अनाप-शनाप कार्यो तथा हाथ व पैर आदि के सचालन मे बालक

---

3. Non moral

अपनी इन्द्रियो पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त करने की चेष्टा करता है। अत कुछ सीमा तक बालक के इन कार्यो मे बाधा नही डालनी चाहिये। यदि किसी घर मे एक ही बालक हुआ तो निश्चय ही बालक की दशा दयनीय हो जाती है। साथ खेलने के लिये किसी साथी के अभाव मे वह अपनी माँ को ही बहुधा तग किया करता है। यदि माँ अमनोवैज्ञानिक हुई तो वह सदा बालक को झिडका करेगी और अपने भाग्य को कोसा करेगी। बालक नहीं समझ पाता कि उसे क्या करना चाहिये। वास्तव मे हमारे अमनोवैज्ञानिक व्यवहार के कारण बालक ससार के सबसे दु खी प्राणियो मे से एक है।[1]

बालक के खेल मे किसी प्रकार का विघ्न डालना बडा ही हानिकर है। खेलने मे लीन बालक बडा ही महान् होता है। वह उस समय स्वभावत अपनी शक्तियो का सन्तुलन करता हुआ सभ्यता के भावी सघर्ष के लिये अपने को तैयार करता है। बहुधा बडे भाई, बहिन, माता-पिता तथा अन्य अभिभावकजन इस बात की अवहेलना करते हैं। खेलते हुए बालक को पुकार कर उसे अपने आलस्य का वे शिकार बनाते हैं।

माता-पिता के सदृश् शिक्षक के भी अमनोवैज्ञानिक हो जाने का बडा डर है। उसे भी उपर्युक्त बातो पर बडा ध्यान देना होगा। शिक्षक का प्रधान कर्त्तव्य मूल-प्रवृत्तियो को एक नया रूप दे देने मे है। यदि यह रूप उचित हो सका तो यह उसकी सबसे बडी सफलता होगी। शिक्षक को बालक की प्रत्येक गति का सूक्ष्मतम अध्ययन करना चाहिये। उसकी प्रत्येक गति का अर्थ समझने के लिये उसमे क्षमता होनी चाहिये। उसे यह समझना चाहिये कि अमुक विषय के पढाने मे बालक की किस शक्ति को छेडना उचित होगा। जब तक मूलप्रवृत्तियो का पूर्णत शोधन नहीं हो जाता तब तक मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार मे अनेक प्रकार की विलक्षणताएँ देखने मे आती है। यह ध्यान देने की बात है कि व्यक्ति के आचरण मे केवल मूलप्रवृत्तियो की ही प्रेरणा नही रहती, अपितु उसमे उसकी अर्जित रुचियो का प्रभाव भी निहित रहता हैं। किसी आचरण मे कई मूलप्रवृत्तियो के प्रभाव का समावेश हो सकता है। इन मूल-प्रवृत्तियो का एक सुसगठन हो जाता है जो कि एक साथ ही व्यक्ति को अभिप्रेरित करता रहता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह इस सगठन को समझकर मूलप्रवृत्तियो को इस प्रकार शोधित करे कि व्यक्ति के मस्तिष्क का अनुरूप विकास हो सके। किसी मूलप्रवृत्ति के शोधन का रूप बालक के स्वभाव द्वारा निश्चित किया जा सकता है। प्रत्येक की विधि समान नही हो सकती। इस सम्बन्ध में किसी एक विधि का निर्धारण सम्भव नही। किसी मूलप्रवृत्ति-सम्बन्धी सवेग को उत्पन्न करने के लिये यह सदा आव-

१. लेखक द्वारा रचित 'बाल मनोविज्ञान' का प्राक्कथन पढ़िये, रामनारायणलाल इलाहाबाद, १९५०।

श्यक नही कि उसके लिये एक विशिष्ट उत्तेजना का आयोजन किया जाय। केवल मन मे उस सम्बन्ध की भावना उत्पन्न कर देने से कभी-कभी मूलप्रवृत्त्यात्मक संवेग का आभास मिल सकता है। उदाहरणार्थ, आत्माभिमान का भाव उत्पन्न करने के लिये दण्ड अथवा तत्सम्बन्धी कुछ बातो का स्मरण करा देना ही पर्याप्त हो सकता है।

बिना मूलप्रवृत्तियो के ज्ञान के शिक्षक कक्षा मे अपने विषय को बालकों के लिये रुचिकर नही बना सकता। मूलप्रवृत्तियो के ज्ञान से शिक्षक मे बाल मन के समझने की क्षमता आ जायगी। इस क्षमता के ही कारण शिक्षक समझ सकेगा कि कब कौन सा विषय किस विधि मे पढाना चाहिये। अतः शिक्षक को मूलप्रवृत्तियो के उदय-काल से परिचित होना चाहिये। उसे यह भली-भाँति जानना चाहिये कि किस समय कौन सी प्रवृत्ति प्रधानत. विकसित रहती है। मूलप्रवृत्तियो के कारण व्यक्ति मे कुछ आदतें स्थिर होती है। यदि इनका नियन्त्रण मनोवैज्ञानिक न हुआ तो अच्छी आदते न पड सकेंगी। उदाहरणार्थ, अवसर के अनुसार युयुत्सा-प्रवृत्ति से अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की आदतें पड सकती हैं। निर्बल के साथ लडना उचित नही, पर मान रक्षा के लिये लडने की आदत अच्छी हो सकती है। यह शिक्षक तथा अभिभावको पर निर्भर हैं कि वे अच्छी अथवा बुरी आदते बालको में डालते हैं।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

मूल प्रवृत्तियो के रूप के विषय मे बहुत मतभेद, 'अभिप्रेरक', स्वाभाविक।

१—मूलप्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक रूप अथवा विशेषतायें

मस्तिष्क प्रारम्भ मे ही एक निश्चित पथ की ओर, जन्म लेते ही बालक की गतियाँ प्रयोजन मे पूर्ण, मस्तिष्क कुछ अंशो मे स्वभावत सुसङ्गठित, सारी जाति की सभ्यता के निचोड का एक छोटा प्रति रूप, मूलप्रवृत्तियो से छुटकारा पाना मनुष्य के लिये असम्भव, जान या अनजान मे वह इनका अभियुक्त, इन पर नियन्त्रण, शिक्षा का उद्देश्य, जन्मजात।

जन्म लेते ही सारी प्रवृत्तियाँ गतिशील नही, प्रत्येक का एक निश्चित उदयकाल, उनकी प्रेरणा से हम एक पदार्थ विशेष की ओर आकर्षित, सवेग विशेष की अनुभूति और एक विशिष्ट कार्य की ओर प्रवृत्ति।

मूलप्रवृत्ति द्वारा सचालित कार्य मे वैयक्तिक भेद नही, जाति-विशेष सामान्य रूप से।

मूलप्रवृत्तियाँ आदतो की समकक्षी नही।

आदतो का लोप होना सम्भव, पर मूलप्रवृत्तियो का नहीं, शिक्षा मे मूलप्रवृत्तियों का शोधन सम्भव।

सप्रयोजनता, उद्देश्य प्राप्ति तक इसकी क्रिया का चलना।

इसकी क्रिया मे ज्ञानात्मक, सवेगात्मक और क्रियात्मक अग; सवेग की जागृति के लिये एक विशेष कुञ्जी की आवश्यकता, सवेग से ही मूलप्रवृत्ति सचालित।

अनुभव से लाभ उठाना।

पशु और मनुष्य में भेद—

उपर्युक्त विशेषताये सभी चेतन प्राणियो की मूलप्रवृत्ति मं, पशुओ मे परिवर्तन बडी कठिनाई से, मूलप्रवृत्तियो की प्रकाशन-पद्धति मे अन्तर, मनुष्य अधिक परिवर्तनशील।

विकास-क्रम मे भी भारी भेद, मनुष्य की मूलप्रवृत्तियो के विकास मे अधिक विलम्ब, मानव बालक अधिक दिन तक असहाय, इस असहायता के कारण ही उसकी शिक्षा सम्भव।

मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया मे बुद्धि और चेतना का एकदम अभाव नही।

मूलप्रवृत्ति का मूल रूप—

२—मूलप्रवृत्ति और सहज-क्रिया मे अन्तर

कुछ अशो में दोनो समान ही, दोनो प्रकृतिदत्त, प्राणरक्षार्थ सहायक, व्यवहारवादियो के लिये दोनो मे कोई भेद नही; सहज-क्रियाये—वातावरण सम्पर्क से स्वत. गतिशील, इनके सचालन पर मस्तिष्क का नियन्त्रण नही—एकदम यान्त्रिक, मूलप्रवृत्तियों के सदृश् इनके विकास मे विलम्ब नही।

३—मूलप्रवृत्ति की परिभाषा

ज्ञानात्मक, सवेगात्मक और क्रियात्मक अङ्गो का समावेश।

४—मूलप्रवृत्तियो का वर्गीकरण

प्राणी का आकर्षण आत्म और जातिरक्षा से सम्बन्धित उद्देश्यो की ओर, अत यही दो मूलप्रवृत्तियाँ प्रधान, कर्कपैट्रिक, ड्रेवर, थार्नडाइक तथा उडवर्थ के अनुसार वर्गीकरण।

कुछ के अनुसार आत्मरक्षा, सन्तानोत्पत्ति और सामूहिक जीवन प्रधान, मनोविश्लेषणवाद के अनुसार काम-प्रवृत्ति प्रधान, हमारी प्रेरणा शक्ति की तीन शाखायें, सामूहिक जीवन प्रवृत्ति का उपयोग इन दो की सेवा मे, 'प्रेरणा-शक्ति' रूपी वृक्ष की मूल-प्रवृत्तियाँ शाखाये।

मैग्डूगल के अनुसार चौदह मूलप्रवृतियाँ—यह वर्गीकरण सबसे अधिक वैज्ञानिक।

५—सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ

ये भी मूलप्रवृत्तियो के सदृश् गुण, सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति मे सवेग की आवश्यकता नही, इनके मूल मे कई मूलप्रवृत्तियाँ।

सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियो और मूलप्रवृत्तियों में भेद—

सामान्य प्रवृत्तियो का सामाजिक महत्व बडा भारी, दोनों वंशपरम्परानुसार, मानसिक रचना के अग, मूलप्रवृत्ति के साथ एक निश्चित सवेग, सामान्य प्रवृत्ति के लिये यह आवश्यक नही, मैग्डूगल की परिभाषा से ड्रेवर और रीवर सहमत नही।

६—मैग्डूगल के मत से मनोविश्लेषणवादी सहमत नहीं—मूलप्रवृत्तियों मे एकत्व की झलक

सभ्यता के आदिकाल मे सभी मूलप्रवृत्तियो का विकास नही, सभ्यता के समानान्तर इनका क्रमश विकास, इनके रूप मे भी उत्तरोत्तर विकास, प्रत्येक की विलक्षणता के कारण एक का दूसरे मे समावेश नही, इनका गुणनफल मानव जीवन, इन्ही के विकास मे सभ्यता का विकास निहित।

फ्रॉयड के अनुसार काम-शक्ति ही सब शक्तियो का उद्गम स्थान युङ्ग, शौपेनहावर तथा वर्गसन के अनुसार विभिन्न शक्तियाँ एक ही शक्ति की शाखाएँ, प्रत्येक प्राणी मे एकत्व की झलक, मूलप्रवृत्तियाँ एकदम पृथक नही, एक के प्रबल होने से दूसरी निर्बल।

७—क्या मनुष्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत कर सकता है ?

पशु मूलप्रवृत्तियो का जीव, मनुष्य का शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य प्राकृतिकता पर निर्भर, मनोविश्लेषणवादियो के अनुसार मूलप्रवृत्तियो पर प्रतिबन्ध लगाना हानिकर, इस सिद्धान्त की आड मे प्रगतिवादियो की अनीति, मनुष्य का प्राकृतिक जीवन बिताना वाछनीय नही, मूलप्रवृत्तियो की प्रकाशन-पद्धति पर नियन्त्रण आवश्यक।

मानव जीवन पशुओ के सदृश् प्राकृतिक नही, पशु की मूलप्रवृत्तियो मे अनिश्चितता नही, वे परिवर्त्तनशील कम, मनुष्य पर वातावरण का प्रभाव, नियन्त्रण रखना उसका स्वभाव, मनुष्य को उनसे ऊपर उठना आवश्यक।

८—मूलप्रवृत्तियों मे परिवर्त्तन

(१) अवदमन—

थॉर्नडाइक के अनुसार मूलप्रवृत्तियो का प्रोत्साहन, उनका चेतना से निष्कासन, अथवा रूपान्तर सम्भव, उन्हे नष्ट करना असम्भव, मनोविश्लेषणवाद द्वारा शोधन का महत्व स्पष्ट, मूलप्रवृत्तियो का अवदमन जलप्रवाह के रोकने के समान जल के सदृश् व्यक्ति का नियन्त्रण तोड स्वाभाविक व्यवहार मे आ जाना, हठात् नियन्त्रण मे कुछ लाभ नही।

मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया मे बाधा से अनुकूल विकास नही, इस बाधा से व्यक्ति का चोरी-चोरी अपनी गुप्त इच्छाओ की पूर्ति करना, व्यक्ति का नैतिक पतन।

बहुत कडे नियन्त्रण से परिणाम घातक, जीवन का लोच खो देना, मानसिक ग्रन्थियाँ, बाल्यकाल मे मूलप्रवृत्तियो का अवदमन बडा सरल।

पर बागडोर ढीली नही, कुछ प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक सुधार अत्यावश्यक, स्वत. सुधार ही वाछित, अवदमन से भावना-ग्रन्थियाँ तथा आचरण दोषपूर्ण, आत्म नियन्त्रण आवश्यक।

विलयन—

निरोध व विरोध, प्रकाशन के लिये अवसर न होने से शक्तियाँ निर्बल।

दो पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियों को साथ ही जागृत करना, विरोध निरोध से अच्छा, पर विलयन परिवर्तन का अच्छा उपाय नही।

मार्गान्तरीकरण—

मार्गान्तरीकरण से प्रकाशन-पद्धति मे परिवर्त्तन, व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो हित सम्भव।

शोधन—

शोधन से स्वरूप और प्रकाशन-पद्धति दोनो मे परिवर्तन, वृत्ति की असस्कृतता का दूर होना, शोधन शिक्षा का प्रधान कर्त्तव्य, सभ्यता शोधन का परिणाम, यह मनुष्य में ही सम्भव, शोधन से विभिन्न मूलप्रवृत्तियो का आदर्श सामाजिक व्यवहार की ओर झुकाना।

शोधन की सीमा—

पूर्ण शोधन सम्भव नही, शोधन-सीमा का अतिक्रमण करना हानिकर, प्रत्येक मूलप्रवृत्ति मे दो शक्तियाँ—एक का शोधन सम्भव और दूसरे का नही, मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो से सर्वथा मुक्त नही, सामाजिक बन्धन के ढीले होने पर उनका सहज प्रकाशन।

१—मूलप्रवृत्तियाँ और शिक्षा

(१) मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाशीलता का सिद्धान्त—

बालको की शिक्षा मूलप्रवृत्तियो पर आधारित हो, मूलप्रवृत्तियो पर विजय पाना आवश्यक, उनकी क्रियाओ मे किसी प्रकार की अमनोवैज्ञानिक बाधा नही—पर उनके सुधार मे भी सदा सचेष्ट रहना विकास के हित मे नितान्त आवश्यक।

मूलप्रवृत्तियो की बागडोर ढीली कर देना लाभप्रद नही, मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाशीलता के सिद्धान्त की उपयोगिता सदिग्ध।

(२) मूलप्रवृत्तियों का अस्थायीपन का सिद्धान्त—

शिक्षा के लिये मूलप्रवृत्ति के विकास-काल का समझना आवश्यक, जेम्स के अनुसार उपयुक्त समय के चले जाने पर व्यक्ति लाभ से वचित।

मूलप्रवृत्तियाँ लुप्त नही होती, पर प्रत्येक मूलप्रवृत्ति की अधिकतम क्रियाशीलता के लिये एक निश्चित काल।

(३) पुनरावृत्ति का सिद्धान्त—

प्राणी-विज्ञान-वेत्ताओ के अनुसार मानव-प्राणी को विकास की सभी अवस्थाएँ पार करना, बालक की शिक्षा जाति-विकास की प्रत्येक अवस्थानुसार, पर पाठ्यवस्तु का चुनाव वर्तमान समाज के ही अनुसार, सभ्यता के विकास का अनुसरण करना युक्तिसगत नही।

मूलप्रवृत्तियो का शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध, बालक का विनैतिक होना, बालक के सभी कार्य मूलप्रवृत्त्यात्मक, उसके साथ सहानुभूति का व्यवहार आवश्यक, जिज्ञासा और विधायकता प्रवृत्ति का अवदमन घातक, अमनोवैज्ञानिक व्यवहार के कारण बालक ससार का सब मे दु खी प्राणी।

खेल मे विघ्न नही, खेल मे बालक का अपने को भावी सघर्ष के लिये तैयार करना।

मूलप्रवृत्तियो को नया रूप देना शिक्षक का कर्त्तव्य, किसी आचरण में कई मूल-प्रवृत्तियो का प्रभाव, शिक्षक को इसे समझना आवश्यक, मूलप्रवृत्तियो के शोधन की विधि एक ही नही।

मूलप्रवृत्तियो के स्वरूप के समझने से बाल मन का ज्ञान सम्भव, अच्छी अथवा बुरी आदते डालना शिक्षक और अभिभावको पर निर्भर।

सहायक पुस्तकें

१—स्टर्ट एण्ड ओकडेन—मॉडर्न सॉइकॉलॉजी एण्ड एडूकेशन, अध्याय १, २।
२—जेम्स—प्रिन्सीपुल्स आव सॉइकॉलॉजी, अध्याय २४, २५।
३—लॉयड मॉर्गन—इन्स्टिक्ट ऐण्ड ऐक्सपीरियन्स।
४—ड्रेवर—इन्स्टिक्ट ऐण्ड मैन।
५— ,, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द सॉइकॉलॉजी ऑव एडूकेशन, अध्याय ४।
६—नन—एडूकेशन : इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय ११।
७—मैग्डूगल—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु सोसल सॉइकॉलॉजी, अध्याय २।
८— ,, ऐन आउटलाइन ऑव सॉइकॉलॉजी, अध्याय ४, ११।
९—थॉर्नडाइक—एडूकेशनल सॉइकॉलॉजी, भाग १।
१०—थॉमसन, जी० एच०—इन्स्टिक्ट, इन्टेलीजेन्स ऐण्ड कैरेक्टर, अध्याय ३, १६।
११—कॉलेज आउट लाइन सीरीज—ऐन आउटलाइन ऑव ऐडूकेशनल सॉइकॉलॉजी—वर्नेस ऐण्ड नोबुल-इन्क, न्यूयॉर्क, अध्याय, ४।

१२- लालजीराम शुक्ल—सरल मनोविज्ञान, अध्याय ५ ।
१३— ,, नवीन मनोविज्ञान—अध्याय, ४ ।
१४—स्टाउट—ए मैनुअल ऑव सॉइकॉलॉजी, मूलप्रवृत्तियो पर के अध्याय ।
१५—बैगले—एडूकेटिव प्रॉसेस ।
१६—रॉस—ग्राउण्ड वर्क ऑव एडूकेशनल सॉइकॉलॉजी—अध्याय ४ ।
१७—स्कीनर, गास्ट ऐण्ड स्कीनर—रीडिङ्गज इन एडूकेशनल सॉइकॉलॉजी ।
१८—वॉरिङ्ग, लैगफेल्ड ऐण्ड वेल्ड—फाउन्डेशन्स ऑव सॉइकॉलॉजी ।
१९—कोलमैन, आर० ग्रीफिथ—प्रिंसीपुल्स ऑव सिस्टेमैटिक सॉइकॉलॉजी ।

७

कुछ मूलप्रवृत्तियाँ[1]

गत अध्याय में हमने 'मूलप्रवृत्तियो के स्वरूप और शिक्षा' पर विचार किया। इस अध्याय मे कुछ मूलप्रवृत्तियो का अलग-अलग उल्लेख करते हुए शिक्षा मे उनके महत्व पर कुछ विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जायगा। हम देख चुके है कि किसी प्रवृत्त्यात्मक क्रिया के ज्ञानात्मक[2], सवेगात्मक[3] तथा क्रियात्मक[4] नामक तीन अग होते है। नीचे हम कुछ मूलप्रवृत्तियो के तीनो अगो पर प्रकाश डालेंगे।

१—पलायन[5]—

किसी भयानक परिस्थिति मे बच कर भाग निकलने को पलायन कहते है। अपने प्राण का मोह प्रत्येक जीव को होता है। अत उसके रक्षार्थ भाग जाने की हरएक मे चेतना के आरम्भ से ही एक मूलप्रवृत्ति पाई जाती है। हम किसी सर्प, शेर अथवा भेडिया को देख भाग खडे होते है। वन में चरते हुए हिरण शेर की गन्ध अथवा आहट पाकर भाग जाते है। यह सब पलायन मूलप्रवृत्ति से होता है। इस मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया का ज्ञानात्मक अङ्ग अचानक बहुत तीव्र ध्वनि का होना है। इसके अतिरिक्त किसी पदार्थ की आकस्मिक गति, अपनी कोटि के किसी सदस्य से विपत्ति की ध्वनि, शारीरिक कष्ट अथवा किसी रहस्यपूर्ण वस्तु के देखने पर भी पलायन प्रवृत्ति का जागरण हो जाता है। इस प्रवृत्ति का सवेग 'भय' है। वस्तु के देखने अथवा सुनने से भय सवेग उत्पन्न होता है। भय सवेग के उत्पन्न होने से पलायन की प्रवृत्त्यात्मक क्रिया होती है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि पलायन प्रवृत्ति केवल किसी वस्तु के देखने से ही क्रियाशील नही होती, अपितु भयावह परिस्थिति का अनुमान तथा वर्णन सुनने से भी भय सवेग का उत्पन्न होना सम्भव हो सकता है। माता-पिता तथा अभिभावकजन बच्चे मे किसी बात से भय उत्पन्न करने के लिये काल्पनिक बातो को कहा करते हैं। 'अरे! गोगो आया!' इतना ही कह देना बालक में भय उत्पन्न कर देने के लिये पर्याप्त हो सकता है। बालक 'गोगो' को नही देख रहा है पर भय उत्पन्न हो ही गया। ऐसे ही हम बिजली की कडक

---

1 Some Instincts. 2. Cognitive. 3. Affective. 4. Conative. 5. Escape.

सुन कर डर जाते है और सुरक्षित स्थान मे भागने की इच्छा करते हैं। शारीरिक कष्ट अथवा किसी रहस्यमयी वस्तु इत्यादि के अनुमान से भी भय उत्पन्न हो जाता है।

पलायन मूलप्रवृत्ति का हम शिक्षा में कैसे उपयोग कर सकते हैं? यदि इस पर समुचित ध्यान न दिया जाय तो बालक एकदम दब्बू और भोंदू हो जायगा। फलतः इस प्रवृत्ति का मिश्रण दैन्य मूलप्रवृत्ति से हो जायगा। बालक अपने को छोटा समझेगा। उसके आत्मगौरव की भावना यहाँ तक मारी जायगी कि कभी आत्म-प्रशसा को सुन कर आश्चर्यचकित हो जायगा। वह सोचेगा 'क्या मुझमे भी ऐसी शक्ति और गुणहैं;' इस प्रवृत्ति का शोधन हम व्यक्ति मे पाप तथा अत्याचार से भागने की प्रवृत्ति उत्पन्न करने से कर सकते हैं। किसी पाठ्य विषय को याद कराने के लिये इस प्रवृत्ति का उपयोग ठीक नही। दण्ड का भय देकर बालक से कोई कार्य कराना बडा अमनोवज्ञानिक है। इससे बालक मे बडी-बडी भावना-ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो सकती है। इनके उत्पन्न होने से चरित्र में सदा के लिये एक दोष आ सकता है, क्योकि इनसे मुक्ति पाना सरल नही।

२—युयुत्सा[1]

लडने की प्रवृत्ति को युयुत्सा कहते है। आठ या नौ वर्ष के बाद इस प्रवृत्ति का विकास बालक मे भली-भाँति देखा जाता है। यह मूलप्रवृत्ति प्रत्येक चेतन प्राणी मे पाई जाती है। अपने बच्चे को किसी प्रकार हानि पहुंचते देख प्राणी मे इस प्रवृत्ति का क्रियाशील हो जाना बडा स्वाभाविक है। बहुत सीधी गाये अथवा भैसे अपने बच्चे की रक्षा हेतु मारने के लिये बडी शीघ्रता से झपटती हैं। पिल्ले के पास जाते ही कुतिया भाँव-भाँव करने लगती है। यदि अपने बच्चे को छूते किसी मनुष्य को बन्दर देख ले तो उसकी जान पर आ पडेगी। अन्य मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओ मे बाधा पड़ने से भी युयुत्सा की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। काम-तृप्ति, भोजनान्वेषण, सग्रह अथवा विधायकता आदि प्रवृत्ति मे क्रियाशील प्राणी बाधा पाने पर लडने के लिये स्वभावत. तैयार हो जाता है। युयुत्सा प्रवृत्ति बाधा को जीतने के लिये ही जागृत होती है। अर्थात् ये सब वाते युयुत्सा प्रवृत्त्यात्मक क्रिया के ज्ञानात्मक अङ्ग है। इस प्रवृत्ति से सम्बद्ध सवेग 'क्रोध' है। क्रोध के उत्पन्न होने से युयुत्सा प्रवृत्ति क्रियाशील हो सकती है।

दुष्परिणाम—

युयुत्सा की प्रवृत्ति विनाशक मानी जाती है। यदि इस पर ठीक से नियन्त्रण न किया जाय तो व्यक्ति अपना नाश करते हुए समाज के लिये भी घातक सिद्ध हो सकता है। कुछ घरो मे बडे ऊधमी बालक पाये जाते हैं। उनके कारण माता-पिता के नाको दम रहता है। 'कही इसको मारा, कही उसको पटका'—उनका स्वभाव सा हो जाता है। बालक की ऐसी मनोवृत्ति अधिक लाड-प्यार से ही बनती है। यदि बालक

---

1. Combat.

की इस प्रवृत्ति पर रोक न लगाई गई तो सम्भव है कि वह अपने कुव्यवहार से सदा दूसरे को शत्रु ही बनाता रहे।

युयुत्सा प्रवृत्ति का शोधन व्यक्ति तथा समाज दोनो के लिये बडा ही हितकर सिद्ध होता है। यदि यह प्रवृत्ति अपने में ही केन्द्रित हो जाय तो चरित्र का विकास आदर्श रूप हो सकता है। इस प्रवृत्ति के मूल मे सगठन की भावना निहित हो सकती है। व्यक्ति अपने शत्रु पर विजय पाने के लिये अपने मित्रो का सगठन कर सकता है। सगठन से मनुष्य का अनुभव बढता है और उसमे विभिन्न शक्तियो का विकास होता है। स्पष्ट है कि इस प्रवृत्ति की कमी से व्यक्ति तथा समाज सदा शत्रुओ से त्रस्त किया जा सकता है। इस प्रवृत्ति के शोधन पर गत अध्याय मे प्रसगवश प्रकाश डाला जा चुका है। इस प्रवृत्ति के मनोवैज्ञानिक उपयोग के द्वारा शिक्षक वालको मे सफलता न मिलने तक निरन्तर परिश्रम करने की आदत उत्पन्न कर सकता है। जीवन मे अनेक ऐसी विषम परिस्थितियाँ आती है। जिनसे लडना मानवोचित होता है। अत शिक्षको और अभिभावको को वालक की इस प्रवत्ति का अवदमन नही करना चाहिये, अन्यथा वह निश्चय ही भीरु हो जायगा। हॉकी व फुटवॉल इत्यादि सामूहिक खेलो मे युयुत्सा प्रवृत्ति का उपयोग वडे शोधित ढङ्ग मे किया जा सकता है। इन खेलो द्वारा वालको मे आत्म-त्याग की भी भावना जागृत की जा सकती है। युयुत्सा प्रवत्ति के शोधित होने से व्यक्ति अपनी कुप्रवृत्तियो पर विजय पा समाज मे प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर सकता है। युयुत्सा मूलप्रवृत्ति का उपयोग अत्याचार के विरुद्ध सघर्ष करने मे किया जा सकता है। बुराई से निरन्तर युद्ध करने की भावना का मूल श्रोत परिशोधित युयुत्सा ही है। न्याय का मार्ग प्रशस्त करने, दुर्वलो की रक्षा करने तथा आततायियो का दमन करने की उत्तम भावनाएँ इसी प्रवृत्ति के शोधन मे निहित हैं। ससार मे समय-समय पर ऐसे महापुरुष उत्पन्न हुए हैं जिन्होने पीडित मानव का चीत्कार सुन अत्याचारियो से सघर्ष लिया है और अन्त मे वे पृथ्वी पर न्याय, धर्म तथा सत्य की स्थापना करने मे समर्थ हुए हैं। वास्तव मे यह युयुत्सा प्रवृत्ति के शोधन का ही परिणाम है, बिना शोधन की हुई युयुत्सा व्यक्ति के लिये विनाशकारी है और मानव से दुर्दान्त पशु बनाने के लिये पर्याप्त है, किन्तु शोधन होने पर यही युयुत्सा तेजस्विता मे परिवर्त्तित हो जाती है,—और मनुष्य स्वभावत अधर्म, असत्य, हिसा और अन्याय के विरुद्ध सघर्ष मे जुट जाता है।

३—निवृत्ति[1]—

निवृत्ति मूलप्रवृत्ति सबसे सरल मानी जाती है। इस प्रवृत्ति को क्रियाशील बनाने की कुञ्जी मुख मे किसी अरुचिकर पदार्थ का आ जाना होता है। अत इसका ज्ञानात्मक अग मुख मे अरुचिकर पदार्थ का होना है। इससे सम्बद्ध सवेग 'घृणा' है।

1. Repulsion

इसका क्रियात्मक अग पदार्थ को मुख मे से उगल देना है। यह प्रवृत्ति सभी प्राणियो मे जन्म से ही पाई जाती है। मैदान मे चरते हुए अथवा नाँद मे खाते हुए पशुओ के मुख मे कुछ अरुचिकर वस्तु चली जाती है तो वे जिह्वा से उसे तुरन्त बाहर निकाल देते हैं। बालक के विकास-क्रम मे इस प्रवृत्ति का स्थान बडा महत्वपूर्ण है। इस प्रवृत्ति का शोधन व्यक्ति तथा समाज के लिये बडा ही हितकर हो सकता है। बालक मे क्रूरता, असत्य तथा अन्य नीच कर्म के प्रति निवृत्ति उत्पन्न की जा सकती है। यदि शिक्षक मनोवैज्ञानिक ढग से ऐसा कर सका तो वास्तव मे उसका जीवन सफल है।

४—पुत्र-कामना[1]—

पुत्रकामना की प्रवृत्ति प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है। कुछ लोग तो इसे बुद्धि और नैतिकता की माँ तक कह जाते हैं। इस प्रवृत्ति का ज्ञानात्मक अग बच्चे का रूप, ध्वनि अथवा गन्ध पाना है, पर विशेषकर उसके कष्ट की ध्वनि इस प्रवृत्ति को विचलित कर देती है। इस प्रवृत्ति का सवेगात्मक अग 'वात्सल्य' अथवा 'स्नेह-रस' का उत्पन्न होना है। इसका क्रियात्मक अग बच्चे का लाड-प्यार करना, उसकी रक्षा करना अथवा उसे भोजन देना होता है। पुत्र-कामना प्रवृत्ति का विकास बहुधा प्रौढावस्था में ही होता है। सन्तानोत्पत्ति के बाद यह प्रवृत्ति चरम सीमा को पहुँच जाती है। लोगो का अनुमान है कि यदि व्यक्ति अविवाहित रह जाय तो यह प्रवृत्ति कुण्ठित रह जाती है। पर ऐसा समझना गलत है। इस प्रवृत्ति का प्रकाशन सन्तानोत्पत्ति के बाद ही नही होता, वरन् इसका प्रकाशन अनेक रूपो मे इसके पहले भी पाया जाता है। बच्चा अपने खिलौने को प्यार करते हुए पाया जाता है। वह उसको सुलाता है, दूध पिलाता है और कपडे पहनाता है। यह प्रवृत्ति बालिकाओ मे विशेषकर देखी जाती है। पर बालक भी इससे मुक्त नही देखा जाता। किसी असहाय अथवा दुखी को देख कर हम मे स्नेह अथवा सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। हम सहायता के लिये हाथ बढा देते हैं। हमारे ये सब कार्य पुत्र-कामना प्रवृत्ति के ही प्रकाशन हैं। वास्तव मे इस प्रवृत्ति का शोधन अविवाहित व्यक्तियो मे सरलता से देखा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह नही कि विवाहितो मे यह सम्भव ही नही। यदि व्यक्ति निर्मम और निरीह हुआ तो वह सब से स्नेह, करेगा, सब के दुख पर दो बूँद आँसू गिरा कर तन, मन, धन से उसकी सहायता के लिये तत्पर हो जायगा। 'उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्' पुत्र-कामना प्रवृत्ति का ही शोधित रूप है। महात्मा बुद्ध, ईसा, मुहम्मद तथा गाधी मे इस प्रवृत्ति का शोधित रूप अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ था।

पुत्र-कामना प्रवृत्ति की प्रबलता बहुधा स्त्रियो मे अधिक पाई जाती है, क्योकि

1. Parental Instinct.

बच्चो के पालन-पोषण का भार प्रायः उन्ही पर रहता है। किन्तु पुरुषो ने स्त्रियो के साहचर्य्य व अपनी सहानुभूति वृत्ति से इस प्रवृत्ति को अपने में भी ले लिया है। मनुष्यो मे पुत्र-कामना प्रवृत्ति का विकास कई रूपो मे हो गया है। "समानता के नियम"[1] के अनुसार प्रत्येक छोटी वस्तु सन्तान का स्मरण करा देती है। सन्तान को सुख पहुँचाने के लिये माँ छोटी-छोटी वस्तुओ का भी सग्रह करती हैं। उसके नष्ट होने से उसे बड़ी मानसिक वेदना होती है। 'सहचारिता के नियम'[2] के अनुसार सन्तान से निकट सम्बन्ध रखने वाली वस्तु मे भी ममता हो जाती है। सन्तान के निधन हो जाने पर उसकी साधारण मे साधारण वस्तु को देख कर भी माता-पिता बिलख-बिलख कर रोते देखे गये हैं। हमारा यह अनुभव है कि कभी-कभी हम भावुकतावश बच्चे द्वारा जूठी की हुई पत्तियो को फेंकने मे असमर्थ हो जाते हैं। उन पत्तों को बालक ने हाथी के सूँड के सदृश् अपने हाथो से अपने मुँह मे डाला है। उनमे उसका मुख-रस लगा है। उसे कैसे फेंका जाय !!! यह सब 'सहचारिता-नियम' के अनुसार वात्सल्य-रस का ही प्रकाशन है। अत्याचार तथा क्रूरता को देख कर हम विचलित हो जाते हैं। यह भी वात्सल्य-रस का ही फल है। पर कुछ मनोवैज्ञानिको की धारणा है कि यह वृत्ति सहानुभूति-शक्ति[3] से उत्पन्न होती है। मैग्डूगल इस धारणा का खण्डन करते हुए कहता है कि सहानुभूति के उत्पन्न होने से व्यक्ति दुखद परिस्थिति से स्वभावत दूर जाकर अपने हृदय को शान्ति देने का प्रयत्न करता है। पर वात्सल्य-रस मे सना हुआ व्यक्ति परिस्थिति मे जान नही बचाता, अपितु अपने को उसके साथ एकमय बना कर उसके दु ख-निवारण की चेष्टा करता है।

जीवो के विकास मे पुत्र-कामना की प्रवृत्ति का विशेष महत्व है। इस प्रवृत्ति के बिना छोटो तथा निर्बलो की रक्षा ही नही हो सकती। सभ्यता की सभी अच्छी बातो का मूल इस प्रवृत्ति मे निहित है। उसी प्रवृत्ति के आधार पर पेस्टालॉजी के सिद्धान्त के अनुसार हम "स्कूल को प्यार का घर बना सकते है"।[4]

५—शरणागति[5]—

यह मूलप्रवृत्ति भी सभी प्राणियो मे पाई जाती है। इसका विकास प्रायः युयुत्सा के साथ होता है। हमने देखा है कि अन्य मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाओ की असफलता पर 'शरणागति' जागृत होती है। इस प्रकार 'शरणागति' का ज्ञानात्मक अङ्ग युयुत्सा की असफलता है। 'कष्ट का होना' इसका सवेगात्मक अङ्ग है। सहायता के लिये चिल्लाना इसका क्रियात्मक भाग है। शरणागति का रूप भी 'पुत्र-कामना' के

1. Principle of Similarity. 2. Principle of Contiguity. 3. Power of sympathy. 4. लेखक द्वारा रचित 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास' प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६०-१६१ प्र० लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९४९। 5. Appeal.

सदृश् हम विभिन्न रूपो मे देखते है । किसी उच्च उद्देश्य की पूर्ति के लिये चन्दा इकट्ठा करना अथवा शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा के हेतु सेना मे प्रवेश के लिये प्रार्थना आदि 'शरणागति प्रवृत्ति' का ही प्रकाशन है । पानीपत के मैदान मे हारता हुआ बाबर इसी प्रवृत्ति के सहारे विजयी हुआ । इसी प्रवृत्ति के सहारे भारतीय काग्रेस के कर्णधारो ने स्वराज्य प्राप्त किया । 'शरणागति' प्रवत्ति के प्रकाशन की भी एक विशिष्ट पद्धति होती है । सब इसमे 'सफल नही हुआ करते' । मूर्ख गडरिये के लडके के सदृश् "भेडिया आया, भेडिया आया" चिल्लाने से इसकी प्रवृत्त्यात्मक क्रिया वाछित फल नही प्राप्त कर सकती । हाँ, हम मानते हैं कि 'पुकार' कर देने तक ही इस प्रवृत्ति की सीमा होती है । पर पुकार के उपयुक्त समय की समझ अन्य शक्तियो के सुसगठन पर ही आ सकती है । अत समय की अनुकूलता व उपयुक्तता एव पुकार की विशेष व अनूठी शैली ही इसकी सफलता की कुञ्जी है । शिक्षक को बालको को अच्छी प्रकार समझा देना है कि 'शरणागति' के प्रकाशन से दैन्य-भावना का सचार न होकर आत्माभिमान की अनुभूति होनी चाहिये । यह अनुभूति निस्वार्थता से ही प्राप्त हो सकती है, इसीलिये गीता मे निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है ।

६—काम-मूलप्रवृत्ति[1]—

काम-मूलप्रवृत्ति के विषय मे गत अध्याय मे भी कुछ उल्लेख किया जा चुका है । पर यहाँ हम इसका कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे । काम-प्रवृत्त्यात्मक क्रिया का ज्ञानात्मक अङ्ग किसी भिन्न लिङ्ग के सुन्दर व्यक्ति की उपस्थिति तथा उत्तेजना देने वाले कुछ अङ्गो का देखना है । भोजनान्वेषण के सदृश् यह प्रवृत्ति रुच्यात्मक है,[2] अर्थात् इसकी क्रियाशीलता शारीरिक अथवा मानसिक स्थिति पर निर्भर है । उदाहरणार्थ बीमारी, थकावट अथवा क्रोध की दशा मे यह प्रवृत्ति नही भी उत्तेजित हो सकती । तथापि प्राय ऐसा भी देखा गया है कि कुछ दुर्बल व्यक्तियो मे इसका वेग अधिक तीव्र, यद्यपि क्षणिक, होता है, क्योकि शारीरिक दुर्बलता के साथ-साथ उसमे मानसिक दुर्बलता भी आ जाती है और इस प्रकार उठे हुए काम-वेग को नियन्त्रित करने मे दुर्बल हृदय वाला व्यक्ति समर्थ नही हो पाता । दुर्बलता के कारण उसकी ज्ञानवाहिनी शिरायें इतनी क्षीण पड जाती है कि वह उनके उपर से अपना अधिकार खो बैठता है । 'इच्छा-शक्ति' के दुर्बल होने से भी मनुष्य काम-प्रवृत्ति का शिकार हो जाता है । इसका सवेगात्मक अङ्ग कामुकता है । मनोवैज्ञानिको ने काम-प्रवृत्ति को सभी प्रवृत्तियो से प्रबलतम बतलाया है । फ्रॉयड तो इसे मूलशक्ति मानता है । बहुधा लोग सोचते हैं कि इस प्रवृत्ति का विकास किशोरावस्था मे ही होता है । पर आधुनिक मनोविज्ञान ने इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है । इसके

---

1. Sex 2 Appetitive

अनुसार छोटे से छोटे शिशु में भी काम-प्रवृत्ति वर्तमान रहती है। केवल उसके प्रकाशन-विधि में ही भेद होता है। प्रौढ व्यक्ति इस प्रवृत्ति का प्रकाशन प्राय. अपने भिन्न लिङ्ग के व्यक्ति की ओर से उद्दीपन मिलने पर करता है। अपना सभी प्रकार से शृङ्गार कर वह उसको आकर्षित करता है। मनोविश्लेषणवादियो का कथन है कि बालक अपनी इस प्रवृत्ति का प्रकाशन स्तन पीने, अँगूठा चूसने तथा मल-त्याग, तथा माता व पिता के प्रति प्रेम के द्वारा करता है। इस प्रकार व्यक्ति मे जन्म से ही काम-प्रवृत्ति वर्तमान रहती है।

काम-प्रवृत्ति के विकास की चार अवस्थाएँ[1]—

मनोविश्लेषणवाद के अनुसार काम-प्रवृत्ति के विकास की चार अवस्थाएँ होती हैं। अरनेस्ट जोन्स के अनुसार ये अवस्थाएँ बालक के मनोविकास की है। पहली अवस्था शैशव की है। इसमे शिशु अपने आप से तथा अपने लिङ्ग-भेद के अनुसार माता अथवा पिता से प्रेम करता है। बहुधा देखा जाता है कि पुत्र का अनुराग माँ पर और पुत्री का अनुराग पिता पर होता है। पुत्र अपने तथा माता के बीच मे पिता का हस्तक्षेप पसन्द नही करता। उसके हृदय मे अपने पिता के प्रति एक प्रकार की अज्ञात प्रतिद्वन्दितापूर्ण ईर्ष्या हो जाती है। यह पुत्र का माँ के प्रति आकर्षण लिङ्ग-भेद के कारण होता है। बाल्यकाल मे इस प्रवृत्ति का रुख अपने वर्ग के साथियो की ओर हो जाता है। इस काल मे अभिभावकों को बडा सतर्क रहना है। उन्हे बालको पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिये, जिससे उनमे कोई बुरी आदत न पड जावे। पर इस बुरी आदत के डर से बालक को उसके साथियो के सग से वञ्चित कर देना अमनोवैज्ञानिक होगा। बालक का अपने वर्गीय साथियो के प्रति प्रेम एकदम स्वाभाविक है। अत. इसमे किसी प्रकार की रोक डालने से कुछ अच्छे गुणो का प्रादुर्भाव रुक जायगा। इसी समय बालक सहानुभूति, प्रेम, आज्ञा-पालन तथा दूसरो के ऊपर नियन्त्रण का गुण सीखता है। काम-प्रवृत्ति का वास्तविक रूप किशोरावस्था में दिखलाई पडता है। इस प्रवृत्ति की प्रबलता से व्यक्ति विभिन्न विधियो से अपनी चेष्टाओ का प्रदर्शन करता है। संवेग की दृष्टि से इस काल के महत्व पर हम तीसरे अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। यदि विभिन्न सवेगो पर समुचित नियन्त्रण न किया गया तो व्यक्ति पर भारी मानसिक क्षति की आशङ्का हो जाती है। नैतिक भावनाओ का विकास भी इसी काल मे परिपक्व होता है। अत यह काल सभी दृष्टि से महत्वपूर्ण है। काम-प्रवृत्ति के विकास का चौथा काल प्रौढावस्था का है। इस प्रवृत्ति के लिये यह काल स्वस्थकर है। इस समय व्यक्ति के अनियन्त्रित होने की कम सम्भावना रहती है। इस काल मे वह किसी भिन्न लिङ्ग के व्यक्ति को अपना प्यार देकर अपनी प्रवृत्ति की तृप्ति करता है।

---

1. Four stages in the development of sex-instinct.

काम-प्रवृत्ति के अवदमन के दुष्परिणाम[1]—

यह निर्विवाद है कि काम-वासना सर्वमुखी है। इतिहास इसका प्रमाण है। यूनान के इतिहास मे पुत्र और माता का तथा मिस्र मे भाई-बहिन के काम-वासना सम्बन्धी प्रेम का प्रमाण मिलता है। हिन्दुओ मे भो ब्रह्मा की अपनी पुत्री से सम्बन्धित कामान्धता प्रसिद्ध है। व्यभिचार तथा अप्राकृतिक ढङ्ग से काम-वासना तृप्ति के उदाहरण बहुधा सुनने और पढने को मिलते हैं। इससे काम-वासना की सर्वमुखता सिद्ध होती है। अतएव इसके अवदमन के लिये समाज ने विभिन्न आचार व व्यवहार सम्बन्धी नियमो का निर्माण किया है। पर यह सत्य है कि इस प्रवलतम प्रवृति का अवदमन असम्भव है। जो अपनी काम प्रवृत्ति का समाज की दृष्टि मे अवदमन करने मे सफल होता है वह साधु व महात्मा माना जाता है। पर हम इस प्रवृत्ति का कितना ही अवदमन क्यो न करे, इसका प्रकाशन हो ही जाता है। अश्लील व्यवहार व गालियाँ, कुस्वप्न, भूले तथा सांकेतिक चेष्टाएँ सब हमारी काम-प्रवृत्ति के अवदमन के परिणाम हैं।

अतः स्पष्ट है कि लाख चेष्टा करने पर भी काम-प्रवृत्ति किसी न किसी प्रकार अपना प्रकाशन कर ही लेती है। यदि इस प्रवृत्ति की तृप्ति मे किसी प्रकार की बाधा डाली गई तो विभिन्न प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक रोगो का डर हो जाता है। व्यक्ति विक्षिप्त सा रहता है। यदि 'हीग' खरीदने के लिये भेजा जायेगा तो वह 'जीरा' खरीद लायेगा। कही जायगा तो अपनी वस्तुएँ वही छोड देगा। भिन्न लिङ्ग के व्यक्तियो का सग उसे बडा पसन्द आयेगा। उसके कार्यक्रम मे कोई नियम न दिखलाई पडेगा। बात-बात मे वह दूसरो पर अपना क्रोध उतारा करेगा। वह अपनी साधारण शारीरिक आवश्यकता पूरी करने मे असहाय सा दिखलाई पड सकता है। वास्तव मे ऐसा व्यक्ति दयनीय है। काम-वासना के अतृप्त रहने अथवा अनुचित रूप से दबाये जाने के कारण बहुधा स्त्रियो को मृगी का भयङ्कर रोग लग जाता है। इस सम्बन्ध में टेन्सले[2] महोदय का मत उल्लेखनीय है। आपका कहना है कि "मनुष्य के जीवन की मार्मिक और घातक घटनाओ का कारण काम-वासना के प्रकाशन का अवदमन ही है। यदि उसकी काम-प्रवृत्ति का अवदमन न हो तो उसके जीवन मे ये अन्तर्द्वन्द उत्पन्न ही न हो।" फ्रॉयड महोदय के अनुसार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की कलह काम-प्रवृत्ति के अनुचित अवदमन का ही कुपरिणाम है। हम अपनी पाशविक प्रवृत्तियो के छिपाने की चेष्टा किया करते है। इस चेष्टा से हम अपने तथा दूसरो को धोखा दिया करते हैं। यदि हम यह धोखा न दे तो हमारे मन मे जटिल ग्रन्थियाँ न

---

1 Bad results of repression of sex-instinct 2 टेन्सले—न्यू सॉइकॉलॉजी, पृ० २६६।

पड़ेगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि हम अपने पाप को दूसरे से बतला देंगे तो उससे हमारी मुक्ति हो जायगी। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। फ्रॉयड ने इसे अपने रोगियों की परिचर्या के आधार पर सिद्ध कर दिया है। उसने रोगियों की लज्जास्पद स्मृतियों को चेतन मन के पट पर लाकर उन्हें स्वस्थ बना दिया।

काम-प्रवृत्ति का शोधन[1]—

उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि काम-प्रवृत्ति के अवदमन का परिणाम बड़ा भयङ्कर होता है। काम-शक्ति को भोग-विलास से हटा कर समाजोपयोगी कार्य में लगा देने को उसका शोधन करना कहा जाता है। ऊपर यह कहा गया है कि काम-शक्ति का अवदमन पूर्णतः नहीं किया जा सकता। पर उसकी अधिकाश शक्ति मानसिक कार्यों द्वारा प्रकाशित की जा सकती है। यदि किसी व्यक्ति के जीवन में ऐसा सम्भव हो सका तो उसकी भोग-विलास से घृणा हो जायगी। अत्यधिक मानसिक कार्यों में सलग्न रहने से काम-क्रिया की ओर दृष्टि ही नहीं जाती। पर इन कार्यों में ढिलाई करने से भोग-विलास की वृत्ति आ घेरती है। जिसने स्वेच्छानुसार अपनी काम-शक्ति पर नियन्त्रण कर लिया है उसका अधिकाश समय समाज-सेवा, कला, साहित्य, विज्ञान तथा ईश्वर-भक्ति में व्यतीत होता है। ससार के महापुरुषों के जीवन-चरित्र से विदित होता है कि उनकी भोग-विलास में विशेष रुचि न थी। उत्कृष्ट कोटि की कला तथा साहित्य का निर्माण भोगेच्छा से विरक्ति का ही परिणाम हो सकता है। अत अभिभावक को चाहिये कि वे बालक की काम-प्रवृत्ति के शोधन का प्रयत्न करें। इसके लिये यह देखना है कि बालक कभी बेकार न रहे। उसके सर पर किसी न किसी प्रकार का कार्य-भार सदैव रखना चाहिये। खेल-कूद, हॉकी, फुटबॉल तथा बागवानी इत्यादि में उसकी शक्तियों का उपयोग बड़ी सरलता से किया जा सकता है। यदि बालक का समय इस प्रकार स्वस्थ कार्यों में व्यतीत होगा तो उसकी काम-प्रवृत्ति अपने आप सुमार्ग की ओर नियमित हो जायगी।

७—जिज्ञासा[2]—

जिज्ञासा की मूलप्रवृत्ति सभी चेतन प्राणियों में पाई जाती है। बाजा बजते हुए सुन भैंस अपने कान खड़े कर इधर उधर देखने लगती है। बालकों में इस प्रवृत्ति का उदय उनकी चेतनता से प्रारम्भ हो जाता है। बहुधा इस प्रवृत्ति की क्रियाशीलता अन्य मूलप्रवृत्तियों के सम्बन्ध में हुआ करती है। यदि व्यक्ति अपनी किसी मूलप्रवृत्ति को उत्तेजित करने वाली वस्तु को देख कर उसे समझ नहीं पाता तो उसकी जिज्ञासा-प्रवृत्ति स्वभावत उत्तेजित हो जाती है। अत किसी रहस्य को न समझना इसका ज्ञानात्मक अग हुआ। रहस्य के न समझने पर 'आश्चर्य' का होना इसका सवेगात्मक

1. Sublimation of sex instinct 2 Curiosity

अग हुआ। विशिष्ट वस्तु की परीक्षा करते हुए उसे जानने की क्रिया इसकी प्रवृत्यात्मक, क्रिया हुई। बालक सदा नई वस्तुओ को देखना चाहता है। यदि बाहर कुछ विचित्र ध्वनि हुई तो बाहर निकल कर उसे वह समझना चाहता है। उसका चित्त नई वस्तुओ को देख कर बडा प्रसन्न होता है। छोटा बच्चा चाहता है कि उसे कोई गोद मे लेकर बाहर घुमाते हुए नई-नई वस्तुएँ दिखलावे। बालक का अनुभव नित्य कुछ नई वस्तुओ से हुआ करता है। अवसर पाने पर ही वह अपने बडो से प्रश्न पूछने लगता है। उसके इन प्रश्नो से बडो का उकता जाना स्वाभाविक हो सकता है, पर मनोवैज्ञानिक नही। अमनोवैज्ञानिक अभिभावक बहुधा बच्चों को डाँट दिया करते हैं। इससे बच्चो की कोमल वृत्तियो पर बडी ठेस लगती है। यही से भावना-ग्रन्थियो का बीजारोपण प्रारम्भ हो जाता है।

जो बाते बडो के लिये साधारण सी हो सकती हैं वही बच्चो के लिये असाधारण। बच्चा अभी-अभी ससार-क्षेत्र मे उतरा है। उसे सारी बाते समझ कर अपने को ससार मे रहने योग्य बनाना है। यह विकास की प्राकृतिक क्रिया है जो उसके अन्दर अलक्षित रूप से कार्यशील है। यदि जिज्ञासा की प्रवृत्ति उसमे न हो तो वह एकदम मूढ हो जाय। कभी-कभी बच्चो के प्रश्न ऐसे होते है कि उनका उतर देना सरल नही। कभी तो उत्तर देना असम्भव भी हो जाता है। पर इस पर भी उन्हे डाँटना मनोवैज्ञानिक नही। सरलता से उन्हे सारी बाते समझा देने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि उत्तर असम्भव हुआ तो उसके विषय मे भी बालक के सन्तोष के लिये कुछ अवश्य ही कहा जा सकता है। किन्तु स्मरण रहे कि बालक की जिज्ञासा को शान्त करने के लिये किसी गलत उत्तर का दे देना ठीक नही, क्योकि तब उसका तत्सम्बन्धी संस्कार स्थायी होकर उसके लिये हानिप्रद प्रमाणित होगा। गलत उत्तर देने की अपेक्षा विस्मरण कुछ सीमा तक रुचिकर हो सकता है। प्रारम्भ मे बालक की जिज्ञासा बहुत गहराई तक नही जाती। उसके प्रश्न प्राय बहुत साधारण ही हुआ करते हैं। उम्र तथा अनुभव के बढने पर उसकी जिज्ञासा की प्रौढता भी बढ जाती है। बालको की शिक्षा की व्यवस्था उनकी जिज्ञासा प्रवृत्ति के अनुसार ही करनी चाहिये। पहले वस्तुओ का सामान्य ज्ञान ही देना पर्याप्त होगा। सूक्ष्मतम विश्लेषण समझना उनके लिये कठिन होगा। कभी-कभी बालक के मन मे जिज्ञासा उत्पन्न करना भी वाछनीय हो सकता है। यह उसके ज्ञान-प्रसार मे सहायक होगा।

जिज्ञासा के अवदमन के दुष्परिणाम—

जिज्ञासा-प्रवृत्ति के अवदमन से बालक की मानसिक शक्ति की वृद्धि रुक जाती है। इतना ही नही, वरन् उसमे भावना-ग्रन्थियाँ भी पड़ जाती हैं। यदि प्रश्न पूछते -समय बालक पर बहुधा डाँट पडी तो उसके मन मे एक भय उत्पन्न हो जाता है। किसी

बात के पूछने में उसे सदा भय लगता है। अच्छी बात को भी वह भयवश नही पूछता। उसे डर लगा रहता है कि कही मूर्ख का विशेषण उसे न मिल जाय। इस प्रकार वह कोई बात पूछता ही नही। भावनाओं और प्रश्नो की लपेट मे वह भीतर ही भीतर भूसे के सदृश् सुलगा करता है। ऐसी स्थिति मे उसका मानसिक विकास कैसे हो सकता है? प्रौढ हो जाने पर भी उसका यही स्वभाव बना रहता है। वह किसी के सामने कुछ कहने या पूछने मे लज्जा करता है। मूलप्रवृत्तियो का पूर्णत अवदमन नही होता। अत अवदमन की हुई जिज्ञासा प्रवृत्ति का भी प्रकाशन होता ही है। उस प्रवृत्ति के अवदमन मे व्यक्ति दूसरे के विषय मे न जानने योग्य बाते जानने के लिये उत्सुक हो जाता है। कमरे मे दो व्यक्तियो को बात करते देख उनकी बातो को सुनने की प्रबल इच्छा उसमें हो जाती है। दरवाजे या खिडकी की आड मे से वह सुनने की चेष्टा करता है। दूसरे के पत्र मे क्या लिखा है इसे जाने बिना उसे चैन नही मिलता। वह किसी अज्ञात व्यक्ति के आने पर उसके विपय मे उसके मित्र से व्यर्थ की बाते पूछा करता है। हमारी सामाजिक परम्परा ऐसी है कि स्त्रियो की जिज्ञासा प्रवृत्ति का बहुधा अवदमन किया जाता है। यही कारण है कि उनमे उपर्युक्त बुरी आदते सरलता से आ जाती हैं। मनो-विश्लेषणवादियो की धारणा है कि काम-सम्बन्धी अनेक कुचेष्टाएँ अवदमन की हुई जिज्ञासा से उत्पन्न भावना-ग्रन्थियो की ही कुफल हैं।

जिज्ञासा-प्रवृत्ति सदा नई बात जानने के लिये क्रियाशील रहती है। पर यदि वस्तु एकदम नवीन हुई तो सम्भव है कि बालक उसके विपय मे कोई भी उत्सुकता न दिखलावे। बालक को एकदम नई वस्तु आकर्पित नही करती। यदि नई वस्तु का उसके गत अनुभव से कुछ सम्बन्ध होता है, तभी वह उसकी ओर झुकता है। अत शिक्षको को चाहिये कि पाठ्य-वस्तु को एकदम नवीनता के रूप मे उनके सामने न उपस्थित करे। बालको के 'पूर्वसचित[1] ज्ञान' पर सदैव ध्यान रखना चाहिये। कितना ही नया विपय क्यो न हो, उसे इस प्रकार उपस्थित किया जाय कि बालक अनुभव करे कि वह उसके पूर्व ज्ञान की ही अगली सीढी है। इस सिद्धान्त पर चलने मे शिक्षक पाठ में बालक की रुचि उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक पाठ मे नया और पुराना दोनो का समावेश आवश्यक है। इसी मनोवैज्ञानिक भित्ति के आधार पर हरबर्ट स्पेन्सर के सर्वमान्य 'परिचित से अपरिचित'[2] अथवा 'ज्ञात से अज्ञात' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया किया गया है।

प्रारम्भ मे बालक परिवर्त्तनशील वस्तुओ की ओर अधिक आकर्पित होता है। गहरे लाल, पीले अथवा हरी रग की वस्तुएँ भी उसका ध्यान अपनी ओर खींच लेती हैं। अतएव शिक्षा-शास्त्रियो ने बालको की शिक्षा में भाँति-भाँति के खिलौने तथा चित्रो

1. Apperceptive Mass. 2. From Known to unknown.

के उपयोग का निर्देश किया है। स्पष्ट है कि सिनेमा तथा मैजिक लालटेन द्वारा शिक्षा से उन पर अधिक प्रभाव पडेगा। बालकों की केवल स्मरण-शक्ति अथवा शब्द-ज्ञान बढाना ही पर्याप्त नही। यदि उनकी शिक्षा यही तक सीमित रखी जाय तो उनकी उन्नति शीघ्र ही रुक जायगी। उनकी उत्सुकता मर जाती है। स्मरण रखना है कि बालक के सारे ज्ञान का स्रोत उसकी उत्सुकता ही है। इसके लिये यदाकदा नये-नये स्थानो मे ले जाकर उसे प्रकृति-निरीक्षण के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। इस प्रकृति-निरीक्षण द्वारा बालक को यह समझाना है कि अमुक वस्तु का प्रकृति अथवा सृष्टि में क्या स्थान है। इसी प्रवृत्ति के बढने से ही विज्ञान अथवा दर्शन के उत्कर्ष मे आगे चल कर बालक हाथ बटा सकते हैं। वस्तुत. विज्ञान का सारा चमत्कार जिज्ञासा-प्रवृत्ति के शोधन का ही परिणाम है।

वालक की जिज्ञासा प्रारम्भिक दिनो में ज्ञानेन्द्रिय-सम्बन्धी वस्तुओ तक ही सीमित रहती है। सर्वप्रथम वह सभी वस्तुओ का नाम जानना चाहता है। नाम जानने के बाद वह उनके सम्बन्ध मे सोचना प्रारम्भ कर देता है। यह सोचना उसके मन के अन्दर कई नवीन प्रश्नो के रूप मे होता है। पर वह इन प्रश्नो का उत्तर निकालने मे असमर्थ होता है। अभिभावको को चाहिये कि वे कम से कम दो तीन बार प्रकृति-निरीक्षण के समय कुछ सामान्य वस्तुओ को लेकर बालको के सामने उसकी भली-भाँति चर्चा कर दे। यह चर्चा बालक के मानसिक विकास की सीमा के अन्दर ही हो, अन्यथा इससे उसे कुछ लाभ न होगा। बालको मे नई वस्तुओ के शीघ्र सीख लेने की विशेष क्षमता होती है। यदि दो तीन बार वह ऐसी चर्चा सुन सका तो बाद मे उसी के अनुसार अन्य वस्तुओ को समझने की वह चेष्टा करता रहेगा।

वस्तु-ज्ञान के बाद बालक की जिज्ञासा क्रिया-सम्बन्धी हुआ करती है। माँ या पिता को देख कर वह पूछता है। 'तुम क्या कर रहे हो ?' इसी प्रकार वह अन्य प्रश्न भी किया करता है। इस समय चित्र की सहायता से उसे हम अनेक क्रियाओ का ज्ञान करा सकते है। उसकी कल्पना-शक्ति को इससे बडी उत्तेजना मिलती है। क्रिया-ज्ञान के बाद बालको मे वस्तुओ के गुण जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इस जिज्ञासा के विकास मे शिक्षक बडी सहायता दे सकता है। किसी पदार्थ को उपस्थित करते समय शिक्षक पूछ सकता हैं—'यह पदार्थ किस रग का है ?' 'यह गोल, लम्बा अथवा चौकोर है।' 'इसकी गन्ध कैसी है ?' 'इसकी सूरत कैसी दिखलाई पडती है ?' 'यह कठोर व कोमल प्रतीत होता है ?' इत्यादि। इस प्रकार के अभ्यास हो जाने पर किसी वस्तु के विषय मे वह स्वयं ऐसे प्रश्नो को पूछेगा। इतना विकास हो जाने पर बालक वस्तु के भूत व भावी रूप तथा क्रिया के विषय मे जानना चाहता है। बाहर से आते हुए पिता से वह पूछता है—'बाबूजी आप कहाँ गये थे ?' इस प्रकार

कल्पना की वृद्धि किसी प्रत्यक्ष पदार्थ को आधार बना कर की जा सकती है। जब कल्पना-शक्ति की वृद्धि हो जाती है तो बालक कार्य-कारण-भाव-सम्बन्धी जिज्ञासा प्रकट करता है। वह पूछता है—'बिजली क्यों कड़की?' 'वर्षा क्यों होती है?' जिज्ञासा के विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि नियन्त्रण किया जाय तो बालक निश्चय ही बड़ा प्रतिभाशाली होगा। जिज्ञासा-प्रवृत्ति के उत्कृष्ट विकास से ही वैज्ञानिकों की उत्पत्ति होती है।

८—दैन्य.—

दैन्य मूलप्रवृत्ति का ज्ञानात्मक अङ्ग अपनी जाति के किसी बड़े सदस्य की 'उपस्थिति' है। इससे सम्बद्ध संवेग 'आत्महीनता' है। इसका क्रियात्मक अंग अपने को एकदम उसके सामने समर्पण[1] कर देना है। मैग्डूगल का कथन है कि इस प्रवृत्ति का शुद्ध रूप हम किसी पालतू कुत्ते में देख सकते हैं। स्वामी के देखने पर कुत्ता उसके पैरों पर लोटने लगता है। अपने से बली किसी अन्य कुत्ते को देख कर जो उसका व्यवहार होता है वह भी दैन्य प्रवृत्ति का द्योतक ही है। प्रत्येक मनुष्य अपने से अधिक योग्य व्यक्ति के सामने नम्र रहता है। बालक अपने माता, पिता, शिक्षक अथवा अभि-भावक के सामने विनम्र दिखलाई पड़ता है। वह अपने बड़े साथी के समक्ष विनीत भाव प्रदर्शित करता है। यह सब दैन्य प्रवृत्ति का द्योतक है। समाज में संगठन लाने तथा प्रत्येक को अपने स्थान पर रखने के लिये दैन्य मूलप्रवृत्ति अत्यधिक सहायता करती है। हमारे सारे शिष्टाचार के मूल में इस प्रवृत्ति की छाप है। इस प्रवृत्ति के ही सहारे शिक्षक कक्षा में विनय स्थापित करने में सफल होता है। यदि मनुष्य में इस प्रवृत्ति का अभाव होता तो मालूम नहीं उसके समाज की क्या दशा होती। तब वह एक दूसरे के अनुभव से लाभ न उठा पाता। कदाचित् प्रत्येक को सब कुछ प्रारम्भ से ही करना और सीखना पड़ता।

दैन्य का दुरुपयोग—

बालक सब के प्रति दैन्य भाव नहीं दिखलाता। जिससे वह प्रेम करता है उसी की आज्ञा का पालन वह प्रसन्नता से करता है। दैन्य प्रवृत्ति बड़े लोगों के संघर्ष में आने से जागृत होती है। इस प्रवृत्ति के दुरुपयोग से बालक एकदम निकम्मा हो जाता है। इस प्रवृत्ति की अधिकता से व्यक्ति में मानसिक दासता आ जाती है। ऐसा व्यक्ति अपना आत्मसम्मान खोकर सदा दूसरों के आज्ञापालन के लिये तैयार रहता है। अधिक डाँट-फटकार पाने से बालक में इस प्रवृत्ति की वृद्धि होती है। वह अपने को सर्वथा अयोग्य समझने लगता है। वह अपनी मौलिकता खो बैठता है। ऐसा व्यक्ति समाज में कभी प्रतिष्ठा नहीं पा सकता।

---

1. Submission.

९ — आत्म-गौरव या आत्म-प्रदर्शन[1] —

आत्म-गौरव अथवा आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति दैन्य की एकदम उलटी है। अपनी जाति के किसी छोटे सदस्य की उपस्थिति इसकी क्रिया का ज्ञानात्मक अग है। इससे सम्बन्ध सवेग आत्माभिमान है। इसका क्रियात्मक अग किसी प्रकार आत्म-शक्ति का प्रदर्शन है। इस प्रवृत्ति का विकास बालक की चेतनता से प्रारम्भ होता है। कुछ वडा हो जाने पर बालक अपने को दूसरे की दृष्टि मे सुन्दर, चतुर तथा महत्वपूर्ण दिखलाना चाहता है। वच्चे की पैर पटक कर चलने की आदत मे आत्म-प्रदर्शन की ही छाप रहती है। उछल कर मटकते हुए चलना तथा अन्य हाव-भाव दिखलाना भी इसी प्रवृत्ति का अग माना जा सकता है। नये कपडे अथवा जूता पहनने पर छोटे वच्चे मे आत्म-प्रदर्शन की भावना का जागृत हो जाना स्वाभाविक है। बाहर जाने की तैयारी में बालक प्राय. अपने सब से अच्छे कपडे पहन कर जाने के लिये हठ करता है। इस आदत मे भी उसके आत्म-प्रदर्शन की ही भावना निहित रहती है। आत्म-गौरव की प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर किसी न किसी कार्य मे वह अपने साथियो से बाजी मार ले जाना चाहता है। दौड अथवा खेल मे वह जीतना चाहता है। परीक्षा अथवा वाद-विवाद की प्रतियोगिता मे वह सर्वप्रथम आना चाहता है। यह कहा जा सकता है कि हमारे प्रत्येक अच्छे कार्य मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे आत्म-प्रदर्शन का भाव छिपा रहता है।

बालक की इस प्रवृत्ति का उपयोग होना बडा आवश्यक है। अन्यथा वह उसका दुरुपयोग करने लगेगा। कभी-कभी दूसरो को अपनी ओर आकर्षित करने के अभिप्राय से ही बालक झूठ बोलता है अथवा ऊधम मचाता है। यदि उसकी शक्ति के प्रदर्शन का उचित आयोजन न किया गया तो उसमें अनैतिकता की वृद्धि हो सकती है। अत. खेल-कूल तथा वादविवाद आदि की प्रतियोगिता का सगठन कर देना आवश्यक है, जिससे उसकी शक्तियो का स्वस्थकर रूप मे उपयोग हो सके। इस प्रवृत्ति के अवदमन से व्यक्ति निर्बलो पर अत्याचार करना सीख सकता है। कुछ लोग भडकीले अथवा रंग-बिरगे पहनावे पहन कर बाजार मे आकर अपना प्रदर्शन करते हैं। उनके वाल विचित्र प्रकार के बने रहते हैं। उनकी चाल में भी कुछ अकड देखी जाती है। कुछ लोग अपने मे गम्भीरता का झूठा प्रदर्शन करना चाहते हैं। वातचीत करते समय यह उनके भाव तथा मुख-मुद्रा से स्पष्ट प्रतीत होता है। यह उनके आत्म-प्रदर्शन का ही प्रतीक है। छोटे बालको की धूमपान की आदत मे आत्म-प्रदर्शन का ही भाव रहता है।

आत्म-प्रदर्शन प्रवृत्ति के अवदमन से व्यक्तित्व का ह्रास निश्चित है। अवदमन

1 Self-assertion or self display.

से व्यक्ति के चरित्र में शैथिल्य आ जाता है। अतः अभिभावकों को आत्म-गौरव प्रवृत्ति का उपयोग बड़ी सतर्कता से करना चाहिये। यदि इस पर उचित ध्यान दिया गया तो बालक में दम्भ की भावना नहीं उत्पन्न होगी। असत्य तथा आडम्बर से वह बचेगा। उसका चरित्र दूसरों के लिये आदर्शस्वरूप होगा। अच्छे कार्य के करने पर बालकों की प्रशंसा करना बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है। यदि उचित मात्रा में ठीक ढंग से परिश्रम करने पर व्यक्ति को प्रशंसा नहीं मिलती तो उसका हृदय बैठ जाता है। एक लेखक ने अपना लिखा हुआ एकाकी नाटक फाड़ कर फेंक दिया, क्योंकि किसी ने उसकी प्रशंसा न की। आत्म-प्रदर्शन तथा प्रशंसा पाने की ही इच्छा से कवि, लेखक, भाषणवक्ता तथा अन्य कलाकार कवि सम्मेलन तथा अन्य गोष्ठियों में अनेक कष्ट सह कर भी उपस्थित होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का रूप सामाजिक होता है। इस प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति ऐसा कार्य करना चाहता है जिससे लोग उसकी प्रशंसा अथवा स्मरण करें। बालक में भी यह भावना उसकी चेतनता से ही आ उपस्थित होती है। सामान्य बालक कितना ही निकम्मा क्यों न दिखलाई पड़ता हो, पर उसमें भी ऐसी शक्ति है जो दूसरे में नहीं। यह सत्य है कि हमारे प्रत्येक अवगुण के बदले हमें ईश्वर ने एक गुण भी दिया है। अभिभावकों और शिक्षकों का यह कर्तव्य है कि वे बालक में स्थित गुण के जानने का प्रयत्न करें और उसके मनोवैज्ञानिक विकास व प्रदर्शन का उचित आयोजन करें। यदि बालक पढ़ने में ढीला हुआ तो खेल में उसका आत्म-प्रदर्शन हो सकता है या कक्षा की मॉनीटरी में ही उसकी योग्यता का प्रदर्शन हो सकता है।

१०—सामूहिकता[1]—

सामूहिकता की प्रवृत्ति प्रत्येक चेतन प्राणी में पाई जाती है। इसका ज्ञानात्मक अंग अपनी जति के किसी सदस्य की विशिष्ट 'गन्ध' अथवा 'ध्वनि' है। इससे सम्बद्ध संवेग एकाकीपन है। इस संवेग की उत्पत्ति से प्राणी अपनी जाति में जाकर मिल जाना चाहता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। एकाकीपन उसे पसन्द नहीं। उसके सामूहिक जीवन का आभास प्रारम्भ में ही मिल जाता है। अकेले कहीं छोड़ देने से बच्चा रोने लगता है। अन्य पशुओं के साथ रहने वाला पशु कभी अकेला हो जाता है तो हमें चिल्लाते-चिल्लाते तंग कर डालता है। मनुष्य के लिये एकाकी जीवन बड़ा ही अरुचिकर होता है। विशेष यातना देने के लिये कभी-कभी अपराधियों को कालकोठरी में बन्द कर दिया जाता है। सामूहिकता ही हमारे सामाजिक जीवन की भित्ति है। इसी से सारे सामाजिक गुण मनुष्य प्राप्त करता है। किसी व्यक्ति से बहिष्कृत होने पर

1. Gregariousness or Herd Instinct.

किसी प्रकार सान्त्वना मिल सकती है, पर जाति से बहिष्कृत होने पर मनुष्य मर जाना ही अच्छा समझता है। तुलसीदास ने ठीक ही कहा है —"सबसे कठिन जाति अपमाना।" यदि मनुष्य समाज से अलग कर दिया जाय तो उसका जीना कठिन हो जायगा। गत अध्याय में कहा गया है कि सामूहिकता से आत्म व जाति की रक्षा-प्रवृत्ति की पूर्ति होती है। यदि समाज-हित को भूल कर अपने ही स्वार्थ में सब लोग लीन हो जाँय तो ससार का सारा व्यापार ही बन्द हो जाय। अतः प्रत्येक व्यक्ति स्वभावत. ऐसा कार्य करता है कि समाज उससे प्रसन्न रहे। यदि उसका विकास मानवोचित हुआ तो वह समाज-हित को ही अपना हित समझने लगता है।

सामूहिकता का विकास प्राय. जन्म से ही हो जाता है। माँ के न रहने पर बालक रोने लगता है। दूसरे के साथ रहने मे वह प्रसन्नचित्त दिखलाई पडता है। तीन वर्ष की उम्र तक बालक वैयक्तिक खेल मे प्रसन्नता का अनुभव करता है। पर बाल्यकाल मे सामूहिकता की प्रवृत्ति विशेष रूप से जागृत हो जाती है। समवयस्क बालकों के साथ के लिये वह विकल हो जाता है। ऐसा साथ मिलने पर उसे खाने-पीने की सुधि बहुत कम रहती है। अन्य बालको के समूह में रहना उसे स्वर्ग समान लगता है। इस सामूहिक जीवन मे किसी प्रकार की बाधा पडने पर वह तिलमिला सा जाता है। बालक-गण अपने मे से सब से बडे को नेता मान कर उसकी आज्ञाओ का पालन बड़े मन से करते हैं। इसी समय उनकी सामूहिक भावनाओं के विकास से उनमे नैतिकता की वृद्धि होने लगती है। बालको के सामूहिक जीवन मे किसी प्रकार की बाधा डालना अमनोवैज्ञानिक है। सामूहिक खेल से अलग कर देने से उनकी बहुत सी प्रवृत्तियो का समुचित विकास ही बन्द हो जाता है। कुछ अभिभावक बालको को उनके साथियो मे खेलने से रोकते हैं, जिससे वे उनकी बुरी आदतें न सीख ले। ऐसा करना ठीक नही। साथियो से अलग न रख कर, अभिभावको को यह देखना चाहिये कि बालक अच्छे लोगो को ही अपना साथी बनाये। इसके लिये माता-पिता को अच्छे पडोसियो के बीच में ही रहना चाहिये। यदि पडोसी अच्छे हैं तो उनके घर के बच्चे भी प्राय अच्छे ही होगे। उन बच्चो का सग बालक के लिये कभी अहितकर नही हो सकता।

११—भोजनान्वेषण[1]—

आत्मरक्षार्थ भोजनान्वेषण की प्रवृत्ति बडी महत्वपूर्ण है। यह प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी मे पाई जाती है। सृष्टि के रचना-काल से ही यह प्रवृत्ति प्राणी के साथ है। काम-प्रवृत्ति के सदृश् यह प्रवृत्ति भी रुच्यात्मक है। इसकी जागृति शरीर की विशिष्ट अवस्था मे ही होती है। इसका ज्ञानात्मक अङ्ग खाद्य वस्तु की 'गन्ध' अथवा उसे 'देखना' है। ड्रेवर के अनुसार इस प्रवृत्ति मे रुच्यात्मक और प्रतिक्रियात्मक दोनो

1 Food-seeking.

स्वभाव का संकेत मिलता है, क्योंकि इसको बाह्य वस्तु तथा शरीर की आन्तरिक दशा दोनों से उत्तेजना मिलती है। इससे सम्बद्ध संवेग 'भूख' है। इसका क्रियात्मक अङ्ग 'खाद्य वस्तु को खोजना व खाना' है। यदि व्यक्ति की इस प्रवृत्ति पर नियन्त्रण न रखा गया तो वह पेटू हो जायगा। खाद्य वस्तु के देखने से ही उसके मुँह से लार टपकने लगती है, वह धैर्य खो बैठता है। बालक इस विषय में बड़ी ही आतुरता दिखलाते हैं। भोजन के दीखने पर ही उसे पाने के लिये वे विकल हो जाते हैं। यदि किसी कुटुम्ब में कई भाई व बहन हुए तो कुछ बालक भोजन की माँग से ही अपने माता-पिता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। अपने माता-पिता का एकलौता बालक भोजन पर असाधारण आतुरता नहीं दिखलाता। पर कई बच्चों के होने के कारण सबसे अधिक तिरस्कृत बालक बहुधा "भूख लगी है, भूख लगी है" कहा करता है। नियम व संयम से ठीक समय पर पर्याप्त भोजन देने से बालकों की आदत इस सम्बन्ध में अच्छी डाली जा सकती है। इस सम्बन्ध में बुरी आदत पड़ने पर बालक का मानसिक विकास कुण्ठित हो सकता है।

१२—संग्रह-वृत्ति[2]—

संग्रह-वृत्ति मनुष्यों तथा कुछ चतुर पशु-पक्षियों में पाई जाती है। खाद्य अथवा घर बनाने योग्य वस्तु को देखना इसका ज्ञानात्मक अङ्ग है। 'अधिकार-भावना' की प्रेरणा से यह प्रवृत्ति क्रियाशील होती है। अतः इससे सम्बद्ध संवेग 'अधिकार-भावना' है। वस्तु को देखने पर उसे प्राप्त करना अथवा प्राप्त करके उसकी रक्षा करना—इस प्रवृत्ति का क्रियात्मक अंग है। इस प्रवृत्ति का विकास मानसिक चेतना से प्रारम्भ होता है। गौरैया व मैना इत्यादि पक्षियों और चीटी तथा शहद की मक्खियों आदि में संग्रह-वृत्ति पाई जाती है। गौरैया घोंसला बनाने के लिये छोटे-छोटे तिनकों का संग्रह करती है। चीटी और शहद की मक्खियाँ वर्षा काल के लिये अपनी खाद्य-सामग्री का संग्रह करती हैं। मनुष्य भी इसी प्रकार अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करता है। चार-पाँच वर्ष का बालक अपने खेलने के लिये अनाप-शनाप वस्तुओं का संग्रह किया करता है। ये वस्तुएँ बड़ों की दृष्टि में व्यर्थ हो सकती हैं। पर बालक के लिये वे बड़ी ही महत्वपूर्ण होती हैं। उनमें किसी प्रकार की बाधा बालक के लिये असह्य होती है। यदि बालक के संग्रह की ही वस्तुओं को देखा जाय तो उसमें फटी चिट्ठियाँ तथा पुस्तकें, टूटे शीशे, कलम, कंकड़, पत्थर, चित्र और डिब्बे इत्यादि वस्तुएँ मिलेंगी। बालक का इन सब वस्तुओं पर उतना ही मोह होता है जितना कि नादिरशाह का मुगलआज़म हीरे पर था।

बालक की संग्रह-वृत्ति पर नियन्त्रण आवश्यक है। यदि इस पर उचित ध्यान

2. Acquisition.

न दिया गया तो वह लोभी तथा चोर और कृपण हो सकता है। कृपणता का दोष सग्रह-वृत्ति की वृद्धि से ही आता है। कुछ लोगो को कई प्रकार के कलमो के रखने की रुचि होती है, कोई चित्र रखना चाहते हैं, कोई विचित्र प्रकार के जूतो का ही सग्रह करना चाहता है। अपनी-अपनी वृत्ति और रुचि के अनुसार व्यक्ति विभिन्न वस्तुओ का सग्रह करना चाहता है। इस प्रवृत्ति के अनुचित विकास से व्यक्ति का चरित्र विगड सकता है। अत' प्रारम्भ से ही यह देखना चाहिये कि बालक की प्रवृत्ति उपयोगी वस्तुओ के सग्रह पर ही है। यहाँ वातावरण का विशेष महत्व है। वातावरण की वस्तुओ के अनुसार ही बालक की सग्रह-वृत्ति जागृत होगी। अत यह आवश्यक है कि बालक का वातावरण शिक्षा-सम्बन्धी वस्तुओ से पूर्ण हो। बालक को अच्छी-अच्छी पुस्तके, चित्र और टिकट आदि सग्रह करने की प्रेरणा दी जा सकती है। महापुरुषो के चित्र-सग्रह से उनके गुणो के अपनाने की प्रवृत्ति बालक मे उत्पन्न हो सकती है। टिकट व चित्र आदि के सग्रह से बालक मे विभिन्न देशो के विषय मे ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार इस प्रवृत्ति के समुचित विकास से बालक सभ्यता के निर्माण मे भाग ले सकता है। प्राचीन सभ्यता के जो कुछ भी स्मृति-चिन्ह आज हमारे समक्ष हैं वे सब हमारे सग्रह-वृत्ति के ही कारण है। इस प्रकार सग्रह-वृत्ति का शिक्षा मे बडा उपयोग किया जा सकता है। इस वृत्ति के अवदमन से व्यक्ति का विकास रुक सकता है और शोधन से उसमे अनेक गुणो का समावेश हो सकता है।

१३—विधायकता या रचना-प्रवृत्ति[1]—

विधायकता या रचना-प्रवृत्ति मनुष्यो तथा सभी चतुर पशु-पक्षियो मे पाई जाती है। चिडिया का घोसला बनाना, लोमडी या खरगोश का अपनी मॉद बनाना रचना-प्रवृत्ति का ही द्योतक है। घर या घोसले बनाने के लिये उपयुक्त सामग्री की उपस्थिति इस वृत्ति का ज्ञानात्मक अग है। इससे सम्बद्ध सवेग कृतिभाव है। वस्तु पाकर रचना-क्रिया मे लग जाना इसका क्रियात्मक अग है। प्राय. एक वर्ष की अवस्था से ही बालक अपनी इस प्रवृत्ति का प्रदर्शन करने लगता है। वह खिलौने को तोड-फोड डालता है। किसी वस्तु के पाने पर उसे पटकना और तोडना वह प्रारम्भ कर देता है। उसे कोई वस्तु दीजिये, वह दो ही घण्टे मे उसका कचूमर निकाल कर रख देगा। ऐसा क्यो ? यह उसकी विधायकता-प्रवृत्ति का ही द्योतक है। पहले उसकी जिज्ञासा-प्रवृत्ति जागृत होती है। वह देखना चाहता है कि अमुक पदार्थ में है क्या ? इसके बाद उसमे वह अपनी इच्छानुसार परिवर्तन लाना चाहता है। इस परिवर्तन से बडे लोग हँस सकते हैं। उनके लिये इसका कुछ भी मूल्य नही, अपितु वे इस पर अप्रसन्न

1. Constructiveness.

हो जायँगे। पर उनका अप्रसन्न होना अमनोवैज्ञानिक है। किसी वस्तु को तोड़-फोड़ देने के कारण उसे डाँटना ठीक नही, वरन् उसकी इस क्रिया मे यदि सम्भव हो तो योग देना चाहिये। इन्ही सब क्रियाओ से बालक अपनी ज्ञानेन्द्रियो पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त करता है। उसे कुछ ऐसी वस्तुएँ देनी चाहिये जिससे उनकी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिले। उदाहरणार्थ, लकडी, कागज व कार्ड बोर्ड इत्यादि से हम उसकी रचना-प्रवृत्ति को मनोवैज्ञानिक प्रोत्साहन दे सकते हैं। रचना-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने मे ही प्रॉजेक्ट पद्धति और मॉन्तेसरी प्रणाली शिशुशिक्षा के लिये उपयोगी होती हैं। बालक के पढने-लिखने मे मन्द होने पर शिक्षको का यह पता लगाना कर्त्तव्य है कि उसकी कौन सी मूलप्रवृत्ति प्रबलतर है। बहुत सम्भव है कि पढने-लिखने मे ध्यान न देने वाला बालक शिल्पकला, इञ्जीनियरिङ्ग, चित्रकला तथा कविता आदि मे रुचि रखता हो। इसका ठीक पता लगा कर यदि उचित प्रोत्साहन दिया जाय तो बालक अपने भावी जीवन मे क्या नही कर सकता ?

रचना-प्रवृत्ति का बालक की कल्पना-शक्ति के विकास से घनिष्ट सम्बन्ध है। इस प्रवृत्ति के प्रोत्साहन से उसकी कल्पना का विकसित होना अपेक्षित है। किसी वस्तु की रचना करने के पूर्व बालक शिल्पकार अथवा इञ्जीनियर के सदृश् उस वस्तु का पूरा चित्र अपने मस्तिष्क में ठीक कर लेता है। बालक के बहुत से खेलो मे उसकी रचना-प्रवृत्ति का आभास मिल सकता है। जिस प्रकार खेलो मे भाग लेकर बालक अपने भावी जीवन की तैयारी करता है उसी प्रकार अपनी रचना-प्रवृत्ति से अनजान मे अपने को वह भविष्य के लिये तैयार करता है। रचना-प्रवृत्ति के अवदमन से बालक आत्म-विश्वास खो बैठता है। उसके मन के उद्‌गार भीतर ही भीतर मसोस कर रह जाते हैं और उसकी क्रियाशीलता सदा के लिये कुण्ठित हो जाती है।

१४—हास[1]—

मैग्डूगल ने हास को भी एक मूलप्रवृत्ति माना है। पर यह प्रवृत्ति केवल मानव जाति मे ही पाई जाती है। हमारे सामने बहुधा ऐसी परिस्थितियाँ आती है जो हमे हँसने को बाध्य करती हैं। ऐसी परिस्थितियो मे न हँसने से हमे क्रोध आयेगा अथवा दुःख होगा। अत ऐसी परिस्थति का आना हास मूलप्रवृत्ति का ज्ञानात्मक अंग है। किसी साइकिल वाले को या दौडते हुए व्यक्ति को गिरते हुए देख कर हम हँसते हैं या सहानुभूति-प्रदर्शन हेतु 'च च च' करते हैं। हमारे सामने यदि कोई मूर्खता की बाते करता है तो हमे क्रोध आता है या हम हँस देते हैं। इस प्रकार क्रोध और सहानुभूति-प्रदर्शन से बचने के हेतु प्रकृति ने मनुष्य को हास की प्रवृत्ति दी है। इन प्रवृत्ति के अभाव मे व्यक्ति दूसरो का कष्ट देख सदा दुःखी होता अथवा सहानुभूति-प्रदर्शन मे अपना कार्य

1 Laughter.

ही छोड बैठता, या इसके अभाव में वह बहुधा दूसरे पर क्रोध करके झगडा मोल लिया करता। इस प्रकार उसका जीवन ही कठिन हो जाता। अत प्रकृति ने बडी चतुरता से मनुष्य को हास-प्रवृत्ति दी है।

हास-प्रवृत्ति की सहायता से व्यक्ति कठिन से कठिन कार्य के करने मे समर्थ हो सकता है। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो विषम परिस्थितियों का सामना करते हुए हँस-मुख दिखलाई पडते हैं। वीर सेनापति हँसते-हँसते अपनी सेना को विजयी बना देता है। इसके विपरीत कोई व्यक्ति तनिक भी कठिन कार्य के आने से सर सिकोड बैठता है। अभिभावकों और शिक्षकों को चाहिये कि वे बालकों मे विपम परिस्थितियो मे हँसते हुए कार्य करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करे। किन्तु उन्हे यह भी ध्यान रखना है कि कही इस हँसने की बागडोर एकदम ढीली न हो जाय। हँसने पर नियन्त्रण न रखने से व्यक्ति मे अशिष्टता आ जाने का डर रहता है। कुछ लोग अपनी ही बात कह कर अट्टहास करने लगते हैं। अपनी ही बात पर हँसना बडा ही बुरा है। इस प्रकार का हँसना प्राय, आत्म-हीनता अथवा आत्मप्रदर्शन-प्रवृत्ति के अवदमन का द्योतक होता है। यदि इस बात को स्पष्ट कर दिया जाय तो बालक मे यह बुरी आदत न पडेगी।

कुछ बडे लोगो के समूह मे बैठे हुए यह प्रायः देखा जाता है कि दो व्यक्ति हाथ की आड मे आपस मे फुसफुस कुछ कह कर हँसते हैं। यह बारात अथवा कवि सम्मेलनो आदि उत्सवो मे बहुता देखा जाता है। यह; अशिष्टता है। इसका वहाँ उपस्थित बालको पर बडा बुरा प्रभाव पडता है। वे भी इस प्रकार की अशिष्टता प्रारम्भ कर देते हैं। व्यक्ति का इस प्रकार का हँसना उसकी आत्म-हीनता-भावना[1] का प्रमाण है। थोडे से सकेत मात्र से बालक को इस बुरी आदत से बचाया जा सकता है। कुछ लोगो मे दूसरो की गलतियो पर हँसने की आदत होती है। उदाहरणार्थ; अध्यापक कोई बात एक विद्यार्थी को समझा रहा है। विद्यार्थी के मूढ प्रश्न पर अथवा अज्ञानतामयी मुद्रा पर दूसरा विद्यार्थी हँसने लगता है। इस प्रकार का हँसना आत्म-प्रदर्शन के अवदमन का दुष्परिणाम है। यह व्यक्ति का आत्म-दम्भ भी दिखलाता है। बालक की इस प्रवृत्ति को रोकना अति आवश्यक है, अन्यथा उसके चरित्र मे सदा के लिये गाँठ पड जायगी।

कभी-कभी अभिभावक बालको की गलती पर कहकहे मार कर हँसने लगते हैं। यह बडा ही अमनोवैज्ञानिक है। इससे बालक की कोमल भावनाओ पर बडा आघात लगता है। उसका हृदय बैठ जाता है। वह एक साँस लेकर रह जाता है। अपने बडो की इस आदत का स्वभावतः वह अपनी परिस्थिति में अनुकरण करता है।

1. Inferiority Complex.

इस प्रकार अभिभावकों का बालकों के समान अपनी ह्रास की प्रवृत्ति पर भी नियन्त्रण रखना अति आवश्यक है।

१५—मूलप्रवृत्तियाँ और मस्तिष्क[1]—

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूलप्रवृत्तियों को विभिन्न मानसिक शक्तियाँ नही समझनी चाहिये। वस्तुत मूलप्रवृत्तियाँ वातावरण के सम्बन्ध में क्रियाशील होने के लिये प्राणी की प्रेरणा शक्ति-रूपी वृक्ष की विभिन्न शाखाएँ हैं। मूलप्रवृत्तियाँ हमे यह बतलाती हैं कि मस्तिष्क किन-किन रूपों मे क्रियाशील होता है। वे ऐसी प्रेरणा-शक्तियाँ है जिनसे प्रभावित हो विभिन्न मानसिक शक्तियाँ प्रसगानुसार एक विशिष्ट दिशा की ओर अग्रसर होती हैं। मस्तिष्क को 'मूलप्रवृत्तियों का योग' मात्र नही समझना चाहिये। आधुनिक मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क मे एकत्व का आभास पाते हैं। उसे वे चेतना से परिपूर्ण मानते हैं। मूलप्रवृत्तियाँ मस्तिष्क को अपना दास नही बना सकती। मूलप्रवृत्तियाँ विभिन्न मानसिक शक्तियों के प्रकाशन के पृथक-पृथक प्रकार हैं। वे यह दिखलाती हैं कि किसी विशिष्ट परिस्थिति मे मस्तिष्क किस प्रकार क्रियाशील हो सकता है।

आपने उपर क्या पढ़ा ?

१—पलायन

जीवन-रक्षार्थ भाग जाने की प्रवृत्ति प्रत्येक में ध्वनि, गति कष्ट अथवा रहस्यपूर्ण इसका ज्ञानात्मक अङ्ग, इसका सवेग—भय, परिस्थिति का अनुमान अथवा वर्णन करने से भी भय की उत्पत्ति।

पलायन प्रवृत्ति पर उचित ध्यान न देने से बालक मे दीनता का आना, इसका शोधन पाप और अत्याचार मे भागने की प्रवृत्ति उत्पन्न करने मे, दण्ड का भय अमनोवैज्ञानिक।

२—युयुत्सा

इसका विकास आठ या नव वर्ष बाद; बच्चे की रक्षा के हेतु अथवा अन्य मूलप्रवृत्यात्मक क्रियायों मे बाधा इसका ज्ञानात्मक अङ्ग, इसका सवेग क्रोध।

दुष्परिणाम—

इसके अनियन्त्रण से व्यक्ति का नाश।

युयुत्सा के मूल मे सगठन की भावना निहित, इसके शोधन मे सफलता-प्राप्ति के लिये निरन्तर परिश्रम करने की आदत, इसके शोधन से अधर्म, असत्य, हिंसा और अन्याय के विरुद्ध सघर्ष करने की प्रवृत्ति का उत्पन्न होना।

---

1. The Instincts and the Mind.

३—निवृत्ति

मुंह मे अरुचिकर पदार्थ का होना इसका ज्ञानात्मक अग, इसका सवेग घृणा, इसके शोधन से क्रूरता, असत्य के प्रति निवृत्ति उत्पन्न करना।

४—पुत्र-कामना

बच्चे का रूप, ध्वनि, अथवा गन्ध इसका ज्ञानात्मक अग, सवेग-'वात्सल्य-रस'; इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास प्रौढावस्था मे, इसका प्रकाशन बचपन मे भी, 'उदारचरितनाम् तु वासुधैव कुटुम्बकम्'—पुत्र-कामना का शोधित रूप।

पुत्र-कामना प्रवृत्ति स्त्रियो मे अधिक, 'समानता' और 'सहचारिता' नियम से वात्सल्य-रस का प्रकाशन।

सभ्यता की सभी अच्छी बातो का मूल पुत्र-कामना प्रवृत्ति मे।

५—शरणागति

युयुत्सा की असफलता से शरणागति प्रवृत्ति का जागृत होना, 'कष्ट का होना' इसका सवेगात्मक अग, शरणागति का रूप विभिन्न प्रकार का, शरणागति के काशन मे दैन्य भाव का सचार नही।

६—काम-मूलप्रवृत्ति

भिन्न लिंग के किसी सुन्दर व्यक्ति तथा उसके उत्तेजक अग का देखना इसका ज्ञानात्मक अग, रुच्यात्मक, सवेग-'कामुकता', छोटे बालक मे भी यह प्रवृत्ति वर्तमान, पर प्रकाशन-विधि मे भेद।

काम-प्रवृत्ति के विकास की चार अवस्थाएँ—

शैशव मे अपने से तथा माता अथवा पिता से, बाल्यकाल मे साथियो के प्रति; इसका वास्तविक रूप किशोरावस्था मे, प्रौढावस्था इस प्रवृत्ति के लिये स्वस्थकर।

काम-प्रवृत्ति के अवदमन के दुष्परिणाम—

काम-वासना की सर्वमुखता, इसका अवदमन असम्भव, अश्लील व्यवहार; कुस्वप्न तथा गालियाँ इत्यादि काम-प्रवृत्ति के अवदमन के परिणाम, इसके अवदमन से भयानक शारीरिक और मानसिक रोग का भय।

काम-प्रवृत्ति का शोधन—

समाजोपयोगी कार्य मे लगाना इसका शोधन; समाज-सेवा, कला, साहित्य, विज्ञान तथा ईश्वर-भक्ति मे प्रेम काम-प्रवृत्ति के शोधन का परिणाम, समय का स्वस्थ कार्यो मे व्यतीत करना इसके शोधन का सबसे बड़ा साधन।

७—जिज्ञासा

जिज्ञासा की क्रियाशीलता अन्य मूलप्रवृत्तियों के सम्बन्ध मे, किसी रहस्य को

न समझना इसका ज्ञानात्मक अग, आश्चर्य का होना इसका सवेगात्मक अग, बालक के प्रश्नो का सहानुभूतिपूर्वक उत्तर देना आवश्यक ।

जिज्ञासा के अवदमन के दुष्परिणाम—

जिज्ञासा के अवदमन से मानसिक विकास का रुकना, इसके अवदमन से दूसरे के विषय मे न जानने योग्य बातो के जानने की इच्छा का उत्पन्न होना, काम-सम्बन्धी कुचेष्टाएँ अवदमन की हुई जिज्ञासा का कुफल ।

एकदम नवीन वस्तु मे बालक की रुचि नही, पुरानी वस्तु की नवीनता मे वह आकर्षित, अत पाठ का 'पूर्व-सचित-ज्ञान' से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक ।

परिवर्त्तनशील तथा गहरे रग की वस्तुओ की ओर बालक का आकर्षित होना, प्रकृति-निरीक्षण आवश्यक, विज्ञान का चमत्कार जिज्ञासा के शोधन का फल ।

प्रकृति-निरीक्षण के समय कुछ सामान्य वस्तुओ की बालको से चर्चा कर देना आवश्यक ।

क्रिया-सम्बन्धी जिज्ञासा, गुण जानने की जिज्ञासा, वस्तु के भूत व भावी रूप और क्रिया के विषय मे जानना, कार्य-कारण-भाव-सम्बन्धी जिज्ञासा—इन विभिन्न प्रकार पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि आवश्यक ।

८—दैन्य

'अपनी जाति के किसी बडे सदस्य की उपस्थिति' इसका ज्ञानात्मक अग, सवेग—'आत्महीनता', शिष्टाचार मे इस प्रवृत्ति की छाप, कक्षा में विनय का स्थापन इसी प्रवृत्ति के सहारे ।

दैन्य का दुरुपयोग—

दैन्य प्रवृत्ति के दुरुपयोग से मानसिक दासता, अधिक डाँट व फटकार से बालक मे दैन्य की प्रबलता ।

९—आत्म-गौरव या आत्म-प्रदर्शन

'अपनी जाति के छोटे सदस्य की उपस्थिति' इसका ज्ञानात्मक अग, सवेग-'आत्माभिमान', बालक मे अपने को सुन्दर, चतुर और महत्वपूर्ण दिखलाने की इच्छा, प्रत्येक अच्छे कार्य मे आत्म-प्रदर्शन का भाव निहित ।

आत्म-प्रदर्शन प्रवृत्ति का उपयोग आवश्यक, इसके दुरुपयोग से अनैतिकता की वृद्धि, निर्बलो पर अत्याचार । इस प्रवृत्ति के अवदमन का कुफल, गम्भीरता का झूठा प्रदर्शन, बालकों के धूम्रपान की आदत आत्मप्रदर्शन का ही एक रूप ।

आत्म-प्रदर्शन प्रवृत्ति के अवदमन से चरित्र में शैथिल्य, इसके शोधन से बालक

का दम्भ, असत्य और आडम्बर से बचाव, अवसर पर बालको की प्रशसा मनो-वैज्ञानिक ।

आत्म-प्रदर्शन प्रवृत्ति का रूप सामाजिक, बालक मे एक न एक गुण अवश्य, उसका पता लगा कर उसके प्रदर्शन का आयोजन करना ।

१०—सामूहिकता

अपनी जाति के किसी सदस्य की ध्वनि अथवा गन्ध ज्ञानात्मक अग, सवेग—'एकाकीपन'; सामूहिकता सामाजिक जीवन की भित्ति, इससे आत्म और जाति की रक्षा-प्रवृत्ति की पूर्ति ।

बाल्यकाल मे सामूहिकता की प्रवृत्ति विशेष जागृत, इसके विकास से नैतिकता की वृद्धि, बालको को उनके साथियो से अलग रखना अमनोवैज्ञानिक ।

११—भोजनान्वेषण

रुच्यात्मक, ज्ञानात्मक अंग 'खाद्य वस्तु की गन्ध या उसको देखना', सवेग-'भूख', इस पर उचित नियन्त्रण न होने से मानसिक विकास कुण्ठित ।

१२—संग्रह-वृत्ति

'खाद्य अथवा घर बनाने योग्य वस्तु को देखना'—इसका ज्ञानात्मक अग; सवेग—'अधिकार-भावना', 'वस्तु को प्राप्त करना या प्राप्त करने के बाद उसकी रक्षा करना' इसका क्रियात्मक अग ।

सग्रह-वृत्ति पर नियन्त्रण न होने से बालक के लोभी, चोर और कृपण हो जाने का डर; उपयोगी वस्तुओ के सग्रह के लिये उत्साहित करना, वातावरण का महत्व, प्राचीन सभ्यता का स्मृति चिन्ह सग्रह-प्रवृत्ति के कारण ।

१३—विधायकता या रचना-प्रवृत्ति

घर बनाने के लिये उपयुक्त सामग्री की उपस्थिति इस का ज्ञानात्मक अग; सवेग कृतिभाव, खिलौने का तोडना विधायकता प्रवृत्ति के कारण, रचना-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना आवश्यक ।

रचना-प्रवृत्ति से कल्पना का घनिष्ट सम्बन्ध, खेलो से रचना-प्रवृत्ति का आभास, इसके अवदमन से आत्म-विश्वास का खोना ।

१४—हास

केवल मानव जाति मे ही, हँसाने वाली परिस्थिति का आना इसका ज्ञानात्मक अग, क्रोध या सहानुभूति-प्रदर्शन से बचने के हेतु हास-प्रवृत्ति ।

हास-प्रवृत्ति की सहायता से कठिन कार्य सम्भव, विषम परिस्थितियो मे

हँसना सिखलाना, नियन्त्रण न रहने से अशिष्टता आने का भय, अपनी बात पर हँसना आत्म-हीनता का द्योतक, अभिभावकों और शिक्षकों की सतर्कता।

१५—मूलप्रवृत्तियाँ और मस्तिष्क

मूलप्रवृत्तियाँ मानसिक शक्तियाँ नहीं, मस्तिष्क मूलप्रवृत्तियों का दास नहीं, मूलप्रवृत्तियाँ विभिन्न मानसिक शक्तियों के प्रकाशन के प्रकार।

सहायक पुस्तकें

१—ड्रेवर—सम इन्स्टिंक्ट इन मैन, अध्याय ८।
२— ,, —ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी ऑव एडूकेशन, अध्याय ६।
३—मैग्डूगल—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकॉलॉजी, अध्याय ४।
४— ,, इनरजीज ऑव मैन।
५— ,, ऐन आउटलाइन ऑव साइकॉलॉजी।
६—डाम्विल—फण्डामेण्टल्स ऑव साइकॉलॉजी।
७—स्टर्ट ऐण्ड ऑकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय ३, ४, ६, व ७।
८—जेम्स—टॉक्स टु टीचर्स।
९—वैगले—एडूकेटिव प्रॉसेस।
१०—होमरलेन—टॉक्स टु पेरेण्ट्स ऐण्ड टीचर्स।
११—लालजीराम शुक्ल—बाल मनोविकास, अध्याय ५।
१२— ,, —बाल मनोविज्ञान, परिच्छेद ७।
१३—रॉस—ग्राउण्डवर्क ऑव एडूकेशनल साइकॉलॉजी अध्याय ४।
१४—सरयू प्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान, अध्याय ४ व ५।
१५—सरयू प्रसाद चौबे—किशोर मनोविज्ञान की भूमिका, अध्याय १-७

———

८

कुछ सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ

सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियो का उल्लेख पाँचवे अध्याय मे किया गया है। मूलप्रवृत्तियो और उनके भेद पर भी गत पृष्ठो मे प्रकाश डाल दिया गया है। अब यहाँ पर प्रत्येक सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति के स्वरूप का सविस्तार वर्णन करते हुए बालक की शिक्षा से उसका सम्बन्ध दिखलाया जायगा।

१—निर्देश[1]—

निर्देश के स्वरूप के विषय मे मनोवैज्ञानिको मे मतभेद पाया जाता है। स्टर्न महोदय के अनुसार "आन्तरिक अनुकरण द्वारा मस्तिष्क मे किसी समान वृत्ति को उत्पन्न करना निर्देश है।" टी० पी० नन बिना स्वेच्छा के किसी के विचार को अपना लेने को निर्देश की सज्ञा देते है। ओकडेन निर्देश को सामूहिकता मूलप्रवृत्ति का ज्ञानात्मक अग मानते हैं। मैग्डूगल के अनुसार 'निर्देश द्वारा व्यक्ति अनजान मे दूसरे के विचारो का अनुगामी हो जाता है। पर वह अपने अनुगमन का कोई कारण नही दे सकता।' इस प्रकार दूसरो के विचारो से वशीभूत होने को निर्देशित होना कहते हैं। निर्देशित होने मे अपना विचार-स्वातन्त्र्य लुप्त हो जाता है। व्यक्ति दूसरे के विचारो को अपना समझने लगता है और तदनुसार आचरण करता है। इस आचरण मे व्यक्ति यह नही समझता कि वह दूसरे के विचारो के अनुसार कार्य कर रहा है। निर्देश का स्पष्ट रूप मनोविश्लेपणवादियो के सम्मोहन-क्रिया[2] मे देखा जा सकता है। मानसिक रोगो को दूर करने के लिये निर्देश बडा अच्छा साधन सिद्ध किया जा चुका है। सम्मोहन-क्रिया मे मनोविश्लेषक[3] निर्देश द्वारा रोगी को चेतनाशून्य करके अपनी इच्छानुसार कार्य कराता है। मनोविश्लेषक कहता है कि 'बस, तुम्हे अब नीद आ रही है' और रोगी को नीद आ जाती है। पीली वस्तु दिखला कर वह कहता है कि यह लाल है और उसे वह लाल ही दिखलाई पडती है।

निर्देश-योग्यता पर परीक्षण[4]

निर्देश-योग्यता के माप के लिये कई परीक्षण किये गये हैं। इनमे सीशोर[5]

---

1. Suggestion. 2. Hypnotism. 3 Psychoanalyst. 4. Experiments on Suggestibility. 5. Seashore.

और आउसेज के परीक्षण विशेष प्रसिद्ध हैं। सीशोर-परीक्षण में व्यक्ति के हाथ में एक तार का टुकडा दे दिया जाता है। इस तार से बिजली आने की व्यवस्था रहती है। व्यक्ति-जानता है कि बिजली आने से वह तार की गरमाहट अनुभव करेगा। स्विच उसकी दृष्टि मे नही रखा जाता। उसके सामने एक बल्ब भी रहता है। बिना स्विच प्रयोग किये ही व्यक्ति से पूछा जाता है कि तार गरम हुआ कि नही। इसके साथ ही दूसरे स्विच मे सम्बन्धित बल्ब को जला दिया जाता है। बल्ब को जलते देख व्यक्ति समझता है कि तार गरम हो गया इस आत्म-निर्देश के फलस्वरूप उसका उत्तर सकारात्मक होता है।

आउसेज[1] परीक्षण बहुधा स्कूल के बालको के साथ किया जाता है। इसमें बालक के सामने एक चित्र टाँग दिया जाता है। इस चित्र के सम्बन्ध मे उससे कुछ बेतुके प्रश्न किये जाते हैं। मान लीजिये चित्र रावण के दरबार का है। इसके सम्बन्ध में ऐसे प्रश्न पूछे जायेंगे। रावण के पास तीन आदमी बैठे हैं न? अगद भी सिंहासन पर है न? क्या रावण के पास एक स्त्री भी खडी है? वास्तव मे इन सब प्रश्नो का चित्र से कुछ सम्बन्ध नही रहता। कुछ लडके तो दिये हुए सकेत को मान लेते हैं और कुछ अपनी निरीक्षण-शक्ति के अनुसार ठीक-ठीक उत्तर देते हैं। यदि १०० दिये गये निर्देश में से किसी ने ५० स्वीकार किये तो उसकी निर्देश-योग्यता $\frac{१}{२}$ मानी जायगी। $\frac{१}{२}$ मे १०० का गुणा कर देने से निर्देश-लब्धि[2] ५० मानी जायगी। बुद्धि की स्थिरता के अनुसार निर्देश-लब्धि का परिणाम दिखलाई पडता है। जिसमे जितनी ही विवेचन-शक्ति अधिक होगी वह उतना ही कम निर्देश से प्रभावित होगा। अब हम नीचे देखेंगे कि निर्देश-योग्यता किन-किन बातो पर निर्भर करती है।

निर्देश-योग्यता कई बातो पर निर्भर—

(१) उम्र—

निर्देश-योग्यता प्रत्येक व्यक्ति मे पाई जाती है। अपने स्वभावानुसार प्रत्येक की योग्यता दूसरे से भिन्न होती है। निर्देश का प्रभाव चार बातो पर निर्भर होता है। सबसे पहले निर्देश का प्रभाव उम्र के अनुसार पडता है। विवेचन-शक्ति के अभाव मे निर्देश का प्रभाव सरलता से होता है। ज्ञान तथा अनुभव की कमी होने से बालक में विवेचन-शक्ति कम होती है। अत. वह निर्देश के प्रभाव मे शीघ्र आ जाता है। पर बालक यदि हठी या असाधारण बुद्धि का हुआ तो निर्देश से उसे प्रभावित करना सरल नही। कुछ व्यक्ति बडे हो जाने पर भी मस्तिष्क की परिपक्वता नही प्राप्त कर पाते। मानसिक दासता उनका पिण्ड नही छोडती। ऐसे प्रौढ व्यक्ति भी बच्चो के समान दूसरो के प्रभाव में शीघ्र आ जाते है। यहाँ पर मानसिक निर्बलता का तात्पर्य विचार-शक्ति

1. Aussage Experiment. 2. Suggestibility quotient.

की सर्वथा शून्यता से नही। यदि विचार-शक्ति का एकदम अभाव रहेगा तो व्यक्ति का कार्य केवल शारीरिक अनुकरण तक ही सीमित रहेगा। छोटा बच्चा हमे चुटकी बजाते हुए देखता है। वह भी चुटकी बजाने की चेष्टा करता है। पर ऐसा स्वय करने का वह कारण नही समझता। अत. निर्देश का प्रभाव विचार-शक्ति की शून्यता मे नही, वरन् विवेचन-शक्ति के अभाव मे सम्भव होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि बालक के जीवन मे निर्देश का स्थान बडा महत्वपूर्ण है। उससे जैसा कहा जाता है वैसा ही वह करने लगता है। अत. अभिभावको और शिक्षको को अपने आदेश और व्यवहार पर सदैव ध्यान रखना चाहिये। अमनोवैज्ञानिक लोग बालको को डाँट कर बहुधा कह दिया करते हैं कि "तुम मूर्ख हो, तुम कुछ भी नही सीख सकते, तुम्हारा जीवन व्यर्थ है।" शिक्षको और अभिभावको को बालक बडी श्रद्धा से देखता है। अत उनके शब्दो का प्रभाव उस पर शीघ्र होता है। जैसे साल भर खिला-पिला कर एक बार दुत्कार दिया जाय तो सब कुछ मिट्टी मे मिल जाता है, वैसे ही साल भर पढा कर एक बार इस प्रकार कह दिया जाय तो पढाया और सिखाया हुआ सब चौपट हो हो जाता है और बालक अपने विकास मे बहुत पीछे हट जाता है।

(२) ज्ञान और दृढ़ धारणा[1] (३) मानसिक स्थिति[2]—

जिसका ज्ञान पर्याप्त होता है, जिसकी अपनी कुछ धारणा होती है, वह शीघ्रता से निर्देशित नही होता। किसी बात के सुनने पर वह उसकी पूरी आलोचना करता है। मानसिक स्थिति पर भी निर्देश का प्रभाव निर्भर होता है। जब व्यक्ति थका अथवा अस्वस्थ रहता है तब उस पर निर्देश का प्रभाव शीघ्र पडता है। निर्देश के विवेचन की उसकी रुचि नही रहती है और वह दूसरो की बात को शीघ्र मान लेता है।

(४) संकेत का उद्गम[3]—

निर्देश के उद्गम पर उसका प्रभाव बहुत कुछ निर्भर करता है। निर्देश देने वाले व्यक्ति पर पाने वाले का पूर्ण विश्वास है तो निर्देश का प्रभाव शीघ्र ही पड़ेगा। अभिभावको, माता-पिता, बड़े भाई-बहिनो तथा शिक्षको से पाये हुए निर्देश का बालक पर शीघ्र प्रभाव पडता है। प्रेम करने वाले व्यक्ति पर हमारा अधिक विश्वास रहता है। बालक अपनी माँ से प्रेम करता है। अत माता के निर्देश पर वह तुरन्त विश्वास कर लेता है। वस्तुत. माता के विश्वास को वह अपना लेता है। माता का ही स्थान उसके लिये मन्दिर, मसजिद और गिरजाघर हो जाता है। बच्चे अपने बड़े तथा ऊँचे साथियो के प्रभाव मे शीघ्र आ जाते हैं। यदि साथी कुछ बड़ा हुआ तो उसके सभी निर्देशो का बालक पर शीघ्र प्रभाव पडेगा। उसी के अनुसार उसके चरित्र का गठन

1. Knowledge and Conviction. 2. Mood 3. Source of Suggestion.

होगा। डाक्टर के किसी बात के कहने पर रोगी शीघ्र विश्वास कर लेता है, पर दूसरे के कहने पर नहीं। यदि माता कहती है कि "अरे गोंगो आया" तो बालक डर जाता है। पर अपने किसी साथी के ऐसा कहने पर वह नहीं डरता। यदि माँ हर समय डर दिखा कर रोते हुए बच्चे को चुप कराना चाहती है तो इसका प्रभाव अच्छा न होगा। अत बालको का पालन-पोषण इस प्रकार करना है कि उसे सदा लाभप्रद निर्देश मिला करे। इसमे अभिभावको और शिक्षको का बड़ा भारी हाथ रहता है। निर्देश से चाहे जिस ओर वे बच्चो को झुका सकते है।

निर्देश के प्रकार—

निर्देश चार प्रकार के होते है :—

(१) आत्म-निर्देश[1]

(२) आप्त-निर्देश[2]

(३) समूह-निर्देश[3]

(४) विरुद्ध-निर्देश[4]

(१) आत्म-निर्देश—

आत्म-निर्देश का स्थान शिक्षा मे बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसमे बड़ी अद्भुत शक्ति होती है। इसके सहारे व्यक्ति उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है, अथवा अपना सर्वनाश भी कर सकता है। आत्म-निर्देश की शक्ति बड़ी साधना से प्राप्त होती है। जो जितना महान् होता है उसमे उतनी ही अधिक यह शक्ति होती है। मूर्ख और अज्ञान व्यक्ति सदा दूसरे के सकेत पर नाचा करता है। उनमें आत्म-निर्देश की शक्ति बहुत ही कम होती है। यदि व्यक्ति नित्य अपने से कहता रहे कि 'वह जीवन मे अमुक पद पर अवश्य पहुँचेगा' तो निश्चय ही एक दिन वह उस पद पर आसीन होगा। इस बात का इतिहास साक्षी है। बहुत से महापुरुषो की उन्नति के मूल मे उनकी आत्म-निर्देश की शक्ति ही रहती है। आत्म-निर्देश ही के बल पर नैपोलियन नैपोलियन हो सका। आत्म-निर्देश ही के बल पर क्लाइव भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की नीव डाल सका। यदि व्यक्ति यह विश्वास कर ले कि "उसका जन्म किसी प्रयोजन से हुआ है, वह मानव के कल्याण के हेतु ईश्वर का एक विशिष्ट सन्देश लाया है, जो उसमे शक्ति है वह दूसरे मे नहीं," तो वह इस जीवन मे क्या नहीं कर सकता ? आत्म-शक्ति से क्या सम्भव नहीं है ? यह एक ऐसी शक्ति है जिससे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। अत अभिभावको और शिक्षको का कर्तव्य है कि वे बालको मे इस प्रकार की शक्ति का सचार करते रहे।

---

1. Auto-suggestion. 2. Prestige suggestion. 3. Mass Suggestion. 4. Contra-suggestion.

आत्म-निर्देश से कभी-कभी हानि भी हो जाती है। यदि अन्धेरे में जाते हुए किसी झाड़ी अथवा पेड को देख कर व्यक्ति उसे भूत समझ ले, तो उसकी कल्पनानुसार निश्चय ही एक भूत दिखलाई पडेगा। आत्म-निर्देश से निर्बल लोग अपने मे विभिन्न प्रकार के रोगों का आह्वान कर लेते हैं। अपने निर्देश के अनुसार व्यक्ति कभी-कभी भयङ्कर परिस्थितियाँ भी पा जाना है। अतः यह आवश्यक है कि निर्देश सदा स्वस्थकर ही हो।

(२) आप्त-निर्देश—

आप्त-निर्देश निर्देश देने वाले की प्रतिष्ठा पर निर्भर रहता है। यदि निर्देश देने वाला, वल, बुद्धि और विद्या मे प्रतिष्ठित हुआ तो उसका प्रभाव दूसरे पर शीघ्र पड जाता है। कक्षा में शिक्षक, घर पर माता-पिता, भीड मे नेता, सभाभवन में भाषणवक्ता प्रतिष्ठा या आप्त-निर्देश से दूसरो पर अपना प्रभाव डालते है। इस प्रकार के निर्देश से शिक्षक क्या नही कर सकता ? अच्छे काम करने के लिये बालक मे कूट-कूट कर वह उत्साह भर सकता है। बिलकुल निराश बालक को भी यह अनुप्राणित कर सकता है। परन्तु शिक्षक को यह ध्यान रहे कि निर्देश की अधिकता से बालको का मानसिक विकास रुक भी सकता है। वे सदा दूसरे पर ही निर्भर रहेगे। विचार-स्वातन्त्र्य उनमें न रहेगा। धीरे-धीरे वे अपना व्यक्तित्व खो बैठेगे। अत अधिक निर्देश देना अमनोवैज्ञानिक है। पहले बालक को अपनी बुद्धि के अनुसार सोचने और निश्चय करने के लिये उत्साहित करना चाहिये। उसके असफल होने पर ही निर्देश द्वारा उसमे आवश्यक शक्ति अथवा विचार देना लाभप्रद सिद्ध होगा।

अपने शिक्षक तथा अभिभावको पर बालको की अटूट श्रद्धा और विश्वास होता है। अत बालकों के सामने उनके शब्द एकदम तुले हुए निकलने चाहिये। उनमे प्रशंसा या अप्रशंसा पाने पर बालको पर बडा गहरा प्रभाव पडता है। उपयुक्त अवसर पर प्रशसा अवश्य देनी चाहिये। यदि बालक स्कूल मे कोई अच्छा कार्य करता है तो सब बालको के सामने उसकी प्रशंसा कर देने से उसे बडा आत्म-बल मिलता है। शिक्षक को बालक के गुण जान कर उसमे उनकी चेतना लानी चाहिये। इससे बालक अपने व्यक्तित्व को समझने लगेगा। शिक्षक और अभिभावक का यह परम कर्तव्य है कि वे अपना चरित्र-बल बढाये। उनके सभी कार्य बालक के लिये आदर्श स्वरूप होने चाहिये, क्योंकि वह उन्हे सभी बातो मे अपना आदर्श मानता है। इसमे उनका उत्तरदायित्व बहुत बढ जाता है।

(३) समूह निर्देश—

व्यक्ति पर समूह के विचारों का बडा प्रभाव पडता है। समूह के साथ रहने से उसके विचारों को मान लेने की उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यही कारण है

कि सभा में बैठा हुआ व्यक्ति भाषणवक्ता की बातों के प्रभाव में शीघ्र आ जाता है। यदि वही बात उससे अकेले में कही गई होती तो कदाचित् उसका उसके ऊपर प्रभाव न होता। समूह में रहने के समय व्यक्ति अपना व्यक्तित्व भूल जाता है। वह समूह के विचारों के अनुसार आचरण करने लगता है। स्कूल, कक्षा, खेल-मैदान, सभा तथा गोष्ठियों में समूह-निर्देश का प्रभाव भली-भाँति दिखलाई पड़ता है। सामूहिकता में एक बड़ी प्रबल शक्ति होती है। इस शक्ति को मुहम्मद साहब ने सबसे पहले पहचाना। इसीलिये उन्होंने सामूहिक रूप में नमाज पढ़ने की विधि निकाली। मुसलमानों की एकता का एक यह भी कारण है। समूह-निर्देश का उपयोग स्कूलों में अच्छी प्रकार किया जा सकता है। बालकों की नैतिक उन्नति में यह बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है। स्कूलों में कभी-कभी सभी बालकों को समूह में एकत्रित कर उपदेश देना चाहिये। इसका बालक के चरित्र पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा। उसकी बुरी आदतें इस प्रकार निकाल कर उसमें अनेक गुण भरे जा सकते हैं। वास्तव में हमारी बहुत सी आदतें समूह-निर्देश के आधार पर ही बनती हैं। हमारा धार्मिक विश्वास, शिष्टाचार तथा पहनावे का ढंग अनजान में समूह-निर्देश द्वारा ही बनता है। हमारे विश्वास का व्यक्तिगत आधार कम हुआ करता है। हम किसी बात पर विश्वास करते हैं, क्योंकि दूसरे भी उसे मानते हैं। पुस्तक में छपी हुई बात पर शीघ्र विश्वास हो जाता है, क्योंकि हम मान लेते हैं कि उस पर सब का विश्वास है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण बड़ा मनोरंजक है। "पञ्च" के सम्पादक महोदय अपनी पत्नी को यह समझाने में असफल हुए कि अमुक वस्तु स्वास्थ्य के लिये हानिकर होती है। उनकी पत्नी बहुधा वही वस्तु बना कर उन्हें परोस दिया करती थी। सम्पादक महोदय तंग आ गये। उन्हें एक उपाय सूझा। उस वस्तु के हानि-लाभ पर उन्होंने एक लेख लिख कर बिना लेखक का नाम दिये उसे अपनी पत्रिका में छाप दिया। लेख पढ़ने के बाद उनकी पत्नी ने उस वस्तु का प्रयोग एकदम बन्द कर दिया।

(४) विरुद्ध-निर्देश—

कभी-कभी निर्देशित विचार के विरुद्ध व्यक्ति कार्य कर बैठता है। निर्देश से विरुद्ध कार्य करने की प्रवृत्ति को विरुद्ध-निर्देश कहते हैं। यह प्रवृत्ति छोटे बालकों में विशेषकर देखी जाती है। आया से कहा जाता है कि चली जाओ तो वह कहती है कि 'नहीं जाऊँगी'। वह 'बैठो' का उत्तर 'नहीं बैठूँगी' देती है। यदि किसी बालक से कहा जाता है कि उस कुर्सी पर मत बैठना तो वह निश्चय ही जाकर उस पर बैठ जाता है। यदि उससे कहा जाय कि यह पुस्तक तुम्हें नहीं पढ़नी चाहिये तो उसकी उत्सुकता बढ़ जाती है, और इसे पढ़ने की वह लाख चेष्टा करता है। किसी डाक्टर ने एक रोगी को बोतल भरी दवा देते हुए कहा कि इसे पीते हुए बन्दर का ध्यान

न करना।' लाख चेष्टा करने पर भी रोगी को वन्दर का ध्यान आ जाता था। उसने डाक्टर साहव से कहा कि 'यदि आपने वन्दर का नाम ही न लिया होता तो कदाचित् मै उसके वारे मे कभी न सोचता।' यदि रात्रि मे किसी अनजान स्थान को जाते समय किसी व्यक्ति से कह दिया जाय कि "अमुक इमली के वृक्ष के नीचे एक वडा भारी नट प्रेत-रूप मे निवास करता है, अत उससे डरना नही"—तो निश्चय है कि उस वृक्ष के पास आने पर उस नट का उसे अचानक ध्यान आ जायेगा। हो सकता है कि उसके पहले उसका तनिक भी ध्यान न रहा हो। इन सव वातो के आधार मे विरुद्ध-निर्देश की ही शक्ति छिपी रहती है। सन्दूक न खोलने के विरुद्ध-निर्देश से ही पिण्डोरा ने उसे खोल कर नाना प्रकार की विपत्तियो का आह्वान किया। एडम और ईव से ज्ञानफल को चखने के लिये मना किया गया था। इसीलिये उन्होने उसे चख अपनी उत्सुकता दूर की। एक कमरे से दूसरे कमरे मे सितार ले जाते हुए एक व्यक्ति से लेखक सदा कहा करता था कि "देखो, सँभाल कर जाना कही टक्कर न लग जाय"। इस आदेश का परिणाम यह होता था कि टक्कर सदा लग जाया करती थी। वह व्यक्ति लाख चेष्टा करने पर भी असफल होता था। यह आत्म-विरुद्ध-निर्देश का फल था। उसे टक्कर न लगने का सदा ध्यान रहता था, इसलिये सदा टक्कर लग जाया करती थी। लेखक को पहले यह वात समझ में न आई कि मना करने पर भी टक्कर क्यो लग जाया करती है। पर वाद मे उसने उसे हर वार टक्कर लगने का कारण समझा दिया और सावधान करना भी छोड दिया। फलत टक्कर लगना वन्द हो गया।

इस प्रकार विरुद्ध-निर्देश का प्रभाव आशय के एकदम विपरीत होता है। अत. वालको को अभावात्मक आदेश देना हानिकर है। "यह न करो, वह न करो" कहना ठीक नही। वालको को सदा भावात्मक[1] आदेश देना ही ठीक होगा। 'बुरा न लिखो' कहने से 'सुन्दर लिखो' कहना अधिक अच्छा है। वालकों के सामने यथासम्भव 'ठीक वातो' का उदाहरण रखना चाहिये। श्यामपट पर किसी शब्द को गलत लिख कर उसे ठीक कहलवाने की प्रणाली मनोवैज्ञानिक नही। कही-कही विरुद्ध-निर्देश का प्रभाव लाभकारी भी सिद्ध हो सकता है। पर इसमे वडी चातुरी और अवसर की उपयुक्तता के पहचानने की आवश्यकता है। किसी कार्य से विरत करने के हेतु यदि उसे करने के लिये किसी वालक से उपयुक्त अवसर पर कहा जाय तो वहुत सम्भव है कि वह उसे न करे।

विरुद्ध-निर्देश के सम्वन्ध मे एक वात और उल्लेखनीय है। यदि शिक्षक का चरित्र व आचरण अच्छा न हुआ तो उसके आदेशो का उलटा प्रभाव पडेगा। आदर्श-

1 Positive.

सम्बन्धी उसकी लम्बी-लम्बी बातों पर विद्यार्थी हँसेंगे। अत. यह आवश्यक है कि शिक्षक अपना आचरण सदा पवित्र रखे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो बालको तथा साथ ही साथ राष्ट्र का वह बडा अहित करेगा। ऐसे शिक्षक शिक्षक नहीं, वरन् जेल मे रखे जाने योग्य अपराधी हैं।

निर्देश का दुरुपयोग—

ऊपर हम सकेत कर चुके हैं कि निर्देश के बाहुल्य मे बालक मे आत्मनिर्भरता और विवेचन-शक्ति का अभाव हो सकता है। अत· निर्देश का प्रयोग उचित अवसर पर ही करना चाहिये। बालक के विकास के साथ उसकी निर्देश-योग्यता भी कम हो जाती है। धीरे-धीरे निर्देश-योग्यता का कम होना सामान्यत. अच्छा ही लक्षण कहा जायगा। निर्देश के सम्बन्ध में बालक की चेतनावस्था मे भी सतर्क रहना चाहिये। कुछ माताएँ बहुधा बच्चो को चुप करने के लिये डराया करती हैं। इसका परिणाम बडा ही बुरा होता है। एक बार भय के बैठ जाने से उसका निकलना कठिन हो जाता है। बडे हो जाने पर भी व्यक्ति को कुछ वस्तुओ का भय बना रहता है। उसे उन बांस के पेडो के पास रात्रि को जाने मे डर लगता है। वह उस कुएँ के पास नहीं जायगा। लाख रुपया पाने पर भी वह अर्द्ध रात्रि को उस पीपल के वृक्ष के नीचे जाने का साहस न करेगा। बैशाख और ज्येष्ठ के दोपहर मे भी वह उस इमली के पेड के पास नहीं जायगा। इस सब स्थानो मे उसे किसी कल्पित भूत, प्रेत, जिन्न या चुड़ैल का डर रहता है। यह सब डर बचपन के कुसस्कारो मे ही पड जाता है। इस कुसस्कार का सारा उत्तरदायित्व अभिभावको पर है। बचपन मे भय दिखलाने से बालक के हृदय पर एक ऐसा आघात लगता है जिसकी छाप सदा के लिये स्थापित हो जाती है। अपने अधिकार मे करने के लिये बच्चे को किसी प्रकार का भय दिखलाना वास्तविक दण्ड देने से भी अधिक घातक है, क्योकि इसका उसके व्यक्तित्व पर आघात पहुँचता है। क्या ही अच्छा होता यदि अभिभावक बच्चो के पालन-पोषण में मनोवैज्ञानिक पथ का अनुसरण करते !!! यदि बालक का वातावरण ठीक रखा जाय, यदि प्रारम्भ मे ही उसे दृढ बनाने की चेष्टा की जाय तो उसमे भय की प्रवृत्ति प्रबल न होगी। वह वीर और साहसी होगा। उचित शिक्षा के पाने पर वह जीवन मे कौन सी वीरता का कार्य नहीं कर सकता ?

२—सहानुभूति[1]—

कुछ मनोवैज्ञानिक सहानुभूति को मूलप्रवृत्ति की कोटि मे रखते हैं, पर बहुधा यह सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति मानी जाती है। मैग्डूगल सहानुभूति, निर्देश और अनु-

---

1. Sympathy

करण को अर्ध-मूलप्रवृत्ति[1] मानता है। जेम्स ने सहानुभूति को एक सवेग माना है। ड्रेवर के अनुसार सहानुभूति दूसरों की सवेदना और संवेग के केवल देख ही लेने पर अनुभव करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है।[2] जैसे निर्देश मे व्यक्ति दूसरे के विचारों का अनुकरण करता है उसी प्रकार सहानुभूति मे भी वह दूसरे के भावो का अनुकरण करता है। सहानुभूति मे सामाजिकता का भाव निहित है। इसकी क्रियाशीलता के लिये कम से कम दो व्यक्तियो का होना आवश्यक है। सहानुभूति प्राय सभी चतुर पशु-पक्षियो और मनुष्यो मे पाई जाती है। एक जाति के सदस्य से उसी जाति के अन्य सदस्य मे यह सक्रामित होती है। यदि दो कुत्तो ने लड़ना प्रारम्भ किया तो प्रायः गाँव के सभी कुत्ते उनकी ध्वनि से आकर्षित हो जाते है और "भॉव भॉव" करने लगते हैं। एक सियार के वोलने से सभी सियारो का "हुँआँ-हुँआँ" प्रारम्भ हो जाता है। भय से एक गाय के चिल्लाने पर सभी गायें भय से एकत्रित हो जाती है। एक स्त्री के रोने से गॉव की अधिकतर स्त्रियाँ इकट्ठा होकर रोने लगती है।

सहानुभूति के क्रियाशील होने के लिये यह आवश्यक नही कि व्यक्ति दूसरे के सवेग को पहले ठीक-ठीक समझ ले। दूसरे के सवेग के रूप को विना भली-भाँति समझे ही व्यक्ति उसका अनुभव करने लगता है। उदाहरणार्थ, हम किसी को रोते देख कर रोने लगते हैं। यहाँ सहानुभूतिवश रोने लगने का तात्पर्य यह नही कि हम उसके भाव (फीलिङ्ग) को समझते हैं, वरन् उसके वाह्य प्रकाशन के देखने मात्र से हम प्रभावित हो जाते हैं।

निष्क्रिय[3] और सक्रिय[4] सहानुभूति—

महानुभूति दो प्रकार की होती है—(१) निष्क्रिय और (२) सक्रिय। दूसरे के भाव के अनुभव की प्रवृत्ति को निष्क्रिय सहानुभूति कहते है। पशुओ की सहानुभूति का रूप वहुधा निष्क्रिय ही हुआ करता है। मनुष्य पशु से वहुत आगे है। अत. उसमे 'निष्क्रिय' के अतिरिक्त सक्रिय सहानुभूति भी होती है। वह दूसरो के भाव की अनुभूति मात्र से ही सन्तुष्ट नही होता। वह उसे दूसरो तक पहुँचाना भी चाहता है। वह अपने सुख व दुःख को अकेले नही, अपितु दूसरो के साथ भोगना चाहता है। अपनी इस प्रवृत्ति की पूर्ति वह व्याख्यान, लेख, नाटक इत्यादि साधनो द्वारा करता है। इस वृत्ति को सक्रिय सहानुभूति कहते हैं। भिखमङ्गा सक्रिय सहानुभूति के द्वारा अपने दुःखो से दूसरो को प्रभावित कर अपनी रोटी कमाना चाहता है। सभा का भाषणवक्ता भी इस वृत्ति का सहारा लेता है। सक्रिय सहानुभूति निष्क्रिय से ही निकलती है। निष्क्रिय के अभाव में सक्रिय का होना सम्भव नही।

---

1 Pseudo-instinct 2. ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु एजूकेशनल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ८३। 3. *Passive* 4 *Active*

सहानुभूति-प्रवृत्ति मानव निर्बलता—

साधारणत यह कहा जा सकता है कि सहानुभूति मनुष्य की निर्बलता का द्योतक है, क्योंकि इसी के सहारे अनेक बुरे या अच्छे कार्य करने की ओर वह अग्रसर हो सकता है। भाषणवक्ता भाषण के सहारे भीड के संवेग का अनुचित लाभ उठा कर चाहे उसे जिस ओर ले जा सकता है। भाषणवक्ता की भावनाओं में सहानुभूतिवश भीड ने क्या-क्या काम नही किया है? इतिहास इसका साक्षी है।

सामाजिक जीवन के लिये सहानुभूति आवश्यक—

यह निर्विवाद है कि दुरुपयोग से सहानुभूति प्रवृत्ति हानिकर सिद्ध हो सकती है, पर इसके बिना सामाजिक जीवन असम्भव हो जायगा। सब लोग अपना अलग-अलग राग अलापने लगेंगे। वास्तव मे सहानुभूति तो सामूहिक जीवन-प्रवृत्ति[1] से सम्बद्ध संवेग है। बिना संवेग के कोई मूलप्रवृत्ति क्रियाशील होती नही। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। शैशव मे ही उसमें सामाजिकता का आभास मिलने लगता है। अत हम कह सकते है कि बालक के विकास में सहानुभूति-प्रवृत्ति का विशेष स्थान है। उसके संवेगात्मक विकास मे सहानुभूति ही कार्य किया करती है। सहानुभूति ही के कारण मनुष्य के कार्यों मे एक अनुरूपता का आभास मिलता है। इसी से हम एक दूसरे के स्वार्थ का ध्यान रखते हैं। इससे आपस में प्रेम की वृद्धि होती है। सहानुभूति पशुओ मे बुद्धि के अभाव को कुछ पूरा करती है। सहानुभूतिवश पशु एक दूसरे की सहायता कर बुद्धि का प्रदर्शन करते हुए दिखलाई पडते है।

सहानुभूति के अनुभव के लिये कुछ बातो का होना आवश्यक है। पहले, संवेग का प्रदर्शन इस प्रकार हो कि दूसरे भली-भाति उसे देख सकें। इसीलिये भीड मे संवेग शीघ्र फैल जाता है और लोग सहानुभूति का अनुभव करने लगते हैं। दूसरे, सहानुभूति के लिये औदार्य भाव का होना आवश्यक है। यदि व्यक्ति मे उदारता का अभाव है तो पिल्ले को कष्ट से कराहते हुए देख कर वह द्रवीभूत नही हो सकता, या वध किये जाते पशु के चीत्कार पर उसे तनिक भी रोमाच न होगा। ज्यो-ज्यो व्यक्ति मे औदार्य का विकास होगा त्यो-त्यो उसकी सहानुभूति की सीमा भी बढती जायगी। सहानुभूति का प्रारम्भ सर्वप्रथम अपने कक्ष के लोगो मे प्रारम्भ होता है। अपने विकास के अनुसार हम धीरे-धीरे इसे बढाना सीखते हैं। शताब्दियो के बाद मनुष्य पशुओ के प्रति सहानुभूति दिखलाना सीखा। मध्यकालीन योरप मे लोग दासो[2] के प्रति सहानुभूति नही रखते थे। मानवता के विकास के साथ सहानुभूति-वृत्ति भी विकसित होती गई है। कुछ हिन्दू और मुसलमान अभी तक एक दूसरे के प्रति द्वेष से मुक्त नही हुए हैं। अतएव एक दूसरे वर्ग के शरणार्थियो के प्रति सहानुभूति का अनुभव उनके लिये कठिन सिद्ध हो

1. Gregarious instinct 2. Slaves.

रहा है। वास्तव में मानव आदर्श की चरम सीमा तो तभी पहुँचेगी जब हरएक प्रत्येक को प्रेम से गले लगा सके—चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, बुद्ध, ईसाई अथवा यहूदी हो। वह दिन कितना अच्छा होगा !! महात्मा बुद्ध ईसा और गाधी ने इसी दिन की कल्पना की है !!!

सहानुभूति और शिक्षा—

बालक के सवेगात्मक[1] विकास मे शिक्षक का उत्तरदायित्व बडा भारी है। बालक की कोमलता का अनुचित लाभ न उठा कर उसे उसी के विकास की ओर प्रवाहित करना है। शिक्षक बालक को रुला और हँसा सकता है। वह उसमे क्रोध व घृणा का सवेग भर सकता है। वह उसमें अदम्य उत्साह भर सकता है। शिक्षक को समझना चाहिये कि किस समय किस सवेग का उत्पादन बालक के विकास के लिये उचित होगा। मनोविज्ञान की सहायता से ही वह अपने इस कर्तव्य का पालन कर सकता है। इतिहास तथा साहित्य के पाठ मे शिक्षक जिस भाव व सवेग से अनुप्राणित होगा उसका *बालक पर स्थायी प्रभाव पडे बिना न रहेगा। विभिन्न घटनाओ तथा चरित्रो के वर्णन* के समय शिक्षक को उपयुक्त सवेग से बालको को जागृत करना चाहिये। यदि शिक्षक मे स्वय किसी वस्तु विशेष की अनुभूति की शक्ति है, अर्थात् यदि वह स्वय किसी विशिष्ट परिस्थिति मे सहानुभूति का प्रदर्शन कर सकता है तो निश्चय है कि बालक भी उस सहानुभूति का अनुभव करेगे। यदि शिक्षक ने किंचित् भी इस अवसर पर गलती की तो उसका प्रभाव बालको पर घातक होगा। तब वह बालको मे उपयुक्त स्थायी-भाव[2] नही उत्पन्न कर सकेगा। सहानुभूति द्वारा बालको मे अनेक गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं। नैतिकता के विकास का आधार सहानुभूति है। यदि दुर्बुद्ध बालक अच्छे वातावरण मे रख दिया जाय तो उसका चरित्र स्वत सुधर जायगा।

३—अनुकरण[3]—

अनुकरण का रूप—

वास्तव मे निर्देश, सहानुभूति और अनुकरण एक त्रिभुज की तीन भुजायें है। कुछ मनोवैज्ञानिको ने तो इन्हे सामूहिक मूलप्रवृत्ति का क्रमश ज्ञानात्मक, सवेगात्मक और क्रियात्मक अङ्ग माना है। कुछ मनोवैज्ञानिको की दृष्टि मे वे एक ही प्रवृत्ति के तीन पहलू हैं। निर्देश से हम अनजान मे दूसरो का अनुकरण करने लगते है। सहानुभूति से हम दूसरे के भावो और 'अनुकरण' से हम किसी की क्रिया का अनुकरण करते हैं। मनोवैज्ञानिको ने 'अनुकरण' को एक सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति माना है। यह सभी मनुष्यों में पाई जाती है। अनुकरण प्रवृत्ति मे पशु-पक्षी भी वञ्चित नही। बन्दरों की अनुकरण-प्रवृत्ति प्रसिद्ध है। तोता अनुकरण-प्रवृत्ति से ही 'राम राम' रटना सीख लेता है। अनुकरण-प्रवृत्ति से ही सरकस वाले कुछ पशुओ द्वारा कौतुक दिखलाया करते

1 Emotional 2 Sentiments. 3. Imitation.

हैं। सन्ध्याकाल की प्रसन्नता या खेल मे एक कुत्ते के भूँकने से गाँव के सभी कुत्ते इकट्ठे होकर चिल्लाना प्रारम्भ कर देते हैं। दो कुत्तो को खेलते देख तीसरा भी उसी में जुट जाता है। यह अनुकरण-प्रवृत्ति ही है। वालक हमें मुस्कराते हुए देख स्वय मुस्कराने लगता है। हम जैसे-जैसे अपनी आँखें और ऊँगलियाँ नचाते हैं वैसे-वैसे वह भी करने लगता है। वह सब अनुकरण प्रवृत्ति का ही प्रदर्शन है।

विकास मे अनुकरण का महत्व—

प्राणी के विकास मे अनुकरण का महत्व बडा भारी है। अनुकरण मे ही पक्षी उडना सीखता है। आगे-आगे माँ उड कर दिखलाती है और वच्चे को उडने के लिये प्रेरित करती हैं। उडने से ही वे दाना चुँगना सीखते हैं। इसी प्रकार अनुकरण से ही अन्य पशु-पक्षी अपनी आवश्यकता को पूरा करने का ढग सीखते हैं। मानव जीवन में भी अनुकरण का स्थान महत्वपूर्ण है। यदि अनुकरण की प्रवृत्ति न होती तो पता नही आज की सभ्यता का रूप क्या होता। जेम्स के अनुसार "अनुकरण और आविष्कार रूपी पैरो पर मानव जाति सदा चलती रही है।" हमारा सामाजिक विकास अनुकरण का ही फल होता है। अनुकरण से ही हम अपनी विभिन्न आदते, वोलने, चलने, वैठने और सोने का ढग सीखते हैं। अनुकरण से ही हम वन्द गला या खुला गला का कोट पहनना निश्चय करते हैं। अनुकरण से ही हम मूँछे एक दम मुडा देते हैं अथवा 'गलगुच्छ' रखते है। सामूहिक मूलप्रवृत्ति जिन-जिन प्राणियो मे पाई जाती हैं उनमे अनुकरण की प्रवृत्ति दिखलाई पडेगी। थॉर्नडाइक अनुकरण को 'सामान्य प्रवृत्ति' नही मानता। उसके अनुसार वालक अनुकरण के आधार पर नही, अपितु अपने अनुभव के आधार पर सीखता है। इस प्रकार थॉर्नडाइक 'अनुकरण' का श्रेय 'आदत' को देता है। पर ड्रेवर और मैग्डूगल थॉर्नडाइक से सहमत नही। उनकी दृष्टि मे वालक अनु-करण के आधार पर वहुत कुछ सीखता है। वास्तव मे वालक का अनुभव वहुत ही सीमित होता है। अनुकरण की प्रवृत्ति के अभाव मे उसका विकास वहुत ही पीछे रह जायगा। सभी क्षेत्रो में उसका विकास वडो के ढगो के अनुकरण पर निर्भर करता है। कदाचित यही कारण है कि छोटे वालको मे वडो की अपेक्षा अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक प्रवल होती है। यदि ऐसी वात न होती तो माँ अथवा दाई इतनी शीघ्रता में उन्हे वोलना न सिखा सकती। किसी प्रौढ व्यक्ति को विदेशी भाषा इतनी शीघ्रता से नही आती जितनी कि छोटे वालक को।

अनुकरण प्रवृत्यात्मक इच्छा की पूर्ति के लिये[1]—

इसकी स्वाभाविकता[2]—

पांचवें अध्याय में हम कह चुके हैं कि सामान्य प्रवृत्तियों को क्रियाशील करने

1 Imitation for the fulfillment of instinctive desire. 2 Its spontaneousness.

के लिये किसी विशिष्ट परिस्थिति की आवश्यकता नही होती, तथा उनकी क्रिया मे अन्य मूलप्रवृत्तियो का भी क्रियात्मक समावेश हो जाता है। अत किसी प्राणी की अनुकरण-क्रिया उसके लिये कुछ विशिष्ट प्रयोजन रखती है। दूसरो की दृष्टि मे वह व्यर्थ सी प्रतीत हो सकती है। पर उस प्राणी के विषय मे ऐसी बात नही। उसकी अनुकरण-क्रिया जिज्ञासा, युयुत्सा अथवा विधायकता आदि मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओ की पूर्ति में हो सकती है। अनुकरण की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। पर ऊपर हम देख चुके हैं कि थॉर्नडाइक को अनुकरण की स्वाभाविकता मान्य नही। वह पूछता है कि "बालक अनुकरण के बल पर प्रारम्भ से ही बडो के समान बोलने क्यो नही लगता? वह अनुभव से ही ठीक-ठीक बोलना सीखता है।" थॉर्नडाइक के इस कथन मे कुछ तथ्य अवश्य दिखलाई पडता है। पर बच्चे को हम मोटर चलाने वाले का अनुकरण करते हुए देखते हैं। वह सिपाही का नाटक करता है। छडी को घोडा मान कर उस पर सवारी करता है। खिलौने को बच्चा मानकर उसे दूध पिलाने की चेष्टा करता है। माँ को बर्तन स्वच्छ करते देख बर्तन स्वच्छ करने लगता है। क्या ये सब क्रियाएँ अनुभव के फल हैं? स्पष्ट है कि अनुकरण की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है।

अनुकरण की गति—

१—भीतर से बाहर की ओर—

अनुकरण की गति भीतर से बाहर की ओर होती है। निर्देश की गति केवल भीतर की ही ओर होती है। व्यक्ति विचारो को ग्रहण करने के बाद उसकी प्रतिक्रिया अपने कार्यो द्वारा दिखलाता है। देश मे किसी सस्था अथवा सिद्धान्त का प्रचार इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के बल पर होता है। प्रचारक पहले अपने विचारो को निर्देश और सहानुभूति के द्वारा फैलाता है। तत्पश्चात् लोग उन विचारो का अनुकरण करते हैं।

२—अति-तीव्र—

विचार के ग्रहण कर लेने पर अनुकरण की गति बडी तीव्र हो जाती है। जब तक महात्मा ईसा के विचारो को लोगो ने न समझा तब तक उन्हे नाना प्रकार की यातनाएं भोगनी पडी। पर विचार समझ लेने के बाद उनके अनुकरण की गति बडी तीव्र हो चली। यदि व्यक्ति अपने सिद्धान्तो पर डटा रहे तो उनका अनुकरण धीरे-धीरे प्रारम्भ होकर तीव्र गति मे चलने लगता है। यह बात महात्मा गाधी के जीवन मे भी स्पष्ट है।

अनुकरण के प्रकार

मैग्डूगल का वर्गीकरण—

मैग्डूगल अनुकरण का पाँच भागो में वर्गीकरण करता है। इन पांच में तीन को वह प्रधान (मेन) मानता है और दो को गौण (माइनर)।

प्रधान अनुकरण[1]—

१—सहज अनुकरण[2]—

बालक दूसरे को हँसते अथवा रोते देख कर हँसने या रोने लगता है। हम मुँह टेढा करते हैं तो वह भी वैसा ही टेढा करता है। चुटकी बजाने पर वह भी चुटकी बजाने लगता है। इस प्रकार के अनुकरण को मैग्डूगल सहज अनुकरण की संज्ञा देता है। इन सब कार्यों मे सहानुभूति का विशेष हाथ रहता है, पर 'गति' का दोहराना अनुकरण प्रवृत्ति से सरल हो जाता है। इस प्रकार का अनुकरण विशेषकर शैशव मे ही होता है।

२—विचार-जन्य अनुकरण[3]—

कभी-कभी किसी विचार के आने के साथ ही साथ उसका प्रकाशन भी हमारे अनुकरण द्वारा हो जाता है। हम किसी कलाकार को रस्सी पर नृत्य करते हुए देखते है। वह अपने हाथो से अपने शरीर का सन्तुलन करता है। अपने को गिरने से बचाने के लिये वह जैसे-जैसे अपने हाथ को टेढा करता है वैसे-वैसे ही दर्शक भी अपना हाथ टेढा करता हुआ दिखलाई पडता है। किसी फुटबाल-खिलाडी को गोल मारते हुए असफल देख कर दर्शक भी "अरे रे रे!" करते हुए टेढे हो जाते हैं। दर्शक की ये सब क्रियाएँ अनजान मे ही होती हैं। मैग्डूगल के अनुसार बच्चो की बहुत सी गतियाँ इसी कोटि मे रखी जा सकती हैं। बालक बहुत ही चतुर दर्शक होता है। वातावरण की वस्तुओ मे उसकी रुचि रहती है। वातावरण की प्रत्येक गति को वह ध्यानपूर्वक देखता है। वस्तुत बालक की यह चतुरता ही उसके विकास का सबसे बडा रहस्य है। विचार-जन्य अनुकरण के द्वारा वह विभिन्न हाव-भावो को सीख लेता है।

३—विचारपूर्वक अनुकरण[4]—

इस प्रकार के अनुकरण मे व्यक्ति सब कुछ जान बूझ कर करता है। मस्तिष्क की गति पर उसका पूरा नियन्त्रण रहता है। व्यक्ति किसी आदर्श के अनुकरण की ओर झुकता है। इस प्रकार का अनुकरण छोटे बालको मे सम्भव नही। जब उनमे कुछ रुचियाँ आ जाती हैं तभी उनमे विचारपूर्वक अनुकरण सम्भव हो सकता है।

गौण[5] अनुकरण—

४—विचाररहित अनुकरण—

विचाररहित अनुकरण को 'विचार जन्य' और 'विचारपूर्वक' के मध्य मे रखा जा सकता है। मैग्डूगल के अनुसार छोटे बच्चो के अनुकरण प्राय. इसी कोटि के होते हैं। उन्हे किसी आदर्श अथवा सिद्धान्त का बोध नही। उनके अनुकरण मे किसी

---

1 Primary imitation. 2 Sympathetic imitation. 3 Ideo-motor type of imitation. 4 Deliberate imitation. 5. Secondary imitation.

विचार का प्राय. अभाव रहा करता है। वे किसी घटना व परिस्थिति से उत्पन्न ध्वनि अथवा दृश्य से प्रभावित हो जाते हैं। इस प्रभाव के कारण बिना कुछ समझे ही वे अनुकरण करना प्रारम्भ कर देते है।

५—निरर्थक अनुकरण—

निरर्थक अनुकरण कोमल शिशुओं मे देखा जा सकता है। चार-पाँच मास के बालक को कुछ भी ज्ञान नही होता। तथापि वह हमारी मुस्कराहट पर मुस्करा दिया करता है। इस प्रकार के अनुकरण मे ज्ञानात्मक और भावात्मक अंग नही। मैग्डूगल के अनुसार इसी प्रकार का अनुकरण शुद्ध कहा जा सकता है।

ड्रेवर का वर्गीकरण—

ड्रेवर अज्ञात[1] और ज्ञात[2] के रूप में अनुकरण के दो भेद करता है। उसके अनुसार व्यक्ति के कार्य के आधार प्रत्यक्षात्मक[3] अथवा विचारात्मक[4] हुआ करते हैं। प्रत्यक्षात्मक आधार पर उसका अनुकरण प्राय क्रिया को देखने पर ही बिना कुछ समझे हुआ करता है। विचारात्मक आधार पर उसका अनुकरण उसके निश्चय के अनुसार हुआ करता है।

१—अज्ञात अनुकरण—

अज्ञात अनुकरण मे व्यक्ति बेसुध रहता है। वह अनजान मे दूसरो का अनुकरण करता है। इस अनुकरण की क्रिया बडे धीरे-धीरे चलती है, पर इसमे निश्चयता रहती है। हमारी आकस्मिक[5] शिक्षा का आधार अज्ञात अनुकरण ही होता है। अज्ञात रूप मे हम सदा वातावरण से शिक्षा ग्रहण किया करते हैं। हमारी रहन-महन तथा बोलने का ढग इत्यादि अज्ञात अनुकरण का ही फल होता है। वातावरण का प्रभाव व्यक्ति के ऊपर सदा पडा करता है। अत' यह आवश्यक है कि बालक के वातावरण को सभी प्रकार से सदा ठीक रखा जाय। बालक को अच्छा बनाने के लिये उसके साथ केवल मनोवैज्ञानिक व्यवहार की ही आवश्यकता नही। जिस घर मे माता व पिता मे सदा कलह हुआ करती है, पिता सदा नौकरो पर डाँटा करता है, तथा अपनी साधारण सी आवश्यकता के लिये भी सदा नौकरो अथवा बच्चो को बुलाया करता है, साधारण से साधारण सी बात पर यदि वह दुर्वासा का रूप धारण कर दूसरो को 'मूर्ख' की सज्ञा दिया करता है, उसका वातावरण बालकों के लिये कभी हितकर नही हो सकता। इसी प्रकार जिस स्कूल में विनय[6] का अभाव है, जहां के अध्यापक विशेषकर देर से आया करते हैं और पढाने के समय कक्षा से बाहर निकल कर गप्पे हाँका करते हैं, जहाँ खेल इत्यादि का समुचित प्रबन्ध नही, जहाँ साहित्य

1. Unconscious. 2. Deliberate. 3. Perceptual 4. Ideational. 5 Incidental education 6. Discipline.

तथा कला-सम्बन्धी प्रतियोगिताओ का आयोजन नही, जहाँ का प्रधानाध्यापक चिड़-चिड़ा तथा बात-बात पर डण्डो मे बातें करता है—उसमे बालको को शिक्षा के लिये कभी न भेजना चाहिये। स्पष्ट है कि घर और स्कूल के वातावरण की शुद्धता की आवश्यकता पर जितना कहा जाय थोड़ा ही है।

२—ज्ञात अनुकरण—

ज्ञात अनुकरण मे व्यक्ति एक निश्चित आदर्श की ओर जान बूझकर बढ़ता है। वह किसी से कोई अच्छी बात देखता है और उस ओर आकर्षित हो जाता है। ज्ञात अनुकरण दो प्रकार का होता है। व्यक्ति किसी बात का अनुकरण उसमे अपनी रुचि के कारण कर सकता है। उदाहरणार्थ, चित्रकला मे उन्नति के लिये किसी चित्र का अनुकरण करना व्यक्ति की उसमें रुचि के कारण हुआ। पर यदि यही अनुकरण किसी प्रतियोगिता मे पुरस्कार हेतु किया गया तो उद्देश्य बदल गया। वास्तव में कला की दृष्टि मे इस प्रकार का अनुकरण पहले से हीन है। प्राय देखा जाता है कि प्रतियोगिता की समाप्ति अथवा पुरस्कार पा जाने पर व्यक्ति का उत्साह ढीला पड जाता है। इस अनुकरण का प्रभाव उसकी आदत का स्थायी अग मे नही आता। अत रुचि के आधार वाला अनुकरण बालक मे उत्साहित करना चाहिये।

अनुकरण की उपयोगिता[1]

अनुकरण की उपयोगिता क्या है ? कुछ लोगो का कहना है कि इसमे दासवृत्ति की वृद्धि होती है और मौलिकता का ह्रास होता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुकरण की उपयोगिता को अस्वीकार नही किया जा सकता। हाँ, यह सत्य है कि इसकी भी सीमा होनी चाहिये। उच्च आदर्श के अनुकरण के आधार पर बालक सभ्यता की विभूतियो तक पहुँचने मे समर्थ हो सकता है। उसे आत्म-बोध हो सकता है। अनुकरण से वह अपनी सीमा का अनुमान लगा कर तदनुसार आगे बढने का प्रयत्न कर सकता है। वातावरण को सीमित कर ज्ञात अनुकरण का उपयोग स्कूलो मे भली-भाँति किया जा सकता है। यदि बालक के वातावरण मे केवल कुछ चुनी हुई बातें ही अपने आदर्श रूप मे उपस्थित की जायँ तो उसमे दास-वृत्ति के वृद्धि की सम्भावना नही हो सकती। किसी वस्तु से प्रेम के कारण उसका किया हुआ अनुकरण सदा शक्तिवर्द्धक होगा। अज्ञात अनुकरण मे व्यक्ति आत्म-हीनता का अनुभव करता ही नही।

यदि अनुकरण का इतना महत्व है तो शिक्षा मे इसका क्या स्थान होना चाहिये ? क्या शिक्षा का उद्देश्य अनुकरण ही होना चाहिये ? आजकल शिक्षा-क्षेत्र मे

---

1. Uses of Imitation

आत्म-बोध (सेल्फ-रीयलाइजेशन) की माँग हो रही है। क्या अनुकरण व्यक्ति को इस उद्देश्य की ओर अग्रसर कर सकता है? क्या इसके आधिक्य से व्यक्ति की रचनात्मक शक्ति का ह्रास नही होगा? यहाँ पर हमें जेम्स के कथन पर ध्यान देना होगा। अनुकरण को प्रोत्साहन देते समय 'आविष्कार-शक्ति' को नही भूल जाना है। बड़े से बड़े आविष्कारक को भी प्रारम्भ मे अनुकरण का सहारा लेना पड़ता है। हमारा जीवन इतना छोटा है और कार्य इतना अधिक है कि हमे अनुकरण करना ही पड़ेगा। क्या कापरनिकस, न्यूटन तथा टैगोर ने अनुकरण का सहारा नही लिया है? कोई कितना ही बड़ा क्यो न हो उसे अनुकरण की अवस्था मे आना ही होगा। टी० पी० नन के अनुसार "अनुकरण व्यक्तित्व के विकास की प्रथम सीढी है।" जापान का उदाहरण हमारे सामने है। अनुकरण के ही बल पर उसने एक बार ससार को हिला दिया। नैपोलियन भी कहा करता था "अपने शत्रुओ की एक ही सेना के सामने सदा न लडा करो, नही तो वे तुम्हारी सारी कलाएँ सीख लेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बालको की शिक्षा मे उसकी अनुकरण की प्रवृत्ति का उपयोग करना चाहिये। बालक का स्वभाव अनुकरणशील होता है। दूसरो मे कुछ देखने से उसके अनुकरण करने की प्रवृत्ति उसमे जागृत हो जाती है। अत बालक के सामने कभी कोई बुरी बात लानी ही न चाहिये। इस विषय मे अभिभावको और अध्यापको का उत्तरदायित्व बडा भारी है। शाब्दिक उपदेश न देकर यदि बालको के सामने साक्षात् उदाहरण रखा जाय तो अधिक लाभप्रद होगा। "सत्य बोलना चाहिये, स्वच्छता मे रहना चाहिये, सुन्दर लिखना चाहिये, नित्य सूर्योदय के पहले उठना चाहिये, नियमानुसार अपने सब कार्य करने चाहिये, अपने कपडे ठीक से रखने चाहिये, क्रोध नही करना चाहिये, स्वावलम्बी होना चाहिये मृदुभाषी होना चाहिये"—इत्यादि का केवल कोरा उपदेश ही न देकर यदि अभिभावक और शिक्षक स्वय इन उपदेशो को कार्यान्वित कर बालको के सामने आदर्श उपस्थित करे तो वास्तव मे बालको के लिये बडा कल्याणकर होगा। पर खेद है कि हमारे वचन व कर्म में कितना असामञ्जस्य है।

यदि स्कूल मे किसी बालक ने कोई अच्छा काम किया तो उसका प्रकाशन सब के सामने करना बडा ही मनोवैज्ञानिक है। इस प्रकाशन से अच्छा बालक उत्साहित होकर और आगे बढने की चेष्टा करेगा और अन्य बालकों मे स्पर्धा की भावना से अनुकरण की प्रवृत्ति बढेगी। यदि अनुकरण की प्रवृत्ति मे स्पर्धा का समावेश हो गया तो व्यक्तित्व का ह्रास न होकर अभिवृद्धि होती है। बिना स्पर्धा के उल्लेख के अनुकरण का प्रकरण पूरा नही कहा जा सकता। अत: अब हम इसी ओर आते हैं।

स्पर्धा[1]

स्वरूप—

स्पर्धा की प्रवृत्ति व्यक्ति में स्वाभाविक होती है। यह एक प्रकार का अनुकरण ही है। इसके समावेश से अनुकरण का दोष निकल जाता है। अनुकरण और स्पर्धा में सैद्धान्तिक भेद है। व्यक्ति अपने बडो का अनुकरण करते हुए उनके आदर्शों तक पहुँचने की चेष्टा करता है। स्पर्धा मे व्यक्ति दूसरे मे आगे बढ़ जाने की प्रवृत्ति रखता है। कुछ लोगो का कहना है कि हम अपने मे बराबरी वालो मे स्पर्धा करते हैं और बडो का अनुकरण। पर यह मनोवैज्ञानिक सत्य नही। वास्तव मे हम अपने बडो से भी स्पर्धा कर उनसे बडे बनने की उत्कट कामना कर सकते हैं। पर इसका उदाहरण अधिक नही मिलता। यह प्रबल इच्छा शक्ति वालो मे ही मिल सकती है। स्पर्धा मे आगे बढ जाने की प्रवृत्ति होती है। अत अनुकरण और इसमे मौलिक भेद दिखलाई पडता है। स्पर्धा में व्यक्ति दूसरे से बढ जाना चाहता है तथा यह दिखलाना चाहता है कि वह उससे छोटा नही है। इस प्रकार स्पर्धा मे अनुकरण, द्वन्द प्रवृत्ति और आत्म-प्रदर्शन का मिश्रण रहता है। ईर्ष्या, द्वेप या डाह 'स्पर्धा' से एक दम भिन्न है। ईर्ष्या में व्यक्ति दूसरे का अनर्थ चाहता है। यह मनोवृत्ति कभी हितकारी नही। इससे करने और किये जाने वाले दोनो का अनर्थ होता है। पर स्पर्धा में ऐसी बात नही। इसमे दोनो का हित निहित रहता है।

स्पर्धा और शिक्षा—

बालक मे स्पर्धा की प्रवृत्ति का होना शुभ लक्षण है। इसको दबाना ठीक नही। इसकी सहायता से बालक बहुत दूर तक जा सकता है। इसके बिना उसकी उन्नति नही हो सकती। ससार के अधिकाश अच्छे कार्य इसी प्रवृत्ति से किये जाते हैं। स्पर्धा वाला बालक होड लगा कर दूसरे बालक से बढ जाना चाहता है। ऐसा बालक सदैव उन्नति करता रहता है। अभिभावको और अध्यापको को जानना चाहिये कि स्पर्धा की वृद्धि कैसे की जा सकती है। यदि एक आदर्श तक बालक पहुँच जाता है तो उसके सामने दूसरा उच्चतर आदर्श रखना बडा आवश्यक है, अन्यथा बालक मे दम्भ आ सकता है। उसे सदा यह चेतना रहनी चाहिये कि अभी उसे आगे बढना है। बालकों को प्रोत्साहन देने के लिये उपयुक्त अवसर पर सदा पुरस्कार देते रहना चाहिये। इससे स्पर्धाहीन बालको में भी स्पर्धा जागृत हो सकती है। पर अध्यापको को ध्यान रहे कि स्पर्धा ईर्ष्या, द्वेप या डाह मे न परिणत हो जाये। जब प्रतियोगिता की भावना अपरिमित हो जाती है तो स्पर्धा ईर्ष्या में परिवर्तित हो जाती है। अत बार-बार प्रतियोगिता की भावना जागृत करना अमनोवैज्ञानिक है। शिक्षक को बार-बार अव-

1. Emulation

गणित, चित्र अथवा अन्य उत्तर पर अंक नहीं देना चाहिये, क्योंकि इससे वालक अधिक अक पाने की इच्छा से ही परिश्रम करने लगेंगे। आत्मोन्नति का भाव उनके मनसे जाता रहेगा। इसका एक दुष्परिणाम यह होता है कि कम अंक पाने वाले वालक में आत्महीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है।

स्पर्धा से सामूहिक प्रवृत्ति का विकास—

स्पर्धा के उपर्युक्त कुपरिणाम से वचने के लिये उसे एक सामूहिक रूप दिया जा सकता है। स्कूल अथवा कक्षा को विभिन्न वर्ग मे विभाजित कर बालको को एक दूसरे से किसी विशिष्ट कार्य मे बढ जाने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये। इसमें व्यक्ति अपने वर्ग अथवा समुदाय को जिताने के लिये स्पर्धा करेगा, न कि अपनी व्यक्तिगत उन्नति के लिये। इस प्रकार स्पर्धा से सामूहिक प्रवृत्ति का भी विकास किया जा मकता है।

आत्मस्पर्धा—

शिक्षक को वालको के अपने अतीत पर भी दृष्टि डालने की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिये। व्यक्ति वहुधा यह सोचता है कि वह अवनति के पथ पर तो नही जा रहा है। इस प्रकार की प्रवृत्ति को आत्मस्पर्धा कहते हैं। इसे प्रोत्साहन देने से व्यक्ति अपने दोषो व गुणो को स्वयं समझने लगेगा। आत्मस्पर्धा की उन्नति के लिये दिनपत्रिका[1] का लिखना सहायक सिद्ध होगा। इससे व्यक्ति अपने अतीत पर दृष्टि डाल अपने भविष्य का पथ निश्चित कर सकता है।

४—खेल[2]

स्वरूप—

खेल एक सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति प्राय सभी चेतन प्राणियो मे पाई जाती है। खेल वालक की रचनात्मक[3] (क्रिएटिव) क्रियाशीलता का प्रकाशन कहा जा सकता है। स्वाभाविकता, स्वतन्त्रता और आनन्द से खेल-क्रिया रजित रहती है। बालक से लेकर वूढे तक में खेलने की प्रवृत्ति पाई जाती है। खेल केवल मनुष्य में ही नही देखा जाता। गाय के वछड़े, शेर, बिल्ली तथा कुत्तो इत्यादि पशुओ मे भी खेल की प्रवृत्ति देखी जाती है। खेल-मनुष्य के जीवन का तो अत्यन्त ही व्यापक अंग हो गया है। प्राकृतिक पथ से हट कर मनुष्य खेल की प्रवृत्ति का प्रदर्शन अब कई साधनों से करने लगा है। खेल मे प्राणी को स्वतन्त्रता और आनन्द की अनुभूति होती है। यह स्वतन्त्रता और आनन्द किसी अन्य कार्य में नही। खेल में व्यक्ति अपने को भूल सा जाता है। मैग्डूगल ने खेल को निर्देश अथवा अनुकरण के सदृश एक प्रवृत्ति माना है।

1. Diary. 2. Play. 3. Caeative.

खेल की प्रवृत्ति के अभाव में हमारी शारीरिक और मानसिक शक्तियो का विकास सम्भव नही। कदाचित् यही कारण है कि मन्दबुद्धि बालक में खेलने की प्रवृत्ति कम होती है। जो शिशु बहुत खेलता है उसे होनहार का विशेषण दिया जाता है।

खेल व्यक्ति किसी बाहरी बन्धन से मुक्त रहता है। इसमे किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति की इच्छा नही रहती। खेल का उद्देश्य खेल ही मे निहित रहता है। इसका यह तात्पर्य नही कि खेल निष्प्रयोजन होता है। वस्तुत. चेतन प्राणी का कोई भी कार्य बिना किसी प्रयोजन के नहीं होता। खेलना बालक का जन्मजात स्वभाव है। जैसे उसके लिये खाना-पीना आवश्यक है, उसी प्रकार खेलना भी। बिना खेले वह रह ही नही सकता। खेलने की उसमें एक आन्तरिक प्रवृत्ति होती है। युवा व्यक्ति बिना खेले रह सकता है, पर बालक नही। खेल मानव जीवन की महान् अभिप्रेरक शक्तियो मे से एक है। पर यह एडलर की "लिबिडो" अथवा बर्गसेन का 'इलान व्राइटल' नही है।[1] जैसे मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया में व्यक्ति में आत्म-प्रकाशन की भावना निहित रहती है, उसी प्रकार खेल मे आत्म-प्रकाशन का भाव रहता है। कुछ मनोवैज्ञानिको की गति इसे एक मूलप्रवृत्ति मानने की ओर दिखलाई पडती है। पर मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओ के लिये तो विशिष्ट परिस्थिति की आवश्यकता होती है। खेल के लिये ऐसी बात नही। खेलने मे विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियो का प्रकाशन होता है। खेलने मे हम मे क्रोध, भय, आनन्द तथा कृतिभाव इत्यादि संवेगो का समावेश हो सकता है।

खेल का रूप व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो होता है। प्राय तीन-चार वर्ष की अवस्था तक बालक अकेले ही खेलना पसन्द करता है। सामाजिक गुण के कारण तीन-चार वर्ष के बालक समूह मे खेलते हुए पाये जा सकते हैं। पर इनका यह तात्पर्य नही कि वे सामूहिक खेल में लीन है। इस अवस्था तक प्रत्येक बालक अपने व्यक्तिगत खेल मे ही दत्तचित्त रहता है। बाल्यकाल अथवा ५-६ वर्ष के हो जाने पर उसमें सामूहिकता का गुण आ जाता है। और इसकी छाप उसके खेलो पर दिखलाई पडती है। तृतीय अध्याय में इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस प्रकार व्यक्तिगत विकास के अतिरिक्त खेल से बालक का सामाजिक विकास भी होता है, क्योकि शैशव के बाद प्राय अकेले खेलना कठिन होता जाता है। खेलने मे कम से कम दो की उपस्थिति की तो आवश्यकता हो ही जाती है। बालक अपने बडो के अनुकरण से विभिन्न सामाजिक गुण सीखता है। प्राय उसी का प्रदर्शन वह अपने खेलों में करता रहता है। किसी घुड-सवार अथवा चरवाहे को भैंस की सवारी करते देख वह छडी को दोनो पैरो के बीच डाल सवारी करने का नाटक करता है। अपने पिता के साथ दूकान पर जाकर बनिये को वह सौदा तोलते देखता है। वह भी अपने साथियो में धूल इत्यादि को समान मान

[1] छठवाँ अध्याय देखिये।

कर दूकानदार बन बैठता है। इस प्रकार अपनी शारीरिक व मानसिक शक्तियो का विकास वह अनजान मे करता रहता है। उसके खेलो मे कल्पना का आधिक्य रहता है। इस कल्पना ही के कारण खेल और कार्य का भेद अधिक स्पष्ट हो जाता है। अब हम इसी भेद की ओर आते हैं।

खेल और कार्य—

खेल और कार्य मे हमारी विभिन्न मानसिक वृत्तियो के कारण भेद आ जाता है। कार्य सदा एक विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित होकर किया जाता है। सभी मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओ मे यह उद्देश्य स्पष्ट रहता है। खेल का उद्देश्य खेल ही होता है। किसी कार्य मे रत व्यक्ति से पूछा जाय तो वह अपनी क्रियाशीलता का उद्देश्य क्रिया से परे किसी विशिष्ट फल की ओर बतलायेगा। खिलाडी अपना उद्देश्य खेल ही बतलायेगा। खेल मे आनन्द का अनुभव खेल-क्रिया मे ही होता है। कार्य मे आनन्द का अनुभव फल-प्राप्ति के बाद मे होता है। पर आदर्श की दृष्टि से खेल और कार्य में अन्तर होना ही न चाहिये। आदर्श तो यही है कि हम किसी भी कार्य मे उतना ही आनन्द का अनुभव करे जितना कि किसी खेल मे। वस्तुतः महापुरुषो के सम्बन्ध मे यही होता है। जो सांसारिक राग से विरक्त रहता है उसके कार्य मे खेल की प्रवृत्ति का समावेश हो जाता है। अपने सामने सभी कार्यो को वह कर्त्तव्य की दृष्टि से देखता है। इस कर्त्तव्य का पालन मानो वह खेल-खेल मे करता है। यहाँ पर कृष्ण का उदाहरण कितना उपयुक्त है!! कृष्ण के कार्यो को हम 'कृष्णलीला' कहते हैं। क्योकि उन्होने अपने कर्त्तव्यो का पालन हँसते-हँसते खेल मे किया था।

खेल मे भी हमे कभी-कभी कुछ उद्देश्य दिखलाई पडता है। फुटबॉल या हॉकी खेलने में "गोल" मारने का उद्देश्य रहता है। तथा क्रिकेट मे 'रन' बनाने का। इसके अतिरिक्त खेल मे सदा स्वतन्त्रता भी नही होती। खिलाडी को कुछ नियमो का पालन करना आवश्यक होता है। तो खेल और कार्य मे भेद क्या है? इसके उत्तर में ड्रेवर का कहना है कि खेल मे हम कल्पित संसार मे भ्रमण करते हैं। हमे वास्तविकता की सुधि नही रहती। खेल के उद्देश्य का सम्बन्ध भी कल्पित ससार से हुआ करता है। खेल में प्रतिबन्ध हम अपनी इच्छानुसार स्वयं डालते हैं। कार्य मे हमें दूसरो द्वारा निर्धारित कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य हुआ करता है। ऊपर सकेत किया जा चुका है कि बालको के खेल मे कल्पित भावना का आधिक्य रहता है। अतएव अपने खेल में वह विभिन्न प्रकार का नाटक किया करता है। बडों के साथ उसे अपनी भावनाओं के व्यक्त करने का अवसर नही मिलता। उसके और बडो के बीच मे लम्बी खाई होती है। कदाचित् इस खाई का रहना भी स्वाभाविक ही है। अतः बालक अपनी भावनाओ के प्रकाशन के लिये कल्पित संसार के क्षेत्र में अवतरित होता है।

खेल में कल्पित भावनाओ का आधार रहता है। इसका तात्पर्य यह नही कि बालक अथवा खेलाडी मे खेलते समय गम्भीरता का अभाव रहता है। बालक खेलने में उतना ही गम्भीर रहता है जितना कि कोई भी अपने कार्य मे हो सकता है। प्रायः देखा जाता है कि बालक खेलते समय अपनी स्वाभाविक आवश्यकता की ओर भी ध्यान नहीं देता। प्यास अथवा भूख को भी वह सह सकता है। किसी बड़े के आने पर उसे प्रणाम करना वह भूल जाता है। खेल में किसी प्रकार की बाधा पड़ने से वह क्रोध मे लाल हो जाता है। इस बाधा से कदाचित् उसे उतना ही धक्का लगता होगा जितना कि किसी सेनापति को अपनी सेना की हार से।

खेल को कभी-कभी कार्य का भी रूप दिया जा सकता है। यदि हॉकी फुटबॉल, अथवा क्रिकेट आदि खेलो पर टिकट लगा कर धन इकट्ठा करने का आयोजन किया जाय तो यही खेल कार्य हो जायगा। जीविका निर्वाह की दृष्टि से कुश्ती लडने वाले अथवा गाने-बजाने वालो के लिये उनका खेल कार्य सा हो जाता है। पर खेल और कार्य का यह मिश्रण बडा ही मधुर होता है।

खेल के सिद्धान्त[1]

व्यक्ति क्यो खेलता है ? प्रकृति ने उसे यह प्रवृत्ति क्यो दी है ? मूलप्रवृत्तियो के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि प्रत्येक के सम्बन्ध में प्रकृति का एक निश्चित प्रयोजन रहता है। पर खेल के सम्बन्ध मे अभी उपर्युक्त प्रश्नो का एकमत से उत्तर नही दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वान अपना-अपना राग अलापते देखे जाते हैं। खेल के रहस्य को ठीक-ठीक समझने के लिये उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो की विवेचना आवश्यक जान पडती है। अत अब हम नीचे उसी पर आते हैं।

प्रवृद्ध शक्ति का सिद्धान्त[2]—

इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक श्री शिलर कहे जाते हैं। इसका प्रतिपादन स्पेन्सर ने भी किया है। प्रत्येक प्राणी को अपने दैनिक कार्यो के करने के लिये प्रकृति ने कुछ शक्ति दी है। इन कार्यो मे उपयोग के बाद जो शक्ति बच जाती है वह प्राणी खेल में व्यय करता है। बच्चे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सदा दूसरो पर निर्भर रहते हैं। उन्हे स्वय कुछ कार्य नही करना पडता। इस प्रकार उनकी अधिकाश शक्ति बच जाती है। इस शक्ति का उपयोग वे खेल मे किया करते है। बच्चे बूढो मे अधिक खेलते हैं, क्योकि उनके पास बची हुई शक्ति अधिक होती है।

आलोचना—

प्रवृद्ध शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार प्राणी की शक्ति खेल द्वारा उसी प्रकार

1. Theories of Play 2. Surplus Energy Theory.

निकल जाती है जैसे एञ्जिन की अतिशय शक्ति भाप की नली से । यह सिद्धान्त बालक की केवल शारीरिक शक्ति पर ही अपना विचार केन्द्रित करता है । उसकी सम्भावित मानसिक शक्ति का इसे कुछ ध्यान नही । अत. इससे हमे बालक के हाथ व पैर के केवल कुछ निरर्थक गतियो के कारण का ही पता लगता है । विभिन्न प्राणियो के बच्चो के खेल मे भिन्नता होती है । यह भिन्नता उनकी विभिन्न मानसिक शक्तियो के कारण रहती है । पर प्रवृद्ध शक्ति का सिद्धान्त इस समस्या का समाधान नही करता । थका हुआ बालक क्यो खेलने के लिये दौड जाता है ? प्रवृद्ध शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार तो थक जाने पर कोई खेलेगा ही नही । पर हम देखते है कि दिन भर कार्य मे व्यस्त रहने के बाद मनुष्य सन्ध्याकाल खेलने की उत्कट इच्छा प्रगट करता है । इस प्रकार प्रबद्ध शक्ति का सिद्धान्त अधूरा दिखलाई पडता है । इससे सभी प्रकार के खेलो पर प्रकाश नही पडता ।

२—पुनर्प्राप्ति का सिद्धान्त[1]—

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बर्लिन के लाजरस ने किया था । इसका समर्थन इङ्गलैण्ड के लॉर्ड कैम्प्स ने किया है। जी० टी० डब्ल्यू पैट्रिक का भी नाम इस सम्बन्ध मे लिया जाता है । कार्य करते-करते व्यक्ति के अवयव थक जाते हैं । इस व्यय की हुई शक्ति को पुन. प्राप्त करने के लिये व्यक्ति खेल का अवलम्बन लेता है । खेलने से वह स्फूर्ति का अनुभव करता है। अपने-अपने विकास के अनुसार लोगो के खेल विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं । स्कूल-शिक्षा से थका हुआ बालक खेल के मैदान मे दौड जाता है । कार्यालय का थका हुआ अफसर टेनिस खेलने चला जाता है ।

आलोचना—

पुनर्प्राप्ति के सिद्धान्त से भी हम सब खेलो का कारण नही समझ सकते । इससे हमे प्रौढ व्यक्तियो के खेलो का ही कुछ पता लगता है । यह माना जा सकता है कि खेल से व्यक्ति अपने क्लिष्ट कार्य की कटुता को थोडी देर के लिये भूल जाता है और वह कुछ स्फूर्ति का अनुभव करता है । पर बालक खेलने मे क्यो इतना लगा रहता है ? वह किस कार्यालय मे कार्य करने से थका रहता है ? न थके रहने पर भी तो हम मे खेलने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है । ऐसा क्यो होता है ? इसका उत्तर पुनर्प्राप्ति का सिद्धान्त नही देता । इस प्रकार इससे केवल कार्य-भार से थक जाने वाले व्यक्तियो के खेल का ही अर्थ समझ में आता है । पर विभिन्न प्रकार के खेलो का समाधान इससे नही होता ।

३—पूर्वाभिनय का सिद्धान्त[2]—

पूर्वाभिनय के सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम मेलब्रँन्श ने संकेत किया ।

1. Recreative Theory. 2. Anticipatory or Practice Theory.

परन्तु इसका विस्तृत वर्णन कार्ल ग्रूस ने किया है। कार्लग्रूस ने विभिन्न प्राणियो के खेलो का सूक्ष्मतम अध्ययन किया। उसे इन खेलो में प्राणी के भावी जीवन की तयारी का कुछ आभास मिला। बिल्ली का बच्चा फटे कपडे पर पजे मारता है। गेंद के पीछे ऐसा दौडता है मानो वह किसी चूहे का पीछा कर रहा हो। पिल्ले आपस में खूब लडते हैं। एक दूसरे का पीछा करते हैं। हिरण का बच्चा सदा चौकडी भरा करता है। बिल्ली के बच्चे को अपनी जीवन-रक्षा के लिये चूहो आदि पर आश्रित रहना पडेगा। अत उसके खेल मे इस प्रकार की तैयारी का आभास मिलता है। कुत्ते को अपना पेट भरने के लिये दूसरे कुत्तो से प्राय लडना पडता है अथवा किसी छोटे जानवर को मारना पडता है। अत पिल्ला खेलने में इसका अभ्यास करता है। हिरण के बच्चे को जगली जानवर से अपनी रक्षा करनी होती है। अत उसके खेल मे दौडने ही की प्रधानता है। इसी प्रकार की भावी तैयारी बालकों में भी दिखलाई पडती है। उसके खेल में सिपाही, राजा, घुडसवार, शिक्षक आदि के नाटक उसकी भावी प्रवृत्ति की ओर सकेत करते हैं। बालको को अपनी रुचि के अनुसार अपने को एक विशिष्ट कार्य के योग्य बनाना है। वह कभी खेलने मे घर बनाता है, कभी पुल, तो कभी दूकानदारी करते हुए दृष्टिगोचर होता है। कार्लग्रूस महोदय का कहना है कि बालक इस प्रकार अनजान में अपने स्वभावानुसार अपने जीवन की तैयारी करता है। यही कारण है कि विभिन्न प्राणियो और व्यक्तियो के खेल में भिन्नता होती है। बालिका का खेल बालक से भिन्न होता है। वह अपने खेल में गुड्डा व गुड्डी के विवाह का स्वाँग रचती है। ३-४ वर्ष की बालिका खिलौने को अपना दूध पिलाने का नाटक करता है। पर प्राय बालक ऐसा नही करता। उसका खेल दूसरे प्रकार का होता है।

बालक कल्पित भावनाओ से भरा रहता है। इन्ही कल्पित भावनाओ के आधार पर वह अपने खेल रचता है। इन कल्पित भावनाओ से ऊपर उठना बालक के लिये आवश्यक है। काल्पनिक से उसे वास्तविक ससार मे आना है। वास्तविक में आने के लिये वह अपने काल्पनिक विचारों को बाल्यकाल में खेलो द्वारा कार्यान्वित करता है। कार्लग्रूस का कहना है कि किसी जाति का जीवन जितना ही विकसित रहता है उतने ही विलक्षण प्रकार के खेल उसके बालको मे दिखलाई पडते हैं और उसी के अनुसार उससे खेलने की अवस्था अथवा बाल्यकाल अधिक काल तक चलता है। मनुष्य के बालको की असमर्थता बहुत दिन तक चलती है और उनके खेल के प्रकार भी विभिन्न हुआ करते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। निम्न कोटि के प्राणियो में खेलने की अवस्था होती ही नही। शहद की मक्खियाँ तथा छिपकली आदि छोटे प्राणी पूर्ण शरीर प्राप्ति करने के बाद तुरन्त ही अपनी जीवन क्रिया मे रत हो

जाते है। बन्दर तथा कुत्तो जैसे कुछ ऊँचे प्राणियो मे खेलने का काल प्रकृति द्वारा स्पष्ट निर्धारित दिखलाई पडता है। मनुष्य का तो कहना ही क्या ? उसके पूर्ण जीवन का तृतीयाश तो खेलने ही मे व्यतीत होता है, और उसके खेल की विलक्षणता अन्य प्राणियो की अपेक्षा बढी हुई होती है। मनुष्यो मे भी विभिन्न जाति के बालको के खेल-काल मे भेद दिखलाई पडता है। सभ्य जातियो के बालक असभ्यो की अपेक्षा अधिक खेलते है। इतना ही नही, वरन् उनके खेल-प्रकार मे भी विलक्षणता दिखलाई पडती है। पाठक अपने पडोस के हरिजन बालको के अध्ययन से इस बात की पुष्टि स्वय कर सकते हैं। हरिजन बालक किसी उच्च वश के बालक की अपेक्षा अपने जीवन-कार्य करने के लिये शीघ्र तैयार हो जाता है और उसके खेल भी साधारण होते हैं। वशानुक्रम तथा परिस्थिति का बालक की मानसिक शक्ति पर प्रभाव पडता ही है। खेल का प्रकार भी बालक के मानसिक विकास पर ही निर्भर करेगा। स्पष्ट है कि हरिजन बालको के खेल क्यो अति साधारण हुआ करते हैं।

किसी जाति के खेल का काल क्यो छोटा अथवा बडा होता है ? इस पर मनोवैज्ञानिको ने प्रकाश डाला है। इसका कारण नाडीमण्डल[1] हुआ करता है। विकास के अनुसार जाति के नाडीमण्डल की विलक्षणता बढ जाती है। उत्कृष्टता पर ही अनुभव के ग्रहण करने की शक्ति निर्भर करती है। अत. प्राणी जितना ही उच्च कोटि का होगा उसमे उतनी ही अनुभव ग्रहण करने की शक्ति होगी। इसी अनुभव करने की भावी तैयारी मे खेल का काल दीर्घ अथवा अल्प हुआ करता है।

आलोचना—

कार्लग्रूस के उपर्युक्त सिद्धान्त से हमारी शका का समाधान अधिक होता है। इससे हमे अनेक प्रकार के खेलो का कारण स्पष्ट हो जाता है। पूर्वाभिनय के सिद्धान्त से एक शिक्षा सिद्धान्त की ओर सकेत मिलता है। खेल से ही बालक अपने विभिन्न अवयवो और इन्द्रियो पर नियन्त्रण प्राप्त करता है। अतः खेल मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप हानिकर है। बालक के खेल मे मनोवैज्ञानिक ढग पर सहायता देनी चाहिये। इससे उसका शारीरिक और मानसिक विकास होता है।

४– पुनरावृत्ति का सिद्धान्त[2]—

पुनरावृत्ति के सिद्धान्त के प्रवर्तक अमेरिका के स्टैनली हाल कहे जाते है। यह पूर्वाभिनय के सिद्धान्त का उलटा दिखलाई पडता है। पूर्वाभिनय का सिद्धान्त प्राणी के भावी जीवन की ओर संकेत करता है और पुनरावृत्ति की सिद्धान्त उसके भूत की ओर। स्टैनली हाल महोदय का कहना है कि प्राणी खेल मे अपनी जाति के विकास

1 Nervous system. 2. Recapitulation Theory

की सीढियो को पार करता है। सभ्यता के आदि काल मे मनुष्य की मानसिक स्थिति कदाचित् आज के बालको के समान थी। बालक अपने पूर्वजो के सभी अनुभव का उत्तराधिकारी होता है। वह सूक्ष्म रूप मे उनके समस्त संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। इन सस्कारो की पुनरावृत्ति वह अपने खेलो द्वारा किया करता है। पर इस पुनरावृत्ति की आवश्यकता क्या है? कदाचित् इसका उतर माँ के पेट में स्थित भ्रूण की विभिन्न अवस्थाओ से मिल सकता है। शरीर-विज्ञान-शास्त्रियो का मत है कि भ्रूण अपनी माँ के पेट मे सभी प्रधान जीवो की मूल अवस्था को पार करने के बाद मानव जाति के आकार मे आता है। प्रकृति की लीला विचित्र है! इसके रहस्य के समझने की जितनी ही चेष्टा की जाती है उतना ही छिपा हुआ रहस्य आगे आता जाता है। उत्तरोत्तर होने वाले वैज्ञानिक आविष्कार इसके प्रमाण हैं। स्टैनली हाल के अनुसार कार्लग्रूस अतीत के महत्व को भूल जाता है। उसका कहना है कि बालक अपने खेलो मे असभ्य मानवता के काल को पुनरावृत्ति करता है। बालक के बहुत से ऐसे खेल होते हैं जिन्हे हम कार्ल-ग्रूस के मतानुसार भविष्य के लिये तैयारी नही कह सकते। उदाहरणार्थ, आखेट करना, छिपना व खोजना इत्यादि। इस स्थल पर रॉस महोदय का एक वाक्य उल्लेख-नीय है "छिपना व खोजना, पीछा करना, आखेट करना व मछली मारना, पत्थर फेंकना, घर तथा अन्य प्रकार के आश्रयो का बनाना, पेड़ो तथा कन्दराओ के प्रति प्रेम प्रदर्शित करना, सब मानव जाति के बाल्यकाल के अकाट्य स्मारक हैं।[1] स्टैनली हाल कहता है कि "कदाचित् बालक का खेल के प्रति इसीलिये इतना प्रेम है कि इससे उसकी किसी खोये हुए स्वर्ग की मधुर स्मृति जाग्रत हो जाती है।"[2]

पुनरावृत्ति के सिद्धान्त से भी हमारी शका का पूर्ण समाधान होते नही दिखलाई पडता। पर इतना निर्विवाद है कि इससे कुछ खेलो की भित्ति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। इसी से कुछ सम्बधित रेचक सिद्धान्त का कुछ विद्वानो ने उल्लेख किया है।

५—रेचक सिद्धान्त[3]

कभी-कभी बडो के भी कुछ खेल ऐसे होते हैं जो हमे मानव की आदि सभ्यता का स्मरण कराते हैं। इसका क्या कारण है? इसका उत्तर हमें रेचक सिद्धान्त से मिलता है। मनुष्य अपने जीवन को कितना ही परिष्कृत क्यो न बना ले, पर वह अपनी आदि प्रवृत्तियो[4] से पूर्णत मुक्त नही हो सकता। अवसर पाने पर इन आदि प्रवृत्तियो के अनुसार कार्य करने को वह स्वभावत प्रेरित हो जाता है। सामाजिक बन्धन रहने से इन प्रवृत्तियो के प्रकाशन मे बडी सरलता होती है। पाठक इस बात को स्वीकार करेंगे कि अपने अन्तरङ्ग मित्रो के साथ मे वे कुछ हँसी के ऐसे कार्य कर

१. रास—आउटलाइन्स ऑव एडूकेशनल साइकॉलॉजी, पृष्ठ १०४। २. स्टैनली हॉल—एडॉलेसेन्स—पृष्ठ २०२। 3. Cathartic Theory. 4 Primitive Tendencies.

बैठते हैं अथवा कुछ ऐसा कह देते हैं जिन्हे औरो के समक्ष करने की वे कल्पना तक नही कर सकते । ऐसा क्यो होता है ? यह कुछ आदि प्रवृत्तियो की सन्तुष्टि के लिये ही होता है । पर आदि प्रवृत्तियो का प्रकाशन इस प्रकार सदा सम्भव नही । रेचक सिद्धान्तो के अनुसार इनका प्रकाशन खेलो के द्वारा हो जाता है । जैसे किसी रेचक के प्रयोग से शरीर का सारा मल बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार खेलो के रूप में आदि प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिये निकल जाती हैं ।

आलोचना—

रेचक सिद्धान्त मे कुछ तथ्य अवश्य दिखलाई पडता है। अतीत जीवन मे व्यक्ति अपनी जिन मूलप्रवृत्तियो का प्रकाशन ठीक प्रकार नही कर पाता, उनके लिये खेल रेचक का कार्य करता है उदाहरणार्थ, सभ्य समाज मे युयुत्सा, पलायन तथा निवृत्ति आदि मूलप्रवृत्तियो का प्रकाशन कम हो पाता है । यदि हम यह कहे कि इन प्रवृत्तियो का कुछ प्रकाशन खेल द्वारा हो जाता है तो अनुपयुक्त न होगा । खेल मे व्यक्ति युद्ध करता है, भागता है तथा घृणा आदि भी दिखलाता है । बालक के कल्पित[1] खेलो का कुछ आधार भी रेचक सिद्धान्त मे दिखलाई पडता है ।

उपसंहार—

टी० पी० नन के अनुसार उपर्युक्त मत एक दूसरे के विरोधक नही, अपितु पूरक है । कुछ खेल अवश्य ही पूर्वाभिनय के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, पर कुछ अतीत की ओर सकेत करते हुए पुनरावृत्ति की भी तथ्यता बतलाते है । 'अतीत' वस्तु तो अवश्य देता है, परन्तु तैयारी तो भविष्य के ही लिये होती है । मनुष्य के पास सस्कारगत कुछ ऐसी मानसिक प्रवृत्तियाँ अवश्य हैं जो कि जाति-विकास के फल स्वरूप प्रतीत होती हैं । व्यक्ति के विकास मे इनका विशेष महत्व होता है । नन के अनुसार प्रौढ व्यक्तियो के हॉकी, फुटबाल, क्रिकेट, अथवा टेनिस आदि ऐसे सुसगठित खेल पुनर्प्राप्ति के सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं । कार्यभार के वाद श्रमित हो जाने पर मनोरंजन के द्वारा व्यक्ति अपनी व्यय हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करना चाहता है । अत वह इन सब खेलों का आश्रय लेता है । नन को रेचक सिद्धान्त की यथार्थता स्वीकार है । वह कहता है कि कभी-कभी व्यक्ति अपनी आदि प्रवृत्तियो की सन्तुष्टि के लिये भी खेलो का सहारा लेता है ।

खेल के कुछ प्रकार[2]

शिक्षा में खेल की उपयोगिता पर दृष्टिपात करने के पहले खेल के प्रकार समझ लेना आवश्यक है । इसके समझने से ही हम यह समझ सकेंगे कि एक विशिष्ट

---

1. Make believe Play. 2 Some Kinds of play.

अवस्था की शिक्षा के लिये किन-किन प्रकार के खेलो का उपयोग समीचीन होगा। यहां पर सभी प्रकार के खेलो का उल्लेख करना सम्भव नही। अत हम केवल कुछ शिक्षा विषयक खेलो पर ही ध्यान देंगे।

खेलो को हम वैयक्तिक और सामूहिक दो भागो मे बांट सकते हैं। इन दो भागो मे भी कई प्रकार का उल्लेख किया जा सकता है। हम यहां कुछ प्रधान प्रकार पर ही दृष्टिपात करेंगे। वैयक्तिक खेल की अवधि प्राय छ वर्ष तक ही होती है। छ वर्ष के उपरान्त बालक का ध्यान अपना एक समूह बनाने की ओर जाता है।

१—विभिन्न अवयवों के संचालन मे खेल—

चेतना प्राप्ति कर लेने पर बालक का खेल प्रारम्भ हो जाता है। सर्वप्रथम वह अपने शरीर मे ही खेलना प्रारम्भ करता है। चार पांच महीने का शिशु हाथ व पैरो को पटकता तथा मुँह मे "हू हू" की ध्वनि निकालते हुए पाया जायगा। बैठने लगने पर वह अपने आप इधर-उधर अग सचालन कर आनन्द का अनुभव करता है। चलना अथवा दौडना सीख लेने पर इधर-उधर जाना उसके लिये साधारण बात सी हो जाती है। उछलना, कूदना थिरकना तथा मटकना उसका स्वभाव हो जाता है। इस प्रकार की शारीरिक गति अथवा खेलो से वह अपनी विभिन्न इन्द्रियो पर नियन्त्रण प्राप्त करता है। कभी-कभी शिशु की इन गतियो से माता-पिता आदि तग आकर उसे एक स्थान पर स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं। यह बडा ही अमनोवैज्ञानिक है। बालक का वातावरण ऐसा होना चाहिये कि उसे चलने और दौडने में किसी प्रकार की बाधा का अनुभव न हो। ऐसी बाधा से उसकी शारीरिक उन्नति रुक जाती है। बालक के उपर्युक्त प्रकार के खेल प्राय दो वर्ष तक चलते रहते हैं।

२—वस्तुओ से खेल[1]—

(अ) ध्वंसात्मक खेल[2]

कुछ अधिक शारीरिक व मानसिक शक्ति प्राप्त कर लेने पर बालक वस्तुओ के साथ खेलना पसन्द करता है। उसे लाल रग बडा आकर्षक लगता है। विभिन्न रगो की वस्तुओ को देखने पर पहले वह लाल पदार्थ को ही उठाता है। वस्तु को उठाकर उसे वह इधर-उधर देखता, फेकता और पटकता है। उसकी पहली प्रवृत्ति होती है उसे ठीक से समझने की। किसी वस्तु के पाने पर उसे तोड-फोड-कूच कर ही वह सांस लेता है। सजाई हुई पुस्तक को इधर उधर अनायास बिखेर देता है। कागज पाने पर उसे फाड डालता है। यदि उसे स्वतन्त्र छोड दिया जाय तो वह क्या-क्या अनर्थ नही ढाह सकता ?

1. Play with objects. 2 Destructive Play.

(ब) रचनात्मक खेल[1]

वस्तुत. बालक अपनी जान मे कुछ नष्ट नही करता। हम कह चुके हैं कि वस्तुओ को खेल मे नष्ट करना उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति का ही द्योतक है। उसके ध्वसात्मक और रचनात्मक खेलो मे घनिष्ट सम्बन्ध होता है। रचनात्मक खेलो मे बालक की विधायकता प्रवृत्ति क्रियाशील रहती है। रचनात्मक खेल वैयक्तिक और सामूहिक दोनो होते हैं। बालक अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न वस्तुओ के बनाने का स्वाग रचा करता है। कभी वह घर बनाते हुए दिखलाई पड़ता है। कभी वह सीढी बनाते हुए दृष्टिगोचर होता है। वह कभी खिलौने बनाने मे दत्तचित दिखलाई पडता है। बालिका कभी भोजन बनाने का स्वाग रचती है। कभी नीम की सीको अथवा फूलो की माला अथवा कान, नाक और पैर मे पहनने के लिये आभूषण बनाने का वह नाटक करती है। इस प्रकार के खेलो मे हमे कार्ल ग्रूस के पूर्वाभिनय के सिद्धान्त का आभास मिलता है। वैयक्तिक अथवा सामूहिक दोनो प्रकार के रचनात्मक खेलो मे कुछ सामाजिक भाव का समावेश रहता है। पूर्व बाल्यकाल मे रचनात्मक खेल साधारण कोटि के होते हैं। उत्तर काल अथवा किशोरावस्था मे उनका रूप धीरे-धीरे गूढ होने लगता है। रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रारम्भ प्राय. तीसरे अथवा चौथे साल से होता है। स्टर्न महोदय के अनुसार बालको मे यह प्रवृत्ति बालिकाओ से अधिक होती है। फलत उनमे आविष्कार की भी प्रवृत्ति बालिकाओ से विशेष होती है। बालिकाओ मे अनुकरण की प्रवृत्ति बालको की अपेक्षा अधिक दिखलाई पडती है।

३—अनुकरणात्मक खेल[2]—

ऊपर हम कह चुके हैं कि बालको मे अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति की छाप उनके खेलो मे स्पष्ट रहती है। गाँव का बालक किसानो के अनुकरण से हल जोतने का नाटक करता है और शहर का बालक किसी मशीन चलाने का स्वाँग रच सकता है। अत वातावरण का भेद स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। अनुकरणात्मक खेलो से पूर्वाभिनय के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। बालक की अनुकरण की प्रवृत्ति को ठीक रास्ते पर लगाने के लिये यह आवश्यक है कि उसके वातावरण मे किसी प्रकार का विकार न हो। अभिभावको तथा शिक्षको को उसके सामने ऐसे कार्य करने चाहिये जिनके अनुकरण करने से उसमे आविष्कारात्मक वृत्ति की वृद्धि हो। बालिका मे बालक की अपेक्षा अनुकरणात्मक शक्ति अधिक प्रबल होती है। बालक मे स्वभावत. मौलिकता अधिक होती है। यदि किसी खिलौने के अनुकरण के लिये बालक को दिया जाय तो वह उसमें कुछ नयापन लाने की चेष्टा करेगा, पर बालिका की प्रवृत्ति विशेषत: केवल अनुकरण करने की ही ओर रहेगी।

---

1 Constructive Play. 2 Imitative Play.

४—आविष्कारात्मक खेल[1]—

आविष्कारात्मक खेल की प्रवृत्ति प्राय बाल्यकाल से उत्तेजित होती है। बालक अपने वातावरण की विभिन्न वस्तुओ का इस काल मे बडे ध्यान से अध्ययन करता है। सिपाही अथवा डाक्टर के अनुकरण करने मे बालक की आविष्कारात्मक प्रवृत्ति सहायक होती है। अपने सूक्ष्मतम निरीक्षण के आधार पर वह सिपाही अथवा डाक्टर आदि के कार्यों का अनुकरण करते हुए अपनी बुद्धि मे कुछ बाते कहता है। इन बातों का आधार उसकी आविष्कारात्मक शक्ति होती है। इन प्रकार के खेलो मे बालक की मानसिक शक्ति का कुल पता लगता है। अपनी बातो मे बालक नाटक करते हुए दिखलाई पडता है। इन सब खेलो में जो बालक जितना ही स्वाग रच सकता है प्राय वह उतना आगे चल कर प्रखर बुद्धि का निकलता है।

सामूहिक खेल[2]—

यो तो सामूहिक खेल का वास्तविक रूप शैशव के बाद ही प्रारम्भ होता है, पर शैशव के कुछ खेलो को भी हम सामूहिक का विशेषण दे सकते हैं। छोटी अवस्था मे बालक अपने माता-पिता, बडे भाई व बहन इत्यादि परिचित लोगो से खेलना पसन्द करता है। वह आकर कभी खेल मे खिलाता है, कभी मारता है, कभी ऊपर पानी फेंकता है या कभी कपडे खीचता है। इन प्रकार के खेलो मे उसे बडा ही आनन्द आता है। ऐसे खेल वह अपने उम्र वालो के साथ बहुत कम खेलता है। इन सब सामूहिक खेलो मे बालक की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति अधिक कार्य करती है।

उम्र के बढने के साथ सामूहिक खेल विचारात्मक होने लगते हैं। अब बालक अपने ही अवस्था वालो के साथ खेलना अधिक पसन्द करता है। बडो की उपस्थिति उसे बडी खलती है। वह चाहता है कि उसके अभिभावक सदा बाहर ही रहें जिससे वह इच्छा भर खेल सके। बालक अपनी उम्र वालो की एक टोली बना लेता है। इस टोली के प्रति उसकी बडी भक्ति होती है। समय-समय पर बालकगण ऐसे खेलों का आयोजन करते हैं जिनमें टोली के अधिकाश सदस्य भाग लेते हैं। प्रत्येक का भाग अलग-अलग होता है। हर एक को अपना भाग भली-भाँति पूरा करने के लिये सोचना पडता है। ऐसे खेलो से मानसिक शक्ति का विकास होता है। अभिभावको को ऐसे खेलो मे किसी प्रकार की बाधा न उपस्थित करके सदा प्रोत्साहन देते रहना चाहिये। आजकल की शिक्षा-प्रणाली मे ऐसे खेलो का महत्व बढता जा रहा है। इसकी उपयोगिता की ओर फ्रोबेल ने सबसे पहले सकेत किया था। डीवी के शिक्षा-सिद्धान्तो मे भी ऐसे खेलों का पूरी तरह समर्थन किया गया है।

---

1 Inventive Play. 2. Group Play.

कार्ल ग्रूस[1] का वर्गीकरण—

पूर्वाभिनय के सिद्धान्त के प्रवर्त्तक कार्ल ग्रूस महोदय ने खेलों के पाँच प्रकार का उल्लेख किया है। इन पर थोडा प्रकाश डालना यहाँ समीचीन होगा। ये प्रकार निम्नलिखित है—

१—परीक्षणात्मक खेल[2]

२—गतिशील खेल[3]

३—रचनात्मक खेल[4]

४—लडाई के खेल[5]

५—मानसिक खेल[6]

कार्ल ग्रूस के अनुसार छोटे शिशुओ के खेल प्राय परीक्षणात्मक हुआ करते हैं। किसी पदार्थ के देखने पर उसे छूने तथा हिलाने की उसकी प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। उसे उलटना, पटकना तथा फोडना वह प्रारम्भ कर देता है। इन सब कार्यों में उसका कुछ उद्देश्य नही होता। वह केवल स्वभावत वस्तुओ की परीक्षा करते हुए उनसे परिचित् होना चाहता है। गतिशील खेलो मे बालक भागते व दौडते हैं। ये सामूहिक होते हैं। एक वालक दूसरे का पीछा करता है। इन खेलो से शारीरिक विकास होता है। रचनात्मक खेलो मे वालक किसी पदार्थ के वनाने मे रत रहता है। इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। लडाई के खेल प्राय सुसगठित होते हैं। इसमे हारजीत का प्रश्न निहित होता है। हॉकी व फुटवाल इत्यादि इसी प्रकार के खेल कहे जा सकते हैं। इनमे बालक के विभिन्न मानसिक गुणो का विकास होता हैं। यहाँ बालक व्यक्तिगत हित को त्याग सामाजिकता का पाठ सीख सकता है।

मानसिक खेलो का कार्ल ग्रूस विचारात्मक, सवेगात्मक और प्रेरणात्मक[7] तीन भाग करता है। विचारत्मक खेल मे व्यक्ति को अपनी पूरी मानसिक शक्ति लगा देनी होती है। उदाहरणार्थ, शतरज इस प्रकार के उच्च श्रेणी का खेल माना जाता है। सवेगात्मक खेल मे मनुष्य की भावनाओ की अभिव्यक्ति होती है। नाटक इत्यादि खेलों मे व्यक्ति को विभिन्न पात्रो के केवल शब्दो को ही सरलता से नही कहना है, वरन् उनके भावो को भी इस प्रकार व्यक्त करना होता है कि श्रोताओ पर उसका अपेक्षित प्रभाव पडे। यह तभी सम्भव है जव अभिनेता पात्र के स्थायीभाव को समझ उसके सवेगात्मक भाव मे सन जाय। प्रेरणात्मक खेलो मे इच्छा-शक्ति का तात्पर्य निहित रहता है। उदाहरणार्थ, हँसने के स्थान पर हँसना रोकना तथा चिल्लाने के स्थान पर चिल्लाना रोकने के लिये कहा जाता है। नियम के प्रतिकूल चलने वाले की हार हो

---

1. Classification by Karl Groos. 2. Experimental Play. 3. Movement Play. 4 Constructive Play. 5. Fighting Play. 6 Intellectual Play 7 Volitional

जाती है। कार्ल ग्रूस की धारणा है कि व्यक्ति इस प्रकार के खेलो के द्वारा भावी जीवन के विभिन्न परिस्थितियो के लिये अपने को तैयार करता है।

खेल और शिक्षा[1]

शिक्षा में खेल-प्रणाली[2]

शिक्षा मे खेल-प्रणाली के प्रवर्त्तक श्री कैल्डवेल कुक कहे जाते हैं। कुक महोदय के दृष्टिकोण मे खेल मे व्यक्ति की सभी रचनात्मक प्रवृत्ति का केवल आभास ही नही मिलता, अपितु खेल उसके पूरे स्वभाव का दर्पण है। अमुक बालक जिस प्रकार का खेल पसन्द करता है उसके सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक अध्ययन मे उसके भविष्य का पूरा अनुमान लगाया जा सकता है। यही कारण है कि शिक्षा-शास्त्रियो ने खेल को इतना महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि यथासम्भव सब कुछ खेल के रूप में पढाना चाहिये। पर यदि खेल केवल मनोरंजन मात्र है और उसमे व्यक्ति अपनी व्यय हुई शक्ति को पुन प्राप्त करना चाहता है तो उसमें गम्भीरता कहाँ से आई? अत. खेल मे गम्भीरता के अभाव से हम उसे शिक्षा मे स्थान नही दे सकते। इस प्रश्न का उत्तर हम पीछे दे चुके हैं। खेल मे बालक गम्भीर रहता है। खेल के समय बालक और कुछ नही करना चाहता। खेल-प्रणाली का तात्पर्य शिक्षा को अधिक मनोरजक बनाना है। शिक्षा मे अमनोवैज्ञानिक विधि का अनुसरण करने से बालक ऊब जाते हैं। वे स्कूल को बन्दीगृह समझ उससे भागना चाहते हैं। स्कूली शिक्षा को बालक प्राय आज जेल मे चक्की पीसने के समान समझते हैं। कदाचित् अभिभावको का भय न हो तो वे पढना ही छोड दे। क्या कारण है कि स्कूल मे छुट्टी होने पर बालक अति प्रसन्नता प्रकट करता है? किसी आनन्द के अवसर पर बालक प्रधानाध्यापक से क्यो छुट्टी के लिये आग्रह करते हैं? स्पष्ट है कि अभी तक शिक्षा को पूर्णरूपेण मनोरजक नही बनाया जा सका है। अभी हम फ्रोबेल के सिद्धान्त से कि "स्कूल ऐसा हो कि बालक वहाँ वैसे ही हँसता हुआ जाय जैसे वह खेल-मैदान मे जाता है" बहुत दूर हैं। स्कूल के प्रति बालक मे प्रेम उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है कि हम शिक्षा मे उसकी खेल प्रवृत्ति का उपयोग करे। इस प्रकार हम कठिन कार्य को भी उसके लिये अति सरल बना सकते हैं। शिक्षा मे खेल-खेल नही है, वरन् तत्परता और प्रसन्नता से सीखने की यह एक मनोवैज्ञानिक विधि है।

शिक्षा मे खेल की मनोवृत्ति उत्पन्न करने का तात्पर्य यह हुआ कि खेल के प्रधान गुणो का इसमे भी समावेश होना चाहिये। स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व और रुचि खेल के प्रधान गुण हैं। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि खेल में बालक पूरी स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। वहाँ उसकी रुचि प्रधान है—चाहे वह यह खेल

1. Play and Education, 2. The Play-way in Education.

खेले या वह। इस पर कोई वन्धन नही लगा सकता। इसमे उत्तरदायित्व भी उसी का ही रहता है। खेल मे किये गये कार्य अथवा लगी हुई चोट का उत्तरदायित्व बालक पर है। खेल-प्रणाली से हम शिक्षा मे बालक की स्वतन्त्रता और रुचि को प्रधानता देते हैं। अपने विकास के लिये हम उसे उत्तरदायी बना देते हैं। उपयुक्त वातावरण उपस्थित करके उसके किसी कार्य मे बाधा नही डाली जाती। इस प्रकार उसे स्वतन्त्रता भी दे दी जाती है। उसके सामने कुछ परिस्थितियाँ रख दी जाती हैं। अपनी रुचि के अनुसार किसी परिस्थिति मे कार्य करना वह प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार उसकी रुचि पर भी आवश्यक ध्यान दे दिया जाता है। बालको को अपने ऊपर स्वय नियत्रण रखना पडता है।

शिक्षा मे सभी बाते सदा मनोरजक नही हुआ करती। कुछ का अमनोरजक होना भी स्वाभाविक ही होता है। कुछ क्रियाओ मे बालक स्वभावत. मनोरजन का अनुभव करता है और कुछ क्रियाये उसके लिये स्वभावत. अमनोरजक होती हैं। शिक्षा में खेल-प्रणाली से हम मनोरजक और अमनोरजक क्रियाओ मे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। एक ही कार्य हमारे लिये मनोरजक और अमनोरजक दोनो हो सकता है। अपना स्वास्थ्य बनाने के लिए एक बालक सौ बैठक करता है, पर यदि यही उसे दण्ड स्वरूप करना हुआ तो यह कार्य अमनोरजक हो जायगा। अत. मनोरजक और अमनो-रंजक कार्यो को अलग-अलग करना सरल नही। वास्तव मे मनोरजकता व अमनो-रजकता तो मानसिक स्थिति अथवा परिस्थिति के आधीन होती है। किसी कार्य को मनोरजक बनाने के लिये हमे बालक को उसके पूरे महत्त्व को समझा देना चाहिये। इस प्रकार कार्य मे उसकी रुचि शीघ्र उत्पन्न हो जायगी। खेल मे बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति क्रियाशील रहती है। किसी नयी वस्तु के बनाने की सफलता मे उसे बडा आनन्द आता है। यदि स्कूल मे किसी नई वस्तु के बनाने के लिये उत्साहित किया जाता है तो उसके आनन्द की सीमा नही। यदि इतिहास, भूगोल, अङ्कगणित, भाषा इत्यादि के पाठ मे बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाय तो अमनो-रजक बाते भी बालक के लिये मनोरंजक हो जॉयगी। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा में खेल को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया हैं। किण्डरगार्टेन, मॉन्तेसरी, प्रॉजेक्ट, डाल्टन, स्काउटिङ्ग आदि शिक्षा पद्धतियो मे खेल का समावेश किया गया है। अब हम नीचे इन्ही का अति सक्षेप मे उल्लेख करेगे।

किण्डरगार्टेन[1]—

किण्डरगार्टेन पद्धति के निर्माता जर्मनी के शिक्षा-शास्त्री फ़्रोबेल[2] हैं। फ़्रोबेल का विश्वास है कि 'खेल' बच्चे की स्वाभाविक क्रिया है। अत. खेल में योग देनें से ही

1. Kindergarten. 2. Froebel.

उसका भली-भाँति विकास हो सकता है। बच्चे के खेल मे फ्रोबेल दार्शनिक और आध्यात्मिक महत्व देखता है। फ्रोबेल के अनुसार "गाना", "संकेत करना" और कुछ "बनाना" बालक का सरल स्वभाव होता है। इन्ही तीन साधनो द्वारा वह अपने विचारो का प्रकाशन करता है। अत इन्ही पर बालको की शिक्षा आधारित होनी चाहिये। लिखना, पढना, अकगणित, इतिहास आदि का ज्ञान उन्हे इन्ही के द्वारा देना चाहिये। गाना इतना सरल हो कि बालक भी उसमे सरलता मे भाग ले सके। कागज तथा मिट्टी के खिलौने की सहायता मे किसी घटना का कुछ अर्थ समझाया जा सकता है। वैसे स्वतन्त्रता, स्वाभाविक क्रियाशीलता और मनोरजकता खेल के विशिष्ट गुण हैं, उसी प्रकार फ्रोबेल के अनुसार ये शिक्षा के मुख्य सिद्धान्त हैं। बालक को कुछ सामाजिक ज्ञान देना आवश्यक है। अत उसके खेल में व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध का समावेश होना चाहिये। इस हेतु फ्रोबेल बालको को एक समूह मे खेलने के लिये प्रेरित करता है। शिक्षक को उपदेश न देकर केवल समयानुसार निर्देश देते रहना है। फ्रोबेल के अनुसार बच्चो के स्कूल की पाठ्य-वस्तु मे शारीरिक परिश्रम, चित्रकारी, प्रकृति अध्ययन, बागवानी, प्राकृतिक विज्ञान, गणित, भाषा, कला, व धर्म आदि होना चाहिये। फ्रोबेल बालको को कुछ उपहार[1] देता है। इन उपहारो से सम्बन्धित कार्य[2] में उन्हे क्रियाशील होना है। इस प्रकार 'उपहार' और कार्य किण्डरगार्टेन पद्धति के प्रधान स्तम्भ है। फ्रोबेल इन 'उपहार और कार्य' का चुनाव अपने दार्शनिक विचारो की भित्ति पर करता है। फ्रोबेल एक दैवी शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि इस दैवी शक्ति के अनुसार न चलने से ही अवनति होती है। प्रत्येक वस्तु मे इस शक्ति का अश निहित रहता है। अत यह दैवी अश ही वस्तु की सच्ची कल्पना हो सकती है। पूर्ण विकास के लिये इस शक्ति का समझना आवश्यक है। इसके लिये व्यक्ति को प्रकृति अथवा ईश्वर के विभिन्न कार्यो का अध्ययन करना चाहिये। इस अध्ययन से उसे हर स्थान पर क्रियाशीलता दिखलाई पडेगी। यही क्रियाशीलता शिक्षा का वास्तविक रूप है।

बच्चे मे स्वाभाविक क्रियाशीलता उत्पन्न करने के लिये प्रथम उपहार मे ऊन के रग बिरंगे छ गेंद होते हैं फ्रोबेल का विश्वास है कि बालक इन गेंदो मे अपने जीवन की समानता का अनुभव करेगा। गेंद कोमल होती है और बालक भी कोमल होता है। दूसरे उपहार मे त्रिघात[3] गोल[4] तथा नलाकार[5] दिये जाते हैं। बालक त्रिघात मे स्थिरता, तथा 'गोल' में अस्थिरता देखता है। नलाकार एक स्थिति में स्थिर रहता है और दूसरी में अस्थिर अर्थात् लुढक जाता है। इस प्रकार नलाकार में स्थिरता और अस्थिरता का सामञ्जस्य है। फ्रोबेल का विश्वास है कि इन उपहारो के साथ खेलने मे

1. Gifts. 2. Occupations. 3. Cube. 4. Square. 5. Cylinder.

वालक प्रकृति तथा सृष्टि के नियमों को समझेगा। दो भिन्न वस्तुओ मे एकता का स्पष्ट उदाहरण पाकर उसे प्रकृति की एकता का भास होगा। तृतीय उपहार मे लकड़ी के त्रिघात के विभिन्न भाग दिये जाते हैं। इन भागो की सहायता से वालक 'सम्पूर्ण' और 'अश' के आन्तरिक सम्बन्ध को समझेगा। चौथे, पाँचवे और छठे उपहार मे टिकिया[1] छड़ी[2] और छोटी कुण्डली[3] क्रमश: सतह, रेखा और बिन्दु की कल्पना देने के लिये दी जाती हैं।

फ्रोबेल के सिद्धान्तो की विशद व्याख्या[4] अथवा आलोचना करना यहाँ हमारे क्षेत्र के वाहर है। पर इतना कहा जा सकता है कि फ़्रोबेल के निर्णय ठीक हैं, किन्तु उनके कारण भ्रमात्मक प्रतीत होते हैं। उसके शिक्षा-सिद्धान्त दार्शनिक सिद्धान्तो पर अवलम्बित है। फ़्रोबेल अपनी एकता की कल्पना को वहुत दूर तक खीच ले जाता है। यह समझना कठिन है कि बालक गेद और अपने जीवन मे एकता का कैसे अनुभव करेगा तथा 'नलाकार' मे उसे स्थिरता और अस्थिरता दो विभिन्न गुणो की सामञ्जस्यता का आभास कैसे मिलेगा। पर हमारा तात्पर्य यहाँ केवल उसकी नयी शिक्षा-प्रणाली के स्थायी महत्व से है। फ़्रोबेल ने यह दिखलाया है कि खेल की सहायता से छोटे वच्चो की शिक्षा का सचालन कितने मनोवैज्ञानिक ढग पर किया जा सकता है। आजकल 'स्वाभाविक क्रियाशीलता', 'सहकारिता', 'शारीरिक परिश्रम' आदि को शिक्षा-कार्यक्रम मे समावेश करते समय फ़्रोबेल से वडी ही प्रेरणा मिलती है।

मॉन्तेसरी प्रणाली[5]—

मॉन्तेसरी प्रणाली के निर्माता स्वयं डा० मॉन्तेसरी हैं। फ़्रोबेल के अनुसार आप भी वालको की शिक्षा का केन्द्र खेल ही बनाती हैं। मॉन्तेसरी का विश्वास है कि वालको का विकास स्वतन्त्रता, आत्मशिक्षण, ज्ञानेन्द्रिय-शिक्षा तथा उपयोगी व्यावहारिक क्रियाओ के अभ्यास पर निर्भर होता है। उसके विकास के इन साधनो का सामञ्जस्य हमे उसके खेल मे मिल जाता है। अत उसकी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार खेल है। एक प्रकार से मॉन्तेसरी प्रणाली को किण्डरगार्टेन पद्धति का परिवर्द्धित रूप कह सकते हैं। मॉन्तेसरी वालको को कृत्रिम वातावरण मे रखने के विपक्ष में हैं। उनके अनुसार वालको को आवश्यक ज्ञान देने का आयोजन होना चाहिये। मॉन्तेसरी स्कूल मे ढाई से सात वर्ष के उम्र वाले वालको का प्रवेश किया जाता है। व्यावहारिक क्रियाओ द्वारा ज्ञानेन्द्रियो को शिक्षित करने की चेष्टा की जाती है। खेल ही द्वारा उसे रूप तथा आकार का ज्ञान दिया जाता है। इस प्रकार उसकी स्पर्श, दृष्टि तथा श्रवण की शक्ति

---

1. Tablet. 2. Stick 3 Ring 4 लेखक द्वारा 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास' —देखिये-पृष्ठ १७८-१६१ प्र० लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १६४६। 5. Montessori System.

बढाई जाती है। उसे लम्बाई व चौडाई, बडी व छोटी, मोटे तथा पतले, धीमी तथा कडी ध्वनि पहचानना, तौल तथा प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष आदि का ज्ञान खेल ही द्वारा दिया जाता है। विभिन्न खेलों की सहायता से लिखना, पढना तथा अंकगणित का ज्ञान उसे दिया जाता है। मॉन्तेसरी प्रणाली मे "स्व-शिक्षा" प्रधान विधि है। बालक अपने विकास के लिये स्वय उत्तरदायी समझा जाता है। वाह्य हस्तक्षेप बहुत ही कम किया जाता है।

जैसे बालको के खेल मे 'विनय'[1] की समस्या उपस्थित नही होती उसी प्रकार मॉन्तेसरी स्कूल मे पूर्ण स्वतन्त्रता के कारण विनय-समस्या का स्वत समाधान हो जाता है। सभी बालक अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलता मे मग्न दिखाई पडते हैं। कोई पेड पर चढता हुआ दिखलाई पडता है। कोई कुर्सी व मेज उलटते हुए, कोई माला बनाते, कोई गेंद खेलते इत्यादि इत्यादि। मॉन्तेसरी प्रणाली में शारीरिक दण्ड को स्थान नहीं। समय-सारिणी की कठोरता वहाँ नही दिखलाई पडती। पाठ्य-वस्तु पहले से नही निर्धारित रहती। इस प्रकार मॉन्तेसरी प्रणाली को हम "बच्चो का स्वराज्य" कह सकते हैं।

प्रॉजेक्ट प्रणाली[2]—

प्रॉजेक्ट प्रणाली का आरम्भ अमेरिका मे किया गया। खेल द्वारा शिक्षा देने की यह एक नवीन प्रणाली है। इस प्रणाली का निर्माण शिक्षा मे प्रयोजनता लाने के हेतु किया गया। स्कूल की पाठ्य-वस्तु पहले से ही निर्धारित नही रहती। अपनी दैनिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध मे बालको को खेल के रूप मे शिक्षा दी जाती है। अपनी आवश्यकता-सम्बन्धी कुछ वस्तुओ को उन्हे बनाना पडता है, उदाहरणार्थ, भोजन पकाना, सीना, बुनना तथा जूता, मेज, कुर्सी बनाना। इस प्रणाली मे "करने मे सीखने"[3] की प्रेरणा दी जाती है। भोजन पकाने अथवा मेज व कुर्सी इत्यादि बनाने मे आवश्यक वस्तुओ के संकलन के अतिरिक्त नौकरो की व्यवस्था, स्वच्छता इत्यादि सभी बातो का प्रबन्ध बालको को ही करना पडता है। भोजन पकाने के सम्बन्ध मे क्रमश उन्हे कृषि तथा किसान के जीवन इत्यादि का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार उन्हे अन्य आवश्यक विषयो का भी ज्ञान आवश्यकतानुसार हो जाता है। स्वतन्त्रता, स्वाभाविकता, सहकारिता और क्रियाशीलता के कारण प्रॉजेक्ट प्रणाली को एक प्रकार से खेल का ही अग समझा जा सकता है।

डाल्टन योजना[1]

डाल्टन योजना की प्रवर्त्तक श्रीमती पार्कहर्स्ट हैं। स्वतन्त्रता, सामाजिकता और

---

1. Discipline. 2. Project Method. 3. Learning by Doing. 4 Dalton Method.

व्यक्तिगत कार्य इस योजना के तीन प्रधान अंग हैं। इसमे बालको को कक्षा मे शिक्षा नही दी जाती। पन्द्रह दिन या एक महीने के लिये उनका कार्य निर्धारित कर दिया जाता है। उन्हे आवश्यक सकेत भी दे दिये जाते है। बालक अपनी रुचि अनुसार जब चाहे जो विषय पढ सकता है। पर निर्धारित समय के अन्दर उसे अपनी उन्नति का पूरा विवरण देना होता है। एक प्रकार से अपनी उन्नति के लिये बालक स्वय उत्तरदायी बना दिया जाता है। उसकी स्वतन्त्रता व स्वाभाविक क्रियाशीलता मे किसी प्रकार हस्तक्षेप नही किया जाता। जैसे खेल मे सहकारिता और सामाजिकता का भाव निहित रहता है, उसी प्रकार डाल्टन योजना भी इन्ही बातो पर अवलम्बित है। अत. इसे भी शिक्षा मे खेल-प्रणाली का समर्थक कहते हैं।

ह्यूरिस्टिक पद्धति[1]—

ह्यूरिस्टिक पद्धति का प्रतिपादन प्रो० आर्मस्ट्राङ्ग ने किया है। इस पद्धति मे विद्यार्थी स्वयं सीखने के लिये उत्साहित किया जाता है। इस पद्धति का मन्तव्य प्रत्येक शिक्षार्थी को अनुसन्धानकर्त्ता और आविष्कारक बना देना है। इस पद्धति मे भी बालक की स्वतन्त्रता और क्रियाशीलता पर पूर्ण विश्वास किया जाता है। अत. इसे भी हम एक प्रकार से खेल-प्रणाली की कोटि में रख सकते है।

बालचर पद्धति[2]—

इस पद्धति के प्रतिपादक बेडेन पॉवेल महोदय हैं। यह बालको के लिये बडी उपयोगी है। इसका प्रचार ससार के प्राय प्रत्येक देश मे है। बालक जितने प्रकार के खेल खेलता है उन सबका समावेश इस पद्धति मे कर दिया गया है। इस पद्धति का प्रधान तात्पर्य बालक के अवकाश-समय का सदुपयोग करना है। बालक की विभिन्न आन्तरिक प्रवृत्तियो को ठीक रास्ते पर लाने के लिये इस पद्धति की योजना की गई है। खेल के जितने सिद्धान्तो की ऊपर विवेचना की गई है उन सबके साराश पर बालचर पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न खेलो का आयोजन किया गया है। जिन भावना-ग्रन्थियो के कारण व्यक्ति का जीवन दु.खी हो जाता है उनका निवारण बालचर पद्धति बडी सुगमता से करती है। किशोरावस्था मे व्यक्ति के मन में नाना प्रकार के व्यक्तिरेक उठा करते हैं। उन व्यतिरेको के समाधान के लिये बालचर पद्धति बडी सहायक सिद्ध हुई है, क्योकि इससे व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत तथा सामाजिक भावों और इच्छाओ का प्रकाशन बडी सरलता से कर सकता है। इससे उसका वास्तविकता से परिचय हो जाता है। उन्हे छोटी-छोटी बातो का ज्ञान हो जाता है। उदाहरणार्थ, किसी यात्रा की तैयारी में बालको को यह समझना पडता है कि बाहर किन-किन व्यावहारिक वस्तुओं का ले चलना अत्यावश्यक है। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक हो जाता है।

1 Heuristic Method. 2. Scouting.

वालचर पद्धति मे वालकों को ऐसा शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है कि उनका स्वास्थ्य ठीक हो जाता है और शरीर मे स्फूर्ति आ जाती है। इस पद्धति में खेलो का ऐसा आयोजन किया जाता है कि वालको में विभिन्न सामाजिक गुणो का विकास हो जाय। वालचर पद्धति से मिलते हुए योरप मे विभिन्न प्रकार के "युवक सगठन"[1] सगठित किये गये हैं।

नाट्य प्रणाली[2] और रसानुभूति पाठ[3]—

नाट्य प्रणाली से भाषा, इतिहास और भूगोल आदि पढाने की प्रथा का प्रारम्भ भी अब किया गया है। यह भी शिक्षा मे खेल-प्रणाली का एक अंग है। रसानुभूति-पाठ मे हम वालको को किसी साहित्य, सगीत, अथवा कला के सौन्दर्य को समझने के लिये उत्साहित करते हैं। इससे उनका सौन्दर्य-बोध क्रियाशील हो जाता है। अपनी भावनाओं के आत्म-प्रकाशन के लिये उन्हे उत्साहित किया जाता है। अत. यह कृत्रिम उपाय न होकर स्वाभाविक है। वालक को केवल अनुकूल परिस्थिति मे रख दिया जाता है। कला-वस्तु का रसास्वादन कर उसके सौन्दर्य को अपने शब्दो मे व्यक्त करना वालक का कार्य होता है। इस प्रकार रसानुभूति-पाठ भी खेल-प्रणाली का ही अग माना जाता है।

५—आवर्तन प्रवृत्ति[4]

'आवर्तन' एक स्वाभाविक सामान्य प्रवृत्ति है। टी० पी० नन महोदय मनुष्य के कार्यों के दो भाग करते हैं; १—सरक्षणात्मक[5] और २—रचनात्मक[6] ये दोनो प्रकार के कार्य समान रूप से स्वाभाविक होते हैं। विना सरक्षण की प्रवृत्ति के रचनात्मक की नीव पड ही नही सकती। अत ये दोनो प्रकार प्रत्येक मनुष्य मे पाये जाते हैं। मनुष्य स्वभावत परिवर्तन का विरोधी होता है। भूतकाल की वस्तुओ और अनुभवो से उसका स्वाभाविक प्रेम होता है। जिस वस्तु मे वह एक वार ठीक से परिचित हो जाता है उसके लिये वह वहुधा लालायित हुआ करता है। पाठको का अनुभव होगा कि कभी हम कोई कार्य केवल इसीलिये करते हैं क्योंकि उसे हम सदा से करते आये हैं। मैग्डूगल के अनुसार हम किसी कार्य को जितनी ही वार करते हैं उतनी ही वार उसकी आवृत्ति करने की प्रवृत्ति हमारे मे आ जाती है। स्पीयरमैन के ज्ञान-सिद्धान्त[7] के अनुसार भी 'किसी ज्ञानात्मक वात के वार-वार होने से उसकी आवर्तन प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।'

हमारी आवर्तन प्रवृत्ति का प्रकाशन प्रतिदिन सैकडो प्रकार से हुआ करता है।

---

1 Youth Movement. 2 Dramatic Method 3 Appreciation lesson 4 Routine Tendency 5. Conservative 6 Creative. 7 Cognition

विना एक क्षण सोचे ही हम नित्य अनेक कार्य किया करते हैं। उदाहरणार्थ, सोना, उठना, खाना, पीना व स्नान करना आदि। इसी प्रकार हमारे शरीर के आन्तरिक यन्त्र हृदय तथा फेफडे की धड़कन, पाचन-क्रिया इत्यादि कार्य स्वत. किया करते हैं। इनमें आवर्तन प्रवृत्ति का ही आभास मिलता है। नित्य के इन अनिवार्य कार्यों मे यदि मनुष्य के मस्तिष्क को समय देना पडे तो उसका जीवन ही कठिन हो जाय। इसीलिए प्रकृति ने आवर्तन प्रवृत्ति की व्यवस्था की है। इस प्रवृत्ति के कारण हमारा मस्तिष्क अन्य आवश्यक कार्यों मे सरलता से समय दे सकता है। हम आवर्तन प्रवृत्ति के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि हमारे कुछ कार्य हो जाते है, पर हमे उनका पता नही चलता। वास्तव मे प्रकृति का भी यह नियम है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य मे हमे आवर्तन प्रवृत्ति का आभास मिलेगा। नित्य सूर्य निकलता और डूबता है, तीन ऋतुये क्रमश हर वर्ष आया करती हैं। सभी वस्तुएँ अपनी प्रकृति के अनुसार अपने स्वाभाव की आवृत्ति किया करती है।

वालको मे आवर्तन प्रवृत्ति वडे ही प्रवल रूप मे पाई जाती है। आद्या एक ही गाने को वार-वार गाती है। यदि उसे 'क, ख, ग, घ, ङ' याद हो गया तो वह वार-वार उसे दोहराया करती है। खेल मे वच्चे अपनी एक ही क्रिया को वार-वार दोहराते हुए पाये जाते है। डॉ० मान्तेसरी की अपने परीक्षणो के आधार पर धारणा है कि सामान्य वालक में अपने सफल कार्य के वार-वार दोहराने की प्रवृत्ति होती है। पर मन्द वालक की किसी कार्य को दोहराने मे तनिक भी रुचि नही। किसी कार्य के एक ही बार करने से उसे सन्तोप हो जाता है। इस प्रकार वालको मे आवर्तन प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। इससे उनकी बुद्धि का पता चलता है। वालको के कार्य वहुत ही सीमित हुआ करते हैं, पर उन्हे अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियो पर नियन्त्रण करना रहता है। यह नियन्त्रण वे अपनी आवर्तन प्रवृत्ति की प्रवलता से पाते हैं। वालक और प्रौढ का अन्तर यहाँ स्पष्ट हो जाता है। प्रौढ मे किसी क्रिया के दोहराने की आदत आ जाना उसके शक्ति के ह्रास अथवा किसी निर्वलता का द्योतक है। उदाहरणार्थ; कुछ लोग वातचीत करते समय किसी विशिष्ट शब्द का प्रयोग वार-वार करते हैं, कुछ लोग एक ही दृष्टान्त वार-वार देने की चेष्टा किया करते हैं। यह सव उनकी किसी मानसिक ग्रन्थि की ओर सकेत करता है। पर वालक मे ऐसी वात नही। किसी कार्य की आवृत्ति करना उसका स्वभाव होता है। क्योकि उसकी उन्नति इसी से सम्भव होती है।

वालक की आवर्तन प्रवृत्ति का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी होता है। हम देख चुके हैं कि वालक मे आत्म-गौरव अथवा आत्म-प्रकाशन[1] की प्रवृत्ति वडी प्रवल

---

१. Self-display.

होती है। आवर्तन प्रवृत्ति के आधार पर ही वह अपनी इस प्रवृत्ति की सन्तुष्टि करता है। आवृत्ति में बालक सफलता की भावना का अनुभव करता है। इसमें उसे बड़ा ही आनन्द आता है। यह सत्य है कि उत्कृष्ट कोटि का आत्म-प्रकाशन रचनात्मक कार्यों द्वारा होता है, पर अपनी सीमित शक्तियों के कारण बालक वहाँ तक नहीं पहुँच सकता। अतः वह आवृत्ति का ही अवलम्बन लेता है।

आवर्तन प्रवृत्ति और शिक्षा[1]—

यदि अभिभावक और शिक्षक चतुरता से कार्य करे तो आवर्तन प्रवृत्ति की क्रियाशीलता से मानसिक विकास मे किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड सकता। यदि आवर्तन से बालकों के आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति को पूरी तृप्ति मिलती है तो इससे उनका मस्तिष्क सुसगठित होता है। सुसगठित मस्तिष्क ही भावी सफलता का मूल है। बालक को मानसिक सन्तोष होना आवश्यक है। यह सन्तोष उसे आवर्तन प्रवृत्ति की क्रियाशीलता से प्राप्त हो सकता है। बालको को कुछ ऐसे कार्य सिखलाने चाहिये जिन्हे दोहराने से उनमे निपुणता की वृद्धि हो। अकगणित, सगीत, चित्रकला तथा लकडी व मिट्टी के कार्य मे आवर्तन प्रवृत्ति के प्रोत्साहन से बालक की प्रवीणता बढेगी। 'रटने' के कार्य में कुछ बुद्धि-सम्बन्धी क्रिया का भी समावेश आवश्यक है। उदाहरणार्थ; यदि उन्हे पहाडे रटने हैं तो उनका क्रम उन्ही से ठीक करवाना चाहिये। तर्क-शक्ति की वृद्धि के लिये ही किसी नियम का रटवाना मनोवैज्ञानिक है, और यह बालक को रुचिकर भी लगेगा। आवर्तन प्रवृत्ति की क्रियाशीलता से ही बालक स्कूल के समय-सारिणी[2] (टाइम-टेबुल) के अनुसार चलना पसन्द करते हैं। इस प्रकार बार-बार समय व्यवस्था मे परिवर्तन की झंझट नही उठती। व्यक्ति के जीवन में आदत का बडा महत्त्व होता है। आदत का आधार आवर्तन प्रवृत्ति ही होती है। किसी कार्य के बार-बार करने से हमें उसके करने की आदत पड जाती है। अत अभिभावको और शिक्षको को देखना है कि बालक किसी गलत बात को न दोहराये नही तो उसमे बुरी आदत पड जायगी। नीचे हम आदत पर ही विचार करेंगे।

६—आदत[3]

आदत और मूलप्रवृत्ति—

प्राणी मे प्राय दो प्रवृत्तियाँ हुआ करती हैं—स्वाभाविक और अर्जित। मूल-प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं, और आदतें अर्जित। आदतें मनुष्य और पशु दोनो म पाई जाती हैं। पशु को खूँटे मे छोडा जाना है तो चारे की नांद के पास पहुँचने की उसकी आदत होती है। मूलप्रवृत्तियो की प्रेरणा से जैसे मनुष्य अनेक कार्य किया करता है,

1. Routine Tendency and Education. 2. Time-table. 3. Habit.

उसी प्रकार आदतो के फलस्वरूप भी वह कार्य किया करता है। उदाहरणार्थ, सितार बजाने की किसी की आदत होती है। किसी की टाइप करने की आदत होती है। एक विशिष्ट प्रकार से बैठने की किसी की आदत होती है। मूलप्रवृत्ति हमे एक क्रियात्मक प्रवृत्ति न देकर एक क्रिया विशेष का मार्ग देती है। जेम्स ने आदत को मनुष्य के दूसरे स्वभाव[1] की सज्ञा दी है। व्यवहारवादी आदत और मूलप्रवृत्ति मे बहुत भेद नही मानते। उनकी दृष्टि मे जैसे मूलप्रवृत्ति मनुष्य को एक विशिष्ट अनुभव के लिये प्रेरित करती है, उसी प्रकार आदत भी पूर्वानुभव की पुनर्प्राप्ति के लिये उसे आतुर बना देती है। मूलप्रवृत्तियाँ जाति के वशानुक्रमीय नियमो के अनुसार व्यक्ति को प्राप्त होती हैं। पर आदत व्यक्तिगत जीवन के अभ्यास के फलस्वरूप होती है। कदाचित् इसीलिये मैग्डूगल की धारणा है कि आदत प्रेरणा का रूप कभी नही ले सकती। उसके अनुसार प्रत्येक आदत किसी मूलप्रवृत्ति की प्रेरणानुसार पडती है। अत आदत की स्वतन्त्र प्रेरणा नही होती, यदि कभी होती है तो उसका सम्बन्ध किसी मूल-प्रेरणा से ही होता है। हाँ, यह हम मानते हैं कि आदत के बनने का आधार कोई मूलप्रवृत्ति होती है। पर इसका यह तात्पय नहीं कि प्रेरणा देने मे आदत का स्वतन्त्र अस्तित्व नही। काम-प्रवृत्ति के शोधन के फलस्वरूप कोई सगीत का प्रेमी हो जाता है। पर अपने निश्चित समय पर सितार लेकर बैठ जाने की प्रेरणा जो सगीतज्ञ को मिलती है वह उसकी काम-प्रवृत्ति से नही, अपितु सितार बजाने की उसकी आदत से। मूलप्रवृत्ति के सदृश् आदत भी व्यक्ति के मानसिक सस्कार का अग हो जाती है।

आदत की नींव[2]

मनुष्य की मूलप्रवृत्तियाँ पशुओ की भाँति सुदृढ नहीं होती। अतएव उनमे परिवर्तन लाना अधिक सम्भव होता है। यदि यह परिवर्तन सम्भव न होता तो आदतों का विकास होता ही नही। यही कारण है कि पशुओ मे मनुष्यो की अपेक्षा कम आदते पडती हैं, क्योकि वे मूलप्रवृत्तियो के दास होते हैं। ज्ञात और अज्ञात चेतना हमारे मस्तिष्क के दो प्रधान अग होते हैं। किसी कार्य का प्रभाव सर्वप्रथम ज्ञात चेतना पर पडता है। तत्पश्चात् उससे अज्ञात चेतना अवगत होती है। इस प्रकार ज्ञात चेतना के प्रत्येक अनुभव का प्रभाव अज्ञात चेतना पर पडता है। किसी आदत के पडने के पूर्व ज्ञात और अज्ञात चेतना पर उस विशिष्ट क्रिया का प्रभाव पडना आवश्यक है। यह प्रभाव जितनी ही प्रबलता से अज्ञात चेतना पर आयेगा उतनी ही शीघ्र दृढतर आदत पडती है। इस प्रकार आदत का बनना व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर रहता है। भौतिकवादी मनोवैज्ञानिको की ऐसी धारणा है।

व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिको का विश्वास है कि किसी कार्य के बार-बार करने

1. Second Nature. 2. Foundation of Habit.

के फलस्वरूप मेरुदण्ड के वाहक तन्तुओ में एक सम्वन्ध स्थापित हो जाता है। किसी नये सम्बन्ध स्थापित होने के समय पुराने सम्बन्ध विघ्न उपस्थित करते हैं। एक सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर मानसिक शक्ति का उसी सम्बन्ध के अनुकूल एक झुकाव हो जाता है। यह झुकाव ही आदत है। यही कारण है कि किसी आदत के पड जाने पर उसका छोडना सरल नही होता, क्योकि वाहक तन्तुओ मे स्थापित सम्बन्ध दूसरे नये सम्बन्ध का विरोध किया करते हैं।

वर्गसन ने आदत वनने के उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन किया है। उसके अनुसार आदत अथवा अभ्यास वाहक तन्तुओ में स्थापित सम्बन्ध का फल नही है, अपितु चेतन प्राणी की स्वेच्छा का फल है। वर्गसन कहता है कि चेतन प्राणी का व्यवहार जड के सदृश् नही, अपितु वाहक तन्तुओ मे स्थापित सम्बन्ध को तोडने की उसमे पर्याप्त क्षमता होती है। जब वह यह सम्बन्ध नही तोडना चाहता तो अभ्यास की अधिकता से उसमे आदत पड जाती है। इस प्रकार आदत का प्रधान आधार चेतना की इच्छा है, न कि अभ्यास अथवा वाहक तन्तुओ मे स्थापित सम्बन्ध।

प्रयोजनवादी और मनोविश्लेपणवादी मनुष्य को आदतो का दास नही मानते। वे आदत का आधार रुचि मानते हैं। किसी कार्य का कितने ही वार अभ्यास क्यों न किया जाय, पर यदि वह अरुचिकर हुआ तो मनुष्य की आदत उसमे नही पडेगी। इस प्रकार आदत का रुचि से घनिष्ट सम्बन्ध है। रुचि की उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति उस किया की उपयोगिता को ठीक से समझ ले। यदि क्रिया हितकर हुई तो व्यक्ति की रुचि उसमे हो जायगी और वही रुचि वाद मे आदत के रूप मे परिवर्तित हो जायगी।

आदत की कुछ विलक्षणताएँ[1]

आदत की चार विलक्षणताओ की ओर मनोवैज्ञानिको ने संकेत किया है.—

१—एकरूपता[2]

२—सुगमता[3]

३—रोचकता[4]

४—ध्यान-स्वातन्त्र्य[5]

१—एकरूपता—

आदत के फलस्वरूप व्यक्ति जो काम करता है उसमे एकरूपता रहती है। लिखने की आदत होती है। अत हमारी लिखावट में प्राय एकरूपता रहती है। उसे देखकर हमारे मित्र तुरन्त पहचान लेते हैं। हमारे सोने, चलने, दौडने तथा बोलने

1 Some Characteristics of Habit. 2. Uniformity 3 Facility. 4. Propensity. 5. Independence of Attention.

इत्यादि में एक विशिष्ट आदत दिखलाई पडती है। अतः हमारा सोना, चलना इत्यादि प्राय. एक ही प्रकार का होता है।

२—सुगमता—

किसी कार्य के करने की आदत पड़ जाने पर वाद मे वह कार्य वडा ही सुगम हो जाता है। प्रारम्भ मे सितार सीखने मे वडी ही कठिनाई होती है। पर आदत पड़ जाने पर हाथ वडी सुगमता से चलने लगता है। पहले व्यायाम प्रारम्भ करने में वडी कठिनाई का सामना करना पडता है, पर अभ्यस्त हो जाने पर वही वडा सरल हो जाता है। आदत पड जाने पर वालक घण्टो वैठे लिखा करता है। वालिका को भोजन वनाना सीखने मे वडा कष्ट हो जाता है; पर सीख लेने पर वह सुगमता से भोजन वना लेती है।

३—रोचकता -

आदत पडने पर रुचि भी उत्पन्न हो जाती है। आदत न रहने से वालक पहले स्कूल से भाग जाया करता है। पर आदत पड जाने पर स्कूल जाना उसके लिये वडा रुचिकर हो जाता है। विना स्कूल गये उसे चैन नही मिलता। जिन्हे समाचार-पत्र पढने की आदत है, उन्हे उसमे वडा ही आनन्द आता है। गप्प मारने वाले को गप्प मे वडा आनन्द आता है। घूमने वालो को विना घूमे चैन नही। छुट्टी के दिन भी वह साइकिल उठा कर इधर-उधर घूमा करता है। आदत न रहने पर हमें पहले कोई कार्य व्यर्थ और अरुचिकर लगता है, पर आदत पड जाने पर वही रुचिकर हो जाता है। अतः अभ्यास से अरुचिकर से अरुचिकर कार्य भी मनोरजक वनाया जा सकता है।

४—ध्यान-स्वातन्त्र्य—

किसी कार्य के करने की आदत पड जाने पर उसमें ध्यान देने की आवश्यकता नही पडती। साइकिल सीखते समय हमे हर वात पर ध्यान देना होता है। पर आदत पड जाने पर वात करते, सोचते अथवा गाते हुए साइकिल चलाना कुछ कठिन नही। अभ्यास हो जाने पर साइकिल चलाने पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार हम नित्य वहुत से ऐसे कार्य आदतो के कारण किया करते हैं जिनमे ध्यान देने की आवश्यकता नही। पर कार्य मे कही वाधा उपस्थित होने पर उस ओर तुरन्त ध्यान चला जाता है। यदि सामने पत्थर दिखलाई दिया तो साइकिल चलाने वाले का ध्यान साइकिल पर हो जायगा। पर परिस्थिति की अनुरूपता मे साइकिल चलाने का कार्य ध्यान से मुक्त दिखलाई पडता है।

आदत का मानव जीवन में महत्त्व[1]

उपर्युक्त विवेचन से जीवन मे आदत के महत्त्व का अनुमान हम लगा सकते हैं।

---

1. Importance of habit in a man's life.

व्यक्ति की जैसी आदत होती है उसी के अनुसार उसका आचरण होता है। यदि कोई बुरी लत पड गई तो उससे छुटकारा पाना वडा कठिन हो जाता है। जिनमे मटक कर अथवा हाथ और मुख की विभिन्न आकृतियो के सहारे वात करने की आदत पड जाती है, वे प्राय ऐसे ही वात किया करते हैं। वीडी अथवा सिगरेट की आदत पड जाने पर उससे छुटकारा पाना सरल नही। पशु मे भी आदत पड जाती है तो उससे वह मुक्त नही हो पाता। पिंजडे से छोडा हुआ तोता पुन पिंजडे मे चला आता है। अभ्यस्त घोडा अपने आप स्वामी को घर पहुँचा देता है। जब पशु के जीवन में आदत का इतना प्रभाव पडता है तो मनुष्य का क्या कहना ? आजन्म कारागृह मे रहने वाला कैदी मुक्त किये जाने पर भी कारागृह मे ही रहने की इच्छा प्रकट करता है। फ्रान्स की राज-क्रान्ति के समय वेस्टील से मुक्त किये जाने वाले कैदियो का दृष्टान्त इसका ज्वलन्त प्रमाण है। झोपडी मे रहने वाले व्यक्ति को यदि एक प्रासाद दे दिया जाय तो उसे तनिक भी सुख न मिलेगा। शहर मे रहने वालो को ग्रामजीवन पसन्द नही आता।

वचपन मे आदते सरलता से पडती हैं। यदि प्रारम्भ में ही वालक को नियम से रहने, व्यायाम करने और पढने की आदत डाल दी जाती है तो वह चिरस्थायी हो जाती है। वाद मे आदतो का डालना वडा कठिन हो जाता है। वालक के मस्तिष्क पर संस्कारो का प्रभाव वहुत शीघ्र पडता है। अतः वे किसी आदत को शीघ्र सीख लेते हैं। वचपन मे पढना लिखना सरल होता है। प्रौढावस्था मे सीखना वडा कठिन होता है। कदाचित् ऐसा प्रत्येक पाठक का अनुभव होगा। आदत पड जाने पर कठिन कार्य भी हम सरलता से करने लगते हैं। इसलिये प्रत्येक को अच्छे कार्य करने की आदत डालनी चाहिये। यदि प्रतिदिन थोडा-थोडा सगीत का अभ्यास किया जाय तो कुछ दिन में सगीतज्ञ हो जाना असम्भव नही। यदि प्रतिदिन अपने विचारो को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाय तो लेखक वनना कठिन नही। अत आदत हमारे शक्ति-सञ्चय और वृद्धि का वडा भारी साधन है। आदत डालने के अभ्यास से ससार मे क्या-क्या वडे कार्य नही किये गये हैं ? आदत की इस महत्ता के सामने हमें रूसो का सिद्धान्त कि "आदत न डालने की आदत वालक मे डालनी चाहिये" भ्रमात्मक प्रतीत होता है। पर यहाँ एक वात पर ध्यान देना आवश्यक है। हमें आदतो का दास नहीं होना है। आदतो की दासता से व्यक्ति को वडा दुख होता है। जिन्हे अधिक घी खाने की आदत पड गई है उन्हे विना घी का भोजन वडा ही अरुचिकर लगता है। जिन्हे पान की कुटेव पड गई है विना पान के उनके मुख का स्वाद सदैव फीका रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विना पान रूपी सजीवनी के उनकी प्राण-रक्षा हो ही नही सकती। यह सब आदत की दासता का चिन्ह है। अत. व्यक्ति को आदतो का स्वामी होना है, दास नही। तभी उसका हित सम्भव है।

आदत डालने के कुछ नियम[1]

आदत डालने के लिये विलियम जेम्स ने चार नियमों का उल्लेख किया है। उनका विवरण यहाँ दे देना अनुपयुक्त न होगा।

१—संकल्प की दृढ़ता[2]—

संकल्प की दृढता से कठिन से भी कठिन आदत व्यक्ति में डाली जा सकती है। संकल्प की दृढता से व्यक्ति अपने किसी भी उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकता है। किसी आदत के डलवाने के पहले हमे बालक को उसकी उपयोगिता भली-भाँति समझा देनी चाहिये। उपयोगिता समझ लेने पर ही उसके लिये वह दृढ संकल्प कर सकता है। उपयोगिता समझाने के लिये शिक्षक तत्सम्बन्धी कुछ कहानियाँ सुना सकता है, अथवा रोचक उपदेश दे सकता है। यदि सत्य बोलने की आदत डालनी है तो राजा हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर की कथा से बालक मे सत्य बोलने के लिये दृढ संकल्प का आविर्भाव किया जा सकता है। व्यायाम करने की आदत डालने के लिये उसकी उपयोगिता समझाते हुए जगत विख्यात् सैण्डो तथा प्रो० राममूर्ति आदि का दृष्टान्त दिया जा सकता है। अध्ययन-शीलता की आदत डालने के लिये ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे महापुरुषों का नाम लिया जा सकता है। ऐसे उदाहरणों से बालक में दृढ संकल्प आ जायगा और वांछित आदत वह अपना लेगा।

२—कार्यशीलता[3]—

बडे-बडे आदर्शों के ज्ञान से ही आदत का पडना सम्भव नही। इसके लिये क्रियाशीलता का होना आवश्यक है। देखा जाता है कि कुछ लोग बडी लम्बी-लम्बी बातें छाँट जाते हैं, पर कुछ करने के समय बगलें झाँकने लगते हैं। ऐसे व्यक्तियो की जितनी निन्दा की जाय थोडी है। ऐसे लोग बडे ही अयोग्य अभिभावक अथवा शिक्षक होते हैं। इनका उदाहरण बालको के लिये कभी हितकर नही हो सकता। बालको से आदत-सम्बन्धी कार्य शीघ्रातिशीघ्र प्रारम्भ करवा देना चाहिये, अन्यथा उन्हे मानसिक दुर्बलता आ घेरेगी और उनका संकल्प ढीला पड जायगा।

३—संलग्नता[4]—

आदत सीखने में संलग्नता का बडा भारी महत्त्व है। प्राय. संगीतज्ञ गुरु कहा करते हैं कि एक दिन भी अभ्यास छूट गया तो छः महीने का परिश्रम जाता रहता है। कहने का तात्पर्य यह कि जब तक आदत पक्की न हो जाय तब तक उसमें संलग्न रहना चाहिये। एक दिन की भी ढिलाई से काम बिगड जाता है। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि "गुण के लिये कभी भी अवकाश नहीं है।" यदि हम यह संकल्प करलें कि

---

1. Some rules of habit-formation 2. Firmness of determination 3 Activeness 4. Persistence.

नित्य सगीत पर अभ्यास करेंगे, अथवा नित्य व्यायाम करेंगे, तो एक दिन की भी भूल न पड़नी चाहिये।

४—अभ्यास[1] —

आदत पड जाने पर उसे दृढ रखने के लिए नित्य का अभ्यास बडा आवश्यक है। आदतें कठोरता से पडती हैं, पर अभ्यास के न करने मे शीघ्र ही लुप्त हो जाती हैं। यदि हम आधे घण्टे नित्य व्यायाम मे देते हैं तो परिस्थितिवश कभी उसके लिये एक मिनट भी देना बुरा लग सकता है। पर यह ठीक नही, अच्छा होगा कि कम मे कम एक ही मिनट दे दिया जाय। यह प्रवृत्ति हमे हर एक आदत मे रखनी चाहिये। इससे आदते दृढ हो जाती हैं।

आदत के प्रकार[2]

भली और बुरी दो प्रकार की आदते होती हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि हम कितने ही सभ्य क्यो न हो जाँय पर कुछ प्राथमिक (प्रिमिटिव) प्रवृत्तियो मे हम सर्वथा मुक्त नही हो सकते। यही कारण है कि व्यक्ति मे बुरी आदते सरलता मे पड जाती हैं, और कठिनाई से छूटती है, और अच्छी आदते कठिनाई मे पडती हैं, पर वे शीघ्र ही छूट सकती हैं। हमारे चरित्र का विकास स्थायीभाव तथा आदतो पर निर्भर रहता है। (स्थायीभाव का वर्णन प्रसगानुसार आगे किया जायगा)। अच्छी आदतें वाला व्यक्ति सच्चरित्र कहा जाता है। समाज उसका मान करता है। बुरी आदतो वाला व्यक्ति समाज मे सक्रामक रोग समझा जाता है। उसके सम्पर्क मे जितने लोग आयेंगे उन सबके दूषित हो जाने का भय रहता है। अतः सामाजिक उत्तरदायित्व के नाते भी हमे अच्छी आदतो के सीखने का प्रयत्न करना चाहिये।

जटिल आदते क्यो पड़ती है[3]

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर मनोविश्लेपणवाद से मिलता है। कभी-कभी हम किसी व्यक्ति का आदत देखकर दग रह जाते हैं। फ्रान्स मे एक शिष्ट कुल की महिला को पुराने जूते चोरी करने की लत थी। मरने पर उसके घर मे कई जोड़े जूते मिले। कुछ लोगो को दूसरो की पैन्सिल चुरा लेने की आदत होती है। छोटे-छोटे वालक पैसे चुराने की आदत सीख जाते हैं। कुछ के लिये झूठ वोलना वडा सरल होता है। कुछ लोग डीग मारने की चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं। इन सब आदतो का छुडाना वड़ा ही विकट है। मार-पीट तथा अन्य प्रकार के दण्ड मे ये आदते और भी दृढ होती जाती हैं। ये आदते मन मे उपस्थित भावना-ग्रन्थियो[4] के कारण होती हैं। यदि इन ग्रन्थियो का

1. Exercise. 2. Kinds of habit. 3. Why do bad habits grow?
4. Complexes.

मुलझाव कर दिया जाय तभी व्यक्ति बुरी आदतो से मुक्त हो सकता है। मनोविश्लेषण-वाद के अनुसार आदतें अभ्यास से नही पडती। प्रत्येक आदत किसी सवेग के आधार पर बनती हैं। जैसे सवेगात्मक प्रेरणा से किसी मूलप्रवृत्ति को क्रियाशील होने को उत्तेजना मिलती है, उसी प्रकार आदत की क्रियाशीलता मे भी किसी सवेग का हाथ रहता है। सवेग की शिथिलता से आदत की क्रियाशीलता मे भी ढिलाई आ जाती है। भली आदतों का सम्बन्ध अच्छे संवेगो से होता है और बुरे का सम्बन्ध बुरे से होता है। व्यक्ति से बुरी आदतो से विपरीत क्रिया कराने पर भी वे दूर नही होती। उनके दूर करने के लिये उनसे सम्बद्ध-विकृत सवेग[1] को ही नष्ट करना आवश्यक है। विकृत सवेग के नष्ट होने से मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाँयगी और व्यक्ति बुरी आदतो से मुक्त हो जायगा। हेडफील्ड महोदय का कथन है कि "भावना-ग्रन्थियो के हटा लेने से बुरी आदते वैसे ही भाग जाती हैं जैसे बिजली के प्रकाश से अन्धेरा। यदि बुरी आदते न हटी, तो यह निश्चय है कि भावना-ग्रन्थियाँ अभी समूल नष्ट नही हुई। कभी एक साधारण सी बात से भी व्यक्तियो का उद्धार होते देखा गया है। सवेगात्मक जीवन मे वाञ्छित परिवर्तन आ जाता है तो व्यक्ति स्वतः बुरी आदतो से मुक्त हो जाता है। भावना-ग्रन्थियो के निराकरण मे सप्ताह तथा महीनो तक लग सकते है, पर उनका सुलझाव हो जाने मे बुरी आदते दूर हो जाती है। यह नियम केवल आचरण-सम्बन्धी बुरी आदतो मे ही लागू नही है, वरन् सभी बुरी शारीरिक आदतो, दुखो की अकारण-अनुभूति तथा अकारण भय का भी आधार जटिल भावना-ग्रन्थियाँ ही होती है।"[2] हेडफील्ड महोदय की उक्ति उनके अनेक परीक्षणो के आधार पर अवलम्बित है। इसकी पुष्टि अन्य मनोविश्लेषण-वादियो ने भी की है। स्पष्ट है कि बुरी आदतो से किसी व्यक्ति को मुक्त करने के लिये उसकी विशिष्ट भावना-ग्रन्थियो का पता लगाना आवश्यक है। इसमे मनोविश्लेपक ही हमारी सहायता कर सकता है।

कुछ बुरी आदतों का निराकरण[3]

१—चोरी करना[4]—

कुछ बालको मे चोरी करने की आदत पड जाती है। वे इतनी साधारण वस्तुओ को चुराते हैं कि आश्चर्य होता है कि इनसे उनका क्या लाभ होगा। मनो-विश्लेपणवादियो के अनुसार चुराने की आदत कामप्रवृत्ति के अवदमन के दुष्परिणाम से पडती है। चुराने मे व्यक्ति काम-भावना की तृप्ति के सवेग का कुछ अनुभव करता है। बहुधा कुछ लोग अपने मित्रो को चिढाने के लिये उनकी वस्तुये चुराया करते हैं। इसमे उन्हे बडा आनन्द आता है। यह आदत मैथुन मे किसी प्रकार के क्रूर व्यवहार

---

1. Complex emotion. 2. साइकॉलॉजी एण्ड मॉरल्स, पृष्ठ ४६ का सारांश।
3 How to remove some bad habits. 4. Stealing.

करने की उनकी प्रवृत्ति का द्योतक है। पर घर में पडी हुई वस्तुओ को बालक क्यों चुराता है ? पिताजी के जेब से वह पैसे क्यो निकाल लेता है ? अपने पिता के किसी मित्र के घर में जा कर चाकू, वा पेन्सिल वह चुरा लिया करता है। इसका क्या कारण है ? इस प्रकार की चोरी की आदत अभिभावको के अमनोवैज्ञानिक व्यवहार का ही परिणाम है। अभिभावक उपर्युक्त अवसर पर बच्चे पर नियन्त्रण लगाने मे असमर्थ होते हैं। यह असमर्थता उनकी किसी जटिल भावना-ग्रन्थि का ही दुष्परिणाम होती है। वे बच्चो को कभी तो बहुत लाड-प्यार दिखलाते हैं, और कभी झिझक में उन्हें बहुत पीट देते हैं। इसका प्रभाव बुरा पडता है। अपने इस अमनोवैज्ञानिक व्यवहार की प्रतिक्रिया मे वे थोडी ही देर बाद बच्चे का आदर करना प्रारम्भ कर देते हैं। कभी कभी माता-पिता काम-पिपासा की ज्ञात अथवा अज्ञात तृप्ति में बच्चो की उपस्थिति का ध्यान नही दे पाते। शिष्टाचार पर बहुत ध्यान देने पर भी उनका परस्पर बोलचाल, उठना व बैठना बैठना इत्यादि ऐसा हुआ करता है कि उनका बालको के व्यवहार मस्तिष्क पर बडा प्रभाव पड़ता है। फलतः उनकी भी काम-प्रवृत्ति अपनी सीमा के अन्दर जागृत हो जाती है। इस प्रवृत्ति के प्रकाशन की इच्छा बच्चो मे चोरी की आदत मे होती है। मनोविश्लेषणवादियो के परीक्षण इसके अकाट्य प्रमाण हैं।

२—चिढ़ाना[1]—

कुछ लडको मे दूसरो को चिढाने अथवा तग करने की आदत पड जाती है। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार यह आदत आत्म-प्रकाशन अथवा काम-प्रवृत्ति के अवदमन का दुष्परिणाम है। जिन बालको को घर पर प्यार नही मिलता, जिनकी माता-पिता या बडे भाई-बहन अवहेलना किया करते हैं वे स्कूल के अध्यापक द्वारा सम्मानित लडको को चिढाया या तग किया करते है। उनकी ईर्षा-भावना यहाँ उत्तेजित हो जाती है। किसी को मान पाते देख सम्मान पाने की उनकी इच्छा होती है। वे अपने व्यक्तित्व को स्थापित करना चाहते हैं। उनकी इच्छा होती है कि माता-पिता या शिक्षक उनकी योग्यता को समझे। इस इच्छा की पूर्ति न होने के कारण वे ऊधम मचाना प्रारम्भ कर देते हैं, क्योकि दूसरो को आकर्षित करने का उन्हे यही साधन दिखलाई पडता है। यदि ऐसे बालको को आत्म-प्रकाशन का अवसर दिया जाय तो उनकी बुरी आदत छूट जायगी।

३—झूठ बोलना[2]—

बालको मे झूठ बोलने के कई कारण होते हैं। किसी वस्तु का वास्तविक रूप न रखना झूठ बोलना कहा जा सकता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि बालक किसी बात का गलत वर्णन कर रहा है। इस प्रकार के झूठ बोलने का कारण उसकी कल्पना-

---

1. Teasing. 2 Lying.

शक्ति हो सकती है। बालक की धारणा-शक्ति तीव्र नही होती। किसी वस्तु को देखने के बाद उसे वह शीघ्र ही भूल सकता है। ज्ञानेन्द्रिय-ज्ञान और अपनी कल्पना के विचार के भेद को वह नही समझ पाता। अतः कभी-कभी वह देखता कुछ है और वर्णन कुछ और ही कर जाता है। सरोजकुमार की कल्पना-शक्ति बडी तीव्र है। पर स्मरण-शक्ति उसकी समानता नही कर पाती। अत: कभी-कभी वह देखता कुछ और है, पर वर्णन कुछ और ही कर जाता है। इस प्रकार का भूठ बोलना भूठ बोलना नही हुआ। इनके लिये उसे दण्ड देने का परिणाम घातक होगा। ऐसे समय बालक से यह कभी नही कहना चाहिये कि तुम भूठ बोल रहे हो। ऐसी डॉट से जिस वस्तु को वह जानता भी नही उसे भी जानने की चेष्टा करने लगेगा और अधिक भूठ बोलना प्रारम्भ कर देगा। ऐसे भूठ के लिये दण्ड न देकर वास्तविक स्थिति को सहानुभूतिपूर्वक समझा देना चाहिये।

बालक दूसरो के अनुकरण से भी भूठ बोलना सीख लेता है। जिस घर के लोग बात-बात मे भूठ बोला करते हैं, अथवा साधारण सी बात मे अपने काल्पनिक सम्मान की रक्षा मे भूठ मे बोलते हैं, उस घर के बालक पर इसका बडा ही बुरा प्रभाव पडता है। बालक भी बडो के अनुकरण मे भूठ बोलना प्रारम्भ कर देता है। धीरे-धीरे इसमें अभ्यस्त होकर वह दूसरो से "भूठा" का विशेषण भी पाने लगता है। बालक कभी-कभी अपने सहपाठियो के अनुकरण मे भी भूठ बोलना सीख लेता है। अत: सभी प्रकार से वातावरण का पवित्र रखना आवश्यक है।

कभी-कभी बालक अनजान मे भी भूठ बोलता है। यदि उससे कहा जाय कि तुम भूठ बोलते हो तो उसे वह मिथ्या दोषारोपण समझेगा। ऐसे बालको की ज्ञात और अज्ञात चेतना में बडा असामञ्जस्य रहता है। ज्ञात चेतना मे वह बडा ही सच्चरित्र हो सकता है, पर जटिल भावना-ग्रन्थियो के कारण उसके अचेतन मन मे बडा द्वन्द हो सकता है। इस द्वन्द के कारण वह कभी आश्चर्यजनक भूठ बोल या लिख सकता है।

भय से भूठ[1]—

दण्ड के भय से भी बालक में भूठ बोलने की आदत पड़ जाती है। जो माता-पिता बालको को साधारण सी साधारण बात पर दण्ड दिया करते हैं उनके बच्चे दण्ड से बचने के लिये बहुधा भूठ बोला करते हैं। आदत पड जाने पर हर बात में भूठ बोलना उनका स्वभाव हो जाता है। उदाहरणार्थ, बाहर मे आने पर जब पिता डाँट कर बच्चे से पूछता है "क्यों जी ! जो जो यहाँ आये थे उनका नाम लिख रक्खा है कि नही ?" बालक भय मे भूठ बोल देता है कि 'पूछने पर उन लोगो ने अपने नाम बतलाये ही नही।'

---

1. Lie due to fear.

आत्म-प्रकाशन के अवदमन से भूठ[1]—

वालक कभी-कभी अपनी शक्तियो के प्रदर्शन के लिये भूठ वोलने लगता है। जव सत्य वोलने पर उसकी प्रशसा नही की जाती तो वह भूठ वोल कर लोगो का ध्यान अपनी ओर आर्कपित करना चाहता है। ऐसे वालको में चुगुलखोरी करने की बुरी लत पट जाती है। साधारणत माता-पिता का कठोर व्यवहार वालक में भूठ वोलने की आदत डाल देता है। वालक की स्वाभाविक इच्छाओ का दमन न करना चाहिये। यदि वह खेलने जाना चाहता है तो रोकना हानिकारक होगा। उसके किसी पुस्तक या चित्र के लिये माँग उपस्थित करने पर उसे पूरी करना आवश्यक है। छोटी-छोटी इच्छाओ की भी पूर्ति वालक के विकास के लिये आवश्यक है। इच्छाओ को दवाने के लिये भय दिखलाना या दण्ड देना हानिकर होता है। इच्छाओ की पूर्ति मे आत्म-प्रकाशन प्रवृत्ति की स्वाभाविक क्रियाशीलता वढती है। उनके दमन मे आत्म-प्रकाशन नही हो पाता और वालक भूठ की आड मे आत्म-प्रकाशन करता है। इसके लिये पीटना और हानिकर होता है। पीटने से भूठ वोलने की आदत वढती है, क्योकि मार खाने मे वालक अभ्यस्त होकर अपने आत्म-प्रकाशन के लिये वहुधा भूठ की शरण ले सकता है।

अनजान में भूठ सिखाना—

कुछ माता-पिता अज्ञानतावश वालको को भूठ वोलना सिखलाते हैं। कुछ लोग आगन्तुको से मिलते-मिलते तग आकर अपने वच्चे से कह दिया करते हैं कि कोई आये तो कह देना कि 'वावूजी नही हैं।' पैसा रहते हुए भी पिता दूसरो से कह देता है कि पैसे नही हैं। इन सव वातो का वालक की मनोवृत्ति पर वडा बुरा प्रभाव पडता है। वह समझता है कि भूठ वोलना बुरा नही है। फलत अपना अर्थ सिद्ध करने के लिये इसका वह भी अवलम्वन लिया करता है।

रूसो का कहना है कि यदि वालक की सत्य वात पर भी विश्वास करना छोड दिया जाय तो भूठ वोलने की उसकी आदत छूट जायगी। ऐसा करने से तग आकर वह भूठ वोलना स्वय छोड देगा। नैतिक भूठ के लिये कभी-कभी दण्ड दिया जा सकता है, पर इसका आधिक्य नही होना चाहिये। वडो को वालको के कार्यो मे थोडी रुचि दिखलाना आवश्यक है। इससे उन्हे वडा हर्ष होता है और उनकी आत्म-प्रकाशन प्रवृत्ति की सन्तुष्टि भी होती है। प्रत्येक भूठ के पीछे एक इच्छा-शक्ति छिपी रहती है। यदि इस इच्छा का पता लगाकर उसकी पूर्ति का उपाय किया जाय तो भूठ वोलने की आदत स्वत दूर हो जायगी। माता-पिता को वालक के भूठ से विशेष घवडाना न चाहिये। यदि वार-वार वालक को वे वताते रहे कि 'तुम अव भूठ वोले' तो ध्यान आर्कपित करने के लिये वह वहुधा भूठ वोला करेगा। सत्य वोलने के लिये वार-वार

---

1. Lie due to repression of self-display-instinct.

उपदेश देने से भी झूठ बोलने की आदत पड़ जाती है। यह विरुद्ध-निर्देश का फल होता है। जो स्वयं झूठ बोला करते हैं पर बालको को सत्य बोलने का उपदेश दिया करते हैं उनके उपदेश का परिणाम विपरीत होता है। यह झूठ बोलने के ही सम्बन्ध मे नही, अपितु अन्य स्थान पर भी दुश्चरित्र व्यक्तियों के उपदेश का उलटा परिणाम होता है। जो अभिभावक या शिक्षक स्वय तो व्यायाम नही करते, पर बालकों को व्यायाम करने का उपदेश दिया करते हैं उनके कथन का एकदम उलटा प्रभाव पड़ता है। जिनका जीवन पतित है वे बालको पर कभी अच्छा प्रभाव नही डाल सकते। बालको मे सदा कुछ सद्वृत्ति होती है। अतः ऐसे अभिभावको के प्रति बालको में सदैव कुछ न कुछ शका बनी रहती है। ऐसी स्थिति वास्तव मे बडी ही दयनीय होती है।

झूठ की उपयोगिता[1]—

उपर्युक्त विवेचन से यह समझना भूल होगी कि हम बालक के जीवन को झूठ से सर्वथा अलग कर सकते हैं। बालक कहानियो मे बडी रुचि दिखलाता है। इन कहानियो के सुनने अथवा पढ़ने से उसकी कल्पना-शक्ति का विकास होता है। परन्तु इन कहानियो मे सब झूठ का ही जाल रहता है। "गदहे ने लोमड़ी से कहा", "कौवा हँसने लगा" इत्यादि इत्यादि क्या सत्य का रूप है ? पर बालक के मस्तिष्क-विकास के लिये ऐसी कहानियो का पढना बडा आवश्यक है। इन कहानियो के झूठे आवरण के भीतर सत्यता कूट-कूट कर भरी रहती है। इस सत्यता का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अत इनके पढे बिना बालक का विकास अधूरा रह जाय तो कोई आश्चर्य नही। पर इतना ध्यान रहे कि इन कहानियो मे किसी अनैतिक बात का उल्लेख न रहे, अन्यथा बालक पर इसका बुरा प्रभाव पडेगा। होमर की रचनाओ में आये हुये देवता अनैतिक कार्यो मे लिप्त दिखलाई पडते हैं। इसीलिये प्लैतो ने बालक की शिक्षा मे होमर को स्थान न दिया। हमारी कुछ पौराणिक कथायें भी ऐसी हैं जिनमें देवतागण विभिन्न प्रकार के दुराचार और व्यभिचार के भागी दिखलाये गये हैं। ऐसी कथाओ को बालकों की शिक्षा से अलग रखना होगा।

धूम्र-पान[2]—

बालक मे धूम्र-पान की आदत बहुधा अनुकरण से आती है। बालक बहुधा अपने बड़ो को सिगरेट या बीडी पीते देखता है। वह समझता है कि केवल बडे लोग ही धूम्र-पान कर सकते हैं, अर्थात् धूम्र-पान करना बडे लोगो का चिन्ह है। इस भावना-वश वह भी धूम्र-पान करना प्रारम्भ कर देता है। मिल या फैक्टरी में कार्य करने वाले बालको मे बीडी अथवा सिगरेट पीने की आदत पड़ जाती है। यह बहुधा अनुकरण का परिणाम होता है। बहुत से बालक किशोरावस्था मे धूम्रपान की आदत

1. Uses of lying. 2. Smoking.

डाल लेते हैं। मनोविश्लेषकों के परीक्षण से यह सिद्ध है कि यह उनकी वासना-प्रवृत्ति के सन्तुष्टि का साकेतिक चिन्ह है। स्पष्ट है कि बालकों के सामने सदैव अच्छा ही उदाहरण रखना चाहिये। उनकी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति में किसी प्रकार की अमनोवैज्ञानिक रुकावट न डालनी चाहिये।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

१—निर्देश

विद्वानों में मतभेद, दूसरे के विचारों से वशीभूत होना, अपना विचार-स्वातन्त्र्य लुप्त, निर्देश का स्पष्ट रूप सम्मोहन क्रिया में, मानसिक रोगों को दूर करने के लिये बड़ा अच्छा साधन।

निर्देश-योग्यता पर परीक्षण—

सीशोर परीक्षण।

आउसेज परीक्षण।

निर्देश-योग्यता कई बातों पर निर्भर—

(१) उम्र—

विवेचन-शक्ति के अभाव में निर्देश का प्रभाव अधिक, हठी या असाधारण बुद्धि वाले को निर्देशित करना कठिन, निर्देश का प्रभाव विचार-शक्ति की शून्यता में नहीं, बालक के जीवन में निर्देश का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण।

(२) ज्ञान और दृढ़ धारणा तथा (३) मानसिक स्थिति—

(४) संकेत का उद्गम—

अपने से बड़ों के निर्देश का प्रभाव शीघ्र, बालक को सदा लाभप्रद निर्देश देना, निर्देश से उसे किसी ओर भी झुकाना सम्भव।

निर्देश के प्रकार—

(१) आत्म-निर्देश—

अद्भुत शक्ति, यह शक्ति बड़ी साधना से, उन्नति की मूल में आत्म-निर्देश की शक्ति, बालकों में इस शक्ति का संचार आवश्यक।

आत्म-निर्देश में हानि भी, अतः उसका स्वस्थकर होना आवश्यक।

(२) आप्त-निर्देश—

देने वाले की प्रतिष्ठा पर निर्भर, अधिक निर्देश देना अमनोवैज्ञानिक, पहले बालक को सोचने और निश्चय करने के लिये उत्साहित करना।

उपयुक्त अवसर पर प्रशंसा देना आवश्यक, बालक में उसके गुणों की चेतना लाना, शिक्षक और अभिभावक के सभी कार्य का आदर्श स्वरूप होना।

(३) समूह-निर्देश—

व्यक्ति और समूह के विचारों का प्रभाव, समूह में व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व भूल जाना, समूह-निर्देश नैतिक उन्नति में सहायक, बहुत सी आदतें समूह-निर्देश पर आधारित ।

(४) विरुद्ध निर्देश—

छोटे बालकों में विशेषकर, विरुद्ध-निर्देश देना हानिकर ।

अभावात्मक आदेश देना हानिकर, बालकों के सामने ठीक बातों का उदाहरण रखना आवश्यक ।

शिक्षकों का आचरण पवित्र होना आवश्यक ।

निर्देश का दुरुपयोग—

निर्देश-योग्यता का कम होना अच्छा लक्षण, भय का कारण बचपन का कुसंस्कार ।

२—सहानुभूति

दूसरे के भावो का अनुकरण करना, सामाजिकता का भाव निहित, सभी चतुर पशु-पक्षी और मनुष्य में

सहानुभूति की क्रियाशीलता के लिये संवेग का ठीक-ठीक समझना आवश्यक नही ।

निष्क्रिय और सक्रिय सहानुभूति—

पशुओ की सहानुभूति निष्क्रिय, मनुष्य में सक्रिय सहानुभूति भी, सक्रिय निष्क्रिय से ही ।

सहानुभूति-प्रवृत्ति मानव निर्बलता—

बुरे या अच्छे कार्य की ओर सहानुभूति से झुकाया जाना ।

सामाजिक जीवन के लिये सहानुभूति आवश्यक—

सहानुभूति बिना सामाजिक जीवन असम्भव, बालक के विकास में सहानुभूति का विशेष स्थान, सहानुभूति से ही मनुष्य के कार्यों मे अनुरूपता, सहानुभूति से पशुओं में बुद्धि के अभाव की पूर्ति ।

सहानुभूति के लिये संवेग का देखना और औदार्यभाव आवश्यक, इसका प्रारम्भ अपने कक्ष के लोगों से ।

सहानुभूति और शिक्षा—

घटनाओ तथा चित्रो के वर्णन में उपयुक्त संवेग जागृत करना, शिक्षक मे विशेष अनुभूति शक्ति आवश्यक ।

३—अनुकरण

अनुकरण का रूप—

क्रिया का अनुकरण करना बन्दरो और बच्चो मे।

विकास में अनुकरण का महत्त्व—

विकास में इसका स्थान महत्वपूर्ण, सामाजिक विकास अनुकरण का ही फल, बालक का अनुभव सीमित, अत अनुकरण प्रवृत्ति उसके लिये बडी आवश्यक।

अनुकरण प्रवृत्त्यात्मक इच्छा की पूर्ति के लिये—

इसकी स्वाभाविकता—

अनुकरण की प्रवृत्ति स्वाभाविक, अनुकरण क्रिया में मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छा की पूर्ति।

अनुकरण की गति—

१—भीतर से बाहर की ओर—

२—अति तीव्र—

अनुकरण के प्रकार

मैग्डूगल का वर्गीकरण—

प्रधान अनुकरण—

१—सहज अनुकरण—

शैशव मे।

२—विचार-जन्य अनुकरण—

बालक की बहुत सी गतियां इसी कोटि मे, विभिन्न हाव-भाव को इसी से सीखना।

३—विचारपूर्वक अनुकरण—

किसी आदर्श का जान बूझकर अनुकरण।

गौण-अनुकरण—

४—विचाररहित अनुकरण—

छोटे बच्चो का अनुकरण इसी कोटि में, ध्वनि अथवा दृश्य से प्रभावित होने के कारण।

५—निरर्थक अनुकरण—

ड्रेवर का वर्गीकरण—

(१) अज्ञात और (२) ज्ञात अनुकरण व्यक्ति के कार्यों का प्रत्यक्षात्मक और विचारात्मक आधार।

१—अज्ञात अनुकरण—

आकस्मिक शिक्षा का आधार तथा बोलने का ढग इत्यादि इसी का फल, घर और स्कूल के वातावरण की शुद्धता आवश्यक ।

२—ज्ञात अनुकरण—

निश्चित आदर्श की ओर, रुचि वाले अनुकरण को बालक मे प्रोत्साहित करना ।

अनुकरण की उपयोगिता

उच्च आदर्श का अनुकरण लाभप्रद, इससे दास-वृत्ति के वृद्धि की सम्भावना नही ।

अनुकरण के प्रोत्साहन मे आविष्कार शक्ति को नही भूलना, अनुकरण विकास की पहली सीढी ।

शाब्दिक उपदेश के स्थान साक्षात् उदाहरण रखना ।

अनुकरण की प्रवृत्ति मे स्पर्धा के समावेश से व्यक्तित्व का ह्रास नही ।

स्पर्धा

स्वरूप—

एक प्रकार का अनुकरण, बराबरी वालो से स्पर्धा, आगे बढ जाने की प्रवृत्ति, प्रबल इच्छा-शक्ति वाले व्यक्तियों में स्पर्धा, स्पर्धा मे अनुकरण, द्वन्द प्रवृत्ति और आत्म-प्रदर्शन का मिश्रण, स्पर्धा ईर्ष्या से भिन्न ।

स्पर्धा और शिक्षा—

स्पर्धा का होना शुभ लक्षण, अधिकाश अच्छे कार्य इसी प्रवृत्ति से, एक आदर्श पर पहुँच जाने पर दूसरा आदर्श बालक के सामने रखना, पुरस्कार से स्पर्धा जागृत करना, बार-बार प्रतियोगिता की भावना जागृत करना अमनोवैज्ञानिक ।

स्पर्धा से सामूहिक प्रवृत्ति का विकास—

आत्म स्पर्धा—

अतीत पर दृष्टि डालना आवश्यक, दिनपत्रिका लिखना ।

४—खेल

स्वरूप—

खेल रचनात्मक क्रियाशीलता का प्रकाशन, स्वाभाविकता, स्वतन्त्रता और आनन्द से रजित; मानव जीवन का व्यापक अग ।

खेल मे बाहरी बन्धन से मुक्त, अन्य उद्देश्य की पूर्ति की इच्छा नही, खेलना जन्मजात प्रवृत्ति, अभिप्रेरक शक्ति, खेल मे आत्म-प्रकाशन का भाव, विभिन्न प्रवृत्तियो का प्रकाशन ।

व्यक्तिगत और सामूहिक रूप, पाँच-छ: वर्ष के बाद सामूहिक खेल, देखी हुई बात का प्रदर्शन खेल मे, कल्पना का आधिक्य ।

खेल और कार्य—

खेल का उद्देश्य खेल ही, कार्य का एक विशिष्ट उद्देश्य, खेल में आनन्द का अनुभव खेल की क्रिया में, कार्य में आनन्द का अनुभव फल की प्राप्ति पर, आदर्श की दृष्टि में खेल और कार्य में अन्तर नहीं।

खेल में भी कभी-कभी उद्देश्य, पर खेल का सम्बन्ध कल्पित संसार से, खेल में प्रनिबन्ध अपनी इच्छानुसार, कार्य में दूसरो द्वारा निर्धारित नियमो का पालन।

खेलते समय गम्भीरता का भाव नहीं, खेलते समय बालक का अपनी स्वाभाविक आवश्यकता का भूलना।

खेल कार्य रूप में भी।

खेल के सिद्धान्त

१—प्रवृद्ध शक्ति का सिद्धान्त

प्रवर्त्तक शीलर और स्पेन्सर, बची हुई शक्ति को खेल में लगाना, बच्चो के पास अधिक शक्ति।

आलोचना—

इस सिद्धान्त का बालक की शारीरिक शक्ति पर ही ध्यान, खेल की विभिन्नता मानसिक शक्ति की विभिन्नता के कारण, प्रवृद्ध शक्ति सिद्धान्त अधूरा, इससे सभी खेलो पर प्रकाश नहीं।

२—पुनर्प्राप्ति का सिद्धान्त

खोई हुई शक्ति को पुन प्राप्त करने के लिए खेल का अवलम्बन।

आलोचना—

सब खेलो का कारण स्पष्ट नहीं, केवल थके हुए व्यक्तियो के ही खेल का स्पष्टीकरण।

३—पूर्वाभिनय का सिद्धान्त

खेलो मे भावी जीवन की तैयारी का उद्योग, बालक का खेल बालिका से भिन्न।

कल्पित भावनाओं के आधार पर खेल की रचना, विकास की सीमानुसार खेल की विलक्षणता, निम्न कोटि के प्राणियो में खेलने की अवस्था नहीं, खेल का प्रकार मानसिक विकास पर निर्भर।

नाड़ी-मण्डल।

आलोचना—

अनेक प्रकार के खेलो का कारण स्पष्ट, खेल में किसी प्रकार का हस्तक्षेप हानिकर।

४—पुनरावृत्ति का सिद्धान्त

खेल द्वारा जाति-विकास की सीढियो को पार करना, सक्रमित सस्कारो की पुनरावृत्ति खेलो द्वारा, कुछ खेलो की भित्ति स्पष्ट।

५—रेचक सिद्धान्त

मनुष्य अपनी आदि-प्रवृत्तियो से पूर्णत. मुक्त नही, सामाजिक बन्धनो के अभाव मे इन वृत्तियो का प्रकाशन सरल, पर यह सदा सम्भव नही, अत. खेलो द्वारा उनका प्रकाशन।

आलोचना—

ठीक से न प्रकाशित होने वाली मूलप्रवृत्तियो का खेलो द्वारा प्रकाशित होना।

उपसंहार—

उपर्युक्त मत एक दूसरे के पूरक, खेल से अतीत और भविष्य दोनो ओर की सकेत, मनोरजन तथा रेचक हेतु भी खेलो का आश्रय।

खेल के प्रकार

१—विभिन्न अवयवों के संचालन से खेल—

वालक का खेलो द्वारा विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो पर नियन्त्रण प्राप्त करना, बाधा अमनोवैज्ञानिक।

२—वस्तुओं से खेल—

(अ) ध्वंसात्मक खेल—

कुछ उम्र प्राप्त कर लेने पर वस्तुओं द्वारा खेल, लाल रग आकर्षक, किसी न किसी प्रकार जागृतावस्था मे प्राय सदा क्रियाशील।

(ब) रचनात्मक खेल—

ध्वसात्मक और रचनात्मक प्रवृत्ति मे घनिष्ठ सम्वन्ध, रचनात्मक खेल मे वैयक्तिक और सामूहिक दोनो सामाजिक भाव का समावेश, रचनात्मक खेल बालको मे अधिक।

३—अनुकरणात्मक खेल—

वातावरण का प्रभाव, पूर्वाभिनय के सिद्धान्त की पुष्टि, आविष्कारात्मक वृत्ति को प्रोत्साहन।

४—आविष्कारात्मक खेल—

बाल्यकाल से, इनसे मानसिक शक्ति का पता।

सामूहिक खेल—

शैशव मे भी कुछ अनुकरणात्मक सामूहिक खेल।

उम्र के बढने पर सामूहिक खेल विचारात्मक, अपने ही उम्र वालो के साथ खेलना, टोली बनाना, इसके प्रति असीम भक्ति, मानसिक शक्ति का विकास।

कार्ल ग्रूस का वर्गीकरण—

शिशुओ के खेल परीक्षणात्मक, गतिशील खेलो मे भागना व दौडना इत्यादि, रचनात्मक खेल, लडाई के खेल सुसगठित।

मानसिक खेल-विचारात्मक, सवेगात्मक और प्रेरणात्मक, इन खेलो द्वारा भावी जीवन की तैयारी।

खेल और शिक्षा

शिक्षा में खेल-प्रणाली—

खेल व्यक्ति के पूरे स्वभाव का दर्पण, यथासम्भव सब कुछ खेल के रूप मे पढाना, खेल प्रणाली का तात्पर्य शिक्षा को अधिक मनोरजक बनाना, शिक्षा में खेल-प्रवृत्ति का उपयोग आवश्यक, शिक्षा मे खेल तत्परता और प्रसन्नता के सीखने की एक मनोवैज्ञानिक विधि।

खेल-प्रणाली से शिक्षा मे बालक की स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व और रुचि की प्रधानता, मनोरजक और अमनोरजक क्रियाओ में सम्बन्ध स्थापित करना, रचनात्मक प्रवृत्ति को उत्तेजित करना।

किण्डरगार्टन—

बच्चे का विकास खेल मे योग देने से, गाना, सकेत करना और बनाना बच्चे का सरल स्वभाव, बालको की आदर्श शिक्षा इन्ही पर आधारित, स्वतन्त्रता, स्वभाविक क्रियाशीलता, और मनोरजकता शिक्षा के मुख्य सिद्धान्त, उपहार और कार्य किण्डरगार्टन के प्रधान स्तम्भ, प्रत्येक वस्तु मे एक दैवी शक्ति, शिक्षा मे इसकी अवहेलना हानिकर।

प्रथम उपहार में गेद, द्वितीय उपहार में त्रिघात, गोल और नलाकार, तृतीय, चतुर्थ, और पचम उपहार।

फ्रोबेल के निर्णय ठीक पर कारण भ्रमात्मक, उसके सिद्धान्तो का दार्शनिक आधार बालक के लिये कठिन, फ्रोबेल द्वारा शिक्षा मे खेल के महत्त्व का दिखलाना।

मॉन्तेसरी प्रणाली—

बालको की शिक्षा का केन्द्र खेल, खेल मे बालको की शिक्षा का आयोजन, व्यावहारिक जीवनोपयोगी कार्य बालक को सिखलाना, खेल द्वारा विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा, लिखने-पढने का ज्ञान खेलो द्वारा, स्व-शिक्षा प्रधान विधि।

विनय-समस्या का स्वतः समाधान, मॉन्तेसरी प्रणाली बच्चो का स्वराज्य।

प्रॉजेक्ट प्रणाली—

शिक्षा मे प्रयोजनता, पाठयवस्तु पहले ही से निर्धारित नही, आवश्यकता सम्बन्धी वस्तुये बनाना आवश्यक, विषयो का ज्ञान आवश्यकतानुसार।

डाल्टन योजना—

स्वतन्त्रता, सामाजिकता और व्यक्तिगत कार्य इसके प्रधान अग, कार्य निर्धारण, आवश्यक सकेत, निर्धारित समय के अन्दर अपनी उन्नति का विवरण देना।

ह्यूरिस्टिक पद्धति—

स्वय सीखने के लिये बालक को उत्साहित करना।

बालचर पद्धति—

हर प्रकार के खेल का समावेश, अवकाश—समय का सदुपयोग, इसका प्रधान तात्पर्य खेल के सभी सिद्धान्तो के साराश पर खेल का आयोजन, किशोरावस्था के व्यतिरेक का समाधान इस पद्धति से सरल, वास्तविकता से परिचय, विभिन्न सामाजिक गुणो का विकास।

नाट्य प्रणाली और रसानुभूति पाठ—

खल-प्रणाली के ही अग।

५—आवर्तन प्रवृत्ति

सरक्षक और रचनात्मक प्रवृत्ति, किसी कार्य के बार-बार करने से उसके आवर्तन की प्रवृत्ति।

आवर्तन प्रवृत्ति का प्रकाशन नित्य, इस प्रवृत्ति से मष्तिष्क को कठिन कार्यो के करने के लिये अवकाश, आवृत्ति प्रकृति का भी नियम।

बालको मे आवर्तन प्रवृत्ति प्रबल, अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियो पर बालक का इसी प्रवृत्ति से नियन्त्रण पाना।

आवर्तन प्रवृत्ति से आत्म-प्रकाशन प्रवृत्ति की सन्तुष्टि।

आवर्तन प्रवृत्ति और शिक्षा—

आवर्तन प्रवृत्ति की क्रियाशीलता से बालक को मानसिक सन्तोष, रटने में बुद्धि-सम्बन्धी क्रिया का समावेश आवश्यक, तर्क-शक्ति की वृद्धि ही के लिये रटवाना मनोवैज्ञानिक।

६—आदत

आदत और मूलप्रवृत्ति—

मूलप्रवृत्ति स्वाभाविक, आदत-अर्जित मूलप्रा०—क्रियात्मक प्रवृत्ति. आदत—

क्रिया विशेष का मार्ग, मूलप्रवृत्ति के सदृश् आदत भी मनुष्य का मानसिक संस्कार।

आदत की नींव

मूलप्रवृत्तियो की परिवर्तनशीलता मे ही आदत का बनना सम्भव, आदत पड़ने के लिये ज्ञात और अज्ञात पर एक विशिष्ट क्रिया का प्रभाव पड़ना आवश्यक, आदत बनाना स्वभाव पर निर्भर।

मेरुदण्ड के वाहक तन्तुओ मे एक सम्बन्ध स्थापित होने से आदत का पडना।

वर्गसन के अनुसार आदत चेतन प्राणी की स्वेच्छा का फल।

प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद के अनुसार रुचि आदत का आधार।

आदत की कुछ विलक्षणताएँ

१—एकरूपता—

आदत के कार्य प्राय समान।

२—सुगमता—

अभ्यस्त हो जाने पर कार्य में सुगमता।

३—रोचकता—

अभ्यास से अरुचिकर कार्य भी मनोरजक।

४—ध्यान-स्वातन्त्र्य—

परिस्थिति की अनुरूपता मे आदत का कार्य ध्यानमुक्त।

आदत का मानव जीवन में महत्त्व

आदत के अनुसार व्यक्ति का आचरण, बचपन में आदत डालना सरल, अतः बालक में अच्छी आदतें डालना, आदत शक्ति सञ्चय और वृद्धि का बडा भारा साधन आदतो का दास होना ठीक नही।

आदत डालने के कुछ नियम

१—सकल्प की दृढता—

उपयोगिता समझा कर दृढ सकल्प करवाना, रोचक उपदेश और महापुरुषों की कहानियाँ।

२—कार्यशीलता—

कार्य न प्रारम्भ करने से मानसिक दुर्बलता।

३—संलग्नता—

जब तक आदत पक्की न हो जाय उसमें लगा रहना।

४—अभ्यास—

आदत पड़ जाने पर अभ्यास का छोडना ठीक नही।

आदत के प्रकार

बुरी आदतो का सरलता से पड़ना, पर कठिनता से उनका छूटना, अच्छी आदतो की गति इसकी उलटी, अच्छी आदतो का सीखना सामाजिक उत्तरदायित्व।

जटिल आदते क्यों पडती है

मारने व पीटने से आदतो का और भी दृढ होना, बुरी आदते भावना-ग्रन्थियो के कारण, आदत का आधार सवेग, बुरी आदतो को छुडाने के लिये उनसे सम्बद्ध विकृत सवेग का नष्ट करना और भावना-ग्रन्थियो का खोलना आवश्यक।

कुछ बुरी आदतों का निराकरण

१—चोरी करना—

चोरी करने की आदत काम-प्रवृत्ति के अवदमन का दुष्परिणाम, अभिभावको का अमनोवैज्ञानिक व्यवहार भी इसका कारण।

२—चिढ़ाना—

आत्म-प्रकाशन अथवा काम-प्रवृत्ति के अवदमन का दुष्परिणाम, दूसरो को अपनी ओर आर्कापित करने का यह एक साधन।

३—झूठ बोलना—

कल्पना और स्मृति मे समानता न होने से बालक का झूठ बोल जाना क्षम्य।

अनुकरण से झूठ बोलना सीखना, अत· वातावरण का पवित्र रखना।

ज्ञात और अज्ञात चेतना मे असामञ्जस्य के कारण झूठ बोलना।

भय से झूठ—

आत्म-प्रकाशन के अवदमन से झूठ—

कठोर व्यवहार से झूठ बोलने की आदत पडना, छोटी-छोटी इच्छाओ की पूर्ति, झूठ की आड में आत्म-प्रकाशन।

अनजान में झूठ सिखाना—

अभिभावको की असावधानी से।

नैतिक झूठ के लिये दण्ड कभी-कभी, बालको के कार्यो मे रुचि दिखलाना आवश्यक, प्रत्येक झूठ मे एक इच्छा-शक्ति छिपी, इसका पता लगा कर झूठ की आदत को दूर करना, दुश्चरित्र के उपदेश का उलटा परिणाम।

झूठ की उपयोगिता—
उपदेशप्रद कहानियो में, अनैतिक कहानियो को न पढाना।

धूम्र-पान—
आत्म-प्रकाशन की भावना तथा अनुकरण से, किशोरावस्था मे धूम्रपान की आदत अतृप्त वासना का द्योतक।

सहायक पुस्तकें

१—मैग्डूगल—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकॉलॉजी, अध्याय ४।
२— ,, —ग्रूप माइण्ड।
३—ड्रेवर—इन्स्टिक्ट इन मैन, अध्याय ८।
४— ,, —ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द साइकॉलॉजी ऑव एडूकेशन, अध्याय ६।
५—डम्विल— द फण्डामैण्टल्स ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय, १२।
६—स्टर्न—साइकॉलॉजी ऑव अर्लीचाइल्डहूड, अध्याय ३२।
७—वैलेनटाइन, सी० डब्लू० —दी साइकॉलॉजी ऑव अर्लीचाइल्डहूड—अध्याय, ९, १०, ११, १३, १६।
८—स्ट्रेङ्ग, रूथ—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु चाइल्ड स्टडी, अध्याय, ११, १६, २०।
९—नन, टी० पी०—एडूकेशन. इटस डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स।
१०—कर्टिस एडूकेशन थ्रू प्ले।
११—मॉन्तेसरी—द मॉन्तेसरी मेथड।
१२—होमरलेन—टॉक्स टु पेरेण्ट्स ऐण्ड टीचर्स।
१३—मिस बर्जले—दी लिटिल कॉमनवेल्द।
१४—रेनी—द प्लेस ऑव प्ले इन एडूकेशन।
१५—काल्डवेल कुकु—द प्ले वे।
१६—ग्रूस, कार्ल—द प्ले आव एनीमल्स।
१७—रॉस—द ग्राउण्ड वर्क ऑव एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय, १५।
१८—लालजीराम शुक्ल—सरल मनोविज्ञान, अध्याय ७।
१९— ,, —बाल मनोविकास, प्रकरण ६, ७, १०।
२०— ,, —बाल-मनोविज्ञान, परिच्छेद, ८, ११, १४, १५।
२१—हॉल—एडोलेसेन्स
२२—सिम्पसन—ऐन ऐडवेञ्चर टु एडूकेशन।
२३—मैकमन—द चाइल्ड्स पाथ टु फ्रीडम।
२४—पार्कहर्स्ट—द डाल्टन प्लान।
२५—सरयू प्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान।
२६— ,, ,, किशोर मनोविज्ञान की भूमिका

१

संवेग[1]

मूलप्रवृत्तियो के सदृश् सवेग भी हर चेतन प्राणी मे पाया जाता है। छठे अध्याय मे इस पर कुछ सकेत किया जा चुका है। सवेग का अनुभव प्रत्येक प्राणी करता है। कुत्ता, गाय, हाथी, सर्प इत्यादि सभी जानवर मनुष्य के सदृश् भय, क्रोध अथवा आनन्द का अनुभव करते हैं। मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओ के ज्ञानात्मक, सवेगात्मक और क्रियात्मक तीन अग हुआ करते हैं। सवेगात्मक अग का सम्बन्ध सवेग से है। किसी वाह्य चेतन प्राणी के सघर्ष मे आकर हम जिस मनोभाव का अनुभव करते हैं वह सवेग है, अर्थात् सवेग सदैव किसी वाह्य पदार्थ की ओर सकेत करता है। आधुनिक मनोविज्ञानिको के अनुसार प्राणी की किसी मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया का आधार कोई सवेग ही होता है।

सवेग का कुछ शारीरिक क्रियाओ से सम्बन्ध[2]—

सवेग और हमारी शारीरिक क्रियाओ मे बडा घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। सवेग के वशीभूत व्यक्ति क्या-क्या नही कर डालता? सवेग के वश व्यक्ति दूसरो को तलवार के घाट उतार देता है। सवेगवश अभी उसी दिन तो वह युवती कुँए मे गिर पडी! सवेगवश पति-पत्नी अपने बच्चे को साथ ले उस दिन रेलगाडी से कट मरे! सवेग मे हमे अपने कार्यो पर ध्यान नही रहता। क्रोध के सवेग मे योद्धा युद्ध मे बुरी प्रकार घायल होता है, पर घाव के दर्द का अनुभव विशेषकर उसे युद्ध के बाद ही होता है। सवेगवश हम कभी-कभी कुछ ऐसी बाते कह जाते हैं जिसकी कभी कल्पना भी नही की जा सकती। क्रोध मे हमारी आखे लाल हो जाती है। दाँत पर दाँत बज जाते है, पूरा शरीर रोमाचित हो ज़ाता है। दुख मे हमारा शरीर ढीला पड जाता है, पता नही सारी शक्ति कहाँ चली जाती है। क्रोध और भय मे हमारे हृदय की गति वहुत बढ जाती है, गुर्दे के पास ऐड्रीनिली[3] नामक ग्रन्थियाँ एक विशेष प्रकार का ऐड्रीनलीन नामक रस[4] उत्पन्न करती है। रक्त की धमनियो द्वारा यह रस शरीर भर फैल जाता है। इसी रस के कारण हमारा शरीर सवेग स्थित मे किसी विशिष्ट क्रिया के लिये तैयार हो जाता है। इसी प्रकार हर सवेग के लिये विभिन्न नलियाँ रस उत्पन्न कर शरीर

---

1 Emotion. 2. Emotion related with some physiological relations. 3. Adrenal glands. 4. Secretion

को आने वाली क्रिया के लिये तैयार कर देती हैं। जब एक नली की क्रिया बहुत तीव्रता से चलती है तो उसके विरोध में दूसरी नलियाँ अपना कार्य बन्द कर देती हैं। उदाहरणार्थ, क्रोध और भय के सवेग मे रस उत्पन्न करने वाली ग्रन्थियाँ अपनी क्रिया स्थगित कर देती है। फलत. प्यास लग जाती हैं और मुँह सूखने लगता है। कण्ठ की थारायड नामक[1] जल ग्रन्थियाँ थारेक्सन रस[2] उत्पन्न करना बन्द कर देती हैं। थारेक्सन रस हमारी पाचन-क्रिया मे बडा सहायक होता है। इसके अभाव मे शरीर क्षीण हो जाता है। इसीलिये कहा जाता है कि भोजन के समय क्रोध अथवा भय नही दिखलाना चाहिये, नही तो पाचन-क्रिया मे बडा विघ्न पडेगा। जैसे क्रोध और भय से स्वास्थ्य का ह्रास होता है उसी प्रकार प्रेम और उत्साह से उसकी वृद्धि होती है, क्योकि इनके कारण थारेक्सन रस की उत्पत्ति पर्याप्त मात्रा मे होती है। पाचन-क्रिया में सलग्न अन्य ग्रन्थियाँ भी अपना कार्य अधिक तत्परता से करती हैं। इसीलिये भोजन के समय प्रेम, उत्साह या आनन्द आदि का भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सवेग और हमारी कुछ शारीरिक क्रियाओ से घनिष्ट सम्बन्ध है। ये क्रियाऐ सवेगो के कारण उत्पन्न होती हैं और इनके कारण व्यक्ति किसी विशिष्ट क्रिया की ओर गतिशील होता है।

जेम्स-लैङ्ग का सवेग का सिद्धान्त[3]

जेम्स और लैङ्ग का सिद्धान्त कुछ दूसरा ही है। यद्यपि मनोवैज्ञानिको ने इस सिद्धान्त का पूर्ण रूप से खण्डन किया है, पर इस पर दृष्टि डालने से सवेग का रूप हमारे सामने अधिक स्पष्ट हो जाता है। जेम्स-लैङ्ग के अनुसार सवेग की उत्पत्ति शारीरिक क्रियाओ से होती है। शारीरिक क्रियाओ के फलस्वरूप व्यक्ति को जो कुछ सवेदना का अनुभव होता है उसका पुञ्ज ही जेम्स-लैङ्ग के अनुसार सवेग है अर्थात् शरीर मे होने वाले विभिन्न रसो की उत्पत्ति का अनुभव ही सवेग है। जेम्स महोदय का कहना है कि साधारणत लोग समझते हैं कि "हम अपना धन खो देते हैं तो दुखी होते और रोते है, भालू को देखने पर हम डर कर भाग जाते हैं, प्रतिद्वन्द्वी हमारा अनादर करता है फलत हम क्रोधित होकर उस पर आक्रमण करते हैं। पर अधिक ठीक यह होगा कि हम डरने से नही भागते वरन् भागने से डरते है। क्रोध के वशीभूत होकर किसी को नही पीटते, वरन् पीटने के कारण ही हमे क्रोध आता है। यदि भागना अथवा पीटना तथा उनके साथ होने वाली अन्य मानसिक-चेष्टाओ को रोक दिया जाय तो हमारे सवेग भी नष्ट हो जायेंगे।" इस प्रकार जेम्म-लैङ्ग हमे समझाते हैं कि शारीरिक परिवर्तन की अनुभूति से जो हमे सवेदना ज्ञान होती है वही सवेग है।

1. Thyroid gland. 2. Thyroxin (गलतिग्मि) 3. James Lange Theory of Emotion.

जेम्स-लैङ्ग का सिद्धान्त भ्रमात्मक—

उन्नीसवी शताब्दी मे जेम्स-लैङ्ग के सिद्धान्त को प्रायः सभी मानते थे। पर अब उसकी त्रुटि स्पष्ट हो गई है। इस सिद्धान्त का सबसे बडा दोष यह है कि सवेग को यह सवेदनाओ का पुञ्ज मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सवेगो का व्यक्ति की बाह्य चेष्टाओ से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है, पर हमारा साधारण अनुभव इसके विपरीत जाता है। कभी-कभी हम वाह्य चेष्टाएँ दिखलाते हैं। पर सवेग का अनुभव नही करते। उदाहरणार्थ, नाटक के पात्र अपनी वाह्य चेष्टाओ से दर्शक में कुछ निश्चित सवेगो की उत्पत्ति कर देते हैं, पर स्वय प्राय उनसे मुक्त रहते हैं। इसके अतिरिक्त सवेग के अनुभव करने पर भी व्यक्ति वाह्य चेष्टाओ से शून्य हो सकता है। क्रोध या भय के अनुभव से व्यक्ति उससे सम्बन्धित क्रिया सदा नही दिखलाता।

शेरीङ्गटन के परीक्षण[1]—

शेरीङ्गटन ने कुत्ते पर अपने परीक्षण से जेम्स के सिद्धान्त की त्रुटि दिखलाई है। उसने कुत्ते की कुछ ऐसी ग्रन्थियों को निकाल लिया जिनके न रहने से सवेदना के ज्ञान (सेनशेसन) का अनुभव कुत्ते के लिये सम्भव न था। ऐसी अवस्था मे भी कुत्ते ने अपने सामने से भोजन हटाने पर अपने जाति-स्वाभावानुसार आचरण का प्रदर्शन किया। "वह क्रोध, प्रसन्नता, घृणा तथा उत्तेजित होने पर भय पहले के सदृश् ही दिखलाता रहा।" बिल्ली पर कुछ ऐसे ही परीक्षणों से भी यही बात सिद्ध हुई। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया कि पशु के सवेग तथा संवेदना[2] से कोई विशेष सम्बन्ध नही।

जेम्स-लैङ्ग के सिद्धान्त को त्रुटिपूर्ण सिद्ध करने के लिये किसी मनुष्य की परीक्षा आवश्यक थी। सयोगवश यह परीक्षा चालीस वर्षीया एक महिला पर की गई। घोडे पर से गिरने से उसके मेरुदण्ड की कुछ ग्रन्थियाँ व्यर्थ हो गईं। इससे उनका मस्तिष्क से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। इस प्रकार जेम्स-लैङ्ग के सिद्धान्तानुसार उन शारीरिक परिवर्तनो की कोई सम्भावना ही न थी जिनसे सवेगो की उत्पत्ति होती है। पर यह महिला पूर्ववत् दुख, सुख, असन्तोप, प्रेम आदि सवेग परिस्थिति के अनुसार प्रदर्शित करने मे समर्थ थी। इस प्रकार हम मान सकते है कि सवेग की स्वतन्त्र सत्ता होती है, वह सवेदना पर आश्रित नही होता।

संवेगों[3] की कुछ विलक्षणतायें

वैयक्तिकता[4]—

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब हम सवेगो की विलक्षणताओं की ओर

---

1. Sherington Experiment. 2. Sensation 3. Some characteristics of emotions. 4. Personalness.

सकेत कर सकते हैं । संवेग की प्रथम विशेषता उसकी वैयक्तिकता है । परिस्थिति के समान होने पर भी अनुभव की समानता का होना आवश्यक नही । किसी स्त्री को रोती हुई देख कर दो व्यक्तियो मे दो प्रकार की भावना का संचार होना सर्वथा स्वाभाविक है । एक व्यक्ति का हृदय दया से पिघल जाता है, पर दूसरे पर इसका कुछ भी प्रभाव नही होता । पूडी, कचौडी, तथा पकौड़ी इत्यादि देख कर किसी की लार टपकने लगती है, पर दूसरा उसके प्रति एकदम उदासीन दिखलाई पड़ता है । सवेग का प्रकाशन हरएक के साथ विभिन्न प्रकार से हुआ करता है कोई दुख मे भी इस प्रकार मुस्कराते हुए दिखलाई पडते हैं मानो उन्हे कुछ हुआ ही नही है, परन्तु भीतर से उनका हृदय फटा जाता है। कुछ लोग भीतर से एकदम दु खी न होते हुए भी अपना वाह्य रूप ऐसा उपस्थित करते हैं कि मानो दु.ख के मारे उनका हृदय फटा जा रहा है । ऐसे लोगो के मनोभावो का पता लगाना बडा ही कठिन होता है । इस प्रकार सवेग सदा व्यक्ति के मनोभाव पर निर्भर रहता है, वाह्य परिस्थितियो पर इसकी क्रियाशीलता सदा निर्भर नही रहती ।

संवेग और भाव[1]—

भाव सवेग का एक अग मात्र होता है । सवेग के अर्न्तगत भाव, शारीरिक ग्रन्थियो व अवयवो मे होने वाले परिवर्त्तन तथा सवेगात्मक प्रवृत्ति (इमोशनल इम्पल्स) का समावेश हो जाता है। भाव सवेग का सबसे महत्त्वपूर्ण अग अर्थात् हृदयस्थल माना जाता है । हमारे प्रत्येक अनुभव के साथ सुखात्मक अथवा दुखात्मक भाव लगे रहते हैं । प्रबल भावो के उत्पन्न होने से ही हम सवेग का अनुभव करते हैं । किसी विशिष्ट परिस्थिति मे मस्तिष्क जो अनुभव करता है वही भाव है । कुछ मनोवैज्ञानिक भाव की तुलना सवेदना से करते हैं, पर यह ठीक नही, क्योकि सवेदना सदा वाह्य उत्तेजना तथा शारीरिक अवस्था पर निर्भर रहता है । भाव शारीरिक अवस्था अथवा वाह्य उत्तेजना पर निर्भर न रहकर मानसिक स्थिति पर निर्भर रहता है । यह सत्य है कि सवेदना भाव का कारण बन जाता है, परन्तु उसमे और भाव मे मौलिक भेद है । भाव एक ऐसा स्वतन्त्र मानसिक अनुभव कहा जा सकता है जो सवेगो के कारण उत्पन्न होता है ।

संवेगो की व्यापकता[2]—

ऊपर हम सकेत कर चुके हैं कि संवेग हर प्राणी मे पाया जाता है । पर इसकी प्रबलता हरएक में भिन्न-भिन्न होती है । व्यक्ति ज्यो-ज्यो प्रौढ होता जाता है त्यो-त्यो उसके सवेग की प्रबलता कम होती जाती है । किसी परिस्थिति में बालक प्रौढ की अपेक्षा

1. Feeling. 2. Universality of emotions.

शीघ्र भावावेश मे आ जाता है। स्त्री भी पुरुष की तुलना मे संवेग का अनुभव शीघ्रतर कर लेती है। अशिक्षित तथा अस्थिर मन वाले व्यक्ति सवेग-प्रकाशन मे तीव्र दिखलाई पडते हैं, पर चिन्तनशील व्यक्ति सवेगों पर नियन्त्रण रखता है और उनका प्रकाशन समयानुसार करता है। सवेगों पर नियन्त्रण रखना साधना की वस्तु है।

संवेगो का क्रियात्मक प्रवृत्ति से सम्बन्ध[1] —

मूलप्रवृत्तियो के विवेचन मे हम देख चुके है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के क्रियात्मक अग के पहले सवेगात्मक अग होता है। सवेगात्मक अग से ही क्रियात्मक अग का होना सम्भव नही। पर इसका तात्पर्य यह नही कि सवेग के अनुभव से व्यक्ति सदा क्रियाशील हो जायगा। तथापि बिना क्रियाशीलता के सवेग का विशेष मूल्य नही। किसी निर्बल पर अत्याचार होते देख हम मे क्रोध का संवेग उत्पन्न हो सकता है। यदि अत्याचार के बन्द करने का उपाय हम नही करते तो हमारे क्रोध का महत्त्व ही क्या? पर इतना तो मानना ही पडेगा कि प्रत्येक सवेग का सम्बन्ध एक क्रियात्मक प्रवृत्ति से होता ही है। क्रोध मे लडाई करने की प्रवृत्ति निहित है। भय मे भागने की तथा आमोद मे हँसने की, इत्यादि, इत्यादि।

संवेगों का स्थानान्तर[2]—

सवेगों का सदा किसी न किसी पदार्थ या व्यक्ति से सम्बन्ध होता है। क्रोध का सवेग किसी व्यक्ति के प्रति उत्पन्न होता है। भय किसी पदार्थ या जीव को देख कर उत्पन्न होता है। सवेग कभी-कभी स्थानान्तरित भी कर दिया जाता है। यदि किसी व्यक्ति पर हम क्रोधित हुए हैं और उसी समय कोई दूसरा आकर किसी कार्य के लिये आग्रह -करता है तो हमारा क्रोध उसी पर हो जाता है। निर्बल पति अपनी पत्नी पर आया हुआ क्रोध अपने नौकरों पर उतारा करते है।

साधारण और असाधारण संवेग—

सवेग साधारण और असाधारण दो प्रकार के होते हैं। भय, क्रोध, सुख, दुख, प्यार व घृणा आदि साधारण सवेग कहे जाते है। ये सवेग प्राथमिक हैं, इन्ही के आधार पर असाधारण सवेग बनते है। बालक साधारण सवेग का प्रदर्शन असाधारण की अपेक्षा पहले करता है। ईर्ष्या, श्रद्धा, प्रशसा तथा प्रतिवाद आदि सवेग असाधारण कहे जाते हैं, क्योकि इनके विश्लेषण मे हमे कुछ साधारण सवेगो का अंग दिखलाई पडता है। उदाहरणार्थ श्रद्धा मे "प्रेम, भय और क्रोध" का मिश्रण दिखलाई पडता है।

संवेग की अस्थिरता[3]—

सवेग बडा अस्थिर रहता है। शहद की मक्खियो द्वारा काटे जाने पर हम क्रोध

1. Emotions related with reactive impulses. 2. Displacement of emotion. 3. Instability of emotion.

सवेग के वशीभूत होकर उन्हे मारने के लिये तत्पर होते हैं, पर कुछ क्षण बाद हम भयवश भाग खडे होते हैं। मक्खियो से बच कर हम प्रसन्नता का अनुभव करते है, पर जब ज्ञात होता है कि उनके डक से मुँह फूल रहा है और सूरत भद्दी होती जा रही है तो हम दु ख का अनुभव करते हैं। जव हमारा मित्र सहानुभूति-प्रदर्शन करता हुआ निकट आ जाता है तो हम उसके प्रेम से द्रवीभूत हो जाते हैं। पर जब वह हमारे भद्दे मुँह पर हँसने लगता है तो हमे उसके प्रति घृणा हो जाती है। इस प्रकार क्रोध, भय, दु ख, सुख, प्रेम और घृणा के सवेग थोडी-थोडी देर बाद आते गये। इससे उनकी अस्थिरता का अनुभव होता है। वास्तव मे सवेग की यह अस्थिरता, स्थिरता मे परिवर्तित हो जाय तो हमारा जीवन कठिन हो जाय। सवेग की अस्थिरता से ही हम क्रोध, भय अथवा दु ख आदि से शीघ्र मुक्त हो सुख का अनुभव करते हैं। यदि दु ख, क्रोध, भय अथवा घृणा बहुत दिन तक रहे तो व्यक्ति पागल हो जायगा। वस्तुतः पागलपन किसी सवेग की स्थिरता का ही परिणाम होता है।

संवेग का महत्त्व[1]

सवेगात्मक विकास का हमारे जीवन मे क्या महत्त्व है ? यदि हममे सवेगात्मक प्रतिक्रिया न होती, और हम प्रत्येक वस्तु या परिस्थिति के प्रति उदासीनता का परिचय देते तो क्या होता ? क्या कुछ सवेग दूसरो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है ? यदि हैं तो उन्हे हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? क्या हम सवेगो को अपने नियन्त्रण मे रख सकते हैं, या सदा उनकी दासता ही करनी होगी ?

बालक कुछ जन्मजात प्रवृत्तियाँ लेकर उत्पन्न होता है। अत कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ और पदार्थों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया उसके जन्म से ही प्रारम्भ हो जाती है। उच्च स्वर व आकस्मिक परिवर्त्तन इत्यादि से उसकी मुद्रा में भेद दिखलाई पडने लगता है। वह किसी प्रकार की बाधा से घृणा करता है। यदि पैर के पास कोई वस्तु आ पडी तो उसे हटाने की चेष्टा करेगा। यदि किसी प्रकार उसका विस्तर भीग गया तो रोकर वह अपना दु ख प्रकट करेगा। माँ की गोद उसे वडी पसन्द होती है। माँ भी शीघ्र ही समझ जाती है कि उसके वच्चे के लिये कौनसी वस्तु दु खात्मक और कौनसी सुखात्मक होगी। धीरे-धीरे वालक के सवेग दृढ होने लगते हैं और अपनी परिचित वस्तुओ के प्रति उसमे एक निश्चित सवेग का विकास हो जाता है। स्थिति मे परिवर्त्तन लाने से भी उसके सवेग-विकास मे योग दिया जा सकता है।

सवेग का हमारे जीवन मे बडा महत्त्व है। कभी-कभी सवेगवश हम ऐसा कार्य कर वैठते हैं जिसकी हम कल्पना भी नही कर सकते। डर के मारे हम कितनी स्फूर्ति के साथ दौडते हैं ? प्रेमवश हम दूसरो की क्या-क्या सेवा नही करते ? इस प्रकार

1 Importance of emotion.

संवेग मूलप्रवृत्ति को शक्ति देता है, पर इसके साथ ही साथ सवेग भी स्वयं मूलप्रवृत्तियों पर निर्भर रहता है। सवेग से ही हमें प्रेरणा मिलती है। यदि व्यक्ति कुछ सवेगों से शून्य हो जाय तो उसका जीवन अपूर्ण कहलायेगा। मनुष्य तो सामाजिक प्राणी है। वह सवेगहीन हो ही नही सकता। स्वाभाविकता के नाते किसी सामान्य व्यक्ति मे प्रायः सभी साधारण सवेग पाये जाते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नही कि सबका महत्त्व समान हैं। हाँ, हम इतना मानते है कि परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यदि किसी व्यक्ति मे क्रोध अधिक है तो वह सदा झगडा कर सकता है। भय के आधिक्य से वह सदा भोदू दिखलाई पड सकता है। पर प्रेम और आमोद के आधिक्य से उसका जीवन सदा सुखी रह सकता है। यह कहना कठिन है कि सबसे महत्त्वपूर्ण संवेग कौन है। वास्तव मे जीवन की सफलता के लिये विभिन्न सवेगो मे सामञ्जस्य की आवश्यकता है। इस आवश्यकता के पूरी होने पर ही व्यक्ति का अनुरूप विकास सम्भव हो सकता है। सवेगो को नियन्त्रण मे रखना बडा दुष्कर कार्य है। यदि कोई इसमें सफल हो सका तो वह निश्चय ही एक ऐसा योगी है जो इस संसार के रागद्वेष से सर्वथा विरक्त है। तथापि शिक्षा से उन पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त करने का प्रयत्न किया ही जा सकता है। यदि यह सम्भव न होता तो शिक्षा-व्यवस्था की आवश्यकता ही क्या होती?

परिस्थिति के ज्ञान और उससे उत्पन्न क्रिया के मध्य मे सवेग आता है। मूल-प्रवृत्ति के क्रियात्मक अग का 'सवेग' मनोवैज्ञानिक 'दूत' है। किसी मूलप्रवृत्ति के ज्ञानात्मक अंग के कई रूप हो सकते हैं। हम कई प्रकार की वस्तुओ से डर सकते हैं और हमारे डर का प्रकाशन भी कई साधनो से हो सकता है, पर सवेग अर्थात् भय का भाव सदा एक ही रहेगा। इस पर गहनता के वेग के अतिरिक्त किसी प्रकार का परि-वर्त्तन न आयेगा। व्यक्ति और समाज के विकास मे सवेग का वडा भारी हाथ रहता है; क्योकि हमारी बहुत सी क्रियाएँ संवेग से ही उद्भूत होती हैं। किसी व्यक्ति के सवेग को प्रभावित कर उसकी क्रिया को वाछित रूप देने का सफलता से प्रयत्न किया जा सकता है। कुटुम्ब, स्कूल, पुलिस, न्यायालय, धर्मस्थान, तथा चुनाव आदि मे लोगों के सवेगो पर प्रभाव डाल कर कार्य किया जाता है। वस्तुतः किसी को प्रभावित करने के लिये सर्वप्रथम उसके सवेग को उत्तेजित करने की चेष्टा की जाती है। सवेग जितना ही प्रबल होगा उनसे सम्बन्धित क्रिया भी उतनी ही प्रबल होगी। विलियम जेम्स का कहना है कि एक खिलाडी बैल से पीछा किये जाने पर ऐसी ऊँची दिवाल फॉद गया जिसे वह फिर कभी नही फॉद सका। स्वाभाविक क्रियाशीलता मे विघ्न उपस्थित होने से संवेग के प्रवल हो जाने की सम्भावना रहती है। भयवश भागते हुए व्यक्ति को भागने से रोक दिया जाय तो उसका भय प्रबलतर हो जाता है। कुछ सवेग बडे स्फूर्ति-पूर्ण होते हैं और व्यक्ति को यकायक क्रिया मे संलग्न कर देते है, पर कुछ सवेग ऐसी

परिस्थिति में उठते हैं जब किसी प्रकार की क्रिया सम्भव ही नही होती। ऐसे संवेग शैथिल्य ला देते है, क्योकि उस समय मूलप्रवृत्ति के प्रकाशन के लिये कोई साधन नही दिखलाई पडता। जीवित पुत्र को लेकर माँ अपने संवेगो का प्रकाशन सरलता से करती है, पर उसकी मृत्यु के बाद उसमें शैथिल्य आ जाता है।

संवेग और शिक्षा[1]

सवेग की क्रिया सदा प्रयोजनात्मक होती है। अत प्राणी के जीवन में इसका विशेष महत्त्व होता है। सवेग के मानसिक और शारीरिक दो पहलू होते हैं। इसकी सार्थकता शारीरिक रूप मे ही अधिक दिखलाई पडती है। क्रोध या भय से हमारे हृदय की गति बढती है तथा इसके साथ कुछ और भी ऐसे शारीरिक परिवर्त्तन होते हैं जिससे व्यक्ति की कार्य-क्षमता उस समय के लिये बढ जाती है और उपयुक्त शक्ति भी आ जाती है। किसी उपयुक्त परिस्थिति मे वाछित सवेग का उत्पन्न होना आवश्यक है। वाछित सवेग उपयुक्त शिक्षा से ही उत्पन्न हो सकता है। यदि बालको की स्वाभाविक इच्छाओ का अवदमन किया गया तो उनमे उत्साह न होगा और परिस्थिति-विशेष मे आवश्यक सवेग उनमे नही उत्पन्न होगे। उदाहरणार्थ, रास्ते मे कोई सबल निर्बल को सता रहा है, निर्बल को बचाने के लिये यदि दर्शको मे इच्छा उत्पन्न न हुई तो उचित सवेग भी उत्पत्ति का अभाव ही कहा जायगा। किसी प्रकार के सवेग के आने पर उसे रोकने से हृदय को बडा धक्का लगता है। सारा मेरुदण्ड झकृत हो जाता है। फलतः इससे व्यक्तित्व का ह्रास होता है। अत. अभिभावको और शिक्षको को बालक के सवेग को कभी न रोकना चाहिये। उत्तेजना अथवा सवेग को रोकना बालक को नीरस बनाना है। यदि बालक का वातावरण ठीक रहा तो उसमे उचित वस्तुओ के प्रति ही उपयुक्त सवेग उत्पन्न होगा। सवेग की कोटि पर ही समाज में व्यक्ति का मान अथवा सम्मान निर्भर रहता है। यदि किसी मे क्रोध अथवा भय आदि का सवेग शीघ्र आ जाता है तो वह दूसरो की दृष्टि मे विशेष सम्मान का पात्र नही हो सकता। चिढचिढे और बात-बात में क्रोधित हो जाने वाले व्यक्ति को कौन प्यार कर सकता है? प्रेम और आनन्दरस से सने हुए व्यक्ति की ओर सभी लोग आकर्षित होते हैं। मूलप्रवृत्तियो की भाँति सवेग को भी नियन्त्रित किया जा सकता है। यदि बालक के सवेगो पर उचित ध्यान न दिया जाय तो उनका विकास अवाछित गति की ओर हो सकता है। निरोध से सवेगो पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। हानिकर संवेगो के उभड़ने के लिये यदि अवसर ही न दिया जाय तो वे स्वत शिथिल पड जायेंगे। उदाहरणार्थ, यदि कोई बालक बहुत क्रोध या भय के वश हो जाता है तो उसके समक्ष हमे क्रोध और भय की परिस्थिति ही न उत्पन्न करनी चाहिये।

1. Emotion and Education.

शोधन—

शोधन से सवेगो पर नियत्रण किया जा सकता है। यदि बालक का प्रेम किसी बुरी वस्तु के लिये है तो उसको हम अच्छी वस्तु की ओर लगा सकते है। मित्रो पर हुए क्रोध को शत्रुओ की ओर केन्द्रित किया जा सकता है। शोधन से सवेग का रूप ही एकदम परिवर्त्तित किया जा सकता है। इस प्रकार रूप के परिवर्त्तन से सवेग पहचाना ही नही जाता। कालिदास की कामुकता साहित्य के प्रेम मे परिवर्त्तित हो गई। सवेगो के निरोध अथवा मार्गान्तरीकरण का उद्देश्य शोधन ही होना चाहिये, अन्यथा इसका परिणाम भावना-ग्रन्थियो का पडना होगा। भावना-ग्रन्थियो के कारण सारा जीवन व्यर्थ सा हो जाता है।

अध्यवसाय[1]—

सवेगो को वश मे करने के लिये अध्यवसाय सबसे सुन्दर उपाय है। सदा कार्य में लगे रहने से सवेग मन मे कम आते है। समय नष्ट करने वाला व्यक्ति विभिन्न संवेगो का अभियुक्त हुआ करता है। क्रोध का आ जाना, दु ख का अनुभव करना तथा ईर्षा-भावना से अभिभूत हो जाना आदि उनके लिये बडा सरल होता है। यदि बालक को सदा किसी न किसी कार्य मे लीन रखा जाय तो उसके सवेगो का शोधन स्वत हो जायगा। परीक्षा के समय बालक कितनी शान्तिपूर्वक अपने अध्ययन में लगा रहता है! उस समय उसके विभिन्न सवेगो की भीषणता बहुत कम रहती है। यदि किसी सवेग के समय हम विचार करना प्रारम्भ कर दे तो सवेग की प्रबलता अपने आप कम हो जाती है। विलियम जेम्स ने ठीक कहा है कि "क्रोध मे कोई बात कहने के पहले दस बार गिनो"। कहने का तात्पर्य यह है कि गिनने से क्रोध अपने आप चला जायगा। मनो-विश्लेषण विज्ञान के विद्वान् युङ्ग महाशय का कहना है कि 'भाव-प्रधान'[2] और 'विचार[3]-प्रधान' स्वभावो मे विरोध रहता है। जो व्यक्ति भाव-प्रधान होगा उसमें विचार-प्रधानता नही आ सकती। हमारा अनुभव कहता है कि युङ्ग महाशय का यह सिद्धान्त ठीक है। अत: किसी व्यक्ति मे भाव-प्रधानता अथवा सवेगो का आधिक्य है तो इसमे विचारों की अभिवृद्धि कर सवेग की प्रधानता को गिराया जा सकता है।

रेचन[4]—

सवेगो को सर्वथा निर्मूल कर देना एकदम असम्भव है। उनके शोधन के लिये लाख प्रयत्न करने पर भी उनका कुछ न कुछ अश रह जाता है। अत. समय-समय पर संवेगों को उभडने के लिये अवसर देना उचित है। इस प्रकार के अवसर देने को रेचन कहते हैं। अत: समयानुसार बालक को सभी प्रकार के सवेग-प्रकाशन के लिये अवसर देने चाहिये। उसकी हँसी व कौतुक पर सदा रोक लगाना अमनोवैज्ञानिक है। इससे

1. Industriousness. 2. Feeling Type. 3. Thinking. 4. Carthaisis.

उसका विकास कुण्ठित हो जाता है। ऐसे ही उन्हे क्रोध से सदा रोकना उन्हे निस्तेज करना है, पर इसका तात्पर्य यह नही कि चिढा कर उसमें क्रोध उत्पन्न किया जाय।

संवेग और शिक्षक[1]

अब यह स्पष्ट है कि सवेगो को शिक्षित करता व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो हित के लिये आवश्यक है। पर सवेग की शिक्षा पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। इस सम्बन्ध में गाल्ट[2] और हावर्ड के ये शब्द उल्लेखनीय हैं। "आजकल के समाज मे स्मृति व तर्क आदि शक्तियो की शिक्षा पर इतना ध्यान दिया जाता है कि सवेग की एकदम अवहेलना हो जाती है · ·· ···।" सवेग के विकास पर उचित ध्यान न देने से व्यक्ति का जीवन अधूरा रह जाता है, फलत. समाज पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। वास्तव में समाज की सभी बुराइयाँ व्यक्ति के सवेग पर नियन्त्रण न रखने से ही उत्पन्न होती हैं। शिक्षा मे सवेग की अवहेलना की गई है, इसीलिये आज हम हर क्षेत्र में अव्यवस्थता का चिन्ह देख रहे हैं। अत शिक्षको को इस पर विशेप ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक विषय के अध्यापन में सवेग की शिक्षा का स्थान रहता है। उदाहरणार्थ, इतिहास में चरित्रो के अध्ययन से बालको मे क्रोध, घृणा, प्रेम आदि सवेगो का सचार होता है। अध्यापक यदि मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से कार्य करे तो यहाँ पर वे सवेगो को सुसगठित कर बालको में विभिन्न गुणो के लिये स्थायीभाव उत्पन्न कर सकते हैं। स्थायीभाव व्यक्तिगत रुचि अथवा अरुचि का परिणाम होता है, पर उचित रुचि के उत्पादन में शिक्षक योग दे सकता है। इसमे तनिक भी सन्देह नही। गणित तथा विज्ञान ऐसे क्लिष्ट विषयो में भी सवेग की शिक्षा का स्थान है। यदि इन विषयो के अध्ययन करते समय वालक आश्चर्य और आत्माभिमान के भाव का अनुभव न कर सके तो इनका अध्ययन सफल नही कहा जा सकता। वास्तव मे शिक्षा का ध्येय विज्ञान, साहित्य, कला तथा सगीत आदि विषयो के प्रति प्रेम उत्पन्न करना है। इन विषयो का अध्ययन यदि मनोवैज्ञानिक विधि पर किया जाय तो सवेग की शिक्षा का सदा अवसर मिलता रहेगा।

बालक बहुत शीघ्र ही विक्षुब्ध हो जाया करता है। इस बात की अवहेलना से शिक्षक या अभिभावक बालक के विकास मे बाधक बन जाता है। बालक से किसी कार्य के विगड जाने पर उस पर क्रोध करना अमनोवैज्ञानिक है। क्रोध दिखलाने से बालक और विक्षुब्ध हो जाता है और पहले से अधिक गलती करने लगता है। यदि सगीत सिखलाते समय शिक्षक क्रोध दिखलाकर बेताल न होने के लिये बार-बार चेतावनी देता है तो विद्यार्थी निश्चय ही बेताला हो जायगा। "सही-सही पढना नही तो बहुत

---

1. Emotion and Teachers. 2. एन आउटलाइन आव् जनरल साइकॉलॉजी, पृ० ३६२।

पीटेंगे" ऐसा कहकर शिक्षक बालक को और गलत पढने को बाध्य करता है। "तुम तो बतलाओ जी" एसा डाँट कर कहने से बालक का आता हुआ उत्तर भी वन्द हो जाता है। सवेग और सीखने मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनोवैज्ञानिक व्यवहार के अभाव से सवेग मे बालक किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। यदि बालक डर या क्रोध के आवेश मे आ गया तो वह कुछ भी न समझ पावेगा। ऐसी दशा मे वह ठीक-ठीक सोच भी नही सकता। क्रोध मे युद्ध करने वाला व्यक्ति अपनी युक्तियो को भूल सकता है। भय से भाषणवक्ता अपने विचार की शृङ्खला भूल जाता है। कला, साहित्य और सगीत ऐसे विषयो मे तो सवेग का प्रधान हाथ होता है। सवेगात्मक अनुभूति से ही कोई किसी कला के निर्माण मे सफल होता है। स्पष्ट है कि शिक्षा मे सवेग का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी अवहेलना नही की जा सकती। वास्तव मे शिक्षा का प्रधान उद्देश्य बालक को विशिष्ट परिस्थिति मे उचित सवेग प्रदर्शित करने के योग्य ही वनाना है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

संवेग

हर चेतन प्राणी मे, सघर्ष में मनोभाव का अनुभव सवेग, मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया का आधार सवेग ही।

संवेग का कुछ शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्ध—

सवेगवश व्यक्ति बेसुध, शारीरिक क्रिया का परिवर्तन, हर सवेग के लिये विभिन्न रस की उत्पत्ति।

जेम्स लैङ्ग का संवेग का सिद्धान्त

सवेग की उत्पत्ति शारीरिक क्रियाओ से, शारीरिक क्रियाओ के फलस्वरूप उत्पन्न सवेदनाओ का पुञ्ज सवेग, शारीरिक परिवर्तन की अनुभूति सवेग।

जेम्स-लैङ्ग का सिद्धान्त भ्रमात्मक—

भ्रमात्मक, वाह्य चेष्टाओ से सवेग का सम्बन्ध नही, सवेग वाह्य चेष्टाओ से शून्य भी।

शेरीङ्गटन के परीक्षण—

कुत्ते और बिल्ली पर।

चालीस वर्षीय महिला पर परीक्षण, सवेग की स्वतन्त्र सत्ता।

संवेगों की कुछ विलक्षणतायें

वैयक्तिकता—

परिस्थिति की समानता से अनुभव की समानता आवश्यक नही सवेग का

प्रकाशन प्रत्येक के साथ विभिन्न प्रकार का, सवेग सदा मनोभाव पर निर्भर, वाह्य परिस्थितियो पर इसकी क्रियाशीलता सदा निर्भर नही।

संवेग और भाव—

भाव सवेग का अङ्ग, मस्तिष्क का अनुभव भाव, भाव सवेदनात्मक ज्ञान नही, भाव मानसिक स्थिति पर निर्भर, भाव स्वतन्त्र मानसिक अनुभव, भाव सवेग से उत्पन्न।

संवेगो की व्यापकता—

प्रवलता प्रत्येक में भिन्न, प्रौढता के साथ प्रबलता कम, अस्थिर मन वाले व्यक्ति में सवेग का प्रकाशन शीघ्र , सवेगो पर नियन्त्रण साधना से।

संवेगो का क्रियात्मक प्रवृत्ति से सम्बन्ध—

बिना क्रियाशीलता के सवेग का विशेप मूल्य नही।

संवेगों का स्थानान्तर—

सवेगो का स्थानान्तरित होना।

साधारण और असाधारण संवेग—

साधारण सवेग अकेला पर असाधारण सवेग में कई सवेगो का मिश्रण सम्भव।

संवेग की अस्थिरता—

सवेग की अस्थिरता आवश्यक।

संवेग का महत्त्व

वस्तुओ के प्रति बालक की प्रतिक्रिया उसके जन्म से ही, परिचित वस्तुओ के प्रति निश्चित सवेग, स्थिति मे परिवर्त्तन से सवेग-विकास मे योग।

सवेग से मूलप्रवृत्ति को शक्ति, सवेग प्रेरणादायक, सवेंगहीन होना असम्भव, सभी सवेगो का महत्त्व समान नही, जीवन की सफलता के लिये विभिन्न सवेगो मे सामञ्जस्य आवश्यक, शिक्षा से कुछ सवेगो पर नियन्त्रण प्राप्त करना सम्भव।

क्रियात्मक अग का 'सवेग' मनोवैज्ञानिक दूत, किसी मूलप्रवृत्ति के ज्ञानात्मक और क्रियात्मक अग कई प्रकार के, पर सवेगात्मक अग सदा समान, विकास मे सवेग का हाथ, सवेग को प्रभावित कर क्रिया को वाछित रूप देना, विघ्न से सवेग की प्रवलता, स्फूर्तिपूर्ण ओर शिथिल सवेग।

संवेग और शिक्षा

सवेग की सार्थकता शारीरिक रूप मे, शिक्षा से ही वाछित सवेग का उत्पन्न होना, सवेग को रोकना हानिकर, सवेग की कोटि पर ही व्यक्ति का मान, निरोध से सवेग का नियन्त्रण आवश्यक।

शोधन—

अध्यवसाय—

सवेग को वश मे करने के लिये अध्यवसाय सर्वोत्तम साधन, कार्यशीलता से सवेग का शोधन स्वत:, संवेग को कम करने के लिये गम्भीर विचार मे मग्न होना, भाव और विचार मे विरोध।

रेचन—

संवेगो को निर्मूल करना असम्भव, सवेग के उभडने के लिये अवसर देना आवश्यक।

संवेग और शिक्षक

शिक्षा मे सवेग की अवहेलना, समाज की सभी बुराइयाँ सवेगो पर नियन्त्रण न होने से, प्रत्येक विषय के अध्ययन मे संवेग का स्थान, संवेगो को सुसगठित कर स्थायीभाव उत्पन्न करना, कठिन विषयों के अध्ययन मे आश्चर्य और आत्माभिमान का सवेग उत्पन्न करना।

गलती पर विद्यार्थी पर क्रोध करना अमनोवैज्ञानिक; सवेग और सीखने में घनिष्ट सम्बन्ध, कला, साहित्य और सगीत मे सवेग का विशेष हाथ; सवेगात्मक अनुभूति से ही कला का निर्माण।

सहायक पुस्तकें

१—जेम्स—प्रिन्सीपुल्स ऑव् साइकॉलॉजी।
२—मैग्डूगल—सोशल साइकॉलॉजी।
३— ,, ऐन आउटलाइन ऑव साइकॉलॉजी।
४—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड ऐडूकेशन, अध्याय ८।
५—लैण्डिस, सी०—द एक्सप्रेशन आव् इमोशन्स, अध्याय १२ (द फाउण्डेशन आव् एक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, मर्चीसन)।
६—मार्गन एण्ड गिलिलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू साइकॉलॉजी, अध्याय ११।
७—सेण्डीफोर्ड—एडूकेशन साइकॉलॉजी, अध्याय ६; ७।
८—गाल्ट ऐण्ड हावर्ड—ऐन आउटलाइन आव साइकॉलॉजी।
९—सीशोर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू साइकॉलॉजी।
१०—थॉर्नडाइक—एडूकेशन साइकॉलॉजी, भाग १।

१०

कुछ स्थायीभाव और भावना-ग्रन्थियाँ[1]

स्थायीभाव सवेगजनित एक मानसिक भाव है। यह भाव स्वाभाविक नही होता। वातावरण के सघर्ष स्वरूप हमारी मानसिक वृत्तियो मे कुछ स्थायी परिवर्त्तन आ जाता है। इसी स्थायी परिवर्त्तन को हम स्थायीभाव कह सकते हैं। प्राय सभी जीव-विज्ञानवेत्ता और मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि चेतन प्राणी परिवर्त्तन-शील होता है, पर वे परिवर्त्तन के विभिन्न विधियो मे विश्वास करते हैं। हमारा सम्बन्ध यहाँ केवल मनोविज्ञान से ही है, अत. उसी ओर हमारा ध्यान केन्द्रित होगा। प्राकृतिक स्वभाव और वातावरण के सघर्ष से हममे परिवर्त्तन होता है। चेतनावस्था प्राप्त करने पर व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार वातावरण की विभिन्न वस्तुओ की ओर आकर्षित होता है। वह किसी वस्तु को प्यार करता है, और किसी से घृणा। इस प्रकार किसी वस्तु के प्रति उसके मानसिक भाव का स्थायित्व होता है। ऐसी स्थायी मानसिक वृत्ति को मनोविज्ञान में स्थायीभाव कहते हैं।

स्थायीभाव, संवेग, भाव और उमङ्ग[2]

स्थायीभाव, सवेग, भाव और उमङ्ग में मौलिक भेद है। साधारण व्यक्ति एक का प्रयोग दूसरे के लिये किया करता है। गत अध्याय मे भाव और सवेग के रूप को हम समझा चुके हैं। उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि सवेग अथवा भाव अस्थायी मानसिक अनुभव होते हैं। परन्तु स्थायीभाव हमारे मानसिक जीवन के स्थायी अग हो जाते हैं। सवेग अथवा भाव मानसिक क्रिया से अङ्ग होते हैं। सवेग अस्थिर होता है। उसका विषय शीघ्रता से बदला करता है। यदि व्यक्ति पत्नी से क्रुद्ध है तो उसका क्रोध शीघ्र ही बच्चो अथवा नौकरो पर आ सकता है। स्थायीभाव मे इस प्रकार की अस्थिरता नही। उसका विषय इस प्रकार शीघ्रता से नही बदलता। किसी व्यक्ति से हमारा प्रेम सवेग के सदृश् शीघ्र ही बदलकर दूसरे पर नही चला जाता। एक प्रकार के सवेग से एक ही प्रकार का स्थायीभाव उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ; घृणा के सवेग से घृणा का ही स्थायीभाव बनेगा। पर एक प्रकार का स्थायीभाव कई

1 Sentiments and Complexes. 2 Mood.

प्रकार के सवेगों का कारण बन सकता है। उदाहरणार्थ; हमारा किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम का स्थायीभाव है। यदि कोई उस व्यक्ति को हानि पहुँचाता है तो उसके प्रति हमारा प्रेम का स्थायीभाव क्रोध अथवा घृणा के सवेग उत्पन्न करने का कारण हो सकता है। उमग भी सवेगजनित एक अस्थायी मानसिक वृत्ति है। किसी सवेग के मन मे आने पर उसकी छाप कुछ देर तक मन मे व्याप्त रहती है। जब तक यह छाप रहती है तब तक व्यक्ति उमङ्ग मे रहता है। यदि यह उमङ्ग बहुत ही प्रबल हुआ तो इसे व्यसन[3] की सज्ञा दे सकते हैं। यदि यह उमङ्ग कुछ देर तक रहा तो हमारे स्वभाव[4] का अङ्ग होकर वह स्थायीभाव हो जाता है।

स्थायीभाव और मूलप्रवृत्ति

मूलप्रवृत्ति जन्मजात होती है, पर स्थायीभाव अर्जित। किसी वस्तु विशेष अथवा पदार्थ के प्रति हमारी मानसिक वृत्ति स्थायीभाव है। स्थायीभाव मूलप्रवृत्तियो के शोधन का फल होता है। यदि मूलप्रवृत्ति को किसी वृक्ष से उपमा दे तो स्थायीभाव उसके फल के समान होगा। यदि वृक्ष के विकास मे कुछ अप्राकृतिक बाधा न डाली गई तो उसके फल अच्छे होगे। इसी प्रकार यदि मूलप्रवृत्तियो का अवदमन न किया जाय और उनके शोधन के लिये आवश्यक उपकरणो का आयोजन कर दिया जाय तो व्यक्ति मे अच्छे ही भाव उत्पन्न होगे। स्थायीभाव मे कुछ विचारो का समावेश निहित रहता है, पर मूलप्रवृत्ति मे ऐसी बात नही। भालू को देख कर मूलप्रवृत्ति की प्रेरणा से बालक डर जाता है। भालू को कई बार देखने से उसका डर उसके लिये कुछ स्थायी हो जाता है, तब केवल भालू का नाम सुनने से ही बालक डर सकता है। मनोवैज्ञानिको के अनुसार स्थायीभाव का बनना यही से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार-स्थायीभाव को उत्तेजित करने के लिये किसी वस्तु की उपस्थिति आवश्यक नही, पर मूलप्रवृत्ति के लिये विशेष परिस्थिति की उपस्थिति आवश्यक है। घर में बैठे-बैठे विचारो के आधार पर व्यक्ति का स्थायीभाव जागृत हो सकता है। पाँच सौ मील दूर बैठे हम अपने मित्र के प्रति प्रेम का अनुभव करते हैं, शत्रु का स्मरण होने से क्रोध से हमारा रोमाच हो जाता है। यह सब उस मित्र अथवा शत्रु के प्रति हमारे स्थायी-भाव का ही फल है।

सभी स्थायीभाव मूलप्रवृत्तियो पर आधारित होते हैं। पर दोनो के सम्बन्ध मे हमारी मानसिक वृत्ति भिन्न होती है। मूलप्रवृत्ति के वश मे जब हम कोई कार्य करते है तो उसके फल पर हमारा ध्यान नही जाता। संवेग के आवेश में हम कार्य कर बैठते हैं। स्थायीभाव से अभिप्रेरित कार्य ठीक प्रकार समझ बूझकर किया जाता है। सवेग के आदेश मे यहाँ हम अपने को भूल नही जाते। परिस्थति पर हमारा पूरा

---

1. Passion. 2 Temperament.

नियन्त्रण रहता है। इस प्रकार मूलप्रवृत्ति स्थायीभाव की अपेक्षा निम्नकोटि की मानसिक वृत्ति होती है। ससार मे सभी बड़े कार्य स्थायीभाव की प्रेरणा से ही किये जाते हैं। सुसगठित विकास का तात्पर्य ही स्थायीभावो का विकास है। प्रारम्भ मे बालक मूलप्रवृत्तियो का प्राणी होता है। शिक्षा का उद्देश्य बालक को स्थायीभाव का प्राणी बनाना है। नीचे हम देखेंगे कि स्थायीभाव कैसे बनते हैं और उनके विकास मे शिक्षक किस प्रकार का योग दे सकता है।

स्थायीभाव और आदत

असमानता—

आदत से अभिप्रेरित क्रिया यान्त्रिक होती है और उसका क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है। अत विशिष्ट परिस्थिति के परिवर्त्तन से वह असफल हो सकती है। यदि किसी की आदत मेज और कुर्सी पर कार्य करने की है तो वह बिना मेज व कुर्सी के कार्य नही कर सकता। स्थायीभाव का क्षेत्र इस प्रकार सीमित नही रहता। इसकी उत्पत्ति कुछ सवेग और विचारो के आधार पर होती है। आदत मे सवेगो के सगठित होने की आवश्यकता नही। स्थायीभाव एक स्थायी मनोवृत्ति होती है जो हमें समयानुसार हर समय सहायता कर सकती है। यदि बालक ने सुन्दर लिखने का स्थायीभाव पा लिया है तो वह सदा सुन्दर लिखने की चेष्टा करेगा। पर यदि केवल स्कूल ही मे सुन्दर लिखने की उसकी आदत है तो घर पर वह गन्दा लिख सकता है।

समानता—

आदत और स्थायीभाव में समानता यह है कि दोनो अर्जित गुण है। दोनो में व्यक्ति किसी आचरण के लिये प्रेरित हो सकता है। दोनो की अतृप्ति में विक्षोभ होता है और एक सवेग की उत्पत्ति होती है।

स्थायीभाव कैसे बनते हैं ?[1]

स्थायीभाव अनुभव के फल होते हैं। ड्रेवर का कहना है कि स्थायीभाव प्रत्यक्षात्मक स्तर[2] पर नही बनते, अपितु विचारात्मक[3] स्तर पर बनते हैं। आरम्भ में बालक का मस्तिष्क मूलप्रवृत्तियो के आधार पर कार्य करता है, अर्थात् शिशु का मस्तिष्क मूलप्रवृत्तियो का एक पुञ्ज होता है। अनुभव के बढने पर मूलप्रवृत्तियो की क्रिया मे कुछ परिवर्त्तन होने लगते है और मस्तिष्क मे उनका एक नया सगठन बन जाता है। यह सगठन पहले से अधिक परिष्कृत होता है। इसमें अनुभव से प्राप्त कुछ विचारो का भी समावेश हो जाता है। ये विचार हमारी रुचियो के आधार पर बनते हैं। वास्तव मे ये विचार स्थूल पदार्थ के लिये हमारे स्थायीभाव रहते हैं, अर्थात्

1. How are the sentiments formed? 2. Perceptual level
3 Ideational level

वस्तुओ के लिये हमारी रुचियाँ अनुभव के आधार पर स्थायीभाव मे परिवर्त्तित हो जाती हैं। यदि किसी वस्तु के लिये हमारी रुचि स्थायी हो गई तो यह कहा जा सकता है कि उस वस्तु के लिये हममें स्थायीभाव उत्पन्न हो गया।

ज्ञानात्मक और भावात्मक दृष्टिकोण से मानसिक विकास की तीन अवस्थाओ का उल्लेख किया गया है प्रत्यक्षात्मक, विचारात्मक और विवेकात्मक[1]। स्थायीभाव सवेग-जनित होता है। अत. हमारा तात्पर्य यहाँ केवल भावात्मक दृष्टिकोण से ही है। भावात्मक कोटि मे प्रत्यक्षात्मक सतह पर सवेग, विचारात्मक सतह पर स्थायीभाव, और विवेकात्मक सतह पर हमारा आदर्श[2] या सिद्धान्त हुआ। वास्तव में मानसिक विकास को इस प्रकार विभिन्न अगो मे बाँटना अमनोवैज्ञानिक है। मानसिक विकास की एक अविरल धारा होती है। ये विभिन्न अवस्थायें एक ही धारा के अग हैं। उनमे भेद मात्रा का है प्रकार का नही। एक अवस्था दूसरे से निकलती है। उसकी उत्पत्ति सहसा नही हो जाती।

स्थायीभाव विचारात्मक सतह पर होते हैं और उनकी उत्पत्ति सवेगो से होती है। अतः इनकी उत्पत्ति-क्रिया के दो अङ्गो का मनोवैज्ञानिको ने उल्लेख किया है : (१) वस्तु, विचार अथवा घटना को ठीक प्रकार समझना[3] और (२) उनके प्रति सवेगो की उत्पत्ति और उनके लिये इन सवेगो का सुसगठित होना[4]। अत. स्थायी-भाव केवल विचारात्मक प्राणी मे ही उत्पन्न हो सकता है, अर्थात् केवल मनुष्य ही इसका अधिकारी होता है। बालक किसी वस्तु को देखता है। उसे देख कर वह समझ लेता है कि वह उसके खेलने की वस्तु अर्थात् खिलौना है। इतना समझ लेने से उसका अनुभव विचारात्मक सतह पर आ गया। धीरे-धीरे वह अपने खिलौने से नित्य खेलता है। खिलौना उसे आनन्द देता है। खिलौने से खेलते समय उसकी मुद्रा देख कर दूसरे उससे वडे प्रसन्न होते हैं और अपना प्यार दिखलाते हैं। इस प्रकार आनन्द और प्रेम का सवेग खिलौने के साथ सम्बद्ध हो जाता है। खिलौना उठा लेने पर वह रोने लगता है, दे देने पर पुन. हँसने और खेलने लगता है। इस प्रकार क्रमश अनुभव मे खिलौने के प्रति बालक का स्थायीभाव हो जाता है। इसी प्रकार वह अपनी माता, पिता, भाई तथा वहन आदि के लिये स्थायीभाव प्राप्त कर लेता है। धीरे-धीरे घर, स्कूल, पुस्तक, लेखनी कुर्सी, मेज, आदि के लिये उसका स्थायीभाव वन जाता है। स्थूल पदार्थो के प्रति स्थायीभाव केवल छोटे वालको मे ही नही देखा जाता। प्रौढ लोगो का जीवन भी ऐसे स्थायीभावो से भरा रहता है। जिस कमरे मे कवि बैठ कर अपनी कवितायें रचता है उस कमरे के लिये उसका स्थायीभाव हो सकता है। इसी

1. Rational. 2. Ideal. 3. Intellectual Comprehension. 4 Arousal and organisation of emotion.

प्रकार पुराने स्कूल, गाँव, पति, पत्नी, मित्र आदि के लिये व्यक्ति मे स्थायीभाव उत्पन्न हो जाता है। प्रेम, घृणा, दया, क्रूरता, आदर्श के लिये आदर, धार्मिक, विश्वास, ईश्वर का भय, प्रतिष्ठा का भय आदि स्थायीभाव के चिन्ह हैं। रुचि के अनुसार व्यक्तियो के स्थायीभाव मे भेद होता है। जिस वस्तु से हम प्रेम करते हैं उसी से दूसरा घृणा कर सकता है। एक विशिष्ट लेखनी के लिये हमारा स्थायीभाव होता है, सभी के लिये नही।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब हम स्थायीभाव की परिभाषा दे सकते हैं। स्थायीभाव को व्यक्ति के सवेगो और भावो का पुञ्ज समझना भ्रमात्मक होगा। उन्नीसवी शताब्दी तक स्थायीभाव का रूप ठीक प्रकार निश्चित नही किया जा सका था। पर आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने अब इसका रूप निश्चित कर दिया है। सर्वप्रथम शैण्ड[1] ने स्थायीभाव के रूप की स्पष्ट व्याख्या की। शैण्ड के अनुसार "किसी वस्तु की ओर केन्द्रित सुसगठित सवेग स्थायीभाव है"। मैग्डूगल के अनुसार "अनुभव के आधार पर किसी वस्तु की ओर केन्द्रित हमारी स्थायी क्रियात्मक मनोवृत्ति स्थायीभाव है"।

जैसे जैसे बालक बढता है वैसे ही स्थायीभाव प्राप्त करने की उसकी शक्ति भी बढती जाती है। साधारणत आठ या नव वर्ष की अवस्था से स्थायीभाव का बनना प्रारम्भ हो जाता है। स्थायीभाव का प्राप्त करना एक प्रकार का 'सीखना'[2] है। अत जब तक व्यक्ति मे सीखने की क्षमता होगी तब तक उसमें स्थायीभाव की प्राप्ति अपेक्षित हो सकती है। उच्च कोटि के स्थायीभाव कैशोर अथवा प्रौढावस्था मे ही आते हैं। धार्मिक विश्वास, ईश्वर का भय, देशभक्ति व न्याय-प्रियता आदि ऐसे कठिन स्थायीभाव अधिक अनुभव के बाद ही चरित्र मे आ सकते हैं।

कुछ नैतिक गुणों के प्रति स्थायीभाव उत्पन्न करना[3]

स्थूल पदार्थो के लिये स्थायीभाव का प्राप्त करना सरल होता है, क्योकि विचारात्मक कसौटी पर उसकी परीक्षा शीघ्र हो जाती है। यदि बालक के स्थायीभाव केवल स्थूल पदार्थो तक ही सीमित रहे तो वह असभ्य अवस्था को पहुँच जायगा। अत. कुछ नैतिक गुणो के लिये स्थायीभाव प्राप्त करना उसके उचित विकास का द्योतक होगा। वास्तव मे शिक्षा का प्रधान उद्देश्य नैतिक गुणो के लिये स्थायीभाव का उत्पन्न करना ही है। पर नैतिक गुणो के लिये स्थायीभाव प्राप्त करना सरल नही, क्योकि उन्हे

---

1. Shand. 2. Learning. 3. Formation of sentiments for some moral traits

ठीक से समझना बालक के लिये कठिन हो जाता है। । सभ्यता, देशभक्ति व न्याय-प्रियता इत्यादि नैतिक गुण क्या हैं—इसका अनुमान बालक ठीक से नही लगा पाता। अतः इनके स्थायीभाव के लिये अधिक अवस्था और अनुभव की आवश्यकता होती है। पर मनोवैज्ञानिक विधि पर चलने से शिक्षक इन नैतिक गुणो का भाव बालक को भली-भाँति दे सकता है। इसके लिये बालको को कुछ ऐसी क्रियाओ से परिचित कराना चाहिये जिनमे इन नैतिक गुणो की छाप हो। इससे गुणों का अनुमान उन्हे हो जायगा। यह साहित्य अथवा इतिहास की सहायता से किया जा सकता है। शिक्षक को इन्हे सुखात्मक सवेगो से सम्बन्धित करना चाहिये। यदि स्वच्छता के लिये स्थायीभाव उत्पन्न करना हुआ तो बालक के स्वच्छ कार्य की सबके सामने प्रशसा करनी चाहिये। सामूहिक प्रशंसा के लिये उसके कार्य की वडाई सभी बालको की सभा अथवा सबके पढने के लिये श्यामपट्ट पर लिखी जा सकती है। इसके साथ गन्दगी की निन्दा भी करनी चाहिये। इसी प्रकार स्वच्छता के लिये बालक मे स्थायीभाव उत्पन्न किया जा सकता है। ऐसे ही इतिहास के महान् चरित्रों के प्रति स्थायीभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

देशभक्ति का स्थायीभाव[1]—

राष्ट्रीयता के विकास के लिये देशभक्ति के स्थायीभाव का उत्पन्न करना स्कूल का कर्त्तव्य माना जा सकता है। इसके लिये देश के इतिहास के सभी पक्षो का वालक को कुछ न कुछ ज्ञान देना होगा। भूगोल की सहायता से देश के क्षेत्रफल का ज्ञान दिया जा सकता है। अन्य मानचित्रो से तुलना कर देश के भौगोलिक, व्यापारिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का बालक को भली-भाँति अनुमान कराया जा सकता है। देश मे स्थित विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का ज्ञान देने से देश के प्रति प्रेम वढेगा। ससार में यह देश किसलिये प्रसिद्ध है, सभ्यता के लिये इसकी क्या देन है आदि वातो के ज्ञान से बालक का प्रेम दृढतर होता जायगा। इतिहास और साहित्य के अध्ययन से महापुरुषो, वडे वडे वीरो, राजाओ आदि का ज्ञान कराना चाहिये। वडे वडे दार्शनिक, वैज्ञानिक, सुधारक तथा धार्मिक व्यक्तियों के चरित्र के उल्लेख से देश के प्रति वालक का अनुराग वढेगा। इन सब वातो का वर्णन इतने ओजपूर्ण शब्दो मे हो कि वालक का हृदय झकृत हो जाय। देशभक्तिपूर्ण सगीत इसमे पूर्ण सहायक होगा। इसके अतिरिक्त वालक को कुछ सामाजिक कार्यो मे भी भाग लेने के लिये उत्साहित करना चाहिये। इस प्रकार वालको मे विभिन्न संवेगो का उद्गार हो जायगा। वे सवेग देश-भक्ति से स्वतः सुसंगठित हो जायेंगे।

---

1. Sentiments for Patriotism.

आत्म-गौरव का स्थायीभाव[1]—

आत्म-गौरव का स्थायीभाव 'आत्म' (सेल्फ) के लिये बनता है। हम एक पुस्तक को चाहते है, क्योकि उसका हमारे 'आत्म' से सम्बन्ध है। हम एक व्यक्ति को प्यार करते हैं, क्योकि वह हमारे 'आत्म' को प्यारा है। कोई वस्तु हमे उस 'वस्तु' के लिये प्रिय नही होती। वह हमें इसलिये प्रिय है क्योकि वह हमारे आत्म को प्रिय है। हमारे 'आत्म' से उसका सामीप्य है। प्रायः मनुष्य को अपना पुत्र दूसरे के पुत्र से अधिक प्यारा होता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि अपना पुत्र उसके आत्म से अधिक निकट है, उसके आत्म का एक मात्र अग है, एक टुकडा है। यही बात पुस्तक, कविता या अन्य रचना व कला के लिये भी सत्य है। उक्त पुस्तक, कविता अथवा अन्य रचना व कला उसके प्रणेता के आत्म से अधिक निकट हैं। उसके आत्म के, उसके हृदय के सूक्ष्मतम गह्वरो से निस्सरित वह रचना उस व्यक्ति के आत्म की छाया है, उसके व्यक्तित्व की एक झाँकी है। उसी मे उसकी आत्माभिव्यंजना मानो रूप धारण करके उद्भूत हो उठती है। यही कारण है कि मनुष्य को उससे सम्बन्धित वस्तु उसी अनुपात से कम अथवा अधिक प्रिय होगी जितनी कि वह क्रमश. उसके आत्म से दूर अथवा निकट होगी। हम जितनी वस्तुओ से प्यार करते हैं उन सबका हमारे 'आत्म' से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार हमारी रुचि जितनी वस्तुओ से रहती है उन सबका सम्बन्ध हमारे 'आत्म' से रहता है। इसीलिये विभिन्न वस्तुओ से सम्बन्धित हमारे स्थायीभाव 'आत्म' के पास केन्द्रित होते हैं। विभिन्न स्थायीभाव से प्रभावित होकर 'आत्म' अपना आदर्श निश्चित करता है। यही आदर्श व्यक्ति की अन्तिम मानसिक गठन होती है। यही आदर्श उसके आत्म-गौरव का स्थायीभाव है। आत्म-गौरव का स्थायीभाव हमारे सभी कार्यो की विवेचना करता है। इसी के अनुसार हमारे जीवन का सारा व्यापार चलता है।

यह स्थायीभाव कैसे बनता है ? इसके भी बनने की गति अन्य स्थायीभावो के सदृश् है, पर इसमे बडी देर लगती है और व्यक्ति के सवेगात्मक विकास काल में सदैव उचित वातावरण की आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम 'आत्म' को ठीक-ठीक समझना चाहिये। 'आत्म' को समझने के बाद उसके चारो ओर सवेगो की उत्पत्ति और सुसगठन होना चाहिये। व्यक्ति 'आत्म' की कल्पना सरलता से नही कर पाता। समाज के सघर्ष में आने पर उसे 'आत्म' का कुछ ज्ञान होने लगता है, अर्थात् 'आत्म' की कल्पना व्यक्ति के सामाजिक जीवन पर निर्भर रहती है। चेतना प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति वातावरण के सघर्ष मे आता है। उसे भान होता है कि वह एक ऐसा जीव है जिस पर वातावरण का प्रभाव पडता है, अर्थात् ठड और गर्मी के लिये उसे

---

1 Self-regarding sentiments.

विशेष आयोजन करना पड़ता है, अस्वस्थकर स्थानो मे रहने से उसका स्वास्थ्य गिर जाता है। पुष्प वाटिका मे जाने से उसका चित्त खिल उठता है, इत्यादि इत्यादि। पर इसके साथ ही साथ व्यक्ति का यह भी विश्वास होता है कि यदि वातावरण उस पर प्रभाव डालता है तो वह भी वातावरण पर अपना कुछ प्रभाव डाल सकता है। वह पेड को काट कर गिरा सकता है। जंगली बाग को वह सुन्दर बना सकता है। ककरीले व पथरीले स्थान को ठीक कर वह सुगम बना सकता है। खेतो मे वह भाँति-भाँति के अनाज उत्पन्न कर सकता है। पानी से वह बिजली उत्पन्न कर लेता है, इत्यादि। इस प्रकार व्यक्ति को अपने 'आत्म' का कुछ ज्ञान होता है। पर यह ज्ञान भौतिक कोटि का है। उसे ज्ञान होता है कि उसका 'आत्म' वातावरण से प्रभावित होता है और वह वातावरण पर प्रभाव भी डालता है।

विलियम जेम्स ने 'आत्म' को दो भागो में विभाजित किया है—ज्ञाता[1] और ज्ञात हुआ[2]। ज्ञात हुए 'आत्म' को जेम्स अनुभव का अङ्ग समझता है और ज्ञाता 'आत्म' को वह शुद्ध अहंभाव की सज्ञा देता है। जेम्स ज्ञात हुए 'आत्म'[3] का विश्लेषण करता है: ज्ञात हुए आत्म के तीन अङ्ग होते हैं—भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक। प्रत्येक प्रकार का 'आत्म' विभिन्न भाव और सवेग का अनुभव करता है। भौतिक का भाव और सवेग सामाजिक और आध्यात्मिक से भिन्न रहेगा। तीन की अपनी-अपनी क्रिया भी भिन्न होगी। इन सवेगो तथा क्रियाओ के आधार पर हमें भौतिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक 'आत्म' का ज्ञान होता है। इस प्रकार व्यक्ति को आत्म-सम्मान का बोध होता है। इस 'आत्म-सम्सान' की भावना से वह कुछ 'आत्म-नियन्त्रण' प्राप्त कर लेता है। इसी शक्ति से वह अपने सभी कार्य परिचालित करता है।

जेम्स का उपर्युक्त विश्लेषण 'आत्म' के रूप को समझने मे सहायक होता है। अपने 'आत्म' की चेतना सामाजिक जीवन से ही आती है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ मनुष्यों के सम्पर्क मे आता है। कुछ उसकी निन्दा करते है और कुछ प्रशसा। पर वह सब बातो पर ध्यान नही देता। कुछ की राय का वह बहुत सम्मान करता है। जिसको उसने गुरु मान लिया है उसकी सभी बातो पर वह विश्वास करता है। पिता अथवा गुरु किसी दोष की ओर सकेत करते हैं तो वह उसे स्वीकार कर लेता है, पर यदि दूसरे ऐसा करते हैं तो वह झगड पडता है। उसके मित्र या परिचित उसकी प्रशसा करते हैं तो वह बडा प्रसन्न होता है और अपने मे प्रशसित गुणों के होने का अनुभव करता है। पर यदि कोई भिक्षुक कुछ पाने के लोभ से उसके गुणों का वर्णन करता है तो उस पर कुछ भी प्रभाव नही पडता। इस प्रकार वह कुछ की आलोचना को

1. Knower. 2. Known. 3. Me.

सत्य मानता है और कुछ की बातों को झूठ। माता, पिता, भाई अथवा अध्यापक जिनके लिये उसके हृदय में आदर और भय है उनकी बातों पर वह विशेष ध्यान देता है और उन्हीं की धारणानुसार वह अपने 'आत्म' को समझता है। यदि पिता अथवा अध्यापक ने कह दिया कि 'तुम बडे अयोग्य हो' तो बालक अपने को अयोग्य ही समझेगा। यदि आठ-दस मित्र आकर हमारी निन्दा करने लगें तो वास्तव मे हम अपने को पतित समझने लगते हैं। अतः अभिभावकों और शिक्षकों का उत्तरदायित्व बडा महत्त्वपूर्ण है। यदि वे बालकों को सदैव कोसते हैं तो बालक अपने को एकदम अयोग्य समझ लेगा। यदि वे बात-बात पर अमनोवैज्ञानिक रूप में उसकी प्रशंसा किया करते हैं तो वह दम्भी हो जायगा। अत' अभिभावकों और शिक्षकों को उचित है कि वे बालक के साथ ऐसा व्यवहार करें कि उसे अपने 'आत्म' का ठीक-ठीक ज्ञान हो। यदि बालक उत्साह और आशा से भर दिया जाता है तो आत्म-निर्देश से वह अपने को बहुत ऊँचा उठा सकता है।

'आत्म' का ज्ञान व्यक्ति को इस प्रकार हो जाता है। अब आत्म के चारों ओर संवेगों की उत्पत्ति और संगठन होना चाहिये, तभी आत्म-गौरव का स्थायीभाव जागृत हो सकेगा। "आत्म" प्रत्येक को अति प्यारा होता है। जहाँ आत्म-सम्मान को धक्का लगने का भय रहता है वहाँ व्यक्ति का 'आत्म' सतर्क हो जाता है। 'आत्म' किये हुए कार्य का छिद्रान्वेषण करने लगता है। यदि किसी पर क्रोध दिखलाया गया तो 'आत्म' यह सोचता है कि क्रोध दिखलाना कहाँ तक उचित था। इस प्रकार कार्य करने अथवा उसके औचित्य की परीक्षा करने के लिये 'आत्म' एक "आदर्श" अथवा "सिद्धान्त" बना लेता है। यह "आदर्श" विवेकात्मक कोटि का होता है। हम संकेत कर चुके हैं मानसिक विकास के भावात्मक[1] अंग के तीन अंग होते हैं। प्रत्यक्षात्मक मे संवेग तथा विचारात्मक मे स्थायीभाव की गणना की जाती है। तीसरे अंग विवेकात्मक[2] मे व्यक्ति के आदर्श की गणना होती है। विवेक के परीक्षा कर लेने के बाद आदर्श का निर्माण होता है। इस आदर्श में "आत्म" की योग्यता निहित रहती है, क्योंकि "आत्म" की प्रेरणा व परीक्षा से ही यह बनता है। इस आदर्श को मैग्डूगल ने 'आत्म-गौरव का स्थायीभाव" की संज्ञा दी है। व्यक्ति के सारे कार्य इसी स्थायीभाव द्वारा निर्धारित होते है। इसे प्यार करे या घृणा, उसे सहायता दे या हटा दे—इसका निर्णय "आत्म-गौरव का स्थायीभाव" ही करता है। अत मैग्डूगल ने इसे सभी 'स्थायीभावों का स्वामी'[3] कहा है।

स्थायीभाव और शिक्षा[4]

शैशव अथवा में बाल्यकाल मूलप्रवृत्तियाँ बालक को विभिन्न कार्यों की ओर

---

1. Affective. 2. Rational. 3. Master-Sentiment. 4. Sentiment and Education.

अभिप्रेरित करती हैं। परन्तु यह स्थिति बहुत दिन तक नही चलती । व्यक्ति धीरे-धीरे कुछ स्थायीभाव प्राप्त कर लेता है और उसके कार्य इन्ही के द्वारा नियन्त्रित होने लगते हैं। इस प्रकार कार्य के अभिप्रेरक मूलप्रवृत्तियाँ और स्थायीभाव दोनो होते हैं। प्रौढावस्था में व्यक्ति के जीवन का नियन्त्रण प्राय. स्थायीभावों द्वारा ही होता है। बालक को हम जो बनाना चाहते हैं उसके लिये उसमे स्थायीभाव उत्पन्न करना होगा। विभिन्न स्थायीभावो की चरम सीमा आत्म-गौरव के स्थायीभाव मे पहुँचती है। सबके स्थायीभाव समान नही होते। व्यक्तियो के आत्म-गौरव के स्थायीभाव मे भेद रहता है। यदि यह भेद न हो तो व्यक्ति-व्यक्ति मे झगड़ा ही क्यो हो ? आत्म-गौरव का स्थायीभाव व्यक्ति का आदर्श अथवा सिद्धान्त है। प्रत्येक का आदर्श व सिद्धान्त दूसरे से भिन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग आत्म-सम्मान भाव रहता है। चोर तथा अन्य दुराचारियों मे भी आत्म-गौरव का स्थायीभाव होता है, पर उनका आत्म-सम्मान-भाव आदर्श के विकास की दृष्टि से बड़ा घृणित होता है। व्यक्ति का आत्म-गौरव का स्थायीभाव आदर्श रूप बनाने के लिये हमे उसकी बाल्यकाल की शिक्षा पर ध्यान देना होगा। हमे उसके समक्ष उचित उपदेश और आदर्श रखने होगे जिससे वह अपने अनुकरणीय आदर्श "आत्म" का निर्माण कर सके। बालक का सग यदि बुरे व्यक्तियो के साथ पड जायगा तो उसका आदर्श ऊँचा नही हो सकेगा। वातावरण का कितना प्रभाव पडता है ! सकुचित दृष्टि वाले अभिभावको के निरीक्षण में रहने वाले बालको का भी दृष्टिकोण सकुचित हो जाता है। उनके जीवन का आदर्श केवल रोटी कमाना ही होता है।

बालक मे वाछित स्थायीभाव उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी कोमल वृत्तियो पर अमनोवैज्ञानिक व्यवहार से कुठाराघात न किया जाय। बालक से गलती हो जाने पर एकदम आपे से बाहर होकर "तुम झूठे हो, अभागे हो," इत्यादि कहना मानों उगते हुए पौधे को उखाड फेकना है। मनोविज्ञान की डीग हाँकने वाले भी बालको के साथ असभ्य अमनोवैज्ञानिक व्यवहार करते देखे जाते है। मनोविज्ञान के ज्ञान से कोई मनोवैज्ञानिक नही बन सकता। मनोवैज्ञानिक बनने के लिये तो उसके सिद्धान्तों को अपने नैतिक व दैनिक व्यवहारो में अपनाना होगा। यही बात किसी भी शास्त्र के सम्बन्ध में कही जा सकती है। मनुष्य स्वभावत· भला होता है। यदि उसमे हम पूर्ण विश्वास करें तो वह हमे कभी धोखा न देगा। यदि धोखा दिया तो निश्चय है कि हमारे विश्वास मे कही भारी कमी अवश्य रही है। किसी के आत्म-सम्मान-भाव पर पूर्ण विश्वास कर यदि कोई कार्य सौंप दिया जाय तो उसे सम्पादित करने के लिये वह अपने प्राणों की बाजी लगा देगा। अत. यह आवश्यक है कि हम बालक में अपना विश्वास प्रकट करते रहे, समयानुसार उसे उत्साहित करते रहे जिससे

आदर्श स्थायीभावो को प्राप्त कर वह उनके आधार पर अपने आदर्श "आत्म" अथवा आत्मगौरव के स्थायीभाव का निर्माण कर सके।

भावना-ग्रन्थियाँ[1]

मूलप्रवृत्तियो के शोधन का परिणाम स्थायीभाव होता है, पर अवदमन का फल भावना-ग्रन्थियो का पडना होना है। हमारी सभी इच्छाओ की पूर्ति सम्भव नही। यदि हम अपनी विभिन्न इच्छाओ की तृप्ति के लिये स्वतन्त्र छोड दिये जाँय तो नैतिकता का अन्त हो जायगा। अभी कुछ नैतिकता अवशेष है, इसीलिये समाज भी अधिक विकृत नही हुआ है। हमारी सभी इच्छाओ की पूर्ति नही हो पाती। बालक दूसरे को अच्छे कपडे पहने हुए देखता है, पर दीनता के कारण उसकी इच्छा पूरी नही होती। उसे खेलने की इच्छा होती है, पर भयवश उसे स्कूल जाना पडता है। किशोर की काम-प्रवृत्ति जागृत होती है, पर समाज की मर्यादावश उसे अपने पर बलात् नियन्त्रण रखना होता है। किसी की आलोचना करने की हमारी इच्छा होती है, पर शीलवश हम ऐसा करने से रुक जाते हैं। किसी को हम दण्ड देना चाहते हैं, पर अपनी निर्बलतावश हृदय मसोस कर हम रह जाते हैं। हमारी जिन स्वाभाविक इच्छाओ की पूर्ति नही होती वे चोर के सदृश् अज्ञात चेतना मे घुस जाती हैं। इन इच्छाओ के इस प्रकार घुसने से भावना-ग्रन्थियो की नीव पडती है।

भावना-ग्रन्थि को विकृत स्थायीभाव भी कहा जा सकता है। विकृत स्थायी-भाव औचित्य के प्रतिकूल बनते हैं। यदि अध्यापक के प्रति श्रद्धा की भावना न रख कर शिष्य घृणा का भाव रखता है तो अध्यापक के लिये यह विकृत स्थायीभाव हुआ। इस विकृत स्थायीभाव अथवा भावना-ग्रन्थि के फलस्वरूप अध्यापक के सम्बन्ध मे शिष्य का व्यवहार कभी ऐसा हो सकता है जिसका कारण शिष्य के समझ मे नही आयेगा। इसी प्रकार भावना-ग्रन्थियाँ व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव डाला करती हैं, पर उसे इनका कुछ पता नही चलता। ये भावना-ग्रन्थियाँ अज्ञात चेतना मे छिपी रहती हैं। इनका पता लगाना मनोविश्लेषको का ही कार्य है। फ्रॉयड, युग और एडलर ने अपने परीक्षणो और रचनाओ द्वारा इन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। फ्रॉयड के अनुसार मस्तिष्क का प्रधान अश तो अज्ञात चेतना मे ही रहता है। ज्ञात चेतना तो समुद्र की ऊपरी सतह के समान है। जैसे समुद्र के नीचे पता नही क्या-क्या जीव-जन्तु,मोती और सीपे छिपे रहते हैं उसी प्रकार अज्ञान चेतना मे पता नही व्यक्ति की क्या क्या अतृप्त वासनायें छिपी रहती हैं। ये अतृप्त वासनायें मिलकर भावना-ग्रन्थियो का निर्माण करती हैं। एक भावना-ग्रन्थि के अन्तर्गत कई अतृप्त वासनाओ का अश हो सकता

1 Complexes.

है। इन भावना-ग्रन्थियो का वेग स्थायीभाव ही के सदृश् दृढ़ होता है। इनके आवेग को रोकना सरल नही।

यदि भावना-ग्रन्थि का वेग स्थायीभाव से बहुत प्रबल हुआ तो अपने में अन्तर्द्वन्द का कारण व्यक्ति नही जानता, क्योकि वह अपनी भावना-ग्रन्थियो को नही समझ पाता। भावना-ग्रन्थियो को समझ लेने का तात्पर्य उनसे मुक्त हो जाना होता है। मनोविश्लेषक रोगी को केवल उसकी भावना-ग्रन्थियो से अवगत कर देता है और वह फरोग मुक्त हो जाता है। बर्ट का कथन है कि "स्थायीभाव सुसंगठित होते हैं, पर भावना-ग्रन्थियों का संगठन नही होता एक को व्यक्ति जानता है पर दूसरे को ध्यान, स्मृति और चेतना से एकदम अलग रखता है।"[1] मनोविश्लेषकों के अनुसार भावना--ग्रन्थियाँ काम-प्रवृत्ति सम्बन्धी प्रतिरुद्ध इच्छाओ के फलस्वरूप बनती हैं। भावना ग्रन्थियो के प्रभाव मे व्यक्ति का व्यवहार नीति और समाज के एकदम विरुद्ध हो सकता है।

एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि अभिभावको और शिक्षको के अमनो-। वैज्ञानिक व्यवहार तथा वास्तविक स्थिति की अज्ञानता के फलस्वरूप बालको मे भावना-ग्रन्थियाँ पडती हैं। कुछ अभिभावको का ऐसा अमनोवैज्ञानिक व्यवहार होता है कि वे बालको को आत्म-प्रकाशन का बहुत ही कम अवसर देते हैं। साधारण सी बात पर सूअर, घनचक्कर, गधा और मूर्ख आदि उनके मुँह से निकल जाना बडा ही सरल होता है। अबोध बालक क्षुब्ध हो उठता है। वह नही समझ पाता कि क्या करना चाहिये। मुँह से शब्द निकलना बन्द हो जाता है। कुछ बात कहने के प्रयत्न मे वह हकलाने लगता है। बालक अपने को एकदस निकम्मा समझने लगता है, क्योकि उसकी अज्ञात चेतना में अभिभावको की वाणी सदा अपना कार्य करती रहती है। बालक ऐसे विशेषणो को सुनकर तिलमिला उठता है, पर वह कुछ कह नही सकता, क्योकि मर्यादा का भय तथा अपनी असहायता का उसे पूरा ज्ञान है। क्रमशः अभिभावक के सामने बालक की डरने की प्रवृत्ति हो जाती है और वह हर प्रसग मे उनके सामने डरता है। इस डर के कारण बिना हकलाये वह कुछ कह ही नही सकता। आगे चल-कर यह प्रवृत्ति और आगे बढ जाती है और बालक सबके सामने हकलाने लगता है। यदि मनोवैज्ञानिक विधि से बालक मे आत्म-विश्वास उत्पन्न कर दिया जाय तो उसका हकलाना स्वतः चला जायगा।

यह देखा गया है कि कुछ लोग जब तक अभिभावको के नियन्त्रण मे रहते हैं तब तक उनमें आत्म-विश्वास का अभाव रहता है। पर उनके नियन्त्रण से हट कर सामाजिक जीवन में प्रवेश करने से उनका हकलाना बहुत ही कम हो जाता है, क्योकि

१. बर्ट—दी यंग डेलिनक्वेण्ट, पृ० ५४७।

अब उनमें पहले से अधिक आत्म-विश्वास आ जाता है। पर कितना ही आत्म विश्वास क्यो न आ जाय बचपन के कुसंस्कार व्यक्ति का कभी पीछा नही छोडते। कभी न कभी ऐसी परिस्थिति अवश्य आती रहेगी जिसमे उसे हकलाना ही पडेगा, क्योकि उसकी अज्ञात चेतना में आत्म-हीनता की भावना बचपन मे अमनोवैज्ञानिक अभिभावको द्वारा डाल दी गई है। ऐसा व्यक्ति प्राय केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियो के सामने ही हकलाता है। इनमे उसके पुराने अभिभावकगण, पुराने और नये अध्यापक तथा उसके बडे अफसर की गणना की जा सकती है। प्राय देखा जाता है कि हकलाने वाले व्यक्ति स्त्रियो के सामने अधिक हकलाते हैं। इससे स्पष्ट है कि हकलाने वाले व्यक्ति में प्राय काम सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि भी रहती है। अस्वस्थकर वातावरण के फलस्वरूप व्यक्ति की काम-प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। शिक्षा के अनुकूल वातावरण के अभाव मे इस प्रवृत्ति का अवदमन ही होता है, शोधन नही। व्यक्ति का सारा नाडी-मण्डल झकृत हो उठता है। अभिभावक ठीक-ठीक कारण न समझ सकने के कारण अपने व्यवहार मे और भी अमनोवैज्ञानिक हो जाते है। इसके कारण व्यक्ति की भावना-ग्रन्थियाँ और भी प्रबल हो जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अभिभावको और अध्यापको को अपने व्यवहार में बडा ही मनोवैज्ञानिक होना है। यह सत्य है कि कुछ अभिभावक अपने सरक्षित के लिये सब कुछ करने और देने के लिये तैयार रहते हैं। हो सकता है कि सरक्षित के छोटे कष्ट को भी उनका कोमल हृदय-सहन न करे। हो सकता है कि वे अवसर पडने पर सरक्षित के लिये अपने प्राणो की भी बाजी लगा दे। पर इससे क्या हुआ? यदि बढते हुए पौधे की जगली बाढ को माली ने ठीक समय पर कलम न किया तो दोहरी खाद और पानी वाछित फल नही दे सकेगा। अत व्यक्ति, समाज तथा मानवता की यह माँग है कि अभिभावक और अध्यापक अपने व्यवहार मे अधिक मनोवैज्ञानिक हो, जिससे सभ्यता के भावी निर्माण-कर्त्ता अबोध बालक अपनी शक्तियो का विकास कर अपने मानवोचित कर्त्तव्यो का पालन कर सके।

भावना-ग्रन्थियों के कुछ मुख्य प्रकार[1]

भावना-ग्रन्थियाँ कई प्रकार की होती हैं, पर हम यहाँ केवल आत्म-गौरव की भावना-ग्रन्थि[2], हीनता की भावना-ग्रन्थि[3], काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि[4] तथा प्रभुत्व भावना-ग्रन्थि[5] का ही वर्णन करेंगे।

१—आत्म-गौरव की भावना-ग्रन्थि—

आत्म-गौरव की भावना-ग्रन्थि आत्म-हीनता से उलटी है। यह ग्रन्थि बहुधा

1 Some Main Types of Complexes 2. Self-assertion complex. 3. Inferiority complex. 4. Sex complex. 5. Authority Complex.

धनी घर के अति लाड़-प्यार किये गये बालको मे पड़ जाती है। कुछ माता-पिता ऐसे होते हैं कि अपने बच्चे को तनिक भी रोने नही देते। जहाँ कुछ हुआ कि उसे हथेली पर लेने के लिये तैयार हो जाते हैं। उनकी प्रत्येक अच्छी या बुरी इच्छा का पालन किया जाता है। खेल में हार जाने पर उन्हे जिताने की मुद्रा बनाई जाती है। ऐसे बालको की अपने विषय मे गलत धारणा हो जाती है। वे अपने को सभी बातो मे श्रेष्ठ समझने लगते है। वे किसी की आलोचना नही सह सकते। अपने को सबसे बडा समझने की भावना से उनका स्वभाव बडा कड़वा हो जाता है। बचपन मे इस प्रकार पला हुआ बालक आगे चल कर एकदम व्यर्थ हो जाता है। उसे अपने को सब बातो मे बडा दिखलाने की प्रवृत्ति आ जाती है। यदि पैसा नही है तो भी ऋण लेकर अपना ठाट बनाने में वह व्यस्त रहेगा। अपने भाव मे वह इतना व्यस्त रहेगा कि दूसरो से कुछ सीखना उसको अपमानजनक जान पड़ेगा। ऐसे व्यक्ति की उन्नति रुक जाती है। व्यक्ति अपने झूठे आत्म-गौरव-भाव के प्रदर्शन में नाना प्रकार के गुप्त दुष्टाचार मे फँस जाता है। इस ग्रन्थि से छुटकारा पाने के लिये व्यक्ति मे आत्म-हीनता की भावना को जाग्रत करने के साथ आत्म-गौरव की मूलप्रवृत्ति को शोधित करने की चेष्टा करनी चाहिये।

२—हीनता की भावना-ग्रन्थि—

अभिभावको और शिक्षको की डाँट व फटकार से बालको मे हीनता की भावना का आ जाना स्वाभाविक है। बालक की शारीरिक और मानसिक स्थिति ऐसी होती है कि हीनता का अनुभव करना उसके लिये बडा सरल होता है। घर मे कई लड़के हुए तो बालक की स्थति और भी दैन्य हो जाती है। यदि अमनोवैज्ञानिक अभिभावको से पाला पड़ गया तो क्या पूछना! तब तो मानो आग मे मिट्टी का तेल पड गया। बालक बार-बार सुना करता है कि "तुम एकदम व्यर्थ हो, जीवन मे कुछ भी नही कर सकते।" यदि उसमे लगडे, अन्धा, काना इत्यादि कुछ प्राकृतिक दोप हुए तो वह और भी हतोत्साह हो जाता है। इस प्रकार उसकी दैन्य-भावना बढ कर उसकी उन्नति को रोक देती है। पर यदि सयोगवश उसकी आत्म-गौरव की भावना जाग उठी तो वह अन्य सामान्य बालको से अधिक उन्नति करता है। वह अपने दोपो की पूर्ति दूसरे क्षेत्र मे करता है। मन्द बुद्धि बालक खेलने मे प्रायः तीव्र होता है। बोलने की शक्ति के अभाव मे बालक लिखने की शक्ति प्राप्त करता है। दैन्य भावना का हटाना बडा आवश्यक है। यदि इस भावना का वह अभियुक्त बना रहा तो अपनी ठीक बात को भी वह गलत समझेगा। आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति के उत्तेजित होने पर भी वह कुछ कह न सकेगा। उसके हृदय मे एक क्षोभ होगा। एक गहरी साँस लेकर वह बैठ जायगा। इसमे उस पर बडा भारी संवेगात्मक धक्का[1] लगता है. जिससे उसका सारा नारी-मण्डल

---

1. Emotional shock.

झकृत हो उठता है। 'उसकी मानसिक और शारीरिक दोनो शक्तियो का ह्रास होता है।

अभिभावक और शिक्षक बालक की हीनता-भावना को वडी सरलता से निकाल सकते हैं। बालको को यह समझाना चाहिये कि ससार में कोई ऐसा व्यक्ति नही जो दोषयुक्त न हो। सभी मे कुछ न कुछ दोष अवश्य हैं। अत अपने किसी दोष के लिये हतोत्साहित होना ठीक नही। प्रकृति अथवा ईश्वर ने हमारे प्रत्येक दोप के लिये कोई न कोई गुण अवश्य दिया है। यही कारण है कि दोप व गुण सभी मे होते हैं। शिक्षक और अभिभावको का यह परम कर्त्तव्य है कि वे बालको के गुणो का पता लगा कर उन्हे उनसे अवगत करे, जिससे उनमे आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि न आवे। आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि से सारा जीवन चौपट हो जाता है। यो तो ऐसा कोई व्यक्ति नही जिसमे यह ग्रन्थि न हो, क्योकि समाज मे सभी एक समान नही होते। एक के सामने दूसरे को झुकना ही होता है। पर भेद मात्रा का है। कुछ लोग आत्म-हीनता की भावनावश विना प्रयोजन इतना दबे रहते हैं कि उनका प्रत्येक कार्य उनके आत्म-सम्मान के विरुद्ध होता है। ऐसे व्यक्ति क्या अपना और दूसरो का कल्याण कर सकते हैं ?

३—काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि—

काम-प्रवृत्ति का स्थान मानव क्या सभी प्राणियो के जीवन मे वडा महत्त्वपूर्ण है। मनोविश्लेषको ने तो इस प्रवृत्ति को सबसे अधिक महत्ता दी है। उनके अनुसार व्यक्ति के सारे अन्तर्द्वन्द का उद्गम 'काम प्रवृत्ति का अवदमन' ही होना है। खेद है कि अभी तक लोगो का ध्यान इसकी उचित शिक्षा और नियन्त्रण पर नही गया है। वस्तुत काम-प्रवृत्ति तो सबसे पवित्र है। इसी के शोधन से साहित्य, कला तथा सगीत मे उत्कृप्ट कोटि की कृतियाँ सम्भव होती हैं। पर लोगो ने इस प्रवृत्ति को वडा बुरा नाम दे रक्खा है। यह महा गोपनीय विषय समझा जाता है। मर्यादा की दुहाई देकर अभिभावक और शिक्षकगण इसका नाम तक वालक के सामने लेना भारी पाप समझते हैं। जितना इस प्रवृत्ति का अवदमन किया जाता है उतना कदाचित् ही किसी अन्य प्रवृत्ति का किया जाता हो। चेतनावस्था मे आने के वाद से ही वालक की इस प्रवृत्ति पर भारी रोक लगाई जाती है। पर यह प्रवृत्ति इतनी प्रवल है कि किसी प्रकार का बन्धन इसे रोकने मे समर्थ नही। जैसे जल-प्रवाह को रोकना वडा ही दुष्कर होता है। वही वात इस प्रवृत्ति के विषय मे भी कही जा सकनी है। यदि वाँध वहुत दृढ हुआ तो पानी या तो वाँध के ऊपर से इधर-उधर बह जायगा या अन्त में वाँध को ही गिरा देगा। इस प्रवृत्ति के अवदमन के कुपरिणाम की ओर हम सकेत कर चुके हैं।

अवस्था आने पर वालक काम-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा

करता है। इस स्वाभाविक इच्छा को रोकना असम्भव है। वह अपने साथियो द्वारा इसका कुछ गलत व ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। फिर काम-प्रवृत्ति की तृप्ति की ओर उसकी चेष्टा होती है। ऐसी स्थिति मे कुछ बुरे व्यक्तियो से उसका सग हो जाना बिलकुल स्वाभाविक होता है। उसकी इच्छा की पूर्ति प्रारम्भ हो जाती है। वह अपनी इच्छाओ की पूर्ति अपने समवयस्क मित्रो के साथ करने की चेष्टा में लग जाता है। कभी-कभी उसका सग किसी ऐसी बडी स्त्री से भी हो जाता है जो उसे अपने अनेक हाव-भावो से अपनी ओर खीचना चाहती है। यही से उसके मन में पाप की भावना (सेन्स ऑव गिल्ट) व्याप्त हो जाती है और उसमे काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि का प्रारम्भ हो जाता है। उसका मन सदैव सशक रहता है। कुछ भी हुआ तो झट उसका मन अपने 'काम प्रवृत्ति की तृप्ति सम्बन्धी क्रिया' पर चला जाता है। यदि पिता या बडे भाई ने बुलाया तो उसे शंका हो जाती है कि कदाचित् वे उसके लिये उसे डॉटने के लिये बुला रहे हैं। जब मन हर समय सशंक बना रहता है तो शारीरिक और मानसिक उन्नति का प्रवाह रुक जाता है। एक अव्यक्त भय उसे सदैव दबाता रहता है।

यदि सयोगवश कुछ सत्पुरुषो का साथ हो गया तो काम-सम्बन्धी-भावना-ग्रन्थि से पीडित व्यक्ति का उद्धार सम्भव हो जाता है। उसकी साधुवृत्ति अन्धी काम-प्रवृत्ति पर विजय पाती है। पर अब भी समस्या का समाधान नही होता। अब भी वह अपने पतन के भय से सशंक रहता है। उसकी काम-प्रवृत्ति की स्वाभाविक पूर्ति नहीं हो पाती, इसलिये सम्पूर्ण स्त्री-जाति के प्रति उसमे कुछ अस्पष्ट भय बना रहता है। वह स्त्रियो के समक्ष आत्म-प्रकाशन उतने धडल्ले से नही कर पाता जितना कि पुरुषो के सामने कर सकता है। स्त्रियो के सामने कुछ कहने में वह बहुत डरता है। यह डर उसकी काम-प्रवृत्ति-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि का परिणाम होता है। यह ग्रन्थि सभी स्त्री व पुरुषो मे थोडी या अधिक मात्रा में पाई जाती है। कुछ सामाजिक रीतियो और कुरीतियो के कारण बालिका के जीवन पर अधिक प्रतिबन्ध रहता है। अत. उसकी मूलप्रवृत्तियॉ का अवदमन बहुधा हुआ करता है। उसको काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि का कारण भी अवदमन ही होता है। यदि उसका किसी पुरुष से साक्षात्कार हो जाता है तो वह थर थर काँपने लगती है। एक अस्पष्ट भय उसके मन को सदैव सशकित किये रहता है। तनिक भी अकेले बाहर जाना हुआ तो उसका साहस छूट जाता है।

बर्ट का कथन है कि व्यक्ति काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि से जनित अस्पष्ट भय के कारण बडे पापो से बचने के उद्देश्य से छोटे पापो को कर बैठता है। साधारण चोरी करना, स्कूल से भाग जाना अथवा झगडा करना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जा सकती है। इतना ही नही, वरन् कभी-कभी भावोद्वेग मे आकर व्यक्ति मे अर्द्ध-पागलपन आ सकता है। यह अर्द्धपागलपन वास्तविक पागलपन नही होता। व्यक्ति

पागल जैसी मुद्रा वनाकर अपने समस्त भावो का उद्गार करता है। यदि अभिभावक बडे कडे और अमनोवैज्ञानिक हुए तो व्यक्ति ऐसी मानसिक स्थिति का सरलता से अभियुक्त हो सकता है। इस मानसिक स्थिति मे व्यक्ति अपनी कृतियो का कारण ठीक-ठीक नही समझता, पर जो कुछ वह करता है उसे स्मरण रहता है। यदि सम्भ्रान्त कुल का हुआ को मर्यादा का विशेष उलघन भी वह नही करता, बस वह केवल अपने भावो का प्रकाशन करके ही रुक जाया करता है। यदि वह नीच कुल का हुआ तो उससे ऐसी ऐसी भ्रष्ट-भ्रष्ट गालियाँ निकलेगी कि जान पडेगा कि वह वास्तव में पागल हो गया है। अपनी काम-सम्बन्धी इच्छाओ के प्रतिरुद्ध होने के कारण वह अपने 'समाज' अथवा 'अभिभावक' को समझता है। यदि उसका वश चलता तो वह समाज को रौंद डालता और अभिभावक के चिथडे-चिथडे कर डालता। उसकी यह भावना उसके कुछ कार्यो से प्रगट होती है। ऐसी मानसिक स्थिति वाला व्यक्ति अपनी इस भावना का प्रकाशन अपने शरीर के कपडे फाडने में करता है। वह अपने सारे कपडो को फाड डालता है। फाड़ते समय उसे पूरा-पूरा ध्यान रहता है, पर बाद मे वह नही समझ पाता कि उसने अपना कपडा क्यो फाड डाला। निरा पागल भी अपने कपडो को इसी प्रकार फाडते हुये पाया जाता है। पर दोनो के फाडने में कुछ अन्तर दिखलाई पडता है। निरा पागल तो अपने गुप्तेन्द्रियो के आवरण को भी बिना किसी लज्जा के फाड फेकता है। पर उपरि वर्णित मानसिक स्थिति वाला व्यक्ति कपडा फाडते-फाडते गुप्तेन्द्रियो के स्थान पर रुक जाता हैं। वहाँ उसे मर्यादा का ध्यान आ जाता है। इस स्थल पर उसका अस्पष्ट भय प्रवलतर हो जाता है और उसका हाथ रुक जाता है।

ऐसे व्यक्तियो की मानसिक स्थिति विचित्र हो जाती है। किसी प्रकार के नियन्त्रण मे रहना उनके लिये असम्भव सा दिखलाई पड़ता है। नियन्त्रण से उन्हे अपने उस नियन्त्रण का ध्यान हो आता है जिसके कारण उनकी सहज काम-प्रवृत्ति की तृप्ति नही हो सकी थी। वे हर प्रकार के शासन का विरोध करते हुए दिखलाई पडते हैं। वे अपनी सभी वातो मे स्वच्छन्द रहना चाहते हैं। उनका मस्तिष्क मानो उस "वाल-तोड" फोडे के समान हो जाता है जो तनिक सी भी ठेस से किलक उठता है। जहाँ कोई बात हुई कि उनका पारा गरम हुआ। ऐसे व्यक्तियो मे वादविवाद के समय दूसरो की वातो के सुनने की क्षमता एकदम नही होती। तनिक सी आलोचना से वे नाच उठते हैं। ऐसे व्यक्तियो के व्यवहार में वाह्याडम्वर वहुत आ जाता है। इस वाह्याडम्बर का कारण विशेपकर उनकी सद्वृत्तियाँ होती हैं। दूसरो की भलाई करने की उनमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। पर अपनी शारीरिक व मानसिक नपुसकता के कारण वे इसमे सर्वथा असमर्थ रहते हैं। किसी कार्य के न करने से वे दूसरो पर तो वहुत

बिगड़ेंगे, पर अपनी कृति पर वे ध्यान नही दे सकेंगे। दूसरो द्वारा कर्तव्यावहेलना पर वे आग-बबूले हो उठेंगे, पर अपनी अवहेलना का उन्हे तनिक भी ध्यान न रहेगा। वास्तव मे ऐसे व्यक्ति को कुछ दोप देना अज्ञानता का द्योतक है। उन्हे मानसिक रोगी समझना चाहिये और परिचर्या के लिये किसी मनोविश्लेपक के उत्तरदायित्व पर छोड देना चाहिये।

ऐसे मानसिक रोगियो मे एक बात और देखी जाती है। यह तो निर्विवाद है कि उनके रोग की जड़ उनकी प्रतिरुद्ध काम-प्रवृत्ति अथवा काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि होती है। काम-प्रवृत्ति का सम्बन्ध कोमल वृत्तियो से होता है। ससार की सारी कोमल वस्तुओ, विचार और भावो का सम्पर्क उनसे जोडा जा सकता है। अत. रोगी वह कार्य करने की कभी इच्छा न करेगा जिसमे तनिक भी कठोरता का समावेश रहता है। उदाहरणार्थ; यदि उससे व्यायाम करके के लिये कहा जायगा तो वह कहेगा कि "व्यायाम से मै अपने शरीर को कठोर नही बनाना चाहता—मै सौन्दर्य का प्रेमी हूँ, मैं प्राकृतिक वस्तुओ को अधिक प्यार करता हूँ, व्यायाम करना अप्राकृतिक है, क्या गाय व भैंस व्यायाम करते हैं? वे क्यो स्वस्थ दिखलाई पडते हैं? मै भी व्यायाम नही करूँगा, क्योकि यह अप्राकृतिक है।" आधुनिक कृत्रिम सभ्यता में पले हुए मानव की यह कितनी बडी विडम्बना है! मानव जीवन अन्य पशुओ के समान प्राकृतिक कहाँ रहा? अत. स्वास्थ्य बनाने के लिये उसे व्यायाम तो करना ही पड़ेगा। पशुओ की उपमा देना तो केवल दयनीय भ्रम है!

ऐसे मानसिक रोगी को यदि उचित शिक्षा न मिली तो उसकी जीवन-नौका किस घाट लगेगी नही कहा जा सकता। उचित शिक्षा से अपने अर्जित सुसस्कार के बल पर ऐसा रोगी सुधर सकता है। अधोगति के गर्त में गिरने का प्रलोभन उसके जीवन मे कई बार आता है। पर अपनी सद्वृत्तियो के कारण वह सम्हल उठता है। कितनी ही उच्च शिक्षा वह क्यो न पाये, पर प्रतिरुद्ध इच्छाये अज्ञात चेतना मे जाकर जम जाती हैं और वहाँ से प्रसगानुसार व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव डालती रहती है। यही कारण है कि सामान्य मानसिक अवस्था प्राप्त कर लेने पर भी कभी कभी उसके व्यवहार मे विचित्रता दिखलाई पडती है। साधारण से साधारण बात पर उबल पडना, बात-बात में झगड पडना उसके लिये बडा सरल होता है। ऐसे व्यक्तियो के साथ रहना रस्सी पर नाचने के समान है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि का परिणाम बडा भयानक हो सकता है। अत अभिभावको और शिक्षकों को उचित है कि बहुत प्रारम्भ से ही बालक की काम-प्रवृत्ति के विकास का सूक्ष्मतम अध्ययन करे और अपने व्यवहार मे कभी अमनोवैज्ञानिक न हों।

प्रभुत्व की भावना-ग्रन्थि—

प्रभुत्व की भावना-ग्रन्थि कडे अभिभावको के नियन्त्रण का परिणाम होता है। ऐसे अभिभावक बालको को सदा अपनी आज्ञा पर नचाया करते है। यह आज्ञा बालकों की भलाई के लिये ही दी जाती है। उदाहरणार्थ, "नित्य सुवह उठो, व्यायाम करो, पढो, यह करो और वह करो इत्यादि"। इन आज्ञाओ के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी होती हैं जो आलस्यपूर्ण अभिभावको की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये भी हुआ करती हैं —जैसे पानी पिलाओ, स्नान करने के लिये पानी रक्खो, यह पुस्तक तो दे देना, उसके यहाँ जाकर ये वाते तो पूछ आओ, बाजार से इनके लिये मिठाई लेते आओ, आदि। ऐसी आज्ञाएँ देते समय कुछ अभिभावक किंचित भी ध्यान नही देते कि वालक क्या कर रहा है। इससे वालक का कार्य और मानसिक अवस्था एकदम छिन्न-भिन्न हो जाती है। अभिभावको का कितना क्रूर व्यवहार है यह !!! ऐसी स्थिति मे पले हुए वालक प्रभुत्व-ग्रन्थि के अभियुक्त हो जाते हैं। वे अभिभावको के विरोधी हो जाते हैं। मर्यादावश भले ही वे चुपचाप उनकी आज्ञाओ का पालन कर दे पर मन ही मन वे सदा भनभनाते रहते हैं। उनका चेतन मन तो आज्ञानुसार कार्य कर देता है, पर अचेतन मन सदा उपद्रव करने के लिये प्रस्तुत रहता है। यदि ऐसे वालको को उचित शिक्षा न मिल सकी, यदि उनके सचित सस्कार सम्भ्रान्त न हुए तो उनमे नियन्त्रण तथा शासन के विरोध करने की प्रवृत्ति आ जाती है। इस प्रवृत्ति के क्रियाशील होने पर वह सन्तोप का अनुभव करता है। मर्यादावश वालक अभिभावकों और शिक्षको के सामने इस प्रवृत्ति का अवदमन करता है, पर आगे चल कर यह प्रवृत्ति, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक नियमो के प्रतिकूल चलने की ओर सलग्न हो सकती है। मनोविश्लेषको की धारणा है कि ससार के प्रसिद्ध डाकू, चोर, उपद्रवी तथा व्यभिचारी इस प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं।

भावना-ग्रन्थियाँ कैसे सुलझाई जा सकती है ?[1]

भावना-ग्रन्थियो का सुलझाव मनोविश्लेषक ही कर सकते हैं। इसमे साधारण अभिभावको व शिक्षको की पहुँच नही। सबसे पहले ग्रन्थि का निदान जानना आवश्यक हैं। हम ऊपर सकेत कर चुके हैं कि निदान जान लेना ही ग्रन्थि का सबसे वडा उपचार है। यदि व्यक्ति अपनी ग्रन्थियो का कारण समझ जायगा तो वह स्वतः ग्रन्थि से मुक्त हो जायगा। निदान को जानने के लिये किन-किन विधियो का अनुसरण करना चाहिये इस पर प्रकाश डालना इस पुस्तक की सीमा के वाहर है। मनोविश्लेपण की पुस्तक ही इस पर प्रकाश डाल सकती है। अत हम केवल कुछ सिद्धान्तो की ओर ही

1. How can the Complexes be resolved ?

संकेत कर सकते हैं। निदान का पता लग जाने पर व्यक्ति के लिये पुनर्शिक्षा की आवश्यकता है। नैतिक उपदेश का नाम शिक्षा नही। जिन कारणो से ग्रन्थियाँ पडी थी उन्ही कारणो को व्यक्ति के जीवन से दूर करना है, अर्थात् अब उसे आत्म-प्रकाशन के लिये पूरा अवसर मिलना चाहिये। उसके साथ व्यवहार मे कोई ऐसी बात न आवे जिससे उसमें आत्म-हीनता का अनुभव हो। उसको स्वाभाविक कार्यों मे पर्याप्त स्वतन्त्रता देनी होगी। उसकी काम-प्रवृत्ति का अवदमन न करना चाहिये। मनोवैज्ञानिक विधि से इन सब प्रवृत्तियो का शोधन करना चाहिये।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

स्थायी-भाव सवेग जनित, अर्जित, वातावरण के सम्पर्क मे आने से विभिन्न वस्तुओ मे रुचि, उनके लिये मानसिक भाव का स्थायित्व, स्थायी मानसिक वृत्ति ही स्थायीभाव।

स्थायीभाव, संवेग, भाव और उमङ्ग

सवेग और भाव अस्थायी मानसिक अनुभव, स्थायीभाव मानसिक जीवन के स्थायी अग, सवेग और भाव मानसिक क्रिया के अग, सवेग अस्थिर, स्थायीभाव स्थिर, एक प्रकार के सवेग से एक ही स्थायीभाव, पर एक स्थायीभाव से कई सवेगो की उत्पत्ति सम्भव, उमग सवेगजनित स्थायी मानसिक तृप्ति।

स्थायीभाव और मूलप्रवृत्ति

स्थायीभाव मूलप्रवृत्तियो के शोधन का परिणाम, स्थायीभाव मे कुछ विचारों का समावेश निहित, पर मूलप्रवृत्ति मे ऐसा नही, मूलप्रवृत्ति के सदृश् स्थायीभाव के उत्तेजित करने के लिये किसी वस्तु की उपस्थिति आवश्यक नही।

दोनो की विभिन्न मानसिक वृत्ति, स्थायीभाव से प्रेरित कार्य ठीक प्रकार समझकर, मूलप्रवृत्त्यात्मक कार्य आवेगपूर्ण, ससार के सभी वडे कार्य स्थायीभाव की प्रेरणा से।

स्थायीभाव और आदत

असमानता—

आदत से अभिप्रेरित क्रिया यान्त्रिक, परिस्थिति के परिवर्तन से आदत सहायक नही, स्थायीभाव का क्षेत्र इस प्रकार सीमित नही, आदत मे सवेगो का संगठन आवश्यक नही।

समानता—

दोनो अर्जित, दोनो की अतृप्ति से विक्षोभ।

स्थायीभाव कैसे बनते हैं ?

स्थायीभाव विचारात्मक आधार पर, अनुभव के बढने से मूलप्रवृत्ति की क्रिया मे परिवर्त्तन, मूलप्रवृत्तियाँ विचारो से परिष्कृत, रुचियाँ स्थायीभाव मे परिवर्तित ।

प्रत्यक्षात्मक सतह पर सवेग, विचारात्मक सतह पर स्थायीभाव, विवेकात्मक सतह पर सिद्धान्त, पर मानसिक विकास को विभिन्न अगो मे बाँटना अमनोवैज्ञानिक ।

वस्तु को ठीक प्रकार समझना, तथा सवेगो की उत्पत्ति और सगठन-स्थायीभाव के उत्पत्ति की दो आवश्यक क्रियाये, आनन्द और प्रेम का सवेग खिलौने के साथ सम्बद्ध, फलत इसके लिये उसका स्थायीभाव, स्थूल पदार्थों के प्रति प्रौढो का भी स्थायीभाव, रुचि के अनुसार व्यक्तियो के स्थायीभाव मे भेद, स्थायीभाव सवेगो और भावो का पुञ्ज नही, किसी वस्तु की ओर सुसगठित सवेग स्थायीभाव ।

बढने के साथ स्थायीभाव प्राप्त करने की शक्ति, स्थायीभाव प्राप्त करना सीखना, उच्चकोटि के स्थायीभाव कैशोर और प्रौढावस्था में ।

नैतिक गुणों के प्रति स्थायीभाव उत्पन्न करना

नैतिक गुणो के लिये स्थायीभाव उचित विकास का द्योतक, शिक्षा का प्रधान उद्देश्य भी यही, नैतिक गुणो के स्थायीभाव के लिये उनसे सम्बन्धित क्रियाओ का बालक से परिचय, साहित्य अथवा इतिहास की सहायता, सुखात्मक सवेगो से सम्बन्धित करना ।

देशभक्ति का स्थायीभाव—

देश के इतिहास के सभी पक्षो का ज्ञान देना, भौगोलिक, व्यापारिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व को समझाना; विभिन्न वस्तुओ और महापुरुषो के ज्ञान से देश-प्रेम बढाना, वर्णन ओजपूर्ण, सामाजिक कार्यों मे भाग लेने को प्रोत्साहन ।

आत्म-गौरव का स्थायी भाव—

आत्म को प्रिय होने से वस्तु से प्रेम, जितनी वस्तुओं से रुचि उन सबका आत्म से प्रेम, स्थायीभाव आत्म के पास केन्द्रित, विभिन्न स्थायीभावो से प्रभावित होकर 'आत्म' का अपना आदर्श निश्चित, आदर्श व्यक्ति की अन्तिम मानसिक गठन, यही आदर्श आत्मगौरव का स्थायीभाव, इसी के अनुसार जीवन का सचालन ।

'आत्म' की कल्पना सरलता से नही, इसकी कल्पना सामाजिक जीवन पर निर्भर, वातावरण से प्रभावित होने और वातावरण पर प्रभाव डालने की अपनी शक्ति का उसे ज्ञान, इस प्रकार उसे भौतिक आत्म का ज्ञान ।

जेम्स के अनुसार आत्म के दो भाग—ज्ञाता और ज्ञात हुआ, ज्ञात हुआ के तीन

भाग—भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक; प्रत्येक के साथ विभिन्न संवेग और क्रिया, इससे आत्म-सम्मान का बोध।

आत्म की चेतना सामाजिक जीवन से, अपने प्रेमी व्यक्ति की धारणानुसार अपने आत्म को पहचानना, शिक्षक और अभिभावक का कर्तव्य।

आत्म-सम्मान के धक्के से 'आत्म' सतर्क, 'आत्म' द्वारा किये हुए कार्य की आलोचना, इस प्रकार एक आदर्श का निर्माण, इस आदर्श में आत्म की योग्यता निहित, यह आदर्श ही आत्म-गौरव का स्थायीभाव।

स्थायीभाव और शिक्षा

विकास के अनुसार कार्यों का नियन्त्रण स्थायीभावो द्वारा, स्थायीभावो की चरम सीमा आत्म-गौरव के स्थायीभाव मे, प्रत्येक के आत्म गौरव का स्थायीभाव दूसरे से भिन्न, बालकों के सामने उचित उपदेश और आदर्श रखने की आवश्यकता कोमल वृत्तियों पर अमनोवैज्ञानिक व्यवहार घातक, बालक मे विश्वास प्रकट करना आवश्यक।

भावना-ग्रन्थियाँ

मूलप्रवृत्तियों के अवदमन से भावना-ग्रन्थियाँ, सभी इच्छाओ की पूर्ति सम्भव नही, अतृप्त इच्छाओ का चोर के सदृश् अज्ञात चेतना में घुसने से भावना-ग्रन्थियो की नीव, भावना-ग्रन्थियाँ विकृत स्थायीभाव, भावना ग्रन्थियो का व्यक्ति के व्यवहार पर अज्ञात रूप से प्रभाव, इनका पता लगाना मनोविश्लेपको का कार्य।

भावना-ग्रन्थि के अत्यधिक वेग से अन्तर्द्वन्द, भावना-ग्रन्थि से अवगत होना उससे मुक्त होना, भावना-ग्रन्थियो का सगठन नही, भावना-ग्रन्थियो के प्रभाव में व्यक्ति का व्यवहार नीति व समाज के विरुद्ध।

भावना-ग्रन्थियों के निर्माण मे अभिभावकों और शिक्षको का प्रधान हाथ, उनके व्यवहार की मनोवैज्ञानिकता अत्यावश्यक।

भावना ग्रन्थियों के कुछ मुख्य प्रकार

१—आत्म-गौरव की भावना-ग्रन्थि—

बहुधा अति लाड-प्यार किये गये बालक में, ऐसे बालक की अपने विषय में गलत धारणा, आलोचना सह्य नही, जीवन व्यर्थ, आत्म-हीनता-भाव के जागृत करने तथा आत्म-गौरव मूलप्रवृत्ति के शोधित करने की चेष्टा से इसमे मुक्ति।

२—हीनता की भावना-ग्रन्थि—

इसके निर्माण मे अभिभावकों और शिक्षकों का हाथ, इस भावना का हटाना

वडा आवश्यक, मानसिक और शारीरिक दोनो शक्तियो का ह्रास, अपने गुणो से अवगत होने से इस ग्रन्थि का नाश।

३—काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि—

मनोविश्लेषको के अनुसार 'काम-प्रवृत्ति का अवदमन' अन्तर्द्वन्द का प्रधान कारण, काम-प्रवृत्ति का अवदमन सबसे अधिक, काम-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा, बुरे साथियो के सम्पर्क से काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि का प्रारम्भ, मन का सशक रहना, अव्यक्त भय।

सत्पुरुषो के साथ से ही काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि का खुलना, तथापि स्त्री-जाति के लिये भय, स्त्रियो के समक्ष आत्म-प्रकाशन कठिन, यह ग्रन्थि सभी स्त्री या पुरुषो में।

अस्पष्ट भय के कारण छोटे पापो को कर वैठना, अर्द्ध पागलपन का आ जाना, इस अर्द्ध पागलपन की मन स्थति।

मानसिक रोग की जड प्रतिरुद्ध काम-प्रवृत्ति, काम-प्रवृत्ति का सम्बन्ध कोमल वृत्तियो से।

मानसिक रोगी की उचित शिक्षा आवश्यक, सामान्य मानसिक अवस्था प्राप्त कर लेने पर भी कभी-कभी उसके व्यवहार मे विचित्रता।

काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि का परिणाम वडा भयानक।

प्रभुत्व की भावना-ग्रन्थि—

कडे नियन्त्रण का परिणाम, इस ग्रन्थि का सामाधान न किया जाय तो धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक नियमो के प्रतिकूल जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न।

भावना-ग्रन्थियाँ कैसे सुलझाई जा सकती है ?

मनोविश्लेषक का ही कार्य, निदान जानना आवश्यक, कारणो को दूर करना, आत्मप्रकाशन के लिये अवसर देना, स्वाभाविक कार्यो मे पर्याप्त स्वतन्त्रता, काम-प्रवृत्ति का शोधन।

सहायक पुस्तकें

१—वारवरालो—द अनकॉनशश इन ऐक्शन।

२—क्रिकटन मीलर एच०—साइकोएनलेसिस ऐण्ड इट्स डीराइवेटिव्स।

३—ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द साइकॉलॉजी ऑव एडूकेशन, अध्याय ८।

४—मैग्डूगल—सोशल साइकॉलॉजी, अध्याय ७, ६।

५— ,, —ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १७।

६—शैण्ड—दी फॉउण्डेशन्स ऑव कैरेक्टर, भाग १ ।
७—नन—एडूकेशन इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय १२, १३ ।
८—जेम्स—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय ४ ।
९—रस्क—एक्सपेरीमेण्टल एडूकेशन, अध्याय १३ ।
१०—सैण्डीफोर्ड—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ९-११ ।
११—लालजीराम शुक्ल—सरल मनोविज्ञान, प्रकरण ८ ।
१२— „ —बाल मनोविकास प्रकरण, ८ ।
१३—सरयू प्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान, अध्याय ४, ५, १३ ।
१४— „ —किशोर मनोविज्ञान की भूमिका, अध्याय ४, ६, ९, १०, ११ ।

११

संकल्प-शक्ति और चरित्र[1]

संकल्प-शक्ति

सकल्प-शक्ति मनुष्य की निर्णय करने की शक्ति है। इसी शक्ति से वालक यह निश्चय करता है कि पास के पैसे से आम खरीदे या लड्डू। इसी से किसान यह निश्चय करता है कि गाय खरीदे या भैस। पहले व्यक्ति को किसी वस्तु की चाह होती है। यह उसकी विभिन्न मूलप्रवृत्तियो का वातावरण से सघर्ष अथवा उसके स्थायीभाव का निष्कर्ष होती है। चाह को भूख भी कह सकते हैं। व्यक्ति मे विभिन्न भोगो के उपभोग की चाह होती है। पशु मे भी कुछ भूखे होती हैं, पर उसकी भूखें इतनी सीमित होती हैं कि सामान्य वातावरण के सम्पर्क से ही उनकी निवृत्ति हो जाती है। अतः जगत की वस्तुओ के सबध मे विचार के आधार पर उनमें आन्तरिक प्रेरणा वहुत ही कम होती है। मनुष्य की कहानी दूसरी है। उसकी भूखे अगणित हैं। उनकी निवृत्ति के लिये उसकी विचारधारा अविरल गति से चलती रहती है। इस निवृत्ति के प्रयास मे उसका ध्यान जगत की वास्तविकता की ओर आकर्षित होता है। फलतः उसे चाह की वस्तु का ज्ञान होता है और वह चाह को अपने विचार की कसौटी पर कसता है। इसके उपरान्त वह किसी विशिष्ट वस्तु के लिए अपनी इच्छा प्रकट करता है।

डम्विल के अनुसार 'क्रियात्मक मनोवृत्ति'[2] को सकल्प शक्ति कहते हैं। व्यक्ति में अनेक मनोवृत्तियाँ अथवा इच्छाये होती हैं। अतृप्त इच्छायें वासना के रूप मे अचेतन मन मे वैठी रहती हैं और समय-समय पर व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित किया करती हैं। कभी-कभी इच्छायें परस्पर-विरोधी भी होती हैं। ऐसी स्थिति में अन्तर्द्वन्द का निर्णय व्यक्ति की सकल्प-शक्ति करती है। वास्तव मे इस प्रकार का निर्णय करना ही सकल्प-शक्ति का प्रधान कार्य है। इच्छा और सकल्प-शक्ति मे भेद है। किसी इच्छा को कार्यान्वित करने की व्यक्ति मे जो शक्ति होती है वह उसकी सकल्प शक्ति है। सकल्प-शक्ति किसी भी इच्छा को कार्यान्वित होने से रोक सकती है। सकल्प-शक्ति किसी इच्छा को सवल या निर्वल वना सकती है। अपने सस्कार के अनुसार सकल्प-शक्ति प्रवल या निर्बल होती है। कुछ व्यक्ति अपने उद्देश्य शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं, क्योकि उनमे कार्य करने की प्रवल सकल्प-शक्ति होती है। ऐसे ही

1. Will and Character. 2. Conation.

व्यक्ति अपने आदर्शो के अनुसार कार्य करने मे सफल होते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो आदर्श तो बना लेते है, पर सकल्प-शक्ति की निर्बलता के कारण उन्हे कार्यान्वित करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। सकल्प-शक्ति की निर्बलता के कारण कुछ लोग अपनी साधारण बात का शीघ्र निर्णय नही कर पाते। लेखक के एक मित्र हैं जो सरलता से निश्चय नही कर पाते कि यह कोट पहन कर बाहर जाँय कि वह। इसी मे उनका बहुत सा समय लग जाता है। यदि संकल्प-शक्ति की दुर्बलता न होती तो वर्तमान स्थिति की अपेक्षा वे बहुत ही ऊँचे पद पर होते। ट्रेनिङ्ग कॉलेज के एक विद्यार्थी ने लेखक के ५० मिनट केवल यही निर्णय मे ले लिये कि पढाने के लिये हिन्दी ले कि अग्रेजी। निर्णय शक्ति का अभाव सकल्प-शक्ति की निर्बलता का द्योतक है। इस निर्बलता से उत्कृष्ट कोटि का मस्तिष्क रखते हुए भी व्यक्ति अपने वाछित पद पर नही पहुँच पाता। जो दबग और दृढ होते हैं उनका निर्णय बडी तत्परता के साथ हुआ करता है। सेनापतियों और राज्य के कर्णधारो का विषम परिस्थिति मे शीघ्र निर्णय पर पहुँच जाना उनकी कुशलता का परिचायक है।

किसी कार्य को विषम परिस्थिति मे भी बहुत देर तक स्वत करने की योग्यता को सकल्प-शक्ति कह सकते हैं।[1] जिनमे सकल्प-शक्ति, लगन अथवा निष्ठा का अभाव होता है वे किसी कार्य को बहुत देर तक नही चला सकते। उडबर्न[2] के अनुसार किसी कार्य में लगे रहने की प्रवृत्ति को सकल्प शक्ति कहते है। मैग्डूगल[3] ने "क्रियात्मक चरित्र" को सकल्प-शक्ति कहा है। ऐंजिल[4] का कथन है कि सारे मस्तिष्क की क्रियाशीलता सकल्प-शक्ति है।[5] डम्विल के अनुसार निर्बल उद्देश्य वाला व्यक्ति अपनी मूलप्रवृत्ति की प्रबल शक्ति के सामने हार जाता है। उसकी क्रिया मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया के साथ चलती है। पर ऐसी स्थिति मे आत्म-गौरव के स्थायीभाव मे बडी सहायता मिल सकती है। इस समय अपनी हार्दिक इच्छाओ और अभिलाषाओ पर ध्यान देने से एक नई शक्ति का सचार हो जाता है। पर ध्यान देने की बात यह है कि प्रवृत्ति अवस्थानुसार आती है। छोटे बालक मे प्रौढ की अपेक्षा सकल्प-शक्ति कम रहती है, क्योंकि उसकी अभिलाषाओ का स्पष्टीकरण ठीक से नही हो पाता। उसमे आत्म-गौरव का स्थायीभाव अपनी चरम सीमा पर नही पहुँचा रहता। व्यक्ति के दैनिक जीवन में सकल्प-शक्ति हर समय एक सी नही दिखलाई पडती। किसी समय उसकी प्रबलता रहती है और किसी समय निर्बलता। जब वह थका या बीमार रहता

१. जेम्स—प्रिन्सीपुल्स ऑव् साइकॉलॉजी, भाग २, पृष्ठ ५४६। २. उडबर्न—ह्यूमन नेचर ऐन्ड एडूकेशन, पृ० २१५। ३. मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, पृ० ४८२। ४. ऐंजिल—साइकॉलॉजी, पृ० ४३७। ५. डम्विल—दि फण्डामेण्टल्स ऑव साइकॉलॉजी, पृ० ५३०।

है तो उसमे सकल्प-शक्ति का अभाव रहता है, पर स्वस्थता लाभ करने के वाद उसकी स्थिति पहले जैसी हो सकती है।

उन्नीमवी शताब्दी तक संकल्प-शक्ति एक स्वाभाविक मानसिक शक्ति मानी जाती थी। इसकी वृद्धि के लिये कुछ निश्चित अभ्यास दे दिया जाता था। परन्तु अव यह धारणा वदल दी गई है। सकल्प-शक्ति को अव कोई रहस्यमयी शक्ति नही मानते। इमे प्रकृतिदत्त नही समझा जाता। आधुनिक मनोवैज्ञानिको के अनुसार सकल्प-शक्ति शिक्षा और विकास का फल है। मैग्डूगल का कथन है कि सकल्प-शक्ति की क्रिया को किसी क्षणिक अनुभव के समान नही समझना चाहिए। इस क्रिया में व्यक्ति का सारा व्यक्तित्व निहित रहता है। सकल्प-शक्ति अथवा व्यक्तित्व के सहारे ही वह किसी निर्णय पर पहुँचता है। संकल्प-शक्ति को ठीक-ठीक समझने के लिए निर्णय का प्रकार समझना आवश्यक है।

निर्णय के प्रकार[1]

निर्णय पाँच प्रकार के होते हैं :—विवेकयुक्त[2], आकस्मिक[3], सवेगात्मक[4], वाध्य[5] और पुर्नविचारात्मक निर्णय। वातावरण के सम्पर्क मे आने से व्यक्ति के मन में कई प्रकार की इच्छायें उत्पन्न होती हैं। इन इच्छाओ मे से किसी एक ही को वह प्रथम वना मकता है। फलत उसका गहन विचार प्रारम्भ हो जाता है। कल्पना के आधार पर वह विवेचना करने लगता है कि किस प्रवृत्ति को आगे वढ़ाना ठीक होगा। वह अपने कार्य के सम्भावित फल का मूल्य आँक कर निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा करता है। निर्णय पर पहुँचने पर उसकी प्रवृत्ति उसे कार्यान्वित करने की ओर अग्रसर करती है। इस प्रकार के निर्णय में व्यक्ति इन मानसिक स्थितियो से होकर निकलता है।

विवेकयक्त निर्णय—

विवेकयुक्त निर्णय सर्वश्रेष्ठ होता है। पर ऐसा निर्णय मव लोग नही कर पाते। हमारे अधिकाश निर्णय विवेक से खाली होते हैं। मूलप्रवृत्तियो के प्रभाव में हम शीघ्र आ जाते हैं। सुप्त वासनायें और पूर्व-सचित सस्कार भी हमारे निर्णय को वहुधा प्रभावित करते हैं। आदर्श तथा सिद्धान्त वन जाने के वाद निर्णय के विवेक-पूर्ण होने की अधिक सम्भावना रहती है। अपने आदर्श के अनुसार चलने वाले व्यक्ति की सकल्प-शक्ति प्रवल हो जाती है। सिद्धान्तवादी वहुधा अन्तर्द्वन्द से मुक्त रहता है। वास्तव मे ऐसे ही व्यक्ति ससार मे वडा कार्य करते हैं। महापुरुषो के जीवन चरित्र

---

1. Kinds of Judgment 2. Rational. 3. Accidental. 4 Emotional or Impulsive. 5. Forced.

से स्पष्ट है कि वे सिद्धान्तवादी थे। कार्य को करने से पहले ये लोग प्राय भूत. वर्तमान और भविष्य तीनो पर ध्यान देते थे। विना विवेक की कसौटी पर कसे कोई कार्य करना इनका कदाचित् स्वभाव नही होता था।

आकस्मिक निर्णय—

कभी-कभी व्यक्ति ऐसी विषम परिस्थिति मे पड़ जाता है कि उसके लिये किसी वात का निर्णय करना कठिन हो जाता है। वह कार्य करने या न करने का वहाना ढूँढना चाहता है। पर उसे किसी वात की याद आ जाती है और वह निर्णय कर वैठता है। मान लीजिये, उसे कॉलेज जाना है। कुछ वृष्टि हो रही है। उसका मन जाने का नही है, परन्तु कुछ निर्णय करने मे वह असमर्थ हो रहा है। इतने मे एक विद्यार्थी कॉलेज मे लौटते हुए दिखलाई पडा, और वह झट निर्णय कर लेता है कि उसके जाने की आवश्यकता नही। आकस्मिक निर्णय मे आत्म प्रवचना का भाव निहित रहता है। इसमे व्यक्ति अपनी निष्क्रियता के लिये कोई वहाना निकालना चाहता है।

संवेगात्मक निर्णय—

संवेगात्मक निर्णय भी प्राय. आकस्मिक की ही भाँति होते है। भेद केवल इतना है कि आकस्मिक मे कारण वाह्य जगत का होता है और सवेगात्मक मे कारण आन्तरिक होता है। जो व्यक्ति अव्यवस्थित चित्त के होते हैं, जो साधारण से साधारण वात पर भी अपने मस्तिष्क की शान्ति खो वैठते हैं, उनके वहुत मे व्यवहार संवेगात्मक निर्णय के अनुसार होते हैं। परिस्थिति-विशेप मे अपने ऊपर वे तनिक भी नियन्त्रण नही रख सकते। जहाँ उनकी इच्छा के विपरीत कुछ हुआ कि वे तुरन्त सभामण्डली अथवा घर से उठ कर चल देते हैं। वास्तव मे ऐसे व्यक्ति मानसिक रोगी ही कहे जा सकते हैं। अतः इनका किसी मनोविश्लेपक से उपचार कराना आवश्यक है।

वाध्य निर्णय—

वाध्य निर्णय मन की निर्वलता और विवेकशक्ति के अभाव मे किया जाता है। जव व्यक्ति सोचते-सोचते थक जाता है और उसे कोई उपाय नही सूझता तो संयोग पर कार्य करना वह निश्चय करता है। पुरोहित से मुहूर्त पूछ कर अथवा रुपये की उछाल से 'चित-पट' के आधार पर अथवा किसी प्रकार किसी अन्य आधार पर कार्य करने का व्यक्ति अनायास निर्णय कर लेता है।

पुनर्विचारात्मक निर्णय—

पुनर्विचारात्मक निर्णय आकस्मिक निर्णय के समान होता है, पर इसमें पहले से ही विवेकयुक्त निर्णय का समावेश रहता है। इसमें वहुत पहले ही व्यक्ति निर्णय

पर पहुँच चुका रहता है, पर नई स्थिति के ज्ञान से यह अपना विचार बदल देता है। यह निर्णय प्राय व्यक्ति के हित मे ही होता है। इससे उसके विचार की परिपक्वता दिखलाई पडती है।

संकल्प-शक्ति और विचार[1]

सकल्प-शक्ति व्यक्ति के विचारो पर निर्भर रहती है। यदि विचार ही नही हैं तो सकल्प-शक्ति कैसी और निर्णय का प्रयोजन ही तब क्या ? विचार के सगठित न रहने से निर्णय भी अधूरे और घातक होते हैं। जिसे राजनीति का ज्ञान नही वह राजनैतिक समस्याओ के समाधान की ओर क्या सकेत करेगा ? इस प्रकार हमारी सकल्प-शक्ति और अभिलाषा हमारे विचारो तक सीमित रहती है। सकल्प-शक्ति और निर्णयशक्ति विचारो के ही साथ खेलती हैं। यदि व्यक्ति के घृणित विचार हुए तो उसकी सकल्प-शक्ति भी घृणित होगी। चोर की सकल्प-शक्ति यही होती है कि इस या उस धन पर कैसे हाथ लगावे।

संकल्प-शक्ति और ध्यान[2]

सकल्प-शक्ति का ध्यान की एकाग्रता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि व्यक्ति की सकल्प-शक्ति प्रवल हुई तो उसका ध्यान भी सदा उसके सकल्प की ही ओर रहेगा। व्यक्ति का ध्यान किसी विपय या वस्तु में अधिक लग जाता है तो उसकी सकल्प-शक्ति भी उसके लिये वढ जाती है। ध्यान न लगने से सकल्प-शक्ति घट जाती है और विषय कठिन जान पडने लगता है। ध्यान की स्थिरता से सकल्प-शक्ति की वृद्धि होती है। हमारे भारतीय दार्शनिको ने भी इस सत्य की पुष्टि की है। ध्यान ही स्थिर करके वैज्ञानिक विज्ञान के विभिन्न चमत्कार हमारे सामने रखने मे सफल हो सके हैं। ध्यान की स्थिरता से ही दिन रात परिश्रम करने की प्रवल सकल्प-शक्ति उनमे उत्पन्न हो सकी। मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओ की पूर्ति में सकल्प-शक्ति की आवश्यकता नही, क्योकि उनमें हमारा ध्यान वडी सरलता से चला जाता है। इनके प्रतिकूल जाने में ही हमें आत्म-सयम की आवश्यकता होती है। आत्म-सयम सकल्प-शक्ति की प्रवलता से ही प्राप्त होता है। अत जिसमे आत्म-सयम जितना ही कम होता है उतनी ही कम उसमें सकल्प-शक्ति भी होती हे। स्पष्ट है कि जिनका मन सदा विपय-वासनाओ मे रमता है वे सकल्प-शक्ति से हीन होते हैं। वे ससार में कोई कार्य नही कर सकते। पशुओ के सदृश् मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओ की पूर्ति ही उनके जीवन का उद्देश्य हो जाता है। ऐसे व्यक्तियो मे ध्यान स्थिरता नही होती। किसी कार्य में उनका चित्त नही लगता। फलत उनमे सकल्प-शक्ति का नितान्त अभाव रहता है।

---

1. Will and Thought. 2. Will and Attention.

संकल्प-शक्ति, आवेश और हठ

आवेश—

सवेगात्मक प्रवृत्ति के आवेश मे आकर हम कभी-कभी कुछ कर देते हैं। आवेग मे आकर कार्य करना सकल्प-शक्ति की निर्वलता का द्योतक है। प्राय. वालक आवेग ही मे आकर सब कार्य किया करते है, क्योकि उनमे सकल्प-शक्ति कम होती है। जब तक व्यक्ति विचारो की परिपक्वावस्था पर नही पहुँचता तव तक उसमे उच्च श्रेणी के स्थायीभाव नही आते। ऐसे स्थायीभाव के आने पर ही व्यक्ति मे आत्म गौरव का स्थायीभाव बनता है। सकल्पशक्ति की प्रवलता व्यक्ति के आत्म-गौरव के भाव पर निर्भर रहती है। वालक मे आत्म-गौरव का भाव निम्नकोटि का रहता है। अतः सकल्प-शक्ति का भी उसमे अभाव रहता है। सकल्प-शक्ति की प्रवलता उम्र पर निर्भर नही रहती। यही कारण है कि वहुत से प्रौढ व्यक्तियो मे भी सकल्प-शक्ति का अभाव दीख पड़ता है। ऐसे व्यक्ति अपनी प्रौढावस्था मे भी वालक सा व्यवहार करते दिखलाई पडते हैं। अत. सकल्प-शक्ति की वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि आवेश मे कोई कार्य न किया जाय। ऐसा करने से चरित्र का भी पूर्ण विकास सम्भव हो सकेगा।

हठ—

हठ भी सकल्प-शक्ति की दुर्वलता का द्योतक है। जैसे आवेग में आकर वालक कार्य कर वैठता है वैसे ही हठ करना भी उसका स्वभाव है। जिस वात का वह हठ पकड लेता है उसे छोडता नही। कहता है कि नही खायेंगे तो वह नही खाता है। जिस वस्तु को लेने का हठ पकड़ लेता है उसे ले करके ही वह छोडता है। वालक की यह प्रवृत्ति उसके आवेश-वृत्ति के सदृश् उसके चरित्र-विकास अथवा सकल्प-शक्ति की वृद्धि के लिये भी हानिकर है। हठ केवल वालको ही तक नही सीमित रहता। कुछ प्रौढ लोग भी हठी दिखलाई पडते हैं। जडतावश कुछ ग्रामीणजन हठ कर वैठने है कि रोगी को डॉक्टर को दिखाने से कोई लाभ नही, जो भाग्य में लिखा होगा वह होगा। यह प्रवृत्ति कितनी घातक है! पता नही हमारे देश मे कितनो को इस प्रवृत्ति का अभियुक्त होना पडता है! ऐसे ही कुछ प्रौढ व्यक्ति कभी-कभी विना लाभ हानि का विचार किये जिस वात का निर्णय कर लेते है उसे करके ही छोडते हैं। वालक का हठ तो कुछ क्षम्य भी हो सकता है, क्योकि वह विवेकहीन होता है, पर प्रौढ लोगो का हठ क्षम्य नही।

चरित्र[1]

चरित्र और मूलप्रवृत्तियाँ—

चरित्र अच्छा व वुरा दोनों होता है। पर नैतिक दृष्टि मे चरित्र का तात्पर्य

1. Character.

सदा अच्छा ही समझा जाता है। अत चरित्र से हमारा तात्पर्य यहाँ अच्छे से ही रहेगा। चरित्र सकल्प-शक्ति तथा आत्म-गौरव के स्थायीभाव का दूसरा नाम है। चरित्रवान् व्यक्ति का तात्पर्य सकल्प-शक्ति और आत्म-सम्मान से भरे हुए व्यक्ति से होता है। ऐसा व्यक्ति अपने सिद्धान्तो के अनुसार कार्य करता है। वह सब कुछ अपना कर्तव्य समझ कर करता है। जिनका अपना कोई सिद्धान्त नही वे केवल अपने लाभ-हानि की दृष्टि से ही कार्य किया करते हैं। जो और भी हीन होते हैं वे दण्ड के भय से अथवा पुरस्कार पाने की इच्छा से कार्य करते हैं। जो पशुवत् होते हैं उनके सभी कार्य मूलप्रवृत्तियो की प्रेरणानुसार हुआ करते हैं। यद्यपि सभी मनुष्यो मे सब प्रकार की मूलप्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, पर प्रत्येक मे उनकी मात्रा का भेद रहता है। किसी मे एक मूलप्रवृत्ति निर्बल होती है तो दूसरी प्रबल। यही बात सब में पाई जाती है।

मूलप्रवृत्तियो मे चरित्र की नीव स्थित रहती है। जिस व्यक्ति मे मूलप्रवृत्तियाँ जितनी ही प्रबल होती हैं उसके चरित्र के उतने ही दृढ होने की सम्भावना रहती है। कारण यह है कि मूलप्रवृत्तियो के शोधन से ही चरित्र का निर्माण होता है। यदि मूलप्रवृत्ति प्रबल हुई तो उसका शोधन आवश्यक हो जायगा, अन्यथा अवदमन के परिणामस्वरूप व्यक्ति की दशा दयनीय हो जायगी। मान लीजिये, किसी मे युयुत्सा की प्रवृत्ति बडी प्रबल है। यदि इस प्रवृत्ति का शोधन न किया गया तो व्यक्ति अपने आवेश मे वह जायगा। निर्बलो तथा दुखियो का सताना उसका स्वभाव हो सकता है। पर यदि इसी का शोधन कर दिया गया तो व्यक्ति का चित्त परोपकार तथा देशभक्ति की ओर जा सकता है। चरित्र हमारे सभी अनुभवो और मूलप्रवृत्तियो के प्रभाव से बनता है। अत यदि आदर्श चरित्र अपेक्षित है तो मूलप्रवृत्तियो तथा बालक के विभिन्न अनुभवो पर प्रारम्भ से ही कडी मनोवैज्ञानिक दृष्टि रखनी होगी। यहाँ एक बात पर ध्यान रखना आवश्यक है। बिना मूलप्रवृत्ति के चरित्र खाली घडे के समान होगा, परन्तु वह चरित्र जिसमे मूलप्रवृत्तियो पर नियन्त्रण नही है, बडा अवाछित और निन्दनीय है। कोई प्रबल मूलप्रवृत्ति न अच्छी होती है और न बुरी ही। उसकी अच्छाई अथवा बुराई उसके शोधन अथवा अवदमन पर निर्भर रहती है। यदि आत्म-गौरव की मूलप्रवृत्ति सुसगठित हुई है तो चरित्र अच्छा बनेगा, क्योकि आत्म-गौरव के भाव की ओर ही आत्म के स्थायीभाव केन्द्रित होते हैं।

चरित्र और आदत—

कुछ विचारको के अनुसार चरित्र आदतो का पुञ्ज है। पर यह धारणा भ्रमात्मक है। आदत यान्त्रिक होती हैं। उस पर निर्भर नही रहा जा सकता। आदत से व्यक्ति को कोई ऐसी मानसिक शक्ति नही प्राप्त होती जिससे वह सदैव अपने आचरण को निर्धारित करता रहे। विवेक के अनुसार जो कार्य किया जाता है उसके करने से

अच्छी आदत पड जाती है और वह व्यक्ति के चरित्र का अग बन जाती है। परन्तु वस्तुतः ऐसी आदते स्थायीभाव के रूप मे परिणत हो जाती हैं। चरित्र स्थायीभावो का पुञ्ज होता है, आदतो का नही।

चरित्र और स्थायीभाव[1]—

अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण उच्च स्थायीभावो द्वारा होता है। इन्ही स्थायीभावो के गुणनफल से व्यक्ति का आदर्श अथवा सिद्धान्त बनता है। सच्चरित्र व्यक्ति अपने स्थायीभावो से अपना आत्मसात् कर देता है। फलत. आदर्श की रक्षा के लिये वह अपने सर्वस्व की भी वाजी लगा सकता है। व्यक्ति मे ऐसी वृत्ति स्थायीभावो के सुसगठन से ही आती है। जिसमे इनका सगठन नही होता उनका कोई आदर्श ही नही बन पाता, उनका चरित्र दूसरो के लिये आदर्श नही हो सकता। मैग्डूगल महोदय ने तो आत्माभिमान के भाव को ही चरित्र कहा है। यद्यपि इस मत से सभी लोग सहमत नही; पर यह निर्विवाद है कि स्थायीभावो का स्थान व्यक्ति के चरित्र मे बडा महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति का व्यवहार मूलप्रवृत्तियो अथवा स्थायीभावो द्वारा होता है। पर उसके विचार आचरण को तभी प्रभावित करते हैं जब वे स्थायीभाव का रूप धारण कर लेते हैं। मानव आचरण केवल विचारो द्वारा ही नही, अपितु भावो द्वारा भी होता है। विवेक ही सब कुछ नही कर सकता। उसमे भाव का पुट भी आवश्यक है। बडे-बडे विवेकी अवसर पर पल्थी मारे वैठे दिखलाई पडते हैं। वे क्रियाशील नही होते, क्योकि उनमे भावो का अभाव रहता है। अत. यह आवश्यक नही कि सिद्धान्त छॉटने वाला व्यक्ति सच्चरित्र होगा। सिद्धान्त कार्यान्वित करने के लिये शक्ति की आवश्यकता है और यह शक्ति भाव से ही प्राप्त होती है। यही कारण है कि मनोविज्ञान अथवा दर्शन के ज्ञान से कोई मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक नही बन जाता, क्योकि ज्ञान मात्र ही सब कुछ नही। ज्ञान के साथ भाव अर्थात् कार्यरूप मे परिणत करने की शक्ति व प्रेरणा भी चाहिये। बहुत से कहे जाने वाले दार्शनिक ऐसे हैं जिनका दैनिक जीवन उन्हे पुकार पुकार कर लोलुप का विशेषण देता है, पर यदि उनके विचारो को पढा जाय तो पता चलता है कि मानो निर्विकार ब्रह्म के वे अवतार हैं; कितनी बडी आत्म-प्रवञ्चना है यह! चरित्र-गठन के लिये विचार और कार्य का सामञ्जस्य आवश्यक है। यह सामञ्जस्य बिना स्थायीभाव के सम्भव नही। अत स्पष्ट है कि चरित्र और स्थायीभावो मे घनिष्ठ सम्बन्ध हैं और वहुत अशो मे चरित्र उच्च स्थायीभावो पर ही अवलम्बित है।

चरित्र और संकल्प-शक्ति—

चरित्र और सकल्प-शक्ति मे बडी घनिष्ठता है। जिसकी सकल्प-शक्ति जितनी

---

1. Character and Sentiment.

ही प्रवल होती है उसका चरित्र-वल भी उतना ही दृढ होता है। चरित्रवान् व्यक्ति के कार्य आवेश तथा हठपूर्ण नही होते। ऊपर हम देख चुके हैं कि आवेग और हठ सकल्प-शक्ति की निर्बलता के द्योतक हैं। सच्चरित्र व्यक्ति अपने व्यवहारो मे उच्छृङ्खल नहीं होता। उसके कोई कार्य भय अथवा लोभवश नही होते। अपनी सकल्प-शक्ति के अनुसार कार्य करने को वह कटिबद्ध हो जाता है।

चरित्र विकास[1]

जीवन मे चरित्र का स्थान वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति के सारे सामाजिक व्यवहार चरित्र से ही सचालित होते हैं। यदि चरित्र अच्छा हुआ तो व्यक्ति का व्यवहार अच्छा होगा, अन्यथा वुरा। चरित्र वह मानसिक सगठन हे जो कि मनुष्य की सभी प्रेरणाओ का आधार है। चरित्र में व्यक्तित्व की पूरी छाप रहती है। इस प्रकार चरित्र सारी वृत्तियो का गुणनफल है। इससे व्यक्ति को एक स्थायी स्वभाव मिलता है जिसका प्रभाव उसके आचरण पर सदा पडा करता है। चरित्र-निर्माण के लिये सकल्प-शक्ति की क्रियाशीलता आवश्यक है। अच्छे कार्य करने की आदत बिना सकल्प-शक्ति की सहायता से नही पड सकती। अत. यह आवश्यक है कि वहुत प्रारभ से ही वालक को सकल्प-शक्ति की क्रियाशीलता के लिये अवसर दिया जाय। चरित्र-विकास के लिये बालक का वातावरण ऐसा बना देना है कि वह स्वतन्त्रता का अनुभव कर सके और सकल्प-शक्ति की क्रियाशीलता में किसी प्रकार के विघ्न का अनुभव न करे। उसे ठीक पथ को खोजने की प्रेरणा देनी चाहिए। उसके सामने इतनी बाते हो कि वह विवेक, तर्क तथा उलझन मे पड जाय। ऐसा करने से उसकी सकल्प-शक्ति का विकास होगा और साथ ही साथ चरित्र-वल भी वढेगा। परन्तु ज्ञान के अभाव से कदाचित् वह ठीक रास्ते को न अपना सके, अत. उसे ज्ञान देकर उसकी रुचियो को विकसित करना है। रुचियो के विकसित होने से उसके चरित्र का भी विकास होगा[2]। हरबार्ट ने अपना "वहुरुचि" का सिद्धान्त इसी भावना से प्रतिपादित किया था। इसमे कोई सन्देह नही कि ज्ञान से चरित्र वढता है। ज्ञानहीन व्यक्ति मूर्ख होता है। वह भले व वुरे की पहचान नही कर सकता। फलत. वह चरित्रहीन हो जाता है।

चरित्र-विकास में सकल्प-शक्ति का स्थान[3]—

चरित्र-विकास के लिये सकल्प-शक्ति को शिक्षित वनाना आवश्यक है, क्योकि देखा जाता है कि वडे वडे ज्ञानी, विवेकी और बुद्धिमान सकल्प-शक्तिविहीन होते हैं। पर कभी-कभी अपढ व्यक्ति भी अपार इच्छा-शक्ति वाले दिखलाई पडते हैं।

---

1 Development of Character 2. लेखक द्वारा रचित 'पाश्चात्य शिक्षा का सक्षिप्त इतिहास' देखिये हरबार्ट वाला अध्याय। 3 The Place of Will in the Development of Character.

बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने विवेक का सदुपयोग नही कर पाते। वे यह जानते हुए भी कि क्या करना चाहिये कुछ कर नही पाते। यह उनकी सकल्प-शक्ति की दुबलता का परिचायक है। अतः ज्ञान को उपयोगी बनाने के लिये सकल्प-शक्ति को शिक्षित करना आवश्यक है। इसके लिये कोई निश्चित मार्ग बतलाना कठिन है। जैसे व्यायाम से शरीर को पुष्ट बनाया जाता है उसी प्रकार अभ्यास से सकल्प-शक्ति को भी बढाया जा सकता है। जैसे एक-एक बूँद से समुद्र भरता है वैसे ही साधारण से साधारण बातो पर ध्यान देने से सकल्प-शक्ति अथवा चरित्र का विकास होता है। छोटी बातो को अनावश्यक समझ कर उनकी अवहेलना करना बुद्धिमानी से खाली होगा। जो व्यक्ति छोटी बातो पर ध्यान नही देता वह बडी पर भी ध्यान देना भूल जाता है। अत अभिभावको और शिक्षको को यह देखना है कि एक भी ऐसा अवसर खाली न जाये जिससे बालक की सकल्प-शक्ति का अभ्यास सम्भव हो। नित्य के लिए कुछ न कुछ कार्य अवश्य निर्धारित कर देना चाहिये। इससे उनकी कार्यशीलता सदैव जीवित रहेगी और सकल्प-शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता रहेगा। यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि दिन का आयोजित कार्य पूरा हुआ कि नही, इससे अपनी शक्तियो का सदा ठीक-ठीक अनुमान होता रहेगा। यदि बालक कोई प्रशसा का कार्य करता है तो उसकी प्रशसा अवश्य करनी चाहिये। इससे उसके उत्साह और अभिलाषा की वृद्धि होती है। यदि ऐसा न किया जाय तो उसमे आत्म-हीनता की भावना आ सकती है। कार्य देते समय उनकी शक्तियो का शिक्षको को ठीक-ठीक अनुमान कर लेना चाहिये, अन्यथा अधिक कार्य देने पर वे अपनी असफलता के कारण हतोत्साहित हो सकते हैं। इन सब बातो पर ध्यान देने से बालको मे उच्च स्थायीभावो का विकास हो सकता है। इनके विकास से ही सकल्प-शक्ति का भी विकास सम्भव है।

मूलप्रवृत्तियो के सदृश् सकंल्प-शक्ति के भी ज्ञानात्मक, सवेगात्मक और क्रियात्मक तीन अग होते हैं। यहाँ पर हमारा सम्बन्ध विशेषकर क्रियात्मक अग से है। यर अन्य दो अगो की अवहेलना करना युक्तिसगत न होगा। सकल्प-शक्ति के सवेगात्मक अङ्ग पर विशेष ध्यान देने से व्यक्ति म भावुकता की प्रधानता आ सकती है। भावुकता के कारण व्यक्ति सदा अपने भावो मे ही मग्न रह सकता है। मान लीजिये, वह किसी से प्रेम करता है। भावुकतावश वह अपने प्रेम से ही प्रेम करना प्रारम्भ कर सकता है। दिन रात अपने प्रेमभाव मे डूबा रहता है, पर प्रेय की जो वस्तु है उसके लिए कुछ करने मे वह निरा असमर्थ सिद्ध होता है। इसी प्रकार देशभक्ति की भावुकता में देश के लिये कुछ करने मे वह असमर्थ हो सकता है। ऐसी मानसिक स्थिति कभी वाछनीय नही हो सकती। स्पष्ट है कि सवेगात्मक अङ्ग पर अत्यधिक बल देना लाभ-प्रद नही।

इसी प्रकार सकल्प-शक्ति के ज्ञानात्मक अङ्ग पर भी उचित ध्यान देना है। बालक को यह समझना चाहिए कि बिना सोचे-समझे कोई कार्य करना ठीक नही, अन्यथा परिणाम घातक हो सकता है। भावी फल पर भी दृष्टि रखना आवश्यक है। प्रेय को छोड कर व्यक्ति को श्रेय पर ध्यान लगाना चाहिए। क्षणिक सुख की प्राप्ति से व्यक्ति स्थायी सुख से वचित हो सकता है। आवेशवश किसी कार्य में कूद पडना ठीक नही, आवेश को दबा कर आत्म-सयम प्राप्त करना आवश्यक है। क्योकि सच्चौ सकल्प-शक्ति के अन्तर्गत आत्म-सयम की भावना भी निहित होती है। पर इसके साथ यह भी ध्यान रखना है कि मन 'डाँवाडोल' न हो जाय। डाँवाडोल होने के कारण व्यक्ति साधारण सी बात का भी निर्णय करने मे असफल होता है। यह भी सकल्प-शक्ति की दुर्बलता ही है। अत हमें सामान्यतया सब पर समयानुसार आवश्यक ध्यान देना है। स्कूलो मे क्रियात्मक अङ्ग पर ध्यान कम दिया जाता है। इसके लिये बालको को नित्य कुछ ऐसे काय करने को देना चाहिये जिनसे सकल्प-शक्ति के क्रियात्मक अङ्ग की भी शिक्षा हो।

चरित्र-विकास में नैतिक शिक्षा का स्थान[1]—

चरित्र द्वारा जो कार्य निर्धारित होते हैं उन्हे मूलप्रवृत्त्यात्मक कार्यों की तुलना मे नैतिक कार्य की सज्ञा दी जाती है। "....व्यक्ति का कार्य तब तक नैतिक नही कहा जा सकता जब तक वह दूसरो के सम्बन्ध मे अपने कर्त्तव्य को नही समझ लेता है। अत· नैतिक व्यवहार का सम्बन्ध सामाजिक व्यवहार से हैं।"[2] नैतिक शिक्षा का चरित्र-विकास से बडा घनिष्ठ है। इस भौतिकवाद के युग में सभी लोग नैतिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। अत यह ध्वनि अब स्कूलो में भी सुनी जाती है। पर हमारे भारतीय स्कूलो की परम्परा मे अभी इसको स्थान नही दिया जा सका है, क्योकि यह निश्चय करना कठिन हो रहा है कि इस नैतिक शिक्षा का रूप क्या हो। वास्तव मे नैतिक शिक्षा की समस्या बहुत कठिन है। इतिहास, भूगोल व गणित आदि विषयो की शिक्षा के लिए शिक्षक मिल जाते हैं, पर इसके शिक्षा का उत्तरदायित्व किसी को सौपने मे बडी सतर्कता की आवश्यकता होती है, क्योकि यदि इसका शिक्षक योग्य व्यक्ति न हुआ तो विरुद्ध-निर्देश होने का भय रहता है। दूसरे, नैतिक शिक्षा बालको को स्वभावत: रुचिकर नही हो सकती, क्योकि वे कोरी बात सुनना कम पसन्द करते हैं। उनको प्रत्यक्ष उदाहरण चाहिये और उपदेशो के कार्यान्वित करने के लिऐ अवसर भी। इस समस्या का समाधान आज की शिक्षा की सबसे बडी समस्याओ में से है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी कोरे

---

1. The place of moral instruction in the development of character. 2. डम्विल—"दि फण्डामेण्टल्स ऑव साइकॉलॉजी" अध्याय, १४।

उपदेश से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। रेमॉन्ट[1] का कथन है कि नैतिक उपदेश से बालक अनायास अवाछित बातो से अवगत हो जाते हैं। पर विशेषकर नकारात्मक उपदेशो के ही विषय मे ऐसा कहा जा सकता है। बाल्यकाल के सस्कार स्थायी होते है। यदि बचपन मे ही अच्छे चरित्र की नीव डाल दी जाय तो काम बन सकता है। साहित्य तथा इतिहास के पाठ मे छोटी-छोटी कहानियो द्वारा नैतिक गुणो की ओर सकेत किया जा सकता है। ये कहानियाँ ऐसी हो कि बालक उन्हे पढ कर उपदेश को स्वय समझ ले। उदाहरणार्थ, हितोपदेश की कथा का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। इन कहानियो के पढने से बालक स्वत. आत्म-निर्देशित होता है। अत नैतिक शिक्षा निर्देश के रूप मे देनी चाहिए। भाषण के रूप मे इसे देना मानो पत्थर पर पानी छिडकना है। इस प्रकार चरित्र-विकास मे हम निर्देश के महत्व पर आते है।

चरित्र-विकास में निर्देश व अनुकरण का स्थान[2]—

(१) निर्देश का स्थान—

चरित्र-विकास मे निर्देश के स्थान पर सातवे अध्याय मे सकेत किया जा चुका है। निर्देश मे एक ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति को कही भी ले जा सकती है और कुछ भी करा सकती है। कदाचित् पाठक इस कहानी से परिचित हो.—"एक ब्राह्मण एक छोटा बछडा कन्धे पर लिये हुये घर जा रहा था। बछडे को झटकने के उद्देश्य से रास्ते मे पाँच ठग पाँच स्थान पर उस ब्राह्मण से दूर-दूर बैठ गये। प्रत्येक ने ब्राह्मण से यह कहना प्रारम्भ किया कि वह गधा कन्धे पर लिये जा रहा है। अन्त मे ब्राह्मण को विश्वास हो गया कि वास्तव मे वह गधा ही लिये हुये है। अत बछडे को वही फेक कर उसने अपना रास्ता लिया।" निर्देश के ही प्रभाव से ब्राह्मण ने बछडे को गधा समझ लिया। बालको की यही प्रवृत्ति होती है। यदि उन्हे अच्छी-अच्छी कहानियाँ, वीरगाथा तथा उच्च आदर्श द्वारा प्रोत्साहन दिया जावे, यदि उनसे यह कहा जाय कि वे उन्नति कर रहे है, पर उन्हे और अधिक प्रयत्न करना चाहिये तो वे सचमुच अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न क्षेत्रो मे उन्नति करते जायेगे। इसके विपरीत यदि उन्हे विशेषणो से युक्त कर हतोत्साहित कर दिया गया तो उनका पतन निश्चय है। अत अभिवावको और शिक्षको का परम कर्तव्य है कि बालको के सम्बन्ध मे वे अपने उत्तरदायित्व को समझ कर मनोवैज्ञानिक विधि का अनुसरण करे। जो ससार के कल्याण हेतु कुछ कर सके हैं वे सदैव स्वस्थकर निर्देश के ही वातावरण मे रहे हैं। उनका इतिहास इसका साक्षी है। वीरता, आत्म-त्याग तथा सामाजिक सेवा का उच्च आदर्श सदा उनको उत्साहित करता रहा है। छोटा व कोमल पौधा वातावरण के

---

1. रेमॉण्ट—प्रिन्सीपुल ऑव एडूकेशन, पृष्ठ २३३। 2. The place of suggestion and imitation in the development of character.

साधारण परिवर्तन से भी प्रभावित हो जाता है। साधारण हवा बहने से भी उनका इधर-उधर डगमग होना आरम्भ हो जाता है। बालक एक छोटे पौधे के समान है। जो प्रौढ के लिये बहुत ही साधारण है उसका भी उस पर बडा प्रभाव पड़ता है। अत उसके सामने हमारे मुख से वही बात निकलनी चाहिये जिससे वह प्रभावित हो किसी उच्च आदर्श का ही अनुसरण कर सके।

(२) अनुकरण का स्थान—

अनुकरण के महत्त्व पर भी कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। बालक के सामने जैसा कहा और किया जाता है वैसा ही वह करने की चेष्टा करता है। अभिभावको और शिक्षको को बालक आदर्श रूप मानता है। अत· उन्हे उसके सामने बडा ही सतर्क रहना है। पर प्राय हम अपने उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं और अपने व्यवहार मे कम सतर्क रहते हैं। त्रुटियो के लिये अभिभावक और शिक्षक बालक को डाँट फटकार लगाते हैं। पर ऐसा करते समय वे यह नही सोचते कि उसकी त्रुटियाँ उन्ही के अनुकरण के फलस्वरूप हैं। बालक अपने अभिभावक अथवा शिक्षक का अनुकरण कर कुछ कहता या करता है। पर उसे डाँट खानी पडती है। उसे बडा ही आश्चर्य होता है। यही पर उसे अपने बडो का नग्न चित्र दिखलाई पडता है। उसे उनकी विडम्बना, आडम्बर तथा आत्म-प्रवञ्चना पर हँसी आती है। वह सोचता है कि उसके बड़े वही करते हैं जिसके लिये वे दूसरो को डाँटते हैं। ऐसे लोगो को अभिभावक अथवा शिक्षक होने का अधिकार नही। बालको को केवल कोरे उपदेश देने से कुछ न होगा। उनके सामने 'करके' दिखलाना होगा। यदि अभिभावक और शिक्षक अपने व्यवहार और आचरण मे सुधार करे तो बालको में स्वत· सुधार आ जायगा। अत बालक को सुधारने के पहले अभिभावको को सबसे पहले 'अपने को' सुधारना चाहये।

चरित्र-विकास में लाड़-प्यार का स्थान[1]—

बालक प्रेम का भूखा है। वह सबसे प्रेम चाहता है। बिना प्रेम के बालक का उचित विकास न हो सकेगा, उसे आत्म-विश्वास और प्रोत्साहन न मिल सकेगा। पर बालक के प्रति प्रेम दिखलाने का भी प्रसग और समय होता है। उसकी त्रुटियो के समय उससे प्रेम दिखलाना तथा प्रेम से उचित पथ की ओर सकेत करना चाहिये। उसके साथ हर प्रकार की सहानुभूति दिखलाना आवश्यक है। पर हमारे व्यवहार मे तनिक भी अमनोवैज्ञानिकता न होनी चाहिये। अमनोवैज्ञानिक लाड-प्यार से बच्चे बिगड जाते हैं। यदि पिता किसी नवागन्तुक सज्जन से बाते कर रहा है तो बालक भी आकर अपनी देह पिता की कुर्सी से अथवा शरीर से शरीर रगडने लगता है। देह तोडना,

---

1 The place of love and affection in the development of character.

अँगडाइयाँ लेना, सीटी बजाना, शोर करना अथवा धीरे-धीरे पिताजी से कुछ कहना उसके व्यवहार का साधारण रूप होता है। नवागन्तुक सज्जन तथा पिता के लिए बालक का व्यवहार बडा ही अप्रिय लगता है। यह अप्रियता उनकी मुद्रा से स्पष्ट झलकती है। कदाचित् प्रत्येक पाठक बालक के ऐसे व्यवहार से अवगत होगे। हम मानते है कि बालक का ऐसा व्यवहार उसके आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति का अग हो सकता है, पर इसमें तनिक भी सन्देह नही कि यह पिता द्वारा अमनोवैज्ञानिक लाड-प्यार पाने का ही फल है। बालक की ऐसी मनोवृत्ति उसके आत्म-प्रकाशन के मूलप्रवृत्ति के अवदमन का परिणाम है। पिता बालक को बाहर जाकर अपने समवयस्क के साथ खेलने का अवसर नही देता, या उसका वातावरण ही ऐसा है कि उसे उपयुक्त साथी खेलने को मिलते ही नही। बालक की त्रुटि पर पिता उसे मारता या डाँटता है, किन्तु उसके थोडी ही देर के बाद उसे पुन पुचकारने लगता है। यदि माँ की डाँट या मार से बच्चा रो रहा है तो पिता बाहर से आकर, बिना यह पूछे कि रोने का कारण क्या है, झट उसका आदर करने लगता है। ऐसे बालक बड़े उपद्रवी हो जाते हैं। वे किसी वस्तु के लेने के लिए अड जाते हैं। निर्बल तथा अमनोवैज्ञानिक माता-पिता बिना हानि-लाभ देखे उनकी इच्छाओ की पूर्ति मे सदा लगे रहते हैं। इसी का नाम अमनोवैज्ञानिक लाड-प्यार है। चरित्र-विकास के लिये ऐसा लाड-प्यार घातक है। इससे बालक मे स्वार्थ की प्रवृत्ति घुस जाती है। सामाजिकता का उसमे अभाव हो जाता है। मानसिक उन्नति का उसमें ह्रास हो जाता है। ऐसी स्थिति मे क्या चरित्र-विकास होगा ? अत बालक के विकास के लिये अभिभावकों और शिक्षको को यह समझना चाहिये कि उन्हे कब प्यार दिया जाय और कब डाँट।

चरित्र-विकास में दण्ड का स्थान[1]—

"दण्ड यदि प्रभाव डाल सका तो वह केवल गलत कार्य के करने से रोक सकता है, परन्तु उचित भावना नही उत्पन्न कर सकता"[2] प्रसगानुसार हम पीछे कह चुके हैं कि अवदमन से बालक मे किसी प्रकार का सुधार नही लाया जा सकता। कडे नियन्त्रण से भले ही बाल्यकाल में बालक कुछ शान्त दिखलाई दे, पर बाद मे नियन्त्रण से बाहर आने पर उसके बुरे व्यवहार फिर चलने लगते है। हम अपनी शिक्षा-व्यवस्था से "दण्ड सर्वथा नही निकाल सकते। कभी केवल दण्ड ही ऐसा साधन दिखलाई पडता है जिससे कोई अवाछित आचरण रोका जा सकता है। पर दण्ड का प्रयोग तभी करना चाहिये जब अन्य साधन असफल हो जाँय"[3]। दण्ड देने का उद्देश्य बदला लेना

---

1. The place of punishment in the development of Character.
२. ममफोर्ड—द डॉन ऑव् कैरेक्टर, पृ० ११४। ३. डम्विल—फ़रडामेण्टल्स ऑव् साइ-कॉलॉजी, पृष्ठ, २४२।

नही, वरन् सुधार का है। यदि चरित्र-निर्माण के हित मे आवश्यक हुआ तो दण्ड देना अनुचित नही। पेस्तालॉजी भी इसी मत का पोषक था। उसका शिक्षा आदर्श स्कूल को "प्यार का घर" बनाना था। "यदि स्कूल एक घर है तो उसमें दण्ड दिया जा सकता है, क्योकि माता-पिता भी तो कभी-कभी दण्ड दिया ही करते हैं। माता-पिता के दण्ड देने पर बालक को ग्लानि नहीं होती, क्योकि उसे उनके अभिप्राय मे कभी सन्देह नही होता। शिक्षक का भी व्यवहार ऐसा हो कि दण्ड देने पर बालक उनके आशय मे सन्देह न कर सके। बहुत अच्छा होता यदि दण्ड की आवश्यकता ही न उठती, क्योकि दण्ड का प्रभाव देने और पाने वाले दोनो पर बुरा पडता है। अतः जहाँ तक सम्भव हो इसे दूर ही करने की चेष्टा करनी चाहिये।"[1] बार-बार दण्ड देने से बालक मे आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि पड जाती है। बालक अपने को अयोग्य समझने लगता है। उनकी उन्नति रुक जाती है। चरित्र का विकास कुण्ठित हो जाता है। बालक को कभी-कभी आज्ञा के उलंघन के लिये दण्ड देना आवश्यक होता है। यहाँ दण्ड देते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बालक की उद्दण्डता कही उसकी स्वतन्त्रता-भावना की परिचायक न हो। बहुत कड़ा दण्ड देकर बालक की इस भावना का उन्मूलन न करना चाहिये, अन्यथा बालक का चरित्रबल जाता रहेगा। दण्ड देने की विधि और उसका रूप इस प्रकार का हो कि बाद में सोचने पर बालक उसे स्वय न्यायवद्ध समझ सके। दण्ड की अमनोवैज्ञानिकता तो सिद्ध कर दी गई है। शिक्षा के कर्णधारो ने इसे नियम के प्रतिकूल घोषित कर दिया है। बालक के सुधार मे दण्ड एक निषेधात्मक साधन है। अत जहाँ तक इसका कम प्रयोग किया जाय अच्छा है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

संकल्प शक्ति

निर्णय करने की शक्ति, व्यक्ति में कई प्रकार की चाह, चाह को विचार की कसौटी पर कसना, तव किसी वस्तु के लिए इच्छा प्रकट करना।

सकल्प-शक्ति क्रियात्मक मनोवृत्ति, परस्पर-विरोधी इच्छाये, अन्तर्द्वन्द, इसका निर्णय सकल्प-शक्ति द्वारा, इच्छा और सकल्प-शक्ति में भेद, सकल्प-शक्ति के निर्वलता के कारण आदर्श का कार्यान्वित होना कठिन, सकल्प-शक्ति की निर्लवता से निर्णय-शक्ति का अभाव।

सकल्प की विभिन्न परिभाषा, अभिलाषाओ का स्पष्टीकरण न होने से वालक मे प्रौढ की अपेक्षा सकल्प-शक्ति-कम, दैनिक जीवन में सकल्प शक्ति हर समय समान नही, यह उसके स्वास्थ्य पर निर्भर।

---

१. लेखक द्वारा रचित "पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास, प्रथम सं०, पृ० १६१।

संकल्प-शक्ति मानसिक शक्ति नहीं, प्रकृतिदत्त नही, शिक्षा और विकास का फल, संकल्प-शक्ति मे व्यक्ति का सारा व्यक्तित्व नही ।

निर्णय के प्रकार

पॉच प्रकार के निर्णय, निर्णय पर पहुँचने के पहले कुछ मानसिक स्थितियो को पार करना आवश्यक ।

विवेकयुक्त निर्णय—

सर्वश्रेष्ठ, पर सब नही कर पाते, गुप्त वासनाये वाधक, आदर्श बन जाने पर सरल ।

आकस्मिक निर्णय—

आत्म-वञ्चना का भाव निहित ।

संवेगात्मक निर्णय—

आन्तरिक कारण, अव्यवस्थित चित्त वालो का निर्णय ऐसा ही ।

वाध्य निर्णय—

संयोगवश कार्य करने का निश्चय करना ।

पुनर्विचारात्मक निर्णय—

विचार की परिपक्वता निहित ।

संकल्प-शक्ति और विचार

सकल्प-शक्ति विचारो पर निर्भर, विचार के असगठित होने से निर्णय घातक ।

संकल्प-शक्ति और ध्यान

घनिष्ठ सम्बन्ध, ध्यान न लगने से सकल्प-शक्ति का घटना, मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओ की पूर्ति मे सकल्प-शक्ति की आवश्यकता नही, आत्मसंयम सकल्प-शक्ति की प्रबलता से प्राप्त, वासना-तृप्ति मे लीन व्यक्तियो मे सकल्प-शक्ति का अभाव ।

संकल्प-शक्ति, आवेश और हठ

आवेश —

आवेश मे कार्य करना सकल्प-शक्ति की निर्बलता का द्योतक, सकल्प-शक्ति की प्रबलता आत्म-गौरव के स्थायीभाव पर निर्भर ।

हठ —

हठ सकल्प-शक्ति की दुर्बलता का द्योतक, हठ चरित्र विकास के लिये घातक ।

चरित्र

चरित्र और मूलप्रवृत्तियाँ—

सकल्प-शक्ति तथा आत्म-गौरव के स्थायीभाव का दूसरा नाम, मूलप्रवृत्तियो में चरित्र की नीव, मूलप्रवृत्ति की प्रबलता पर चरित्र की दृढता निर्भर, मूलप्रवृत्तियो के शोधन मे ही चरित्र का निर्माण, मूलप्रवृत्तियो पर नियन्त्रण बिना चरित्र दूषित।

चरित्र और आदत—

चरित्र आदतो का पुञ्ज नही, आचरण को निर्धारित करने के लिये आदत से मानसिक शक्ति का प्राप्त न होना।

चरित्र और स्थायीभाव—

स्थायीभावो से सच्चरित्र व्यक्ति का आत्मसात्, सिद्धान्त छाँटने वाला व्यक्ति का कभी-कभी सच्चरित्र न होना, सच्चरित्र होने के लिये भाव का होना आवश्यक, चरित्रगठन के लिये विचार और कार्य का सामञ्जस्य आवश्यक, यह सामञ्जस्य स्थायी-भावो से ही प्राप्त।

चरित्र और सकल्प-शक्ति—

घनिष्ठता, चरित्रवान् व्यक्ति के कार्य आवेश और हठपूर्ण नही, चरित्रवान् व्यक्ति सकल्प-शक्ति के अनुसार कार्य करने को कटिबद्ध।

चरित्र-विकास—

सारे सामाजिक व्यवहार चरित्र से ही सञ्चालित, चरित्र सभी उच्च प्रेरणाओं का आधार, चरित्र सारी अर्जित वृत्तियो का गुणनफल, चरित्र से स्थायी स्वभाव की प्राप्ति, सकल्प-शक्ति की क्रियाशीलता आवश्यक, चरित्र-विकास के लिये विवेक, तर्क तथा उलझन की सहायता, रुचियो को विकसित करना, ज्ञान से चरित्र की वृद्धि।

चरित्र-विकास मे संकल्प-शक्ति का स्थान—

ज्ञान के उपयोग के लिये सकल्प-शक्ति का शिक्षित होना आवश्यक, अभ्यास से सकल्प-शक्ति को प्रबल बनाना छोटी-छोटी बातो पर ध्यान देना, नित्य के लिये कुछ कार्य निर्धारित कर देना, प्रशसा देना आवश्यक, कार्य देते हुए बालक की सीमित शक्तियो पर ध्यान देना।

इच्छा के सवेगात्मक अग पर ध्यान देने से भावुकता की प्रधानता, पर इस पर अधिक ध्यान देना वाछनीय नही।

ज्ञानात्मक अग पर भी ध्यान देना आवश्यक, बिना सोचे-समझे कार्य करना ठीक नही, क्रियात्मक अग की अवहेलना नही।

चरित्र-विकास में नैतिक शिक्षा का स्थान—

घनिष्ठ सम्बन्ध, उपदेश से प्रत्यक्ष उदाहरण अधिक लाभप्रद, बचपन से ही अच्छे चरित्र की नींव डालना, इतिहास तथा साहित्य के पाठ मे छोटी कहानियो द्वारा नैतिक गुणो की ओर सकेत, उपदेश सकेत रूप मे।

चरित्र-विकास में निर्देश व अनुकरण का स्थान—

निर्देश का स्थान—

वीरगाथा तथा उच्च आदर्श द्वारा निर्देश देना, वातावरण का स्वस्थकर होना आवश्यक।

अनुकरण का स्थान—

शिक्षक और अभिभावक को सतर्क रहना, उन्हे अपने व्यवहार और आचरण में सुधार करना आवश्यक।

चरित्र-विकास में लाड़-प्यार का स्थान—

बिना प्रेम के बालक का उचित विकास सम्भव नही, त्रुटियो से प्रेम दिखलाना, अमनोवैज्ञानिक लाड प्यार हानिकर, उचित वातावरण आवश्यक सभी इच्छाओ की पूर्ति आवश्यक नही, प्यार और डाँट देने के समय को समझना आवश्यक।

चरित्र-विकास में दण्ड का स्थान—

दण्ड से सुधार सम्भव नहीं, पर दण्ड कभी-कभी आवश्यक, दण्ड से आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि के पडने का डर, दण्ड का रूप ऐसा हो कि बालक उसे न्याय-बद्ध समझ सके, दण्ड का कम प्रयोग अच्छा।

सहायक पुस्तकें

१—डम्विल—द फण्डामेटल्स ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय १४।

२—जेम्स—प्रिन्सीपुल्स ऑव साइकॉलॉजी भाग १, अध्याय १०।

" " " " " २, " १७।

३—मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १७।

४— " —सोशल साइकॉलॉजी, अध्याय ७, ११।

५—रेमॉण्ट—दी प्रिन्सीपुल्स ऑव एडूकेशन ३२८–३२९।

६—अरिस्टॉटिल—एथिक्स, १, ८, (१२)।

७—स्टाउट—मैनुअल ऑव् साइकॉलॉजी, भाग ४, अध्याय ७, १०।

८—शैण्ड—द फाउण्डेशन्स ऑव् कैरेक्टर, भाग १।

९—डीवी—ह्यूमन नेचर ऐण्ड कॉण्डक्ट।

१०—ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय।
११—ममफोर्ड—द डॉन ऑव् कैरेक्टर।
१२—उडवर्न—ह्यूमन नेचर ऐण्ड एडूकेशन।
१३—लालजीराम शुक्ल—सरल मनोविज्ञान, प्रकरण, १५।
१४—थॉमसन—इंस्टिक्ट, इन्टेलीजेन्स ऐण्ड कैरेक्टर, अध्याय २२।
१५—हैडफिल्ड जे० ए०—साइकॉलॉजी ऐण्ड मॉरल्स।

१२

समूह मनोविज्ञान[1]

मनुष्य की कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जो उसे सामाजिक बना देती है। समाज के ही संघर्ष मे आकर वह अपने आत्म-गौरव की प्रवृत्ति की सन्तुष्टि कर सकता है। उसकी सामूहिकता की प्रवृत्ति का तात्पर्य ही यह है कि वह सामूहिक प्राणी है। सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण जैसी प्रवृत्तियो का आधार ही सामूहिकता है। आठवे अध्याय मे इनका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। सहानुभूति का प्रदर्शन किसी दूसरे के लिये ही किया जाता है। अकेले कमरे मे बैठे-बैठे इसका प्रदर्शन केवल मानसिक रोगी ही करता है। आत्म-निर्देश को छोड निर्देश का भी सम्बन्ध समूह ही से है। अनुकरण का तात्पर्य ही दूसरे का अनुकरण करना है। इन प्रवृत्तियो के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने समूह-मनोविज्ञान की चर्चा की है। समूह-मनोविज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान की महत्वपूर्ण देन है। उन्नीसवीं शताब्दी तक मनोवैज्ञानिको का ध्यान केवल व्यक्तिगत अनुभव के अध्ययन तक ही सीमित था। बीसवी शताब्दी के मनोविज्ञान की परिभाषा मे 'व्यवहार के अध्ययन' का समावेश किया गया। इसके फलस्वरूप समूह-मनोविज्ञान की कल्पना की गई। समूह विभिन्न व्यक्तियो का योगमात्र नही। समूह का मन[2] उसके सदस्यो के विभिन्न मन का पुञ्ज नही है, अपितु कुछ और ही है। समूह-मन[3] व्यक्ति के मन[4] से सर्वथा भिन्न होता है। व्यक्ति समूह मे या तो किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए रहता है, अथवा कुछ तात्कालिक आदर्शो की रक्षा के लिए समूह में वह स्वाभाविक प्रेरणा से रहता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कई प्रकार के समूह का उल्लेख किया जा सकता है। यह कहा जाता है कि समूह की यह विशेषता है कि इसके सदस्य प्राय एक ही स्वर में सोचते, अनुभव और कार्य करते हैं। यदि समूह के किसी सदस्य के विचार, भाव और कार्य समूह से भिन्न हैं तो वह समूह मे रहता हुआ भी समूह का अग नही हुआ; क्योकि उसके व्यक्तित्व और समूह के व्यक्तित्व में सामञ्जस्य नही आ सका। कहने का तात्पर्य यह कि समूह का सदस्य होने का अर्थ अपने व्यक्तित्व को समूह की सदस्यता-काल तक भूल जाना है। स्पष्ट है कि समूह का सोचना, अनुभव तथा कार्य उसके विभिन्न सदस्यो से भिन्न होता

1. Group Psychology. 2. Mind. 3. Group Mind. 4. Individual Mind.

है। समूह-मन सदस्यो के मन का औसत नही है। लीबोन समूह के बारे मे इस प्रकार कहता है:—"किसी समूह को वनाने वाले विभिन्न व्यक्ति अपने स्वभाव, बुद्धि तथा कार्य में एक दूसरे से कितने ही भिन्न क्यो न हो, पर एक समूह में आने के कारण उनके पास एक समूह-मन आ जाता है जिससे वे एक विशिष्ट रूप मे सोचने, अनुभव तथा कार्य करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। यह विशिष्ट रूप उनके व्यक्तिगत रूप से सर्वथा भिन्न होता है।[1]

अव यहाँ यह प्रश्न उठता है कि समूह-मन यह विशिष्ट रूप क्यो धारण करता है ? इस प्रश्न के उत्तर की ओर ऊपर सकेत किया जा चुका है। हमारी कुछ प्रवृत्तियाँ सामाजिकता की ओर सकेत करती हैं। इन प्रवृत्तियो के प्रभाव मे आकर व्यक्ति का अपने व्यक्तित्व को भूल जाना बिलकुल स्वाभाविक है। सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण के प्रभाव मे आकर व्यक्ति दूसरो के ही अनुसार आचरण करता है। सम्भव है कि उसका यह आचरण उसके व्यक्तित्व के योग्य न हो। यही कारण है कि भीड मे रह कर हम कुछ ऐसे कार्य कर वैठते हैं जिसकी अकेले हम कल्पना भी नहीं कर सकते। होली के समय कुछ लोग समूह मे कितने अश्लील गाने गाते और वाते करते पाये जाते हैं ? कदाचित् अकेले ऐसा करने का वे सोच भी नही सकते। समूह में सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण का प्रभाव शीघ्र पडता है। यही कारण है कि सडक पर किसी दुर्घटना के कारण जो झगडा खडा होता है उसमे सभी देखने वाले अनायास भाग लेते हैं। यदि अकेले झगडा करना होता तो कदाचित् वे ऐसा न करते। किसी भाषण को सुन भीड के सभी सदस्य इतने प्रभावित हो सकते हैं कि वे अपनी जान तक न्यौछावर करने को तैयार हो सकते हैं, आर्थिक सहायता तुरन्त देने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार समूह मनोविज्ञान बड़ा भयानक और लाभप्रद दोनो सिद्ध हो सकता है। इसी मनोविज्ञान के प्रभाव स्वरूप दगो के समय एक जाति के लोग दूसरो का पिशाच के सदृश् सहार करते हैं, यदि अकेले सहार करने की वात आती तो कदाचित् वे उसकी कल्पना तक भी न करते। समूह मनोविज्ञान के ही प्रभाव से जहाँ भीड के सदस्य ने भागना प्रारम्भ किया वहाँ दूसरे भी बिना कारण समझे ही भगदड मचा देते हैं। समूह मनोविज्ञान की सहायता से वडे वडे सेनापतियो, राज-नीतिज्ञो तथा भाषण-वक्ताओ ने क्या क्या सफलता नही प्राप्त की है ?

वास्तव मे समूह के प्रभाव में आकर; जैसा ऊपर कहा गया है, व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत मनोवृत्ति भूल जाता है, और उसका आचरण भीड की मनोवृत्ति के अनु-सार होता है। "व्यक्ति की अपेक्षाकृत समूह की भावना व विचार प्राय निम्न कोटि का होता है, पर वह कभी-कभी उससे ऊँचा भी हो सकता है।"[2] समूह की आलोच-

---

1. लीबोन, द क्रॉउड, पृष्ठ २६। 2. रॉस—ग्राउण्डवर्क ऑव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १५ पृ०, २५०।

नात्मक शक्ति व्यक्ति की शक्ति से बहुत कम हो सकती है; क्योकि समूह मे कई व्यक्तित्व पाये जाते हैं। समूह की आलोचनात्मक तथा तर्क-शक्ति उसकी श्रेणी पर निर्भर रहती है। यदि शिक्षित लोगो का समूह हुआ तो उनके मस्तिष्क की छाप समूह की मनोवृत्ति मे अवश्य दिखलाई पड़ेगी। समूह मे लोग भावो के अनुसार अधिक चलते हैं। वहाँ तर्क और विवेक पर कम ध्यान दिया जाता है। अतः किसी विशिष्ट व्यक्ति का तर्क और विवेक समूह की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत दीख सकता है। यदि समूह अशिक्षित व मूर्खों का हुआ तो उनकी मनोवृत्ति की छाप समूह पर आयेगी। इस प्रकार समूह की मनोवृत्ति उसके विभिन्न सदस्यो की मनोवृत्ति का गुणनफल व साराश है, पर योग नही। समूह का तर्क, बुद्धि तथा निर्णय इत्यादि सव उसके नेता पर निर्भर रहता है। स्पष्ट है कि नेता चाहे जिधर समूह को नचा सकता है। पर उसका उत्तरदायित्व सरल नही। इस उत्तरदायित्व की चर्चा अध्याय के अन्त में प्रसगानुसार की जायगी।

समूहों का वर्गीकरण[1]

मैग्डूगल ने समूह का दो प्रकार का विस्तृत वर्गीकरण किया है—स्वाभाविक और कृत्रिम। स्वाभाविक वर्ग के अन्तर्गत रक्त-सम्बन्धी और भौगोलिक दो प्रकार के समूह का मैग्डूगल ने उल्लेख किया है। कृत्रिम के अन्तर्गत प्रयोजनात्मक[2], पारस्परिक[3] तथा मिश्रित[4] तीन प्रकार के वर्ग आते है। मैग्डूगल का वर्गीकरण सामाजिक दृष्टिकोण का जान पडता है। ड्रेवर ने मानसिक विकास के के आधार पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सभी प्रकार के समूहो के तीन वर्ग बनाया है· हमारे मानसिक विकास की तीन श्रेणी होती हैं: प्रत्यक्षात्मक[5], विचारात्मक[6] तथा विवेकात्मक[7]। इनका कुछ उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। पर प्रसगानुसार इनका यहाँ पुष्टिपेषण अरुचिकर न होगा। हमारे प्रत्यक्षात्मक व्यवहार निम्नकोटि के होते हैं। इसमें हमारी मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया ही प्रधान हुआ करती है। विचारात्मक व्यवहार प्रत्यक्षात्मक से ऊँचा होता है। इसमे व्यक्ति की रुचियो और स्थायीभावो का कुछ समावेश हो जाता है और उसके व्यवहार प्रत्यक्षामत्क न होकर स्थायीभावो द्वारा नियन्त्रित होते है। तृतीय श्रेणी विवेकात्मक व्यवहार की होती है। यह श्रेणी सर्वश्रेष्ठ है। इस सीमा तक पहुँचने मे व्यक्ति को अपना आदर्श बना लेना होता है। हम कह चुके हैं कि 'आदर्श' विभिन्न मूलप्रवृत्तियो के शोधन तथा 'आत्म-गौरव' के स्थायीभाव का परिणाम होता है। जैसे व्यक्ति के विकास की ये तीन श्रेणियाँ होती हैं उसी प्रकार समूह के विकास की भी तीन श्रेणियाँ होती हैं .—भीड[8] गोष्ठी[9] तथा समाज[10]। नीचे हम तीनो पर अलग अलग अति सक्षेप मे विचार करेंगे।

---

1. Classification of Groups 2. Purposive. 3. Traditional. 4. Mixed. 5. Perceptual level. 6. Ideational level. 7. Rational. 8. Crowd. 9. Club. 10. Community.

भीड़

भीड को हम प्रत्यक्षात्मक कोटि का समूह मान सकते हैं। किसी स्थान पर किसी बात के हो जाने पर लोग यकायक वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। उनके एकत्रित होने का कुछ उद्देश्य अवश्य होता है, पर यह उद्देश्य तत्काल ही वनता है, उसके विषय मे पहले से कुछ निर्णय नही हुआ रहता। मोटर से साइकिल भिडी। कुछ लोग एकत्रित हो गये और सहानुभूति, निर्देश अथवा अनुकरण के आधार पर उनमे कुछ क्रियाशीलता आ गई। कुछ लोगो का यह कहना कि भीड मे समूह-मन नही होता भ्रमात्मक है। भीड का समूह-मन पशु-मन के समान होता है। जहाँ कुछ खटका हुआ कि सभी भेडे अथवा गायें दौड कर एक स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं। इस प्रकार का एकत्रित होना आत्म-रक्षा की भावना से होता है। मन की क्रिया प्रवृत्त्यात्मक है। इसी प्रकार भीड की भी क्रिया प्रवृत्त्यात्मक होतो है। उदाहरणार्थ, मोटर-साइकिल घटना पर भीड़ कुछ प्रयोजन और उद्देश्य से ही एकत्रित होती है, हाँ, यह ठीक है कि यह प्रयोजन और उद्देश्य वडा अस्थायी होता है। भीड बहुधा उत्सुकता-सम्बन्धी भावना को लेकर एकत्रित होती हैं और उसकी सन्तुष्टि के बाद छिन्न-भिन्न हो जाती है।

गोष्ठी

गोष्ठी कई प्रकार की होती है। इसका प्रयोजन स्वास्थ्य, कला, साहित्य, सङ्गीत, राजनीति, खेल तथा व्यापार आदि हो सकता है। इसका उद्देश्य पहले ही से निश्चित होता है। सदस्यगण कुछ निश्चित विचार से इसमें एकत्रित होते हैं। पर यह विचार वहुत सीमित होता है। यही कारण है कि गोष्ठी सदस्यो के जीवन के सभी अगो पर विचार नही करती। जीवन के विभिन्न अगो के लिये व्यक्ति कई गोष्ठियो का सदस्य हो सकता है। प्रत्येक गोष्ठी का अपना एक विधान होता है। गोष्ठी के समय इसी विधान के अनुसार सब को चलना होता है। इस विधान की अवहेलना करने पर व्यक्ति को गोष्ठी द्वारा दिये गये दण्ड का भागी होना पडता है, अथवा उसकी सदस्यता जाती रहती है। इस प्रकार गोष्ठी भीड से ऊँचा समूह है, और यह कहा जा सकता है कि इसका आधार विचारात्मक होता है। अत इसका समूह-मन भीड के मन से अच्छा होता है। गोष्ठी-मन की क्रिया केवल प्रवृत्त्यात्मक ही नही होती, वरन् उस पर अतीत की स्मृतियो और स्थायीभाव का भी प्रभाव रहता है। इस प्रकार गोष्ठी-मन का गठन अधिक सुदृढ और प्रयोजनात्मक होता है।

समाज

समाज उत्कृष्ट कोटि का समूह है। इसका सगठन गोष्ठी के सदृश् केवल किसी निश्चित उद्देश्य से ही नही होता, अपितु एक आदर्श को लेकर होता है। इस आदर्श

की रक्षा करना उसके सदस्य अपना कर्त्तव्य समझते हैं। समाज में व्यक्ति अपने को समाज के हितो से आत्मसात् कर देता है और उसका सारा परिश्रम समाज-हित के लिये होता है। पर इसका तात्पर्य यह नही कि वह अपना व्यक्तित्व खो बैठता है। समाज का संगठन ऐसा होता है कि अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए भी व्यक्ति समाज-हित का पूरा ध्यान रख सकता है। डाक्टर, इजीनियर, शिक्षक, कलाकार तथा सङ्गीतज्ञ आदि होता हुआ भी व्यक्ति अपने क्षेत्र में समाज के आदर्श के अनुसार कार्य कर सकता है। समाज का उद्देश्य व्यापक और स्थायी होता है। उसके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन के सभी अङ्ग आ जाते है। राष्ट्र इसी प्रकार का समाज कहा जा सकता है। जैसे व्यक्ति मे आत्मोत्कर्ष की चेतना होती है, उसी प्रकार आज राष्ट्र में भी यह चेतना देखी जा रही है। प्रत्येक राष्ट्र अपना भाग्य-विधाता होना चाहता है। उसका एक आदर्श होता है। इस आदर्श की रक्षा मे वह अपना सब कुछ लगा देने को तैयार हो सकता है। विवेक की स्थिति पर व्यक्ति-मन में भी इन्ही सब भावनाओ का सचार होता है। अत राष्ट्र जैसा समूह आदर्श कहा जा सकता है। इसके तत्वावधान में व्यक्ति अपनी सभी मनोकामनाये पूरी कर सकता है। ड्रेवर के अनुसार "ऐसा समूह उत्कृष्ट कोटि के मनोवैज्ञानिक विकास पर पहुँचा हुआ होता है। इसमे केवल कुछ सामान्य परम्परा तथा स्थायीभाव ही नही होते, वरन् प्रयोजन और आदर्श भी। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन का कोई विशिष्ट अङ्ग ही नही आता, वरन् उसके जीवन सम्बन्धी सारी बाते आ जाती हैं ?"[1]

स्कूल का संगठन[2]

स्कूल भी एक मनोवैज्ञानिक समूह है। इसका सगठन विवेकात्मक अर्थात् किसी आदर्श के आधार पर होना चाहिये। अपनी "द ग्रूप माइण्ड"[3] नामक पुस्तक मे मैग्डूगल ने समूह-मन के निर्माण के लिये कुछ आवश्यक बातो का उल्लेख किया है। उसके आधार पर हम यह निश्चय कर सकेंगे कि स्कूल किस प्रकार का समूह है और उसको आदर्श-समूह बनाने के लिये किन-किन बातो पर ध्यान देना चाहिये।

'समूह का स्थायित्व' आदर्श समाज-सस्थापन की पहली आवश्यकता है। भीड मे समूह का स्थायित्व नही रहता। थोडी देर भीड जमी है, फिर एक दो करके सब निकल जाते हैं। गोष्ठी मे कुछ स्थायित्व हमे दिखलाई पडता है, पर यह स्थायित्व व्यापक नही। इसका क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है। समाज का स्थायित्व अनुकरणीय है। समाज का विनाश करने का तात्पर्य व्यक्ति के विनाश से होगा। स्कूल मे समाज

---

१ ड्रेवर--ऐन इन्ट्रोडक्शन टु एडूकेशनल साइकॉलॉजी--पृष्ठ २१५। 2. The organization of School 3 ग्रुप माइण्ड—पृष्ठ ४०, ५०।

ही के सदृश् कुछ स्थायित्व दिखलाई पडता है। स्कूल भीड के समान नही, यहाँ लोग अपनी इच्छानुसार आते हैं, और न यह गोष्ठी के ही सदृश् है। स्कूल मे कुछ वर्षो तक लडके पढते हैं। एक दूसरे के साथ उनका सम्पर्क होता है। जीवन की विभिन्न समस्याओ पर यहाँ विचार किया जाता है। जैसे समाज मे व्यक्ति पारस्परिक सघर्ष द्वारा अनेक गुण सीखता है उसी प्रकार स्कूल मे भी बालक विभिन्न प्रकृति के बालको के सम्पर्क मे आकर आदर्श गुणो का समावेश अपने चरित्र मे करता है। जैसे समूह में व्यक्ति सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण के आधार पर क्रियाशील हो उठता है उसी प्रकार स्कूल मे भी बालक अधिकाश बाते इन्ही सब के आधार पर सीखता है। शिक्षक किसी व्यक्ति अथवा घटनास्थल के प्रति सहानुभूति प्रकट करता है। इस सहानुभूति का अनुभव करना बालक का स्वभाव होता है। यही बात निर्देश अथवा अनुकरण के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। परन्तु स्कूल मे इन सब प्रवृत्तियो का उपयोग जान बूझकर किसी उद्देश्य से किया जाता है। अत 'स्कूल' भीड अथवा गोष्ठी ऐसे समूह से बहुत ऊँचा उठ जाता है। उसमे आदर्श समूह बनने की क्षमता दिखलाई पडती है।

दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि 'प्रत्येक सदस्य समूह के रूप की समीक्षा करे और उसके कर्त्तव्य और योग्यता को ठीक से समझे'। बिना इसे समझे व्यक्ति समूह के प्रति अपने कर्तव्य को नही समझ सकता। जिस समाज के व्यक्ति स्वार्थान्ध हो जाते हैं उसका कल्याण नही हो सकता। किसी भी देश का इतिहास इसका साक्षी है। यदि हम समाज से कुछ लेना चाहते हैं तो उसके प्रति हमारा कुछ उत्तरदायित्व भी है। समाज के सभी व्यक्तियो का मन एक होना चाहिये, उनकी नस-नस मे एक ही आवेश की दौड होनी चाहिये। सामाजिक भावना से सभी को ओत-प्रोत रहना चाहिये। सामाजिक भावना की जागृति स्कूल से ही की जा सकती है। स्कूल मे कुछ ऐसे कार्यो का सगठन करना चाहिये जिससे बालको मे सामाजिकता का विकास हो। हमारी ऐसी चेष्टा हो कि प्रत्येक बालक समझे कि स्कूल में पढने वाले सभी एक ही परिवार के सदस्य हैं। इस भावना के विकास के लिये उन्हे स्कूल के तत्वावधान में किसी सामूहिक कार्य मे भाग लेना होगा। इसके लिये, नाटक, वार्षिकोत्सव तथा खेल-कूद आदि का उपयोग किया जा सकता है। देशभक्ति उत्पन्न करने के लिये कुछ समाज-सेवा-सम्बन्धी कार्य बालको से कराये जा सकते हैं।

सामाजिक भावना का पूर्ण विकास केवल अपने ही समूह में रहने से सम्भव नही। अत 'विभिन्न आदर्श और उद्देश्य वाले दूसरे समूहो के सम्पर्क मे आना' तीसरी आवश्यकता है। इस सम्पर्क से अपनी सीमा का अनुमान हो जाता है और कमी को पूरा करने का उत्साह आता है। दूसरो के सम्पर्क मे आने से सहकारिता, प्रतियोगिता अथवा शत्रुता का भाव उत्पन्न होता है, पर इसमे सन्देह नही कि इससे सामूहिकता की

भावना का बडा विकास होता है, और समूह मे आत्म-चेतना आ जाती है। खेल तथा वाद-विवाद आदि मे स्कूलो की परस्पर-प्रतियोगिता से बालको मे अपने स्कूल के प्रति एक अनुराग उत्पन्न हो जाता है। सभी लोग अपने स्कूल को विजयी देखना चाहते है। उस अवसर पर स्कूल के आत्म-सम्मान के लिये बालक क्या-क्या करने को तैयार नही हो जाते ? यदि इस प्रकार की प्रतियोगिता का मनोवैज्ञानिक ढग पर आयोजन किया जाय तो इससे सामाजिक भाव का बड़ा विकास होगा, पर यह ध्यान रहे कि ऐसे आयोजन शत्रुता का रूप धारण न कर ले। कहने की आवश्यकता नही कि स्कूल के आदर्श बहुत ऊँचे होने चाहिये।

सामाजिक-भावना के विकास के लिये चौथी आवश्यकता 'समूह की अपनी एक परम्परा' है। यह परम्परा ऐसी हो कि उसका प्रत्येक सदस्य को गर्व हो और उसी से सब लोग एक दूसरे तथा समूह के प्रति अपने सम्बन्ध समझे। इस परम्परा के कारण प्रत्येक सदस्य उसकी रक्षा के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करेगा। जो स्कूल सदा खेल या परीक्षा मे अन्य स्कूलो मे प्रथम आता है उसके विद्यार्थी सदा स्कूल की प्राचीन परम्परा की रक्षा का प्रयत्न करते है। उन्हे अपने स्कूल को सदैव ऊँचा रखने की चिन्ता होगी। जो स्कूल 'विनय'[1] के लिये प्रसिद्ध होता है उसके विद्यार्थी कोई ऐसा कार्य नही करना चाहते जिससे स्कूल के आत्म-सम्मान पर धक्का लगे। मनोवैज्ञानिक प्रधानाध्यापक स्कूल के इस सम्मान की रक्षा के लिये अवसरानुसार बालको को उत्साहित किया करते है। प्रत्येक स्कूल को अपनी एक परम्परा बना लेनी चाहिये। यह सत्य है कि यह परम्परा धीरे-धीरे वर्षो मे बनती है, पर परम्परा की चेतना तो बालको को प्रारम्भ मे ही दी जा सकती है। यह परम्परा विशेषकर आचरण की शुद्धता, बौद्धिक, शारीरिक तथा अन्य गुणो के विकास के सम्बन्ध मे होनी चाहिये।

समाज के सदस्यो के कर्तव्य का विभाजन करना मैग्डूगल के अनुसार समाज की पाँचवी आवश्यकता है। यदि कर्तव्य का विभाजन न किया जाय तो व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझ ही न पावेगा ? एक व्यक्ति एक विशिष्ट प्रकार का ही कार्य कर सकता है। इसके लिये सबकी योग्यता और रुचि का पता लगाना आवश्यक है। अपनी रुचि के अनुसार कार्य पा जाने पर व्यक्ति उसे बहुत अच्छी प्रकार करता है। उसे आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। ऐसे ही व्यक्ति दूसरे के नेता हो सकते है। यदि भीड को हमे आदर्शरूपी समाज मे परिवर्त्तित करना है तो हमे योग्य व्यक्तियो को खोज कर उन्हे नेता बनने की शिक्षा देनी होगी। आजकल जनतन्त्र का युग है। विना योग्य नेता के समाज का कल्याण सम्भव नही। अत. नेता के कुछ आवश्यक

---

1. Discipline.

गुणो की यहाँ चर्चा कर देना अनुपयुक्त न होगा। इसके बाद हम यह भी देखेंगे कि स्कूल इस कार्य मे कहाँ तक योग दे सकता है।

सामूहिक जीवन मे नेता का स्थान[1]

नेता को मानव की इच्छाओ और आशाओ से भली-भाँति परिचित होना चाहिये, क्योकि इसके बिना वह लोगो का उचित प्रथ-प्रदर्शन न कर सकेगा। उसे व्यक्ति की अभिलाषाओ का इस प्रकार नियन्त्रण करना है कि उनकी चरमसीमा सामाजिक सहकारिता में ही पहुँचे। नेता अपने इस उत्तरदायित्व का सफल सम्पादन तब तक नही कर सकता जब तक वह स्वय आत्म-सयम की शक्ति न पा ले। विना इस शक्ति के वह स्वय स्वार्थ के गर्त मे गिरता रहेगा। आत्म-सयम के न होने से देश के पुराने भक्त पद पा जाने पर अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये क्या-क्या नही करते ? वर्षो की परतन्त्रता से मुक्त हुए किसी देश का इतिहास इसका साक्षी है। समाज के नेता बनने की योग्यता किस व्यक्ति मे है इस ओर स्कूल बहुत अच्छी प्रकार सकेत कर सकता है। इतना ही नही, वरन् यदि हम यह कहे कि यह स्कूल का ही कर्तव्य है तो अत्युक्ति न होगी। नेता का प्रथम कार्य यह देखना है कि प्रत्येक व्यक्ति का समुचित विकास हो रहा है या नही। इसके लिये उसे हर एक का अध्ययन उसके सामाजिक सम्बन्ध मे करना पडेगा। यह अध्ययन ही उसे उचित नीति-निर्धारण मे सहायक हो सकता है। शिक्षा और समाज के कर्तव्य मे क्या सम्बन्ध है ? दोनो व्यक्ति को इस योग्य बनाना चाहते हैं कि वह समाज मे अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके। अत अनुकूल वातावरण की आवश्यकता है, जिससे सब लोग अपनी योग्यता का अनुमान लगा सके। अनुकूल वातावरण का आयोजन करना नेता का ही कार्य है। नेता के गुण समाज में कार्य करने से ही प्राप्त हो सकते है। दूसरो के साथ सोचने और अनुभव करने से ही दूसरो को समझा जा सकता है। व्यक्तित्व का विकास घर बैठे-बैठे विचार-मग्नता से सम्भव नही। कुछ लोग बहुत उत्साह से दूसरो की शिक्षा मे रुचि लेते हैं, परन्तु ये लोग अपने सरक्षितो को यह सिखाना भूल जाते हैं कि उन्हे भी इस प्रकार दूसरो की शिक्षा मे रुचि और उत्साह दिखलाना है। यदि इस आवश्यक बात की अवहेलना न की जाती तो समाज में आज इतना असन्तोष न दिखलाई पडता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नेतृत्व की शक्ति के लिये मानव स्वभाव तथा उस पर प्रभाव डालने वाली बातो का गहन अध्ययन आवश्यक है। इसके लिये ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता है जो दूसरो मे विश्वास उत्पन्न कर सके। दूसरे विश्वास

1. The place of Leader in the group life.

उत्पन्न करने की क्षमता उसी मे हो सकती है जो स्वयं अपने मे विश्वास करता है। अतः सच्चा नेता वही है जो अपने तथा दूसरो मे विश्वास करता है। ऐसा ही नेता उत्तरदायी और आत्म-नियन्त्रित व्यक्तियो को उत्पन्न कर सकता है। योग्य नेता के सहारे व्यक्ति आदर्शरूप वीरता का प्रदर्शन कर सकता है। अयोग्य नेता समूह से घृणित से घृणित कार्य करा सकता है। यदि समूह का नेतृत्व व सगठन अच्छी प्रकार किया गया तो समूह की मनोवृत्ति व्यक्तिगत मनोवृत्ति से उत्तम हो सकती है और व्यक्ति अपने को नेता के व्यक्तित्व मे छिपा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि सामाजिक जीवन के लिये योग्य नेतृत्व नितान्त आवश्यक है। बिना योग्य नेतृत्व के बड़े-बडे देश बहुत छोटे-छोटे देशों से हार जाते हैं। इतिहास इसका साक्षी है। जब देश मे योग्य नेताओ का अभाव रहता है तो राष्ट्र के सामने बडी घातक स्थिति आ जाती है। आजकल विश्वबन्धुत्व की चर्चा की जाती है, पर यह बिना योग्य नेतृत्व के सम्भव नही।

कुछ लोगो का कहना है कि नेतृत्व की शक्ति प्रकृतिदत्त होती है। इस युक्ति में कुछ सत्य अवश्य है, पर इसका तात्पर्य अपनी शिक्षा-व्यवस्था मे उस सम्बन्ध मे कुछ ढिलाई लाने से नही है। प्रकृतिदत्त शक्ति कुछ भी कार्य नही कर सकती जब तक उचित शिक्षा से उसका नियन्त्रण न किया जाय। नेतृत्व की स्वाभाविक शक्ति का सकेत हमे स्कूल के खेल के मैदानो तथा साहित्यिक प्रतियोगिताओ में मिल जाता है, पर यह सकेत पाने के बाद उसकी शिक्षा देना आवश्यक है। हमारे देश के स्कूल इस ओर वडे उदासीन से दिखलाई पडते हैं।

एक दृष्टि से हम शिक्षक को ही समाज का नेता कह सकते हैं। समाज ने उसे अपना प्रतिनिधि बना कर भावी नवयुवको का नेतृत्व करने के लिये स्कूल मे भेजा है। क्या शिक्षक इस नेतृत्व मे सफल हो सकता है? नही, क्योकि उसकी अवस्था और अनुभव कुछ ऐसा है कि बालको के साथ हिलमिलकर रहना उसे असम्भव जान पडता है। कुछ अध्यापक नेतृत्व करने की चेष्टा अवश्य करते हैं। प्रारम्भ मे वे कुछ सफल अवश्य दिखलाई पडते है, पर उम्र के बढने के साथ-साथ उनके और बालको के बीच की खाई बढती जाती है। "अध्यापक अपने विद्यार्थियो द्वारा कभी नेता नही स्वीकार किया जाता। अत अच्छा यह होगा कि वह विद्यार्थी के नेताओ का नेतृत्व करे और उनमे अच्छे उद्देश्य और आदर्श से कूट-कूट कर भर दे·· "[1] कुछ दिन बालको को शिक्षा देने के बाद उन्हे कुछ बातो का नियन्त्रण करने का कुछ अधिकार दिया जा सकता हैं। कक्षा मे मॉनीटर, खेल मे कप्तान तथा साहित्य-गोष्ठियो मे मन्त्री आदि के पद को विद्यार्थी सफलतापूर्वक निभा सकते हैं। नेतृत्व की शिक्षा यही से प्रारम्भ होती

---

१. रॉस—ग्राउण्डवर्क ऑव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १५, पृ० २६२।

है। जहाँ तक सम्भव हो अधिक से अधिक विद्यार्थियो को ऐसा नेतृत्व करने का अवसर देना चाहिये। आत्म-नियन्त्रितता[1] अथवा शासन की लहर जो कुछ स्कूलो मे चल पडी है वह इसी भावना की परिचायक है।

समूह मनोविज्ञान के आधार पर हम कह सकते हैं कि कौशल-सम्बन्धी तथा बौद्धिक विषयो को छोड अन्य विषयो की शिक्षा विशेषकर समूह मे ही देनी चाहिये। श्रोताओ की सख्या जितनी ही अधिक होती है उतना ही अधिक उन पर प्रभाव पडता है। प्राय प्रत्येक सफल शिक्षक व भाषणवक्ता का यह अनुभव है कि बडी संख्या के सामने वह अपने भावो का प्रकाशन अधिक सफलता से कर पाता है, क्योकि अधिक सख्या के रहने पर उसे उत्साह अधिक मिलता है। बडी सख्या मे रहने से व्यक्ति की सहानुभूति, निर्देश तथा अनुकरण की प्रवृत्तियाँ शीघ्र क्रियाशील हो जाती हैं। ये प्रवृत्तियाँ आवश्यक बाते सीखने में बडी सहायक होती हैं। "साहित्य, सगीत अथवा कला का पाठ वडा ही सफल होता है जब शिक्षक अपनी भावना को बडी कक्षा के समूह-मन मे डाल देता है।"[2] ऐसे ही जब स्कूलो में बालको के एकत्र होने का अवसर मिलता है तो उन्हे जीवन के उच्च उद्देश्य से परिचित कराया जा सकता है। समूह मे सुनी हुई बात का व्यक्ति के ऊपर अधिक प्रभाव पडता है। बहुत सम्भव है कि समूह मे बालक उच्च भावना से प्रेरित होकर अपने भावी जीवन का आदर्श कार्यक्रम बना उसे कार्यान्वित करने के लिये कटिवद्ध हो जाय। अकेले बुला कर उसे ऐसी शिक्षा दी जाय तो कदाचित् उस पर कुछ भी प्रभाव न पडे।

शिक्षा मे व्यक्तिवाद और समाजवाद के परस्पर-विरोधी विचारो मे समझौता लाने के रास्ते की ओर समूह मनोविज्ञान ने सकेत किया है। आजकल वैयक्तिक भिन्नता के आधार पर व्यक्ति को शिक्षित बनाने की लहर दिखलाई पडती है। फलत. शिक्षको का ध्यान व्यक्ति की ओर अधिक जाता दिखाई पडता है। यह सत्य है कि समाज की उन्नति के लिये पहले हमें व्यक्ति के विकास पर ही ध्यान देना होगा, क्योकि समाज व्यक्तियो का ही समूह है। पर इतना अवश्य मानना पडेगा कि व्यक्ति के बहुत से गुणो का प्रादुर्भाव और विकास सामाजिक जीवन में ही सम्भव है। समूह मनोविज्ञान हमें इस सामाजिक जीवन की विभिन्न परिस्थितियो से अवगत कराता है। इन्ही परिस्थितियो के ज्ञान से हम यह समझ सकते हैं कि सामाजिक जीवन को विकसित करने के लिये हमे किन-किन साधनो की आवश्यकता होती है। यदि शिक्षक केवल व्यक्तिगत मनोविज्ञान पर ही निर्भर रहे तो शिक्षा मे वह व्यक्तिवाद और समाजवाद मे कभी समझौता नही ला सकता, और व्यक्ति का विकास एकागी और अपूर्ण रह जायगा।

---

1. Self-Government. 2. रॉस—ग्राउण्डवर्क ऑव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १५, पृ० २६४।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

समूह मनोविज्ञान

मनुष्य सामाजिक प्राणी; समूह मनोविज्ञान की कल्पना बीसवी शताब्दी मे; समूह विभिन्न व्यक्तियो का योग नही, समूह-मन व्यक्तियो के विभिन्न मन का पुञ्ज नही, समूह-मन व्यक्ति-मन से भिन्न, कई प्रकार के समूह, समूह के सदस्य का एक ही स्वर मे सोचना, अनुभव व कार्य करना, समूह मे अपने व्यक्तित्व को भूलना।

सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण के कारण समूह में व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व भूल जाना।

समूह की भावना व विचार व्यक्ति की अपेक्षा निम्नकोटि का, समूह की आलोचनात्मक और तर्क की शक्ति उसकी श्रेणी के अनुसार, समूह-मन विभिन्न सदस्यो की मनोवृत्ति का गुणनफल व साराश, समूह की वृद्धि उसके नेता पर निर्भर।

समूहों का वर्गीकरण

मैग्डूगल का प्रयोजनात्मक, पारस्परिक और मिश्रित प्रकार का वर्गीकरण सामाजिक दृष्टिकोण से, ड्रेवर का प्रत्यक्षात्मक, विचारात्मक और विवेकात्मक वर्गीकरण अधिक मनोवैज्ञानिक, समूह के विकास की तीन श्रेणियाँ भीड, गोष्ठी और समाज।

भीड़

प्रत्यक्षात्मक, भीड का समूह-मन पशु-मन के सदृश, प्रवृत्त्यात्मक क्रिया, भीड उत्सुकता की भावना से।

गोष्ठी

कई प्रकार, प्रयोजन, स्वास्थ्य, कला, साहित्य इत्यादि, उद्देश्य पहले ही निश्चित ; जीवन के सभी अगो पर विचार नही , प्रत्येक गोष्ठी का अपना विधान , भाड़ से ऊँचा ; आधार विचारात्मक ; क्रिया पर अतीत की स्मृतियो और स्थायीभाव का प्रभाव।

समाज

उत्कृष्ट कोटि का , सगठन आदर्श पर ; व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए भी समाज का ध्यान , समाज का उद्देश्य विस्तृत, इसमे व्यक्ति के जीवन के सभी अग , राष्ट्र एक समाज , आत्मोत्कर्ष की चेतना।

स्कूल का संगठन

स्कूल एक मनोवैज्ञानिक समूह, इसका एक आदर्श।

समूह का स्थायित्व पहली आवश्यकता, समाज का स्थायित्व अनुकरणीय;

स्कूल मे समाज के सदृश् स्थायित्व, स्कूल में विभिन्न व्यक्तियो के सम्पर्क मे आकर वालक का आदर्श सीखना, स्कूल का कार्य सहानुभूति, निर्देश और अनुकरण के आधार पर।

कर्त्तव्य पालन के हेतु समूह की समीक्षा आवश्यक; स्वार्थान्धता समाज के लिये घातक, सामाजिक भावना की जागृति स्कूल से ही, स्कूल मे पढने वाले एक ही परिवार के सदस्य, नाटक, वार्षिकोत्सव व खेल-कूद का आयोजन आवश्यक।

विभिन्न आदर्श वालो का दूसरे समूह के सम्पर्क मे आना आवश्यक, इससे सामूहिकता की भावना का विकास, प्रतियोगिता से आत्मचेतना।

समूह की अपनी परम्परा आवश्यक, इस पर प्रत्येक सदस्य को गर्व, स्कूल की अपनी परम्परा हो।

प्रत्येक के कर्त्तव्य का विभाजन आवश्यक, इसी से समाज का समुचित विकास सम्भव, नेतृत्व करने की शिक्षा।

सामूहिक जीवन में नेता का स्थान

नेता मानव की आशाओ से परिचित हो, अभिलाषाओ का नियन्त्रण सामाजिक सहकारिता की ओर हो, नेना में आत्म-सयम की शक्ति आवश्यक, नेता वनाना स्कूल का कर्त्तव्य, नेता का कर्त्तव्य अनुकूल वातावरण का आयोजन करना, समाज के नेतृत्व के लिये दूसरो के साथ सोचना और अनुभव करना आवश्यक।

नेतृत्व करने के लिये मानव स्वभाव का अध्ययन आवश्यक, अपने तथा दूसरो में विश्वास करने वाला ही सच्चा नेता, योग्य नेता के सहारे समूह का आदर्श होना, योग्य नेतृत्व नितान्त आवश्यक।

नेतृत्व शक्ति प्रकृतिदत्त—पर उसकी शिक्षा आवश्यक।

शिक्षक समाज का नेता, समाज का वह प्रतिनिधि, शिक्षक वालको के नेतृत्व करने में सफल नही, शिक्षक को नेताओ का नेतृत्व करना, आत्म-नियन्त्रण से नेतृत्व की शिक्षा।

कौशल-सम्बन्धी तथा वौद्धिक विषयो को छोड अन्य विपयो की शिक्षा समूह में ही, समूह में सुनी हुई वात का अधिक प्रभाव।

समूह-मनोविज्ञान से शिक्षा मे व्यक्तिवाद और समाजवाद का समझौता सम्भव।

सहायक पुस्तकें

१—रॉस—ग्राउण्डवर्क ऑव् एडूकेशन साइकॉलॉजी, अध्याय १५।
२—ड्रेवर—इन्ट्रोडक्शन टु द साइकॉलॉजी आव एडूकेशन, अध्याय ११।
३—वैवस्टर ऐण्ड कैसीडी—ग्रूप ऐक्स्पीरियन्स द डेमोक्रेटिव वे, अध्याय १।

४—ट्रॉटर—इन्स्टिक्ट ऑव् दी हर्ड इन पीस ऐण्ड वार।

५—मुकर्जी ऐण्ड सेनगुप्ता—इन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकॉलॉजी।

६—ऐडम्स—मॉडर्न डेवलपमेण्ट्स इन एडूकेशनल प्रैक्टिस, अध्याय ५, ६।

७—लीबोन—दी क्राउड।

८—मैग्डूगल—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकॉलॉजी, अध्याय ४, १५।

९— ,, —द ग्रूप माइण्ड, अध्याय ८।

१०—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय ४।

११—नन—एडूकेशन, इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय १, १०, १५।

१२—राबर्ट, एच० लोवी—सोशल आर्गेनीजेशन।

१३—ऑगवर्न ऐण्ड निनकॉफ—सोशियॉलॉजी, अध्याय ६, ९, १३।

१४—बेनेट ऐण्ड टुमिन—सोशल लाइफ, अध्याय ११,१६।

१३

वैयक्तिक भेद और शिक्षा में उनकी व्यवस्था[1]

वैयक्तिक भेद

वैयक्तिक भेद पर विशेष बल देना आधुनिक मनोविज्ञान की विशेषता है। अर्थात् सामान्य बालक के स्थायित्व मे इसका विश्वास नही। प्राय सभी मनोवैज्ञानिक गवेषणाये वैयक्तिक भेद की ओर सकेत करती हैं। एक व्यक्ति दूसरे से इतनी बातो में भिन्न जान पडता है कि यह कहना असम्भव है कि अमुक दो व्यक्ति समान हैं। व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टिकोण से एक दूसरे से भिन्न होते हैं। हमे छोटे, बडे, सुन्दर, भद्दे, साँवले तथा गोरे आदि कई प्रकार के व्यक्ति दिखलाई पडते है। व्यक्ति की शारीरिक आकृति का उसकी मनोवृत्ति पर बडा प्रभाव पडता है। यह समझना भ्रम है कि दोनो मे कोई सम्बन्ध नही। सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चलेगा कि वातावरण की वस्तुओ के प्रति व्यक्ति का विचार सदा उसकी सुन्दर या असुन्दर शारीरिक आकृति से प्रभावित होता है। कुछ मनोवैज्ञानिको की धारणा है कि लम्बे व्यक्ति नाटो की अपेक्षा प्राय. अधिक प्रभावशाली होते हैं। इसके विपरीत, कुछ का कहना है कि लम्बे व्यक्ति अधिक प्रभावशाली नही होते, क्योंकि वे अचेतन मन में यह सोचा करते हैं कि लम्बे होने के कारण वे प्रभावशाली हैं ही—अत इस धारणा से उनके चेतन मन की चेष्टा रुक जाती है। कुछ का कहना है कि नाटे आदमी को सदा डर बना रहता है कि समाज में वह कही नगण्य न समझ लिया जाय, अत वह अपना प्रभाव डालने की सदा चेष्टा किया करता है। इन सब मतो का मनोवैज्ञानिक मूल्य चाहे जो हो, पर इतना निर्विवाद है कि शारीरिक आकृति का वैयक्तिक भेद पर प्रभाव अवश्य पडता है।

यद्यपि मूलप्रवृत्तियाँ सभी व्यक्तियो में पाई जाती है, पर हर एक मे उनकी क्रियाशीलता का भेद होता है। किसी में युयुत्सा की प्रवृत्ति अधिक है तो वह बात-बात में लडने को तैयार हो जाता है। किसी में जिज्ञासा की प्रवृत्ति प्रधान है तो उसका कान हर बात के लिए खडा दिखलाई पड़ता है। सचय-प्रवृत्ति की प्रबलता से कुछ

---

1. Individual Differences and their Adjustment in Education.

लोग अधिक लोभी दिखलाई पडते हैं। इसके विपरीत यदि इन विभिन्न प्रबल प्रवृत्तियो का शोधन सम्भव हो सका तो अन्याय के शत्रु, चमत्कार के आविष्कारक तथा सगीत, साहित्य व कला के मर्मज्ञ विभिन्न व्यक्ति दिखलाई पड सकते हैं। व्यक्तियो के स्वभाव मे भी गहरा भेद दिखलाई पड़ता है। कोई सदैव प्रसन्नचित्त रहते हैं तो कोई हर समय मुँह लटकाये हुए दीख पडते हैं। किसी की बतीसी खिल रही है तो किसी के चेहरे पर साढे बारह बजा हुआ है। कोई झक्की होता है और आवेश मे असम्भव को सम्भव कर देने की चेष्टा मे लग जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई दो व्यक्ति एक से नही हैं। साथ ही जन्म लेने वाले जुडवे भी कई प्रकार की भिन्नता रखते हैं। इस प्रकार की भिन्नता पर व्यक्तित्व के विवरण में और प्रकाश डाला जायगा।

वैयक्तिक भेद के कई कारण होते हैं। पहला कारण वशानुक्रम को माना जाता है। वशानुक्रम के प्रभाव से व्यक्ति तीव्र या मन्द बुद्धि पा सकता है, गूँगा या बहरा हो सकता है, अथवा कोई भयानक रोग अपने साथ ले आ सकता है। वातावरण का भी प्रभाव पड़ता ही है। हम कह चुके हैं कि व्यक्ति वशानुक्रम और वातावरण का गुणनफल है। वातावरण के प्रभाव से कोई अन्धा, लगडा, रोगी, निर्बल अथवा बली आदि हो सकता है। समाज का प्रभाव व्यक्ति पर विभिन्न प्रकार से पडता है। समाज वातावरण का एक अग ही है। अग्रेजी समाज मे पैदा हुआ बालक भारतीय समाज के बालक से भिन्न होगा। हरिजन समाज मे उत्पन्न हुआ बालक ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय समाज के बालक से भिन्न होगा।

वैयक्तिक भेद का कारण जाति अथवा लिङ्ग भी है। स्त्रियाँ पुरुषो से अधिक कोमलाङ्गी होती हैं। उनमे शील, लज्जा, धैर्य, दया, स्नेह तथा ममता आदि गुणो की मात्रा पुरुषो से अधिक होती है। पुरुष स्वभावत स्त्रियो से अधिक क्रोधी, वीर तथा साहसी होता है। स्मृति तथा भाषा आदि मे स्त्रियाँ पुरुषो से अधिक कुशल होती हैं। प्रायः हर पाठक का यह अनुभव होगा कि बचपन मे लडकियाँ लडको की अपेक्षा बहुत पहले बोलना सीख लेती हैं। कुछ लोगो का अनुमान है कि स्त्रियो मे बुद्धि कम होती है। मनोवैज्ञानिक परीक्षणो द्वारा यह अनुमान गलत सिद्ध कर दिया गया है। लिङ्ग भेद के कारण बुद्धि में भेद नही आता। इसके और भी कारण हो सकते हैं। इन कारणों पर हम आगे प्रकाश डालेंगे। पर यह बात सिद्ध कर दी गई है कि स्त्रियो में सामान्य प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। उनमे न अधिक उत्कृष्ट कोटि की बुद्धिमान् मिलेगी और न निरी मूर्ख। स्त्रियो मे सामान्यता अधिक पाई जाती है। अति का उनमे अभाव सा दिखलाई पड़ता है। यही कारण है स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा कम पागल होती हैं, पर इसके साथ ही संख्या में वे पुरुषो की भाँति उत्कृष्ट बुद्धि की भी कम होती हैं। कुछ व्यक्तिगत उदाहरणो को छोड कर दर्शन तथा विज्ञान का सारा चमत्कार प्राय

पुरुषो के ही मस्तिष्क का फल है। इसका प्रधान कारण यह है कि स्त्रियो का वातावरण पुरुषो की भाँति नही होता। उनका वातावरण पुरुषो की अपेक्षा कुछ निम्न कोटि का होता है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही संयोगवश मानव का ऐसा विधान चलता आ रहा है। इसमे किसी का दोष नही। स्त्री और पुरुष का कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न है। एक अपने क्षेत्र मे दूसरे से महान् है। तथापि परीक्षण के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि उचित वातावरण के मिलने पर, कुछ शारीरिक कठिनाइयो को छोड कर, किसी बात मे स्त्री पुरुष से नीचे नही। दोनो की भिन्नता उनके विशेष शारीरिक बनावट, आवश्यकता तथा विभिन्न सामाजिक वातावरण का ही परिणाम समझना चाहिये। आवश्यक वातावरण के पाने पर स्त्री स्त्री होने के नाते पुरुष से पीछे नही हो सकती।

शिक्षा में वैयक्तिक भेद पर ध्यान[1]

कक्षा मे सभी बालको की बुद्धि समान नही होती। प्राय यह देखा जाता है कि किसी सामान्य कक्षा में ४० से १३० बुद्धि लब्धि के बालक मिलते हैं। अर्थात् मन्द और तीव्र दोनो प्रकार की बुद्धि वाले छात्र पाये जाते हैं। परन्तु कक्षा-शिक्षण इस प्रकार दिया जाता है, मानो सभी बालक समान योग्यता के हैं। बालको की विभिन्न मानसिक योग्यता, स्वास्थ्य, रुचि तथा सामाजिक वातावरण पर पर्याप्त ध्यान नही दिया जाता। कुछ शिक्षक मन्द बुद्धि बालक के अनुसार चलने का प्रयत्न करते हैं और कुछ तीव्र बुद्धि के अनुसार। परिणाम दोनो का वाछित नही होता। इस ऊटपटाँग विधि के अनुसरण से या तो तीव्र बुद्धि बालक उपयुक्त मानसिक भोजन न मिलने के कारण ऊब जाते है या मन्द बुद्धि बालक की समझ मे कुछ नही आता। स्पष्ट है कि शिक्षा मे हमें वैयक्तिक भेद के अनुसार चलना होगा। हमे व्यक्ति की विशिष्ट आवश्यकता पर ध्यान देना ही होगा। हमारा यह तात्पर्य नही कि प्रत्येक के लिए अलग पाठ्य-वस्तु और अलग-अलग स्कूल होने चाहिये, वरन् एक समय सभी बालको को एक ही प्रकार का कार्य कराना आवश्यक नही। किसी में पढने की योग्यता अधिक होती है और किसी मे कम। कोई अकगणित मे तीव्र है तो कोई मन्द। अत प्रत्येक को उसकी योग्यतानुसार कार्य देने का नियम होना चाहिये। इसका तात्पर्य कक्षा-शिक्षण को हटा देने से नही। 'डाल्टन प्लान' तथा 'ऐक्टीविटी प्रोग्राम' के समर्थक भी कक्षा-शिक्षण की आवश्यकता अनुभव करते हैं। शिक्षक को बालक की योग्यता का पूरा अनुमान होना चाहिए और उसी के अनुसार समय-समय पर उसे अलग कार्य देना चाहिये। हम मानते हैं कि हमारे देश की शिक्षा-व्यवस्था मे ऐसा करना सरल नही। पैंतीस-चालीस विद्यार्थियो की बडी कक्षा मे शिक्षक के लिए यह सम्भव नही हो सकता।

---

1. Attention on Individual Differences in Education.

दूसरे, पाठ्य-वस्तु मे किसी प्रकार के परिवर्तन करने का किसी शिक्षक को अधिकार भी नही रहता। अतः वैयक्तिक भेदों के सुव्यवस्थापन के प्रयत्न मे हमे कक्षा केवल पन्द्रह या बीस विद्यार्थियों की ही रखनी होगी और शिक्षक को आवश्यकतानुसार पाठ्य-वस्तु में परिवर्तन करने की स्वतंत्रता भी देनी होगी। इस प्रकार प्रत्येक बालक की आवश्यकता पर ध्यान दिया जा सकेगा। मन्द बालक स्पर्धावश आगे बढने की चेष्टा करेगा और तीव्र को अपने व्यक्तित्व के लिए अधिक अवसर मिलेगा।

स्पष्ट है कि शिक्षा की दृष्टि से वैयक्तिक भेदों का अध्ययन करना बडा आवश्यक है। किन्ही दो छात्रो को नही एक ही प्रकार की सहायता आवश्यक नही। जैसा ऊपर सकेत किया गया है, कक्षा-शिक्षण के लाभ बहुत हैं, पर वैयक्तिक भेद को दूर करने का वह साधन नही हो सकता। मन्द बालक को सामान्य कोटि मे ले आने के लिए हमे उस पर कुछ विशेष विधि से ध्यान देना ही होगा, अथवा बालको का वर्गीकरण हमे उनकी मानसिक योग्यतानुसार करना होगा। जहाँ तक सम्भव हो समान बुद्धि लब्धि के बालक एक ही कक्षा मे रखे जाँय, पर आठ या दस लब्धि का अन्तर मान्य हो सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इस प्रकार का वर्गीकरण सदा सन्तोषजनक फल नही दे सकता। वर्गीकरण मे हमे केवल मानसिक योग्यता पर ही ध्यान नही देना है, वरन् शारीरिक अवस्था, उम्र, सवेगात्मक प्रवृत्ति तथा सामाजिक वातावरण पर भी ध्यान देना होगा। इतनी बातो को देखते हुए जान पडता है कि वर्गीकरण सम्भव ही नही। वास्तव में आदर्श वर्गीकरण तो असम्भव है, पर हमारी चेष्टा आदर्श की ही ओर होनी चाहिये। योग्यतानुसार वर्गीकरण से ही शिक्षा से अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकता है। सीखने की योग्यतानुसार पाठ्य-वस्तु और शिक्षण-विधि का आयोजन करना चाहिये। कुछ विषयो को तीव्र बालक स्वयं सीख सकता है और उसे इसके लिए प्रोत्साहन भी देना चाहिये। तभी उसकी विशेष योग्यता का विकास सम्भव है। सामान्य पाठ्य-वस्तु के अतिरिक्त तीव्र बालकों को अलग से भी कार्य देना चाहिये जिससे साधारण कक्षा का शिक्षण उनके लिये रूखा न जान पडे। मन्द बालक को शिक्षक की सहायता की आवश्यता हो सकती है।

वैयक्तिक शिक्षण[1] की उपयोगिता को अस्वीकार नही किया जा सकता[2]। अमेरिका मे वैयक्तिक शिक्षण के उद्देश्य को डाल्टन प्लान, प्रॉजेक्ट मेथड[3], विनेका सिस्टेम[4], कॉन्ट्रैक्ट प्लान[5] और एक्टीविटी प्रोग्राम[6] आदि द्वारा पूर्ण करने की चेष्टा की गई है। डाल्टन प्लान और प्रॉजेक्ट मेथड का आठवे अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है। विनेका प्लान मे शिक्षक की ओर से सहायता बहुत कम दी जाती है। बालक

1. Individual Instruction. 2. Dalton Plan. 3. Project Method. 4. Winnetka System. 5. Contract Plan. 6. Activity Program.

को एक निर्दिष्ट उद्देश्य तक पहुँचने के लिये कुछ अभ्यास करने पडते हैं, पुन. कुछ निदानात्मक प्रश्नो[1] द्वारा यह देखा जाता है कि बालक अपने उद्देश्य तक कितना पहुँचा है। कॉन्ट्रैक्ट प्लान में डाल्टन और विनेका प्लान का समन्वय है। इसमे डाल्टन प्लान के सदृश् पढने के लिये विषय निर्धारित कर दिये जाते हैं और निदानात्मक प्रश्नो द्वारा उन्नति की मात्रा देखी जाती है। 'एक्टीविटी प्रोग्राम' मे वैयक्तिक शिक्षण को सबसे अधिक सुविधा दी गई है। इस प्रणाली के अनुसार पाठ्य-वस्तु के निर्धारण मे बालको की रुचि और आवश्यकता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस प्रणाली में बालक जनतन्त्र के सिद्धान्तो का अनुकरण करते हैं जिससे उनके भावी जीवन मे सहायता मिल सके।

शरीर सम्बन्धी वैयक्तिक भेद पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसके लिये यदाकदा बालको का निरीक्षण करते रहना चाहिये। उनकी डाक्टरी परीक्षा नियमानुसार होनी चाहिये। यदि किसी बालक की आँख व कान निर्बल है तो उसे आगे बैठाना उचित है। गरीब बालको के जल-पान के लिए कुछ प्रबन्ध करना आवश्यक है। जिनमे शक्ति बहुत कम है उन्हे स्कूल का काम थोडी ही देर के लिए देना चाहिये। कुछ बालको को स्वच्छता तथा विनय से रहना प्राय नही आता। यह उनके अवांछित घरेलू वातावरण का परिणाम होता है। इसे शिक्षा द्वारा दूर किया जा सकता है। स्कूल में मॉनीटर व कप्तान आदि के गुणो से उसे अवगत कराया जाय तो बहुत से सामाजिक गुणो को वह स्वत· सीख जायगा।

आजकल जनतन्त्र का राज्य है। अत स्कूल को सभी प्रकार के बालको की समुचित शिक्षा के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व स्वीकार करना पडेगा। यह एक बालक से यह आशा की जाती है कि वह अच्छा नागरिक हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि स्कूल प्रत्येक बालक की रुचि और योग्यता का पता लगा कर तदनुसार शिक्षा की व्यवस्था करे, क्योकि प्रत्येक बालक की शारीरिक, मानसिक, नैतिक व सामाजिक उन्नति अपने वैयक्तिक भेद के अनुसार होती है। जब तक वैयक्तिक भेद के अनुसार उसको उन्नति करने का पूरा अवसर नही दिया जायगा वह समाज की यथोचित सेवा नही कर सकेगा। वैयक्तिक भेद की शिक्षा में व्यवस्था करना असम्भव नही। कक्षा-शिक्षण व्यवस्था मे भी चतुर शिक्षक इस पर ध्यान दे सकता है। जहाँ तक पाठ्य-वस्तु का प्रश्न है बालको को, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सीखने के लिये उनकी योग्यतानुसार अवसर देना चाहिये, परन्तु उनकी सामाजिक भावना जीवित रखने के लिये उन्हे सामूहिक खेल या कार्यों में भाग लेने के लिये भी उत्साहित करना चाहिये।

हम ऊपर देख चुके हैं कि बालक की सामाजिक अथवा आर्थिक दशा उसमें

---

1. Diagnostic Tests.

वैयक्तिक भेद लाने का कारण हो सकती है। पर शिक्षा की व्यवस्था इन दशाओ के दृष्टिकोण से नही की जाती। बालक को शिक्षा देते समय हमे उसे एक व्यक्ति समझना है। यह मन से एकदम निकाल देना चाहिये कि वह किस कोटि के कुटुम्ब से आ रहा है। इसी प्रकार लिङ्ग भेद के अनुसार भी शिक्षा की व्यवस्था नही की जा सकती। क्योकि यह देखा गया है कि मानसिक क्षेत्र मे वैयक्तिक भेद का कारण विशेषकर सामाजिक वातावरण ही होता है, न कि लिङ्ग। सामाजिक वातावरण का प्रभाव बालक के जन्म से ही आ जाता है और अन्त मे वैयक्तिक भेद की चरम सीमा मे पहुँच जाता है। विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओ और स्वभाव के आधार पर शिक्षा मे लिङ्ग-भेद पर ध्यान दिया जा सकता है। कम से कम प्रथम दस वर्ष की उम्र तक तो लडको और लडकियो की शिक्षा साथ ही साथ चलाई ही जा सकती है।

"बालक की प्रत्येक सम्भावना के विकास का एक विशिष्ट काल होता है। यह विशिष्ट काल वैयक्तिक भेद के अनुसार प्रत्येक मे भिन्न-भिन्न होता है। यदि उचित समय पर इस सम्भावना को विकसित करने का प्रयत्न न किया गया तो उसके नष्ट हो जाने का डर रहता है।"[1] इस सिद्धान्त के अनुसार मानसिक विकास 'शून्य' मे नही किया जा सकता। विकास मे वातावरण केवल बाधा अथवा सहायता ही नही पहुँचाता, वरन् वह विकास का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अग है। यदि ऐसा न होता तो शिक्षा का उद्देश्य केवल, कुछ आदतो का उत्पन्न कर देना तथा कुछ ज्ञान दे देना होता, पर आज तो शिक्षा का तात्पर्य व्यक्तित्व के विकास से समझा जाता है। व्यक्तित्व का विकास वैयक्तिक भेद के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करने से ही सम्भव हो सकता है। यह तभी हो सकता है जब कि बालक के जन्म से ही उसकी शिक्षा पर उचित ध्यान रखा जाय। तीसरे अध्याय मे हम देख चुके हैं विकास की विभिन्न अवस्थाओ की विशेषताये क्या होती हैं। हमे उन्ही विशेषताओ के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। शिशु, बालक, किशोर तथा माता-पिता सभी की विभिन्न अवस्थाओ पर ध्यान देना शिक्षा-संस्थाओ का परम कर्तव्य है। हमारे देश मे अभी तक शिशु तथा माता-पिता की शिक्षा की ओर शिक्षा के कर्णधारो का ध्यान बहुत कम गया है। पर सन्तोष की बात है कि अब इस ओर कुछ चर्चा प्रारम्भ हो गई है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

वैयक्तिक भेद—

व्यक्तिगत भिन्नता पर बल देना आधुनिक मनोविज्ञान की विशेषता, विभिन्न प्रकार के व्यक्ति, शारीरिक आकृति और मनोवृत्ति मे घनिष्ठ सम्बन्ध।

---

१. स्किनर (सम्पादक), एड्यूकेशनल साइकॉलॉजी (संशोधित संस्करण १९४५); लेखक—फ्रैंक एस० फ्रीमैन, अध्याय १५।

मूलप्रवृत्तियो की क्रियाशीलता मे भेद, स्वभाव मे भी गहरा भेद, कोई दो व्यक्ति समान नही।

वशानुक्रम तथा वातावरण वैयक्तिक भेद के कारण।

वैयक्तिक भेद का कारण जाति और लिङ्ग, स्त्रियो मे सामान्यता अधिक, कुछ शारीरिक कठिनाइयो को छोडकर स्त्री किसी भी बात मे पुरुष से कम नही।

शिक्षा में वैयक्तिक भेद पर ध्यान—

कक्षा-शिक्षण मे वैयक्तिक भिन्नता पर कम ध्यान, एक समय सबसे एक ही प्रकार का कार्य करवाना आवश्यक नही, वैयक्तिक योग्यतानुसार प्रत्येक को समय समय पर काम।

कक्षा-शिक्षण वैयक्तिक भेद दूर करने का साधन नही, वर्गीकरण, आदर्श वर्गीकरण असम्भव, सीखने की योग्यतानुसार पाठ्यवस्तु और शिक्षण विधि का आयोजन।

वैयक्तिक शिक्षण की उपयोगिता, डाल्टन प्लान, प्रोजेक्ट मेथड, विनेका प्लान, कन्ट्रैक्ट प्लान, एक्टीविटी प्रोग्राम।

शारीरिक वैयक्तिक भेद पर ही ध्यान, नेतृत्व देने से कुछ सामाजिक गुणो का स्वत विकास।

वैयक्तिक भेद के अनुसार शिक्षा मे अवसर, सामाजिक भावना भी जीवित करना।

मानसिक क्षेत्र मे वैयक्तिक भेद का कारण सामाजिक वातावरण, सामाजिक आवश्यकता और स्वभावानुसार शिक्षा मे लिङ्ग-भेद पर ध्यान, दस वर्ष तक लडको और लडकियो की एक साथ ही शिक्षा।

सम्भावना के विकास का एक विशिष्ट काल, उचित समय पर इसे विकसित करने का प्रयत्न, वातावरण विकास का महत्त्वपूर्ण अग, वैयक्तिक भेद के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था।

सहायक पुस्तकें

१—स्किनर (सम्पादक)—एडूकेशनल साइकॉलॉजी (१९४७), अध्याय १५।
१—फ्रीमैन, एफ० एस०—इण्डीविडुवल डिफरेन्सेज, १९३४।
३—क्लिन वर्ग, ओ०—रेस डिफरेन्सेज।
४—डॉज, रेमॉण्ड—कण्डीशन्स ऑव ह्यूमन वैरियेबिलिटी।
५—इनग्रैम, सी० पी०—एडूकेशन ऑव द स्लो लर्निङ्ग चाइल्ड।
६—ऐनास्टासी ऐण्ड फॉली—डिफरेनशियल साइकॉलॉजी।
७—ल्योना ई० टीलर—द साइकॉलॉजी ऑव ह्यूमन डिफरेन्सेज़।

१४

व्यक्तित्व[1]

व्यक्तित्व का स्वरूप[2]

"व्यक्तित्व" शब्द का प्रयोग हम विभिन्न अर्थ मे किया करते हैं। प्राय इसका अर्थ समझने मे हम भूल किया करते हैं। हम कहते हैं कि उसके पास व्यक्तित्व है, उसके व्यक्तित्व का उस पर यह प्रभाव पडा। कुछ लोगो के अनुसार "व्यक्तित्व" चरित्र का फल है। कुछ इसे चरित्र का उद्गम-स्थान मानते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक तथा शिक्षा-विशेषज्ञ भी व्यक्तित्व को समझने मे भूल करते हुए दिखलाई पडते हैं। उनकी व्याख्या भी हमे भ्रम में डाल देती है। व्यक्तित्व का तात्पर्य व्यक्ति के मानसिक विकास से नही। व क्ति मानसिक तथा शारीरिक विकास का योग नही है। उसके व्यवहार मे एक एकत्व दिखलाई पडता है। उसका मानसिक व शारीरिक विकास एक ही क्रिया के दो ऐसे पहलू हैं जो परस्पर-निर्भर रहते हैं। कुछ लोग व्यक्तितत्व का अर्थ उस सन्तुलन शक्ति से लेते हैं जो कि व्यक्ति के बुरे तथा भले व्यवहार की समीक्षा करती है। प्रायः व्यक्तितत्व का अर्थ वाह्य शारीरिक, गठन, सौष्ठव तथा मुखाकृति का आकर्षक व ओजपूर्ण होना भी लिया जाता है। किन्तु यह तो केवल उसका एक पहलू ही है। व्यक्तितत्व गतिशून्य नही होता। व्यक्तितत्व न शरीर है, न मस्तिष्क और न व्यक्ति का वाह्य रूप। व्यक्तितत्व तो उसके पूरे व्यवहार का दर्पण है। व्यक्ति के विभिन्न व्यवहार की प्रतिक्रिया उसके चरित्र पर पडे बिना नही रहती। सामाजिक क्षेत्र मे उसकी प्रतिक्रिया व्यक्तिगत क्षेत्र से भिन्न होती है। इन विभिन्न प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप उसके व्यक्तितत्व का निर्माण होता है।

व्यक्तितत्व का अपना पृथक अस्तित्व ध्वनि के सदृश् होता है। ध्वनि को हम सुन सकते हैं, पर देख या छू नही सकते। व्यक्तितत्व का अपना अलग अस्तित्व नही होता। यदि जगल मे कोई वृक्ष गिरता है तो उसकी ध्वनि नही होती, क्योकि उसे सुनने वाला नही होता। यही बात व्यक्तितत्व के सम्बन्ध मे भी लागू है। व्यक्तितत्व को हम न छू सकते हैं, न देख सकते और न सुन सकते है। उसको हम केवल समझ

1. Personality. 2. The Nature of Personality.

सकते हैं। अत यदि व्यक्तित्व को कोई समझने वाला न हुआ तो उसका कुछ भी अस्तित्व नही। स्पष्ट है कि व्यक्तितव गतिपूर्ण है और इसकी गति समाज में ही देखी जा सकती है—यह समाज चाहे केवल दो व्यक्ति का हो अथवा अधिक का। किसी के व्यक्तित्व के वर्णन करने में उसके व्यक्तित्व की व्याख्या नही की जाती, अपितु उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया की व्याख्या की जाती है। अतः हमारा यह कहना है कि 'अमुक व्यक्ति मनोहर, सुन्दर, दृढ अथवा निर्बल है' वैज्ञानिक नही, क्योकि ऐसा कहने मे हम उसके व्यक्तित्व की व्याख्या नही करते, वरन् उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया का उल्लेख करते हैं।

परन्तु यदि हम यह मानते हैं कि व्यक्ति के पास व्यक्तित्व होता है तो हमारा तात्पर्य व्यक्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया से होना चाहिये। हमारी प्रतिक्रिया स्वत नही उत्पन्न होती। उसके लिये किसी उत्तेजना का होना आवश्यक है। यदि कोई शिक्षक कहता है कि उसका प्रधान उसकी सदा निन्दा किया करता है, अथवा यदि कोई कर्मचारी कहता है कि उसका अफ़सर उसे सदा डाँटा करता है तो यह "निन्दा" अथवा "डाँट" अकारण नही हो सकती। उसके लिये कुछ उत्तेजना अवश्य रहती है। शिक्षक अथवा कर्मचारी के व्यवहार में कुछ ऐसी बात अवश्य है जो इस परिस्थिति की रचना करती है। जिस प्रकार किसी परिस्थिति की रचना किसी उत्तेजना से होती है वैसे ही व्यक्तित्व की रचना प्रतिक्रिया से होती है। प्रतिक्रिया सदा किसी उत्तेजना से होती है। अत. हम कह सकते है कि व्यक्तित्व का विकास उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रियाओ का ही सुसगठित फल है। व्यक्तित्व के विकास मे केवल हमारी मूलप्रवृत्तियो का ही प्रभाव नही रहता, अपितु शिक्षा के फलस्वरूप विभिन्न अर्जित व्यवहारो का भी फल होता है। अत. हम कह सकते हैं कि व्यक्तित्व का विश्लेषण हमारे व्यवहार का ही विश्लेषण है। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व मे केवल व्यक्ति का ही व्यवहार नही आता, वरन् दूसरे व्यक्तियो की उस व्यवहार-सम्वन्धी प्रतिक्रिया का भी सम्बन्ध आ जाता है। वैलेनटाइन कहता है "व्यक्तित्व दूसरे के समझने का दृष्टिकोण है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के रहस्य को समझना सरल नही। कुछ लोग व्यक्तित्व को व्यक्ति का आन्तरिक अश न मान कर उसे कोई ऐसी वाह्य शक्ति समझते हैं जो कि दूसरो को प्रभावित किया करती है। कुछ लोग व्यक्तित्व को 'आत्मा' के सदृश् भौतिकवाद और अध्यात्मवाद की खाई को जोडने वाला समझते हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र मे भौतिकवाद और आध्यात्मवाद के झगडे में पडना समीचीन न होगा। अत हम इसे केवल मानव व्यवहार के सम्बन्ध में ही समझने की चेष्टा करेंगे। यदि व्यक्तित्व मे हमारा व्यवहार निहित है तो यह समझना आवश्यक है कि व्यवहार पर किन-किन वातो का विशेष प्रभाव पडता है।

व्यक्तित्व पर वंशानुक्रम का प्रभाव[1]

कुछ लोगो की धारणा है कि व्यक्तित्व के विकास मे वशानुक्रम का हाथ अधिक नही रहता, क्योकि व्यक्ति के व्यवहार मे उसका प्रभाव कम दिखलाई पडता है। व्यक्ति का व्यवहार तो अर्जित होता है, अर्थात् इसमे वातावरण का ही प्रभाव रहता है। हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नही जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि व्यक्ति अपने व्यवहार पूर्वजो से सक्रमित करता है। नम्रता, दृढता, सत्यता, सामाजिकता तथा क्रूरता आदि गुण व दोष वह अपने पूर्वजो से नही सक्रमित करता। ये सब तो वातावरण के प्रभाव पर निर्भर हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि वशानुक्रमीय दोपो के कारण बालक वातावरण से लाभ उठाने मे असमर्थ होता है। यदि उसमे सक्रमित बुद्धि अधिक हुई तो मन्द बुद्धि वालो से प्रत्येक क्षेत्र मे वह अधिक सफल दिखलाई पड़ता है। वस्तुत व्यक्तित्व किसी एक बात पर निर्भर नही रहता, वह विभिन्न प्रभावो का फल होता है। गत अध्याय मे हम सकेत कर चुके है कि शारीरिक बनावट का प्रभाव हमारे व्यक्तित्व पर पडता है, क्योकि शरीर का विशिष्ट आकृति के अनुसार किसी उत्तेजना के पाने पर हमारा व्यवहार एक निश्चित प्रकार का होता है। दूसरी प्रकार की शारीरिक आकृति वाले व्यक्ति का व्यवहार उसी उत्तेजना के सम्बन्ध मे भिन्न होगा। हमारी शारीरिक आकृति बहुत अशो मे संक्रमित होती है। अत कुछ अश मे वशानुक्रम का प्रभाव व्यक्तित्व के निर्माण मे अवश्य पडता है।

व्यक्तित्व पर वातावरण का प्रभाव[2]

सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था का प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर सबसे अधिक पडता है, क्योकि इनका प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर पडे बिना नही रहता। कोई मन्द बुद्धि बालक निर्धन हुआ तो वह आलसी, गन्दा और डरपोक हो सकता है। वह तीव्र बुद्धि का हुआ तो परिश्रमी तथा स्फूर्तिवान् हो सकता है। यदि तीव्र-बुद्धि बालक धनी घर का हुआ तो वातावरण की भिन्नता के कारण वह वैसा परिश्रमी और स्फूर्तिवान् नही हो सकता जैसा कि दीन तीव्र बुद्धि बालक होता है। व्यक्तित्व पर निर्धनता का प्रत्यक्ष प्रभाव नही पडता। निर्धनता के कारण वातावरण ऐसा कलुषित हो सकता है कि पिता या अभिभावक का व्यवहार व्यक्तित्व के विकास मे घातक सिद्ध हो सकता है। वातावरण का व्यक्तित्व पर प्रभाव जानने के लिये कॉलमैन ने २८०० बालको पर एक परीक्षण किया। इससे यह ज्ञात हुआ कि अच्छे वातावरण से आये हुए बालक दूसरो से बुद्धि, विद्या और ज्ञान में बहुत अच्छे थे। रुचियो का

---

1. The effect of heredity on personality. 2. The effect of environment on personality.

विकास भी वातावरण पर ही निर्भर रहता है। कॉलमैन ने यह भी देखा कि अच्छे वातावरण वाले वालक अधिक विषयो मे रुचि रखते हैं।

व्यक्तित्व पर योग्यता का प्रभाव[1]

व्यक्ति के विकास मे वशानुक्रम और वातावरण दोनो अपना प्रभाव डालते हैं। इस विकास मे बुद्धि का भी प्रभाव पडता है, परन्तु केवल बुद्धि ही व्यक्तित्व को पूर्ण नही वना सकती। जैसे-जैसे हमारी उम्र बढती है वैसे-वैसे हमारी प्रतिक्रियाओ का रूप भी परिवर्द्धित होता जाता है। हम व्यक्ति को मन्द, कुशाग्र, तत्पर, उदासीन योग्य अथवा अयोग्य इत्यादि विशेपण दिया करते हैं। इन विशेषणो से हमारा तात्पर्य यह है कि उसके सभी कार्यो से हम प्राय. उसका झुकाव इसी ढग पर पाते हैं। कुशाग्र बुद्धि का व्यक्ति उसे कहते हैं जिसके सभी कार्य में कुशाग्रता का परिचय मिले। मन्द के कार्य में हमे बुद्धिहीनता का आभास मिलता है। आलसी के सभी कार्यों मे धीमापन दिखलाई पडता है। कभी-कभी इन विशेषणो का प्रयोग केवल सीमित अर्थ में ही किया जाता है। मानसिक जीवन की एकता मिश्रित होती है, तथापि उसमे भिन्नता भी दिखलाई पडती है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति को साहित्य का अच्छा ज्ञान है, परन्तु गणित मे वह कोरा ही हो सकता है। अत योग्यता का तात्पर्य 'सामान्य' और 'विशिष्ट' दोनो प्रकार की योग्यता से है। 'विशिष्ट योग्यता' से साधारणत यह अर्थ लगाया जाता है कि व्यक्ति के जीवन के विभिन्न भागो मे सामञ्जस्य का अभाव है, अर्थात् उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नही हो सका है। हमारे विद्यालयो का प्रधान उद्देश्य व्यक्तित्व का निर्माण ही होना चाहिये, परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति का उत्तरदायित्व शिक्षक और अभिभावक दोनो पर समान रूप से है, क्योकि एक दूसरे की सहायता विना विद्यालय अपना कार्य-सम्पादन सफलता से नही कर सकता। साहित्य, गणित, भूगोल इतिहास तथा सगीत आदि विषयो के पढाने का एक मात्र उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास ही है। सुसगठित विद्यालयो की चेष्टा रहती है कि व्यक्ति जीवन के सभी अगो मे कुशलता प्राप्त कर आदर्श नागरिक हो सके।

व्यक्तित्व की परिभाषा[2]

आदर्श नागरिकता व्यक्तित्व के विकास विना सम्भव नही। व्यक्तित्व को हम किसी व्यक्ति के चरित्र से पृथक नही कर सकते। जिस प्रकार चित्र विभिन्न रगो का मेल नही है, कविता विभिन्न शब्दो का योग नही है, उसी प्रकार व्यक्तित्व व्यक्ति की बुद्धि चरित्र तथा व्यवहार आदि का योग नही है, अपितु कुछ और ही है। व्यक्तित्व में

1. The effect of ability on personality. 2. The definition of personality.

व्यक्ति की आत्मा की छाप रहती है। वस्तुत: व्यक्तित्व की परिभाषा नही दी जा सकती। यह तो केवल समझने की वस्तु है। व्यक्तित्व मे कविता व चित्रकला की भाँति वास्तविकता रहती है। वह व्यक्ति के विभिन्न अनुभवो का निचोड है। वह बहुत से गत कारणों का फल है। इसमें व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियाँ, सवेग, संवेदनाओ, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना, स्मृति, बुद्धि तथा विवेक आदि सभी का सार निहित हो जाता है। यदि व्यक्तित्व का अर्थ इतना व्यापक होता है तो स्कूल का उत्तरदायित्व इस सम्बन्ध मे बडा महत्त्वपूर्ण है। यदि बालक के सवेगो पर उचित ध्यान नही दिया गया तो उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव नही। इसके पूर्ण विकास के लिये बालक को विभिन्न विषयों मे शिक्षा देनी होगी। बालक मे हरबार्ट के अनुसार बहुरुचि उत्पन्न करनी होगी। इसी से उसका दृष्टिकोण विस्तृत हो सकता है। इस विस्तृतता से ही व्यक्तित्व मे उदारता का समावेश हो सकता है। इसी से उसका मस्तिष्क विभिन्न क्षेत्रो की ओर अग्रसर हो सकता है।

व्यक्तित्व के प्रकार[1]

व्यक्तित्व के प्रकार के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिको के विभिन्न मत हैं। स्वभावानुसार विभिन्न प्रकारो का उल्लेख किया गया हैं। व्यक्तियो का वर्गीकरण करना बडा कठिन है, क्योकि अधिकाशत वे सामान्य कक्षा के ही होते हैं। तथापि कुछ प्रकारो का का वर्णन दिया जा सकता है। एक वर्गीकरण विश्लेषणात्मक[2] और सश्लेषणात्मक[3] प्रकृति वालो का किया जा सकता है। इसके समर्थक न्यूमैन और स्टर्न कहे जाते हैं। विश्लेषणात्मक प्रकृति वाले व्यक्ति किसी बात के सूक्ष्मतम अध्ययन मे बड़ी रुचि रखते हैं, संश्लेषणात्मक व्यक्ति समीक्षा करना प्राय. पसन्द नही करते। वे किसी विषय के अगो को जोडना चाहते है। जो बहुत शीघ्र ही अत्यधिक क्रोध, हर्ष, सग्रहवृत्ति, कामवृत्ति तथा आत्म-गौरव की प्रवृत्ति से प्रभावित हो जाते हैं उन्हे उग्र[4] प्रकृति का कहा जा सकता है। इसके विपरीत निरोधी[5] प्रकार है। ऐसे व्यक्ति अपनी भावनाओ का अवदमन बडी सरलता से कर सकते हैं। इस प्रकार व्यक्तियो के बहुत से वर्गीकरण किये जा सकते हैं, उदाहरणार्थ, चिन्ताशील व प्रसन्न चित्त, दीर्घसूत्री और गतिपूर्ण, स्थिर और अस्थिर इत्यादि। परन्तु मनोविश्लेषणवादी यूङ्ग महाशय का वर्गीकरण विशेष उल्लेखनीय है। यूङ्ग के अनुसार व्यक्तियों प्राय. दो का वर्गीकरण किया जा सकता है—अन्तर्मुखी[6] और बहिर्मुखी[7]। यूङ्ग के इस सिद्धान्त की ओर दूसरे अध्याय मे भी प्रसगवश सकेत किया जा चुका है।

---

1. Kinds of personality. 2. Analytic. 3. Synthetic. 4. Aggressive. 5. Inhibitive (दमन करने वाला) 6. Introvert. 7. Extrovert.

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी—

अन्तर्मुखी का ध्यान विशेषकर अपने ही ओर केन्द्रित रहता है। बाह्य जगत् की वस्तुओ से उसका अनुराग कम रहता है। अपने मन को वह विषयो की ओर नही जाने देता। निर्जनता उसे बडी प्रिय लगती है। दूसरो के सामने आने में उसे बडी झिझक लगती है। वह बडा कर्तव्यपरायण होता है, इसलिये अपने समय का उसे बडा ध्यान रहता है। हँसी-मजाक तथा व्यर्थ की गप्प से उसका मन बडा घबड़ाता है। अन्तर्मुखी व्यवहारकुशल नही होता। सासारिक बातो मे वह बडी सरलता से ठगा जा सकता है। किसी कार्य के प्रारम्भ करने मे उसे बडा डर लगता है। अन्तर्मुखी मे बहिर्मुखी की अपेक्षा क्षमता अधिक होती है, क्योकि वह एक ही कार्य मे अपने को बहुत देर तक लगा सकता है। अत. किसी एक विषय मे विशेषज्ञ होना उसके लिये बडा सरल हो जाता है। अन्तर्मुखी को ससार को प्रसन्न रखने की चिन्ता नही। वह अपना कार्य करता जाता है, चाहे लोग उससे प्रसन्न रहे या अप्रसन्न। इसके विपरीत बहिर्मुखी कोई ऐसा कार्य नही करना चाहता जिससे दूसरे अप्रसन्न हो। दूसरो को प्रसन्न करने के लिये किसी नीच कार्य को करना भी उसके लिये कठिन नही।

बहिर्मुखी का स्वाभाव सासारिक बातो में अनुरक्त रहने का है। उसे इधर-उधर जाकर गला फाड-फाड कर बात करना बडा अच्छा लगता है। कर्त्तव्य की अवहेलना करना उसके लिये साधारण बात होती है। वह अकेला नही रहना चाहता। हर कार्य में उसे एक साथी की आवश्यकता होती है। बहिर्मुखी अपने विचारो का प्रकाशन बडी सरलता से कर सकता है। उसमे आत्म-विश्वास अन्तर्मुखी की अपेक्षा अधिक होता है। वह अवसरवादी होता है। वह विज्ञापन के सहारे अपने विचारो के अनुसार दूसरो मे परिवर्त्तन लाना चाहता है।

बहिर्मुखी कार्य मे अधिक विश्वास करता है। अन्तर्मुखी विचारक होता है। सिकन्दर, नैपोलियन और हिटलर को बहिर्मुखी कहा जा सकता है। कॉण्ट, न्यूटन तथा टैगोर आदि को हम अन्तर्मुखी कह सकते हैं। दार्शनिक, वैज्ञानिक, चित्रकार तथा कवि आदि प्राय अन्तर्मुखी ही होते हैं। सेनापति, शासक तथा राजनीतिज्ञ आदि बहिर्मुखी की कोटि मे रखे जा सकते हैं। विचारक लोग प्राय उत्तरदायित्व से डरते हैं। उन्हे अविवाहित जीवन अधिक पसन्द आता है। काण्ट एक महिला के प्रस्ताव पर वर्ष भर सोचता रहा कि उसे विवाह करना चाहिये या नही। अन्त मे ऊब कर उस महिला ने किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया। न्यूटन बहुत दिन तक यह निश्चय न कर सका कि अपनी प्रधान कृति "प्रिन्सीपिया" का प्रकाशन कराये या नही।

वास्तव मे व्यक्तियो का इस प्रकार दो वर्गीकरण करना ठीक नही। बहुधा प्रत्येक व्यक्ति मे दोनो प्रकार के गुण पाये जाते हैं। भाषण देते हुए एक मनोवैज्ञानिक

ने यह कहा.—"तुम अन्तर्मुखी हो या वहिर्मुखी इसकी पहिचान के लिये यह उपाय है—मेरी बात को सुन कर यदि तुम यह सोचते हो कि तुम किस प्रकृति के हो तो तुम अन्तर्मुखी हो ; पर यदि तुम यह सोचते हो कि तुम्हारा पडोसी किस प्रकृति का है तो तुम बहिर्मुखी हो ।"[1] मनुष्यो को केवल इन्ही दो श्रेणियो मे रखना अन्याय सा दीख पडता है। कदाचित् यूङ्ग को इस कठिनाई का अनुमान था। इसलिये उसने "उभयमुखी"[2] प्रकार का भी उल्लेख किया है। 'उभयमुखी' अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी के बीच मे रहता है। उसकी रुचि न अपने ही पर रहती और न वाह्य वस्तु पर ही। यूङ्ग ने अपने सिद्धान्त की और आगे भी व्याख्या की है। इससे उसका सिद्धान्त बड़ा विस्तृत हो जाता है। उसने अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी के प्रत्येक प्रकार मे विचार-प्रधान,[3] भाव प्रधान,[4] तर्क-बुद्धि प्रधान[5] और दिव्यदृष्टि प्रधान[6]—चार और भेद किये हैं। इस प्रकार यूङ्ग के अनुसार आठ प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं। आरम्भ मे सबमे सभी प्रकार की शक्तियाँ पाई जाती हैं। जो भाव-प्रधान है उसमे विचार का सर्वथा अभाव नही रहता। बात यह है कि एक गुण के बढने से उसके विरोधी गुण का अवदमन हो जाता है।

बहिर्मुखी के प्रकार[7]—

विचार-प्रधान बहिर्मुखी सासारिक होता है। आध्यात्मिक विषयो में उसकी रुचि नही। वह बडा अच्छा प्रबन्धक अथवा शासक हो सकता है। उसकी कार्यकुशलता के सामने अन्तर्मुखी टिक नही सकता। वहिर्मुखी का अचेतन मन स्वार्थी होता है, पर चेतन मन मे स्वार्थ से वह घृणा करता है। पर अचेतन मन अपना प्रभाव सदा जमाये रहता है। अत विचार-प्रधान बहिर्मुखी का सुख मे लिप्त रहना आश्चर्यजनक नही। इसके विपरीत अन्तर्मुखी का चेतन मन स्वार्थी दिखलाई पडता है। किसी कार्य के करने के पहले वह सोच लिया करता है कि इससे उसे क्या लाभ है। पर उसका अचेतन मन सदा दूसरों की सहायता करने के लिये तैयार रहता है। पाठको का यह अनुभव होगा कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बातचीत करने मे तो वडे नि.स्वार्थ दिखलाई पडते हैं, पर जहाँ काम की बात आई कि वे तीन-पाँच करने लगते है। बात यह है कि वे अपनी बात से सबको प्रसन्न करना चाहते हैं, क्योकि उनकी व्यवहार-कुशलता उनका यही करने को कहती है। इस प्रवृत्ति का अनुमान किसी सस्था के अध्यक्ष में सरलता से लगाया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि मे सफल कहे जाने वाले अध्यक्ष

---

1. मॉर्गन ऐण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, अध्याय १६, पृष्ठ ३१०।
2. Ambivert—तीसरा अध्याय पढिये। 3. Thinking Type. 4 Feeling Type. 5. Reasoning Type. 6. Intuitive Type. 7. Kinds of Extrovert.

प्रायः विचार-प्रधान बहिर्मुखी होते हैं। अन्तर्मुखी का चेतन मन सदा स्वार्थी रहता है, पर अचेतन मन शुद्ध। चेतन मन के स्वार्थवश अन्तर्मुखी मे कर्त्तव्य-परायणता आ जाती है। इस कर्तव्य-परायणता का कुछ लोग गलत अर्थ लगाते हैं। व्यवहारकुशल बहिर्मुखी उसे स्वार्थी का विशेषण दे डालता है, पर यह अनुचित है, क्योंकि उसका अचेतन मन सदा उसे पवित्रता की ओर किये रहता है। और उसके कार्य मे बहिर्मुखी से अधिक सद्बुद्धि, परोपकार की भावना और निस्वार्थता रहती है।

विचार-प्रधान बहिर्मुखी में तर्क-प्रधान और दिव्यदृष्टि प्रधान दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। तर्क-प्रधान व्यक्ति बिना तर्क किये कोई कार्य नही करता। वकील तथा डाक्टर आदि प्राय इसी वर्ग के व्यक्ति होते हैं। धारा-सभा मे विधान बनाने वाले भी इसी कोटि के होते हैं। भौतिक वैज्ञानिक मे भी तर्क की प्रधानता पाई जाती है। दिव्यदृष्टि से कार्य करने वाले तर्क-वितर्क नही करते, क्योकि किसी विशिष्ट अवसर पर कुछ तर्क चलता ही नही। ऐसे व्यक्ति अपने कार्य अथवा नीति का कारण नही बतला सकते। वे कहते हैं कि हमारी दिव्यदृष्टि अथवा हमारी अन्तरात्मा यही कहती है। महात्मा गाधी और हिटलर अपनी नीति के निर्धारण मे दिव्यदृष्टि का कभी-कभी सहारा लिया करते थे। दार्शनिको का कहना है कि दिव्यदृष्टि भी उच्च कोटि का तर्क ही है। आन्तरिक तर्क के बाद ही दिव्यदृष्टि का आभास होता है।

जो व्यक्ति भाव-प्रधान बहिर्मुखी होता है वह किसी बात का निर्णय अपने भावो के अनुसार करता है। यह प्रकार विशेषकर स्त्रियो मे पाया जाता है। स्त्रियाँ पुरुषो से अधिक भावुक होती हैं। अत दया, क्रोध व करुणा उनमें अधिक पाई जाती है। पुरुषो के कार्य प्राय विचारो द्वारा नियन्त्रित होते है और स्त्रियो के भाव द्वारा। भाव दिखा कर स्त्रियो के हृदय को सरलता से जीता जा सकता है। यदि स्त्रियाँ भावुक न होती तो कदाचित् बालको का लालन-पालन इतनी योग्यता से वे न कर पाती। अतएव प्रकृति ने ऐसी ही व्यवस्था की है।

भाव-प्रधान बहिर्मुखी व्यक्ति पुरुषो मे भी पाये जाते हैं। आजकल के नवयुवक जो नये-नये कवि अथवा लेखक कहे जाते हैं प्राय ऐसे ही व्यक्ति होते हैं। भावुकतावश दूसरो की करुण कहानी सुनते-सुनते वे रो पडेगे, पर जहाँ सहायता की बात आयेगी वहाँ वे मुकर जायेंगे। भावुक व्यक्ति भावावेश मे बडी-बडी प्रतिज्ञाये कर जाता है, पर अवसर पर दाहिने-बाये झाँकने लगता है। भाव-प्रधान बहिर्मुखी स्त्री व पुरुष का अचेतन मन बडा ही स्वार्थी होता है। पर चेतन मन स्वार्थहीन होता है। अतएव किसी का दुख देख कर उसका हृदय तुरन्त पिघल जाता है, पर बाद मे अचेतन मन उस पर नियन्त्रण कर उसे अपने स्वार्थ-सिद्धि में लीन कर देता है।

अन्तर्मुखी के प्रकार[1]—

अन्तर्मुखी विचार-प्रधान व्यक्ति सदा अध्ययन और चिन्तन मे लीन रहता है। उसे आध्यात्मिक विषयो से प्रायः बडी रुचि रहती है। ऐसे ही व्यक्ति गूढ दार्शनिक और विचारक होते है। कार्यान्वित करने के लिये ये दूसरो को बड़े बड़े सिद्धान्त देने में सफल होते है। जीव, ब्रह्म तथा प्रकृति आदि का रूप-निरूपण करना इन्ही लोगो का काम है। अन्तर्मुखी विचार-प्रधान व्यक्ति दो प्रकार के होते है—एक तर्कबुद्धि वाले और दूसरे दिव्यदृष्टि वाले। तर्कबुद्धि वाले दार्शनिक होते हैं। ये इन्द्रियो द्वारा वाह्य विषय का ज्ञान करके युक्तियो के ढूँढने मे लिप्त रहते हैं। ऐसे दार्शनिक सत्य की खोज करने वाले होते हैं, पर सत्य के ज्ञाता अथवा द्रष्टा नही। इसके विपरीत विचार-प्रधान व दिव्यदृष्टि वाले अन्तर्मुखी सत्य के ज्ञाता और द्रष्टा होते हैं। ऐसे ही लोग ऋषि अथवा पैगम्बर कहे जाते हैं। अन्तर्मुखी दिव्यदृष्टि वाला व्यक्ति सदा आत्मोद्धार मे लीन रहता है। पर वह अपना आत्मोद्धार जगत के कल्याण के लिये करना चाहता है। पहले स्वय प्रकाश को देखकर उसे दूसरो को देना चाहता है। भगवान् बुद्ध तथा अन्य धर्म के प्रवर्तक इसी कोटि के व्यक्ति थे।

अव हम अन्तर्मुखी भाव प्रधान वाले व्यक्तियो पर आते हैं। ऐसे व्यक्ति दु.खी दिखलाई पडते है। ससार के दु ख से वे दु खी दिखलाई पडते हैं, पर उसके निवारण के लिए वे कोई प्रयत्न नही करते। ऐसे व्यक्तियो की वाणी मे निराशावाद झलकता है। प्रायः कवि लोग इसी कोटि के होते हैं। वे ससार की पूरी गाथा रो जाते हैं। कवि सम्मेलनो मे कविता पाठ करने बैठेंगे तो जान पडेगा पूरे ससार के दु.ख का ठेका इन्ही लोगो ने ले रखा है। भाव-मुद्रा से ऐसा प्रतीत होगा, कि मानो उनका हृदय फटा जा रहा है। ऐसे लोग अपने जीवन से दु खी दिखलाई पडते हैं और ससार से अलग रहना चाहते हैं।[2] इनमे व्यवहार-कुशलता नही होती। छोटी से छोटी वात पर वे अड जाते हैं और तुनक कर उठ जाने को तैयार हो जाते हैं या शीघ्र ही चल पडते हैं, जान पडता है कि मानो विच्छू के डक से यकायक वे तिलमिला उठे हैं। ऐसे लोग आत्म-हत्या करने के लिये वहुधा सोचा करते हैं, पर ईश्वर को धन्यवाद है कि वे ससार में प्रतिष्ठा पाने के लोभ का सवरण नही कर पाते और अपने आत्महत्या का निर्णय भग कर देते हैं।

प्राय· लोग कवियो को स्वार्थी कहा करते हैं, पर यह भारी भूल है। कुछ

---

1. Kinds of Introvert. 2. ऐसे व्यक्तियों के मनोविश्लेषण से यह सिद्ध किया जा चुका है कि इन्हे किसी प्रेमिका की याद वहुत सताती है अथवा किसी स्त्री को प्रेम देने को वे व्याकुल रहते हैं। इनमें काम-सम्वन्धी भावना-ग्रन्थियाँ वड़े गहन रूप में दृढ़ जाती हैं। किसी कवि के जीवन के सूक्ष्म विश्लेषण से पाठक को इसका पता लग सकता है।

कवि स्वार्थ-परायण भले ही दिखलाई पडे, पर सच्चे कवि स्वार्थ-परायणता से उतनी ही घृणा करते हैं जितना कि शाकाहारी माँस से। सच्चे कवि अपने लिये कुछ भी नही करना चाहते, पर दूसरो की सेवा की प्रवल इच्छा रखते हुए भी अपने भाव की प्रधानता के कारण वे कुछ भी करने मे समर्थ नही होते। ऐसे लोग कार्य करने को कटिवद्ध हो जाते हैं, पर वाह्य क्रिया मे रुचि न रखने के कारण शीघ्र ही ऊव कर कार्य छोड कर वैठ जाते हैं। भक्तिमार्ग का निर्माण ऐसे ही लोग करते हैं। उत्कृष्ट कोटि के कवियो मे भावुकता और दिव्यदृष्टि का समावेश रहता है। कवि दिव्यदृष्टि से सत्य को पहचानता है और अपनी भावुकता के सहारे लोगो के समक्ष उसे व्यक्त करता है।

बचपन मे व्यक्तित्व का विकास[1]

व्यक्तित्व का विकास जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है। शिशु के अनुभव सुखद और दुखद दोनो होते है। सुखद अनुभव धीरे-धीरे उसके व्यवहार का एक स्थायी अग हो जाता है। इसी व्यवहार से उसके व्यक्तित्व की विशेषतायें निकलती हैं। व्यक्तित्व के विकास मे "सीखना" सवसे प्रधान है। तीव्रवुद्धि वालक मन्दवुद्धि से अधिक सीखता है। जो वालक लम्वा तथा स्वस्थ है उसकी वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया' अस्वस्थ वालक से भिन्न होगी। एक वालक का व्यवहार दूसरे से भिन्न होता है। यह भिन्नता उसमे जन्म काल से ही देखी जा सकती है। ऐसे वच्चे दूसरो से अधिक खेलते हँसते-उछलते और कूदते है। छ महीने की उम्र मे ही कुछ वच्चो मे दूसरो से अधिक लज्जा देखी जाती है। इतनी छोटी उम्र मे ही कदाचित् भय-भावना भी उनमे आ जाती है। कुछ वच्चे दूसरो को गोद मे शीघ्र चले जाते है और कुछ दूसरो की गोद मे रोने लगते हैं। आठ-दस महीने मे ही कुछ इतने उग्र और हठी दिखलाई पडते है कि अवसर पर अपने हाथ व पैर कडे कर लेते हैं और इस प्रकार अपनी अनिच्छा अथवा रोप प्रगट करते हैं। वच्चो के ये व्यवहार उनके व्यक्तित्व की विशेपतायें है या केवल उनकी सहज प्रतिक्रियाये हैं जिनका व्यक्तित्व से कोई सम्वन्ध नही। वाशवर्न[2] के अनुसार वच्चो के व्यवहार मे स्थायित्व दिखलाई पडता है। उनके हँसने, रोने और चिल्लाने की जो मात्रा प्रथम वर्प मे होती है अनुपात मे वही दूसरे वर्प मे भी होती है। वेले[3] भी उनके व्यवहार मे ऐसा ही स्थायित्व देखना है।

स्वतन्त्रता[4]—

प्रारम्भ मे वालक अपनी सभी वातो के लिये दूसरो पर आश्रित रहता है।

---

1 The development of personality during childhood. 2. जेनेटिक साइकॉलॉजी मोनोग्राफ्स, भाग ६, पृ० ३९७—५३७। 3. जर्नल ऑव् जेनेटिक साइकॉलॉजी, भाग ४०, पृ० ३०६—३२६। 4. Freedom.

पर धीरे-धीरे वह स्वतन्त्रता का पुजारी होने लगता है। वह अपने कार्य स्वयं ही करना चाहता है। वह स्वयं ही भोजन करना, कपडे पहनना तथा स्नान करना चाहता है। कुछ माता-पिता बच्चो की ऐसी स्वतन्त्रता में बाधक होते हैं। वे उसे स्वयं इस भय से नही खाने देते कि कही वह सारे हाथ, कपोल तथा देह मे जूठा न पोत ले। भोजन मे अपनी स्वतन्त्रता पर छोडा हुआ, चारों ओर जूठन पोतते हुए अपनी क्षुधाग्नि बुझाने में लिप्त बालक कितना मनोहर लगता है!!! यशोदा तो कृष्ण की इसी मूर्ति पर बलि जाती थी! पर आजकल के अमनोवैज्ञानिक माता-पिता प्रेमोद्गार मे बच्चे को स्वय कुछ करने ही नही देते। फलत: वे बालक की स्वतन्त्रता मे बाधक होते है। "स्वतन्त्रता" व्यक्तित्व का एक विशिष्ट गुण है। इसमे बाधा डालने से बालक के व्यक्तित्व का ह्रास होता है। यही कारण है कि बहुत से आठ-दस वर्ष के बालक अपने कार्य स्वय करने मे असमर्थ दिखलाई पडते हैं। ऐसे बालकों को भविष्य मे कष्ट उठाना पडता है।

आत्म-विश्वास[1]—

आत्म-विश्वास व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता है। इसके विकास के लिये अभिभावकों और शिक्षकों को प्रारम्भ से ही बडा सतर्क रहना चाहिये। बालको को कुछ ऐसे कार्य देने चाहिये जिसे वे सफलता से कर आत्म-सन्तोष का अनुभव कर सके। इसके अतिरिक्त बच्चो की कटु आलोचना तथा उपहास न करना चाहिये। समयानुसार उनकी प्रशंसा करना आवश्यक है। इससे उनमे आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है। कुछ अभिभावक अथवा शिक्षक इस सम्बन्ध मे बडे ही क्रूर दिखलाई पडते है। वे बच्चों की किसी साधारण बात पर इतना उपहास करते हैं कि उनकी अज्ञानता पर हँसी आती है। बच्चा तो एकदम निर्दोष होता है। वह पवित्रता की मूर्ति है। ईश्वर का उसमें वास है। अतः ऐसे अभिभावक और शिक्षक मानवता के प्रति अपराधी हैं। अभिभावक और शिक्षक होने का उन्हे अधिकार नही।

आत्म-निर्भरता और आत्म-संयम[2]—

आत्म-निर्भरता और आत्म-संयम व्यक्तित्व के अन्य गुण हैं। इन दोनो गुणो का स्वतन्त्रता और आत्म-विश्वास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस बालक मे स्वतन्त्रता और आत्म-विश्वास का भाव रहेगा उसमे आत्म-निर्भरता और आत्म-संयम स्वत: आ जायगा।

प्रभुत्व और दीनता[3]—

मानव व्यवहार प्रभुत्व अथवा दीनता दिखलाने वाला होता है। अत प्रभुत्व

1. Self-confidence. 2. Self-reliance and self-control. 3. Dominence and submission.

और दीनता व्यक्तित्व का अग माना जा सकता है। ये विशेषतायें बच्चो मे भी देखी जा सकती हैं। मैकलालिन[1] के अनुसार प्रभुत्व-भावना की वृद्धि के ये कारण हो सकते है—"बहुत सामाजिक व्यवहार, छोटी उम्र में उत्तरदायित्व को सँभालना, घर मे नियन्त्रण का अभाव, माता-पिता के व्यवहार का प्रभाव, स्वस्थ शारीरिक व मानसिक अवस्था और खेलने मे प्रवीणता।" व्यक्ति मे दीनता-भाव के आने के कारण ये हो सकते हैं.—"शारीरिक अस्वस्थता, घरेलू झगड़े, सहपाठियो द्वारा उपहास, बडो से अपनी तुलना, घर मे स्वतन्त्रता का अभाव।" बालको के व्यवहार मे इन सब बातो का आभास स्पष्टता से मिलता है। फ्रेण्टन[2] ने ३४ एकलौते और १६३ अन्य बालको का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि एकलौते बालको मे प्रभुत्व के प्रदर्शन की भावना दूसरे बालको से अधिक रहती है। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि एकलौते लडके कई प्रकार की समस्यायें उपस्थित करते हैं।

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी बालक—

सातवे अध्याय मे खेल की विवेचना करते हुए हम देख चुके हैं कि बालक बहुधा कल्पना-जगत मे रहा करते हैं। तो क्या बालक अन्तर्मुखी होते हैं ? मास्टर्न[3] ने ५६ बालको पर कुछ परीक्षण किया। उसने निष्कर्ष निकाला कि पाँच-छ वर्ष के बालको मे बहिर्मुखी कम होते हैं, पर इनसे छोटी अवस्था वालो मे बहिर्मुखी उनकी अपेक्षा अधिक होते हैं। लडकियो की अपेक्षा लडके अधिक बहिर्मुखी सिद्ध हुए। अन्तर्मुख और बहिर्मुख भाव बालको में अन्य गुण व दोषो की भाँति उत्पन्न होते हैं। जिन बालको की इच्छाओ का अवदमन होता है वे किसी न किसी प्रकार उनकी वृद्धि का उपाय ढूँढते हैं। यदि यह उपाय कल्पित हुआ तो वह बालक अन्तर्मुख होगा और यदि कल्पित न हुआ तो वह बहिर्मुख होगा। अत यह देखा जाता है कि अवदमित इच्छाओ वाला बालक प्राय अन्तर्मुखी हो जाता है। उसमे विचारो की कमी हो जाती है। व्यवहार-कुशलता उसमें से जाती रहती है। अत अभिभावको और शिक्षको को यह देखना है कि बालको की इच्छाओ का अवदमन न हो।

बालक का व्यक्तित्व, माता-पिता और शिक्षक[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बालक के व्यक्तित्व के विकास का उत्तरदायित्व घर तथा स्कूल पर है। अभिभावक का दायित्व शिक्षक से अधिक है, क्योकि बालक अपने समय का अधिक भाग उन्ही के साथ व्यतीत करता है। अभिभावको का

---

१. द जेनेसिस एण्ड कॉन्सटैन्सी ऑव् असेडेन्स एण्ड सबमिशन ऐज पर्सनालिटी ट्रेट्स। २. जर्नल ऑव् जेनेस्टिल साइकॉलॉजी, भाग ३५, पृष्ठ ५४६–५५५। ३. द इमोशन्स ऑव यङ्ग-चिल्ड्रेन, पृष्ठ ४३२। 4. The Personality of the child—Parents and Teacher.

व्यक्तित्व जितना विकसित रहता है उसी अनुपात में प्राय. बालको का भी व्यक्तित्व विकसित होगा। यदि अभिभावक क्रोधी, मूर्ख अथवा भावुक हुआ तो इसका प्रभाव बालक पर अवश्य पड़ेगा। यदि वह ज्ञानी, बुद्धिमान, सामाजिक तथा अध्यवसायी हुआ तो बालक की भी प्रवृत्ति इस ओर होगी। फ्रान्सिसी और फलमोर कुछ बालको का सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि माता-पिता की मनोवृत्ति का बालक के व्यक्तित्व पर बडा प्रभाव पड़ता है। शहर के गन्दे स्थानो मे रहने वाले और अच्छे स्थानो में रहने वाले बालकों का अध्ययन कर उन्होने देखा कि बालक के व्यक्तित्व पर वातावरण की अपेक्षा माता-पिता की मनोवृत्ति का अधिक प्रभाव पडता है। अतः बालको के ठीक पालन के लिये माता-पिता को उचित शिक्षा देना एक बडी सामाजिक आवश्यकता है।

बालक के व्यक्तित्व-विकास मे स्कूल का भाग बड़ा महत्त्वपूर्ण है। स्कूल-जीवन के कई अग होते हैं। बालको का सम्बन्ध वहाँ केवल विभिन्न विषयो के ज्ञान प्राप्त करने से ही नही होता। स्कूल मे बालक कई प्रकार के व्यक्तियो के सम्पर्क मे आता है। उसके कुछ मित्र बनते है और कुछ शत्रु। विभिन्न व्यक्तियो के सम्पर्क मे आने से उसमें सामाजिकता का विकास होता है। शिक्षको के सम्पर्क में आने तथा विभिन्न विषय के अध्ययन से बालक के विचार में एक प्रकार की क्रान्ति सी मच जाती है। दूसरे, स्कूल-शिक्षा के फलस्वरूप प्रमाण-पत्र पाने का प्रलोभन उनकी विभिन्न प्रतिक्रियाओ मे और भी परिवर्त्तन ला देता है। हमारे देश के स्कूलो मे अभी वैयक्तिक भिन्नता पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। सबको एक ही प्रकार के विषय पढाये जाते हैं। फलत बहुत से बालको का समय नष्ट होता है। उनमे आलस्य और उदासीनता आ जाती है, वे अपने को अयोग्य समझने लगते हैं। आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि उनमे आ जाती है। यदि शिक्षक योग्य रहे तो बालक के ये सव अवगुण दूर हो सकते हैं।

पाठको का अनुभव होगा कि कुछ शिक्षको ने उन्हे कितना उत्साह दिया है। वस्तुतः प्रथम रास्ता दिखलाने वाला शिक्षक ही होता है। यदि वह योग्य हुआ तो वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार प्रत्येक बालक पर ध्यान रख उसके व्यक्तित्व के विकास मे वह पूरा योग दे सकता है। पर शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यक्तित्व का विकास केवल वैयक्तिक भिन्नता पर ध्यान देने से ही नही हो सकता, यद्यपि वैयक्तिक भिन्नता प्रधान है। शिक्षा की व्यवस्था अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी बालक के आधार पर करना बुद्धिमानी से खाली होगा। पहले तो यह ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है कि कौन बालक किस कोटि में रखा जाय। दूसरे, यदि यह निश्चय भी हो जाय तो हमें विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व वाले बालको को स्कूल-समय के कुछ अग मे साथ

पढाना ही होगा; क्योकि विना परस्पर आदान-प्रदान के मनोविकास समृद्ध नही हो सकता। एकाङ्गी विकास व्यक्तित्व के लिये कभी श्रेयस्कर नही। व्यक्ति को उदार और सहिष्णु होना चाहिये। उसे अपना जीवन पूर्ण वनाना है। अतः स्कूलो मे वालको का वर्गीकरण 'व्यक्तित्व के प्रकार' पर नही किया जा सकता। वालको के 'वर्गीकरण' तथा 'वैयक्तिक भेद के अनुसार शिक्षा' पर गत अध्याय मे हम प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शिक्षक को यथासम्भव व्यक्तित्व के 'प्रकार' समझने की चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार वालक के वास्तविक स्वभाव का कुछ ज्ञान होगा। स्वभाव के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करने से ही व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास किया जा सकता है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

व्यक्तित्व का स्वरूप

व्यक्तित्व का अर्थ समझने में भ्रम, व्यक्तित्व का तात्पर्य केवल मानसिक विकास नही, व्यक्तित्व का तात्पर्य केवल वाह्य शारीरिक गठन और सौष्ठव से नही, व्यक्तित्व व्यक्ति के पूरे व्यवहार का दर्पण, प्रतिक्रियाओ के फलस्वरूप व्यक्तित्व का निर्माण।

व्यक्तित्व का पृथक अस्तित्व ध्वनि के सदृश्, व्यक्तित्व का अलग अस्तित्व नही, व्यक्तित्व गतिपूर्ण, इसकी गति समाज मे ही, व्यक्तित्व की व्याख्या व्यक्ति की प्रतिक्रिया, अत व्यक्तित्व की रचना प्रतिक्रिया से, व्यक्तित्व मूलप्रवृत्तियो तथा विभिन्न अर्जित व्यवहारो का फल, व्यक्तित्व का विश्लेषण हमारे व्यवहार का विश्लेषण, व्यक्तित्व दूसरे के समझने का दृष्टिकोण।

व्यक्तित्व के रहस्य को समझना कठिन, व्यक्तित्व में हमारा व्यवहार निहित।

व्यक्तित्व पर वंशानुक्रम का प्रभाव

व्यक्तित्व विभिन्न प्रभावो का फल, शारीरिक आकृति का व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव, शारीरिक आकृति सक्रमित, वशानुक्रम का प्रभाव अवश्य।

व्यक्तित्व पर वातावरण का प्रभाव

व्यक्तित्व पर सामाजिक व आर्थिक अवस्था का प्रभाव सवसे अधिक।

व्यक्तित्व पर योग्यता का प्रभाव

बुद्धि का व्यक्तित्व पर प्रभाव, मानसिक जीवन की एकता मिश्रित, भिन्नता भी, शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व विकास ही, शिक्षक और अभिभावक का उत्तरदायित्व समान।

व्यक्तित्व की परिभाषा

व्यक्तित्व बुद्धि, चरित्र तथा व्यवहार आदि का योग नही; व्यक्तित्व मे आत्मा की छाप, व्यक्तित्व समझने की वस्तु, व्यक्तित्व व्यक्ति के विभिन्न अनुभवो का निचोड, स्कूल का उत्तरदायित्व महत्वपूर्ण, बालक के दृष्टिकोण को विस्तृत करना।

व्यक्तित्व के प्रकार

विभिन्न मत, व्यक्ति अधिकाशत: सामान्य कक्षा के; विश्लेषणात्मक, सश्लेषणात्मक, उग्र, दमनशील आदि विभिन्न वर्गीकरण, यू ग का वर्गीकरण।

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी—

अन्तर्मुखी अपनी ही ओर केन्द्रित, निर्जनता प्रिय, कर्त्तव्य-परायण, व्यवहार-कुशल नही, कार्य के प्रारम्भ करने मे उसे बडा डर, अन्तर्मुखी में बहिर्मुखी से क्षमता अधिक, अन्तर्मुखी को ससार को प्रसन्न करने की चिन्ता नही, बहिर्मुखी की गति ऐसी नही।

बहिर्मुखी सासारिक बातो मे अनुरक्त, कर्त्तव्य की अवहेलना करना साधारण बात, बहिर्मुखी अपने विचारो का प्रकाशन सरलता से, आत्म-विश्वास, अधिक अवसर-वादी।

बहिर्मुखी का कार्य मे विश्वास, अन्तर्मुखी विचारक, अन्तर्मुखी का उत्तर-दायित्व मे डरना।

प्रत्येक व्यक्ति मे दोनो प्रकार के गुण, उभयमुखी, विचार प्रधान, भाव-प्रधान, तर्क-बुद्धि-प्रधान और दिव्यदृष्टि-प्रधान, सबमे सभी प्रकार की शक्तियाँ।

बहिर्मुखी के प्रकार—

विचार-प्रधान बहिर्मुखी सांसारिक, कार्य कुशलता, अचेतन मन स्वार्थी, सुख मे लिप्त रहना, अन्तर्मुखी का अचेतन मन दूसरो की सहायता करने के लिये तैयार, अन्तर्मुखी मे कर्त्तव्य-परायणता और अधिक सद्‌वृद्धि।

तर्क-प्रधान और दिव्यदृष्टि-प्रधान व्यक्ति।

भाव-प्रधान बहिर्मुखी स्त्रियो मे अधिक।

भाव-प्रधान बहिर्मुखी का अचेतन मन स्वार्थी, अतः दूसरो के दुख पर पिघलने पर भी अपने स्वार्थ मे ही लीन।

अन्तर्मुखी के प्रकार—

अन्तर्मुखी विचार-प्रधान अध्ययन और चिन्तन मे लीन, तर्क-बुद्धि और दिव्य-दृष्टि वाले विचार-प्रधान अन्तर्मुखी।

अन्तर्मुखी भाव-प्रधान, दुःखी और निराशावादी, अव्यवस्थित चित्त के, कवि का स्वभाव।

कवि का स्वभाव।

बचपन में व्यक्तित्व का विकास

"सीखना" प्रधान, वैयक्तिक भिन्नता शैशव काल मे ही स्पष्ट, बच्चे के व्यवहार मे स्थायित्व।

स्वतन्त्रता—

बालक स्वतन्त्रता का पुजारी, स्वतन्त्रता व्यक्तित्व का विशिष्ट गुण, इसमें किसी प्रकार की बाधा अमनोवैज्ञानिक।

आत्म-विश्वास—

व्यक्तित्व का दूसरा गुण, बालको का उपहास करना अनुचित, बालक पवित्रता की मूर्ति।

आत्म-निर्भरता और आत्म-संयम—

प्रभुत्व और दीनता—

प्रभुत्व और दीनता व्यक्तित्व के अंग, ये विशेषताये बालको मे भी।

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी बालक—

लडकियो की अपेक्षा लडके अधिक बहिर्मुखी, कल्पित उपायो से अपनी इच्छा पूर्ति करने वाला बालक अन्तर्मुखी, बालको की इच्छाओ का अवदमन नही।

बालक का व्यक्तित्व, माता-पिता और शिक्षक

अभिभावको का दायित्व शिक्षक से अधिक, माता-पिता के व्यक्तित्व का बालक पर बहुत प्रभाव, माता-पिता को पालन-पोषण की उचित शिक्षा।

व्यक्तित्व-विकास पर स्कूल का भी प्रभाव, चतुर शिक्षक की आवश्यकता, शिक्षा की व्यवस्था अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी के आधार पर नही, एकाङ्गी विकास श्रेयस्कर नही, व्यक्तित्व के प्रकार को समझने की चेष्टा।

सहायक पुस्तकें

१—स्किनर—एडूकेशन साइकॉलॉजी, (१९४७) अध्याय २०, २१।
२—ब्रुक्स—चाइल्ड साइकॉलॉजी, अध्याय, १५,१६।
३—जड—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय, २४, २५।
४—क्रूज—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय, १३।
५—चेव् अर्नेस्ट—परसनॉलिटी डेवलपमेण्ट इन चिल्ड्रेन।

६—ऐञ्जिल, ए०—फॉउण्डेशन्सकल फॉर ए साइन्स फॉर परसनॉलिटी।
७—थॉर्प—साइकॉलॉजी फाउण्डेशन्स ऑव परसनॉलिटी।
८—यङ्ग—परसनॉलिटी ऐण्ड प्रॉवलेम्स ऑव् ऐडजस्टमेन्ट्स।
९—ऑलपोर्ट—परसनॉलिटी।
१०—मॉगर्न ऐण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, अध्याय १६।
११—वाशवर्न—जेनेटिक साइकॉलॉजी मोनोग्राफ़्स, भाग ६, पृ० ३९७–५३७।
१२—बेले—जर्नल ऑव् जेनेटिक साइकॉलॉजी, भाग ४०, पृ० ३०६–३२९।
१३—मैकलालिन—द जेनेसिस ऐण्ड कॉन्स्टैन्सी ऑव् असेडेन्स ऐण्ड सबमीशन ऐज परसनॉलिटी ट्रेट्स।
१४—मास्टर्न—द इमोशन्स ऑव यङ्ग चिल्ड्रेन।
१५—फ्रान्सिस ऐण्ड फिलमोर—द इनफ्लूयेन्स ऑव इनव्यॉरॉनमेण्ट अपॉन द परसनॉलिटी ऑव चिल्ड्रेन।
१६—सरयू प्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान, अध्याय ९।
१७— ,, ,, ,,—किशोर मनोविज्ञान की भूमिका, अध्याय १४।
१८— , ,, ,,—सामान्य मनोविज्ञान, अध्याय १४।
१९— ,, ,, ,,—शिक्षण-सिद्धान्त की रूपरेखा, अध्याय ११।
२०— ,, ,, ,,—सेकेण्डरी एडूकेशन फॉर इण्डिया, अध्याय ७।

१५

अन्तर्द्वन्द्व[1]

अचेतन मन

हम कह चुके हैं कि व्यक्ति के व्यवहार कभी-कभी ऐसे होते हैं जिनका कारण वह स्वय नही समझ पाता । ये व्यवहार उसकी भावना-ग्रन्थियाँ द्वारा प्रचारित होते हैं। व्यक्ति का विकास सदा एक रस नही चलता । कभी वह अपनी इच्छाओ की पूर्ति में सफल होता है और कभी असफल । कलुषित वातावरणवश उसकी कुछ मूलप्रवृत्तियों का अवदमन होता ही है । मूलप्रवृत्तियो के अवदमन तथा इच्छाओ के प्रतिरुद्ध होने के कारण मन के अज्ञात भाग का निर्माण होता है । मन के इसी अज्ञात भाग को फ्रॉयड महोदय ने अचेतन मन[2] की सज्ञा दी है । अचेतन मन की विशेषता स्पष्ट करने का श्रेय फॉयड, यूङ्ग, एडलर, जोस तथा फरेंजी आदि को है । मनोविश्लेषणवाद का विषय अचेतन मन ही है । आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मन के दो भाग हैं— चेतन[3] और अचेतन । चेतन मन बाहरी मन है और अचेतन मन आन्तरिक । अचेतन मन के दो भाग किये गये हैं —प्रसुप्त और प्रतिहारी । फ्रॉयड के अनुसार प्रसुप्त मन शक्ति का केन्द्र है । वासना का उद्गार यही से होता है । यदि वासना पर नियन्त्रण रहा तो कार्य अच्छा होगा, अन्यथा बुरा । इसके अवदमन से व्यक्तित्व का ह्रास होता है, और शोधन से विकास । व्यक्ति की नैतिकता की रक्षा प्रतिहारी द्वारा होती है । 'जीवन आदर्श' प्रतिहारी के ही नियन्त्रण मे बनता है ।

"अचेतन" चेतन मन से ही बनता है । वातावरण से सघर्षस्वरूप जो कुछ विचार हमारे चेतन मन मे उठते है उनकी प्रतिक्रिया अचेतन मन में होती है । एक बार की आई हुई प्रतिक्रिया अचेतन मन पर अपना स्थायी प्रभाव डालती है । ये प्रभाव अचेतन मन मे जमते जाते हैं । यदि रुई के गट्ठर के सदृश् इनकी तह सुव्यवस्थित हुई तो व्यक्ति की मानसिक स्थिति सुसगठित होगी और वह सामान्य व्यक्ति कहा जायगा । यदि अचेतन मन मे प्रवेश करने वाले विचार दूसरो से मेल नही खाते तो वहाँ एक सघर्ष उठता है । यदि यह सघर्ष शान्त हो गया तो व्यक्ति का मानसिक

1. Mental Conflict 2. Unconscious. 3. Conscious.

गठन ठीक होगा, अन्यथा नही। हमारा यह अनुभव है कि कभी-कभी किसी घटना या बात के सघर्ष में आने से मन एकदम विक्षुब्ध हो उठता है। यह विक्षुब्धता अचेतन और चेतन मन का सघर्ष है। इस समय चेतन मन मे आया हुआ विचार व्यक्ति के नैतिक आदर्श के स्वामी प्रतिहारी की कसौटी पर खरा नही उतरता। अत. झगडा प्रारम्भ होता है। जब चेतन और अचेतन मन मे किसी प्रकार का समझौता हो जाता है तो विक्षुब्धता मिट जाती है। जैसे दो भाई आपस में झगडा कर किसी समझौते पर पहुँच कर शान्त हो जाते हैं, पर अवसर आने पर उनका कलह पुन. प्रारम्भ हो जाता है, उसी प्रकार चेतन और अचेतन का झगडा पुनः प्रारम्भ हो सकता है। यह झगडा जितना ही कम होता है, उतना ही व्यक्तित्व-विकास आदर्शरूप होता है। चेतन और अचेतन मन का झगडा ही अन्तर्द्वन्द्व है। ससार मे कोई ऐसा व्यक्ति नही जिसका मानसिक गठन आदर्शरूप हो। कुछ न कुछ दोष तो प्रत्येक व्यक्ति मे मिलते हैं। अतः अन्तर्द्वन्द्व तो प्रत्येक व्यक्ति मे होता है, अन्तर केवल 'मात्रा' का होता है, 'प्रकार' का नही। जैसे कुछ न कुछ दोष तो हर समय प्रत्येक के शरीर मे होता है, पर डाक्टर केवल रोगी की ही दवा करता है, उसी प्रकार मनोविश्लेषक प्रायः उसी का विश्लेषण करता है जिसका अन्तर्द्वन्द्व उसकी दैनिक क्रिया मे बाधक होता है।

फ्रॉयड महोदय ने मन की तुलना समुद्र में तैरते हुए एक बर्फ के टुकडे (आइस बर्ग) से की है। जैसे बर्फ का केवल आठवाँ भाग ही दृष्टिगोचर होता है, क्योकि और भाग पानी में रहता है, उसी प्रकार हमारे मन का केवल आठवॉ ही भाग का चेतन मन प्रतिनिधित्व करता है। अन्य भाग चेतन मन मे छिपा रहता है। जैसे समुद्र मे तूफान आने से बर्फ के टुकडे का भीतरी भाग बाहर उलट सकता है, उसी प्रकार व्यक्ति मे अन्तर्द्वन्द्व आने से अचेतन मन का भाग वाह्य व्यवहार मे प्रदर्शित हो जाता है। दूसरे स्थल पर फ्रॉयड ने मन की तुलना नाट्यशाला से की है। जिस प्रकार रगमञ्च पर खेल अपने आप नही होते, वरन् उनका कारण होता है और जिस प्रकार सामने आने वाले पात्र सब पात्रो अथवा पूरे खेल के केवल कुछ अश होते हैं, उसी प्रकार हमारे व्यवहार का कारण अचेतन मन मे छिपा रहता है और व्यवहार मे व्यक्त भावनाये हमारी समस्त भावनाओ के अश मात्र हैं। जैसे नाटक मे परदे के सामने होने वाली घटनाये परदे के भीतर से सञ्चालित होती है वैसे ही हमारे व्यवहार अचेतन मन से सञ्चालित होते हैं।

अचेतन मन के होने के कुछ प्रमाण[1]

स्वप्न[2]—

जो जितना ही कम जानता है वह उतना ही अधिक जानने का दावा करता है। कुछ लोगो की धारणा है कि वे अपने मन को पूर्णतः समझते हैं। इतना ही नही,

1. Some evidences of existence of the Unconscious. 2. Dreams.

वरन् वे यहाँ तक कह जाते हैं कि वे दूसरो के भी मन को समझते हैं। परन्तु यह धारणा गलत है। अपने को ही समझना महा कठिन है तो दूसरे की बात क्या कहना ! "अपने को समझना कठिन है —" इसका प्रमाण यह है कि हम स्वय कभी-कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य कर जाते हैं, पर समझ नही पाते कि ऐसा क्यो किया। अपने मन के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से ही अपने व्यवहार का कुछ कारण समझा जा सकता है। चेतन मन से सञ्चालित क्रियाओ का हमे ज्ञान रहता है, पर अचेतन मन का नही। अचेतन मन की क्रियाये सुप्तावस्था मे स्वप्न के रूप मे होती हैं। कभी-कभी हम ऐसा स्वप्न देखते हैं जिसका कारण समझना सर्वथा असम्भव होता है। स्वप्न मे हम ऐसे भ्रष्टाचार करते हैं जिसकी जागृतावस्था में हम कल्पना भी नही कर सकते। स्वप्न में हम क्या-क्या पाप नही करते ? स्वप्न के पाप से बडे-बडे सन्त और महात्मा भी नही बचते। स्वप्न के होने से हमे यह पता चलता है कि कोई ऐसी आन्तरिक शक्ति है जिस पर हमारा कोई नियन्त्रण नही। फ्रॉयड के अनुसार यही आन्तरिक शक्ति अचेतन मन है।

कल्पनायें[1] —

हमारा चेतन मन हर समय क्रियाशील रहता है। हम हर समय कुछ न कुछ सोचा ही करते हैं। एक विचार के हटने पर दूसरा तुरन्त आ जाता है। हम अभी कलकत्ते की बात सोच रहे हैं, पर थोडी ही देर बाद लन्दन पहुँच जाते हैं। हम अपनी कल्पना से कभी सुखी होते हैं और कभी दुखी। मानसिक रोगी ऐसी ही कल्पनाओ से तग आ जाता है। वह ऐसी ऊटपटाँग बाते सोचता है जिसका कुछ आधार ही नही होता। उदाहरणार्थ; किसी को यह भय हो जाता है कि रात को उसका कोई न कोई वध करने अवश्य आयेगा। इस चिन्तावश उसे नीद ही नही आती। किसी को अकारण भय हो जाता है कि कोई व्यक्ति अथवा पुलिस उसके पीछे अवश्य है। अत वह हर समय घर में ही घुसा रहता है। व्यक्ति की ऐसी कल्पनाये उसके नियन्त्रण से सर्वथा बाहर होती हैं। जैसे वह अपने स्वप्नो पर कोई नियन्त्रण नही कर सकता उसी प्रकार ऐसी कल्पनाओ पर भी उसका कुछ वश नही, क्योकि ये कल्पनाये भी अचेतन मन द्वारा ही नियन्त्रित होती है।

भूलें[2] —

[illegible] ? जिस कार्य के करने की रुचि नही होती, उसे चेतन मन अपने स्मृति-पटल से हटा देता है। पर इस प्रकार हटा देने से उससे व्यक्ति की मुक्ति नही होती। यही कारण है कि व्यक्ति कभी कुछ का कुछ कह जाता है। असाधा-

---

1. Imaginations and Fancies. 2. Forgettings.

रण भूले व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व के ही कारण होती हैं। चेतन और अचेतन मन में सामञ्जस्य नही रहता। अत. अवसर पाने पर अचेतन मन चेतन को दवा बैठता है।

प्रसुप्त मन—

ऊपर हम यह कह चुके हैं कि अचेतन मन के प्रसुप्त और प्रतिहारी दो भाग हैं। अब यहाँ हम उनकी कुछ विलक्षणताओ पर दृष्टिपात करेंगे। व्यक्तित्व के अनुरूप विकास के लिये यह आवश्यक है कि प्रमुख भाग को सदा प्रकाशन का मार्ग मिलता रहे, क्योकि यह शक्ति का केन्द्र होता है। यदि शक्ति का सदुपयोग न हुआ तो दुरुपयोग होने का भय रहता है। प्रकाशन के लिये स्वाभाविक मार्ग न मिलने से प्रसुप्त मन विकृत मार्ग खोजता है, जिससे व्यक्ति के जीवन मे बडी अडचने आ जाती है।

प्रतिहारी मन—

हम सकेत कर चुके हैं कि प्रतिहारी मन व्यक्ति का 'नैतिक आदर्श' होता है। यह मन उचित व अनुचित का विचार कर व्यक्ति के कार्यो को सञ्चालित करता है। प्रतिहारी मन चेतना के परे रहता है और वही से पहरेदार का कार्य करता है। जैसे पहरेदार दुख देने वाले प्राणी को घर मे नही घुसने देता उसी प्रकार "प्रतिहारी" मन के फाटक पर पडा रहता है। यदि किसी स्मृति से व्यक्ति को दुख होने की आशका रहती है तो उसे वह चेतना-सतह पर नही आने देता। प्रतिहारी मन का विकास शिक्षा का फल है। शिक्षा के अनुसार ही इसकी बनावट होती है। यदि व्यक्ति को ठीक शिक्षा न दी गई तो उसका प्रतिहारी मन अथवा नैतिक आदर्श वाछनीय न होगा, और उसे जीवन मे अनेक उलझने उठानी पडेगी। कभी-कभी प्रतिहारी आन्तरिक मन के प्रकाशन मे बडी रुकावट डालता है। इस रुकावट से आन्तरिक मन की शक्ति और बढ जाती है। अन्तर्द्वन्द्व का श्रीगणेश यही से होता है। अन्तर्द्वन्द्व से मनुष्य की शक्ति का दुरुपयोग होने लगता है और उसका कोई भी व्यवहार ठीक ढग पर नही चलता। उसके व्यवहार मे एक विक्षिप्तता छा जाती है। वह मानसिक रोगी हो जाता है। दबी हुई भावनाओ को अचेतन मन की शक्ति मिल जाती है। वे वडे बेग से चेतन पटल पर आकर व्यक्ति को पूर्णत अपने अधिकार मे कर लेती हैं। फलत मनुष्य के विचारो की क्रमबद्धता नष्ट हो जाती है।

हमारी शिक्षा का प्रत्यक्ष प्रभाव चेतन मन पर पडता है। अत. उसमे चतुराई आ जाती है। पर अचेतन मन चतुराई से वहुत परे रहता है। उसे जो सुझा दिया जाता है उसमे उसका विश्वास हो जाता है। यदि अचेतन मन का यह भोलापन न हो तो मानसिक चिकित्सा का कार्य सम्भव न होता। मनोवैज्ञानिको का कहना है कि मनुष्य का अचेतन मन सच्चा होता है। वालक और प्रौढ व्यक्ति मे भेद यह है कि बालक का चेतन और अचेतन दोनो मन सच्चा होता है और प्रौढ का केवल अचेतन।

कारण यह है कि कलुषित वातावरण का प्रभाव बच्चे पर कम पडा रहता है। वह कुछ कपट नही रखता। जैसा सुनता या अनुभव करता है वैसी ही वह कह देता है। अचेतन मन सच्चा होता है इसका ज्वलन्त प्रमाण इस बात मे है कि कोई अनैतिक कार्य करने पर व्यक्ति को कुछ न कुछ पश्चाताप अवश्य होता है। चाहे यह पश्चाताप थोडी ही देर के लिये क्यो न हो, परन्तु होता अवश्य है। इस पश्चाताप की सीमा से व्यक्ति की नैतिकता का अनुमान लगाया जा सकता है।

पाठको का अनुभव होगा कि जो व्यक्ति अपने बाह्य व्यवहार में जितना ही शिष्टता का अभिनय और ढोग करता है वह प्राय उतना ही अधिक कपटी और चालाक सिद्ध होता है। पर इसका यह तात्पर्य नही कि सभी शिष्ट लोग कपटी होते हैं। व्यक्ति सबके साथ सहानुभूति नही दिखला सकता, वह सबकी सहायता नही करना चाहता। इस प्रकार अपने शिष्ट व्यवहार द्वारा वह दूसरो को धोखा देना चाहता है। उसके भीतरी मन मे कुछ और ही बात रहती है। अचेतन मन सचाई के कारण उसका प्रकाशन कर देना चाहता है। पर चेतन को यह मान्य नही, अत वह झूठ बोलता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हे खिलाने-पिलाने की किंचित भी इच्छा नही रहती, पर बार-बार कहते है 'थोडा खा लीजिये'। ऐसे लोग अपने व्यावहारिक जीवन मे भले ही सफल हो जाँय, पर उनके मन में अन्तर्द्वन्द्व व्याप्त रहता है। इन्हे आन्तरिक शान्ति कभी नही मिल सकती। इसके विपरीत कुछ लोग बडे स्पष्टवादी होते हैं। ऐसे व्यक्ति बहुत अधिक सच्चे होते हैं। इसके अचेतन ओर चेतन मन की सत्यता मे बहुत भेद नही। अचेतन मन अपनी सत्यता के साथ बाहर आना चाहता है, पर चेतन मन प्रतिबन्ध लगा कर उसे आने से रोकता है। अचेतन मन तो सच्चा है। अत किसी न किसी प्रकार वह अपने भाव को व्यक्त ही कर देता है। व्यक्ति की मुख-मुद्रा देखकर उसकी मानसिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अचेतन मन अपना भाव मुख-मुद्रा तथा भूलो द्वारा व्यक्त कर देता हे। जिस कार्य को व्यक्ति केवल शिष्टतावश करना चाहता है उसमे अनेक भूले हो सकती हैं। स्त्री प्रेम से भोजन नही खिलाना चाहेगी तो घी अथवा शाक देना भूल जायगी। कही जाने की इच्छा न होगी तो उसका समय ही हम भूल जायेगे। इस प्रकार अचेतन मन अपनी सत्यता को प्रगट कर देता है।

अचेतन मन प्रेम का भूखा होता है। जहाँ अचेतन मन को प्रेम नही मिलता वहाँ वह नही रहना चाहता। हमारा चेतन मन कही लाभवश रहना चाहता है, पर यदि वहाँ प्रेम की कमी होगी तो अचेतन मन वहाँ से हटने के लिये कोई न कोई मार्ग अवश्य ढूँढने की चेष्टा करेगा। इस चेष्टा मे वह सफल न हुआ तो उसको कोई रोग पकड लेता है, जिससे उसे वह वातावरण छोड़ना ही पडता है। इस रोग से मुक्ति

प्रेम का वातावरण मिलने से ही होगी। इस प्रकार अचेतन मन प्रेम ढूँढा करता है। जैसे अचेतन मन भोलेपन और सत्यता मे बालक के समान है, वैसे ही प्रेम मे भी वह बालक के समान है। बालक भी प्रेम का भूखा होता है। जहाँ उसे प्रेम नही मिलता वहाँ वह नही रहना चाहता। आद्या क्यो दूसरो के घर रहना अधिक पसन्द करती है? क्योकि अपने घर मे उसे अपना इच्छानुकूल प्यार नही मिलता। माँ उसकी बीमार रहती है और हर समय उसे झिडका करती है। पिता अपने को इतना व्यस्त रखता है कि उसकी प्रेम-भूख मिटाने मे वह असमर्थ सिद्ध होता है।

अचेतन मन की शक्ति[1]

अचेतन मन को मनोवैज्ञानिको ने बडा शक्तिशाली माना है। कोई कार्य कितना ही कठिन क्यो न हो, पर यदि व्यक्ति के अचेतन मन मे वह बैठ गया तो उसे वह अवश्य कर डालता है। आन्तरिक शरीर की सारी क्रिया अचेतन मन द्वारा नियन्त्रित होती है। अचेतन मन की कल्पना से व्यक्ति रोग ग्रस्त और मुक्त हो सकता है। आत्म-निर्देश का फल अचेतन मन की शक्ति पर निर्भर है। मनोविश्लेषको के परीक्षण इसके अकाट्य प्रमाण हैं। यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन यह आत्म-निर्देश लेता रहे कि उसकी बुद्धि बढ रही है तो अवश्य ही उसकी बुद्धि प्रखर हो जायगी। अचेतन मन की शक्ति से चरित्र मे भी परिवर्त्तन लाया जा सकता है। इससे अनेक बुरी आदतों से मुक्त होना सम्भव हो सकता है। लेखक या कवि की प्रतिभा का स्रोत अचेतन मन होता है। बुद्धि से लिखी हुई बात का प्रभाव उतना स्थायी नही होता जितना कि अचेतन मन से निकली हुई बात। अचेतन मन की शक्ति को जब चेतन मन अपनी समझने लगता है तो उसका अहकार बढ जाता है और व्यक्ति अधोगति के गर्त में गिर जाता है। पराक्रमी योद्धा की शक्ति का उद्गम अचेतन मन है। जब वह अचेतन मन की शक्ति को चेतन अथवा अपनी शक्ति समझने लगता है तो उसका विनाश निकट आ जाता है। उसे गर्व हो जाता है और भारी भूले कर वह अपने नाश का साधन इकट्ठा करता है।

अचेतन मन की सजगता[2]

जागृतावस्था मे व्यक्ति का चेतन मन जागता रहता है। सुप्तावस्था मे चेतन मन सोता है और अचेतन मन जागता है। उस समय उसे चेतन मन के कार्य मे सहायता नही देनी होती। अतः उसका कार्य व्यक्ति की सुप्तावस्था मे बहुत बढ जाता है। सोने के पहले यदि हम एक निश्चित समय पर उठने के लिये आत्म-निर्देश कर सो

---

1. The power of the unconscious. 2. Alertness of the Unconscious.

जाते है तो उस समय हम अवश्य उठ जाते हैं। सुप्तावस्था में अचेतन मन की चेतनता का यह अकाट्य प्रमाण है। इसी प्रकार जागृतावस्था मे यदि हम कही जाने का निश्चय कुछ पहले ही करते हैं तो समय आने पर हमे जाने का ध्यान आ जाता है। यह अचेतन मन की ही सजगता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अचेतन मन मे अपरिमित शक्ति है। यदि व्यक्ति इस शक्ति का अनुमान लगा ले तो वह क्या नही कर सकता ? किन्तु इस शक्ति से अपरिचित होने से उसमें अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है और वह क्लेश का भागी होता है। अब हम नीचे देखेंगे कि अन्तर्द्वन्द्व से व्यक्ति के व्यवहार मे किस प्रकार के परिवर्त्तन आते हैं ?

अन्तर्द्वन्द्व

अन्तर्द्वन्द्व वडा ही कष्टदायक होता है। इससे व्यक्ति की शक्ति का ह्रास हो जाता है। यदि यह द्वन्द्व न हो तो वची हुई मानसिक शक्ति का उपयोग अन्य कार्यो मे किया जा सकता है। यदि विकास की गति विना विघ्न के चलती तो अचेतन मन सुसगठित हो जाता। स्थायीभावो के उत्पन्न होते समय कुछ ऐंसे प्रतिरोधी भाव व्यक्ति में आते हैं जिनका उनसे समझौता होना कठिन हो जाता है। इन प्रतिरोधी भावो को भावना-ग्रन्थियो की सज्ञा दी जा सकती है। व्यक्ति इन प्रतिरोधी भावना-ग्रन्थियो के अस्तित्व को स्वीकार नही करता, क्योकि उसे अपने मे उनकी उपस्थिति का भान ही नही होता। वस्तुत यदि भान हो जाय तो वे दूर हो जाँय। हम सकेत कर चुके हैं कि मनोविश्लेपक का कार्य केवल इन भावना-ग्रन्थियो से रोगी को परिचित करा देना होता है। यह परिचय ही उनके रोग के लिये रामवाण सिद्ध होता है। व्यक्ति चाहे भावना-ग्रन्थियो के अस्तित्व को माने या न माने, पर वे अपना कार्य किया ही करती हैं। वे व्यक्ति के आदर्श मे विघ्न उपस्थित करती हैं। व्यक्ति की पूरी मनोवृत्ति पर उनका प्रभाव पडता है। हमारे सभी असाधारण व्यवहार का कारण अन्तर्द्वन्द्व ही होता है।

अन्तर्द्वन्द्व का पहला समझौता[1]—

दु ख से वचने का प्रयास करना प्रत्येक प्राणी का जन्मजात स्वभाव होता है। व्यक्ति परस्पर-विरोधी भावनाओ के वीच समझौता करने की पूरी चेप्टा करता है। यह समझौता सन्तोषजनक तव होता है जव विभिन्न परस्पर-विरोधी स्थायीभाव और भावना-ग्रन्थियाँ मिलकर एक सुसगठित रूप वनाती हैं। जव तक व्यक्ति अन्तर्द्वन्द्व के निदान को नही समझ पाता तव तक उसका निराकरण नही हो पाता। मनोविश्लेपक

1. The First Compromise of Mental Conflict.

विभिन्न विधियो द्वारा अचेतन मन के रूप को व्यक्ति के सामने रखता है। व्यक्तित्व का विकास जितना ही सुसगठित होगा उतना ही पक्का उसकी विरोधी भावना-ग्रन्थियो और नैतिक आदर्श मे समझौता होता है। यदि यह समझौता हो गया तो व्यक्ति के व्यवहार मे किसी प्रकार की असामान्यता न दिखलाई पडेगी।

कई अप्रधान व्यक्तित्व—दूसरा समझौता[1]—

कभी-कभी कुछ भावना-ग्रन्थियाँ इतनी प्रवल होती है कि व्यक्ति के आदर्श से उनका समझौता नही होता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति मे अन्तर्द्वन्द्व का आ जाना साधारण-सी बात हो जाती है। इस अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप व्यक्तित्व के कई ऐसे छोटे-छोटे भाग हो जाते हैं जो नैतिक आदर्श व प्रधान व्यक्तित्व से भिन्न होते हैं। समय समय पर ये भाव प्रबल होकर व्यक्ति के व्यवहार पर पूरा नियन्त्रण रखते हैं। इन दो प्रकार के व्यक्तित्व मे कोई सम्बन्ध नही होता। एक दूसरे के कार्य से एकदम अनभिज्ञ रहता है। बहुत से बडे लेखको का कथन है कि उनके उपन्यासो व नाटको के कथानक की सारी सामग्री उनके अप्रधान व्यकित्व इकट्ठा करते हैं। उन्हे एक सूत्र मे बाँधने का काम प्रधान व्यकित्व करता है।

भावना-ग्रन्थियों का अवदमन—तीसरा समझौता[2]—

एक तीसरे प्रकार का भी समझौता होता है। कभी-कभी भावना-ग्रन्थियाँ इतनी प्रबल नही होती कि वे दूसरे व्यक्तित्व का निर्माण कर सके। ऐसी स्थिति मे आत्म-गौरव का स्थायीभाव उनका अवदमन कर देता है। फलत वे व्यवहार पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने मे असमर्थ हो जाती है। इस प्रकार अवदमन से अन्तर्द्वन्द्व का अस्थायी निराकरण हो जाता है।

सांकेतिक चेष्टायें[3]—

पर यह ध्यान देने की बात है कि अवदमन से भावना-ग्रन्थियो का नाश नही होता। वे मन पर प्रभाव डाला करती हैं। इस प्रकार मस्तिष्क की एकता नष्ट हो जाती है। उन्हे नियन्त्रण मे रखने के लिये कुछ न कुछ मानसिक शक्ति का अपव्यय होता ही है। ये अपने प्रकाशन के लिये कोई न कोई रास्ता ढूँढने है। बहुत सम्भव है कि यह रास्ता प्रधान व्यक्तित्व के व्यवहार मे किसी प्रकार की प्रत्यक्ष बाधा न उपस्थित करे। इस विधि से अतृप्त वासनाये कुछ साकेतिक चेष्टाओ द्वारा प्रकट होती हैं। चारपाई अथवा कुर्सी पर बैठे-बैठे पैर हिलाना, नाक सिकोडना, आँखे मटका कर बातें करना, दाँतो से नाखून काटना, ताली का गुच्छा हिलाना, स्त्रियो का अपनी वेणी को हाथ मे लेकर खेलना, ताली पीट कर बाते करना, अकारण हँसते हुए बाते करना,

---

1. Many Secondary personalities. 2. Repression of Complexes. 3. Automata.

वटन के साथ खेलना, आदि शारीरिक चेष्टायें अवदमित की हुई कुछ ऐसी इच्छाओं की द्योतक होती हैं जो इन साकेतिक रूपो मे तृप्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं। कितने ही लोग हाथ मलते दिखलाई पडते हैं, लेखक के गाँव का एक वनिया दिन मे इतनी वार हाथ धोता है कि ग्राहक घवडा से जाते हैं, कितने ही लोग वात करते समय सिर खुजलाते है, वोलते समय किसी 'ठेके का प्रयोग' आदि दवी हुई भावनाओ के ही फल है। जैसे लेडी मैकवेथ[1] स्वप्नावस्था में साकेतिक चेष्टायें किया करती थीं। उसी प्रकार कुछ व्यक्ति जागृतावस्था मे ही साकेतिक चेष्टाये किया करते हैं। यह ध्यान देने की वात है कि यदि व्यक्ति की ये साकेतिक चेष्टाये वन्द कर दी जाँय तो व्यक्ति अपने कार्य करने मे असमर्थ हो जायगा। एक वकील न्यायालय मे वहस करते समय चाकू से सदा पेन्सिल वनाया करता था। यह वकील वहुत ही प्रसिद्ध और अपने कार्य मे दक्ष था। मुकद्दमो मे हारना वह जानता ही न था। एक वार उसके प्रतिद्वन्द्वी वकील ने चुपके से चाकू को हटा दिया। फलत वहस करते समय वह पेन्सिल न वना सका और वहस करते मे पूर्णत असफल सिद्ध हुआ।

कुछ लोगो मे हर समय थूकने की आदत होती है। मनोविश्लेषण से पता चलता है कि ऐसे व्यक्ति वहुधा भ्रष्टाचरण के होते हैं। उनका अचेतन मन उनकी घृणित क्रिया पर कोसा करता है। इस कोसने की साकेतिक चेष्टा थूकने मे आ गई, अर्थात् अचेतन मन, जो कि सच्चा होता है, चेतन के घृणित कार्य पर थूका करता है। कुछ लोग भोजन करते समय 'चप-चप' मुँह वजाते हैं, अथवा किसी वस्तु को पीते समय 'सर-सर' की ध्वनि उत्पन्न करते हैं। मनोविश्लेषण से पता चलता है कि ऐसे व्यक्ति वडे ही कामुक वृत्ति के होते हैं। या तो उनकी काम-वासना का किसी कारणवश अवदमन हो गया है जिससे रसास्वादन के समय वे धैर्य खो वैठते हैं और रसास्वादन की शीघ्रतावश अनजान मे उनका मुँह 'चप-चप' या 'सर-सर' वज जाता है, अथवा अव भी उनकी काम-वासना प्रचण्ड रूप मे तृप्ति के लिये लालायित है और इसकी

---

[1] लेडी मैकवेथ शेक्सपीयर के मैकवेथ नामक नाटक की एक नायिका है। इसने पति को राजसिंहासन दिलाने के लिये घर मे आये हुए अतिथि राजा डन्कर का अपने पति मैकवेथ द्वारा वध करा डाला। इस घृणित कार्य के कारण लेडी मैकवेथ का अचेतन मन क्षुब्ध हो उठा। चेतन मन उसे सदा सन्तोष देने की चेष्टा किया करता था। पर पाप का भय उसके अचेतन मन में सदा वना रहता था। अपनी अर्धचेतनावस्था में उसे अपने हाथ पर सदैव रक्त के छींटे दिखलाई पडते थे। उसका अचेतन मन पाप को सदैव स्मरण करता था। पर चेतन मन उसे सदैव दवाना चाहता था। इस अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप वह अपनी दासी को वुलाकर वार-वार हाथ धुलाने को कहती थी। उसे अपने हाथ रक्त मे सने हुए दिखलाई पडते थे। अतः उन्हे दूसरों से छिपाने के लिये वार-वार धुलाने को कहा करती थी। इस प्रकार उसके पाप द्वारा प्रभावित मनोवृत्ति का प्रकाशन हाथ धुलाने की साकेतिक चेष्टा से होने लगा।

सांकेतिक चेष्टा भोजन के रसास्वादन की आतुरता मे व्यक्त होती है। भोजन करते समय 'चप-चप' या 'सर-सर' ध्वनि करने वाले व्यक्तियो के मनोविश्लेषण से यह अच्छी प्रकार सिद्ध किया जा चुका है।

विस्मृति[1]—

कुछ लोगों मे भूल जाने की वडी विचित्र आदत होती है। उनसे किसी वात के लिये कहा जाय तो उसे भूलना उनके लिये वडा सरल होता है। जो व्यक्ति सभी वाते भूल जाते हैं उनके विषय मे कहा जा सकता है कि उनके मस्तिष्क का कोई पुरजा ढीला है। पर कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सभी की वाते नही भूलते। किसी स्त्री, घनिष्ठ मित्र अथवा प्रेमी अध्यापक द्वारा दिये हुए कार्य को वे कदाचित् ही भूलेंगे, पर यदि किसी दूसरे मित्र ने कुछ करने के लिये कहा तो उसे वे भूल जाते हैं। इस प्रकार के भूलने का कारण किसी मानसिक पुरजे की ढिलाई नही हो सकती। इस विक्षिप्तता का कारण उनकी कुछ भावना-ग्रन्थियाँ ही होती हैं। कदाचित् ससार का उन्हे ऐसा कटु अनुभव रहता है कि साधारण व्यक्ति से उनका अचेतन मन प्रेम नही रखता, यद्यपि चेतन मन हर समय प्रेम दर्शाता रहता है। अत: यदि ऐसा व्यक्ति किसी का दिया हुआ कार्य भूल जाता है तो दूसरे को उस पर असन्तुष्ट न होना चाहिये, उसे यह न समझना चाहिये कि वह व्यक्ति उससे प्रेम नही करता। वास्तव मे उसका अचेतन मन तो केवल कुछ इने-गिने व्यक्तियो से अथवा किसी से भी प्रेम नही करता। फलत. अवसर पाने पर विस्मृति के रूप मे वह अपना रूप दर्शा देता है। ऐसा देखा गया है कि प्रेम के अभाव मे व्यक्ति कभी-कभी पूर्व परिचित मित्र के चेहरे को भी पहचानने मे असमर्थ होता है। एक महिला अपने पूर्व परिचित एक पुरुप के चेहरे को पहचान न सकी, क्योकि उस व्यक्ति ने उमे अपना प्रेम देना अस्वीकार कर दिया था। उधार लिया हुआ रुपया अथवा पुस्तक वापिस करना हम बहुधा भूल जाया करते है। लाख चेष्टा करने पर भी लेखक पुस्तकालय की कुछ पुस्तके निश्चित समय पर वापिस करना भूल गया। इस भूल जाने का कारण यह था कि पुस्तकों से अभी कार्य करना शेष था और उन्हे वापिस करने की उसकी इच्छा न थी।

स्वप्न—

स्वप्न के कारण पर तीसरे अध्याय में हम कुछ सकेत कर चुके है। स्वप्न हमारी अवदमित इच्छाओं तथा विभिन्न भावना-ग्रन्थियों का दर्पण होता है। दवी हुई वासनायें जागृतावस्था में नैतिक बन्धनो के कारण प्रकाशन नही पाती। अत. ये वाम-वासनायें "परिवर्त्तित, सक्षिप्त, प्रतिभावित अथवा समिश्रित" रूप मे स्वप्नावस्था में प्रकट होती है। ऐसे स्वप्नो का विश्लेपण करना वडा ही कठिन होता है, क्योकि

1. Forgetfulness.

व्यक्त लक्षण अव्यक्त वासनाओ से कभी कभी एकदम भिन्न से दिखलाई पडते हैं, पर मनोविश्लेषको ने परीक्षणो के आधार पर एक अनुक्रमणिका बना ली है, जिसकी सहायता से व्यक्त लक्षणो का अर्थ समझा जा सकता है। सुप्तावस्था मे प्रतिहारी थोडा आलसी हो जाता हैं। अत अचेतन मन को पूरी स्वतन्त्रता हो जाती है। फलत' हम कभी-कभी ऐसे घृणित स्वप्न देखते हैं जिनकी हम अपने चेतन मन में कभी कल्पना भी नही कर सकते। परन्तु स्वप्नो का भूल जाना हमारा स्वभाव होता है। अत ऐसे स्वप्नो से हमे विशेष परेशानी नही होती। कुछ स्वप्नो के समय प्रतिहारी थोडा जागता रहता हे इसलिये उसका नियन्त्रण शून्यवत् नही होता। ऐसी स्थिति मे स्वप्नो में वासनाये अपने रूप कुछ लक्षणो[1] अथवा सकेतो द्वारा प्रगट करती है। उदाहरणार्थ, स्वप्न मे राजा को देखने का तात्पर्य पिता से होता है, जहाज का विपरीत लिंग से तथा छडी अथवा साँप का तात्पर्य कामेन्द्रियो से होता है।

भय का स्वप्न बाल्यावस्था तथा कैशोर में बहुत होता है। बालक भय से चीख उठता है और जग कर बैठ जाता है पर वह यह नही समझ पाता कि उसके भय का कारण क्या है। ऐसे स्वप्नो मे कुछ भावना-ग्रन्थियाँ अपना प्रकाशन चाहती हैं, पर प्रधान व्यक्तित्व अर्थात् उसका प्रतिनिधि प्रतिहारी उसे स्वीकृति नही देता और ठीक अवसर पर व्यक्ति को जगा देता है। प्रौढ व्यक्ति भी ऐसे स्वप्न देखते हैं। स्वप्न मे कभी व्यक्ति गिरते हुए दिखलाई पडता है। वह किसी ऐसी नाव या जहाज पर चढा हुआ है जो यकायक किसी चट्टान से टकरा जाती है और व्यक्ति डूबने का अनुभव करता है। मनोविश्लेषण से देखा गया है कि ऐसे स्वप्न से आत्म-अपमान का भाव व्यक्त होता है, अर्थात् यदि अवदमित इच्छाओ की पूर्ति हो जाय तो व्यक्ति आत्म-सम्मान खो बैठेगा।

निद्रावस्था मे चलना[2]—

निद्रावस्था मे चलना भी एक प्रकार का स्वप्न ही है। यह स्वप्न गतिपूर्ण होता हैं। व्यक्ति अपने बिस्तर से उठ कर दूर कही निकल जाता है और अपनी इच्छाओ की किसी प्रकार पूर्ति कर लौट आता है। ऐसे स्वप्न को अंग्रेजी मे 'समनमबलिजम्' कहते हैं। यह व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व की चरम सीमा है। इस समय प्रधान व्यक्तित्व हट जाता है और भावना-ग्रन्थियाँ स्वच्छन्दता से अपना कार्य सम्पादन करती हैं। सुप्तावस्था मे चलने वाले व्यक्ति को अपनी विभिन्न क्रियाओ का कुछ भी स्मरण नही रहता। यदि बीच में उसे जगा दिया जाय तो वह नही समझ पाता कि अमुक स्थान पर वह क्यो और कैसे आया। सोते में चलते हुए व्यक्ति को जगाना बडा घातक सिद्ध हो सकता है, जगाने से उसका अन्तर्द्वन्द्व और बढ सकता है या

1. Symbols. 2. Somnambulism (sleep walking)

वह पागल हो सकता है अथवा मानसिक धक्के के कारण उसकी मृत्यु भी हो सकती है।

गलतियाँ और भूलें—

फ्रॉयड ऐसे मतावलम्बियो की धारणा है कि व्यक्ति की गलतियाँ और भूले सकारण हुआ करती हैं। वे अनायास नही होती। हम कुछ का कुछ लिख या कह जाते हैं। 'सत्य' शब्द के प्रयोग करने के स्थान पर झूँठ निकल आता है, 'लकडी' के स्थान पर 'लडकी' कह दिया जाता है, पत्रो मे गलत नाम या शब्द लिख दिया जाता है। इन सबका उद्‌गम स्थान अचेतन मन होता है। मनोविश्लेपण करने के बाद निर्णय कर सकते है कि इनका कारण क्या है।

मनोविश्लेषको का कहना है कि जो व्यक्ति किसी कार्य के लिये अप्रत्याशित उमंग दिखलाता है वह ऐसा आत्म-हीनता की भावना-ग्रन्थि के कारण करता है। वह अपने को अयोग्य समझता है, क्योंकि दूसरो ने उसे ऐसी ही धारणा दे दी है। अतः आत्म-हीनता को छिपाने के लिये वह अत्यधिक उमग दिखलाता है। अधिक लज्जा-शीलता काम-सम्बन्धी वासनाओं के अवदमन की प्रतिक्रिया हो सकती है। अत्यधिक कपडो की स्वच्छता तथा उस पर 'विशेष ध्यान' छिपी हुई पाप-भावना का द्योतक हो सकता है। कुछ लोग दूसरो के साधारण से साधारण दोप को नही सहन कर सकते और क्रोधाग्नि मे तपने लगते हैं। ऐसे लोगों की मनोवृत्ति वैसे ही दोपो के करने की हो सकती है, पर अचेतन मन अपने इस कार्य की उपयोगिता का प्रमाण पाना चाहता है। अत. वैसे दोषो के लिये व्यक्ति दूस रो को डाँटता है, और उन्हे करने का कारण जानना चाहता है।

बालक में अन्तर्द्वन्द्व और शिक्षक व अभिभावक के कर्तव्य

अभिभावकों और शिक्षको की बालको के प्रति अमनोवैज्ञानिकता का गत पृष्ठो मे हम कई स्थानो पर उल्लेख कर चुके हैं। डॉट-डपट कर बालको की आदत छुडाना एकदम असम्भव है। अपनी आज्ञा का उल्लघन करते देख उसे हम दण्ड दिया करते हैं। इस दण्ड से बालक हठी हो जाता है या एकदम दब्बू व डरपोक हो जाता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बालक के जीवन को सुधारने के लिये उसके अचेतन मन के स्वरूप को अध्ययन करना चाहिये। ऐसे अध्ययन करने वालो का कहना है कि बालक की उद्दण्डता तथा अवज्ञा का कारण उसकी एक आन्तरिक बीमारी होती है जिसका उपचार डॉट-डपट कभी नही हो सकता। यह आन्तरिक बीमारी उसका अन्तर्द्वन्द्व है। बालक के अन्तर्द्वन्द्व के कई कारण हो सकते हैं, पर इतना निश्चय है कि इन कारणो का अभिभावको और शिक्षको से घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसके निर्माता वे ही होते हैं।

जिस घर मे कई बालक हो जाते हैं उनमें दो एक मे तो अन्तर्द्वन्द्व जम ही जाता है। एकलौते लडके के बाद दूसरा उत्पन्न होने पर जेष्ठ बालक में अन्तर्द्वन्द्व का आ जाना स्वाभाविक होता है, क्योकि माता-पिता का प्रेम उस पर से हट कर नवजात शिशु पर चला जाता है। ड्रिवर अपने 'फण्डामेण्टल्स ऑव साइकॉलॉजी' में एक ऐसी अंग्रेज बालिका का उल्लेख करते हैं। बालिका किसी फ्रेन्च शब्द का बहुवचन याद करने मे असमर्थ थी। उसके शिक्षक सभी विधियो का प्रयोग कर थक गये, पर कुछ हुआ नही। अन्त मे उन्हे एक मनोविश्लेपक की सहायता लेनी पडी। अध्ययन से जान पडा कि बालिका पहले अपने घर मे अकेली थी। उसके दूसरे भाई अथवा बहिन न थे। फलत माता-पिता का सारा प्रेम उसी की ओर केन्द्रित था। उसके भाई के जन्म के कुछ दिन बाद माता-पिता का प्रेम उस पर से हट कर नवजात शिशु की ओर केन्द्रित हो गया। बालिका तब से उदासीन रहने लगी और उसका अचेतन मन सदा सम्बन्धियो का अनिष्ट ही सोचता रहा। उसे अपने परिवार मे किसी दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति प्रिय न थी। वह अकेली ही रहना चाहती थी। उसे एक वचन ही अच्छा लगता था, बहुवचन नही। फलत फ्रेन्च शब्द के बहुवचन याद करने में वह असमर्थ हो रही थी। फिसर महाशय का कहना है कि एक चतुर बालक पदार्थ-विज्ञान और हस्त-कला मे बडा अच्छा था, पर भाषा और गणित मे वह बहुत ही पीछे था। मनोविश्लेषण से पता चला कि पदार्थ-विज्ञान और हस्त-कला के पढने के लिये उसकी माँ कहा करती थी और भाषा व गणित के लिये पिता। वह माँ से बडा प्रेम करता था और पिता से घृणा, क्योकि पिता का व्यवहार उसके प्रति अच्छा न था। फलत पिता द्वारा बतलाये हुए विषय उसे प्रिय न थे। इन उदाहरणो से यह साराश निकलता है कि बालको की भावनाओ का अवदमन करना उचित नही। अवदमन से उनके व्यक्तित्व का ह्रास होता है और उनकी मानसिक-शक्ति घट जाती है। यदि प्रेम का व्यवहार किया जाय तो उनके मन मे कोई उलझन न पडेगी और उनका विकास ठीक होगा।

अभिभावको और शिक्षको को बालक की भावनाओ का आदर करना चाहिये। उनकी चेष्टाओ और इच्छाओ के अवदमन का तात्पर्य उनके व्यक्तित्व को कुण्ठित करना होगा। मूर्ख दिखलाई पडने वाला बालक वास्तव में मूर्ख नही होता। उसके साथ प्यार नही किया गया है, उसकी भावनाओ का आदर नही किया गया है—इसलिये उसके चेहरे से बोदापन टपकता है। बालको में जो बुरी आदते दिखलाई पडती हैं वे उनकी भावना-ग्रन्थियो की ही परिणाम होती हैं। यदि मनोविश्लेषण द्वारा उन्हें उनकी भावना-ग्रन्थियो से मुक्त कर दिया जाय तो उनकी बुरी आदतें अपने आप छूट जाँयगी। ऊपर हम कह चुके हैं कि व्यक्तित्व के विकास के लिये चेतन और अचेतन मन मे सामञ्जस्य स्थापित करना आवश्यक है। यदि दोनो मे असामञ्जस्य

रहा तो दबी हुई वासनाये अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न कर देती है। मनोविश्लेपको का कहना है कि कुछ लोगो मे शूल, लकवा, मधुमेह, चर्मरोग, मृगी, उन्माद आदि रोग अचेतन मन ही द्वारा उत्पन्न होते है। प्रथम विश्वयुद्ध[1] मे बहुत से सैनिक लकवा रोग से पीडित हो गये। मनोविश्लेषण से पता चला कि वे युद्ध से ऊब गये थे और उनका अचेतन मन युद्ध से छुटकारा पाना चाहता था। इस इच्छा की पूर्ति लकवा रोग के आवाहन से हुई। फ्रायड महोदय के परीक्षणो से एक उदाहरण[2] फिर देना यहाँ ठीक जान पडता है। एक युवती स्त्री का पिता बीमार था। वह अपने पिता की बडी भक्त थी। अत. बडे मन से वह उसकी सेवा करती थी। उसे अपने पिता को नित्य उठाना पडता था। पिता की बीमारी के कारण वह अपने प्रेमी के साथ विवाह करने मे असमर्थ थी। पर उसका अचेतन मन इस परिस्थिति से मुक्ति चाहता था, जिससे उसकी इच्छा पूरी हो सके। अत अचेतन मन पिता की सेवा नही करना चाहता था। अचेतन मन की इस इच्छा की पूर्ति युवती मे लकवा की बीमारी आने से हुई।

उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि बालको की इच्छाओ का अवदमन करना घातक है। इससे मानसिक विकास रुक जाता है और बालक मे अनेक रोग अथवा दोष आ सकते हैं। मनोविश्लेषण से यह पता चला है कि बालको मे तुतलाना अभिभावको द्वारा अवदमन से आता है। जो अभिभावक बालको पर सदैव त्यौरी चढाया करते है, जो बालको की इच्छाओ का तनिक भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन नही करते, वे बालक के लिये भय के कारण हो जाते है। बालक उनसे सदा डरता रहता है। जैसे सूली पर चढे हुए अपराधी का मन सशक रहता हैं कि पता नही कब रस्सी खीच ली जायगी और उसके प्राण पखेरू उड जायेंगे, उसी प्रकार बालक सदैव सशक बना रहता है कि पता नही अभिभावक की क्रोधाग्नि की लपटे उसे कब त्रस्त करेगी। ऐसे अभिभावको के थोडी देर के लिये कही चले जाने पर बालक वैसे ही सुख का अनुभव करता है जैसे फोडा चिरवाने वाला रोगी डाक्टर के थोडी दूर इधर-उधर चले जाने से कुछ शान्ति का अनुभव करता है। पर स्पष्ट है कि बालक और रोगी दोनो भ्रम मे हैं, पता नही कब डाक्टर आ टपकेगा और अपना चाकू फोडे पर लगायगा। ऐसे ही बालक को भी डर बना रहता है। फलतः उसमे भय की भावना-ग्रन्थि पड जाती है, जिससे उसमे तुतलाना आ सकता है। 'ऐडवाइस टु यङ्गमेन' नामक पुस्तक मे विलियम कॉबेट महोदय कहते हैं —"आदर्श माता-पिता अथवा अभिभावक वे हैं जिनके आने का बालक स्वागत करता है।"

एडलर महोदय का कथन है कि जो बालक अपने अभिभावको से सदैव भयभीत

---

1. First World War. 2 तीसरे अध्याय मे 'मनोविश्लेपणवादी सम्प्रदाय' की चर्चा में भी इसका उल्लेख किया गया है।

रहता है, अथवा जिसे बहुत लाड-प्यार मिलता है वह अभागा है। अपने अभिभावक से सदा भयभीत रहने वाला बालक डरपोक हो जाता है। वह निराशावादी हो जाता है। यदि उसकी भेंट किसी उत्साह देने वाले व्यक्ति से हो गई तो उसका निराशावाद जा सकता है, अन्यथा निराशावाद की लपेट मे उसका जीवन नष्ट हो जाता है। ऐसा बालक किसी के सामने कुछ करने मे असमर्थ होता है। वह सदा डरता रहता है। वह अपने को किसी कार्य के योग्य नही समझता। अपने लिये अभिभावको से 'मूर्ख' का विशेषण सुनते-सुनते वह इतना दैन्यता का अनुभव करता है कि वह सारा धैर्य खो बैठता है। अपनी प्रशसा सुनने के लिये वह उतना ही लालायित रहता है जितना कि सैकडो वर्ष का परतन्त्र देश अपनी स्वतन्त्रता के लिये। कितना ही अच्छा होता यदि अभिभावकगण अपने कर्तव्य और दायित्व का अनुभव करते !!! यदि अभिभावक और शिक्षकगण का व्यवहार मनोवैज्ञानिक होता तो बालक अपनी निर्धनता मे भी स्वर्ग का अनुभव करता। बालक अच्छे-अच्छे कपडे पहनने का भूखा नही, वह लड्डू व पेडा व मलाई का भूखा नही; वह तो केवल प्रेम का भूखा है! यदि अभिभावक और शिक्षक उसकी इस भूख को तृप्त कर सके तो वास्तव मे मानवता की वे बडी भारी सेवा करेगे !!

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नही कि बालक को लाड-प्यार मे सान कर बिगाड देना चाहिये। ऊपर कह चुके हैं कि हम कितने भी सभ्य क्यो न हो जाय पर हमारी कुछ पाशविक वृत्तियाँ साथ नही छोडती। पाशविक वृत्ति स्वाभाविक होती है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही एक मानव दूसरे से इसे सक्रमित करता आया है। बालक मे भी यह वृत्ति सोती हुई रहती है। शिक्षा का तो यही उद्देश्य है कि वह इस पाशविक वृत्ति को सदा के लिये सुला दे और उसके स्थान पर सदवृत्ति उत्पन्न कर दे। दूषित वातावरण के रहने से हमारी पाशविक वृत्तियाँ जाग उठती हैं। बालक की भी कहानी यही है। अत उसका वातावरण सदा पवित्र और दोषमुक्त होना चाहिये। बालक को वातावरण से लडने और उस पर विजय प्राप्त करने के लिये उत्साहित करना चाहिये। अत्यधिक लाड-प्यार दिखलाने से उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। इससे वह अपने को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है। वह अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी बात को भी सहन नहीं कर सकता। यही वृत्ति उसमे सदा के लिये हो जाती है। जीवन मे उसे ऐसी परिस्थितियो का सामना करना ही पडता है जहाँ उसकी इच्छा के विरुद्ध अनेक कार्य होते हैं। फलत. बालक अपने को असमर्थ पाता है और सारा धैर्य खो बैठता है। निराशावाद का रोग उसे धर दबाता है। उसकी सारी योजनायें असफल दिखलाई पडती हैं। वह अकर्मण्य हो जाता है। अत. अमनोवैज्ञानिक लाड-प्यार मे पला हुआ बालक अपने व्यक्तित्व के विकास मे असफल होता है। कहने का

तात्पर्य यह है कि अभिभावकों और शिक्षको का कर्तव्य उतना सरल नही जितना कि वे समझ बैठे हैं । उन्हे तो झाडियो मे से होकर वालको के साथ पहाड़ पर चढ़ना है । यदि एक वार पैर फिसला तो फल घातक हो सकता है ।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

अचेतन मन

इच्छाओ के अवदमित होने के कारण अचेतन मन का निर्माण, मन के दो भाग, प्रसुप्त मन शक्ति का केन्द्र, वासना का उद्‌गार यही से जीवन-आदर्श प्रतिहारी के नियन्त्रण से ।

चेतन व अचेतन मन के सघर्ष से अन्तर्द्वन्द्व प्रत्येक मे, भेद केवल 'मात्रा' का 'प्रकार' का नही ।

मन का अधिकाश भाग अचेतन मन मे, मन एक नाट्यशाला ।

अचेतन मन के होने के कुछ प्रमाण

स्वप्न—

अपने को समझना कठिन, कभी-कभी अपनी क्रियाओ का कारण न समझना, अचेतन मन की क्रियाये स्वप्न रूप मे ।

कल्पनायें—

चेतन मन हर समय क्रियाशील, कभी-कभी कल्पनाये अचेतन मन द्वारा नियन्त्रित ।

भूलें—

असाधारण भूले अन्तर्द्वन्द्व ही के कारण ।

प्रसुप्त मन—

प्रसुप्त मन को प्रकाशन का मार्ग मिलना आवश्यक ।

प्रतिहारी मन—

नैतिक आदर्श, चेतना से परे, प्रतिहारी के कारण दु:खदायक वात का चेतन मन पर न आना, प्रतिहारी मन का विकास शिक्षा का फल, प्रतिहारी के आन्तरिक मन के प्रकाशन मे वाधा डालने से अन्तर्द्वन्द्व का श्रीगणेश ।

अचेतन मन चतुराई मे परे, उसका भोलापन, वालक का चेतन और अचेतन दोनों सच्चा, पर प्रौढ़ का केवल अचेतन सच्चा, अपने सचाई के कारण अचेतन मन का अपना प्रकाशन चाहना, अचेतन मन की इच्छा भाव-मुद्रा अथवा भूलो द्वारा व्यक्त ।

अचेतन मन प्रेम का भूखा, अचेतन मन वालक के समान ।

अचेतन मन की शक्ति

अपरिमित, इससे चरित्र और बुद्धि मे परिवर्तन सम्भव, लेखक की प्रतिभा का स्रोत अचेतन मन, अचेतन की शक्ति को चेतन मन के अपना समझने से गर्व की उत्पत्ति।

अचेतन मन की सजगता

सुप्तावस्था मे भी अचेतन मन सजग।

अचेतन मन की शक्ति से अपरिचित होने से अन्तर्द्वन्द्व।

अन्तर्द्वन्द्व

शक्ति का ह्रास, प्रतिरोधी भावो के कारण अचेतन मन सुसगठित नही, असाधारण व्यवहार का कारण अन्तर्द्वन्द्व ही।

अन्तर्द्वन्द्व का पहला समझौता —

स्थायीभाव और भावना-ग्रन्थियो का सुसगठन।

कई अप्रधान व्यक्तित्व—दूसरा समझौता—

प्रधान और अप्रधान व्यक्तित्व मे कोई सम्बन्ध नही।

सांकेतिक चेष्टायें—

दमन से भावना-ग्रन्थियो का नाश नही, साकेतिक चेष्टाओ द्वारा इनका प्रकाशन, साकेतिक चेष्टाये अवदमित की हुई इच्छाओ के द्योतक।

विस्मृति—

भावना-ग्रन्थियो के कारण, अथवा अचेतन मन की इच्छा से।

स्वप्न—

स्वप्न भावना-ग्रन्थियो का दर्पण, अतृप्त वासनाओ के कारण प्रतिहारी के सो जाने से घृणित स्वप्न, उसकी जागृतावस्था मे वासनाओ का प्रकाशन लक्षणो द्वारा।

भय का स्वप्न, प्रतिहारी का व्यक्ति को जगा देना, भय के स्वप्न में आत्म-अपमान का भाव।

निद्रावस्था मे चलना—

अन्तर्द्वन्द्व की चरम सीमा, प्रधान व्यक्तित्व का सो जाना।

गलतियाँ और भूलें—

सकारण, अचेतन मन उद्गम स्थान।

अप्रत्याशित उमग आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि का द्योतक, अधिक लज्जा-

शीलता वासनाओ के अवदमन की प्रतिक्रिया, किसी मनोवृत्ति की अतिशयोक्ति भावना-ग्रन्थि के कारण ही।

वालक मे अन्तर्द्वन्द्व और शिक्षक व अभिभावक के कर्त्तव्य

डाँट-डपट कर आदतो को छुड़ाना असम्भव, वालक के सुधार के लिये उसके अचेतन मन के स्वरूप का अध्ययन आवश्यक, वालको के अन्तर्द्वन्द्व के निर्माता अभिभावक और शिक्षक, कुछ उदाहरण।

वालको की भावनाओ का आदर करना, बुरी आदते भावना-ग्रन्थियो के ही परिणाम, वहुत से रोग अचेतन मन ही द्वारा उत्पन्न, वहुत से दोप अभिभावको के अवदमन से।

अभिभावको से भयभीत रहन वाला बालक निराशावादी, वालको से प्रेम दिखलाना आवश्यक।

वालक के वातावरण का पवित्र और दोषमुक्त होना, वातावरण से लडने के लिये उसे उत्साहित करना, अत्यधिक लाड-प्यार से व्यक्तित्व का ह्रास।

सहायक पुस्तकें

१—वारवरालो—द अनकॉन्शस इन ऐक्शन।
२—क्रिवटन-मीलर—साइकोएनलिसिस ऐण्ड इट्स डिराइवेटिवस।
३—उडवर्थ, आर० एस०—कण्टेम्पोरेरी स्कूल्स ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय, ५।
४— वैलेनटाइन, सी० डब्लू—द न्यू साइकॉलॉजी ऐण्ड द अनकॉन्शस।
५— फ्रॉयड —इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइकोएनलिसिस।
५—एडलर—अण्डरस्टैण्डिङ्ग ह्य मन नेचर।
७—हैडफिल्ड जे० ए०—साइकॉलॉजी ऐण्ड मॉरल्स।
८—लालजीराम शुक्ल—मानसिक चिकित्सा, दूसरा प्रकरण।
९— ,, ,, —वाल मनोविकाम, इक्कीसवाँ प्रकरण।
१०—सरयू प्रसाद चौवे—वाल मनोविज्ञान, अध्याय ४, ५, ९, १३, १४।
११— ,, ,, —किशोर मनोविज्ञान की भूमिका, अध्याय ४, १०, ११, १४, १६।
१२— ,, ,, —मनोविज्ञान, अध्याय ७, १०, १४ १५।

१६

सीखना[1]

सीखने का अर्थ[2]

जिस क्रिया से प्राणी अपने को वातावरण के अनुकूल बनाते हुए अनुभवो से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करता है उसे 'सीखना' कहते हैं। अतीत से लाभ उठाना 'सीखना' है। आग से एक बार जल जाने के बाद बच्चा उसके पास नही जाता, क्योकि उसने अपने अनुभव से सीख लिया है कि आग उसे जला देगी। हम यह भी कह सकते हैं कि प्रतिक्रियाओ को उपयुक्त बनाना 'सीखना' है। बालक को उपयुक्त प्रतिक्रियाओ मे शिक्षित करना है जिसमे वह सफल जीवन बिता सके। 'सीखना' ही व्यक्ति की सारी सफलता की जड है। अपने-अपने विकास की कोटि के अनुसार सभी सीखते हैं, कीडे मकोडे सबसे कम सीखते हैं, क्योकि वे निम्न कोटि के जीव हैं। हमारे शरीर पर बैठने से एक बार मार खाने पर भी वे दुबारा वही आकर बैठते हैं। पक्षी कीडे-मकोडो से अधिक सीखते हैं। पक्षियो से अधिक चौपाये सीखते हैं। इसीलिये तो वे हमारी इतनी अधिक सेवा कर पाते हैं। चौपायो से अधिक मनुष्य सीखता है, क्योकि सृष्टि का वह सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। आज की सभ्यता का सारा चमत्कार उसके 'सीखने' का परिणाम है। मनुष्य अपने 'सीखने' से मूलप्रवृत्तियो मे इतना परिवर्तन ला देता है कि बाद मे चल कर उन्हे पहचानना कठिन हो जाता है।

प्रवचन का सुनना अथवा पुस्तक का पढना आधुनिक मनोविज्ञान मे सीखना नही समझा जाता। अनुभव के बढाने को 'सीखना' कहते हैं। इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान ने 'सीखने' की व्याख्या की है। फलत आज शिक्षा मे हम ऐक्टिविटी प्रोग्राम्स[3] (क्रियात्मक कार्यक्रम), लर्निङ्ग बाई डूइङ्ग[4] (करने से सीखना), डायरेक्ट कॉन्टैक्ट विद ऑबजेक्ट्स[5] (वस्तु से प्रत्यक्ष परिचय), प्रॉजेक्ट मेथड[6], सेल्फ ऐक्टिविटी[7] (आत्म क्रियाशीलता), 'द लाइफ सिचुएशन इन स्कूल[8] (स्कूल मे जीवन की परिस्थिति से साक्षात) आदि विधियो का प्राधान्य पाते है। अब 'पुस्तक

1. Learning. 2 Meaning of Learning 3 Activity Programmes. 4. Learning by Doing. 5. Direct Contact with Objects. 6. Project Method. 7. Self activity. 8. The life Situation in School.

पढने'[1] और 'प्रवचन' को पहले के सदृश् प्रश्रय नही दिया जाता। 'सीखने की क्रिया'[2] से अब यह समझा जाता है कि प्राणी वातावरण के संघर्ष मे आ कर उत्तेजना[3] और प्रतिक्रिया[4] के कारण अपनी बुद्धि[5] और सूझ[6] (इनसाइट) को नये अनुभव के सीखने मे लगा देता है।

थॉर्नडाइक के सीखने के नियम[7]

सीखने के नियम को क्रमबद्ध करने का श्रेय थॉर्नडाइक को है। इन्हे निर्धारित करने के लिये थॉर्नडाइक ने पहले पशुओ पर परीक्षण किया। इन नियमो की चारो ओर से बडी आलोचना की गई। फलत उसने मनुष्यो पर परीक्षण कर उन्हे और पुष्ट करने की चेष्टा की। उसने सीखने के तीन प्रधान नियम निश्चित किये हैं — १—तत्परता का नियम, २—अभ्यास का नियम, और ३—प्रभाव का नियम।

१—तत्परता का नियम[8]—

इस नियम का तात्पर्य यह है कि जब प्राणी किसी काम को सीखने की धुन मे रहता है तो उसे सीखने मे आनन्द आता है, पर जब उसे सीखने की इच्छा व धुन नही होती तो सीखने मे उसे दुख होता है, और जब सीखने की धुन रहती है और सीखने का अवसर नही मिलता तब भी दुख होता है। इस नियम का अर्थ यह हुआ कि शिक्षक को यह देखना चाहिये कि बालक सीखने की धुन मे है या नही, यदि नही है तो उसे सीखने के लिये तत्पर बनाना होगा। इसी नियम के अनुसार शिक्षक को पाठ प्रारम्भ करने के पहले बालक की रुचि और जिज्ञासा पर ध्यान देना होता है। शिक्षक को पाठ इस प्रकार प्रारम्भ करना चाहिये कि बालको में सीखने की तत्परता आ जाय। यदि इस मनोवैज्ञानिक नियम पर ध्यान नही दिया जायगा तो बालक कुछ भी न सीख सकेगा। उसे मानसिक दुख होगा। इसी नियम पर ध्यान न देने से बालको मे कभी-कभी किसी विषय के प्रति सदा के लिये अरुचि उत्पन्न हो जाती है। शिक्षक ने बालको की तत्परता पर बिना ध्यान दिये ही यदि नया विषय प्रारम्भ कर दिया तो बहुत सम्भव है कि वह विषय उनके लिये सदा के लिये अरुचिकर हो जाय। कुछ बालकों की किसी विशिष्ट विषय से रुचि नही होती। उनकी इस अरुचि का कारण शिक्षक की तत्परता के नियम की अवहेलना हो सकती है।

कक्षा मे प्रश्न करते समय शिक्षको को केवल उन्ही बालको से प्रश्न करना चाहिये जो उत्तर देने के लिये तैयार हो। यदि दूसरे बालको से प्रश्न करना आवश्यक

---

1. Book learning 2. Learning Process. 3. Stimulus 4. Response 5 Intelligence 6. Insight 7 Thorndike's Laws of Learning. 8. The Law of Readiness.

हुआ, और आवश्यक होता ही है, तो उसे उन्हे तैयार करने के लिये प्रश्नो के विश्लेषण से उचित वातावरण का उपस्थित करना आवश्यक है। किसी प्रश्न के सूक्ष्म विश्लेषण से मन्द बालक भी उत्तर देने के लिये तत्पर हो सकता है। साथ ही साथ अध्यापक को यह भी ध्यान रखना चाहिये जो बालक उत्तर देने के लिये तत्पर हो उसे अवश्य अवसर देना चाहिये, अन्यथा उसे दुख होगा और एक सवेगात्मक धक्का लगेगा। ऐसे समय उसके हृदय पर यदि हाथ रख कर देखा जाय तो हृदय की धडकन तीव्र जान पडेगी। पर यदि दस विद्यार्थी उत्तर देने के लिये तैयार हैं तो किसे अवसर दिया जाय ? चतुर और मनोवैज्ञानिक अध्यापक इस विषम परिस्थिति का निराकरण बडी सरलता से कर सकता है। ऐसी स्थिति मे बालक को सवेगात्मक धक्के से बचाना है। यह मान्य है कि अध्यापक प्रत्येक बालक की योग्यता से परिचित है। अत उसे प्रश्न देने के इच्छुको में से सबसे मन्द बालक को अवसर देना चाहिये। दूसरो से यह कह कर कि 'तुम्हे तो आता है' उन्हे सवेगात्मक धक्के से बचाया जा सकता है।

२—अभ्यास का नियम[1]—

इस नियम के दो भाग हैं . उपयोग और अनुपयोग। किसी कार्य को बार-बार करने से उसे करने की आदत पड जाती है। अभ्यास छोड देने से आदत भूलती जाती है। गाने का नित्य अभ्यास करने से गाना दिनो-दिन पक्का होता जाता है। अभ्यास छोड देने से वह बिगड जाता है। खिलाडी बहुत दिन के बाद फुटबाल खेलने जाता है तो उसका पैर ठीक नही चलता। बालक बहुत दिन के बाद गणित के प्रश्न करने बैठता है तो असफल होता है। अभ्यास छोड देने से अक्षर की सुन्दरता जाती रहती है। अभ्यास के नियम का तात्पर्य यह हुआ कि शिक्षक को उपयुक्त अवसर पर विद्यार्थियो को विभिन्न विषयो में अभ्यास देते रहना चाहिये, अन्यथा सीखी हुई विद्या अनुपयोग से चली जायगी। शिक्षको को यह ध्यान रखना चाहिये कि बालक कभी गलत बात का अभ्यास न करे नही तो गलत बात के बैठ जाने मे उससे पीछा छुडाना सरल न होगा।

३—प्रभाव का नियम[2]—

इस नियम को 'सन्तोष और असन्तोष का नियम भी कहते हैं। हमारे अनुभव विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं। जिन अनुभवो से हमें सन्तोष मिलता है उन्हे हम अपने स्वभाव मे अपना लेते हैं, जिनसे असन्तोष मिलता मिलता है उन्हे हम छोड देते हैं। क्योकि कुछ कार्य सन्तोषप्रद होते हैं और कुछ असन्तोषजनक ? इसका रहस्य सृष्टि के विकास मे निहित है। जो पहले कष्टदायक था उसे हानिकर समझ कर छोड

1 The Law of Exercise or Frequency. 2 The Law of Effect.

दिया गया, और जो आनन्ददायक था उसे अपना लिया गया। प्राय. जीवन की सुखद घटनाओ को हम स्मरण रखना चाहते हैं और दुखद घटनाये हमारे स्मृति-पटल से विलीन हो जाती हैं। सभ्यता का विकास इसी तर्क पर हुआ है। यह तर्क अब भी बन्द नही हुआ है। व्यवहारवादियो के प्रमुख नेता वाटसन के अनुसार सीखने मे 'प्रभाव' का नियम नही चलता। वाटसन का विश्वास 'अभ्यास[1] (फ्रीक्वेन्सी) और नवीनता'[2] रीसेन्सी) के नियम पर अधिक है। उनका कहना है जब तक किसी सफल क्रिया का बार-बार अभ्यास नही किया जायगा तब तक व्यक्ति उसे सीख नही सकता। वाटसन स हम पूर्णत सहमत नही हो सकते। सीखने मे 'अभ्यास' का स्थान अवश्य है, पर प्रभाव के नियम को निकाल देना ठीक नही जान पडता। यह बात मैग्डूगल के चूहो पर परीक्षणो से सिद्ध है। जिन रास्तो से जाने मे चूहो को बिजली के धक्के का अनुभव करना पडता था उधर जाना उन्होने न सीखा। पशुओ को सिखलाने वाले प्राय 'प्रभाव के नियम' पर ही चलते हैं। जिस क्रिया को पशुओ को सीखना है उन्हे ठीक-ठीक करने मे उन्हे कुछ खाने को दिया जाता है, पर गलत करने पर उन्हे दण्ड दिया जाता है। अर्थात् एक प्रकार की क्रिया मे उन्हे सन्तोष या आनन्द दिया जाता है और दूसरी मे कष्ट। इस प्रकार 'सन्तोष और असन्तोष के नियम' अथवा प्रभाव के नियम के अनुसार उनको कुछ सिखलाने मै सफलता मिलती है।

स्कूल तथा घर मे इस नियम का अनजान मे प्रयोग किया जाता है। यदि बालक कोई बुरा कार्य करता है तो अभिभावक अथवा शिक्षक उसे दण्ड देते है। दण्ड देने का उद्देश्य यही है कि बालक उस कार्य को पुनः न करे। अच्छा कार्य करने पर पुरस्कार अथवा प्रशसा इसीलिये दी जाती है कि वह करना सीख लिया जाय। शिक्षण-विधि मे इस विधि का नित्य प्रयोग किया जाता है। परन्तु 'प्रभाव के नियम पर ठीक से बिना समझे चलने मे एक भय है। बिगडा हुआ बालक बहुधा पुरस्कार देने से ही अपनी अवाछित मनोवृत्ति बना लेता है। वह सोचता है कि "यदि मै खूब उपद्रव मचाऊँ तो मुझे यह वस्तु अवश्य मिलेगी।" अभिभावको को इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये। आकर्षण का केन्द्र होना बालको के लिये बडा ही सुखद होता है। वे देखते हैं कि ऊधम मचाने से सब उनकी ओर आकर्षित होते हैं, अत ऊधम मचाने की वे अपनी आदत बना लेते हैं। जो शिक्षक काम न करने के लिये बालको को दण्ड देते हैं वे बडे ही अमनोवैज्ञानिक हैं। वे स्कूल-कार्य का सम्बन्ध दण्ड से जोड देते हैं। फलत बालको की उस विषय के प्रति अरुचि हो जाती है।

थॉर्नडाइक के सिद्धान्त की आलोचना

मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायो[3] की 'सीखने' के सम्बन्ध में धारणाओ का

1. Frequency. 2. Recency. 3. अध्याय तीन मे यथास्थान देखिये।

उल्लेख हम तीसरे अध्याय मे कर चुके हैं, पर प्रसगवश उनको यहाँ दुहराना अनुपयुक्त नही जान पडता। व्यवहारवादियो के प्रमुख नेता वाटसन के विचार से ऊपर हम परिचित हो गये हैं, अर्थात् व्यवहारवाद 'प्रभाव के नियम' मे विश्वास नही करता। उसके अनुसार 'फ्रीक्वेन्सी' अथवा 'अभ्यास का नियम' ही प्रधान है। हम देख चुके हैं कि थॉर्नडाइक 'अभ्यास' के मूल्य को मानता है, पर सारा श्रेय इसी नियम को दे देना उसे स्वीकार नही।

अवयवीवाद[1] थॉर्नडाइक के तीनो नियमो की कडी आलोचना करता है। थॉर्नडाइक का सिद्धान्त सम्वन्धवाद[2] कहा जाता है, अर्थात् थॉर्नडाइक सीखने की क्रिया मे "उत्तेजना का सम्वन्ध उस प्रतिक्रिया"[3] से देखता है जो कि उस उत्तेजना के कारण न उठी हुई हो। थॉर्नडाइक का प्रयत्न यही दिखलाने का है कि यह सम्वन्ध कैसे स्थापित होता है और इसमे कैसे सरलता लाई जा सकती है। 'सीखना' इस प्रकार कुछ 'स्वतन्त्र[4] स्वत्वो' का सगठन है। अत कभी-कभी थॉर्नडाइक के आलोचक उसके सिद्धान्त को 'मनोवैज्ञानिक अणुवाद'[5] की सज्ञा देते हैं। अवयवीवाद के अनुसार ऐसे सगठन की कोई आवश्यकता नही, क्योकि यह सगठन तो प्रत्यक्षीकरण मे ही निहित है। अर्थात् प्रत्यक्षीकरण और सीखना का तात्पर्य इस निहित सम्वन्ध को समझना है, न कि उसे स्थापित करना। अवयवीवाद की इस धारणा का अर्थ शिक्षा के लिये वडा ही महत्त्वपूर्ण है। अवयवीवाद के अनुसार 'सीखने' का सार 'खोज'[6] करने से है। अत 'रचनात्मक कार्यो'[7] (क्रियेटिव वर्क) के आधार पर ही 'सीखने के लिये वालको को उत्साहित करना चाहिए। हमारे नित्य के अनुभव की वात है कि जव केवल 'अभ्यास'[8] की विधि' पर निर्भर रहा जाता है, अथवा जव केवल आनन्द या 'कष्ट' के सहारे गलत[9] प्रेरणा दी जाती है तो वालको की अपेक्षित उन्नति नही होती। वे विपय को भले ही सीख ले, पर उनका मानसिक विकास नही होता।

सम्बद्ध प्रत्यावर्तित या अभिसंधानित प्रतिक्रिया का सिद्धान्त[10]

इस सिद्धान्त पर व्यवहारवादियो का विशेप विश्वास है। इसका आधार शारीरिक विज्ञान कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त मे उत्तेजना और प्रतिक्रिया का सम्बन्ध दिखलाई पडता है। मनुष्य मे कुछ उत्तेजना पाने पर कुछ स्वाभाविक प्रतिक्रियाये होती हैं। किसी वस्तु को देख कर वालको का डर जाना इसी प्रकार की प्रतिक्रिया है। माँस को देखते ही कुत्ते के मुँह से लार टपकने लगना एक स्वाभाविक

1 Gestalt Psychology 2 Connectionism 3. Stimulus and Response, S—R 4 Independent Units. 5. Psychological Atomism. 6. Discovery 7 Creative Work 8 Drill Method 9 Wrong Motivation. 10 Conditioned Response Theory.

प्रतिक्रिया है। किन्तु यदि माँस को दिखाने के साथ-साथ घटी बजाई जाय तो देखा जायगा कि कुछ दिन के बाद केवल घटी की ध्वनि पर ही कुत्ता लार टपकाने लगता है। इस प्रकार स्वाभाविक प्रतिक्रिया एक सम्बद्ध प्रत्यावर्तित उत्तेजना के प्रति हुई। इसको जानवर की सम्बद्ध प्रत्यावर्तित या अभिसधानित प्रतिक्रिया कहते हैं। आरम्भ मे प्राय सभी सीखना इसी प्रतिक्रिया के आधार पर ही होता है। अभिसंधानित उत्तेजना के सहारे बालक की स्वाभाविक प्रतिक्रिया में सुधार लाने की चेष्टा की जाती है। उत्तेजनाजनित प्रतिक्रिया हम लोगो के भय तथा घृणा आदि कई प्रकार के भाव के कारण समझी जाती है। इसकी जड बचपन मे पडती है, कारण हम भूल जाते है, पर उसका प्रभाव स्थायी रहता है। अभिसधानित प्रतिक्रिया के सिद्धान्त के आधार पर कहा जाता है कि अँधेरे तथा किसी जानवर के लिये बालक का भय स्वाभाविक नही है, वरन् वह भय अभिसधानित प्रतिक्रिया का उदाहरण है। उदाहरणार्थ, बालको मे अपने पिता की सवेगात्मक प्रतिक्रिया को देख कर भय उत्पन्न हो सकता है। वे सर्प से वहुधा तव तक नही डरते जब तक उनसे यह न कह दिया जाय कि सर्प भयानक होता है। बच्चा अचानक किसी जानवर को देख कर इसलिये डरता है क्योकि उस जानवर के साथ-साथ डराने वाली एक ध्वनि निकली है। उसी प्रकार के दूसरे जानवर को देख कर भी बच्चा इसी लिये डरता है कि वह जानवर पहले जैसे ध्वनि उत्पन्न करता है या उत्पन्न करने का रूप दिखलाता है।[1]

सीखने की विधियाँ[2]

सीखने के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिको ने पशुओ पर कई परीक्षण किये हैं। मानव बच्चा भी पशुओ के सदृश् मूलप्रवृत्त्यात्मक प्राणी[3] है। अत सीखने में पशुओं के नियम उस पर भी लागू होते है। अब तक के परीक्षणो का मूल निष्कर्ष यह है कि मनुष्य तीन प्रकार से सीखता है :—'प्रयास एव त्रुटि' से, 'अनुकरण' से और 'सूझ' से। हम प्रत्येक का नीचे सक्षेप मे क्रमश उल्लेख करेगे।

प्रयास एवं त्रुटि से सीखने[4] की व्यापकता—

प्राणी बहुत कुछ 'प्रयास एव त्रुटि' से सीखता है। यकायक कोई बात सीखना उसके लिये सम्भव नही होता। सीखने की क्रिया बडे धीरे-धीरे चलती है। सीखने मे गलत प्रतिक्रियाओ को प्राणी धीरे-धीरे छोड देता है और ठीक को वह एक मे सुसगठित कर लेता है। सुसगठित होने की यह क्रिया तब तक चलती रंहती है जब तक प्राणी सन्तोप की एक सीमा पर नही पहुँच जाता। कुछ मनोवैज्ञानिको का कहना है कि सीखने की इस विधि को "प्रयास एव त्रुटि" न

1. विस्तृत वर्णन के लिए लेखक की 'मनोविज्ञान' अध्याय, १२ देखिये 2. Methods fo Learning. 3. Instinctive Creature. 4. Learning by Trail and Error.

कह कर "सफल प्रतिक्रियाओ[1] के चुनने से सीखना" कहना चाहिये, क्योकि प्राणी तो सफल प्रतिक्रियाओ के चुनने से सीखता है न कि गलत की अवहेलना करने से। असफल प्रतिक्रियाये सफल के सामने टिक नही सकती। मुर्गी का बच्चा दाना चुगना कैसे सीखता है ? वह कई वार गलत चोच लगाने के वाद ही ठीक स्थल पर चोच लगाना सीखता है। लायड मार्गन ने अपने एक कुत्ते पर 'प्रयास एव त्रुटि' की विधि का प्रयोग किया। उन्होने कुत्ते को एक लोहे के सीकचो से घिरे हुए घेरे के अन्दर वन्द कर दिया। कुत्ता वाहर निकलने के लिये अपने थूँथन से हर एक सीकचे को ढकेलता रहा। बहुत देर बाद वह दरवाजे को ढकेल कर वाहर निकल सका। दूसरी बार वन्द करने पर दरवाजे पर उसे पहुँचने में अधिक देर न लगी। इस प्रकार कुत्ता 'प्रयास एव त्रुटि' से ठीक दरवाजे को ढूँढने मे सफल हुआ। चूहो पर मैंग्डूगल के परीक्षण भी प्रयास एव त्रुटि' विधि के ही प्रमाण है। १६५ बार गलती करने के बाद ही वे ठीक रास्ते से होकर जाने मे समर्थ हुए। इस प्रकार का सीखना पशुओं तक ही सीमित नही है। वच्चे भी इसी प्रकार से बहुत सी बाते सीखते हैं। पहले वार-वार प्रयत्न करने के बाद ही आद्या सिटकनी को पकड दरवाजा खोलने में समर्थ हो सकी। अब दरवाजा खोलने के लिये वह शीघ्र ही सिटकनी को पकड लेती है। साइकिल, हॉकी, फुटबाल आदि सीखने मे भी 'प्रयास एव त्रुटि' का बहुत सा अश छिपा रहता है। यदि एक बच्चे को लोहे के सीकचे वाले हाते मे बन्द कर दिया जाय तो कदाचित् उसका व्यवहार कुत्ते के समान ही होगा। यह ध्यान देने की बात है कि "प्रयास एव त्रुटि" विधि केवल गतिपूर्ण क्रियाओ[2] से ही सम्बन्धित नही। हम अपने बहुत से गणित के प्रश्न भी "प्रयास एव त्रुटि" विधि के आधार पर करते हैं, यकायक हम उन्हे कभी तर्क के बल पर नही कर पाते। हमारे सोचने की क्रिया मे भी "प्रयास एव त्रुटि" का अश मिला रहता है। वास्तव में कोहलर द्वारा प्रतिपादित "सूझ विधि"[3] मे भी "प्रयास एव त्रुटि" का अश अवश्य रहता है। 'सूझ' केवल शीघ्रता से सीखने का प्रमाण है। कोई व्यक्ति किसी समस्या पर सोचते-सोचते यकायक कह वैठता है कि "ओ ! पा गये—पा गये" स्पष्ट है कि समस्या के हल पर पहुँचने के पहले व्यक्ति को कई प्रयास और त्रुटियाँ करनी पडती हैं।

प्रयास एव त्रुटि से सीखने की विधियाँ

प्रयास एव त्रुटि से सीखने की पॉच विधियो का वर्णन किया गया है —

(१) अनायास प्रतिक्रिया का होना[4]—

वालक चारपाई मे सुला दिया जाता है। अनायास उसके हाथ-पैर इधर-उधर

---

1. Successful Variants. 2 Motor Acts 3 Learning by Insight.
4. Random Responses

हिलते रहते हैं। कभी-कभी हिलने से उसे यहाँ-वहाँ चोट लग जाती है। इसी प्रकार की अनायस क्रियाओ से स्वत. कुछ न कुछ वह सीखता रहता है। ऐसे ही प्रौढ व्यक्ति भी अपनी अनायस क्रियाओ से व्यवहार की बहुत बातों को सीखा करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वातावरण बुरा हुआ तो व्यक्ति अपनी अनायास क्रियाओ से बुरी ही बात सीखेगा। अत. वातावरण का रुचिकर होना आवश्यक है।

(२) व्यर्थ प्रतिक्रिया की अवहेलना[1]—

किसी विशेष परिस्थिति मे पडने पर प्राणी अनेक प्रतिक्रियाओ से प्रयुक्त होता है। जिन प्रतिक्रियाओं से उसे सन्तोष मिलता है उसे वह अपना लेता है और जिनसे असन्तोष मिलता है उन्हे वह छोड देता है। उजाले वाले रास्ते से बाहर निकलने के प्रयत्न पर चूहो को बिजली का धक्का लगता था। अत. उस रास्ते को उन्होने छोड दिया और अँधेरे रास्ते को ही अपनाया, क्योकि इसमे उन्हे सन्तोप मिलता था।

(३) स्थानापन्न उत्तेजना[2]—

कभी-कभी किसी एक प्रतिक्रिया के स्थान पर दूसरी भी वही काम कर सकती है। उदाहरणार्थ; अचार को देख कर हमारे मूँह से लार टपकने लगती है, पर कभी-कभी उसका नाम सुनने से ही लार आ जाती है। इस प्रकार अचार शब्द की 'ध्वनि' से ही अचार 'वस्तु' से सम्बन्धित प्रतिक्रिया की उत्पत्ति हो जाती है।

(४) स्थानापन्न प्रतिक्रिया[3]—

इस प्रकार का सीखना बालक के भय मे देखा जाता है। कुत्ते के साथ खेलता हुआ बालक एक बार कुत्ते की झिडकी से डर जाता है। इसके बाद वह किसी भी कुत्ते से डरने लगता है। इसी प्रकार दीप-शिखा से जला हुआ बालक आग से भी डरने लगता है।

(५) प्रतिक्रियाओं का मिश्रण[4]—

वास्तव मे जो कुछ हम सीखते हैं वह कुछ प्रतिक्रियाओ के मिश्रण का ही फल होता है। हमारी साधारण से साधारण आदते कई प्रतिक्रियाओ के योग का फल होती हैं। खाना, पीना, चलना, गाना, बजाना आदि कई प्रतिक्रियाओ के योग मात्र से सीखा जाता है। पहले हमें कार्य बहुत कठिन जान पडता है, पर विभिन्न क्रियाओ के मिश्रण से वह सरल हो जाता है।

अनुकरण से सीखना[5]

प्राणी सब कुछ प्रयास एव त्रुटि से ही नही सीखता। वह अनुकरण से भी

---

1. Elimination of Wrong Response. 2. Substitute Stimulus. 3. Substitute Response. 4. Combination of Responses. 5. Learning by Imitation.

वहुत कुछ सीखता है । अनुकरण से सीखने मे मनुष्य चतुर होता है । बन्दर जैसे पशुओं मे भी अनुकरण की शक्ति देखी जाती है । तोता पक्षी भी अनुकरण से राम-राम कहना सीख लेता है । हेगार्टी महोदय ने अनुकरण से सीखने पर बन्दरो पर कुछ प्रयोग किया । उन्होने कमरे मे वन्द एक भूखे वन्दर के सामने पोली नली में केला डाल कर छोड दिया । वन्दर एक घण्टे तक नली को इधर-उधर केला निकालने के लिये पटकता रहा । कमरे के वाहर वैठा हुआ दूसरा वन्दर उसकी सारी क्रिया देख रहा था । एक घण्टा तग होने के वाद पास रखी हुई छडी से बन्दर ने केले को नली की दूसरी ओर से निकाल लिया । दूसरे दिन उस वन्दर को जो वाहर वैठा हुआ उसकी क्रिया को देख रहा था पिंजडे मे वन्द कर दिया गया और नली मे केला रख उसके सामने डाल दिया गया । इस वन्दर ने एक मिनट से कम ही समय मे छडी की सहायता से केला वाहर कर लिया । अनुकरण की विशेप शक्ति वन्दरो मे ही होती है । कुत्ता कदाचित् इस प्रकार अनुकरण नही कर पाता ।

वन्दरो के सदृश् वालको मे भी अनुकरण की शक्ति तीव्र होती है । यदि अनुकरण करने की शक्ति मनुष्य मे न होती तो उसका जीवन कठिन हो जाता और प्रत्येक वात के सीखने के लिये उसे प्रयोग करने पडते । अतएव प्रकृति ने मनुष्य को अनुकरण की प्रबल शक्ति दी है । अनुकरण-शक्ति का विवरण आठवे अध्याय में विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है ।

सूझ से सीखना[1]

सूझ से सीखना 'प्रयास एव त्रुटि' अथवा 'अनुकरण' से श्रेष्ठ है । यह प्रायः मनुष्यो मे ही पाया जाता है । दूसरे अध्याय मे कोहलर के परीक्षणो मे हम देख चुके हैं कि शिम्पैञ्जी (वनमानुष) के भी सीखने मे सूझ का अग रहता है । काफका महोदय का कहना है कि सूझ में मनुष्य हाथ-पैर इत्यादि से काम न लेकर अपने तर्क-वुद्धि से काम लेता है । जब प्यासा व्यक्ति अपनी धोतियो को जोड कर कूये से पानी निकालता है तो वह अपनी सूझ का ही परिचय देता है । इञ्जीनियर सूझ से ही भवन-निर्माण की सारी वातो का निर्णय करता है । राजनीतिज्ञ सूझ से ही अपनी नीति निर्धारित करता है । सूझ कल्पना के आधार पर होती है । जिसकी कल्पना-शक्ति जितनी ही तीव्र होती है उसकी सूझ भी उतनी ही तत्पर होती है ।

सीखने मे उन्नति[2]

सीखने मे उन्नति 'शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य', आयु, वातावरण, अभ्यास,

---

1. Learning through Insight and Understanding. 2. Progress in Learning.

रुचि, सफलता का ज्ञान, प्रतियोगिता, पुरस्कार और निन्दा, आदि बातो पर निर्भर रहती है। नीचे हम इनकी ओर सकेत करेगे।

शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य—

ज्ञान विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो की सहायता से ही प्राप्त होता है। यदि शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य अच्छा न हुआ तो ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक काम न कर सकेगी। यही कारण है कि गूँगे, बहरे तथा अन्धे आदि व्यक्तियो की सीखने की उन्नति एक सी नही होती। निर्बल और अच्छे नेत्र वालो को उन्नति मे भेद दिखलाई पडता है। यदि शारीरिक स्वास्थ्य ठीक न रहा तो सीखने में व्यक्ति की रुचि न होगी। वह शीघ्र ही थक जायगा। कुछ मनोवैज्ञानिको की धारणा है कि कुशाग्र बुद्धि के बालक की अपेक्षा साधारण बुद्धि वाला बालक अनुपात मे अधिक सीखते है। इसका कारण यह वतलाया जाता है कि कक्षा मे साधारण बालक की बुद्धि के अनुसार पढाया जाता है, जिससे तीव्र बुद्धि वाला विशेष रुचि नही रखता। अतः तीव्र बुद्धि बालक को उत्साह देने के लिये कक्षा का वर्गीकरण योग्यतानुसार होना चाहिये। विभिन्न परीक्षणो से यह सिद्ध कर दिया गया है कि स्कूल की व्यवस्था इस प्रकार चल रही है कि उससे तीव्र वालक को बहुत ही कम उत्साह मिलता है। अतः सिखाने मे वालको के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर ध्यान देना चाहिये। उनके वर्गीकरण मे भी इस पर ध्यान देना आवश्यक है।

आयु—

आयु का सीखने से घनिष्ठ सम्बन्ध है। छोटे बालक को यदि सगीत सिखलाया जाय तो वह प्रौढ अथवा बूढे से अधिक शीघ्र सीख लेता है। भाषा तथा अकगणित आदि विषय बालक शीघ्र सीख लेता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि एक निश्चित उम्र के हो जाने पर व्यक्ति वडी कठिनाई से किसी भाषा का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परीक्षणों के आधार पर अव यह सिद्ध कर दिया गया है कि बुद्धि का विकास सोलह अथवा अठारह वर्ष पर नही रुक जाता। सीखने की योग्यता तेइस वर्ष तक कुछ न कुछ बढती रहती है। चालीस वर्ष के वाद उन्नति रुकती हुई दिखलाई पडती है। परीक्षण के आधार पर थॉर्नडाइक का कथन हे कि "आठ से अठारह या बीस वर्ष तक सीखने मे पर्याप्त उन्नति होती है, पश्चात् पच्चीस या कुछ और वाद तक उन्नति जैसी की तैसी रहती है, फिर लगभग पैतीस तक धीरे-धीरे गिरती है, फिर पैतालिस वर्ष या वाद तक और धीरे-धीरे गिरती जाती है।"

अभी तक ठीक नही निश्चय किया जा सका है कि उम्र के वढने से सीखने की योग्यता क्यो कम हो जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिको का अनुमान है कि उम्र के वढने

से नाडीमण्डल मे दोप आ जाता है, उत्साह का अभाव हो जाता है और अपने जीविकोपार्जन मे लगे रहने के फलस्वरूप अरुचि हो जाती है, तथा ठीक से परिश्रम करने की आवश्यकता का अनुभव भी व्यक्ति नही करता। सोरेनसन[1] का कहना है "सीखने
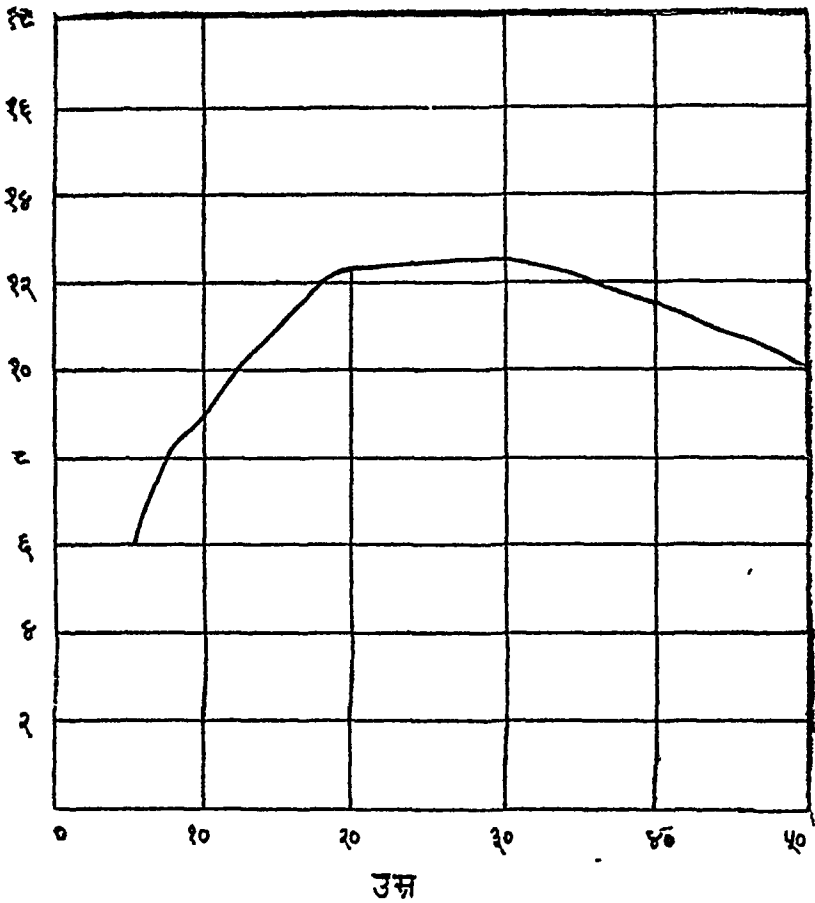
थॉर्नडाइक के अनुसार मनुष्यो मे उम्र के अनुसार सीखने की योग्यता की रेखा (कर्व)

मे कभी बहुत अधिक अध्ययन के कारण मानसिक आलस्य आ जाने से कमी आ जाती है।" समस्या हल करने की योग्यता पर अनुभव का बहुत प्रभाव पडता है। अनुभव उम्र के साथ बढता है, परन्तु सीखने की योग्यता उम्र के बढने के साथ घटती जाती है। अत यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'समस्या हल करने की योग्यता' तो उम्र के बढने के साथ बढेगी ही, क्योकि उम्र के साथ अनुभव बढता है।

अब तक लोगो का यह विश्वास रहा है कि बचपन सीखने और स्मरण करने का सबसे अच्छा समय है। आधुनिक अन्वेपणो से यह धारणा एकदम भ्रमात्मक सिद्ध कर दी गई है। व्यक्ति के जीवन में कोई भी ऐसा काल नही जिसमे उसकी सुधरने

---

१. सोरेनसन—"अडल्ट एजेज ऐज ए फैक्टर इन लर्निङ्ग", जर्नल ऑव् एड्केशनल साइकॉलॉजी, भाग २१, नम्बर ६, पृ० ४५१-५९।

की योग्यता का अभाव हो, यद्यपि किसी अवस्था विशेष मे वह अधिक निपुण रहता है। बालको का मस्तिष्क सासारिक समस्याओ से दवा नही रहता। उनका नाडीमण्डल अधिक लचीला होता है। अत कुछ स्कूल-विषयो को प्रौढो की अपेक्षा वे अधिक तत्परता से सीख लेते हैं। 'सीखना' प्रगतिशील होता है और जीवन के किसी अवस्था मे वह प्रारम्भ किया जा सकता है। बहुत से लोगो ने पचास वर्ष की उम्र मे सगीत, नई भाषा तथा अन्य नये विषय सीखने मे आशातीत सफलता प्राप्त की है। रुचि कम हो जाने की बात दूसरी है। पर यदि निष्ठा के साथ व्यक्ति किसी भी उम्र मे सीखने की चेष्टा करे तो कदाचित् वह उतना ही सीख सकेगा जितना कि वह बचपन से प्रयत्न करने मे सीखता।

वातावरण—

वातावरण का सीखने की क्रिया पर बडा प्रभाव पडता है। यदि स्कूल किसी गन्दे स्थान मे है और स्वास्थ्यप्रद हवा का अभाव है तो बालको का मन सीखने मे नही लगेगा। यही कारण है कि स्कूल प्राय खुले तथा स्वस्थ वातावरण मे रखे जाते हैं। आक्सीजन की कमी से मस्तिष्क शीघ्र थक जाता है, आलस्य भर आता है, और आँखे झपकी मारने लगती है। बहुत गर्म वातावरण मे भी पढाई नही होती। अत गर्मी के दिनो मे पढने का समय स्कूलो मे कम रखा जाता है। स्कूलो के आसपास यदि कोई मिल या फैक्टरी हुई तो वातावरण दूषित हो सकता है।

अभ्यास—

सीखने मे यथेष्ट उन्नति के लिये यह जानना आवश्यक है कि किसी विषय का कितनी देर तक अभ्यास करना चाहिये। बिना अभ्यास के नियम को जाने अपेक्षित उन्नति न हो सकेगी। इस पर कई प्रयोग किये जा चुके है। अभ्यास का काल न बहुत अल्प हो न दीर्घ। १५ मिनट का समय बहुत अल्प होता है और ४५ मिनट का बहुत बडा होता है। प्रयोग द्वारा यह निश्चत किया गया है कि ३० मिनट का समय सबसे लाभप्रद होता है। इसमे मस्तिष्क शीघ्र थकता नही। पाइल महोदय का कथन है कि थोडा-थोडा अभ्यास नित्य करना चाहिये। कई दिन के लिये एक ही दिन अभ्यास करने से लाभ बहुत कम होता है। यदि गणित के सौ प्रश्न एक दिन ही हल करके कुछ नियम सीखने की चेष्टा की जाय तो प्रत्याशित फल न मिलेगा। सीखी हुई बात को पुष्ट करने के लिये पर्याप्त अभ्यास आवश्यक है। व्याकरण के नियमो का अभ्यास निबन्ध के लिखने मे करना चाहिये। गणित के नियमो का प्रयोग यथा सम्भव दैनिक जीवन मे करना चाहिये। मान लीजिये, बालक को सीधी रेखा खीचने का ज्ञान दिया गया। अब यह देखना चाहिये कि ज्यामिति के इस ज्ञान का वह अपने दैनिक जीवन मे उपयोग करता है कि नही। प्राय बालक गणित और जीवन के घनिष्ट सम्बन्ध को

नही समझते । यदि गणित के नियमो की ओर बालक ध्यान दे तो उसका जीवन क्रमबद्ध और सुसगठित हो जाय ।

सीखने की वस्तु का प्रकार सीखने वाले की उम्र तथा सीखने की विधि के अनुसार अभ्यास के रूप का निर्धारण करना चाहिये । प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कविता थोडी-थोडी नित्य याद करना एक ही दिन अधिक याद करने की अपेक्षा अच्छा होता है । वहुत देर तक वार-वार दुहराने मे देखा गया है प्रत्येक वाद वाले दोहराने मे पहले से अधिक समय लगता है । अत 'रटना' सीखने के सिद्धान्त के अनुसार अमनोवैज्ञानिक है ।

रुचि—

सीखने मे रुचि का होना आवश्यक है । केवल उत्साह देने या पुरस्कार व प्रशसा के लोभ से ही वालक यथाशक्ति परिश्रम करने के लिये प्रेरित नही हो सकता । यदि सीखने की उसकी रुचि न रहेगी तो कुछ न होगा । वालक मे एक आन्तरिक प्रेरणा का होना आवश्यक है । इस प्रेरणा से ही वह निश्चित उद्देश्य तक पहुँचने मे अपना सव कुछ लगा देगा । बालक की रुचि का सम्वन्ध उसकी इच्छाओ और उद्देश्यो से होता है । अत उत्साह देने के पूर्व शिक्षक को यह जान लेना चाहिये कि वालक की रुचि तथा समान्य और विशेप योग्यता क्या है । यदि बालक जानता है कि स्कूल का कार्य उसकी पहुँच के अन्दर है तथा उसका उसकी इच्छा से सम्वन्ध है तो उसकी उसमे रुचि होगी ।

सफलता का ज्ञान—

प्रयोगो से ज्ञात हुआ है कि सफलता के ज्ञान से सीखने मे वडा उत्साह मिलता है । एक परीक्षण के आधार पर एबेले[1] का कहना है कि 'उद्देश्य सीखने के लिये प्रेरित करता है, न कि सफलता का ज्ञान, क्योकि उद्देश्य से व्यक्ति मे उत्साह और प्रेरणा भर जाती है, और सफलता से उसका परिश्रम कम हो जाता है ।' जव वालक पूरी सफलता पा लेगा तव एबेले का कथन ठीक हो सकता है, पर यदि उद्देश्य की प्राप्ति नही हुई तो वीच-वीच मे आशिक सफलता का ज्ञान उसे अवश्य ही उत्साह देगा ।

प्रतियोगिता—

पुरस्कार की प्रतियोगिता का व्यक्ति के जीवन मे विशेप महत्व होता है । एडलर[2] का कहना है कि वडा वनने की भावना का मानव व्यवहार मे वडा स्थान है । कदाचित् यह प्रत्येक शिक्षक का अनुभव होगा कि प्रतियोगिता की भावना से प्रेरित

---

1 एबेले, एल० वी०, द इफेक्ट्स आव् शिफ्ट्स इन मोटीवेशन अपॉन लर्निङ्ग आव् सेन्सरी मोटर टास्क्स—आर्चिव्स ऑव साइकॉलॉजी, नम्बर २०५ । 2 एडलर—हॉट लाइफ शुड मीन टु यू ।

होकर बच्चे अधिक सीखते हैं। यही कारण है कि परीक्षा के दिनों मे वे इतना परिश्रम करते हैं। खेल आदि मे दर्शको की उपस्थिति मे प्रतियोगिता की भावना से अभिप्रेरित बालक अधिक परिश्रम सहर्ष करता है। डब्लू० मोड ने अपने प्रयोगो में देखा कि दर्शकों के सामने बालक बिजली के धक्के को अधिक देर तक सहने के लिये तैयार रहता है, पर यह ध्यान रखना चाहिये कि सीखने मे प्रतियोगिता की भावना अधिक लाने से व्यक्तित्व के ह्रास का भय रहता है, क्योकि योग्यतानुसार कार्य करने से ही अधिक अच्छा विकास होता है। शिक्षा मे सहकारिता का महत्त्व कम नही है। वास्तव मे समाज का अस्तित्व ही सहकारिता पर निर्भर है।

पुरस्कार और निन्दा—

हरलॉक[1] ने कुछ प्रयोगो द्वारा यह निश्चय किया है कि सीखने मे प्रशसा, निन्दा और 'फल की अवहेलना' का क्या फल होता है। हरलॉक ने देखा है कि बडे लडकों पर प्रशसा का अधिक प्रभाव पडता है। लडकियो पर लडको की अपेक्षा प्रशसा अथवा निन्दा का कम प्रभाव पडता है और मन्द बालक पर निन्दा का अच्छा प्रभाव पडता है और मन्द बालक प्रशसा से अधिक उत्साहित होता है। अपने प्रयोगो के आधार पर हरलॉक इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि प्रशसा निन्दा से और निन्दा 'फल की अवहेलना' से अधिक उत्साहवर्द्धक होती है। ल्यूबा[2] के परीक्षण भी हरलॉक के निष्कर्ष को पुष्ट करते है।

सीखने के पठार[3]

किसी कौशल या विषय के सीखने मे हमारी उन्नति सदा एक सी नही रहती। कभी हमे अपने परिश्रम का फल मिलते हुए दिखलाई पडता है और कभी परिश्रम के अनुपात मे उन्नति बहुत ही कम दिखलाई पडती है। पर कुछ दिन के बाद हमे फिर उन्नति दिखलाई पडती है। यही क्रिया किसी व्यक्ति के सीखने मे चलती रह सकती है, अर्थात् सीखने मे उन्नति का रुकना और बढना वह कई बार आ सकता है। आगे के चित्र मे हम देखते हैं कि तार देने की उन्नति सोलहवे सप्ताह तक बडी तीव्र गति से होती है। उसके बाद गति उतनी तीव्र नही रहती, पर ४२ वे सप्ताह तक उन्नति कुछ न कुछ होती जाती है। फिर उन्नति एक प्रकार से रुकती हुई बहुत ही धीरे-धीरे होती है। तार लेने मे हम देखते हैं कि उन्नति बीच-बीच मे रुक जाती है। सीखने मे उन्नति को इस प्रकार रुकने को 'सीखने का पठार' कहते हैं। कदाचित् पठार

1 हरलॉक, ई० बी०—'द वैलू ऑव् प्रेज़ ऐएड रिप्रूफ ऐज इनसेंटिव् फॉर चिल्ड्रेन'—आर्चिवस ऑव साइकॉलॉजी, भाग ७१। 2—सी० एल ल्यूबा—"ए प्रीलीमिनरी एक्सपेरिमेंएट टु क्वान्टीफाई एन इनसेंटिव् ऐएड इट्स इफेक्ट्स" जनर्ल ऑव ऐबनॉर्मल ऐएड सोशल साइकॉलॉजी, भाग २५, नं० ३। 3. Plateaus of Learning.

की उपमा पहाडी पर चढने वाले यात्री से दी जा सकती है। सीखने वाले का काम पहाडी पर चढने वाले यात्री के समान है। जैसे पहाडी पर चढते हुए यात्री की गति बीच-बीच मे बुरे रास्ते के कारण रुक जाती है, उसी प्रकार सीखने वाले को भी अपने
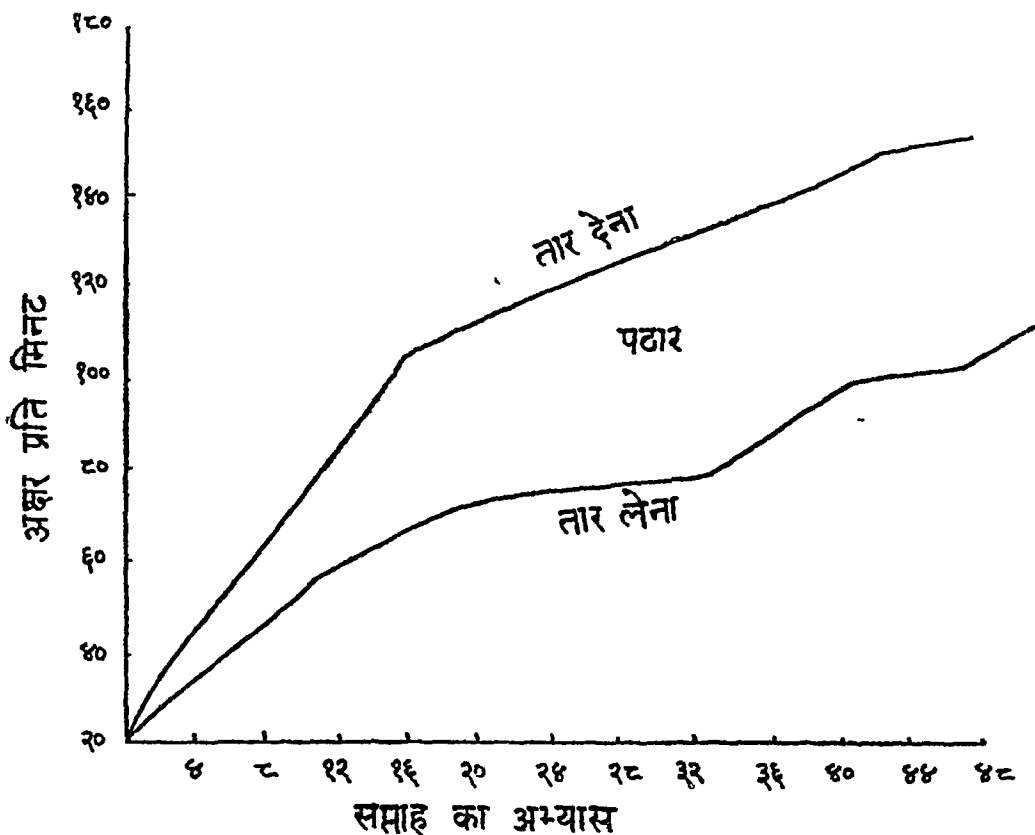
कार्य मे कई प्रकार की बाधाओ का सामना करना पडता है और उसकी उन्नति बीच-बीच मे रुकती जाती है। उन्नति के इस प्रकार रुकने से हतोत्साह होना अमनोवैज्ञानिक है। वास्तव में उन्नति मे पठार का आना आवश्यक है। जिस प्रकार चतुर सेनापति देश के कुछ भाग को जीतने के बाद जीते हुए भाग की स्थिति दृढ करने के बाद ही आगे बढता है, अथवा जिस प्रकार लिये हुए भोजन को पचाये बिना हमारा शरीर दूसरा भोजन नही लेता, उसी प्रकार हमारा मस्तिष्क बिना एक बात को ठीक से सीखे आगे नहीं बढना चाहता। पठार का काल 'पचने का काल' (कॉनसॉलीडेशन पीरियड) है। तथापि पठारो का कारण जानना आवश्यक है, जिससे उसके रोकने का समुचित प्रबन्ध किया जा सके और विद्यार्थी हतोत्साह न हो।

पठारों के कारण[1]

पठार आने के कई कारण हो सकते हैं। डब्लू० डब्लू० क्रूज का कहना है कि

1 Causes of Plateaus of Learning.

"पठार आने के कारण" रुचि का अभाव, समझने की कमी, गलत विधि, आदतो का पुनर्संगठन, थकान[1] आदि हो सकते है। हालिंगवर्थ के अनुसार पठारो का तात्पर्य यह हो सकना है कि (१) विद्यार्थी ने परिश्रम करना छोड दिया है, (२) उसने किसी गलत पद्धति को अपनाया है, (३) विद्यार्थी निरुत्साह है, अथवा (४) उन्नति इतनी धीरे-धीरे हो रही है कि वह सरलता से आँकी नही जा सकती। किसी काम मे रुचि की कमी कुछ विशेष कारणो से होती है। अत. शिक्षक को यह जानना चाहिये कि रुचि की कमी क्यो हुई। किसी बात को सीखने के पहले हमे स्थिति का पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। बीच मे कोई ऐसी बात आ सकती है जिससे आगे का सीखना एकदम कठिन हो जाय। उदाहरणार्थ, अकगणित मे चक्रवृद्धि ब्याज के प्रश्न समझने के लिये पहले ब्याज के प्रश्न समझने आवश्यक है। यदि स्कूल के किसी विषय मे पठार आ रहे हो तो यह निश्चय है कि ऐसे ही किसी बात का न समझना उनका कारण है। मान लीजिये, बालक को अगुलियो पर गिन कर प्रश्न लगाने का अभ्यास हो गया है। उसकी यह आदत अधिक कठिन प्रश्नो के हल करने मे बाधक हो सकती है, क्योकि अधिक गिनने मे ऊँगलियो पर वह गलती कर सकता है। अत: उसे दूसरा नियम बतलाना आवश्यक है। इसी प्रकार तार भेजने वाला यदि अक्षरो की इकाई से सीख रहा है तो सम्भव है कि कुछ दिन बाद उसकी उन्नति रुक जाय। अत. उसे शब्दो की इकाई से तार भेजना और लेना सीखना चाहिये। कभी-कभी सीखने वाले के शारीरिक मानसिक व स्वास्थ्य के कारण भी उन्नति मे रुकावट आ सकती है। दो तीन के लिये मौसम बदल जाने से भी बीच-बीच मे कुछ रुकावट आ सकती है।

उत्साह का अभाव—

कभी-कभी उत्साह की सीमा (मोटीवेशन लिमिट) के कारण उन्नति रुक जाती है। सीखने की विधि ठीक रहती है। ज्ञान की भी कमी नही, पर प्रेरणा के अभाव में उन्नति नही होती। उदाहरणार्थ, जो बालक कक्षा मे बहुत अच्छे अक से प्रथम श्रेणी मे प्रथम आता है उसमे उत्साह की कमी आ सकती है। वह सोच सकता है कि उसे आगे सीखने की आवश्यकता ही नही। ऐसी स्थिति मे बालक को स्कूल मे, जिले मे, प्रान्त तथा देश मे प्रथम आने का उत्साह देना चाहिये। इस प्रकार हम उसको आगे सीखने के लिये अभिप्रेरित कर सकते है।

शारीरिक क्षमता की सीमा—

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अलग-अलग शारीरिक क्षमता होती है। कोई एक मील दौड सकता है, कोई आधा मील, तो कोई ५० ही गज। इसी प्रकार पढने,

---

1. क्रूज डब्लू० डब्लू०—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, पृष्ठ २१६।

लिखने, तार भेजने और लेने इत्यादि कार्यो मे हर एक की अपनी सीमित क्षमता होती है, उससे वह आगे नही जा सकता । नाडी-मण्डल मे प्रवाहित होने वाली उत्तेजना की सीमा पर व्यक्ति जब पहुँच जाता है तो अपने सारे ज्ञान तथा श्रेष्ठतम विधि के होते हुए भी वह उन्नति नही कर पाता । पर यहाँ यह "ध्यान देने की बात है कि प्राय व्यक्ति अपनी शारीरिक क्षमता की सीमा तक विना पहुँचे ही अभ्यास छोड़ बैठता है ।"[1] काम करने का साधारण अभ्यास हो जाने पर आगे सीखने की प्रवृत्ति प्राय. रुक जाती है, क्योकि प्राणी स्वभावत. कष्ट से डरता है । कहने का तात्पर्य यह कि पठार के कारण को ठीक-ठीक समझना आवश्यक है ।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

सीखने का अर्थ

अनुभवो से अधिक लाभ उठाना 'सीखना' प्रतिक्रियाओ को उपयुक्त बनाना 'सीखना', 'सीखना' सारी सफलता की जड, सभ्यता का चमत्कार सीखने का परिणाम ।

अनुभव का बढाना 'सीखना', उत्तेजना और प्रतिक्रिया के कारण बुद्धि और सूझ से नये अनुभव का प्राप्त करना 'सीखना' ।

थॉर्नडाइक के सीखने के नियम

१—तत्परता का नियम

सीखने की तत्परता या अतत्परता का अध्ययन करना, सीखने की तत्परता उत्पन्न करना, तत्परता पर ध्यान न देने से विषय के लिये अरुचि, प्रश्नो का सूक्ष्म विश्लेषण कभी-कभी आवश्यक, संवेगात्मक धक्के से बचना ।

२— अभ्यास का नियम

उपयोग और अनुपयोग, अभ्यास छोड देने से आदत का भूलना, गलत बात का अभ्यास नही ।

३—प्रभाव का नियम—

संतोष और असन्तोष, वाट्सन की धारणा, प्रभाव का नियम ठीक, पशुओ को इसी नियम से सिखलाना ।

स्कूल तथा घर मे प्रभाव के नियम का प्रयोग, पुरस्कार व प्रशंसा देना, इस नियम का मनोवैज्ञानिक प्रयोग, काम न करने के लिए दण्ड देना अमनोवैज्ञानिक ।

थॉर्नडाइक के सिद्धान्त की आलोचना

व्यवहारवाद के अनुसार अभ्यास का नियम प्रधान ।

---

1 क्रूज—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, पृष्ठ २२२ ।

थॉर्नडाइक का सिद्धान्त 'सम्बन्धवाद', 'सीखना' कुछ स्वतन्त्र स्वत्वो का सगठन, मनोवैज्ञानिक अणुवाद, अवयवीवाद की अलोचना, अवयवीवाद के अनुसार 'सीखने' का सार 'खोज' मे, रचनात्मक कार्य के आधार पर बालको को सीखने के लिये उत्साहित करना ।

सम्बद्ध प्रत्यावर्तित या अभिसंधानित प्रतिक्रिया का सिद्धान्त

व्यवहारवादियो का विशेष विश्वास, प्रारम्भ मे सभी सीखना उत्तेजना पर आधारित, हमारे कुछ भय और घृणा के यही कारण, अन्धेरे के लिये भय स्वाभाविक नही ।

सीखने की विधियाँ

तीन प्रकार से सीखना ।

प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की व्यापकता—

यकायक सीखना सम्भव नही, गलत प्रतिक्रियाओं को छोड़ना और ठीक को सुसगठित करना, सफल प्रतिक्रियाओ के चुनने से सीखना, प्रयास एव त्रुटि से बच्चे का सीखना, सीखने की क्रिया मे भी "प्रयास एवं त्रुटि" का अश निहित, "सूझ विधि" मे भी प्रयास और त्रुटि ।

प्रयास एवं त्रुटि से सीखने की विधियाँ

(१) अनायास प्रतिक्रिया का होना—

शिशु की गतियाँ, प्रौढ की व्यवहार की बहुत बाते इसी विधि से ।

(२) व्यर्थ प्रतिक्रिया की अवहेलना—

सन्तोप और असन्तोष ।

(३) स्थानापन्न उत्तेजना—

एक के वदले दूसरी का भी वही कार्य करना ।

(४) स्थानापन्न प्रतिक्रिया—

वालक का भय ।

(५) प्रतिक्रिया का मिश्रण—

आदतो का सीखना ।

अनुकरण से सीखना

अनुकरण से सीखने मे चतुरता, वन्दर, तोता ।

वालको मे भी अनुकरण की शक्ति ।

सूझ से सीखना

'सूझ' से सीखना सर्वश्रेष्ठ, मनुष्यो मे ही, तर्क और बुद्धि से काम लेना, सूझ कल्पना के आधार पर ।

सीखने में उन्नति

शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य—

स्वास्थ्य का विशेष प्रभाव, इस पर ध्यान देना आवश्यक।

आयु—

बालक का प्रौढ से अधिक सीखना, सीखने की गति अनिश्चित।

उम्र के बढने से सीखने की योग्यता कम, अनुभव।

बचपन सीखने और स्मरण करने का सबसे अच्छा समय नही, बालक का नाडीमण्डल अधिक लचीला, सीखना प्रगतिशील, किसी भी अवस्था मे सीखा जाना सम्भव, रुचि रहने पर कभी भी सीखना सम्भव।

वातावरण—

स्वस्थकर, बिना बिघ्न का।

अभ्यास—

कितनी देर तक अभ्यास—काल न अल्प न दीर्घ, थोडा-थोडा नित्य अभ्यास, सीखी हुई बात और दैनिक जीवन से सम्बन्ध।

उम्र और विधि पर ध्यान, रटना अमनोवैज्ञानिक।

रुचि—

रुचि का सम्बन्ध इच्छाओ और उद्देश्यो से, बालक की योग्यता का पता लगना।

सफलता का ज्ञान—

उससे उत्साह।

प्रतियोगिता—

पुरस्कार का महत्त्व, प्रतियोगिता से अधिक सीखना, सहकारिता का महत्त्व।

पुरस्कार और निन्दा—

लडकियो पर इसका कम प्रभाव, तीव्र बालक पर निन्दा का अच्छा प्रभाव, मन्द बालक प्रशसा से अधिक उत्साहित।

सीखने के पठार

उन्नति सदा एक सी नही, सीखने का पठार, पठार की उपमा पहाडी यात्रा से, पठार का आना आवश्यक, पठार-काल पचने का काल, इसका कारण जानना आवश्यक।

पठारों के कारण

रुचि का अभाव, गलत विधि तथा स्वास्थ्य, स्थिति का पूरा ज्ञान आवश्यक।

उत्साह का अभाव—

शारीरिक क्षमता की सीमा—

व्यक्ति का बिना क्षमता की सीमा प्राप्त किये ही प्रायः प्रयत्न छोड देना, ठीक कारण समझना आवश्यक।

सहायक पुस्तकें

१—क्रूज—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, पृष्ठ १९७–२२३।

२—स्किनर—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, (१९४७) अध्याय ८, ९।

३—डेविस, आर० ए०—साइकॉलॉजी ऑव लर्निङ्ग।

४—डगलस ऐण्ड हॉलैण्ड—फण्डामेण्टल्स ऑव एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ८—१६।

५—फ्रेडरिक आर० डब्लू—डाइरेक्टिंग ऑव लर्निङ्ग।

६—मैकगोच, हेनरी ऐण्ड मार्गन स्टडीज इन द साइकॉलॉजी ऑव् लर्निङ्ग।

७—पाइल, डब्लू० ऐच—साइकॉलॉजी ऑव् लर्निङ्ग।

८—सोरेनसन—साइकॉलॉजी इन एडूकेशन, अध्याय ११, १२।

९—थॉर्नडाइक—फण्डामेण्टल्स ऑव लर्निङ्ग।

१०—पीण्टर, सडोल्फ—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, ८, ९, १०।

११—हालिङ्गवर्थ—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय २।

१२—ऐन आउटलाइन ऑव एडूकेशनल साइकॉलॉजी, (द कॉलेज आउटलाइन सीरीज—बारनेस ऐण्ड नोबुल)

१३—किंगस्ले—द नेचर ऐण्ड कन्डीशन्स ऑव लर्निङ्ग।

१४—कोल ऐण्ड ब्रूस एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १०–१३।

१५—जे० एम० स्टीफेन्स—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ३।

१६—सरयू प्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान, अध्याय ११।

१७— ,, ,, ,,—मनोविज्ञान, अध्याय १२।

१८— ,, ,, ,,—प्रयोगात्मक मनोविज्ञान पृष्ठ, २२०-२३८।

———

१७

शिक्षा का स्थानान्तर[1]

शक्ति-मनोविज्ञान[2] के अनुसार बीसवी शताब्दी के पूर्व शिक्षा-विशेषज्ञो का विश्वास था कि 'मस्तिष्क' स्मृति, तर्क, विश्लेषण, निर्णय, इच्छा तथा कल्पना आदि शक्तियो का योग है। इस विश्वास के आधार पर लोगो की यह धारणा थी कि जैसे शरीर के विभिन्न अग उचित व्यायाम द्वारा पुष्ट किये जा सकते हैं उसी प्रकार ये मानसिक शक्तियाँ भी बढाई जा सकती हैं। इस धारणा के कारण लोग ऐसे ही विषयो को पढाना चाहते थे जिनसे इन शक्तियो का विकास हो, क्योकि जीवन मे विशेषकर इन्ही शक्तियो की आवश्यकता पडती है। इस विश्वास का जन्म हम प्लैतो से ही देखते हैं। प्लैतो कहता हैं "यदि मन्द-बुद्धि को भी ज्यामिति पढाया जाय तो वह कुछ तीव्र अवश्य हो जायगा। तुम्हारे शहर के सभी नागरिको को ज्यामिति विद्या पढनी चाहिये। इसका प्रभाव कम नही होता। हम अच्छी प्रकार जानते हैं कि जो व्यक्ति ज्यामिति पढेगा वह दूसरो की अपेक्षा सब विषयो के समझने मे अधिक प्रवीण होगा"[3]। सोलहवी शताब्दी मे भी प्लैतो के सिद्धान्त का प्रभाव दिखलाई पडता है। बेकन 'ऑव स्टडीज' मे कहता है "जैसे शरीर के रोग उपयुक्त व्यायाम से दूर किये जा सकते हैं उसी प्रकार बुद्धि[4] भी उपयुक्त अध्ययन मे बढाई जा सकती है। अत यदि किसी व्यक्ति की बुद्धि चञ्चल है तो उसे गणित पढना चाहिये यदि उसकी बुद्धि भिन्नता को पहचानने मे असफल हो तो उन्हे शिक्षको का अध्ययन करना चाहिये, क्योकि वे सूक्ष्मतम विश्लेषण करने मे प्रवीण होते हैं।" अट्ठारहवी शताब्दी में यद्यपि लॉक शक्ति-मनोविज्ञान का आलोचक था, तथापि शिक्षा मे 'नियमित विनय'[5] ले आने का बहुत कुछ उत्तरदायित्व उसी के ऊपर है। वह बालको को गणित गणितज्ञ बनाने के लिये नही पढाना चाहता, अपितु विवेकशील बनाने के लिये ·· जिससे आवश्यकता पडने पर अपने इस विवेक-शक्ति को वे दूसरे विषयो के सीखने मे भी स्थानान्तरित[6] कर सके।" उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे स्पेन्सर और हक्स्ले के प्रसार से स्कूलो मे विभिन्न विज्ञान को स्थान दिया गया, परन्तु उसमे

1. Transfer of Training. 2 Faculty Psychology. 3. प्लैतो, रिपब्लिक, बुक ७। 4. Wit. 5 Formal Discipline. 6. Transfer.

उपयोगितावाद (यूटीलिटेरियनिज्म) का सिद्धान्त निहित था। ग्रीक अथवा लैटिन आदि भाषाओ के सदृश् विज्ञान को भी स्थानान्तर योग्य माना गया। यह समझा गया कि विज्ञान के अध्ययन से प्राप्त योग्यता का व्यक्ति अन्य विषयों के अध्ययन तथा जीवन की विभिन्न परिस्थितियो मे लाभ उठा सकेगा। अत उपर्युक्त आधार पर स्कूल की पाठ्यवस्तु निर्धारित की गई। "गणित तर्क-शक्ति के लिये, साहित्य कल्पना के लिये, भाषा स्मृति और लकडी का काम सहनशीलता सीखने के लिये रखा गया। जिस प्रकार आरी को लकडी मे ठीक प्रकार से लगा देने से वह लकडी को काट देती है उसी प्रकार स्मृति-शक्ति की ठीक से वृद्धि हो जाने पर वह कही भी उपयोगी हो सकती है।"[1] यह सिद्धान्त कि एक विषय के अध्ययन से प्राप्त सस्कार उसी विषय तक सीमित नही रहते, वरन् अन्य विषयो तथा परिस्थितियो मे भी उपयोगी सिद्ध होते हैं शिक्षा का "स्थानान्तर" के नाम से प्रसिद्ध है।

स्थानान्तर के विरुद्ध-निर्णय

बीसवीं शताब्दी मे उपर्युक्त सिद्धान्त की तीन कारणो से आलोचना की गई। पहिले प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया था कि तत्सम्बन्धी विषयो की अवहेलना असम्भव हो गई। यह आवश्यक समझा गया कि व्यक्ति को विभिन्न विपयो का ज्ञान होना आवश्यक है। केवल तर्क, कल्पना तथा स्मृति आदि के तीव्र करने से ही कोई जीवन सग्राम मे सफलता का अधिकारी नही हो सकता। दूसरे, यह सिद्ध कर दिया गया कि मस्तिष्क विभिन्न शक्तियो का योग नही है। इस प्रकार शक्ति-मनोविज्ञान जिस पर सारी शिक्षा अवलम्बित की गई थी भ्रमात्मक सिद्ध कर दी गई। तीसरे, विषयो के स्थानान्तर की योग्यता की परीक्षा के लिये विभिन्न परीक्षण किये गये। कुछ शिक्षको का ऐसा मत था कि सीखे हुए सस्कार दूसरी परिस्थितियो अथवा विषयो मे अवश्य स्थानान्तरित होते हैं। इसे सिद्ध करने के लिये विलियम जेम्स ने सन् १८९० मे स्मृति पर कई परीक्षण किये। १८९० से १९२८ तक अमेरिका मे कुल ९९ परीक्षण किये गये। इससे यह सिद्ध हुआ कि ४९ ५ प्रतिशत सस्कार वहुत अच्छी प्रकार स्थानान्तरित होते हैं। ३·२३ प्रतिशत अच्छी प्रकार होते हैं। ८ ०८ प्रतिशत वहुत ही कम होते हैं। ५ ०५ प्रतिशत एकदम नही होते, और ५ ०७ प्रतिशत सस्कारों का निर्णय नही किया जा सका। इन परीक्षणो के आधार पर कुछ लोगो का विश्वास हो गया कि लैटिन और ग्रीक पढने वाले अच्छे शासक हो सकते हैं क्योकि इन भाषाओ के पढने से गुण दोप के पहचानने, और नियमो को कार्यान्वित करने की शक्ति उत्पन्न हो

१. हालिङ्गवर्थ—एड्जकेशनल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ४०६।

जाती है। अन्य शिक्षको ने इस धारणा का खण्डन किया। उनका कहना था कि शासक की सफलता लैटिन आदि भाषाओ के पढने पर अवलम्बित नही, वरन् व्यक्ति की प्राकृतिक शक्तियो पर अवलम्बित होती है।

स्थानान्तर पर कुछ परीक्षण[1]

स्मृति—

स्लेट[2] नामक एक अँग्रेज मनोवैज्ञानिक ने स्मृति पर कुछ परीक्षण किया। उसने कुछ व्यक्तियो को कविता तथा गद्यांश याद करने के लिये दिया। फिर उन्हीं को तारीख तथा निरर्थक शब्दो को याद करने के लिये दिया। स्लेट इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि (१) अभ्यास से स्मृति मे कोई उन्नति नही होती और सामान्य[3] रूप से कोई स्मृति-क्रिया[4] नही होती, (२) स्मृति-क्रियाये एक दूसरे से बहुत असम्बन्धित हो सकती हैं।

तर्क-शक्ति और आदर्श—

एल० डब्लू० वेब ने किसी स्कूल के विद्यार्थियो को दो वर्ग मे बाँट कर एक को दस सप्ताह तक अकगणित के प्रश्नो के आधार पर तर्क करने की शिक्षा दी। दूसरा वर्ग स्कूल के साधारण विषयो को पढता रहा। बाद मे दोनो वर्ग का समान प्रश्नो द्वारा तर्क-परीक्षण किया गया। वेब महोदय ने देखा कि जिस वर्ग ने दस सप्ताह तक तर्क मे अभ्यास किया था उसने ३३ प्रतिशत दूसरे वर्ग से अच्छा किया। इस प्रकार वेब ने यह सिद्ध किया कि तर्क-शक्ति के सम्बन्ध मे सस्कार स्थानान्तरित किये जा सकते हैं। वेब महोदय ने देखा कि जो बालक एक विषय मे सफाई से काम करना सीख लेते हैं वे प्राय अन्य विषयो मे भी सफाई पर ध्यान देते हैं। इस पर उन्होने कुछ परीक्षण भी किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'आदर्श' स्थानान्तरित किये जा सकते हैं।

स्कूल के विषय—

क्लिफोर्ड उडी[5] ने कुछ परीक्षणो के आधार पर यह देखा कि फ्रेंच पढने से अग्रेजी के केवल पढने मे कुछ सरलता हो जाती है, पर वाक्यो की बनावट तथा शब्दचयन मे कुछ भी सहायता नही मिलती। सन् १९२२–२३ मे थॉर्नडाइक ने ८००० विद्यार्थियो पर एक परीक्षण किया। उसने वर्ष के प्रारम्भ में कुछ प्रश्नो मे

---

1 Some Experiments on Transfer of Training 2. स्लेट, डब्लू० जी० "मेमरी ऐण्ड फार्मल ट्रेनिङ्ग" ब्रिटिश जर्नल ऑव् साइकॉलॉजी, भाग ४, नं० ३ व ४, पृ० ३८९-४५७। 3 General 4 Memory Function. 5 इनफ्लुयेन्स ऑव् द टीचिङ्ग ऑव फर्स्ट यीयर फ्रेंच ऑव द एक्वीजीशन ऑव इगलिश वाकेबुलरी—" स्टडीज इन द मॉडर्न लैंगवेजज टीचिग न्यूयार्क-मैकमिलन, पृष्ठ १४६–१७९।

उनकी परीक्षा ली। फिर वर्ष के अन्त मे उन्ही प्रश्नो पर उनकी फिर परीक्षा की गई। दूसरी परीक्षा मे विद्यार्थियों ने पहले से अच्छा किया।

ऊपर के उदाहरणो से यह ज्ञात होता है कि कुछ संस्कार स्थानान्तरित अवश्य होते हैं। पर इनके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना कि सभी सस्कार स्थानान्तरित होते है, भ्रमात्मक होगा। इन परीक्षणो के अतिरिक्त अन्य प्रयोगो द्वारा यह देखा गया है कि कुछ सस्कार स्थानान्तरित नही होते। उडरो हरवर्ट[1] ने रटने की विधि पर एक परीक्षण किया। उसने एक स्कूल के विद्यार्थियो को तीन टोलियो में बॉट कर प्रत्येक को भिन्न-भिन्न शिक्षा दी। एक को रटने मे कुछ भी शिक्षा न दी गई। दूसरी को कविता और निरर्थक शब्दों को रटने के लिये दिया गया। तीसरे का ४३ प्रतिशत समय रटने की विधि पर व्याख्या सुनने मे लगाया गया और शेष समय कविता और निरर्थक शब्दो के रटने मे दिया गया। वर्ष के अन्त मे तीनो टोलियो की 'स्मृति' मे परीक्षा की गई। दूसरी टोली ने पहली से कुछ विशेष अच्छा न किया, पर तीसरी ने दूसरी तथा पहली दोनो से बहुत अच्छा किया, क्योकि उमे रटने की विधि भी सिखलाई गई थी। इस परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि विषय समान हो तो पढने की विधि मे शिक्षा देने से सस्कार स्थानान्तरित हो सकते है। ए० ए० हैम्बेलन ने प्रयोग करके देखा कि विद्यार्थियो का अँग्रेजी शब्द-ज्ञान उन लैटिन के शब्दो के पढने से बढ जाता है जिनसे उनकी उत्पत्ति होती है, कुछ अध्ययन यह देखने के लिये भी किये गये कि किसी वस्तु का ज्ञान दूसरी परिस्थितियों मे कितनी सहायता पहुँचा सकता है। आर० डब्लू० ब्रूस[2] ने यह जानने का प्रयत्न किया कि एक प्रकार के शब्द के रट लेने पर वैसे ही या उससे भिन्न दूसरे शब्दो मे सस्कार कहाँ तक स्थानान्तरित होते हैं। रटे हुए शब्द दो वार दोहराने के वाद नये शब्द याद किये गये तो थोडा ही याद हुआ, छ: वार दोहरा कर नये शब्द याद करने की चेष्टा की गई तो अधिक याद हुआ, और वारह वार रटे हुए शब्द दोहरा कर नये शब्द को याद करने के प्रयत्न पर सारा याद हो गया। इस प्रयोग से यह सिद्ध हुआ कि यदि पहले की याद की हुई बात मस्तिष्क मे ठीक से वैठ जाती है तो उसी प्रकार की वात वाद मे याद करने मे वडी सरलता होती है।

प्राप्त 'ज्ञान' और 'जीवन मे कार्यान्वित करने की योग्यता' मे कहाँ तक सम्वन्ध है? यह जानने के लिये ई० वी० मूर ने एक स्कूल की विभिन्न कक्षाओ पर परीक्षण

---

1. द इफेक्ट ऑव् टाइम ऑव् ट्रेनिग अपॉन ट्रान्सफेरेन्स, जर्नल ऑव एडूकेशनल साइकालॉजी, भाग १८, नम्बर ३ (१९२७) पृ० १५९—१७२। 2 "कन्डीशन्स ऑव ट्रान्सफर ऑव ट्रेनिंग"—जर्नल ऑव् एक्सपेरिमेण्टल साइकॉलॉजी, भाग १६, नं० ३ (१९३३) पृ० ३४३-६७।

किया। प्रत्येक कक्षा के विद्यार्थी को भिन्न-भिन्न शिक्षा मिली थी। मूर महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि (१) ज्ञान का कार्यान्वित करने की योग्यता से कोई सम्बन्ध नही, तथा, (२) रुचि और परम्परा और विश्वास के अनुसार कार्यान्वित करने की योग्यता कम हो सकती है। मूर के परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि बालको को केवल ज्ञान ही नही देना है, वरन् यह भी सिखलाना है कि वे उसका अपने दैनिक जीवन के क्रम मे कहाँ तक उपयोग कर सकते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि अर्जित सस्कार थोडे या अधिक अवश्य स्थानान्तरित होते हैं। कुछ परीक्षणो से यह भी सिद्ध किया गया है कि सीखने की विधि, वस्तु और सीखने वाले की रुचि पर ध्यान दिया जाय तो सस्कार प्रन्याशित मात्रा मे स्थानान्तरित हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भूगोल पढने के वाद यदि शिक्षक बालको को यह बतलाने की चेष्टा करे कि अपने भौगोलिक ज्ञान को दैनिक जीवन में कैसे उपयोग किया जा सकता है तो अर्जित सस्कार अवश्य स्थानान्तरित होगे। इसी प्रकार अन्य विषयो मे भी बालको को सिखलाया जाय तो शिक्षा का सास्कृतिक महत्त्व वहुत ही वढ जायगा। किसी मनोवैज्ञानिक ने ठीक ही कहा कि "किसी वस्तु को उसी प्रकार पढो जैसे उसे तुम अपने जीवन में उपयोग करना चाहते हो अथवा वच्चे वही सीखना चाहते हैं जो करना चाहते हैं।"

संस्कार कैसे स्थानान्तरित होते है ?

शिक्षक को यह जानना आवश्यक है कि सस्कार कैसे स्थानान्तरित हो सकते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिको ने अपने परीक्षणो द्वारा यह वतलाने की चेष्टा की है। थॉर्नडाइक ने अपने 'समान अशो के सिद्धान्त' द्वारा यह बतलाया है कि किसी विषय का दूसरे से लिये सास्कृतिक महत्त्व उन दोनो विषयो की परस्पर-समानता पर निर्भर करता है। थॉर्नडाइक के कहने का तात्पर्य यह है कि कोई विद्यार्थी दो विपयो मे समान रूप से प्रथम श्रेणी इसलिये पाता है क्योकि दोनो विषयो में वहुत से 'समान अश'[1] हैं। यदि दो विपयो मे समान अशो का अभाव रहा तो एक के अध्ययन से दूसरे में कुछ भी लाभ न पहुँचेगा। उदाहरणार्थ, यदि कोई विद्यार्थी व्याकरण के नियमों को वहुत अच्छी प्रकार रट लेता है तो यह आवश्यक नही कि वह ऐतिहासिक घटनाओ को भी ठीक-ठीक स्मरण कर सकेगा, क्योकि व्याकरण और इतिहास के अध्ययन मे समान मानसिक शक्तियो की आवश्यकता वहुत कम है। यदि कोई व्यापारी होना चाहता है तो उसे इतिहास से उतना लाभ नही होगा जितना कि अर्थशास्त्र से। इसी प्रकार राजनीतिज्ञ के लिये राजनीति तथा इतिहास का पढना अधिक उपयोगी

1. Common or Identical Elements.

होगा, न कि भौतिक अथवा रसायन शास्त्र का। थॉर्नडाइक के सिद्धान्त के आधार पर वहुत से मनोवैज्ञानिको ने 'स्थानान्तर' के कारण को समझाने का प्रयत्न किया है।

जड का 'सामान्य का सिद्धान्त[1]—

जड ने अपने 'सामान्य सिद्धान्त' (थियरी आव जनरलाइजेशन) के आधार पर स्थानान्तर की व्याख्या की है। जड का कहना है कि व्यक्ति अपने अनुभव को जिस सीमा तक सुसगठित कर उससे 'सामान्य सिद्धान्तो' को निकालता है उस अनुपात मे उसके अनुभव का अन्य परिस्थितियो पर सास्कृतिक-प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ, कोई विद्यार्थी रसायन प्रयोगशाला (केमिकल लेवोरेटरी) मे कोई प्रयोग कर रहा है। प्रयोग के सफल हो जाने पर फल मे निहित सिद्धान्तो को समझना आवश्यक है। जब तक इन सिद्धान्तो को वह ठीक से न समझ लेगा तव तक उसके ज्ञान का सास्कृतिक महत्त्व न होगा। सिद्धान्त को समझ लेने पर सामान्य स्थिति मे उसके सस्कार अवश्य ही स्थानान्तरित होगे।

स्पीयरमैन का "सामान्य और विशिष्ट अंश का सिद्धान्त"[2]—

प्रत्येक विपय के अध्ययन मे कुछ 'सामान्य' और 'विशिष्ट' योग्यता की आवश्यकता होती है। अत स्पीयरमैन की धारणा है कि प्रत्येक विपय के अध्ययन मे कुछ सामान्य योग्यता की वृद्धि होती है और यह सामान्य योग्यता व्यक्ति की हर परिस्थिति मे सहायक होती है। सामान्य योग्यता के साथ विषय के अध्ययन मे एक विशिष्ट योग्यता की भी वृद्धि होती है। इस विशिष्ट योग्यता का सास्कृतिक महत्त्व वहुत ही कम है। अत. स्पीयरमैन के अनुसार सामान्य योग्यता[3] का ही सास्कृतिक प्रभाव पडता है। गणित, विज्ञान, इतिहास तथा प्राचीन साहित्य आदि विपयो को 'सामान्य योग्यता' की अधिक आवश्यकता होती है, पर सगीत, चित्रकारी आदि विपय 'विशिष्ट योग्यता' से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। अत. गणित व विज्ञान आदि की शिक्षा का सास्कृतिक महत्त्व अवश्य ही अधिक होगा।

एल० डब्लू० वेब महोदय का कहना है कि उपर्युक्त सिद्धान्त 'स्थानान्तर' के कारण को नही स्पष्ट करते। वे केवल इतना ही वतलाते हैं कि कहाँ और किस प्रकार सस्कार स्थानान्तरित होते हैं। "यह समझना कठिन है कि अकगणित का अनुभव जहाँ अको का सम्बन्ध नही वहाँ कैसे प्रभाव डालेगा। लैटिन का अनुभव भापा के सम्बन्ध मे ही सास्कृतिक महत्त्व रख सकता है, न कि यान्त्रिक क्रियाओ में।"[4]

वास्तव मे अभी तक कोई ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित नही किया जा सका है

---

1. Theory of Generalization. 2. 'G' and 'S' Factor Theory 3. General Ability. 4. एल० डब्लू० वेब—"ट्रान्सफर ऑव् ट्रेनिङ्ग", एडूकेशनल साइकॉलॉजी, (१९४५) (स्किनर द्वारा सम्पादित) अध्याय १२।

जिससे विभिन्न विषयो के स्थानान्तर की ठीक-ठीक व्याख्या होती हो, तथापि जो कुछ अब तक जाना जा चुका है वह शिक्षक के लिये वडा महत्त्वपूर्ण है। अन्वेषणो के निष्कर्ष की सहायता से शिक्षक अध्यथन की वहुत सी समस्याओ को हल कर सकता है, तथा वह अपने अध्ययन-विधि मे आवश्यक सुधार ला सकता है। उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि यदि विभिन्न विषयो को मनोवैज्ञानिक विधि से पढाया जाय तो वालको मे जीवनोपयोगी योग्यता आ सकती है। किसी भी अध्ययन की सहायता से वालक मे क्रमवद्ध तर्क करने की शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। थॉमसन का कहना है कि पाठ्य-वस्तु में अधिक से अधिक विपयो का रहना लाभप्रद है। विषय जितने अधिक रहेगे विद्यार्थी मे उतनी ही अधिक जीवनोपयोगी योग्यता भी आयेगी। प्रत्येक स्कूल को यह निश्चय कर लेना चाहिये कि वह बालक को किस प्रकार का सस्कार देना चाहता है। यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि किस प्रकार के अनुभव अधिक उपयोगी होगे। यह जान लेना चाहिये कि कौन से आदर्श, रुचि और उत्साह सवसे महत्वपूर्ण हैं। इन सबको समझ लेने के वाद यह निश्चय कर लेना चाहिये कि निर्धारित उद्देश्य-प्राप्ति के लिये किन-किन विपयो और कौशल मे शिक्षा आवश्यक होगी। इस सम्वन्ध मे पेड्रो टी० ओराटा[1] का कथन वडा उपयुक्त जँचता है। "यदि हम स्थानान्तर चाहते हैं तो यह निश्चय करना आवश्यक है कि हम अपना कौन सा आदर्श, वृत्ति, विश्वास और आदत स्थानान्तरित करना चाहते हैं और इस 'स्थानान्तर' के लिये हम कौन सी अध्यापन-विधि तथा शासन-सम्वन्धी नियमो का अनुसरण करने जा रहे हैं। सर्वप्रथम शिक्षक को जानना चाहिये कि वह किस बात को दूसरे क्षेत्रो मे स्थानान्तरित करना चाहाता है, तब उसे अनुभव अथवा परीक्षण के आधार पर यह जानना चाहिये कि वह किस विधि का अनुसरण करे, इसके वाद उसे कार्यान्वित करके दिखलाना चाहिये।" ऊपर स्थान-स्थान पर शिक्षक के कर्त्तव्य पर सकेत किया जा चुका है।

शिक्षक को थॉर्नडाइक के इस कथन पर ध्यान रखना चाहिये कि "किसी विपय को इस धारणा से पढाना कि इससे अन्य विपयो की अपेक्षा अधिक मानसिक विकास होगा गलत है।" वास्तव मे मानसिक विकास तो किसी भी विपय से हो सकता है। यदि ठीक प्रकार पढाया जाय तो कोई विपय किसी से छोटा नही है। कोई किसी विपय के पढने से विचारशील नही होता, वरन् उसे ठीक प्रकार से पढने से विचारशील होता है। जो कुछ पढा जाय उस पर मनन करना आवश्यक है, उसके सिद्धान्तो को जीवन की परिस्थितियो मे लगाना आवश्यक है। यदि व्यक्ति यह न कर

---

१. "ट्रान्सफर ऑव ट्रेनिङ्ग ऐण्ड एड्केशनल श्यूडो साइन्स" द मैथमैटिक्ल टीचर, भाग २८, नम्वर ५ (१९३५), पृष्ठ २७८, २८१।

सका तो उसकी शिक्षा का कुछ भी सास्कृतिक महत्व नही। यदि हम कला पढते है तो हमारा सारा जीवन ही सौन्दर्यमय होना चाहिये। यदि हम विज्ञान के विद्यार्थी हैं तो उसके सास्कृतिक महत्त्व का तात्पर्य यह हुआ कि हमारा सारा दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो, हमारी रहन-सहन तथा बात-चीत आदि मे वैज्ञानिकता का पुट हो।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

उन्नीसवी शताब्दी मे शक्ति मनोविज्ञान के अनुसार शिक्षा-क्रम; प्लैतो, बेकन लॉक, स्पेन्सर और हक्स्ले; विज्ञान का भी स्थानान्तर शिक्षा में स्थानान्तर का तात्पर्य।

स्थानान्तर के विरुद्ध निर्णय

विज्ञान के विभिन्न अगो का अध्ययन आवश्यक, मस्तिष्क विभिन्न शक्तियो का योग नहीं, कुछ परीक्षणो से समस्या का स्पष्टीकरण।

स्थानान्तर पर कुछ परीक्षण

स्मृति—

अभ्यास से स्मृति की उन्नति नही।

तर्क शक्ति और आदर्श—

स्थानान्तरित करना सम्भव।

स्कूल के विषय—

कुछ का स्थानान्तर होना।

समान विषय मे विधि की शिक्षा का स्थानान्तरित होना; उडरो हरवर्ट, हैम्वेलन और ब्रूस के परीक्षण।

'ज्ञान' का 'कार्यान्वित करने की योग्यता' से सम्बन्ध नही; रुचि, परम्परा और विश्वास के अनुसार उस योग्यता का कम होना, ज्ञान की 'व्यावहारिकता' सिखलाना।

अर्जित सस्कार कुछ स्थानान्तरित, रुचि और विधि पर ध्यान देने से स्थानान्तर प्रत्याशित मात्रा मे।

संस्कार कैसे स्थानान्तरित होते हैं ?

स्थानान्तर विषयो की परस्पर-समानता पर निर्भर।

जड का 'सामान्य का सिद्धान्त'—

सामान्य सिद्धान्तो के मस्तिष्क मे सुसगठन पर स्थानान्तर निर्भर।

स्पीयरमैन का "सामान्य और विशिष्ट" अंश का सिद्धान्त—

सामान्य योग्यता अधिक स्थानान्तरित।

सामान्य विपयो मे ही स्थानान्तर।

अभी तक स्थानान्तर का ठीक-ठीक स्पष्टीकरण नही, अध्ययन की मनोवैज्ञानिक विधि से जीवनोपयोगी योग्यता सम्भव, किसी भी विषय के अध्ययन से क्रमवद्ध तर्क-शक्ति प्राप्त, अधिक से अधिक विषयो का अध्ययन, आदर्श और रुचि का निर्णय करना आवश्यक, किन-किन विषयो की शिक्षा ?

मानसिक विकास किसी भी विषय से सम्भव, ठीक प्रकार से पढना आवश्यक, व्यावहारिकता पर ध्यान आवश्यक।

सहायक पुस्तकें

१—सोरेनसन—साइकॉलॉजी इन एडूकेशन, अध्याय १७।

२—ओराटा, पेड्रो टी०—'ट्रान्सफर ऑव ट्रेनिङ्ग ऐण्ड ऐडूकेशनल श्यूडो—साइन्स", द मैथमैटिक्स टीचर, भाग २८, नम्बर ५।

३—वाट्रलों, एम० सी०—ट्रॉन्सफर ऑव ट्रेनिग इन रीजनिङ्ग, जर्नल ऑव एडूकेशनल साइकॉलॉजी,—२४—पृष्ठ १२२-२८।

४—रुडोल्फ पिण्टर—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १२।

५—हालिङ्गवर्थ—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १८।

६—क्रूज, डब्लू० डब्लू०—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ११।

७—डेविस, रावर्ट, ए०, साइकॉलॉजी ऑव लर्निङ्ग।

८—जॉर्डन, ए० एम०—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ७, ८।

९—सैण्डीफोर्ड, पीटर—ट्रान्सफर ऑव ट्रेनिङ्ग, इनसाइक्लोपिडिया ऑव एडूकेशनल रिसर्च, (मैकमिलन १९४१) पृ० १३०६-१११३।

१०—स्किनर, सी० ई०—रिडिङ्गज इन एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १६।

११—ह्विपिल, जी० एम०—"द ट्रान्सफर ऑव ट्रेनिङ्ग" ट्वण्टी-सेविन्थ यीयरबुक ऑव द नेशनल सोसाइटी फॉर द स्टडी ऑव एडूकेशन, भाग २ (१९२८) पृष्ठ १७९-२०९।

१२—थॉमसन, जी० एच०—इन्स्टिक्ट, इन्टेलीजेन्स ऐण्ड करैक्टर, अध्याय १४।

१३—वेव, एल० डब्लू०—"ट्रान्सफर ऑव ट्रेनिङ्ग, एडूकेशनल साइकॉलॉजी (१९४५) स्किनर द्वारा सम्पादित, अध्याय १२।

१४—ब्रूस, आर० डब्लू०—"कन्डीशन्स ऑव ट्रान्सफर ऑव ट्रेनिङ्ग"—जर्नल ऑव एक्सपेरिमेण्टल साइकॉलॉजी, भाग १९-पृष्ठ ३४३-६१।

१५—थॉर्नडाइक—एडूकेशनल साइकॉलॉजी।

१६—कोल ऐण्ड ब्रूस-एडूकेशनल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ४१८-४१९, ४७६, ५२२-५२७।

१७—जे० एम० स्टीफेन्स—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, ४५५-४६९, ६३५-६३६, ६४५।

१८—सरयू प्रसाद चौवे-वाल मनोविज्ञान, अध्याय ११।

१९— „ „ „—मनोविज्ञान, अध्याय १२।

१८

स्मृति[1]

१—अर्थ[2]

मनुष्य को अपने सब अनुभव याद नही रहते, यद्यपि उसमें सभी अनुभवो को सचय करने की एक शक्ति होती है। जो अनुभव चेतना मे नही रहते वे अज्ञात रूप मे मनुष्य के व्यवहार पर प्रभाव डालते रहते है। जो अनुभव चेतना से युक्त नही रहते उन्हे 'सचय' कहते हैं और जो अनुभव चेतना से युक्त रहते हैं उन्हे 'स्मृति' कहते हैं। कुछ न कुछ स्मरण-शक्ति तो प्रत्येक प्राणी मे होती है। पर मनुष्य में यह शक्ति सब प्राणियो से अधिक पाई जाती है। वस्तुत. उसकी श्रेष्ठता का कारण उसकी सबसे उच्च स्मरण-शक्ति ही है। स्मृति ही मनुष्य की कल्पना और विचार का आधार है। डम्विल महोदय का कथन है कि 'कल्पना' स्मृति की प्रधान उपजो मे मे है।[3] यदि मनुष्य में स्मृतिशक्ति न होती तो उसका जीवन पशुवत् हो जाता। तब वह कुछ सीख न पाता। एक दूसरे से उसका सम्बन्ध टूट जाता। न भाई-भाई को पहचानता, न पिता पुत्र को। मनुष्य मे स्मृति-शक्ति के अभाव मे पता नही क्या दशा होती।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि हम सभी प्रकार के अनुभव को स्मृति नही कह सकते। जिस अतीत के अनुभव से हम वर्तमान परिस्थिति मे लाभ उठा सकते हैं वही स्मृति का अग बन सकता है। स्मृति एक ऐसी साधारण शक्ति है कि शिक्षा मे इसकी ओर विशिष्ट ध्यान नही दिया जाता।

स्टाउट महोदय का कथन है कि स्मृति पुराने विचारो को फिर से जागृत करने, सजीव करने तथा स्मरण करने की एक क्रिया है। इसमे गत अनुभव के विषय उसी ढग और क्रम से आते हैं जिसमे वे पहले आये थे। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक स्पीयरमैन ने स्मृति की परिभाषा इस प्रकार की है "समझ में आने वाली घटनाये मस्तिष्क मे कुछ अपना प्रभाव छोड देती हैं जिनके कारण उन घटनाओ को स्मरण करना सरल हो जाता है।"[4] उडवर्थ के अनुसार "स्मृति सीखी हुई वस्तु का सीधा उपयोग है।"[5]

---

1 Memory 2. The Meaning of Memory. 3. द फण्डामेण्टल्स ऑफ़ साइकॉलॉजी, पृष्ठ ३४२। 4. स्पीयरमैन—एबिलिटीज ऑव् मैन, पृष्ठ २७१। 5. उडवर्थ आर० एस०—स्टडी ऑव् मेण्टल लाइफ, पृष्ठ ३२४।

डम्विल का कथन है कि "स्मृति वह शक्ति है जिससे गत अनुभव के कुछ भाग विचार और प्रतिमा[1] के रूप मे आते हैं।"[2] स्मृति की परिभाषा देना वडा कठिन है। इसकी सीमा कुछ शब्दो मे नही वाँधी जा मकती। इसके लक्षण तथा अग आदि को समझने से ही इसके रूप का हमे अनुमान हो सकता है। किसी वात को शीघ्र याद कर लेना अच्छी स्मृति का लक्षण है। कोई वालक अपने पाठ को शीघ्र याद कर लेता है, कोई कई दिन मे भी याद करने मे असमर्थ होता है। मैकाले ने केवल एक वार ही पढने मे मिल्टन द्वारा लिखित 'पैराडाइज लॉस्ट' का आद्योपान्त उद्धरण कर दिया था। कोई किसी को एक वार देखने से ही बाद मे भी उसे पहचान लेते हैं। किसी में व्यक्तिवाचक नामक याद करने की शक्ति प्रवल होती है। किन्तु शीघ्र याद कर लेना ही अच्छी स्मृति के लिये पर्याप्त नही है। याद करने के वाद वस्तु का देर तक मस्तिष्क मे रखना भी अच्छी स्मृति का आवश्यक गुण है। प्राय यह देखा जाता है कोई वालक किसी वात को वडी जल्दी याद कर लेता है, पर तुरन्त ही उसे भूल जाता है। तुरन्त भूल जाने की आदत प्राय अधिक उम्र वालो मे भी पड जाती है। पचास वर्ष की उम्र मे जो वी० ए० अथवा एम० ए० की परीक्षा देने वैठते है वे प्रायः कहा करते हैं कि याद नो हो जाता है पर शीघ्र ही विस्मृत हो जाता है। जिनका मस्तिष्क सासारिक विषयो मे अधिक फँसा रहता है वे किसी बात के कह देने के वाद यह नही स्मरण कर पाते कि उन्होने वह वात कही थी अथवा नही।

व्यक्ति मे अपने पुराने अनुभव को याद करने की शक्ति आवश्यक है। इस शक्ति के विना उसका जीवन पशुवत् होगा, क्योकि अपने गत अनुभव से वह कुछ लाभ न उठा सकेगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्मृति व्यक्ति के सासारिक अनुभव को सचित करने की शक्ति है। पर अभी स्मृति की परिभाषा पूरी नही हुई। केवल सचित कर लेने से ही काम नही वन सकता। सचित अनुभव का आवश्यकता पडने पर याद होना भी आवश्यक है। हमारे अनुभव मस्तिष्क मे इस प्रकार सुसगठित और सुसज्जित होने चाहिए कि समय पर उसे हम उसी प्रकार स्मरण कर मके जैसे आफिस का कर्मचारी समय पर आवश्यक कागजो को आलमारी से निकाल लेता है। अच्छी स्मृति के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति अवसर पर अपने पुराने अनुभव को याद कर सके। परन्तु यह ध्यान देने की वात है कि सभी प्रकार के अनुभव को याद रखना अच्छी स्मृति का लक्षण नहीं। व्यर्थ की छोटी-छोटी वातो को याद रखना अनावश्यक सा है, कदाचित् इसीलिये हम कुछ अनुभव स्वत भूल जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो हमारा जीवन असम्भव हो जाय। हम जिस वात को भूलना चाहेगे उसे न भूल सकेंगे और हमारा जीवन दु.खी हो जायगा। इस प्रकार हमारा मस्तिष्क

1 Ideas and Images. 2. द फ़रडामेंरटल्स ऑव् साइकॉलॉजी, पृष्ठ २०३।

पुराने सस्कारो से भरा रहेगा और नये सस्कारो के पडने का स्थान बहुत कम रह जायगा ।

साधारणतः स्मृति की उन्नति अनुभव से होती है । मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इस उन्नति की भी एक सीमा होती है । स्मृति एक जन्मजात् शक्ति मानी जाती है । इसकी मात्रा व्यक्ति मे पहले से ही निश्चित रहती है, अर्थात् इसमे वशानुक्रम का प्रभाव रहता है । शिक्षा द्वारा हम केवल स्मरण करने के ढग मे परिवर्तन ला सकते हैं । ढंग मे परिवर्तन लाने से स्मृति को हम अधिक उपयोगी बना सकते हैं । शिक्षा से हम कम समय मे अधिक से अधिक याद करने की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं । यदि व्यक्ति स्मरणीय वस्तुओ के परस्पर-सम्बन्ध को समझ कर अपने अवधान को केन्द्रित कर ले तो उसकी स्मरण-शक्ति अधिक उपयोगी हो सकती हैं ।

२—स्मृति के अंग[1]

मनोवैज्ञानिको ने स्मृति के चार अगो का उल्लेख किया है । किसी बात को स्मरण करने के लिये सबसे पहले उसे सीखने की आवश्यकता होती है । अर्थात् जो याद करना है उसके विभिन्न अगो के परस्पर-सम्बन्ध को समझना है । सीखने के बाद सीखी हुई बात को मन मे धारण करना आवश्यक है, क्योकि कभी-कभी हम देखते है कि सीखी हुई बात को मन मे धारण करने मे हम असमर्थ होते हैं । ऐसी स्थिति मे उसकी स्मृति-शक्ति मे दोष आ जाता है । अतः धारण करने की शक्ति भी स्मृति का आवश्यक अग है । परन्तु केवल धारण करने से ही काम नही बनता । जो वस्तु हम सीखते हैं उस समय तो हमे याद रहती है, परन्तु बाद मे उसका स्मरण करना कठिन सा जान पडता है । अतः धारण शक्ति के अतिरिक्त पुनरावर्त्तन अथवा स्मरण करना आवश्यक है । कभी-कभी ऐसा होता है कि हम किसी याद किये हुए नाम को फिर कहना चाहते हैं, वह जिह्वा पर ही है, पर नही आ रहा है । ऐसी स्थिति मे मन कुछ घबडा सा जाता और उछलने लगता है । हम अपने साथी से कहते हैं कि 'कई नाम लो तो हम झट उस नाम को याद कर लेंगे ।' कई नाम लेने पर हम एक नाम पहचान लेते है । अत. स्मृति मे यह 'पहचान की शक्ति' आवश्यक है । इस प्रकार स्मृति के निम्नलिखित चार अग हुए ।

(१) याद करना[2]
(२) धारण[3]
(३) पुनर्स्मरण[4]
(४) पहचान[5]

---

1. Factors of Memory. 2. Memorising or Remembering. 3. Retention. 4. Recall. 5. Recognition.

स्मृति को हम धारण, पुनर्स्मरण और पहचान तीन गुणो से युक्त एक विलक्षण शक्ति कह सकते हैं। नीचे हम इन्ही तीन गुणो का विवरण देंगे। याद करने अथवा सीखने का उल्लेख 'स्मृति के नियम' मे किया जायगा।

धारण

स्मृति सदा धारण पर अविलम्बित होती है। किसी वात को याद कर लेने के बाद धारण-शक्ति से उसे अपने मस्तिष्क मे रखी जाती है। धारण-शक्ति मे वैयक्तिक भिन्नता बहुत देखी जाती है। किसी में यह शक्ति प्रवल होती है और कुछ मे क्षीण। परीक्षणो द्वारा यह देखा गया है कि वालको मे धारण-शक्ति अधिक प्रवल होती है। ग्यारह वर्ष तक धारण-शक्ति वढती रहती है। इसीलिये वालक किसी वात को तुरन्त याद करने मे समर्थ हो जाते हैं। तेरह वर्ष से सोलह वर्ष तक धारण-शक्ति की वृद्धि पर्याप्त होती है। पच्चीस वर्ष के लगभग व्यक्ति की धारण-शक्ति अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। पश्चात् अवनति का क्रम आरम्भ हो जाता है। मनोवैज्ञानिको का विश्वास है कि धारण-शक्ति निम्नलिखित बातो पर निर्भर रहती है :—

१—मस्तिष्क,

२—स्वास्थ्य,

३—रुचि, और

४—चिन्तन।

मस्तिष्क —

ज्ञानेन्द्रियो द्वारा जो कुछ ज्ञान मस्तिष्क तक पहुँचता है उसमें कुछ मस्तिष्क छोड देता है और कुछ स्वीकार करता है। जिन वातो को मस्तिष्क छोड देता है उनका भी कुछ प्रभाव मस्तिष्क पर पडता ही है, पर ये प्रभाव मस्तिष्क के चेतन भाग[1] मे नही रहते, वरन् अर्द्ध चेतन[2] मे अपनी छाप छोड जाते हैं। विभिन्न अनुभवो को सचेत अर्द्ध चेतना मे रखने की क्रिया को चुनाव (सीलेक्सन) कहते हैं। यह चुनाव करने की शक्ति सव व्यक्तियो मे समान नही रहती। चुनाव से ही स्मृति की रेखा प्रारम्भ हो जाती है। चुनाव के वाद मस्तिष्क की दूसरी क्रिया इन चुने हुए अनुभवो को सुरक्षित रखना है। मस्तिष्क का तीसरा काम इन अनुभवो को एक क्रम मे लाना है जिससे अवसर पर उनका सदुपयोग किया जा सके। व्यक्ति जव कुछ कार्य करता है तो इन सुरक्षित व क्रमवद्ध अनुभवो से प्रभावित होकर करता है।

मनोवैज्ञानिको का कहना है कि नवजात शिशु अपने मस्तिष्क पर कुछ चिन्हो को लेकर जन्म लेता है। ये चिन्ह वशानुक्रम के अनुसार संक्रमित होते रहते हैं। आयु

---

1. Conscious part. 2. Subconscious.

तथा नये-नये अनुभवो के साथ ये चिन्ह बढते रहते हैं। ये चिन्ह उसके विभिन्न कार्यों मे सहायक सिद्ध होते हैं। ये चिन्ह ऐसे नही जिन्हे देखा या छूआ जा सके। किसी बात के घटित होने पर उसका चित्र मानस पट पर अंकित हो जाता है। ये चित्र अनुभव के वास्तविक रूप को व्यक्त नही करते, क्योकि पहले से स्थित चित्रो के साथ वे मिल कर एक दूसरा ही रूप बनाते हैं। ये चित्र अथवा प्रतिमाये धारण-शक्ति के कारण होती हैं। विभिन्न व्यक्तियो की प्रतिमाये अलग-अलग होती हैं; क्योकि सबके मस्तिष्क समान नही होते। वशानुक्रम के अनुसार उनमे भिन्नता होती है। मन्द बुद्धि व्यक्ति का मस्तिष्क मन्द होता है। मन्दबुद्धि माता-पिता के वशज भी प्राय. मन्द होते हैं, क्योकि वशानुक्रमीय नियमो के अनुसार मस्तिष्क के चिन्ह निम्न ही कोटि के होगे। व्यक्ति अपने वशानुक्रमीय गुणो मे परिवर्त्तन नही कर सकता। अत धारण-शक्ति में भी परिवर्त्तन होना सम्भव नही। पर इसका तात्पर्य यह नही कि शिक्षक इस सम्बन्ध में एकदम हतोत्साह होकर मूक हो जाय। चाहे जिस कोटि की धारण-शक्ति क्यो न हो शिक्षक मनोवैज्ञानिक विधि के सहारे उसमे कुछ सुधार अवश्य ला सकता है।

स्वास्थ्य[1]—

स्वास्थ्य का किस पर प्रभाव नही पडता ? जब व्यक्ति रोगग्रस्त रहता है तो किसी भी बात के सुनने, जानने अथवा पढने मे उसकी रुचि नही रहती, तो फिर धारण-शक्ति का क्या कहना ? किसी-किसी रोग से धारण-शक्ति सदा के लिये दोषपूर्ण हो सकती हैं। सुबह के समय हमारा स्वास्थ्य हर समय से अच्छा रहता है। अत सुबह के समय हमे सभी बाते शीघ्र याद हो जाती हैं। सुबह की याद की गई हुई बाते अधिक काल तक मस्तिष्क मे ठहरती भी हैं। सन्ध्याकाल धारण-शक्ति निर्बल रहती है, क्योकि उस समय नाडी-तन्तु[2] श्रमित रहते हैं, और स्वास्थ्य कुछ ढीला सा रहता है। इस सम्बन्ध मे शिक्षक कुछ नही कर सकता, यद्यपि उसे स्वास्थ्य के प्रभाव पर सदा ध्यान देते रहना चाहिये। यदि वह किसी बालक की धारण-शक्ति निर्बल पाता है तो उसके निदान का पता लगाना आवश्यक है, जिससे वह अभिभावको को उचित साधन की ओर सकेत दे सके।

रुचि और चिन्तन[3]

रुचि और चिन्तन का धारण-शक्ति से घनिष्ट सम्बन्ध है। हम उसी बात को याद कर सकते है जिसमे हमारी रुचि होती है और हम उसी बात का चिन्तन करते है जो हमें रुचिकर होती है। बार-बार चिन्तन करने से पुराने संस्कार पुनर्जीवित हो जाते है। बार-बार दुहराने से पुरानी बात हमे शीघ्र याद हो जाती है। यदि किसी

1. Health. 2. Nerve tissue. 3. Interest and Thinking.

लेख को हम नित्य ध्यानपूर्वक पढते रहे तो हमारे मस्तिष्क मे उसका धारण बडा प्रवल होगा। चिन्तन से वस्तु के विभिन्न अगो का सम्वन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस सम्वन्ध के समझने से ही कोई वात याद की जा सकती है। स्पष्ट है कि चिन्तन द्वारा ही धारण-शक्ति का विकास किया जा सकता है। चिन्तन रुचि पर आश्रित है। अत धारण-शक्ति के लिए रुचि भी आवश्यक है।

पुनर्स्मरण

अवसर पर मस्तिष्क में स्थित पुराने अनुभव का चेतना मे आना पुनर्म्मरण कहा जाता है। हम यहाँ देखेंगे कि पुरानी वाते चेतना में पुन कैसे आती हैं।

विचारो अथवा प्रत्ययो का साहचर्य[2]—

यह प्रत्येक पाठक का अनुभव होगा कि जब मस्तिष्क मे किसी एक वस्तु का स्मरण आता है तो उससे सम्वन्धित दूसरी वातो का भी स्मरण आ जाता है। जब हम गीता का नाम लेते है तो कृष्ण और अर्जुन की याद आ जाती है, जब राम का नाम लेते है रावण का स्मरण हो आता है। वाटरलू के युद्ध के साथ नेलसन की याद जाती है। साम्यवाद के साथ लेनिन का स्मरण हो आता है। काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के साथ मालवीयजी का ध्यान आ जाता है। ऐसा क्यो होता है? क्योकि एक का दूसरे से घनिष्ठ सम्वन्ध है। जब हम गिरिजा और रेखा को सदा साथ-साथ खेलते देखते हैं तो एक को देखने से दूसरे का स्मरण हो आता है। वात यह है कि दोनो का चर्चा इतने वार एक साथ की गई है कि एक का स्मरण दूसरे को याद किये विना हम कर ही नही सकते। गीता, कृष्ण व अर्जुन, राम और रावण, वाटरलू और नेलसन इत्यादि की चर्चा अनेक वार साथ की गई है। अत एक का नाम लेने से दूसरे का स्मरण हो आता है। समानता अथवा वैपरीत्य भी इसी प्रकार समान अथवा विरोधी गुणो की याद दिलाते हैं। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यो होता है? शरीर-शास्त्रवेत्ताओ का कहना है कि जब दो वस्तुओ को हम साथ ही साथ देखते है तो हमारे नाडी-मण्डल और मस्तिष्क मे उनके प्रभाव से कुछ परिवर्त्तन आते है। ये परिवर्त्तन एक साथ ही आते हैं। इसलिये उनके सस्कारो मे इतना पारस्परिक भौतिक सम्वन्ध स्थापित हो जाता है कि एक के सस्कार के स्मरण करने से दूसरा सस्कार स्वत स्मृति-पटल पर आ जाता है। मस्तिष्क में स्थित सस्कार जब जागते हैं तो अपने से सम्वन्धित दो वस्तुओ की भी याद दिला देते है। शरीर-शास्त्रवेत्ताओ का यह निष्कर्ष सन्तोषजनक नही दिखलाई पडता। हम देखते हैं कि किसी कविता या

---

[1] ऐन आउटलाइन ऑव् एडूकेशनल साइकॉलॉजी, (संशोधित) वर्नेस एण्ड नोवुल, न्यूयार्क—पृ० ७५। 2. Association of Ideas.

विचार से अवगत होने पर हम वर्षों पहले पढ़े हुए विचारो का स्मरण कर लेते हैं। इन दोनो मे पारस्परिक भौतिक सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ यह समझना कठिन है। मनोवैज्ञानिको का मत शरीर-शास्त्रविदो से भिन्न है। वास्तव मे इनका निष्कर्ष हमें अधिक तर्क-सगत जान पडता है। अत. हम अब उसी पर आते हैं।

पुनर्स्मरण की कार्य-प्रणाली कई बातो पर निर्भर करती है। मनोवैज्ञानिको का मत है कि एक प्रत्यय[1] का दूसरे से सम्बन्धित होने के लिये तीन बातो का होना आवश्यक है —(१) पुराने अनुभव की तात्कालिकता व वर्त्तमान अनुभव से उसकी समानता, (२) वर्त्तमान अनुभव से उसका वैपरीत्य, अथवा, (३) देश और काल के अनुसार उनमे सहचारिता। इस प्रकार समानता,[2] वैपरीत्य[3] और सहचारिता[4] स्मरण की प्राथमिक आवश्यकतायें हैं। इन्ही तीन बातो को स्मरण के लिये 'प्रत्यय-साहचर्य कहते हैं। स्मरण के लिये इन तीन बातो के अतिरिक्त अन्य नियम भी हैं जो प्रत्यय-साहचर्य को और भी प्रबल बनाते हैं। वे इस प्रकार हैं :—(१) नवीनता,[5] (२) प्रबलता,[6] अविरलता,[7] और रोचकता[8] इन पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

समानता—

दो वस्तुओ की पारस्परिक समानता के कारण एक को देखने से दूसरे की याद आ जाती है। समान चेहरे के दो व्यक्तियो को देखते रहने से एक को देखने से दूसरे का स्मरण आ जाता है। ढाई साल की लडकी आद्या गाय और भैंस मे समानता देखती है। अत. भैंस को देखने पर उसका नामकरण वह गाय ही करती है। एक दिन गदहे को देख कर उसने गाय का नाम लिया। जब तक उसकी भूल का सुधार न किया गया वह गाय, भैंस और गदहे में समानता ही देखती रही। राष्ट्रीय नेता जवाहरलाल का ध्यान आते ही सरदार पटेल का स्मरण हो आता है। अहिंसा का ध्यान आते ही महवीर, बुद्ध अथवा गांधी का स्मरण आ जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के साथ हिटलर का स्मरण हो जाता है। इस समान भाव का क्षेत्र केवल 'रूप' तक ही सीमित नही। गुण-साम्यता भी स्मरण दिलाने के लिये पर्याप्त होती है। परन्तु इस स्मरण का रूप व्यक्ति की मानसिक अथवा रुचि पर कभी-कभी निर्भर करेगी। कवि को मेघ का गर्जन मोर के नृत्य की याद दिला सकता है, पर वियोगी को वह अपनी प्रेयसी का स्मरण करा सकता है :—

"घन घमण्ड नभ गरजत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥"

धन लोलुप सूम व्यक्ति आग की धधकती हुई लपटों को देख स्वर्ण का स्मरण

---

1. Idea. 2. Similarity. 3. Contrast. 4. Contiguity. 5. Recency. 6. Vividness. 7. Frequency. 8. Interest.

कर सकता है, पर भग्न हृदय व्यक्ति को उसे देख अपनी चिन्ता का स्मरण हो सकता है।

वैपरीत्य—

जिस प्रकार समान वस्तुएँ एक दूसरे का स्मरण कराती है उसी प्रकार विरोधी धर्म वाली वस्तुएँ भी एक दूसरे का स्मरण करा देती हैं। बहुत चिकनी वस्तु को देख कर हमे खुरदरे का स्मरण हो आता है। स्वार्थी व्यक्ति को देख हमें परमार्थी का ध्यान आ जाता है। चिकित्सालय के रोगियो को देख हमें स्वस्थ व्यक्तियो का ध्यान आ जाता है। जगल को देख हमे सुन्दर और मनोहर फूलो से भरी वाटिका का ध्यान आ जाता है। शिवाजी का ध्यान हमे औरगजेब का स्मरण करा देता है। 'काग्रेस' के स्मरण से हमे 'मुस्लिम लीग' की याद आ जाती है।

समान अथवा विपरीत गुण वाली वस्तुओ के एक साथ स्मरण का क्या कारण है ? कुछ मनोवैज्ञानिको का कहना है कि पुराने अनुभव की सहचारिता से विचारो का सम्बन्ध हो जाता है, अत एक के याद करने से दूसरे का स्मरण हो जाता है। यदि ऐसी बात होती तो जिन दो बातो का चिन्तन हमने साथ नही किया है वे एक दूसरे का स्मरण नही करा सकती। परन्तु हम देखते है कि आज की बात वर्षो पहले की बात का स्मरण करा देती है। यहाँ अनुभव की सहचारिता कहाँ है ? यदि ऐसा होता तो समान अथवा विपरीत वस्तुओ का एक साथ स्मरण असम्भव होता। अत. उपर्युक्त सिद्धान्त भ्रमात्मक सिद्ध होता है।

कुछ दूसरे मनोवैज्ञानिको का मत है कि किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व हम सूक्ष्मतम विश्लेषण करते हैं। इस विश्लेषण से हमे समधर्मी और विपरीतधर्मी दोनो वस्तुओ का ध्यान आ जाता है। बिना इन वस्तुओ का ध्यान किये कोई नया ज्ञान सस्कार मस्तिष्क में जम ही नही सकता। इससे हमारे नये ज्ञान का सम्बन्ध अनेक समधर्मी और विपरीतधर्मी से हो जाता है।

कुछ मनोवैज्ञानिको की धारणा है कि "वैपरीत्य" कोई अलग सत्ता नही। किसी वस्तु से उसके विपरीत वस्तु का ज्ञान समानता ही के कारण होता है। यह 'समानता' 'वैपरीत्य' भाव में छिपी रहती है। सूक्ष्म विश्लेषण से यह समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, गाय का स्मरण होने से हमे भैस का ध्यान आ जाता है। दोनो में विपरीत भाव हैं। भैस गाय से आलसी होती है। उसका रग भिन्न होना है। डीलडौल में अन्तर है। वह गाय से अधिक खाती है। उसे गर्मी अधिक कष्टदायक होती है। दोनो में समानता यह है कि दोनो दूध देने वाली जानवर हैं। साधारणत. किसी एक के पालने से दूध का काम निकल जाता है। दोनो के वशजो को गाडी अथवा हल खीचना होता है। इस प्रकार दोनो मे समानता भी है। गाय का स्मरण करने

से हमे भैंस का स्मरण आता है, घोड़े अथवा ऊँट का नही। गाय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये दूध देने वाले पशुओ का हमे स्मरण करना पडता है, बोझा ढोने वाले अथवा इक्के व टाँगे मे चलने वाले जानवरों का ही नही। इसीलिये गाय का स्मरण होते हमे भैस की याद आती है, न कि घोडे या ऊँट की।

सहचारिता—

जिन दो वस्तुओ का ज्ञान हम साथ-साथ करते हैं वे एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाती हैं। मस्तिष्क मे उनका सस्कार एक दूसरे से गठ जाता है। अत एक के स्मरण से दूसरे की याद आ जाती है। साथ ही साथ अनुभव की हुई वस्तु का इस प्रकार एक से दूसरे का स्मरण हो जाना सहचारिता नियम के अनुसार होता है। सहचारिता दो प्रकार की होती है—देशगत और कालगत। एक ही स्थान पर दो वस्तुओ का देखना देशगत के अन्तर्गत आता है। मान लीजिये, एक कमरे मे हम एक मेज और कुर्सी पडी हुई नित्य देखते है। यदि हम कुर्सी का स्मरण करेगे तो मेज का भी स्मरण हो जायगा। यह देशगत 'सहचारिता' के अनुसार हुआ। सुरेन्द्र और वीरेन्द्र को हम एक साथ एक समय पर स्कूल जाते हुए नित्य देखते हैं। यदि किसी दिन हम सुरेन्द्र को अकेले स्कूल जाते देखते हैं तो वीरेन्द्र का भी स्मरण हो जाता है। कण्ठस्थ की हुई कविता को दोहराते समय एक पद दूसरे का स्मरण करा देता है। यह सब कालगत-सहचारिता-नियम से होता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिको का कहना है कि 'स्मरण' के तीन प्राथमिक—समानता, वैपरीत्य और सहचारिता, नियमो मे 'सहचारिता' ही मुख्य है। ऊपर समानता और वैपरीत्य के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिको के मत पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिको की धारणा है कि जब दो वस्तुओ की समानता की ओर हम दृष्टिपात करते हैं तो उनके परस्पर वैपरीत्य पर भी विचार करना स्वाभाविक हो जाता है। इस प्रकार 'समानता' मे वैपरीत्य निहित है। मनोवैज्ञानिक 'समानता और वैपरीत्य' मे भी समान तत्व देखते हैं। अतीत और वर्तमान अनुभव मे देश और काल की दृष्टि से समानता का सम्बन्ध स्थापित होता है। इस समानता के आधार पर सहचारिता स्थापित होती है। इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार 'स्मरण' के लिये केवल 'अनुभव की सहचारिता' (कन्टीग्युटी ऑव एक्सपीरियन्स) ही आवश्यक है[1]।

नवीनता—

"यदि सभी बाते समान हो तो एक विचार के मन मे आने पर उस दूसरे विचार का जिसका उससे नवीन सम्बन्ध हुआ रहता है पुनर्जीवन हो जाता है।"

१. ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, बारनेस ऐण्ड नोबुल, इंक, न्यूयार्क, अध्याय ६, जॉन जे० रॉऐन द्वारा लिखित, पृष्ठ ७६।

अर्थात् गत अनुभव की नवीनता से तत्सम्वन्धी हमारा वर्तमान अनुभव उसका स्मरण करा देता है। उदाहरणार्थ, पुस्तक शब्द के सुनने से हमने दूसरी पुस्तक जो पहले पढी है उसका स्मरण हो आता है। यदि हम रामायण पढते रहे हो और थोडी देर वाद कोई तुलसीदास का नाम लेता है तो हमे रामायण की याद आ जाती है। किसी मित्र का नाम लेने पर उसके साथ थोडी देर पहले घटी घटना का ध्यान आ जाता है।

प्रवलता—

"किसी विचार के मन मे आने पर दूसरे उस विचार का, जिसका उससे वडी प्रवलता से सम्बन्ध वँधा रहता है, पुनर्जीवन हो जाता है।" जो वात हमारे मन में वडी प्रवलता से वैठ जाती है अवसर पर उसका स्मरण वडी सरलता से हो जाता है। प्रवल अनुभवो का सस्कार मस्तिष्क मे इतनी प्रवलता से वैठ जाता हे कि उनके प्रतिस्पर्धी भावो के टिकने का ठिकाना ही नही मिलता। जैसे, साम्यवाद के सिद्धान्त जिसके मस्तिष्क मे प्रबलता से वैठ गये हैं वह किसी प्रतिस्पर्धी सिद्धान्त से अनुराग नही कर सकता। यदि कोई बालक कुत्ते को देखकर बडी प्रवलता से डर गया है तो कुत्ते को देखने से उसका डर वहुधा पुनर्जीवित हुआ करेगा।

अविरलता—

"अन्य बातो के समान होने पर एक विचार के मस्तिष्क मे आने से उस दूसरे विचार का जिसका उससे बार-बार सम्बन्ध वँधा रहता है पुनर्जीवन हो जाता है।" जिस विचार पर हम वार-वार ध्यान दिये रहते हैं उसका ध्यान हमे शीघ्र आ जाता है। जो व्यक्ति हरी-हरी घास देखा करता है वह 'हरी' शब्द के कहने पर बहुधा हरी घास का ही स्मरण करेगा। अपने-अपने अनुभव के अनुसार व्यक्तियो मे अलग-अलग भागो का पुनर्जीवन हो सकता है। 'लाल' शब्द के सुनने से किसी को पुलिस की लाल पगडी का स्मरण आ सकता है, वगीचे के माली को अपने वाग के किसी फूल का स्मरण आ सकता है, और बच्चे को अपने लाल कोट का स्मरण हो सकता है।

रोचकता—

अविरलता से मिलता हुआ रोचकता का भी उल्लेख कुछ मनोवैज्ञानिक करते हैं। कुछ विद्वान अविरलता और रोचकता मे कोई मौलिक भेद नही देखते। उनका कहना है कि जिस वस्तु मे व्यक्ति की रुचि रहती है उसका उसे वार-वार ध्यान आता है। उसके विचार-सम्बन्ध अपनी रुचि वाली ही वस्तु के सम्बन्ध मे वनते हैं। यदि किसी की रुचि उपन्यास पढने में हे तो वह पुस्तक शब्द के सुनने पर उपन्यास की पुस्तक का ही स्मरण करेगा। राजनीति मे रुचि रखने वाला व्यक्ति राजनीति-सम्बन्धी पुस्तक की ही याद करेगा।

व्यक्ति की मनोवृत्ति का ढग वडा निराला है। कुछ कहा नहीं जा सकता कि

उसके विचार किस समय किस नियम से प्रभावित होंगे। कभी-कभी दो-तीन नियम साथ मिल कर उसे प्रभावित कर सकते हैं। अध्यापक यदि उपर्युक्त नियमो के अनुसार अध्यापन-कार्य सचालित करे तो वह विद्यार्थियो मे अपेक्षित विचार-सम्बन्ध उत्पन्न कर सकता है।

पहचान

स्मृति-क्रिया का पूर्ति 'पहचान' मे होती है। यदि किसी व्यक्ति को देख कर हम जान लेते हैं कि इसे पहले कही देखा है तो यह पहचान हुई, चाहे उसका हम नाम स्मरण कर सके या नही। पहचान के लिये उसकी सूरत ही पर्याप्त है। किसी वस्तु को देखने के बाद उसकी एक प्रतिमा हमारे मस्तिष्क मे बैठ जाती है। दूसरी बार देखने पर यह पुरानी प्रतिमा जाग्रत हो जाती है, क्योकि एक इसी मे मिलती हुई वास्तविक प्रतिमा हमारे सामने आती है। पहचानने की शक्ति मे वैयक्तिक भिन्नता पाई जाती है। कोई एक वार किसी व्यक्ति को देख लेने पर दूसरी वार उसे झट पहचान लेता है। कोई इसमे असमर्थ होता है। पहचानने की शक्ति वडी उपयोगी है। जिस व्यक्ति से हमारी एक वार भेट हुई वह यह चाहता है कि दूसरी वार मिलने पर हम उसको पहचान ले। न पहचानने पर उसके हृदय को एक धक्का सा लगता है, क्योकि इसमे पृथक्ता का आभास होता है। अध्यापक के लिये पहचान की शक्ति वड़ी आवश्यक है। एक वार विद्यार्थी का नाम सुन लेने पर उसका नाम उसे याद हो जाना चाहिये। नाम लेकर पुकारने पर विद्यार्थी निकटता का अनुभव करता है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार चेतना मे आये हुए अनुभव का पुराने अनुभव से सम्वन्ध समझना 'पहचान' के लिये आवश्यक है। पर यह धारणा ठीक नही। किसी व्यक्ति को देख कर हम पहचान लेते हैं, पर यह निर्णय करने मे असमर्थ होते हैं कि इसको पहले कहाँ और कव देखा था। इसको हम अपूर्ण पहचान कह सकते हैं। पर अपूर्ण पहचान भी ज्ञान-वृद्धि के लिये उतनी ही आवश्यक है जितनी कि पूर्ण, ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि हमारी पहचानने की शक्ति स्मरण-शक्ति से अधिक होती है। हम अपने पुराने मित्रों के नाम भूल जाते हैं, पर उन्हे देखने पर नाम झट याद आ जाता है, अथवा यदि उनके नाम एक सूची में लिख दिये जाँय तो हम उन्हे झट पहचान लेते हैं। हमारे समझने वाले शब्द प्रयोग करने वाले शब्द से कही अधिक होते हैं, अर्थात् पहचान-शब्दावली[1] प्रयोग शब्दावली[2] से अधिक होती है।

३—स्मृति के प्रकार[3]

आदत-जन्य स्मृति[4]

फ्रेंच दार्शनिक वर्गसन के अनुसार स्मृति दो भागो मे विभाजित की जा

1. Recognition Vocabulary. 2. Application Vocabulary. 3. Kinds of Memory. 4. Habit Memory.

सकती है—आदत-जन्य स्मृति और प्रतिमा-सयुक्त स्मृति[1] । आदत-जन्य स्मृति वास्तविक स्मृति नही कही जा सकती । वार-बार रटने से जो वात याद होती है उसमे मस्तिष्क को वहुत कम काम पडता है । यदि बालक से पूछा जाय कि 'चार नवे' तो वह तुरन्त उत्तर देगा छत्तीस । पहाडा याद करते समय विभिन्न अंको की कल्पना के संस्कार उसके मस्तिष्क मे नही पडे थे । अत रटी हुई बात को दोहराने में मस्तिष्क पर बहुत ही कम बल पडता है । पुराने समय मे रटने की वडी प्रथा थी । इस प्राचीन परम्परा का नग्न चित्र अव भी सस्कृत पाठशालाओ में देखा जा सकता है । रटने में मस्तिष्क की शक्तियो का वहुत ही कम उपयोग होता है । वाते याद हो जाती हैं पर उसके चिन्ह अथवा सस्कार मस्तिष्क पर नही पडते । सस्कार केवल उन्ही वातो के पडते हैं जिनको मस्तिष्क भली-भाँति समझता है । अत शिक्षको को उचित है कि वे देखे कि विद्यार्थी बिना समझे हुए किसी वात के रटने की चेष्टा न करे । यह मानी हुई बात है कि कुछ वातो को रट कर याद करने की आवश्यकता होती है, जैसे पहाडे, अकगणित और विज्ञान के कुछ नियम[2] इत्यादि । इन वातो को विद्यार्थी रट कर याद कर सकता है, क्योकि इन्हे भूल जाने पर विद्यार्थी का समय सोचने में व्यर्थ नष्ट होगा। इसी प्रकार अन्य आवश्यक वाते भी रट कर याद की जा सकती हैं, पर यह ध्यान रहे कि ये वाते ऐसी हो कि इन्हे याद करने मे वास्तविक स्मरण-शक्ति का ह्रास न हो ।

प्रतिमा-सयुक्त या वास्तविक स्मृति[3]

वर्गसन के 'प्रतिमा-सयुक्त स्मृति' को वास्तविक स्मृति कह सकते हैं। वास्तविक स्मृति मे आत्म-चेतना रहती है । यह मस्तिष्क मे विचारो के उठने से उनके चिन्ह वनने से उत्पन्न होती है । ये चिन्ह एक प्रकार से स्थायी हो जाते हैं। इसके सम्बन्ध मे देश, काल और परिस्थिति का हमे ज्ञान रहता है । इनका निर्माण वहुत ही सोच समझ कर चेतन आचरण के द्वारा होता है । इस प्रकार की स्मृति का प्रयोग करते करते इतना अभ्यास हो जाता है कि कुछ दिन में इसमें और आदत-जन्य स्मृति मे भेद नही दिखलाई पडता । पर दोनो की उत्पत्ति मे भेद होने से उनका अन्तर सदा स्पष्ट रहता है ।

४—स्मरण करने के नियम[4]

(१) मानसिक प्रयत्न आवश्यक—

वास्तविक स्मृति के स्वरूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी बात

---

1. Image Memory 2. Formula. 3. Image or True memory. 4. Laws of Memorising

को विना समझे बूझे याद करना व्यर्थ सिद्ध हो सकता है। याद करने वाली वस्तु में आई हुई बात का परस्पर-सम्बन्ध समझना आवश्यक है। इस सम्बन्ध के समझने से याद करने में बड़ी सरलता आ जाती है। याद करने का सबसे अच्छा साधन यह है कि व्यक्ति वस्तु की विशेषताओं को समझे और उस पर विचार करे। बहुत से विद्यार्थी भूगोल और इतिहास के पृष्ठ के पृष्ठ रट डालते हैं, पर परीक्षा में असफल होते हैं। इसका कारण यह है कि वे बातो के परस्पर-सम्बन्ध को समझे बिना आवश्यक बातो को उचित स्थान पर नही रख सकते। जो बात बिना समझे हुए रट कर याद की जाती है उसमे बीच मे एक भी भूल होने से सारी की सारी बात भूल जाती है। जो लडके रट कर भाषण देने आते हैं वे बीच मे एक शब्द भी भूल जाने पर एकदम रुक जाते है। उनके लिये आगे बढ़ना असम्भव हो जाता है। यदि वस्तु मे आई हुई विशेषताओ को ठीक-ठीक समझ कर याद करने का प्रयत्न किया जाय तो बीच मे थोडी सी भूल होने पर भी व्यक्ति सँभल जायगा। सुनने वाले जान ही नही सकेंगे कि बीच मे कही भूल हुई है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि याद करने में मानसिक प्रयत्न बड़ा आवश्यक है अब हम देखेंगे कि मानसिक प्रयत्न किस प्रकार किया जा सकता है। मान लीजिये, बालक को अंकगणित मे १५७५१९४७१८५७ अक याद करना है। रटकर याद करने की चेष्टा में वह बार-बार भूल करेगा और असफल होगा। यदि इन अको का सम्बन्ध इस प्रकार दिखला दिया जाय तो याद करने मे बड़ी सरलता हो जायगी। १५ अगस्त को भारत को स्वतन्त्रता दी गई थी। १५ का पाँच गुना ७५ है। १९४७ ई० में भारत परतन्त्रता से मुक्त हुआ। १८५७ ई० में भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रथम प्रयास किया था। इस प्रकार मानसिक प्रयत्न से इन अंकों की कुछ विशेषता समझ ली गई। अब इसे याद करना बालक के लिये बहुत ही सरल होगा। यह देखा गया है कि कुछ बालको को सरल बातें जिनमें कुछ मानसिक परिश्रम नही करना होता नही याद होती। वे क्लिष्ट विषय जिनमें अधिक चिन्तन करना पडता है, अधिक देर तक याद रहते हैं, प्रारम्भ मे उन्हे याद करने मे भले ही देर हो। जिस विषय को याद करने में जितनी ही लगन और परिश्रम की आवश्यकता होती है वह उतने ही देर तक मस्तिष्क मे ठहरता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

(क) याद करने वाली वस्तु के विभिन्न अंगो की विशेषता तथा परस्पर-सम्बन्ध को समझने की चेष्टा करनी चाहिये, अथवा

(ख) ऐसे कृत्रिम सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये जिनसे स्मृति में सहायता मिले।

(ग) यदि इन कृत्रिम उपायो में कोई अर्थ नही दिखलाई पडता तो उनसे

कुछ भी लाभ न होगा। (किस प्रकार के कृत्रिम उपाय को खोजने का प्रयत्न करना चाहिये इसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।) उपाय ऐसा हो जो वस्तु से कुछ न कुछ सम्बन्ध रखता हो।

(घ) याद की जाने वाली वस्तु की व्यावहारिकता की ओर सकेत करना आवश्यक है। सम्भव है कि बालक यह न समझ सके कि याद की हुई वस्तु का उसके जीवन मे क्या उपयोग होगा, पर यदि तत्कालिक समस्या के हल मे उसकी उपयोगिता की ओर शिक्षक सकेत कर देता है तो बालक वस्तु के महत्त्व को ठीक प्रकार समझ लेगा और भविष्य मे भी उसे उससे अवश्य सहायता मिलेगी।

(२) वस्तु को विभिन्न अंगों में विभाजित कर न याद करना—

(३) बार बार दुहराना अच्छी स्मृति के लिये आवश्यक है—

याद कर लेने के बाद समय-समय पर वस्तु को दोहराना आवश्यक है। धीरे-धीरे कहने से सस्वर कहना अधिक लाभदायक है, क्योकि इससे उसके सस्कार मस्तिष्क मे अधिक दृढता से जम जाते हैं।

(४) बीच-बीच में विश्राम करना याद करने में सहायक होता है—

५—स्मरण करने की विधियाँ[1]

उपर्युक्त विवरण के बाद याद करने की विधियो पर प्रकाश डालना समीचीन होगा। विद्यार्थी किसी वस्तु को इसलिये याद करता है कि वह उसका तात्कालिक उपयोग कर सके और भावी जीवन में भी अवसर पडने पर उससे वह लाभ उठा सके। यह करने में वह कम से कम समय देना चाहता है। इसके लिये उसे मनोवैज्ञानिको द्वारा कुछ बताये हुए उपायो पर ध्यान देना होगा। इन उपयोगो पर ध्यान देने के पहले विद्यार्थी को यह जानना आवश्यक है कि याद करने पर तीन बातो का प्रभाव पडता है—स्वास्थ्य, पूर्ववर्त्ती ज्ञान और वातावरण।

स्वास्थ्य—

यदि विद्यार्थी का स्वास्थ्य अच्छा न हुआ तो याद करने में उसका मन नलगेगा। यह तो साधारण अनुभव की बात है कि जब सिर अथवा पेट आदि में दर्द रहता है तो कुछ याद करने की इच्छा नही होती। जब प्रबल भूख लगी होती है अथवा आवश्यकता से अधिक भोजन कर तो लिया जाता है कुछ पढने अथवा याद करने का मन नही करता। सुबह के समय शरीर और मस्तिष्क एकदम ताजा रहता है। उस समय कोई बात याद करने से शीघ्र याद होती है। दिन भर परिश्रम करने के बाद सन्ध्याकाल मस्तिष्क व शरीर कुछ थक जाता है। अत यह समय याद करने के लिये अच्छा नही।

1—Methods of Memorising.

पूर्ववर्ती ज्ञान—

याद की जाने वाली वस्तु का कुछ पूर्ववर्ती ज्ञान आवश्यक है। इस ज्ञान के बिना वस्तु मे आये हुए विचारो का परस्पर-सम्बन्ध समझना कठिन होगा। हम कह चुके हैं कि विचारो के परस्पर-सम्बन्ध को समझने से याद करने मे बडी सहायता मिलती है। इसीलिये कहा जाता है कि किसी विषय के पढाने के पहले शिक्षक अपने प्राक्कथन मे विद्यार्थियो का मस्तिष्क नई बात को ग्रहण करने के लिये तैयार कर ले।

वातावरण—

वातावरण से तात्पर्य उचित स्थान और समय से है। समय के बारे मे हम ऊपर कह चुके है। वातावरण ऐसा हो कि बालक का ध्यान इधर-उधर न जाये और वह एकाग्रचित्त हो अपने कार्य मे मन लगा सके। कमरे की खिडकियाँ खुली हो, पर अधिक जाडा अथवा गर्मी से विद्यार्थी तग न आ जावे।

(१) खण्डशः तथा समग्र याद करना[1]—

किसी पाठ को याद करने के लिये हम दो विधियो का प्रयोग कर सकते हैं। एक विधि है पाठ के भिन्न-भिन्न भाग करके और दूसरी है सम्पूर्ण पाठ का बार-बार पढा जाना। मान लीजिये, सौ पक्तियो की एक कविता याद करनी है। खण्डश. विधि मे चार-चार या आठ-आठ का पद बना कर कविता को याद किया जायगा। समग्र विधि से पूरी कविता को बार-बार दोहराया जायगा। छोटे-छोटे बालक बहुधा खण्डशः विधि का प्रयोग करते हैं। अवयवीवादियो के अनुसार समग्र विधि खण्डश विधि से अच्छी है, क्योंकि सम्पूर्णता[2] की ओर उनका अधिक ध्यान रहता है। परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिक आवश्यकतानुसार खण्डश विधि का भी समर्थन करते हैं।

वास्तव मे सम्पूर्ण व खण्डशः दोनो विधियो के लाभ व हानि हैं। एक मे कुछ कमी है जो दूसरे मे नही। खण्डश विधि मे कुछ कमी अवश्य दिखलाई पडती है। प्रत्येक कविता का एक सम्बन्धित अर्थ होता है। उसके विचारो मे एक तारतम्य होता है। इस तारतम्य के समझने मे याद करने मे बडी सरलता होती है। खण्डशः याद करने से यह तारतम्य टूट जाता है। विद्यार्थी कविता के सम्पूर्ण भाव को ग्रहण करने मे असमर्थ होकर अपने मस्तिष्क मे आवश्यक विचारो की प्रतिमा बनाने मे असफल होता है। खण्डश. विधि मे एक बात ध्यान देने योग्य है। एक ही पद को बार-बार याद करने से उस पद के प्रथम और अन्तिम शब्द में एक अनावश्यक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। दोहराने मे इन दो शब्दो का स्मरण क्रम से बार-बार आता है, इससे पाठ याद करने में रुकावट आती रहती है। विचारो का परस्पर-सम्बन्ध न होने से

1. Part versus Whole Method. 2. अध्याय ३ देखिये।

वहुधा एक पद का अर्थ दूसरे का द्योतक नही होता। अत यह देखा जाता है कि याद की हुई कविता को दोहराते समय कोई भूलता है तो वह प्रारम्भ मे ही भूलता है, क्योकि कविता को विभिन्न भागो में याद करने के वाद पदो के परस्पर-सम्वन्ध को समझने का उसने प्रयत्न किया है। अत खण्डश विधि से याद करने मे अधिक समय लग जाता है और यह विधि अधिक उपयोगी भी नही है।

पाइन और सिण्डर ने प्रयोगो द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि २४० पक्तियो तक की कविता समग्र विधि से वडी सरलता से कण्ठस्थ की जा सकती है, और खण्डश विधि की अपेक्षा इसमे एक चौथाई समय की बचत भी होगी। सभी आधुनिक मनोवैज्ञानिक समग्र विधि की उपयोगिता पर विश्वास करते हैं। पर समग्र विधि तभी उपयोगी सिद्ध हो सकती है जब कि वस्तु का आकार ऐसा हो कि पूरे की प्रतिमा विद्यार्थी के मस्तिष्क मे बन सके। वस्तु का आकार कितना बडा हो यह वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर करेगा। याद करने के पूर्व शिक्षक और विद्यार्थी को यह देख लेना चाहिये कि वस्तु का आकार उपयुक्त है या नही।

खण्डश विधि की भी उपयोगिता को अस्वीकार नही किया जा सकता। कभी-कभी देखा जाता है कि समग्र विधि से वालक को कुछ भी याद नही रहता, यद्यपि सम्पूर्ण कविता का कुछ सस्कार उसके मस्तिष्क पर अवश्य पड चुका है। प्राय यह देखा जाता है कि ऐसी दशा मे बालक हतोत्साह हो जाता है। आगे परिश्रम करने के लिये सफलता के भाव का अनुभव करना आवश्यक है। बिना इस अनुभव के वालक आगे नहीं बढ सकता। दूसरे, कविता अथवा पाठ के प्रत्येक भाग को याद करने के लिये समान समय की आवश्यकता नही होती, क्योकि कोई पद सरल होता है और कोई कठिन। अत समग्र विधि में उसे कई पदो की अनावश्यक आवृत्ति करनी होती है, इसमे उसका कुछ अधिक समय लग जाता है। इसके अतिरिक्त समग्र विधि से कई प्रकार के सस्कार पडते हैं इससे पुन स्मरण करने मे कुछ कठिनाई होती है। विभिन्न सस्कारो की भीड मे आवश्यक सस्कार के खोजने मे कठिनाई होती है।

उपर्युक्त कठिनाइयो को ध्यान मे रख कर काल्विन महोदय ने एक मध्यम मार्ग के अनुसरण के लिये राय दी है। काल्विन का कहना है कि किसी वस्तु को याद करने के लिये समग्र और खण्डशः दोनो विधि का प्रयोग करना आवश्यक है। पहले पूरे पाठ को कई बार पढ कर उसका अर्थ ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये। इसके वाद तव तक आद्योपान्त पाठ करते रहना चाहिये जब तक सम्पूर्ण भाग कण्ठस्थ न हो जाय। सम्पूर्ण भाग के याद हो जाने पर भी किसी-किसी अश पर कुछ कठिनाई का अनुभव होगा। इसे खण्डश विधि से पुष्ट कर लेना चाहिये। भूलने की सम्भावना मिटाने के लिये समय-समय पर पाठ को दोहराते रहना आवश्यक है। यह याद रखना

आवश्यक है कि जिस पाठ मे एक तारतम्य न हो उसे खण्डश. विधि से ही याद करना चाहिये ।

(२) लगातार और समग्र विभाग द्वारा याद करना[1]—

किसी वस्तु को लगातार एक ही क्रम मे याद करना युक्तिसंगत नही । थोडा याद कर लेने पर बीच मे कुछ मिनट का विश्राम कर लेना बडा लाभप्रद होता है । विश्राम का तात्पर्य यहाँ आलस्य से नही है, वरन् कोई दूसरे कार्य करने से है । परीक्षणो द्वारा यह देखा गया है कि याद की जाने वाली वस्तु को छोड कर दूसरे कार्य मे लग जाने से स्मरण-शक्ति में किसी प्रकार की बाधा नही होती । इससे मस्तिष्क को कुछ विश्राम मिल जाता है, और दूसरी बार वह अधिक स्फूर्ति के साथ याद करने मे लग जाता है । अत व्यक्ति अपने साथ तीन-चार प्रकार का कार्य रखे तो अच्छा है । एक मे थक जाने से दूसरे मे लग जाना मनोवैज्ञानिक और युक्तिसगत है । वास्तव मे मस्तिष्क के लिये 'विश्राम' कार्य का 'परिवर्त्तन' ही तो है (चेञ्ज आव वर्क इज रेस्ट)[2] ।

बीच-बीच मे थोडा विश्राम कर लेने से मस्तिष्क याद की हुई वस्तु को अच्छी प्रकार धारण कर लेता है । एक क्रम मे बिना विश्राम के याद की हुई वस्तु तत्काल भले ही दोहरा दी जाय, पर वह बहुत दिन तक मस्तिष्क में नही टिक सकती । याद करने वाली वस्तु जैसी हो वैसा विश्राम देना आवश्यक है । कभी बीच मे केवल पाँच या दस मिनट का विश्राम पर्याप्त होगा और कभी पूरा एक दिन का मध्यान्तर देना होगा ।

उपर्युक्त नियम की तथ्यता की परीक्षा के लिये एक व्यक्ति को बीस अक की एक सूची याद करने के लिये दी गई । बीच में विना विश्राम किये वह उस सूची को ग्यारह बार दोहराने के बाद याद कर सका । उसने बीच मे जव पाँच मिनट का विश्राम किया तो उसे छ वार दोहराने मे याद कर लिया । दस मिनट का विश्राम किया तो पाँच ही बार के दोहराने मे याद कर लिया ।

यह स्पष्ट है कि समय विभाग द्वारा याद करना लगातार याद करने से अच्छा है । पर समय विभाग विधि का प्रयोग हम सब स्थान पर नहीं कर सकते । यदि विषय वहुत छोटा हो, और लगातार याद किया जा सके तो समय विभाग द्वारा याद करना ठीक न होगा । यहाँ पर यह भी ध्यान देना चाहिये कि बीच का विश्राम इतना लम्बा न हो कि अर्जित सस्कार नष्ट हो जॉय । अत सप्ताह मे कोई विषय केवल आधे घण्टे तक एक वार पढाना ठीक नही । इससे सीखा हुआ ज्ञान भूल जाता है, पर एक ही दिन किसी विपय को चार घण्टा पढा देना भी मनोवैज्ञानिक नही । अर्थात् काम करने का समय न अधिक छोटा हो न बडा ।

---

1 Continuous and Spaced learning. 2. Change of work is rest.

६—स्मृति की नाप[1]

स्मृति के नापने का सर्वप्रथम प्रयास इविन्घॉस ने सन् १८५८ ई० में किया था। परन्तु अब इसको नापने के लिये अनेक परीक्षण किये गये हैं। स्मृति-विस्तार के नापने की चेष्टा की गई है। स्मृति की नाप की बहुत सी विधियो की उपयोगिता परीक्षणो द्वारा सिद्ध की गई है। इन परीक्षणो के फल शिक्षा की दृष्टि से बडे ही महत्त्वपूर्ण हैं। ये परीक्षण विशेषकर निरर्थक शब्दो की सहायता से किये जाते हैं, क्योकि निरर्थक शब्दो पर व्यक्ति के पूर्व अनुभव का कुछ भी प्रभाव नही पडता।

स्मृति-विस्तार[2]—

याद करने के बाद तुरन्त दोहराने की योग्यता को स्मृति विस्तार कहते हैं, क्योकि कुछ देर बीत जाने पर व्यक्ति सीखी हुई बात भूल सकता है। स्मृति-विस्तार की परीक्षा के लिये निरर्थक शब्दो की एक सूची व्यक्ति को दिखलाई जाती है। एक बार ठीक से देखने के बाद व्यक्ति कितने शब्दो को ठीक-ठीक दोहरा सकता है इससे उसके स्मृति-विस्तार की परीक्षा की जाती है। तुरन्त दोहरा देने-की योग्यता के अन्तर को समझने के लिये मनोवैज्ञानिको ने तात्कालिक[3] स्मृति और स्थायी स्मृति[4] का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि तात्कालिक स्मृति उम्र के साथ बढती है, क्योकि यह अध्यवसाय पर निर्भर करती है। प्रौढ व्यक्ति बालक से अधिक अध्यवसायी होता है। अत तात्कालिक स्मृति में बालक प्रौढ की कभी बराबरी नही कर सकता। परीक्षणो के आधार पर न्यूमैन का कहना है कि तेरह वर्ष तक स्मृति बडे धीरे-धीरे बढती है और २५ वर्ष मे अपनी चरम सीमा प्राप्त कर लेती है। ड्रेवर का कहना है कि सात वर्ष का बालक छ अक्षरो से अधिक वाले शब्दो को सरलता मे याद नही कर सकता। अत उसके पाठ्य-वस्तु मे छ अक्षरो से अधिक वाले शब्द नही होने चाहिये।

स्मृति को नापने मे चार रीतियाँ अधिक प्रयोग मे लाई जाती हैं।

(१) याद करने की रीति[5]—

व्यक्ति के सामने एक छोटे नलाकर घूमने वाले पीपे पर ८ निरर्थक शब्द एक एक करके घुमाये जाते हैं। एक बार घुमा देने पर उससे शब्दो को दोहराने के लिये कह कर उसके स्मृति की परीक्षा ली जाती है। इस पर तब तक प्रयोग किया जाना है जब तक कि वह सभी शब्दो को ठीक-ठीक दोहरा न दे। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियो की स्मृति की परीक्षा ली जाती है। कभी-कभी कुछ शब्द शीघ्रता मे सुना दिये जाते हैं या एक क्रम मे खिडकी से दिखला दिये जाते हैं और इस प्रकार उसकी

1. Measurement of Memory 2 Memory Span. 3 Immediate Memory. 4. Permanent Memory. 5. Learning Method.

स्मृति नापी जाती है। स्मृति के नापने में यह देखा जाता है कितनी बार देखने या सुनने के वाद व्यक्ति ने सभी शब्दो को ठींक-ठीक दोहरा दिया।

(२) बचाने की रीति[1]—

'याद करने की रीति' के वाद 'बचाने की रीति' से स्मृति-विस्तार नापने की चेष्टा की जाती है। व्यक्ति को एक बार शब्दो की सूची दिखला दी जाती है। फिर कुछ देर बाद उसे शब्दो को दोहराने के लिये कहा जाता है। वह इसमे शत प्रतिशत सफल नही होता। उसे फिर सूची दिखलाई जाती है। इस प्रकार देखा जाता है कि दूसरी बार शब्दो को याद करने मे व्यक्ति ने कितना कम समय लगाया अर्थात् उसने कितना समय बचाया। पहली बार ठीक-ठीक याद करने में उसे कितना दोहराना पडा और दूसरी बार याद करने में उसे कितनी वार दोहराना पडा इसकी तुलना की जाती है और स्मृति का अनुमान लगाया जाता है।

(३) उकसाने की रीति[2]—

उकसाने की रीति मे भी व्यक्ति को कुछ निरर्थक अथवा सार्थक शब्दो की सूची याद करने को दे दी जाती है। याद कर लेने के बाद शब्दो को दोहराते समय भूल होने पर बीच-बीच में उसकाया जाता है। ठीक-ठीक दोहराने के लिये किसी व्यक्ति को कितनी वार उकसाया गया इससे उसकी स्मृति का अनुमान किया जाता है।

(४) गिनने की रीति[3]—

इस रीति मे व्यक्ति को दो-दो शब्द के 'जोडे' सुनाये जाते हैं। इन शब्दो की ध्वनि एक दूसरे से भिन्न होती है, जैसे 'बुद्धू', 'कीटी', 'डे डे' इत्यादि। अब व्यक्ति को प्रत्येक जोडे मे से केवल एक-एक अक्षर सुनाया जाता है और उससे उसके जोडे वाला अक्षर कहने को कहा जाता है। यदि सभी जोडे वाले अक्षरो को व्यक्ति ठीक-ठीक वतला देता है तो उसकी स्मृति अच्छी कही जाती है।

७—विस्मृति[4]

हम क्यो भूलते हैं? याद करने के लिये जिन वातो की आवश्यकता होती है उनके अभाव मे विस्मृति का कारण छिपा रहता है। यदि सस्कार की दृढता न हुई तो थोडी ही देर वाद ही हम वात को भूल सकते हैं। रुचि के अभाव मे भी भूलना बडा सरल होता है। यदि विद्यार्थी की रुचि इतिहास के अध्ययन मे न हुई तो याद करने के थोडी ही देर बाद वह सब कुछ भूल जायगा। वहुत समय के वीत जाने पर

1. Saving Method. 2. Prompting Method. 3. Scoring Method. 4. Forgetting.

भी हम बात को भूल जाते हैं। वास्तव मे एक प्रकार से कहा जा सकता है कि भूलना भी आवश्यक है। जो दुखद बात होती है उसका भूलना हमारे लिये कठिन नही होता। हम कह भी चुके है कि यदि भूलने की प्रवृत्ति मनुष्य में न होती तो उसका जीवन बडा ही दुखद होता।

(१) विस्मृति पर परीक्षण

विस्मृति को नापने के लिये मनोवैज्ञानिको ने कुछ प्रयोग किये हैं। उन पर दृष्टिपात करने से हमारे विचार कुछ अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। विस्मृति पर इबिन्घॉस ने सबसे पहले परीक्षण किया। ऊपर वर्णित "याद करने और बचाने की रीतियो" से इबिन्घॉस इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि व्यक्ति बीस मिनट बाद ४२ प्रतिशत भूल जाता है, १ घण्टे बाद ४६ प्रतिशत, नौ घण्टे बाद ६४ प्रतिशत, एक दिन बाद ६७ प्रतिशत, २ दिन बाद ७२ प्रतिशत, ६ दिन बाद ७५ प्रतिशत, और ३० दिन बाद ७९ प्रतिशत। इस प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि व्यक्ति पहले बडी शीघ्रता से भूलता है, फिर गति धीमी हो जाती है। कुछ दिन के बाद एक ऐसी सीमा आती है जिसके बाद भूलना नही होता, अर्थात् कुछ न कुछ याद रहेगा ही। इसी स्मृति के आधार पर दोहराने से पहले की अपेक्षा वस्तु अधिक शीघ्र याद हो जाती है। इबिन्घॉस के परीक्षण से ज्ञात होता है कि व्यक्ति प्रथम बीस मिनट मे जितना भूलता है लगभग उतना ही या उससे कुछ कम वह तीस दिन मे भूलता है। हम देख चुके हैं कि बालक भूलने मे बडा तीव्र होता है। अत पढे हुए पाठ को सदा दोहराने के लिये उसे उत्साहित करते रहना चाहिये। यदि प्रति दिन गत पाठ दोहरा लिया जाय तो अत्युत्तम होगा। बीच मे थोडे समय का विश्राम, जैसा ऊपर हम कह चुके हैं, अवश्य सहायक होता है। परन्तु लम्बा विश्राम हानिकारक ही होता है। अत हमारे देश व स्कूलो मे जो एक या दो-दो महीने की छुट्टियाँ दी जाती हैं वे अमनोवैज्ञानिक होती हैं। छुट्टियो मे विद्यार्थी अपना पढा हुआ पाठ भूल जाता है।

(२) निष्क्रिय और सक्रिय विस्मृति[1]

मनोवैज्ञानिको ने निष्क्रिय और सक्रिय दो प्रकार की विस्मृति का उल्लेख किया है। जिस विस्मृति मे भूलने वाले का हाथ नही रहता वह निष्क्रिय विस्मृति कही जाती है। व्यक्ति भूलना नही चाहता, पर भूल जाता है। उपर के सब प्रयोग निष्क्रिय विस्मृति की ओर ही सकेत करते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति स्वय किसी बात को भूल जाना चाहता है, उदाहरणार्थ, दुखद बाते। यह सम्भव है कि विस्मृति मे दी हुई अपनी सहायता को व्यक्ति न जान सके, पर उसकी सहायता अचेतन प्रेरणा से उसमें अवश्य रहती है। ऐसी विस्मृति को मनोविश्लेषणवादियो ने 'सक्रिय' का

---

1 Passive and Active Forgetting.

विशेपरण दिया है। अत यहाँ सक्रिय विस्मृति के कारणो पर थोडा प्रकाग डालना अनुपयुक्त न होगा।

(३) असाधारण विस्मृति[1] के कारण—

सक्रिय विस्मृति को हम असाधारण कह सकते है। असाधारण भूलो मे न तो रुचि की कमी होती है और न सस्कारो की अदृढता ही, अपितु ये स्मरण-प्रक्रिया में कुछ रुकावटो से होती है। इन रुकावटो के तीन प्रधान कारणो पर हम यहाँ प्रकाश डालेगे।

(१) सवेगो क‚ उत्तेजित होना[2]
(२) सशय का प्रादुर्भाव[3]
(३) अचेतन मन मे किसी भावना-ग्रन्थि का होना[4]

संवेगों का उत्तेजित होना—

भय, क्रोध अथवा प्रेम के सवेग मे विस्मृति का हो जाना वडा ही स्वाभाविक होता है। ऐसे सवेगो मे आत्म-चेतना[5] इतनी प्रवल हो जाती है कि सारे विचार-सम्वन्ध थोडी देर के लिये शिथिल पड जाते हैं। परीक्षार्थी परीक्षा-भवन मे, पात्र, वक्ता अथवा सगीतज्ञ रगमच पर सवेग के आवेश मे सब कुछ भूल सकता है। पर अवसर बीत जाने पर उसे सब कुछ याद आ जाता है। घर लौट आने पर परीक्षार्थी और वक्ता को सारी बाते ठीक-ठीक मस्तिष्क मे याद आ जाती है। जब व्यक्ति प्रेम अथवा क्रोध के सवेग मे रहता है तो कहने के लिये पहले से निश्चित बात को वह भूल जाता है। कदाचित् प्रत्येक पाठक का ऐसा अनुभव होगा।

संशय का प्रादुर्भाव—

मन मे सशय का आना स्मृति के लिये बडा घातक होता है। सशय आने से वस्तु-सम्बन्धी बने सस्कार अवाछनीय सस्कार से घिर जाते है और उनका स्मरण नही आता। सशय आना एक भारी मानसिक दुर्बलता है। इसके अभियुक्त होने से व्यक्ति किसी कार्य मे सफल नही हो सकता। वह प्रत्येक व्यक्ति पर अविश्वास करता है। उसका कोई मित्र नही हो सकता। चोर तथा हत्यारे का मन सदैव सशय से भरा रहता है कि कही पुलिस उसे पकड न ले। जिस बालक मे आत्म-विश्वास की कमी होती है उसकी भी यही गति होती है। किसी पाठ को सुनाते समय उसे सदा सशय वना रहता है कि कही त्रुटि न हो जाये। ऐसा बालक निश्चय ही त्रुटि करता है। अतएव बालको के मन मे किसी प्रकार का सशय नही डालना चाहिये। इससे भारी मानसिक

---

1. The Causes of Abnormal Forgetting. 2. Rise of Emotion 3. Arousal of Doubt. 4 Presence of some Complex in the Unconscious. 5. Self-consciousness.

क्षति होती है। आत्म-निर्देश के बल पर बालको मे आत्म-विश्वास उत्पन्न करना आवश्यक है।

भावना-ग्रन्थि—

भावना-ग्रन्थि के स्वरूप पर हम नवे अध्याय मे विचार कर चुके हैं। भावना-ग्रन्थियो वाला व्यक्ति उन बातो को भूल जाता है जिससे उसे दुख होता है। प्रत्येक व्यक्ति मे कुछ न कुछ भावना-ग्रन्थियाँ होती ही है। अत. प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे कुछ ऐसी दुखद घटनायें घटित होती है जिन्हे वह भूल जाना चाहता है। व्यक्ति विस्मृति के सहारे अपने दुख से मुक्त होने मे समर्थ होता है। वह नित्य कुछ ऐसे स्वप्न देखता है जिसमे वह पशुवत् व्यवहार करता है। यदि इस स्वप्न को वह भूल न जाता तो हर समय उसका चित्त ग्लानियुक्त रहता।

(४) विस्मरण के उपाय—

कभी-कभी हम किसी बात को भूलना चाहते हैं पर उसे भूलने मे असमर्थ सिद्ध होते हैं। जितने ही भूलने की हम चेष्टा करते है उतना ही वह विचार हमे और अधिक दबा लेता है। सोने वाला अपने मस्तिष्क से अपने पुराने अनुभव की स्मृति निकाल देना चाहता है जिससे कि वह सुखपूर्वक सो सके। पर जितना ही वह चेष्टा करता है उतना ही वह असफल होता है। आते हुए विचारो को भुलाने का एक मात्र उपाय यह है कि उन्हे आने से रोका ही न जाय। कुछ देर बाद इन विचारो की शक्ति अपने आप क्षीण हो जायगी और वे साथ छोड देगे।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

१—अर्थ

चेतना से युक्त सचय स्मृति, मनुष्य में सबसे अधिक, कल्पना और विचार का आधार, स्मृति बिना मनुष्य पशुवत्।

वर्त्तमान परिस्थिति मे सहायक, हमारा अतीत का अनुभव स्मृति।

स्मृति की परिभाषा कठिन, इसके लक्षण को समझना, शीघ्र याद कर लेना ही अच्छी स्मृति का लक्षण नही, मस्तिष्क मे अधिक देर तक रखना भी आवश्यक, तुरन्त भूल जाने की आदत बालको और वृद्धो मे।

पुराने अनुभव को याद करने की शक्ति बिना जीवन पशुवत्, व्यर्थ की बातो को याद करना अनावश्यक।

२—स्मृति के अंग

सीखना, धारण करना, स्मरण करना, पहचान की शक्ति।

धारण

स्मृति धारण-शक्ति पर अवलम्बित, धारण-शक्ति मे वैयक्तिक भिन्नता, बालक मे अधिक।

मस्तिष्क—

मस्तिष्क द्वारा अस्वीकृत ज्ञान का प्रभाव अर्द्ध चेतना पर चुनाव, चुनाव से स्मृति का प्रारम्भ, कुछ मानसिक चिन्हो से साथ प्रत्येक का जन्म, ये चिन्ह विभिन्न कार्यों मे सहायक, अनुभव के साथ मिलने पर इन चिन्हो का दूसरा चित्र, यह चित्र ही धारण-शक्ति का कारण, मनोवैज्ञानिक विधि से इसमे उन्नति सम्भव।

स्वास्थ्य—

धारण-शक्ति पर विशेप प्रभाव, सुबह के समय अच्छी।

रुचि और चिन्तन—

घनिष्ठ सम्बन्ध, चिन्तन से वस्तु के विभिन्न अगो का सम्बन्ध स्पष्ट, चिन्तन से ही धारण-शक्ति का विकास, चिन्तन रुचि पर आश्रित।

पुनर्स्मरण

विचारों अथवा प्रत्ययों का साहचर्य—

एक वस्तु के स्मरण से उससे सम्बन्धित दूसरी बात का भी स्मरण हो आना, ऐसा क्यो ? शरीर-शास्त्र वेत्ताओ द्वारा दिया हुआ कारण असन्तोषजनक, मनोवैज्ञानिको का निष्कर्प अधिक तर्क-सगत।

स्मरण की कार्य-प्रणाली तीन बातो पर निर्भर समानता, वैपरीत्य और सहचारिता, स्मरण के लिये प्रत्यय-सम्बन्ध, नवीनता, प्रबलता, अविरलता और रोचकता से प्रत्यय-सम्बन्ध और भी पुष्ट।

समानता—

समानता के कारण एक से दूसरे की याद आ जाना, रूप और गुण की समानता, मानसिक अवस्था और रुचि पर भी स्मरण का रूप निर्भर।

वैपरीत्य—

विरोधी धर्म वाली वस्तुएँ एक दूसरे का स्मरण कराती है।

अनुभव की सहचारिता न रहने पर भी एक वस्तु से दूसरे का स्मरण।

सूक्ष्म विश्लेषण करने मे नये ज्ञान का सम्बन्ध अनेक समधर्मी और विपरीत-धर्मी वस्तुओ से।

कुछ मनोवैज्ञानिको के अनुसार वैपरीत्य मे—समानता का भाव निहित।

सहचारिता—

दो वस्तुओ का ज्ञान साथ-साथ करने से सहचारिता नियम के अनुसार एक दूसरे का स्मरण, देशगत और कालगत सहचारिता।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार स्मरण के लिये अनुभव की सहचारिता ही मुख्य।

नवीनता—

अनुभव की नवीनता से तत्सम्बन्धी वर्त्तमान अनुभव का स्मरण।

प्रबलता—

मन मे प्रवलता से बैठी हुई बात का स्मरण सरलता से।

अविरलता—

जिस विपय पर हम बार-बार ध्यान दिये रहते है उसका स्मरण शीघ्र।

रोचकता—

रोचकता और अविरलता मे विशेष अन्तर नही।

मानव मनोवृत्ति का ढग निराला।

पहचान

स्मृति की पूर्ति 'पहचान' मे, पहचान की शक्ति वैयक्तिक भिन्नता मे, यह शक्ति बडी आवश्यक।

अपूर्ण पहचान भी ज्ञानवृद्धि के लिये आवश्यक, पहचानने की शक्ति स्मरण-शक्ति से अधिक, बोधशब्दावली प्रयोग से अधिक।

आदत जन्य स्मृति—

३—स्मृति के प्रकार

वास्तविक नही, मानसिक शक्ति का बहुत कम उपयोग, सस्कार नही जमते, बिना समझे हुए रटना ठीक नही, पर कुछ बातो का रटना आवश्यक।

प्रतिमा-सयुक्त या वास्तविक स्मृति—

इसमे आत्म चेतना स्थायी।

४—स्मरण करने के नियम

(१) मानसिक प्रयत्न आवश्यक—

बातो का परस्पर-सम्बन्ध समझना आवश्यक, विशेषता समझना, लगन और परिश्रम से याद की हुई वस्तु अधिक देर तक याद।

(२) वस्तु को विभिन्न अंगों में विभाजित कर न याद करना—
(३) बार-बार दोहराना अच्छी स्मृति के लिये आवश्यक है—
(४) बीच-बीच में विश्राम करना याद करने में सहायक होता है—

५—स्मरण करने की विधियाँ

स्वास्थ्य, पूर्ववर्ती ज्ञान और वातावरण का 'स्मरण' करने पर प्रभाव।

स्वास्थ्य—

ठीक न रहने से स्मरण करने की शक्ति कम।

पूर्ववर्ती ज्ञान—

आवश्यक, मस्तिष्क को नई बात ग्रहण करने के लिये तैयार करना।

वातावरण—

उचित स्थान और समय।

(१) खण्डशः तथा समग्र याद करना—

समग्र विधि खण्डश से अच्छी।

दोनो विधियो से लाभ व हानि, खण्डश याद करने मे तारतम्य का टूटना, खण्डश विधि से प्रथम और अन्तिम शब्द मे अनावश्यक सम्बन्ध, इससे याद करने मे रुकावट, अधिक समय।

२४० पक्तियो तक की कविता समग्र विधि से, एक चौथाई समय की बचत, मस्तिष्क मे पूरी प्रतिमा का बनना आवश्यक, आकार वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर।

खण्डश विधि भी कुछ उपयोगी, सफलता के भाव का अनुभव आवश्यक, प्रत्येक भाग को समान समय की आवश्यकता नही, समग्र विधि से कई प्रकार के सस्कार।

समग्र और खण्डश दोनो विधि का प्रयोग, पहले ठीक अर्थ समझना, सम्पूर्ण याद हो जाने पर कठिन भाग पर कुछ विशेष ध्यान, समय-समय पर दोहराना।

(२) लगातार और समय विभाग द्वारा याद करना।

बीच मे विश्राम से धारण देर तक, विश्राम का समय वस्तु के अनुसार।

विश्राम पर परीक्षण।

समय विभाग द्वारा याद करना अच्छा, विपय छोटा हो तो लगातार विधि से, विश्राम वहुत लम्बा नही।

६—स्मृति की नाप

निरर्थक शब्दो की सहायता से।

स्मृति विस्तार—

तुरन्त दोहराने की योग्यता स्मृति विस्तार, तात्कालिक और स्थायी स्मृति, तात्कालिक स्मृति का उम्र के साथ बढना, न्यूमैन और ड्रेवर के निष्कर्ष ।

(१) याद करने की रीति—

कितनी बार देखने या सुनने के वाद ठीक-ठीक दोहरा सका ।

(२) बचाने की रीति—

याद करने के लिये कितनी वार दोहराना पडा ।

(३) उकसाने की रीति—

कितनी वार उकसाना पडा ।

(४) गिनने की रीति—

जोडे वाले अक्षरो को ठीक-ठीक वतलाना ।

७—विस्मृति

सस्कार की अदृढता, रुचि का अभाव, बहुत समय के बीत जाने पर, भूलना भी आवश्यक ।

(१) विस्मृति पर परीक्षण—

इविन्घॉस के परीक्षण, पहले शीघ्रता से भूलना, फिर गति धीमी, एक सीमा जिसके वाद भूलना नही, वालक भूलने मे तीव्र, दोहराना आवश्यक, लम्बा विश्राम अमनोवैज्ञानिक ।

(२) निष्क्रिय और सक्रिय विस्मृति—

ऊपर के प्रयोग निष्क्रिय विस्मृति के, सक्रिय विस्मृति स्वेच्छा से ।

(३) असाधारण विस्मृति के कारण—

संवेगों का उत्तेजित होना—

आत्म-चेतना से विचार-सम्बन्ध शिथिल ।

सशय का प्रादुर्भाव—

सशय स्मृति के लिये घातक, मानसिक दुर्बलता, आत्म-विश्वास उत्पन्न करना आवश्यक ।

भावना-ग्रन्थि—

दु खद घटनाओ को भूल जाना ।

(४) विस्मरण के उपाय—

विचार को आने से न रोकना भूलने का सबसे अच्छा उपाय ।

सहायक पुस्तकें

१—उडवर्थ—साइकॉलॉजी, अध्याय १४।
२—डम्विल—द फण्डामेण्टल्स ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १०।
३—उडबर्न—ह्यूमन नेचर ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय ९।
४—मायर्स—टेक्स्ट बुक ऑव् ऐक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, भाग १, अध्याय १२, १३।
५—थॉमसन—इन्स्टिक्ट, इन्टेलीजेन्स ऐण्ड कैरेक्टर, अध्याय १४।
६—गेट्स—साइकॉलॉजी फॉर स्टूडेण्ट्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय १२, १५।
७—स्पीयरमैन—द ऐबीलिटीज ऑव मैन, अध्याय १६।
८—मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय १०।
९—वैलेनटाइन—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु ऐक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी।
१०—ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी ऑव एडूकेशन, अध्याय ३।
११—बॉल्टन—ऐव्री डे साइकॉलॉजी फॉर टीचर्स, अध्याय, १८।
१२—बर्गसन—मैटर ऐण्ड मेमरी।
१३—जेम्स—प्रिन्सीपुल्स ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय १६।
१४—नन, टी० पी०—एडूकेशन · इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय ५५।
१५—डेविड केनेडी फ्रेसर—द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय ६।
१६—सोरेनसन—साइकॉलॉजी इन एडूकेशन, अध्याय १३।
१७—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय १४।
१८—पीयर—रिमेम्बरिङ्ग ऐण्ड फारगेटिङ्ग।
१९—एफ० वाट—एकॉनॉमी ऐण्ड ट्रेनिङ्ग आव मेमरी।
२०—रस्क—एक्सपेरीमेण्टल एडूकेशन।
२१—मार्गन ऐण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, अध्याय १०।
२२—सरयू प्रसाद चौबे—मनोविज्ञान, प्र० मं०, अध्याय २०।

———

११

अवधान, रुचि और थकान[1]

१—अवधान का स्वरूप[2]

पुराने मनोवैज्ञानिको के अनुसार अवधान (या ध्यान) एक मानसिक शक्ति है, पर अब यह विचार पूर्णत भ्रमात्मक सिद्ध कर दिया गया है। अवधान मानसिक शक्ति नही, वरन् मानसिक क्रिया है। कोई कार्य करने के लिये हमे अवधान की आवश्यकता होती है। अवधान ही देने से हमे विभिन्न वस्तुओ का ज्ञान होता है। अतः किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अवधान की आवश्यकता होती है। जब तक हम जागते रहते हैं तब तक किसी न किसी वस्तु पर हमारा अवधान अवश्य रहता है। सुप्तावस्था मे ही हम इस क्रिया से वञ्चित रहते हैं। चेतना[3] को किसी वस्तु विशेष पर केन्द्रित करने को अवधान कहते हैं। हमारी चेतना की वस्तु कई हो सकती है। हम वातावरण की विभिन्न वस्तुओ को एक साथ ही देखते हैं। बाग मे हम गुलाब, चमेली व बेला सभी प्रकार के फूल देखते हैं। पर यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि एक समय हम एक ही फूल देखते है। जिस ओर हमारी चेतना केन्द्रित होती है उस पर हमारा अवधान पडता है। बाग में अनुभव करना कि विभिन्न प्रकार के फूल हम एक साथ ही देखते हैं भ्रमात्मक है। वस्तुत. हमारा ध्यान एक ही फूल पर पडता है, यह हो सकता है कि हमारा ध्यान एक क्षण के अन्दर कई फूलो पर चला जाय और हम कई फूल एक साथ ही देखने का अनुभव करे। पर एक समय तो हम एक ही फूल देखते हैं। परन्तु हमारा ध्यान इतने शीघ्र कैसे एक वस्तु से हट कर दूसरे पर चला जाता है, जिससे हम एक ही क्षण मे आठ-दस वस्तुएँ देख लेते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर हमे मनोवैज्ञानिक लॉयड मॉर्गन के विश्लेषण से मिलता है। किसी वस्तु पर हमारा अवधान चेतना के केन्द्रित होने से होता है। लॉयड मॉर्गन चेतना के दो भाग करते हैं—केन्द्रीय[4] और तटीय[5]। जिस समय हमारा अवधान गुलाब पर रहता है तब हमारी चेतना गुलाब पर केन्द्रित रहती है, पर चमेली व बेला इत्यादि फूल हमारे तटीय चेतना के अङ्ग रहते हैं। इसीलिये हम अपना अवधान उस पर भी तुरन्त ही

1. Attention (मनोयोग या ध्यान), Interest and Fatigue. 2. The Nature of Attention. 3. Consciousness. 4. Central. 5. Marginal.

ाल सकते हैं। हमे यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारे केन्द्रीय और तटीय चेतना को विभाजित करने की कोई निश्चित रेखा नही हैं। जो विषय अभी केन्द्रीय अर्थात् स्पष्ट चेतना मे है वही तटीय अथवा अस्पष्ट चेतना में चला जा सकता है। इसीलिये तो एक क्षण मे बारी-बारी से हम गुलाब, चमेली व बेला इत्यादि सभी फूल देख लेते है। कहने का तात्पर्य यह कि अवधान का विषय बहुधा बदला करता है और अवधान का विषय वही है जिस पर हमारी चेतना केन्द्रित हो।

अवधान की क्रिया से हम किसी वस्तु को स्पष्टतया समझने मे समर्थ होते है, क्योकि हमारी चेतना उस पर केन्द्रित हो जाती है। टिचनर का कहना है कि अवधान की समस्या किसी विषय को स्पष्ट रूप से समझने से है। डम्विल[1] कहते हैं कि अवधान का तात्पर्य "एक वस्तु को छोडकर दूसरे पर चेतना को केन्द्रित करने से है।" अतः अवधान मे प्रयोजनता का आभास निहित रहता है। मैग्डूगल भी कहता है "अवधान किसी वस्तु के ज्ञान प्राप्ति के लिये मन की प्रयोजनात्मक प्रवृत्ति है। जितनी ही दृढ़ता के साथ हम किसी वस्तु को देखना, सुनना या समझना चाहते है उतना ही अधिक हम उस वस्तु पर अवधान देते है।"[2] हम किसी वस्तु को क्यो देखना, सुनना या समझना चाहते हैं? स्पष्ट है कि हम अपनी स्वाभाविक अथवा अर्जित इच्छाओ के वशीभूत होकर किसी वस्तु विशेष पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। हमारी इच्छाये मूल-प्रवृत्तियो, आदतों अथवा स्थायीभावो से निकलती हैं। आदते और स्थायीभाव रुचि के ही कारण बनते हैं। कहना न होगा कि अवधान और रुचि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम उसी वस्तु पर अपनी चेतना केन्द्रित करते हैं जिसमे हमारी रुचि होती है।

२—अवधान के कुछ विशिष्ट गुण[3]

अवधान के वास्तविक स्वरूप के समझने के लिये उसके कुछ विशिष्ट गुणो को समझना आवश्यक है। ये गुण इस प्रकार हैं :—

(१) उद्योगशीलता[4]—

ध्यान मे उद्योगशीलता का भाव निहित रहता है। जब हम किसी ओर ध्यान देते हैं तो शरीर और मन दोनो से परिश्रम करना होता है। ध्यान पूर्वक किसी पुस्तक के पढ़ने से हमारा मेरुदण्ड बहुधा पहले से कुछ सीधा हो जाता है। मानसिक और शारीरिक परिश्रम का सकेत चेहरे की भाव-भगियो से व्यक्त हो जाता है। किसी विषय की ओर ध्यान लगाने मे हमे कभी-कभी जान बूझकर प्रयत्न करना पडता है। जानबूझ कर प्रयत्न करने मे अधिक मानसिक शक्ति व्यय होती है। जिधर हमारा

1. डम्बिल—द फण्डामेण्टल्स ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय १५, पृष्ठ ३१५।
2. ऐन आउटलाइन ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय ६, पृष्ठ २७१–२७८। 3. Some Special Characteristics of Attention. 4. Presence of Effort.

ध्यान स्वत चला जाता है उसमे शक्ति इतनी कम व्यय होती है कि हमे कुछ पता ही नही चलता। ध्यान पर शारीरिक चेष्टाओ का बडा प्रभाव पडता है। इसीलिये कक्षा मे बालको की मुद्रा पर विशेष ध्यान देने के लिये कहा जाता है। यदि बालक टेढे-मेढे अथवा इधर-उधर झुककर बैठा है तो निश्चय है कि उसका ध्यान पूर्णरूपेण पाठ की ओर नही है। अतः शिक्षक को बार-बार सीधे बैठने के लिये कहना पडता है। वस्तुत. विद्यार्थियो का सीधे न बैठना शिक्षक की असफलता का ही द्योतक है। यदि अध्ययन रुचिकर होता तो विद्यार्थी दत्तचित्त होकर सुनता। किसी वस्तु पर ध्यान देने के समय व्यक्ति मे क्रियात्मक मुद्रा आ जाती है। अत ध्यान देने के लिये हमे क्रियात्मक मुद्रा मे ही बैठना चाहिये। खाट पर लेट कर पढने-लिखने मे हम अपने ध्यान को पूर्णतः एकाग्र नही कर सकते। जो ध्यान को एकाग्र कर अपने अध्यापन-कार्य को अधिक रोचक बनाना चाहते हैं वे शिक्षक बैठने की सुविधा रहते हुए भी स्वभावत खडे होकर ही पढाते हैं।

(२) प्रयोजनता[1]—

ऊपर हम सकेत कर चुके है कि ध्यान में प्रयोजनता निहित रहती है। किसी प्रयोजनवश ही हम किसी ओर ध्यान केन्द्रित करते है। किसी वस्तु की ओर ध्यान देने मे हमारे उद्देश्य की जितनी ही अधिक पूर्ति की आशा दिखलाई देती है, उतनी ही प्रबलता से हम उसकी ओर आकर्षित होते हैं। बालको मे लक्ष्य अथवा उद्देश्य का अभाव रहता है। उनके कार्य बहुधा मूल-प्रवृत्त्यात्मक होते हैं। स्थायीभाव अथवा आदतो का विकास उनमे कम रहता है। अत उनमे ध्यान देने की भी शक्ति प्रौढो की अपेक्षा कम होती है। जो व्यक्ति जितना ही सच्चरित्र होता है, जो सदैव अपने सामने कोई न कोई लक्ष्य रखता है उसमे निश्चय ही दूसरो की अपेक्षा चित्त को एकाग्र करने की अधिक शक्ति होती है। ध्यान की अस्थिरता तो चरित्रविहीनता का लक्षण माना जाता है। जिनके जीवन मे कोई उद्देश्य अथवा लक्ष्य नही होता वे अपने ध्यान को किसी विषय पर सरलता से केन्द्रित नही कर सकते। ऐसे व्यक्ति अस्थिर और अव्यस्थित चित्त के होते हैं।

जिस बालक मे ध्यान की एकाग्रता का अभाव हो उसे उसकी योग्यतानुसार कोई ऐसा कार्य देना चाहिये जिसे वह सरलता से कर सके। इस प्रकार ध्यान केन्द्रित करने की उसकी आदत पड जायगी। यदि शिक्षक अथवा अभिभावक उसे किसी जीवन लक्ष्य की ओर उत्साहित कर सके तो उसके चित्त की अस्थिरता दूर हो जायगी और वह सच्चरित्र हो जायगा।

---

1 Purposiveness

(३) विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति[1] —

अवधान में व्यक्ति की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति होती है। वह वस्तु के विभिन्न अंगों का सूक्ष्मतम अध्ययन करना चाहता है। किसी कविता के अध्ययन में वह शब्दावलियों की विशेषता, अलंकार, रस आदि पर पहले विचार करता है। पूर्णत: ध्यान न देने वाला व्यक्ति कठिन शब्दों का अर्थ जानने की चेष्टा कर कविता का साधारण अर्थ जानने का प्रयत्न करता है। ये दोनों क्रियायें विश्लेषणात्मक हुईं, पर दोनों में मात्रा का भेद है। पहला व्यक्ति कविता में अपना पूरा ध्यान केन्द्रित कर देता है।

(४) संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति[2] —

विश्लेषणात्मक क्रिया के बाद अवधान में संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति आती है। जब तक संश्लेषण नहीं किया जाता तब तक विश्लेषण का उद्देश्य ही पूरा नहीं होता। अत: ये दोनों क्रियायें प्राय: हमारे मन में साथ ही साथ चलती हैं। कविता के विभिन्न अंगों के विश्लेषण के साथ हम उसका एक सुसंगठित ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। किसी भी विषय का ज्ञान अवधान में निहित विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक क्रिया से होता है। अत: अवधान रूपी क्रिया के विश्लेषण और संश्लेषण दो पहलू हैं।

(५) अस्थिरता[3] —

अस्थिरता अवधान का एक विशिष्ट गुण है। किसी एक विषय पर ध्यान एकाग्र करना कठिन हुआ करता है। एकाग्रता की शक्ति वैयक्तिक होती है, तथा विषय की भिन्नता पर निर्भर करती है। कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक देर तक किसी विषय पर ध्यान एकाग्र कर सकते हैं। बालक चञ्चल स्वभाव के होते हैं। अत: उनमें अवधान की शक्ति कम होती है। विषय की गुरुता पर भी अवधान की मात्रा निर्भर करती है। सरल विषय पर ध्यान लगाना बड़ा कठिन है। यदि एक बिन्दु पर ध्यान लगाना हो तो बड़ा कठिन जान पड़ता है। मन इधर-उधर दौड़ता है। ऐसा करना एक साधना की बात होती है। इसी प्रकार की साधना के बल पर जादू दिखलाने वाले अथवा दिव्य दृष्टि वाले अपने प्रयत्न में सफल होते हैं। यदि विषय में कुछ विशेष समझने की बात न हुई तो उसमें ध्यान लगाना कठिन होगा। कक्षा का तीव्र विद्यार्थी जब पाठ याद कर लेता है तो उसका मन नहीं लगता और मन्द बालकों के अध्यापक से प्रश्न पूछने पर मन ही मन खीझता है।

चाहे विषय सरल हो या कठिन, पर उसे समझने में अवधान की चंचलता रुकती नहीं। किसी विषय के समझने के लिये हमें उसके विभिन्न अंगों पर ध्यान देना

1. Analytic Attitude. 2. Synthetic Attitude. 3. Shifting Nature.

होता है। हम विश्लेषण के सहारे विषय को विभिन्न अगो मे बाँट लेते हैं और बारी-बारी से प्रत्येक पर ध्यान देने का प्रयत्न करते हैं। अत यदि कोई चार घण्टे एक विषय पर कार्य करता रहा तो इसका तात्पर्य यह न होगा कि वह चार घण्टे एक ही बात पर ध्यान लगाये रहा। बात यह है कि एक अग पर ध्यान देने के बाद उसका ध्यान सदा दूसरे पर जाता रहा। इस प्रकार उसका ध्यान क्रिया के काल मे अस्थिर ही रहा है। बालक कठिन विषय पर ध्यान नही लगा सकता। अत थोडी देर कार्य करने के बाद उसका ध्यान चचल दिखलाई पडता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वास्तव मे उसका ध्यान उतना ही चचल है जितना कि किसी प्रौढ का। इस बात का प्रमाण किसी प्रौढ को उसकी योग्यता के परे किसी विषय के अध्ययन के लिये देने से मिल सकता है। कठिन विषय के आने पर किसी भी प्रौढ का ध्यान चचल दिखलाई पड सकता है।

मनोवैज्ञानिक प्रयोगो से यह सिद्ध किया जा चुका है कि कम से कम तीन सेकण्ड और अधिक से अधिक पच्चीस सेकण्ड तक ही किसी विषय पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। विषय का तात्पर्य यहाँ विषय के एक विशिष्ट अग से है। पच्चीस सेकण्ड तक किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करना बडे प्रतिभाशाली का काम होता है। साधारणत पाँच-छ सेकण्ड के बाद ध्यान विचलित हो जाता है।

३—अवधान के प्रेरक[1]

किसी वस्तु की ओर हमारा ध्यान दो कारणो से आकृष्ट होता है अन्तरग और बहिरग। इन दोनो को विभाजित करने के लिए कोई निश्चित रेखा नही है। वस्तुत. बहिरग की उत्पत्ति अन्तरग ही से होती है, पर समझने की सुविधा की दृष्टि से हम दोनो पर पृथक-पृथक विचार करेंगे।

अन्तरंग[2] प्रेरक : रुचि

बिंघम का कहना है कि 'रुचि वह प्रवृत्ति है जिससे हम किसी अनुभव मे दत्त-चित्त होकर उसे जारी रखना चाहते है।' बिंघम की उक्ति से हमे अवधान और रुचि का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट दिखलाई पडता है। मैग्डूगल भी कहता है "रुचि छिपा हुआ अवधान हे और अवधान रुचि का क्रियात्मक रूप है। अवधान और रुचि के लिये मस्तिष्क को किसी वस्तु के प्रति इस प्रकार सगठित होना आवश्यक है कि वह वस्तु के विषय मे सोच सके। यह सोचना ऐसा हो कि वस्तु के प्रति ऐसी इच्छा उत्पन्न हो जाय कि उसके लिये कुछ न कुछ क्रिया चलती रहे।"[3] रुचि की क्रियात्मक प्रवृत्ति का

---

1 Incentives for Attention 2. Inner Incentive. 3. ऐन आउटलाइन ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय ६, पृ० २७७।

समर्थन ड्रेवर महोदय इस प्रकार करते हैं "रुचि किसी प्रवृत्ति का क्रियात्मक रूप है।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रुचि अवधान का अन्तरग कारण है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रुचि ऐसा सवेदन है जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है। रुचि होने से कार्य बडी सरलता से किया जा सकता है। कठिन कार्य भी सरल लगता है। किसी कार्य मे हमारा ध्यान रुचि के कारण ही लगता है।

रुचि के भेद

जन्मजात रुचि[1]—

किटसन कहता है कि "रुचि कोई ऐसी रहस्यमयी प्राकृतिक शक्ति नही समझनी चाहिये जो कि जन्म के साथ सदा के लिये निश्चित हो जाती है। रुचियाँ व्यक्ति की ऐसी वृत्तियाँ हैं जिनसे उसकी आदतो का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किसी वस्तु मे रुचि रखने का तात्पर्य उस वस्तु से अपना आत्मसात करना है।" डीवी भी कहता है कि "क्रिया द्वारा अपने को किसी वस्तु से आत्मसात कर देने का प्रयत्न सच्ची रुचि है।" इन उद्धरणो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि रुचि के दो भेद होते है :— जन्मजात और अर्जित। मूलप्रवृत्तिजन्य रुचियो को जन्मजात कहते है। हमारे खाने-पीने की रुचि अथवा बालको की दौडने, भागने, लडने व चिल्लाने की रुचि जन्मजात है। रुचियाँ ज्ञानेन्द्रियजन्य ज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। मूलप्रवृत्तियो और सामान्य प्रवृत्तियो की क्रियाशीलता से हमे कुछ विशिष्ट वस्तुएँ रुचिकर लगती हैं। माँ की रुचि अपने पुत्र मे है। बिल्ली की रुचि चूहे मे होने से वह बिल के पास चुपके से छिप जाती हैं। कुत्ते की रुचि खरगोश मे होने के कारण वह उसके पीछे झाडी-झाडी दौडता है। सर्प की रुचि मेढको मे होती है, इसीलिये कभी उन्हे निगलने के लिये वह कूये अथवा पानी के गड्ढो मे चला जाता है।

अर्जित रुचि[2]—

किसी वस्तु-सम्बन्धी आन्तरिक भावनाओं से जो रुचियाँ उत्पन्न होती हैं वे अर्जित कहलाती हैं, अर्थात् भाव-सवेदन से उत्पन्न रुचियाँ अर्जित कही जा सकती हैं। जन्मजात रुचि से ही अर्जित रुचि उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ; डाक्टर की रोगी मे रुचि अर्जित है। इस अर्जित रुचि का आधार उसकी आत्म-गौरव-सम्बन्धी जन्मजात रुचि हो सकती है अथवा अपनी किसी स्वाभाविक रुचि के पूर्ण करने के लिये वह रोगी मे रुचि रख सकता है। व्यक्ति अपने अर्जित रुचि के कारण किसी विशिष्ट वस्तु की ओर आकर्षित होता है। गाडीवान अपनी अर्जित रुचि के कारण ही तुरन्त समझ लेता है कि गाडी का कौनसा पहिया बिगड गया है। अर्जित रुचि के ही कारण घडीसाज समझ जाता है कि घडी का कौन सा भाग बिगड़ गया है।

जिस वस्तु में रुचि होती है उस ओर हमारा ध्यान शीघ्र आकर्षित हो जाता

---

1. Natural Interest. 2. Acquired Interest.

है। रुचि न होने से वस्तु की ओर हम अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। पेट भरे रहने पर भोजन से हमें अरुचि का अनुभव होता है, पर भूख रहने पर उस पर से दृष्टि हटाते बनता नही। रुचि रहने पर दो-दो बजे रात तक लोग सगीत का आनन्द लेते है, पर रुचि न रहने पर वे शीघ्र ही उठ कर चले जाते हैं। रुचि के न रहने पर विद्यार्थी का ध्यान कक्षा से हट बाहर जाने लगता है, पर रुचि के रहने पर पढाई मे साधारण विघ्न भी उसके लिये असह्य हो जाता है। अत. हरएक पाठ का सम्बन्ध विद्यार्थियो की रुचियों से जोडना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि 'जोड-बाकी' के प्रश्न बेर, आम अथवा अमरूद आदि पदार्थो की सहायता से, बालको को समझाया जाय तो वे शीघ्र समझेंगे, क्योकि बेर, आम और अमरूद आदि वस्तुओ मे उनकी कुछ रुचि है। इसी प्रकार यदि 'जलवायु का किसी देश पर प्रभाव' समझाना है तो बालको के वातावरण से प्रारम्भ करना चाहिये, क्योकि बालक अपने वातावरण से अधिक रुचि रखता है। यदि हम प्रत्येक पाठ को बालक की स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक रुचि का अग बना सकें तो शिक्षा की सारी समस्या बडी सरलता से हल हो जाय।

रुचि का विकास

रुचि का विकास कुछ बातो पर निर्भर होता है। पहले व्यक्ति सबसे अधिक रुचि 'अपने' में रखता है। अत यदि किसी अरुचिकर विषय का सम्बन्ध बालक के 'अपनेपन' से स्थापित कर दिया जाय तो उस विषय मे उसकी रुचि उत्पन्न हो जायगी। मान लीजिये, विज्ञान पढने में बालक की रुचि नही है, तो उसमे उसकी रुचि उत्पन्न करने के लिये उसकी सम्भावनाओ की ओर सकेत करते हुए भावी जीवन मे विज्ञान की उपयोगिता पर उसके सामने प्रकाश डालना चाहिये। बालक अपने भावी जीवन से रुचि रखता है। अत विज्ञान मे उसकी रुचि हो जाना कठिन नहीं।

पूर्ववर्ती ज्ञान से सम्बन्ध—

जिज्ञासा[1] प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए हम कह चुके हैं कि बालक किसी नई वस्तु मे रुचि नही रखता। उसकी रुचि पुरानी वस्तु मे दिखलाई पडने वाली नवीनता से होती है। एकदम नये विषय में उसकी रुचि कभी नही हो सकती। अत नये विषय को उसके पूर्ववर्ती ज्ञान से सम्बन्धित करना आवश्यक है। "ज्ञात से अज्ञात की ओर" के शिक्षा-सिद्धान्त का प्रतिपादन इसी आधार पर किया गया है।

अवधान के बहिरंग प्रेरक[2]

(१) उद्दीपक की तीव्रता[3]—

हमारा ध्यान केवल रुचि से ही आकर्षित नही होता। रुचि न होने पर भी

1. सातवाँ अध्याय देखिये। 2. Outer Incentives of Attention 3. Intensity of Stimulus.

हमारा ध्यान किसी वस्तु की ओर आकर्षित हो जाता है। टीन के छत पर लगूर के कूदने की तीव्र ध्वनि से लेखक का ध्यान लिखने से हटकर एकदम उसी ओर आकर्षित हो गया। मेले अथवा सडक के शोरगुल से किसी का ध्यान आकर्षित नही होता, पर ऊँची ध्वनि से विज्ञापन करने वाला सबका ध्यान आकर्षित कर लेता है। दर्पण में अपनी ही सूरत को भ्रम से चोर समझ लेने के कारण श्यामा 'चोर-चोर' चिल्ला उठी। उसकी ध्वनि से मुहल्ले मे सोने वाले सभी जाग उठे। हर समय रोने वाली आद्या किसी को आकर्षित नही करती, पर जब कुत्ते को देख वह चिल्ला उठती है तो सभी कान खड़े करके पूछते है 'क्या हुआ, क्या हुआ ?' इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्दीपक की तीव्रता से रुचि न रहने पर भी हमारा ध्यान तुरन्त आकर्षित हो जाता है।

(२) उद्दीपक का परिवर्तन[1]—

स्टाउट महोदय का कथन है कि उद्दीपक का परिवर्त्तन व्यक्ति का ध्यान उद्दीपक की तीव्रता की अपेक्षा अधिक आकर्षित कर सकता है। हर समय ध्वनि करने वाली आटे की कल हमारा ध्यान उतना आकर्षित नही करती जितना कि उसका यकायक बन्द हो जाना। अर्थात् उद्दीपक की अधिकता से उसका आकर्षक गुण नष्ट हो जाता है। घडी की टिक-टिक बन्द हो जाती है तो हमारा ध्यान उसके बन्द हो जाने पर तुरन्त चला जाता है। कुशल वक्ता वा शिक्षक ध्यान आकर्षित करने के लिये भावानुसार धीमे स्वर से भी बोलता है। यदि भावावेश मे उच्च स्वर से बोलता हुआ वक्ता बीच में धीमे से कोई भाव व्यक्त करता है तो उसके उद्गार श्रोताओ के हृदय मे घर कर लेते है। कदाचित् पाठकों का ऐसा अनुभव होगा। इस प्रकार उद्दीपक मे होने वाला परिवर्त्तन भी बडी कुशलता से ध्यान आकर्षित कर लेता है।

(३) नवीनता[2]—

वस्तु की नवीनता भी ध्यान आकर्षित करने में सफल होती है। मूछे रखने वाला व्यक्ति जब मूँछ मुडा कर आता है तो उसे देखने पर सबसे पहले हमारा ध्यान उसकी मूँछ पर ही जाता है। बेचारा रामनुग्रह किसी का भी ध्यान आकर्षित नही कर पाता, पर जब स्वच्छता से नये कपडे पहन कर आता है तो सभी लोग उसकी ओर देखने लगते है। नित्य धोती व कुर्त्ते मे स्कूल जाने वाला बालक यदि कभी 'पैण्ट-कोट' मे जाता है तो वह सभी की आँखो का केन्द्र बन जाता है। सडक पर के बिजली के खम्भे अथवा लेटर बॉक्स पुन. रग दिये जाने पर सभी की दृष्टि आकर्षित करते है। शिक्षक अथवा वक्ता से एक ही प्रकार की बात बार-बार सुनते मन ऊब जाता है, पर जब वह विषय परिवर्त्तन कर नई बात कहने लगता है तो हमारा ध्यान

---

1. Change of Stimulus. 2. Newness.

आकर्षित कर लेता है। अत शिक्षको और अभिभावकों को उचित है कि बालको को कुछ बताते समय विषय या विधि मे कुछ नवीनता का पुट अवश्य रक्खे, अन्यथा उनका कथन बालकों पर कुछ भी प्रभाव न डाल सकेगा।

(४) वैपरीत्य[1]—

वैपरीत्य का समावेश उपरोक्त नवीनता ही मे हो जाता है, क्योकि वैपरीत्य मे नवीनता का तात्पर्य निहित है। वैपरीत्य स्वभावत हमारा ध्यान आकर्षित कर लेता है। ध्यान ही आकर्षित करने के लिये खोमचे वाले अपनी बोली कुछ बिगाड कर बोलते हैं। इसीलिए दाँत-मजन, सुरमा, शोधी हरँ, पाचक चूर्ण आदि के विज्ञापन करने वाले विचित्र कपडे अथवा लम्बी नोकीली टोपी पहनते है। बहुत लम्बे, नाटे, मोटे और पतले व्यक्ति सबका ध्यान आकर्षित करते हैं। असाधारण गुण अथवा अवगुण वाले व्यक्तियो की प्रायः चर्चा हुआ करती है। इस प्रकार वैपरीत्य से ध्यान शीघ्र आकर्षित होता है। इसीलिए शिक्षको को अपनी अध्यापन-विधि मे विरोधाभास ले आने का कभी-कभी आदेश दिया जाता है। कविता-पाठ मे समान और असमान पदो की तुलना से बालको के मस्तिष्क मे वाछित सस्कार शीघ्र वैठ जाते हैं। कभी-कभी श्यामपट्ट पर आवश्यकतानुसार बातो का महत्त्व अलग-अलग समझाने के लिये विभिन्न रगो की खडिया का प्रयोग किया जा सकता है। भौगोलिक अथवा ऐतिहासिक मान-चित्रो मे इसीलिए विभिन्न रगो का प्रयोग किया जाता है।

(५) गतिशीलता[2]—

स्थिर की अपेक्षा गतिशील पदार्थ हमारा ध्यान अधिक आकर्षित करते है। एक स्थान पर बैठा हुआ बन्दर हमारा ध्यान उतना आकर्षित नही करता जितना कि मदारी द्वारा अभिप्रेरित इधर-उधर चलता हुआ। खेलते हुए गतिशील कुत्ते चुपचाप सोते हुए की अपेक्षा हमारा ध्यान अधिक आकर्षित करते हैं। मरे हुए स्थिर व्यक्ति को देख कर रीछ उसे केवल सूँघ कर ही चला गया। चुपचाप बैठा हुआ बालक हमे उतना आकर्षित नही करता जितना खेलता और दौडता हुआ। मूर्तिवत् एक स्थान पर खडा होकर पढाने वाला शिक्षक बालको पर उतना अधिक प्रभाव नही डालता जितना कि आवश्यकतानुसार भाव-भगियाँ दिखलाने वाला। जो अध्यापक कई प्रकार की विधियो के प्रयोग मे अपने को इधर-उधर गतिशील रखते है वे अधिक सफलता से अध्यापन कर पाते हैं। यही कारण है कि विद्यार्थियो के सामने कक्षा मे बनाया हुआ मान-चित्र अथवा चित्र घर से तैयार लाये हुए चित्र की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालता है।

---

1 Contrast. 2. Movement.

४—अवधान के प्रकार[1]

अब अवधान के प्रकार पर विचार करना ठीक होगा। मनोवैज्ञानिकों ने जन्मजात और अर्जित रुचियो के आधार पर क्रमश: अनैच्छिक[2] (नॉनवॉलन्टरी) और ऐच्छिक[3] (वॉलन्टरी) अवधान का उल्लेख किया है। अनैच्छिक अवधान के हम दो खण्ड कर सकते है —सहज[4] और वाध्य[5]। ऐच्छिक अवधान के भी दो भाग किये जा सकते हैं :—प्रयत्नात्मक और निष्प्रयत्नात्मक। प्रत्येक का नीचे हम क्रमानुसार वर्णन करेंगे।

(१) अनैच्छिक सहज अवधान[6]—

यह अवधान हमारी जन्मजात रुचियो पर निर्भर होता है। इसका आधार हमारी मूलप्रवृत्तियाँ होती है। ऐसे अवधान मे किसी प्रकार की इच्छा की आवश्यकता नही होती, क्योकि मूलप्रवृत्तियो मे सम्बन्धित वस्तुएँ स्वत. रुचिकर होती हैं। वालक की रुचि खेलने मे होती है। अत साथी को देख वह झट उधर ही घूम जाता है। खेल के आगे वह खाना-पीना सब कुछ भूल जाता है। माता का ध्यान स्वभावत: अपने वालक की ओर चला जाता है। माता कोई दूसरा कार्य कर रही है। बच्चे की ओर उसका ध्यान नही है, पर तनिक भी उसकी दु खद ध्वनि को सुन कर वह उसकी ओर आकर्षित हो जाती है। इस प्रकार का उसका आकर्षण बिना किसी प्रयत्न के स्वाभाविक है। ऐसा अवधान प्राय: सभी चेतन प्राणियो मे पाया जाता है।

(२) अनैच्छिक वाध्य अवधान[7]—

इसमे कोई वाध्य उद्दीपक काम करता है। हमारे पुस्तक पढते समय कही से कर्कश ध्वनि आयी तो हमारा ध्यान स्वत उधर आकर्षिक हो जाता है। इस प्रकार के अवधान मे किसी प्रकार की इच्छा काम नही करती, वरन् उद्दीपन की तीव्रता से व्यक्ति वाध्य होकर उधर आकर्षित हो जाता है। कभी-कभी अन्तर्द्वन्द्व के कारण भी हमारा ध्यान बिना किसी इच्छा के वाध्य होकर अनिच्छित विषय की ओर आकर्षित हो जाता है। एक व्यक्ति को अनायास भय हो गया था कि कोई पुलिस उसकी खोज मे है। बस अब उसका ध्यान बरबस पुलिस मे ही लगा हुआ था। लाख प्रयत्न करने पर भी पुलिस पर से वह अपना ध्यान नही हटा सकता था। इसी प्रकार किसी दुखद स्मृति को भूलने की चेष्टा करने पर भी हमारा ध्यान उसी पर लगा रहता है।

(३) ऐच्छिक प्रयत्नात्मक अवधान[8]—

यह अर्जित रुचि पर आश्रित होता है। हमारे जीवन के प्राय: सभी महत्वपूर्ण

---

1. Kinds of Attention 2. Non-Voluntary. 3. Voluntary. 4. Spontaneous. 5. Forced. 6 Non-voluntary Spontaneous Attention. 7. Non-voluntary Forced Attention. 8. Voluntary Effortful Attention.

कार्य इसी प्रकार के अवधान से होते हैं। कठिन कार्य के करने मे जान पडता है कि उसमें रुचि नही है और हमारा ध्यान बार-बार हट जाया करता है। उदाहरणार्थ, हम एक बहुत ही क्लिष्ट गणित के प्रश्न मे लगे हुए हैं। मन जाकर खेलने अथवा गप्प लगाने को कहता है, पर तब भी हठात् हम अडे हुए हैं। हमे अपनी सकल्प-शक्ति का प्रयोग करना पडता है। जिन कार्यो मे सकल्प-शक्ति प्रयोग करनी होती है क्या उसमे रुचि का अभाव होता है ? कहा जा सकता है कि रुचि न रहने से ही व्यक्ति को हठात् प्रयत्न करना पडता है, पर बात ऐसी नही है। ऐसे कार्यो मे रुचि निहित रहती है। व्यक्ति किसी न किसी उद्देश्य से ही इतना परिश्रम करता है। सम्भव है वह परीक्षा मे सर्वप्रथम आने के लिये इतना परिश्रम करता हो। यह भी हो सकता है कि अपने शिक्षक अथवा अभिभावक को प्रसन्न करने के लिये वह इतना कठिन परिश्रम कर रह हो। जो व्यक्ति जितना ही प्रतिभाशाली होता है वह उतना ही अपनी सकल्प-शक्ति के सहारे अपना ऐच्छिक प्रयत्नात्मक अवधान किसी कार्य मे लगा सकता है। अत इस प्रकार का ध्यान व्यक्ति की प्रतिभा का द्योतक है। ऐसे ध्यान के लिये बालको को सदैव प्रेरणा देते रहना चाहिये।

(४) ऐच्छिक निष्प्रयत्नात्मक अवधान[1]—

यह ध्यान ऐच्छिक प्रयत्नात्मक अवधान से उत्पन्न होता है। जिस कार्य को करते-करते आदत पड जाती है उसमे विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं पडती। जिसे नित्य चौदह-पन्द्रह घण्टे पढने-लिखने का अभ्यास हो गया है उसके लिये इतनी देर तक किसी विषय मे ध्यान लगाये रहना बडा सरल होता है। पहले कोई कार्य कठिन होता है, पर बार-बार प्रयत्न होने से उसे करने की आदत-सी पड जाती है। ऐच्छिक निष्प्रयत्नात्मक अवधान 'स्वभाव मे परिवर्तन' 'आदत' तथा 'स्थायीभाव' के कारण सम्भव होता है। किसी विषय की ओर आदत अथवा स्थायीभाव के कारण हमारी प्रवृत्ति हो जाती है। अत उधर बिना किसी प्रयत्न के हमारा ध्यान जाने लगता है।

५—क्या अवधान विभाजित किया जा सकता है ?

साधारणत लोगो की ऐसी धारणा है कि ध्यान बाँटा जा सकता है। साइकिल चलाते हुए लोग गाना गाते हैं। स्त्रियाँ बुनते हुए दूसरो की बात भी सुनती जाती है। अत इससे प्रतीत होता है कि ध्यान बाँटा जा सकता है, एक ही समय एक से अधिक काम किया जा सकता है। पर ध्यान देने से जान पडेगा कि अभ्यस्त हो जाने से जिस कार्य को किया जाता है उसमे ध्यान देने की आवश्यकता नही होती। साइकिल चलाने अथवा बुनने की आदत पड जाने से उसमे ध्यान देने की आवश्यकता नही

1. Voluntary Effortless Attention.

पड़ती। अवधान की आवश्यकता गाना गाने और दूसरो की बात सुनने मे अवश्य पड़ती है।

अवधान बाँटा जा सकता है या नही यह जानने के लिये कुछ परीक्षण किये गये हैं। एक ही व्यक्ति को एक साथ ही दो प्रकार के कार्य दिये गये। उसे जोडने के लिये कुछ अक देने के साथ ही साथ एक कहानी भी सुनाई गई। यह देखा गया कि वह दोनो में सफल रहा। पर इसका तात्पर्य यह नही हुआ कि उसने एक समय मे दो विषयो पर ध्यान दिया। कुछ व्यक्तियों मे दो कार्य को एक ही मे किसी प्रयोजनवश जोड देने की प्रतिभा होती है। नीचे अवधान के विस्तार पर विवेचन मे इस विषय पर अधिक प्रकाश पडेगा। इस प्रकार की प्रतिभा सब मे नही पाई जाती। यह वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर होती है। एक व्यक्ति को निश्चित समय के भीतर साथ ही वर्णमाला लिखने और अकगणित के जोड करने को दिया गया। यह देखा गया कि वह दोनो काम को एक साथ ही नही कर पाता था। बारी-बारी से एक के बाद दूसरे पर वह अपना ध्यान विभाजित करता था। दोनो काम को साथ ही करने के प्रयत्न मे कुल जितना समय उसने प्रत्येक को अलग-अलग दिया उतना ही समय एक ही बार उसे एक विषय को देने के लिये कहा गया। इस प्रयोग मे देखा गया कि परिणाम पहले से कही अच्छा था। इस बार वह प्रत्येक कार्य मे हर दृष्टि से अधिक सफल रहा। इस प्रयोग से यह सिद्ध हुआ कि एक समय हम एक ही विषय पर ध्यान दे सकते हैं। पाठक ऐसा प्रयोग स्वय करके देख सकते है।

६—अवधान का विस्तार[1]

कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते है कि यदि हम एक समय एक ही वस्तु पर ध्यान दे सकते हैं तो मेज पर रखी हुई पाँच-छ पुस्तको को हम एक ही समय कैसे देख लेते है अथवा मैदान मे तीन-चार बालको को खेलते हुए एक साथ ही कैसे देख लेते है? बात यह है कि व्यक्ति सुविधानुसार पाँच-छः वस्तुओ की एक ही इकाई बना कर उन्हें एक ही बार देख सकता है। कितनी वस्तुओ की एक इकाई बनाई जा सकती है यह वैयक्तिक भिन्नता अर्थात् आयु और मनोविकास पर निर्भर रहता है। परीक्षण द्वारा यह देखा गया है कि कुछ क्षणो के भीतर एक प्रौढ व्यक्ति केवल चार या पाँच वस्तुये देख सकता है।[2] यह तो दृष्टि-सम्बन्धी ध्यान हुआ। श्रवण-सम्बन्धी ध्यान पर परीक्षण करने से ज्ञात हुआ कि एक प्रौढ व्यक्ति शीघ्रता में लगातार दी हुई आठ ध्वनियों को समझ सकता है। बॉनेट ने विभिन्न प्रकार की वस्तुओं मे कई परीक्षण किया और उसने देखा कि व्यक्ति के अवधान का विस्तार विभिन्न वस्तुओ के सम्बन्ध में समान

---

१. Span of Attention. २. मायर्स—टेक्स्ट बुक ऑफ ऐक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ३२२।

ही था। इन परीक्षणो से यह सिद्ध नही होता कि एक समय कई वस्तुओ पर ध्यान लगाया जा सकता है। बात यह है कि व्यक्ति सुविधानुसार पाँच-छः वस्तुओ की एक ही इकाई बना कर उन्हे एक ही समय देख सकता है। जैसे श्यामपट्ट पर बने हुए कई चित्र को हम एक साथ ही देख सकते हैं, अथवा किसी चतुर्भुज की चार भुजाओ की एक ही इकाई बना कर एक ही समय उन्हे देखने में हम समर्थ होते हैं उसी प्रकार पाँच-छः वस्तुओ की एक इकाई मस्तिष्क अपनी सुविधानुसार बना लेता है। इस प्रकार एक ही सूत्र मे बँधी हुई कई वस्तुओ पर एक साथ ही ध्यान लगाया जा सकता है। आयु या अनुभव को बढाने से अवधान के विस्तार मे अन्तर नही आता, वरन् ध्यान में आने वाली वस्तुओ के प्रकार में आ सकता है। उदाहरणार्थ, यदि एक बालक बहुत साधारण पाँच वस्तुओ पर ध्यान लगा सकता है प्रौढ होने पर वह रंग व रूप मे कुछ कठिन पाँच वस्तुओ को अपने ध्यान विस्तार मे ला सकता है।

७—अवधान में विघ्न[1]

कभी-कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति अपने इच्छित विषय पर ध्यान नही लगा पाता। पढ रहा है तो घर मे बच्चा ऊधम मचाने लगा अथवा घर मे कोई बीमार पड़ गया जिसमे उसे अपना बहुत समय देना पडा। ऐसी स्थिति में यदि वह कच्ची लगन अथवा निर्बल कल्पना-शक्ति का हुआ तो मन मार कर बैठ जायगा, अन्यथा वह और प्रबलता से ध्यान लगाने की चेष्टा करेगा। कदाचित् कुछ पाठको का अनुभव होगा कि विघ्न की उपस्थिति में लगन वाले व्यक्ति मे अधिक तल्लीनता आ जाती है। वह अपने आयोजित कार्यक्रम को पूरा करने के लिये विकल हो जाता है। उसका मस्तिष्क अधिक तीव्रता से काम करने लगता है। पाये हुए समय का अधिक से अधिक उपयोग करने की उसे सदैव चिन्ता बनी रहती है। इस चिन्ता के कारण विघ्न के रहते हुए भी व्यक्ति अपने ध्यान को अच्छी प्रकार विषय पर केन्द्रित कर पाता है। एक प्रकार से उसकी पहले से अधिक उन्नति होती है। अत. हम कह सकते हैं कि प्रबल संकल्प-शक्ति वाले व्यक्ति के लिये बाधा आशीर्वाद के रूप मे आती है, पर इसका यह तात्पर्य नही कि बाधा का आह्वान करते रहना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो अपने कार्य में किसी प्रकार की बाधा नही आने देना चाहिये। पर यदि परिस्थितियोवश ऐसी स्थिति आ ही जाय तो घबडाना मानवोचित न होगा। विघ्नो की उपस्थित मे व्यक्ति को अपनी प्रेरणा-शक्ति को जागृत कर कार्य में डट जाना चाहिये। कार्य में बाधा आने से व्यक्ति घबडाये नही इसकी कुछ शिक्षा बाल्यावस्था में दी जा सकती है। शिक्षको को चाहिये कि समय-समय पर विद्यार्थियो के सामने ऐसी कठिन समस्याये रखा करे कि

1. Distraction of Attention.

जिनके हल मे उन्हे वाधा का सामना करना पडे । वाधा के रहते हुए संकल्प-शक्ति द्वारा सफलतापूर्वक कार्य-सम्पादन के लिये वालको को उत्साहित करना शिक्षक का धर्म है।

८—अवधान और शिक्षा

अवधान और शिक्षा मे सम्वन्ध दिखलाने का तात्पर्य यह होगा कि ऊपर कही हुई वातो का यहाँ साराश दिया जाय, क्योकि स्थान-स्थान पर हम शिक्षको के कर्त्तव्य की ओर ऊपर सकेत करते आये है, तथापि पाठको की सुविधा के लिये कुछ कह देना समीचीन दिखलाई पडता है। शिक्षा की सफलता अवधान पर निर्भर होती है। अत. सवसे पहले हम यही समझने की चेष्टा करेगे कि अवधान कैसे लगाया जा सकता है।

(अ) अवधान कैसे लगाया जा सकता है ?

कहना न होगा कि व्यक्ति के जीवन मे प्रवल अवधान-शक्ति की वडी आवश्यकता है। विना इस शक्ति के वह कोई कार्य सफलतापूर्वक नही कर सकता। इस शक्ति का अभाव व्यक्तित्व के ह्रास का द्योतक है। अवधान की जो कुछ हमने अव तक व्याख्या की है उसके आधार पर ध्यान को लगाने के लिए हम कुछ नियमो का उल्लेख कर सकते है। वे इस प्रकार है :—

(१) विषय को बदलते रहना चाहिए—

हम देख चुके हैं कि 'अवधान का स्वभाव चञ्चल होता है'। वहुत देर तक एक ही विपय पर ध्यान लगाना प्राय. असम्भव सा है। हमारा यह अनुभव है कि एक ही विपय पढते-पढते मन शीघ्र ऊव जाता है, पर विपय के परिवर्त्तन करने से ध्यान पुनः लग जाता है। अतः व्यक्ति को सदा कई प्रकार के कार्य मे रुचि रखना चाहिए, जिससे एक मे मन ऊवने से वह दूसरे मे ध्यान लगा सके। यदि वालकों को दस से चार तक एक ही विपय पढाया जाय तो वे कुछ भी सीख न सकेंगे, क्योकि उनका ध्यान किसी विपय पर इतनी देर तक केन्द्रित नही हो सकता। अत. स्कूल का विभिन्न विषयो के लिए समय-विभाजन मनोवैज्ञानिक ही है।

(२) अवधान केन्द्रित करने का अभ्यास करना चाहिये—

ऐच्छिक निष्प्रयत्नात्मक अवधान मे हम देख चुके हैं कि आदत पड जाने पर कठिन से कठिन कार्य मे भी ध्यान लगाना वडा सरल हो जाता है। हम देखते हैं कि प्रारम्भिक दिनों में वालक किसी विपय मे ध्यान लगाने मे असमर्थ दिखलाई पडता है, पर अभ्यस्त हो जाने पर उसकी कठिनाई वहुत कम हो जाती है।

(३) क्रिया के समावेश से अवधान लगाया जा सकता है—

यदि हमारा ध्यान किसी पुस्तक के पढने मे नही लगता तो उसमे से कुछ

उद्धरण लिखने से ध्यान लग जाता है। यदि भाषा पढने मे बालक का मन नही लगता तो प्रश्नोत्तर अथवा सम्वाद की सहायता से उसका ध्यान उसमे लग जाता है, क्योकि इसमे कुछ गतिशीलता आ जाती है। ध्यान स्वय क्रियात्मक प्रवृत्ति का होता है, वह उदासीनता का विरोधी है। अत कार्य मे जितनी ही कार्यशीलता रहेगी उसमें उतना ही अधिक ध्यान केन्द्रित होगा। इस दृष्टिकोण से प्रॉजेक्ट मेथड, डाल्टन प्लान, ऐक्टिविटी मेथड तथा मॉन्तेसरी प्रणाली आदि शिक्षण-विधियाँ बडी मनोवैज्ञानिक दिखलाई पडती है।

(४) रुचि की उत्पत्ति से विषय पर अवधान केन्द्रित किया जा सकता है—

हम देख चुके हैं कि रुचि और अवधान मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो वस्तु रुचिकर होती है उसमे हमारा ध्यान बिना किसी प्रयत्न के लग जाता है। बालक की किसी विषय मे रुचि उत्पन्न करने के लिये उसके जीवन मे उस विपय का महत्त्व समझा देना चाहिए। इस पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है।

(५) ध्यान न लगने पर ध्यान लगाने का हठ न करना चाहिए—

हठात् ध्यान लगाने का फल उलटा होता है। यदि किसी विपय मे ध्यान लगाने की हमारी इच्छा नही होती तो मनोवैज्ञानिक यही होगा कि उस समय उसमें ध्यान न लगाया जाय। प्राय यह प्रत्येक का अनुभव होगा कि जिस विपय की हम चिन्ता नही करना चाहते वही बार-बार आकर मन को आक्रान्त करता रहता है। अत हठ से किसी विपय को मन से हटा कर दूसरे विषय का चिन्तन करने का प्रयत्न करना प्राय व्यर्थ सिद्ध होता है। अत हमे किसी विषय को ध्यान से हटाने की चिन्ता ही छोड देनी चाहिये। उसके प्रति उदासीनता दिखलानी चाहिए, अन्यथा हम जितना ही उसे हटाने की चेष्टा करेंगे वह उतना ही मन को पकडे रहेगा। अच्छा यह होगा कि हम अपना ध्यान दूसरो ओर केन्द्रित कर दे।

(६) बाधा डालने वाली वस्तु के अध्ययन से वांछित वस्तु पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है—

ध्यान लगाने मे जिस विचार द्वारा बाधा उपस्थित होती है उसी विचार के बारे मे ही सोचने लगना इच्छित वस्तु मे ध्यान लगाने का बडा अच्छा उपाय है। यदि हम विघ्न के आने के मनोवैज्ञानिक कारण समझने का प्रयत्न करे तो हमारा ध्यान स्वतः वाछित विपय की ओर लग जायगा। यदि पढाई की ओर ध्यान न देकर विद्यार्थी बाहर की वस्तुओ पर ध्यान केन्द्रित करता है तो शिक्षक का बाह्य वस्तुओ के महत्त्व पर थोडा प्रकाश डालना बडा मनोवैज्ञानिक है। इसमें बालक का ध्यान बाहर से हट कर पढाई की ओर चला आयगा।

(व) अवधान और शिक्षक—

शिक्षक को अपने कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिये बालकों की रुचि का अध्ययन करना आवश्यक है, क्योंकि रुचि पर ही बालकों का अवधान निर्भर होता है। यदि विद्यार्थी का मन किसी पाठ मे नही लग रहा है तो स्पष्ट है कि शिक्षक ने पाठ से बालको की रुचि छोडने मे कुछ भूल की है। शिक्षक को सहानुभूतिपूर्वक यह जानने की चेष्टा करनी चाहिये कि बालक की रुचि क्या है। बालको की रुचियाँ प्राय. नैसर्गिक हुआ करती हैं। अतः उनके अवधान का रूप अनैच्छिक हुआ करता है। उनमें संकल्प की कमी होती है। बालक क्रियाशीलता पसन्द करते है। अत. अपने पाठ मे शिक्षक को प्रयोगो, चित्रो तथा प्रश्नोत्तर द्वारा अधिक से अधिक क्रियाशीलता लाने की चेष्टा करनी चाहिये। तीव्र स्वर से चिल्लाने अथवा मेज पर हाथ पटकने से जो बालको का ध्यान आकर्षित होता है वह क्षणिक होता है। उसका प्रभाव बहुत देर तक नही रहता। अतः शिक्षक को अधिक मनोवैज्ञानिक विधि का सहारा लेना चाहिये। प्रसंगानुसार कभी-कभी जोर से बोलना, फिर स्वर धीमा कर देना या एकदम चुप हो जाना अधिक सहायक सिद्ध हो सकता है।

व्यक्तित्व के विकास के लिये ऐच्छिक अवधान आवश्यक है। यह अर्जित रुचियों पर निर्भर रहता है। नैसर्गिक रुचियाँ तो बालक के पास रहती ही हैं। शिक्षक का प्रधान दायित्व अर्जित रुचियो में है। अर्जित रुचि बालक की नैसर्गिक रुचि के आधार पर उत्पन्न की जा सकती है। वास्तव में अर्जित रुचि उत्पन्न कर ऐच्छिक अवधान का विकास करना ही शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य होना चाहिये, क्योंकि व्यक्तित्व का विकास इसी विधि से अधिक सम्भव है। ऐच्छिक अवधान का विकास स्थायीभाव के विकास से होता है। जिस वस्तु के लिये व्यक्ति में स्थायीभाव रहता है उसमे वह सबसे अधिक ध्यान देता है। स्थायीभाव का विकास आयु और अनुभव पर निर्भर रहता है, पर इसकी नीव बचपन से ही डालने का प्रयत्न करना चाहिये। अत ऐच्छिक अवधान के विकास के लिये शिक्षक को उचित वातावरण उपस्थित कर बालको मे वांछित स्थायीभाव उत्पन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए।

६—थकान[1]

ध्यान न लगने का कारण सदा रुचि का अभाव ही नही होता, वरन् कभी-कभी थकान के कारण भी बालक का ध्यान पाठ मे नही लगता। थकान दो प्रकार की होती है: शारीरिक और मानसिक। पाठ कितना ही मनोरंजक क्यो न हो, पर थकान आ जाने से बालक का ध्यान उस पर से हट जाता है। शिक्षक को यह जानना

1. Fatigue.

आवश्यक है कि बालक का ध्यान किस प्रकार की थकान के कारण विभाजित हो रहा है। वैज्ञानिको का कहना है कि थकान कुछ रासायनिक परिवर्त्तनो के कारण होती है। शारीरिक थकावट मासपेशियो के थकने से उत्पन्न होती है। कार्य करने से मांस-पेशियाँ घिसती हैं और उनके घिसने से 'कार्वनिक एसिड' उत्पन्न होती है। यह एसिड रक्त मे मिलकर एक ऐसा हल्का विष उत्पन्न करती है जिससे शरीर शिथिल पड़ जाता है और व्यक्ति थक सा जाता है। रक्त से 'कार्वनिक एसिड' निकालने का कार्य फेफड़ा करता है। फलत. थकान मे फेफड़े की गति बढ जाती है और व्यक्ति जल्दी-जल्दी साँस लेते हुए दिखलाई पडता है। मानसिक थकान भी रासायनिक परिवर्तन से होती है। इससे भी एक प्रकार का ऐसा विष उत्पन्न होता है जो मस्तिष्क के पूरे भाग से मिल कर व्यक्ति को थका देता है। थकान को नापने के कई प्रयत्न किये गये है। स्पर्श अनु-भव से तथा कलाई की वा थपकी देने की शक्ति को नाप कर शारीरिक थकान को नापने की चेष्टा की गई है। इस नापने के परिणाम से यह जानने की चेष्टा की गई है कि शारीरिक और मानसिक थकावट मे क्या सम्बन्ध है। अभी तक दोनो के सम्वन्ध को नही निर्धारित किया जा सका है। पर इतना मान लिया गया है कि शारीरिक थकान का प्रभाव मानसिक थकान पर पडता ही है, क्योकि शारीरिक थकान के बाद ही मानसिक थकावट आती है। पर किसी विशिष्ट कार्य मे शरीर अथवा मस्तिष्क की थकान एक दूसरे के बराबर नही हो सकती।

मानसिक थकान को भी नापने की चेप्टा की गई है। स्कूल के प्रारम्भ और समाप्ति दोनो बार विद्यार्थियो को श्रुत लेख लिखा कर दोनो बार की भूलो मे तुलना की गई तो ज्ञात हुआ कि थकान के बाद त्रुटियाँ अधिक होती है। एक-एक घण्टे के वाद भी श्रुतलेख लिखा कर थकान का अनुमान लगाया गया। वह देखा गया कि प्रति घण्टे क्रमश ४०, ७०, १२०, और १६० त्रुटियाँ हुई। इस परीक्षण से यह सिद्ध हुआ कि ज्यो-ज्यो थकान बढ़ती है वैसे ही मस्तिष्क भी शिथिल होता जाता है।

१०—थकान और शिक्षा

थकान को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय तो निद्रा और विश्राम है। पौप्टिक भोजन से भी थकान दूर होती है। अत. स्कूल-समय के बीच मे, कुछ चना, दूध, केला आदि विद्यार्थियो को देना बडा ही लाभप्रद है। पाश्चात्य देशो के स्कूलों मे बालको के जलपान का कुछ न कुछ 'प्रबन्ध अवश्य रहता है। हमारे देश मे भी स्कूल के बालको के लिये इस प्रकार का कुछ प्रबन्ध आवश्यक है। स्कूलो की प्रवन्ध-समितियाँ इस पर ध्यान दे तो कुछ भी कठिन नही। कार्य-परिवर्त्तन से भी थकान दूर होती है। अत स्कूलो मे बीच-बीच मे खेलने के लिये अवकाश देने अथवा विभिन्न विषयो के पढाये जाने की विधि मनोवैज्ञानिक और आवश्यक है।

थॉर्नडाइक के अनुसार रुचि और थकान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका कहना है कि रुचि के रहने पर व्यक्ति लगभग बारह घण्टे तक काम कर सकता है। हक्सले के अनुसार तो रुचि के रहने पर व्यक्ति सोलह घण्टे तक काम कर सकता है। जिस प्रकार आदत और अवधान मे सम्बन्ध है उसी प्रकार थकान भी आदत से सम्बन्धित है। किसी कार्य की आदत पड जाने से थकावट जल्दी नही आती। बडी कक्षा के विद्यार्थियो को अधिक देर तर्क स्कूल में पढने की आदत है। अत वे छोटे विद्यार्थियो की अपेक्षा देर मे थकते हैं। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि बालक का ध्यान थकान के कारण विभाजित हो रहा है, अथवा अरुचि के कारण। थकान की पहचान कठिन नही। थक जाने पर बालक मेरुदण्ड सीधा करके नही बैठ सकता। वह जम्हाई या अँगडाई लिया करता है। बालको मे इस प्रकार का चिन्ह देख कर शिक्षक को थकान को दूर करने के लिये समुचित प्रबन्ध करना चाहिये। थकान को दूर करने के सम्बन्ध मे शिक्षक का क्षेत्र कक्षा मे बहुत ही सीमित होता है। विद्यार्थियों के थक जाने पर उसे क्लिष्ट विषय को छोड कर किसी बहुत ही सरल वा मनोरजक विषय को लेना चाहिये, यदि बालको के बहुत थक जाने पर यह भी सम्भव न हो तो प्रधानाध्यापक की अनुमति से उन्हे बाहर मैदान मे थोडी देर तक टहलने के लिये छोड देना चाहिये। कभी-कभी विषय के बहुत मनोरजक होने पर बालको को अपनी थकान का अनुभव ही नही होता और वे कार्य करते ही चले जाते है। शिक्षक अथवा अभिभावक को ऐसी स्थिति भी रोकनी चाहिये नही तो फल हानिकर हो सकता है।

परीक्षणो के आधार पर यह निश्चित किया गया है कि विभिन्न विषयो की कठिनाई अलग-अलग होती है। वेगनट महाशय ने प्रयोग के आधार पर विभिन्न विषयो की थकान का माप किया है। उनके अनुसार यदि गणित की कठिनाई १०० इकाई मानी जाय तो शारीरिक व्यायाम की ६०, इतिहास व भूगोल की ८५, प्रकृति निरीक्षण की ८०, ड्राइङ्ग और धर्म की ७० होगी। केमिसिक महाशय थकान के अनुसार विषयों का क्रम इस प्रकार रखते हैं—शारीरिक व्यायाम, गणित, आधुनिक भाषाये, धर्म, मातृभाषा, भूगोल, इतिहास, सगीत व ड्राइङ्ग। कहने का तात्पर्य यह कि सभी विषयों मे समान शारीरिक व मानसिक परिश्रम की अपेक्षा नही होती। अत स्कूल समयसारिणी (टाइम टेबुल) मे कठिनाई की मात्रा के अनुसार विषयो को स्थान देना चाहिये, अन्यथा विद्यार्थी शीघ्र थक जायेगे। गणित के बाद संस्कृत का पढाना ठीक न होगा, क्योंकि दोनों प्रायः समान रूप से बालक में थकान लाते हैं। पहले व दूसरे घण्टे मे बालक कुछ अधिक ताजे रहते हैं। अत. क्लिष्ट विषयों को जितना ही पहले पढाया जाय उतना ही अच्छा है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

१—अवधान का स्वरूप

अवधान मानसिक क्रिया, ज्ञान प्राप्त करने के लिये अवधान की आवश्यकता, चेतना को किसी वस्तु पर केन्द्रित करना, एक समय एक ही वस्तु पर ध्यान, केन्द्रीय और तटीय चेतना, अवधान के विषय का बदला करना।

अवधान मे प्रयोजनता, अवधान और रुचि से घनिष्ठ सम्बन्ध।

२—अवधान के कुछ विशिष्ट गुण

(१) उद्योगशीलता—

जान बूझकर प्रयत्न करने मे अधिक मानसिक शक्ति, ध्यान पर शारीरिक चेष्टा का प्रभाव, ध्यान देने मे क्रियात्मक मुद्रा।

(२) प्रयोजनता—

प्रयोजनता की प्रबलता से ध्यान का केन्द्रित होना, प्रयोजनता के अभाव में बालको मे ध्यान देने की शक्ति कम, ध्यान की अस्थिरता चरित्रविहीनता का लक्षण।

ध्यान की एकाग्रता के लिये योग्यतानुसार कार्य।

(३) विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति—

ध्यान मे विभिन्न अगो का सूक्ष्मतम अध्ययन।

(४) संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति—

सश्लेषण विना विश्लेषण व्यर्थ।

(५) अस्थिरता—

अस्थिरता विशिष्ट गुण, वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर, विषय की गुरुता, सरल विषय पर ध्यान अधिक देर तक नही।

अवधान की चचलता रुकती नही, कठिन विषय के मिलने पर सबकी चचलता समान।

साधारणत' पाँच-छ. सेकण्ड के बाद ध्यान विचलित।

३—अवधान के प्रेरक

अन्तरंग प्रेरक : रुचि

रुचि छिपा हुआ अवधान, रुचि क्रियात्मक प्रवृत्ति, रुचि से प्रयोजन सिद्ध।

रुचि के भेद

जन्मजात रुचि—

रुचि प्राकृतिक शक्ति नही, आदतो से घनिष्ठ सम्बन्ध, किसी वस्तु से अपने को आत्मसात कर देना रुचि, मूलप्रवृत्तिजन्य रुचियाँ जन्मजात।

अर्जित रुचि—

आन्तरिक भावनाओं से उत्पन्न जन्मजात रुचि से ही अर्जित की उत्पत्ति, अर्जित रुचि के कारण किसी विशिष्ट वस्तु की ओर ध्यान आकर्षित।

रुचि और ध्यान मे घनिष्ठ सम्बन्ध, पाठ का सम्बन्ध विद्यार्थी की रुचि से जोडना।

रुचि का विकास

'अपनेपन' से सम्बन्ध जोडना।

पूर्ववर्ती ज्ञान से सम्बन्ध—

वालक की रुचि पुरानी वस्तु की नवीनता मे।

अवधान के बहिरंग प्रेरक

(१) उद्दीपक की तीव्रता—

उद्दीपक की तीव्रता से रुचि न रहने पर भी ध्यान आकर्षित।

(२) उद्दीपक का परिवर्तन—

उद्दीपक के परिवर्त्तन से ध्यान-आकर्षण।

(३) नवीनता

विपय या विधि की नवीनता ध्यान आकर्षित करने के लिये आवश्यक।

(४) वैपरीत्य—

वैपरीत्य मे नवीनता निहित, वैपरीत्य से ध्यान शीघ्र आकर्पित, समान और असमान की तुलना से ध्यान आकर्पित।

(५) गतिशीलता—

अधिक आकर्पण, अध्यापक का आवश्यकतानुसार गतिशील रहना।

४—अवधान के प्रकार

(१) अनैच्छिक सहज अवधान—

जन्मजात रुचियो पर निर्भर, इच्छा की आवश्यकता नही, वालक का खेल पर ध्यान, माता का वालक पर।

(२) अनैच्छिक वाध्य अवधान—

उद्दीपक की तीव्रता, अन्तर्द्वन्द्व दुखद स्मृति।

(३) ऐच्छिक प्रयत्नात्मक अवधान—

अर्जित रुचि पर आश्रित, सारे महत्वपूर्ण कार्य इसी से, प्रतिभा का द्योतक।

(४) ऐच्छिक निष्प्रयत्नात्मक अवधान—

स्वभाव मे परिवर्त्तन, आदत तथा स्थायीभाव के कारण।

५—क्या अवधान विभाजित किया जा सकता है ?

आदत के कार्य में ध्यान की आवश्यकता नही।

अवधान बाँटा नही जा सकता, कुछ व्यक्ति मे किसी प्रयोजन से दो कार्य को एक ही मे जोड देने की क्षमता, वैयक्तिक भिन्नता, एक समय एक ही पर ध्यान दिया जा सकना।

६—अवधान का विस्तार

कुछ वस्तुओ को एक इकाई में देखना व्यक्ति के लिये सम्भव, यह आयु और मनोविकास पर निर्भर, चार-पाँच वस्तुये देखना, आठ ध्वनियाँ सुनना, आयु या अनुभव बढने से अवधान के विस्तार मे अन्तर नही।

७—अवधान मे विघ्न

विघ्न के आने पर लगनशील व्यक्ति में अधिक तल्लीनता, इसकी शिक्षा बचपन में सम्भव, बालको के सामने कठिन समस्याये उपस्थित करना।

८—अवधान और शिक्षा

(अ) अवधान कैसे लगाया जा सकता है ?

(१) विषय को बदलते रहना चाहिये—

विषय परिवर्त्तन के लिये कई प्रकार की रुचि रखना आवश्यक, स्कूल का समय-विभाजन मनोवैज्ञानिक।

(२) अवधान केन्द्रित करने का अभ्यास करना चाहिये—

(३) क्रिया के समावेश से अवधान लगाया जा सकता है—

क्रियाशीलता से ध्यान केन्द्रित।

(४) रुचि की उत्पत्ति से विषय पर अवधान केन्द्रित किया जा सकता है—

(५) ध्यान न लगने पर ध्यान लगाने का हठ न करना चाहिये—

(६) बाधा डालने वाली वस्तु के अध्ययन से वांछित वस्तु पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है:—

(ब) अवधान और शिक्षक

बालक की रुचि का ज्ञान आवश्यक, बालक की रुचि नैसर्गिक, अत: उसके अवधान का रूप अनैच्छिक, अध्यापन मे क्रियाशीलता लाना आवश्यक।

व्यक्तित्व के विकास के लिए ऐच्छिक अवधान आवश्यक, अर्जित रुचि उत्पन्न

कर ऐच्छिक अवधान का विकास करना शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य, ऐच्छिक अवधान स्थायीभाव पर निर्भर।

९—थकान

थकान के कारण भी ध्यान का न लगना, शारीरिक और मानसिक, थकान रासायनिक परिवर्तन के कारण, शारीरिक थकान का प्रभाव मानसिक थकान पर, दोनो थकान किसी कार्य मे बराबर नही।

थकान से मस्तिष्क भी शिथिल।

१०—थकान और शिक्षा

निद्रा विश्राम, पौष्टिक भोजन, स्कूलो मे जलपान का प्रबन्ध, कार्य परिवर्त्तन से थकान दूर, पढाई के बीच-बीच मे अवकाश, रुचि और थकान, आदत और थकान ध्यान न लगने का कारण, अरुचि या थकान को पहचानना आवश्यक, थकान पर सरल या मनोरंजक विषय।

विभिन्न विषयो की कठिनाई अलग-अलग, सभी विषयो मे समान थकान नही, क्लिष्ट विषयो को पहले पढाना।

सहायक पुस्तकें

१—डम्विल— द फण्डामेण्टल्स ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय १५, १६।
२—गॉल्ट ऐण्ड हॉवर्ड—ऐन आउटलाइन ऑव् जनरल साइकॉलॉजी, अध्याय ५।
३—मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय ९।
४—बैगले—एडूकेटिव प्रॉसेस, अध्याय ६।
५—मायर्स—टेक्स्ट-बुक ऑव एक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, अध्याय २५।
६—सोरेनसन—साइकॉलॉजी इन एडूकेशन, अध्याय १४, १५।
७—नॉल वी० एच०—ए स्टडी ऑव फटीग इन थ्री आवर कॉलेज एविलिटी टेस्ट्स—जर्नल ऑव अपलाइड साइकॉलॉजी, १६ पृष्ठ १७५-१८३।
८—जार्ज, डब्लू० हार्टमैन—इन्टेरेस्ट्स, ऐटीट्यूड्स ऐण्ड आइडियल्स, स्किनर द्वारा सम्पादित एडूकेशनल साइकॉलॉजी (१९४७) अध्याय ४।
९—हॉलिङ्गवर्थ ऐण्ड पोफेन बर्गर—अपलाइड साइकॉलॉजी, अध्याय १०।
१०—मार्गन ऐण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, अध्याय ७।
११—कॉलिन्स ऐण्ड ड्रेवर—ऐक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, अध्याय ७।
१२—डेविड केनेडी फ्रेसर—द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, सेक्शन २, अध्याय २।
१३—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन।

१४—स्पीयरमैन—नेचर ऑव इन्टेलीजेन्स, अध्याय १३, ऐण्ड द प्रिन्सीपुल्स ऑव् कॉगनीशन, अध्याय ११ ।
१५—स्टाउट—एनलिटिक साइकॉलॉजी, भाग १, अध्याय ६ ।
१६—जेम्स—टाक्स टु टीचर्स अध्याय, १० ।
१७—बेण्टन जे० अण्डरउड—एक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, अध्याय १५ ।
१८—राबर्ट्स उडबर्थ—एक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, अध्याय २७ ।
१९—लालजीराम शुक्ल—सरल मनोविज्ञान, अध्याय ९ ।
२०—सरयू प्रसाद चौबे—मनोविज्ञान, अध्याय ११ ।

२०

कल्पन[1]

१—कल्पना का स्वरूप[2]

कल्पना-शक्ति मानव का एक विशिष्ट गुण है। यह शक्ति अन्य प्राणियो में नही पाई जाती। मानव सभ्यता का विकास इसी शक्ति के आधार पर हुआ है। हमारी सारी कलाये और वैज्ञानिक आविष्कार कल्पना के ही बल पर निकले हुए हैं। यदि मनुष्य के पास कल्पना-शक्ति न होती तो कदाचित् वह पशुवत् होता। कल्पना का क्षेत्र इतना व्यापक है कि मनुष्य हर समय इसकी सहायता लेने को बाध्य होता हैं। कल्पना एक मानसिक क्रिया है। साधारणत. कल्पना का तात्पर्य वस्तु की अनुपस्थिति में उस पर विचार करना माना जाता है। इस क्रिया मे प्रत्यक्षीकरण[3] (सविकल्पक प्रत्यक्ष, परसेप्शन) की आवश्यकता नही। कल्पना मे स्मृति का भी प्रभाव दिखलाई पडता है। पर यह स्मृति अथवा प्रत्यक्षीकरण के सदृश् व्यक्ति के बाह्य पदार्थों के अनुभव से बँधी नही रहती। यदि ऐसा होता तो स्मृति और कल्पना मे कोई भेद ही न समझा जाता। मनोवैज्ञानिको के अनुसार कल्पना वह स्वतन्त्र मानसिक क्रिया है जिससे व्यक्ति अतीत अनुभवो के आधार पर अपने मस्तिष्क मे एक नई सृष्टि का निर्माण करता है।

कल्पना से निर्मित इस नई सृष्टि और प्रत्यक्ष पदार्थ मे भेद क्या होता है? कहना न होगा कि प्रत्यक्ष पदार्थ मे अधिक सजीवता और स्थिरता होती है। कल्पना हमारे प्राचीन अनुभव की छाया होती है, अत: उसका चित्र अधूरा होता है। प्रत्यक्ष अनुभव से हम पदार्थो के विषय मे अधिक जानते है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान (परपेप्शन) ज्ञानेन्द्रियो के आधार पर होता है। यदि हम कोई वस्तु देखना चाहते हैं तो आँखे खोलनी ही होगी, छूना चाहते हैं तो हाथ बढाना ही होगा। कल्पना मे हमे प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता नही होती। आँख मूँदे और हाथ समेटे हम प्रतिमा[4] के आधार पर वस्तु की कल्पना कर लेते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क मे वस्तुओ के सम्बन्ध मे जो विचार बनते हैं उन्हे कल्पना कहते हैं। प्रतिमा सदा अतीत के अनु-

---

1. Imagination. 2. The Nature of Imagination. 3. Preception. 4. Image.

भव पर होती है। अत प्रतिमा स्मृति का एक प्रकार है, अर्थात् स्मृति और कल्पना मे घनिष्ट सम्बन्ध है।

कल्पना विभिन्न समय मे प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान के योग के आधार पर होती है। जिस वस्तु का हमने कभी अनुभव नही किया उसकी हम कभी कल्पना भी नही कर सकते। जो जन्मान्ध है वह कभी किसी रग की कल्पना नही कर सकता। बहरा सगीत की स्वर लहरियो को क्या जाने ? बिना किसी वस्तु को चखे हम उसके स्वाद की कल्पना नही कर सकते। यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि कवि लोग कमरे मे बैठ बिना देखी हुई वस्तुओ की कल्पना कैसे कर लेते हैं ? समुद्र की लहरो को उन्होने कभी देखा नही, पर उसका वर्णन कैसे कर लेते हैं ? हिम से आच्छादित पहाड की चोटियो को उन्होने नही देखा है, तथापि सूर्योदय के समय वे उसकी तुलना स्वर्ण पर्वत से देने मे समर्थ होते हैं। यह कैसे ? बात यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा केवल दृष्टि ज्ञान तक ही सीमित नही होती। इसके अन्तर्गत हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियो का अनुभव आता है। कवि ने समुद्र की लहरो का वर्णन कही अवश्य पढा है अथवा सुना है। कवि ने स्वर्ण को देखा है, प्रात काल उदय होते सूर्य की लाल किरणो से भी उसका परिचय है। पहाड का वर्णन उसने कई बार पढा है, सुना भी है अथवा अपने वातावरण मे बहुत से ऐसे ऊँचे ऊँचे टीलो को उसने देखा है जो लघुरूप मे पहाड की याद दिलाते ही हैं। अपने इन सब प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर वह घर मे बैठे ही बैठे विभिन्न वस्तुओ की कल्पना करने मे समर्थ होता है। यह ध्यान देने की बात है कि जिस कवि ने घूम-घूम कर इन सब प्राकृतिक दृश्यो का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। उसकी लेखनी से अधिक सजीवता टपकती है, क्योकि उनका प्रत्यक्ष ज्ञान उसे अधिक स्पष्ट है।

कल्पना का तात्पर्य नई सृष्टि का निर्माण होता है, इसीलिये यद्यपि यह प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित रहती है, पर उससे सर्वथा भिन्न पाई जाती है। अत साधारण व्यक्ति कभी-कभी भ्रम में पड जा सकते है कि ऐसी वस्तु कवि ने कहाँ देखी है कि ऐसा वर्णन उसने किया है। उडवर्थ कहता है कि कल्पना का तात्पर्य "वस्तुओ मे एक नया सम्बन्ध जोडने से है।" जब यह नया सम्बन्ध जुड जाता है तो कल्पना का रूप विचित्र दिखलाई पडता है। इसी नये सम्बन्ध के आधार पर 'नरसिंह' मे आधे सिंह और आधे मनुष्य अथवा 'गणेश' में आधे हाथी और आधे मनुष्य की कल्पना की जा सकी। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यद्यपि कल्पना अतीत के अनुभवो से निकलती है पर उन पर वह निर्भर नही रहती, यदि उसे पर वह निर्भर हो जाय तो स्मृति और कल्पना मे कोई अन्तर ही न रह जाय। स्मृति अथवा प्रतिमा और कल्पना में भारी अन्तर दोनो के उद्देश्य मे है। स्मृति अथवा प्रतिमा का सम्बन्ध केवल अतीत से

होता है और कल्पना का सम्बन्ध, अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनो से होता है। कल्पना के लिए प्रतिमा का होना आवश्यक है और स्मृति के लिए केवल प्रत्यक्ष का। स्मृति का सम्बन्ध किसी देश अथवा काल से होता है। कल्पना देश अथवा काल से सम्बन्धित नहीं होती, वरन् वह एकदम नवीनता का सृजन करती है।

२—सबकी कल्पना शक्ति समान नहीं

सभी व्यक्तियो की कल्पना-शक्ति समान नही होती। "बालको की कल्पना-शक्ति प्रौढो से अधिक तीव्र होती है। कुछ बालको की कल्पना-शक्ति इतनी प्रबल होती है कि वे काल्पनिक और वास्तविक मे भेद को समझने मे असमर्थ होते हैं ... ... हमारे आयु-विकास के साथ कल्पना-शक्ति क्षीण हो जाती है,"[1] क्योकि सासारिक अनुभव प्राप्त करने से वास्तविकता की छाप बढ जाती है। कल्पनाओ के भेद विभिन्न प्रतिमा शक्ति पर निर्भर होते है। जिन व्यक्तियो की दृष्टि-प्रतिमा[2] प्रबल होती है वे आँख से देखी हुई वस्तु की कल्पना सरलता से कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति सफल वैज्ञानिक हो सकते हैं। जिनकी ध्वनि-प्रतिमा[3] प्रबल है वे अच्छे सगीतज्ञ हो सकते हैं। जो स्पर्श-प्रतिमा[4] मे प्रवीण है वे वस्तु के स्पर्शमात्र से उसकी अच्छाई का अनुमान भली-भाँति लगा सकते है। जिनकी क्रिया-प्रतिमा[5] अच्छी है वे बिना क्रियाशीलता के किसी वस्तु की कल्पना सरलता से नही कर सकते। कितने लोगो की सुनी हुई बात उतनी याद नही होती जितनी कि स्वय लिखी हुई। ऐसे बहुत से विद्यार्थी हैं जो किसी बात के लिख लेने से उसे शीघ्र याद कर लेते है। यदि वे दूसरों से उसे केवल सुनते ही रहे तो ठीक प्रकार याद नही कर पाते। घ्राण-प्रतिमा[6] की प्रबलता से कुछ लोग सूँघने मात्र से अनेक वस्तुओ को पहचानने मे सफल होते हैं, क्योकि गध की प्रतिमा उनके मन मे शीघ्र आ जाती है। ऐसे लोग गन्ध की कल्पना अपने मन मे कर सकते हैं। रस-प्रतिमा[7] के आधार पर व्यक्ति विभिन्न पदार्थो के स्वाद की कल्पना करता है। अचार की अनुपस्थिति मे भी हम उसके स्वाद की कल्पना करते हैं और मुँह मे पानी भर आता है।

जिस प्रकार की कल्पना बार-बार मन मे लाई जायगी वही कल्पना दृढ होगी और दूसरी निर्बल पड जायगी। जो किसी विशिष्ट विषय मे प्रवीण होता है उसकी कल्पना-शक्ति सीमित हो जाती है। गाल्टन महोदय का कहना है कि वैज्ञानिक और दार्शनिको की कल्पना-शक्ति का क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है। पाठकों का अनुभव

---

१. मार्गन एण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, पृ० २७६।
2. Visual Imagery. 3. Auditory Imagery. 4. Tactual Imagery. 5. Motile Imagery. 6 Olfactory Imagery. 7. Gastrutory Imagery.

होगा कि विशेषज्ञ लोगो की कल्पना केवल प्राय अपने ही क्षेत्र तक रहती है। जो किसी विषय मे प्रवीण नही होते उनकी साधारण रुचि प्रायः कई विषयो में देखी जाती है। पर यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि केवल साधारण रुचि से ही कोई जीवन मे वास्तविक सफलता नही प्राप्त कर सकता। यदि सभ्यता के विकास मे व्यक्ति को अपना कुछ देना है, और देना अवश्य चाहिये, तो उसे किसी विषय मे विशेषज्ञ होना ही पडेगा। पर इस विशेषज्ञता के साथ उसे अन्य विषयो से विमुख नही हो जाना चाहिये, अन्यथा उसका विकास एकागीय होगा और अपने सृजनात्मक कार्य का विभिन्न विषयो से सम्बन्ध दिखलाने मे वह असमर्थ होगा। अत यह आवश्यक है कि प्रारम्भ मे बालको में अधिक से अधिक कल्पना-शक्तियो के विकास की चेष्टा की जाय, जिससे आगे चल कर जगत के वास्तविक रूप को समझते हुए मानवता के विकास मे वे योग दे सके।

३—कल्पना का वर्गीकरण

कल्पना कई प्रकार की होती है। विभिन्न मनोवैज्ञानिको ने इसका वर्गीकरण अपनी-अपनी धारणानुसार किया है, पर उनके मत का साराश निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है। यह तालिका मैग्डूगल और ड्रेवर के मतो का निचोड है। इसमे आये हुए प्रत्येक पर हम अलग-अलग सक्षेप मे विचार करेगे।
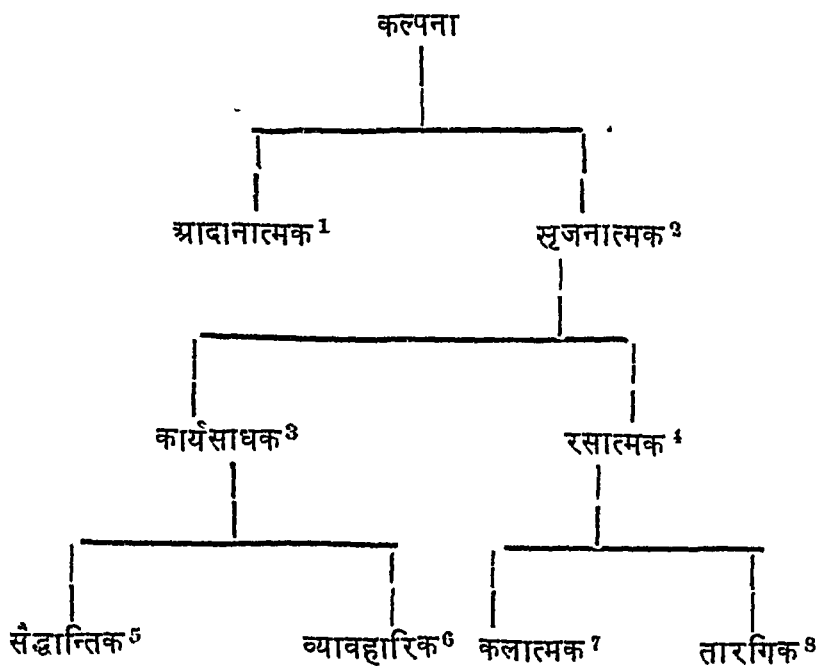
1. Receptive. 2. Creative. 3 Pragmatic. 4 Aesthetic. 5. Theoretical. 6. Practical. 7. Artistic. 8. Fantastic.

(१) आदानात्मक कल्पना--

यह निम्न कोटि की कल्पना है। इसमे व्यक्ति को गहन विचार नही करना पडता। इसी कल्पना के आधार पर शिक्षक विद्यार्थियो को विभिन्न विषयो का ज्ञान कराता है। शिक्षक जो कुछ किसी नये विषय के बारे मे कहता है उसका बालकों को ज्ञान नही रहता। पर उसी से सम्बन्धित उसे कुछ अनुभव अवश्य रहते है। यदि ये अनुभव न रहे तो उसकी समझ मे कुछ न आये। शिक्षक जो कुछ कहता है उससे सम्बन्धित अपने अतीत के अनुभव पर विद्यार्थी सोचता है। बताई हुई बात और अपने अनुभव का वह मस्तिष्क मे तुलनात्मक अध्ययन करता है। इस अध्ययन के आधार पर वह एक नया विचार ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, शिक्षक कहता है कि पृथ्वी गेद के सदृश् गोल है। बालक ने पृथ्वी की परिक्रमा नही की है, अत: वह पृथ्वी की गोलाई की कल्पना नही कर सकता, पर उसने गेद देखी है और गोलाई की कल्पना मे वह अवगत है। अत वह पृथ्वी की गोलाई का तात्पर्य समझ लेता है। उपन्यास अथवा नाटक पढने से पाठक में जिन विचारो का सचार होता है वह आदानात्मक कल्पना के ही कारण होता है। आदानात्मक कल्पना मे विचार दूसरे का रहता है, पर उस विचार के आधार पर व्यक्ति एक नई वस्तु की कल्पना करता है। नयी वस्तु की कल्पना करने के कारण ही इसे कल्पना की सज्ञा दी गई है, अन्यथा स्मृति और आदानात्मक कल्पना मे भेद बहुत कम है। कदाचित् इसीलिये मैग्डूगल ने इसे पुनरुत्पादनात्मक[1] कल्पना कहा है।

(२) सृजनात्मक कल्पना--

ड्रेवर के अनुसार यह आदानात्मक कल्पना से श्रेष्ठ है। इसमे व्यक्ति केवल विचारों को ग्रहण ही नही करता, वरन् नई बातो अथवा सिद्धान्तो का निर्माण भी करता है। कल्पना का सच्चा रूप सृजनात्मक कल्पना मे ही देखा जाता है। यह भी अतीत के अनुभवो पर निर्भर रहती है, पर इसका फल उनसे एकदम स्वतन्त्र होता है। इस कल्पना का सम्बन्ध सदा भविष्य से रहता है। किसी बडे कार्य के करने के लिये इस कल्पना की आवश्यकता होती है। मनोवैज्ञानिको ने इसके दो भाग किये हैं कार्यसाधक और रसात्मक।

(३) कार्यसाधक कल्पना--

रेल, तार, अणुबम, आदि कार्यसाधक कल्पना के ही फल हैं। इसी कल्पना के सहारे व्यक्ति अपने दैनिक जीवन की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति करने में सफल होता है। कार्यसाधक कल्पना के दो भाग किये जा सकते हैं; सैद्धान्तिक और

---

1. Reproductive.

व्यावहारिक । सैद्धान्तिक कल्पना से हम सिद्धान्तो का निर्माण करते-हैं । इससे इञ्जीनीयर यह निश्चय करता है कि भवन अथवा पुल-निर्माण मे किन-किन बातो पर ध्यान देना आवश्यक है, अथवा वैज्ञानिक यह निश्चय करता है कि दूर तक शीघ्र सन्देश भेजने तथा यात्रा करने इत्यादि के लिये किन सिद्धान्तो के आधार पर साधन तैयार किया जा सकता है । सिद्धान्तो की खोज सैद्धान्तिक कल्पना द्वारा की जाती है। इन सिद्धान्तो के अनुसार कार्य कर जो हमे भवन, पुल, रेलगाडी तथा रेडियो आदि देते हैं वे व्यावहारिक कल्पना पर निर्भर रहते हैं । घने बन से जाते समय रास्ता भूल जाने पर ठीक रास्ते का पता लगाना व्यावहारिक कल्पना का काम है । अपने भविष्य का कार्यक्रम हम अपने व्यावहारिक कल्पना के अनुसार निश्चित करते हैं । प्यासा व्यक्ति धोतियो को जोड कर जब कूये से जल निकालता है तो व्यावहारिक कल्पना से काम लेता है । कार्यसाधक कल्पना स्वतन्त्र नही होती । वह जगत्-सम्बन्धी वस्तुओ की अवहेलना नही कर सकती । यदि ऐसा सम्भव होता तो रेल, तार व पुल आदि न बन पाते ।

(४) रसात्मक कल्पना —

इसमें मस्तिष्क एकदम स्वतन्त्र रहता है । कवि अथवा चित्रकार रसात्मक कल्पना के ही सहारे अपनी कृतियाँ उत्पन्न करता है । कवि अथवा चित्रकार वास्तविकता का एकदम उल्लघन नही कर सकता, अन्यथा उसकी कृतियो मे हमारी तनिक भी रुचि न रहेगी, पर वास्तविकता के आधार पर सीमा का थोडा उल्लघन वह कर सकता है । कवि अपनी रचना मे अपने हृदय का उद्गार व्यक्त करता है । इस हृदय के उद्गार मे उसे देश और काल पर ध्यान नही रहता और वह "उडती पत्ती की छाया मे" विश्राम लेना चाहता है । वह भ्रमर और कोयल से बाते करता है । इस लोक मे रहते हुए भी वह स्वर्ग अथवा नर्क मे पहुँच जाने की कल्पना कर लेता है। वर्तमान मे रहते हुए वह अतीत और भविष्य मे पहुंच जाता है । हमारी पौराणिक कथायें रसात्मक कल्पना से भरी पडी हैं । उनमे हजारो मील की दूरी एक क्षण मे पूरी की जाती है । व्यक्ति के रोम-रोम से आग निकल कर सारे ससार को भस्म करने को तैयार हो जाती है । पुरुष मृग का रूप धारण कर लेता है । पर्वत एक स्थान से उठ कर दूसरे स्थान को पहुँच जाता है अथवा विरहिनी नायिका की तापमय श्वास से ससार भस्म होने लगता है । इन सब कथाओं अथवा कवि और चित्रकार की कृतियो के सग मे हम इस जगत के कष्ट को भूल कर आनन्द विभोर हो जाते है ! हम भी उसका रसास्वादन करने में समर्थ होते हैं । ऐसी कृतियो के सृजन मे कवि जगत के अनुभव से सहायता तो लेता है, पर वह अपने को स्वच्छन्द मानता है । जब इस स्वच्छन्दता मे भी वह स्वाभाविकता को एक सम्बद्ध क्रम में रखना चाहता है तो उसकी

रचना कलात्मक होती है और कहा जाता है कि उसकी कलात्मक कल्पना बड़ी अनूठी है। कवि अथवा लेखक जब स्वाभाविकता की सीमा का उल्लंघन कर अपनी तरंगों में गोते लगाता है तो उसकी कल्पना तारंगिक होती है। तारगिक कल्पना में हम आकाश मे उडने और पानी पर दौडने का अनुभव करते हैं। बालकों के खेल मे तारंगिक कल्पना का प्राधान्य देखा जाता है। इस कल्पना से ही उनके विचारो का विकास होता हैं। बालक चारो ओर से नियन्त्रण से घिरा रहता है। वास्तविक जगत उसे सुखद नही प्रतीत होता। कदाचित् तारागिक कल्पनाओ के सहारे वह नियन्त्रण के कष्ट को भूलना चाहता है।

४—कला में कल्पना का स्थान[1]

कल्पना से ही कला का सृजन होता है। कवि की कल्पना जैसी होगी वैसी ही उसकी कला भी होगी। संसार के जितने बड़े काम हुए हैं सब कल्पना से ही निकले है। दार्शनिको और वैज्ञानिकों के सिद्धान्त और कवियो के आदर्श सभी कल्पना के ही फल हैं। सभ्यता को इस सीमा तक ले आने मे कल्पना के आधार पर काम करने वाले दार्शनिक, वैज्ञानिक और कवियो का बडा भारी हाथ है। कल्पना के सहारे व्यक्ति दूसरे के दु.ख को अपना समझ लेता है और अपने को सबसे आत्मसात करना चाहता है। कवि का उद्देश्य क्या है? वह अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियो को दूसरो तक पहुँचाना चाहता है। वह चाहता है कि जैसे वह दूसरो के दु ख को देख द्रवीभूत होता हैं उसी प्रकार दूसरे भी द्रवीभूत हो। वह अपने व्यक्तित्व के बन्धन को तोड दूसरो मे मिल जाना चाहता है। इस प्रकार वह अपने को सर्वात्मा मे मिला देना चाहता हैं। जगत के प्रत्येक चेतन प्राणी से वह आत्मसात् करना चाहता है। अपने और दूसरो मे वह कोई भेद नही देखता। सच्चे कवि का यही लक्षण है। जिस कवि मे कल्पना का अभाव होता है उसकी कविता कोरी शब्द-जाल सी लगती है। वह तनिक भी दूसरे को प्रभावित नही कर पाती। अतः कल्पना कला की आत्मा है। बिना कल्पना के किसी भी कला का निर्माण सम्भव नही। इतना ही नही, वरन् बिना कल्पना के किसी भी चिरस्थायी कृति का होना सम्भव नही।

५—कल्पना और बालक

ऊपर यथास्थान हम कई प्रसग पर बालक-जीवन मे कल्पना के स्थान की ओर सकेत कर चुके हैं। अतः उनको यहाँ दोहराना ठीक न होगा, पर कुछ अन्य आवश्यक बातो की ओर हम पाठक का ध्यान आकर्षित कर देना चाहते है—

कल्पना ही के सहारे बालको की बहुत-सी मूलप्रवृत्तियो की सन्तुष्टि होती है। बालक मे अनुभव की कमी होती है। उसकी कल्पना अधिक स्थूल और सीमित होती

---

1. The place of imagination in art.

है, क्योकि उसके अनुभव मे इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान की ही प्रधानता रहती है। फलतः जिसके सम्पर्क में वह प्रत्यक्षत आता है केवल उन्ही के सम्बन्ध मे वह कल्पना कर सकता है। खिलौने देखने पर ही वह खिलौना की कल्पना कर सकता है। पानी शब्द सुन कर वह भी पानी कहने लगता है। प्रारम्भिक जीवन मे वह इन वस्तुओ का अर्थ नही समझता। विचार-शक्ति के कुछ बढने पर ही वह वस्तुओ के अर्थ को समझने में समर्थ होता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि बालको में तारगिक कल्पना का प्राधान्य होता है। इसी कल्पना के आधार पर आद्या तकिये को बच्चा मान कर खेलाती और दूध पिलाती है और अपनी माँ को भी कभी अपना बच्चा बनाकर नाटक रचने की चेष्टा करती है। बालक अपनी कल्पना के आधार पर किसका स्वाग नही रचता ? राजा, रानी, सिपाही, डाक्टर, तथा घोडा आदि का स्वाग रच कर वह बडा आनन्दित होता है।

६—कल्पना और शिक्षा[1]

कल्पना-विकास और ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा—

सभी प्रकार की कल्पना-शक्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति मे कुछ न कुछ उसकी योग्यतानुसार पाई जाती हैं। यदि हम किसी बात को अपने मन मे दृढ करना चाहते हैं तो यथासम्भव विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो की सहायता से उसे दृढ करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि कोई सम्वाद (डायलॉग) बालको को याद कराना है तो उसे उससे सस्वर पढवाना चाहिये, लिखाना चाहिये तथा रगमच पर खेलाना भी चाहिये। इस प्रकार कई प्रतिमाओ की सहायता से वह सम्वाद उसके मन मे भलीभाँति दृढ हो जायगा। जितनी ही प्रकार की प्रतिमाये बालक मे दृढ होगी उसकी कल्पना-शक्ति उतनी प्रबल और उच्च कोटि की होगी। प्रतिमाओ को दृढ करने के लिये ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा[2] बडी आवश्यक है। अत मॉन्तेसरी प्रणाली में इस पर बल दिया जाना बडा ही मनोवैज्ञानिक है। वास्तव मे छोटे बालको की शिक्षा मे मॉन्तेसरी प्रणाली का महत्त्व इसी से इतना बडा माना जाता है। ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा से प्रतिमाओ का विकास होता है। प्रतिमाओ से कल्पनाशक्ति विकसित होती है। अत सृजनात्मक कल्पना के लिये ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा बडी आवश्यक है।

कल्पना-विकास का भाषा-ज्ञान से बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। बालक ज्यो-ज्यों बात करना सीखेगा उसी के अनुसार उसकी कल्पना का विकास होगा। अत. अभिभावको और शिक्षको को यह देखना आवश्यक है कि बालक के भाषा-विकास मे किसी प्रकार का विघ्न न पडे। जिन बालको को समवयस्क साथियो के साथ खेलने को नहीं मिलता उनका भाषा-विकास पिछड जाता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि माता-

---

1 Imagination and Education. 2. Sense Training.

पिता ऐसे वातावरण में रहें जहाँ बालको के लिये योग्य साथी मिल सके। यदि यह सम्भव न हो तो उन्हें स्वयं नित्य कुछ समय तक बालकों के साथ मनोवैज्ञानिक विधि से खेलना चाहिये जिससे उनका भाषा-ज्ञान विकास पीछे न रह जाय। बालको के साथ बूढो का खेलना सरल नही, पर चेष्टा करने पर यह कम आनन्ददायक वस्तु नही होती। लगभग पाँच वर्ष तक बालको की कल्पना स्थूल पदार्थों के सम्बन्ध मे होती है। क्योंकि इस समय उसके अनुभव मे ज्ञानेन्द्रिय-ज्ञान प्रधान होता है। अतः ऊपर हमने ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा पर बल दिया है।

बालकों को कहानियों से बडी रुचि होती है, क्योंकि उनकी कल्पना तारगिक होती है। कहानियो के सुनने से बालको मे कल्पना का बडा विकास होता है। अतः चुनी हुई ऐसी कहानियाँ उन्हे सुनानी चाहिए जिनसे उनकी कल्पना का विकास हो और भौतिक ज्ञान की वृद्धि भी हो। बालको से कहानी कहने की एक प्रणाली भी होती है। उनसे कहानी इतने धीरे-धीरे कहना चाहिये कि उनके बीच में वे अपनी शंका समाधान के लिए प्रश्न कर सके। प्रश्न पूछने के लिये उन्हे उत्साहित करना आवश्यक है। यह ध्यान रहे कि बालको को जो कहानियाँ सुनाई जाँय उसमें तारगिक कल्पना का प्राधान्य हो—अर्थात् कुत्ते की लोमडी से बातचीत, पहाड़ का उडना, हिरन और शेर की मित्रता, मनुष्य का जानवर का रूप धारण करना आदि ऐसी असम्भव बातो का उल्लेख हो, जिससे उनकी कल्पना को पर्याप्त भोजन मिल सके। बालक की बुद्धि का विकास उसकी कल्पना शक्ति की वृद्धि पर निर्भर करता है। अत सभी मनोवैज्ञानिक साधनो द्वारा कल्पना-शक्ति का विकास करना अति आवश्यक है। परन्तु बालको की कल्पना-शक्ति विकास के सम्बन्ध में कुछ शिक्षा-विशेषज्ञो मे मतभेद है। डा० मॉन्तेसरी के अनुसार बालको की कल्पना-शक्ति का विकास नही करना चाहिए, क्योकि इससे वे ऐसी अव्यावहरिक बाते सीखते हैं जिनका वे भविष्य मे किसी प्रकार का भी उपयोग नही कर सकते। मॉन्तेसरी का कहना है कि 'बालक यो ही कल्पना-प्रधान होता है, अत' उसकी कल्पना-शक्ति को और उत्साहित करना ठीक नही। कल्पना-शक्ति का विकास करने का तात्पर्य बालको को गलत बाते सिखाना है। यदि बाल्यावस्था में गलत संस्कार पड जायेगे तो उन्हे बाद मे दूर करना कठिन होगा। तारगिक कल्पना भरी कहानियाँ सुनाना बालको को वास्तविकता से भगाना है।

डा० मॉन्तेसरी की इस धारणा से हम सहमत नही हो सकते। जान पडता है कि मान्तेसरी प्रणाली में बालक के वास्तविक स्वभाव की अवहेलना की गई है। बालकों का जगत काल्पनिक होता है—उनकी वास्तविकता मे कम रुचि होती है। ज्ञान तथा विचार की वृद्धि से बालक की रुचि काल्पनिक वस्तुओं में अपने आप कम होने लगती है। प्लैतो छोटे बालकों की शिक्षा में कहानी को मुख्य स्थान देता है। वह

कहता है कि घर की वडी वूढी स्त्रियो को अच्छी अच्छी कहानियाँ वालको से कहने के लिए याद करनी चाहिए। फ्रोवेल भी वालको की शिक्षा मे कहानियो को स्थान देना चाहता है। किन्तु वालको को सभी प्रकार की कहानियाँ सुनाना ठीक न होगा। भय उत्पन्न करने वाली, दैत्य, दानव इत्यादि की कहानियाँ उन्हे कभी न सुनाना चाहिए। इससे वे डर जाते हैं और एक प्रकार का भय सदा के लिए उनके मन मे आ जाता है। हमारा भय वचपन के ही कुसस्कारो से उत्पन्न होता है। यदि वाल्यावस्था की शिक्षा मनोवैज्ञानिक विधि से सञ्चालित की जाय तो वालक अपने भावी जीवन मे निर्भीक और निडर होगा। कोई भी काम करना उसके लिये कठिन न होगा। वालक के कल्पना-विकास मे कहानी का स्थान वडा महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक को अपने वच्चो को सुनाने के लिए अच्छी-अच्छी कहानियाँ याद करनी चाहिए। कहानियो के सुनने से ही वालक की कल्पना का, जिस पर उसका भावी जीवन निर्भर है, समुचित विकास होगा।

सृजनात्मक कल्पना की वृद्धि के लिए वालको से छोटी-छोटी कहानियो का अभिनय कराना चाहिए। कल्पना-वृद्धि के साथ-साथ अभिनय से वालको के चरित्र मे नैतिक गुणो का भी समावेश हो जाता है। अभिनय करने वाले और सुनने वाले वालको पर जो सस्कार पडते हैं वे वडी सरलता से मस्तिष्क मे वैठ जाते हैं, पर यह ध्यान रहे कि अभिनय अत्यधिक सवेगात्मक न हो, अन्यथा उनके स्वभाव की गम्भीरता जाती रहेगी।

कलात्मक कल्पना के विकास के लिए वालको मे साहित्य, कविता, सगीत तथा चित्रकला आदि मे प्रेम उत्पन्न करना चाहिए। अव लोगो का ध्यान इधर कुछ जाने लगा है। अत स्कूलो की पाठ्य-वस्तु में रसात्मक कलाओ का समावेश पाया जाता है। रसात्मक कल्पना की वृद्धि साहित्य और सगीत की कक्षाओ मे सरलता से की जा सकती है। कविता पढाने मे शिक्षक को केवल इधर-उधर निर्देश दे देना चाहिए। उसमे कविता मे आये हुए भावो को अनुभव करने की सामर्थ्य चाहिए। अत. सहानुभूति और निर्देश के वल पर वालको को किसी कलात्मक विपय का रसास्वादन कराया जा सकता है। कम से कम ३० या ४० विद्यार्थियो की कक्षा मे कम से कम एक विद्यार्थी तो अवश्य ही ऐसा होता है जिसे कविता और सगीत से विशेष प्रेम होता है। ऐसे वालको को चुन कर निकाल लेना शिक्षक का धर्म है। उनका पता लगाकर उन पर ध्यान देना आवश्यक है। उन्हे कभी-कभी स्वय कविता लिखने, चित्र वनाने और गाना गाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। रसात्मक कल्पना के विकास करने मे यह प्रयत्न रहे कि वालक का जीवन एकागी न हो जाय। सभ्यता का विकास केवल रसात्मक कल्पना से ही सम्भव नही। यदि समाज मे सभी कवि, संगीतज्ञ और

चित्रकार हो जाँय तो मनुष्य की दशा क्या होगी इसकी कल्पना नही की जा सकती। अतः बालक के जीवन मे व्यावहारिकता का पुट ले आना आवश्यक है। इसके लिए उसमे कार्यसाधक कल्पना का विकास आवश्यक है। इस प्रकार की कल्पना की वृद्धि के लिए बडे बड़े इञ्जीनियर, डाक्टर तथा वैज्ञानिको आदि के जीवन चरित्र तथा उनके महत्त्वपूर्ण कार्य से अवगत होना बालको के लिए बडा आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उपयुक्त स्थानों पर ले जाकर बालको को कार्य-साधक कल्पना-सम्बन्धी सफलताओ का स्वयं अध्ययन करने के लिए उत्साहित करना चाहिए। इस प्रकार बालक सूक्ष्म की ओर अग्रसर होगा और उसमे विचार-शक्ति का विकास होगा। जगत की वास्तविक वस्तुओ का उसका ज्ञान भी धीरे-धीरे बढेगा। कल्पना के विकास के लिए हमे बालको को 'विशिष्ट' से 'सामान्य' की ओर ले जाना चाहिए।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

१—कल्पना का स्वरूप

सभ्यता का विकास कल्पना पर, क्षेत्र व्यापक, मानसिक क्रिया, वस्तु की अनुपस्थिति में उस पर विचार करना कल्पना, अतीत अनुभवो के आधार पर नई सृष्टि का निर्माण।

कल्पना प्राचीन अनुभव की छाप, कल्पना में प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता नही, स्मृति और कल्पना मे घनिष्ट सम्बन्ध, जिसका अनुभव नही उसकी कल्पना सम्भव।

कल्पना प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित पर उससे सर्वथा भिन्न, कल्पना अतीत के अनुभवो से—पर उन पर निर्भर नही, स्मृति और कल्पना मे विभिन्न उद्देश्य के कारण अन्तर; स्मृति का सम्बन्ध अतीत से, कल्पना का सम्बन्ध अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों से।

२—सबकी कल्पना-शक्ति समान नहीं

आयु-विकास के साथ कल्पना का क्षीण होना, कल्पना का भेद प्रतिमाशक्ति पर निर्भर।

विशिष्ट विषय की प्रवीणता से कल्पना-शक्ति सीमित, पर विशेषज्ञता के कारण अन्य विषयो से विमुखता का एकागीयता ला देना, बालक मे अधिक कल्पना-शक्ति के विकास की चेष्टा।

३—कल्पना का वर्गीकरण

(१) आदानात्मक कल्पना—

विचार दूसरे का, पर उसके आधार पर नई वस्तु की कल्पना।

(२) सृजनात्मक कल्पना—

नई बातो और सिद्धान्तो का निर्माण, कल्पना का सच्चा रूप, सम्बन्ध भविष्य से, दो भाग कार्यसाधक और रसात्मक ।

(३) कार्यसाधक कल्पना

इसके आधार पर दैनिक जीवन की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक कल्पना, कार्यसाधक कल्पना से वास्तविकता की अवहेलना सम्भव नही ।

(४) रसात्मक कल्पना—

मस्तिष्क स्वतन्त्र, कवि व चित्रकार, देश व काल पर ध्यान नही, पौराणिक कथाये, स्वच्छन्दता मे भी स्वाभाविकता का पुट लाना कलात्मक कल्पना, स्वाभाविकता की सीमा उलघन करना तारगिक कल्पना, बालको में तारगिक कल्पना का प्राधान्य ।

४—कला में कल्पना का स्थान

कल्पना से ही कला का सृजन, दार्शनिक और वैज्ञानिक, सच्चे कवि का लक्षण, कल्पना कला की आत्मा ।

५—कल्पना और बालक

कल्पना के सहारे बालक की बहुत सी मूलप्रवृत्तियो की तृप्ति, उनकी कल्पना स्थूल और सीमित ।

६—कल्पना और शिक्षा

कल्पना-विकास और ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा—

विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो की सहायता से किसी बात को मन मे दृढ करना, विभिन्न प्रकार की प्रतिमाये बालक में पुष्ट करना, प्रतिमाओ को दृढ करने के लिए ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा आवश्यक ।

कल्पना का भाषा-ज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध, अत बालकों के भाषा-विकास में विघ्न नही, प्रथम पाँच वर्ष तक बालक की कल्पना स्थूल वस्तु से सम्बन्धित ।

कहानियो से कल्पना का विकास, कहानी की कला, तारगिक कल्पना का प्राधान्य, बालक की बुद्धि का विकास कल्पना पर निर्भर, मॉन्तेसरी की गलत धारणा ।

बालको को उपयुक्त कहानियाँ सुनाना अति आवश्यक ।

सृजनात्मक कल्पना की वृद्धि के लिये छोटी कहानियो का अभिनय, इससे नैतिक गुणो का विकास ।

साहित्य, कविता तथा सगीत आदि मे प्रेम उत्पन्न करना, निर्देश और सहा-

नुभूति का स्थान, बालक के जीवन मे व्यावहारिकता का पुट ले जाना, कार्यसाधक कल्पना का विकास आवश्यक, विशिष्ट से सामान्य की ओर ले जाना।

सहायक पुस्तकें

१—मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय १०।
२—मॉन्तेसरी—द ऐडवान्स्ड मॉन्तेसरी मेथड।
३—ग्रिफिट्स आर०,—इमैजीनेशन इन अर्ली चाइल्डहूड।
४—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय १५।
५—मार्गन ऐण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, अध्याय १४।
६—ड्रमण्ड—सम कन्ट्रीव्यूशन्स टु चाइल्ड साइकॉलॉजी, अध्याय ६, ७।
७—डेविड केनेडी फेसर—द साइकॉलॉजी ऑव एडूकेशन, अध्याय ४।
८—ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द साइकॉलॉजी ऑव एडूकेशन, अध्याय १०।
९—डम्विल—फण्डामेण्टल्स ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय ६।
१०—नार्सवर्दी ऐण्ड ह्विटले—साइकॉलॉजी आव चाइल्डहूड, अध्याय ९।
११—सरयू प्रसाद चौबे—मनोविज्ञान, अध्याय १९।
१२—सरयू प्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान, अध्याय ७।
१३—सरयू प्रसाद चौबे—किशोर मनोविज्ञान की भूमिका, अध्याय १०, ११।

———

२१

*संवेदना, प्रत्यक्षीकरण और पूर्वानुवर्ती ज्ञान[1]

हमारे शरीर मे चारो ओर तन्तुजाल फैला हुआ है। शरीर का कोई भी ऐसा अंग नही जो इससे अछूता हो। इस तन्तुजाल में ज्ञानवाही[2] और गतिवाही[3] दो प्रकार की नाडियाँ होती हैं। यहाँ हमारा सम्बन्ध ज्ञानवाही नाडियो से ही है। ज्ञानवाही नाडियाँ हमारे सभी ज्ञान के कारण होती है। इसमे क्षति पहुँचने से हमे ज्ञान नही होता। ये ज्ञानवाही तन्तु सुषम्ना[4] से होते हुए मस्तिष्क तक पहुँचते हैं। इसी से हमे ज्ञान होता है। हमारे ज्ञानवाही तन्तुओ के काम मे बँटवारा कर दिया गया है। प्रत्येक के लिये एक विशिष्ट स्थल निर्धारित कर दिया गया है। सब अपने-अपने स्थल से काम करते हैं। स्थल बदल देने से सब उसी प्रकार अयोग्य और असमर्थ सिद्ध होते है जैसे सगीत से एकदम अनभिज्ञ व्यक्ति को कोई गाना गाने के लिये कहा जाय। सूँघने का काम नाक करती है। अत घ्राण-सम्बन्धी ज्ञान के लिये हमे नाक की ही सहायता लेनी होगी। किसी फूल की गन्ध देखने या छूने से नही प्रतीत होगी। रस-ज्ञान के लिये हमे जिह्वा की ही सहायता लेनी पडेगी। कान के बन्द कर देने से ध्वनि-ज्ञान हमे न हो सकेगा।

१—संवेदना और प्रत्यक्षीकरण

हमारी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो से जो हमे ज्ञान होता है उसकी पहली सीढी सवेदना की है। इस ज्ञान का किसी पिछले अनुभव से कोई सम्बन्ध नही। यह ज्ञान शुद्ध ज्ञानेन्द्रियज कहलाता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। हमारे कान मे किसी प्रकार की ध्वनि आ रही है। यदि हम यह समझने मे असमर्थ हो रहे हैं कि यह ध्वनि किधर से आ रही है तो हम यह भी नही समझ पाते कि यह ध्वनि किसी पशु, पक्षी या जन्तु की है। हमे केवल एक ध्वनि का ही अनुमान होता है। हम इस ध्वनि को किसी गत अनुभव से तुलना करने में भी असमर्थ हो रहे हैं। ध्वनि का इस प्रकार का ज्ञान को सवेदना कहा जाता है। यदि हम अपनी ज्ञानेन्द्रियो से प्राप्त किसी ज्ञान की अपने मत, अनुभव या स्मृति से तुलना करने मे समर्थ होते हैं, जब हम यह समझ लेते हैं कि सुनी

---

* 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' और 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' शब्द भी 'संवेदना' और 'प्रत्यक्षीकरण' के लिए क्रमशः प्रयोग किए जाते हैं।

1. Sensastion, Perception and Apperception. 2. Sensory. 3 Motor. 4 Spinal chord.

हुई ध्वनि मोर पक्षी, कोयल अथवा मैना की है, जब हमे कर्कशता, अथवा माधुर्य का कुछ बोध हो जाता है तो हम संवेदना की सीमा को पार कर प्रत्यक्षीकरण मे आते हैं। यह ज्ञान की दूसरी सीढी है। आगे इस पर हम विचार करेंगे।

हमारे सभी ज्ञान के मूल मे सवेदना छिपी रहती है। बिना इस ज्ञान के किसी विशिष्ट क्षेत्र मे हमे किसी भी प्रकार की अनुभूति नही हो सकती। क्या बहरे को सगीत-ज्ञान हो सकता है ? अन्धे व्यक्ति को विभिन्न दृष्टि-सम्बन्धी ज्ञान होना असम्भव है। पशुओ की ज्ञानेन्द्रियाँ मनुष्यो की भाँति विकसित नही होती। अत सभ्यता की दौड मे वे मनुष्यो से बहुत पीछे रह गये है। पर किसी पशु की एक विशिष्ट ज्ञानेन्द्रिय अपने क्षेत्र मे मनुष्यो से अधिक विकसित हो सकती है। उदाहरणार्थ, कुत्ते की घ्राणे-न्द्रिय और गिद्ध की दृष्टि-इन्द्रिय मनुष्य से तीव्रतर होती है। पशु अपनी बहुत सी ज्ञाने-न्द्रियो मे मनुष्य से बहुत पीछे हैं। मनुष्यो मे भी ज्ञानेन्द्रियो की तीव्रता वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर होती है। किसी की श्रवण-ज्ञानेन्द्रिय दूसरे से तीव्र होती है तो किसी की घ्राण की। सगीतज्ञ की श्रवणेन्द्रिय सामान्यत· दूसरे से तीव्र होती है। इत्र बेचने वाले की घ्राणेन्द्रिय दूसरो से तीव्र हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभ्यास से ज्ञानेन्द्रिय की तीव्रता और कुशलता मे कुछ परिवर्त्तन किया जा सकता है। ज्ञाने-न्द्रियाँ जन्मजात् होती है। अत इनमे परिवर्त्तन की एक सीमा रहती है। अभ्यास से अन्धे को ज्योति नही दी जा सकती। अभ्यास से बहरा अपनी कर्णपटुता नही बढा सकता।

२—सवेदना के प्रकार

विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो के आधार पर सवेदना का निम्निलिखित वर्गीकरण किया गया है —

(१) दृष्टि[1] सवेदना
(२) ध्वनि[2] ,,
(३) घ्राण[3] ,,
(४) स्वाद[4] ,,
(५) स्पर्श[5] ,,

इन्ही पाँच ज्ञानेन्द्रियो के आधार पर मनोवैज्ञानिको ने सवेदना पर ऐसे परी-क्षण किये जिनसे नई नई बातो का पता लगा है। प्रयोगो के आधार पर स्पर्श-ज्ञान के कई प्रकार माने गये हैं जैसे—

(१) भार[6]
(२) पीडा[7]

---

1. Visual. 2. Auditory. 3. Olfactory. 4. Taste. 5. Tactual. 6. Pressure. 7. Pain.

(३) उष्णता[1]
(४) शीत[2]
(५) गति[3]
(६) सन्तुलन[4]
(७) आन्तरिक आवयविकी क्रिया[5]

पाँच ज्ञानेन्द्रियो के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिको ने मनुष्य की एक छठी शक्ति का भी उल्लेख किया है। यह गति-सम्बन्धी[6] शक्ति है। व्यक्ति अँधेरे में कोई वस्तु उठाने के लिये हाथ बढाता है तो उसका हाथ प्राय वस्तु की दूरी तक ही पहुँचता है। ऐसा उसकी 'देशानुभव की शक्ति' से ही होता है। मनोवैज्ञानिको की धारणा है कि उपर्युक्त शक्तियो के कारण मनुष्य को विभिन्न प्रकार की 'सवेदनाएँ' उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी वे दूसरे कार्यों के साथ मिल जाते है और उन्हे पहचानना कठिन हो जाता है।

३—'संवेदना' के भाग

'सवेदना' हमारे अनुभव का सरलतम भाग है। अत इसका सूक्ष्मतम विश्लेपण करना बडा कठिन है। पर मनोवैज्ञानिको की धारणा है कि एक 'सवेदना' मे गुण[7] तीव्रता[8], काल[9] और विस्तार[10] भाग पाये जा सकते हैं। प्रथम तीन भाग तो प्रत्येक मे पाया जाता है, पर अन्तिम अर्थात् 'विस्तार' किसी में नही भी हो सकता। वस्तुतः इन भागो का किसी 'सवेदना' भाग से अलग करना बडा ही कठिन है। उदाहरणार्थ, दृष्टि 'सवेदना' मे नीला, पीला, हरा इत्यादि गुण-सम्बन्धी हमारा अनुभव हो सकता है। यदि इस गुण को हम निकाल दे तो 'सवेदना' होगी ही नही। तीव्रता की भिन्नता उसके गहरे अथवा हलके पीलेपन में देखी जा सकती है। काल का तात्पर्य यह है कि पीला या हरा रग कितनी देर तक दृष्टिगोचर रहा या ध्वनि से सम्बन्ध मे हम कह सकते हैं कि यह एक मिनट या पाँच मिनट तक सुनाई पडी। समय की मात्रा प्रत्येक 'सवेदना' के लिए अलग-अलग होती है। विस्तार का भाग किसी-किसी 'सवेदना' मे नही भी हो सकती। सम्भव है कि 'दृष्टि सवेदना' में विस्तार न हो। ध्वनि का दूर तक सुनाई देना 'विस्तार' कहा जायगा। सगीत की ध्वनि हम कुछ ही गज के विस्तार मे सुन सकते हैं, पर बिजली के भोपू की ध्वनि मीलो तक सुनाई पडती है।

४—वेबर-फेचनर का नियम[11]

'सवेदना' किसी वाह्य उद्दीपक से होती है। इस उद्दीपक की प्रबलता पर

---

1 Heat. 2. Cold. 3. Conative. 4 Balance. 5. Organic 6 Kinaesthetic or Movement. 7. Quality. 8. Intensity. 9. Duration. 10. Extensity. 11. Weber-Fechner Law.

'सवेदना' की तीव्रता निर्भर होती है। वेवर महोदय ने कई प्रयोगो द्वारा इस प्रवलता और तीव्रता के सम्वन्ध को समझने का प्रयत्न किया है। फेचनर ने भी कई परीक्षण करके वेवर के निष्कर्षो का और भी स्पष्टीकरण किया। वेबर-फेचनर की धारणा है कि ज्ञानेन्द्रियो के अनुभव करने की एक अधिकतम[1] और न्यूनतम[2] सीमा होती है। इन दोनो सीमाओ के भीतर ही किसी उद्दीपक का व्यक्ति अनुभव कर सकता है। प्राय. हमारा यह नित्य का अनुभव है कि कुछ छोटे कीडे के शरीर पर बैठ जाने पर हम उनके भार को एकदम अनुभव नही करते। जब तक उस पर दृष्टि न जायगी तब तक हम जान ही नही सकते कि वे हमारे शरीर पर है। अर्थात् ये कीडे व्यक्ति की न्यूनतम सीमा के नीचे हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अधिकतम और न्यूनतम सीमा मे उसी प्रकार भेद रहेगा जैसे प्रत्येक के 'सवेदना' मे भेद रहता है। जिनकी स्पर्शेन्द्रियाँ बहुत ही तीव्र होती हैं उन्हे साधारण से उद्दीपक का भी अनुभव हो जाता है। तथापि उनकी अनुभूति की भी एक सीमा होती है। अधिकतम और न्यूनतम सीमा का तात्पर्य इस उदाहरण से स्पष्ट हो सकता है : किसी एक व्यक्ति के हाथ पर बेला फूल की एक वहुत छोटी पखडी रखी गई। बहुत सम्भव है कि वह अपने शरीर पर उस पखडी की उपस्थिति का अनुभव न कर सके। यही बात अधिकतम सीमा के भी विषय मे कही जा सकती है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति की भार सहने की अधिकतम शक्ति डेढ मन की है, तो डेढ मन के ऊपर चाहे जितना भार उसके ऊपर रख दिया जाय उसका वह कुछ भी अनुभव न कर सकेगा। इसी बात को वेबर एक नियम द्वारा स्पष्ट करते है। उनका कहना है कि "उद्दीपक के अनुपात के अनुसार ही वृद्धि या कमी होने से 'सवेदना' के भेद का ज्ञान हो सकता है।"[3] उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति पर एक सेर तौल का एक लोहे का टुकडा रख दिया गया। यदि इस लोहे के टुकडे पर आधा छटाक और रखा जायगा तो सम्भव है कि उसका वह कुछ भी अनुभव न कर सके, पर यदि एक छटाँक रख दिया जायगा तो तौल का भेद वह तुरन्त जान जायगा। इसी प्रकार जिस कमरे मे सौ दीपक जल रहे हो उसमें दो और जोड या घटा देने से प्रकाश मे कोई अन्तर प्रतीत नही होगा। पर यदि कमरे मे चार ही दीपक जलते हो और दो उसमे और जला दिये जॉय या घटा दिये जाँय तो अन्तर शीघ्र समझ मे आ जायगा। इन उदाहरणो से यह जान पडता है कि उद्दीपको के अन्तर का ज्ञान जानने के लिए उनमे किसी अनुपात के अनुसार ही परिवर्तन करना होगा। यह अनुपात विभिन्न प्रकार की उद्दीपक के साथ पृथक् होगा। परीक्षण के आधार पर यह निश्चय किया गया है कि "ध्वनि के भेद को जानने के लिए मूल उद्दीपक का एक तिहाई,

---

1. Maximum limit. 2. Minimum limit. 3. ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, पृष्ठ १००।

उठाये हुए तौल का तीसवाँ भाग तथा उँगलियो के दबाने मे बीसवाँ घटाना या बढाना होगा।"[1]

५—ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा

गत अध्याय मे ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा के महत्त्व की ओर हम कुछ सकेत कर चुके हैं। हमारी सभी अनुभूतियो का आधार ज्ञानेद्रियाँ ही हैं। बालक का अनुभव बहुत सीमित होता है, क्योकि उसकी ज्ञानेन्द्रियो का विकास धीरे-धीरे होता है। बालक को सबसे पहले स्पर्श-ज्ञान होता है। हाथ व पैर फैला कर वह इधर-उधर छूना चाहता है। उसे गोद मे लीजिये तो वह बार-बार आप का मुँह, नाक व कान पकडने की चेष्टा करेगा। सबसे पहले स्पर्श द्वारा वह अपनी माँ को पहचानने मे समर्थ होता है। स्पर्शेन्द्रिय-ज्ञान के बाद दृष्टि-ज्ञान की बारी आती है। तीन-चार महीने का बालक प्रकाश से आकर्षित होता है। घर में जलते हुए दीपक की ओर एकटक से वह देखता रहता है। माताएँ और दाइयाँ जानती होगी कि दीपक बुझा देने पर आठ-दस महीने का बालक कभी-कभी रोने लगता है और जला देने पर फिर चुप हो जाता है। फिर वह वस्तुओ को देखने लगता है। लाल और हरा खिलौना सामने रखने पर वह लाल की ओर अधिक आकर्षित होता है। दृष्टि-ज्ञान की दूरी भी धीरे-धीरे बढती है और वह दूर तक देखने लगता है, और दूर ही से माँ को आते-जाते देख कर पहचान जाता है। इस प्रकार बालको की ज्ञानेन्द्रियो का विकास एक क्रम से होता है। यदि शिक्षा मे इस क्रम की अवहेलना की गई तो फल अच्छा न होगा।

ज्ञानेन्द्रियो का स्वास्थ्य और शिक्षक का कर्तव्य—

ज्ञानेन्द्रियो को शिक्षा देने के पहले उनके स्वास्थ्य के बारे मे निश्चय कर लेना बडा आवश्यक है। यदि बालक की दृष्टि दोषयुक्त हुई अथवा वह ऊँचा सुनने वाला हुआ तो शिक्षक का प्रयत्न व्यर्थ जा सकता है। इस विषय मे शिक्षक, डाक्टर का काम नही कर सकता। उसका कर्त्तव्य केवल रोग का पता लगा कर उसके आवश्यक उपचार के लिये अभिभावको को आवश्यक सम्मति दे देना है। कभी शिक्षक की अनभिज्ञतावश कक्षा मे बालक के इस दोष पर कुछ ध्यान ही नही दिया जाता। दोषयुक्त आँख और कान वाले बालको को कक्षा में सदा आगे बैठाना चाहिये। पीछे बैठने से श्यामपट्ट पर लिखी हुई बातो को पढने मे उन्हे बल देना होता है जिससे उनकी आँखे और निर्बल हो जाती हैं। पीछे बैठने से वे ठीक सुन भी नही पाते। फलत अधिकतम लाभ उठाने मे वे असमर्थ होते हैं।

बालक स्वभावत बडा चञ्चल दिखलाई पडता है। कदाचित् प्रकृति ने उसे जानबूझ कर चचल बनाया है जिससे इधर-उधर चल-फिर कर विभिन्न पदार्थो का वह

---

१. मायर्स—टेक्स्ट बुक ऑव् एक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, भाग १, पृष्ठ २४५।

ज्ञान कर ले। अभिभावको को उचित है कि बालको की चचलता मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न करे, क्योकि इससे उनकी ज्ञानेन्द्रियो की स्वाभाविक क्रियाशीलता मे अडचन पडती है और उनके मनोविकास के अवरुद्ध हो जाने का डर रहता है। वातावरण के प्रभाव पर हम सकेत कर ही चुके हैं। वातावरण बालको के लिये ऐसा आकर्षक हो कि वे हर समय कुछ न कुछ करने की चेष्टा किया करे। जो अभिभावक अपने बच्चो के लिये विभिन्न खेलो और खिलौनो का आयोजन कर देते है वे ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा के लिये सारा उपकरण उपस्थित कर देते हैं। ऐसे लोगो के घर के बच्चो को देखा जाय तो उन्हे सदा कुछ न कुछ करते हुए पाया जायगा। वे गेद, खिलौने के घोडे, हाथी, मोटर आदि से बहुधा खेलते हुए पाये जाते हैं। जो अभिभावक इस पर ध्यान नही देते उनके बच्चे अपनी माँ को तग करते, रोते तथा अपने सीमित वाता-वरण मे इधर-उधर चलते-फिरते पाये जाते हैं। ऐसे बालको की ज्ञानेन्द्रियो का समु-चित विकास सम्भव नही।

फ्रोबेल और मॉन्तेसरी ने ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा की आवश्यकता पर विशेष प्रकाश डाला है। इस विषय में मॉन्तेसरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मॉन्तेसरी ने अपने शिक्षा-सिद्धान्तो को सिगमण्ड की खोजो पर आधारित किया है। परीक्षणो के आधार पर सिगमण्ड ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मन्द बुद्धि बालको का शिक्षा का प्रधान आधार ज्ञानेन्द्रियाँ ही होनी चाहिये, क्योकि इनके विकास पर ही उनकी कल्पना और बुद्धि की वृद्धि हो सकती है। मॉन्तेसरी का मत है कि छोटे-छोटे अर्थात् लगभग ढाई से सात वर्ष के बालको को व्यावहारिक जीवनोपयोगी कार्य स्वय करने के लिये उत्साहित करना चाहिये। वह शिक्षोपकरण[1] से ज्ञानेन्द्रियो को शिक्षित करना चाहती है। ज्ञानेन्द्रियो को शिक्षित करने के लिये मॉन्तेसरी ने जिन साधनो की ओर सकेत किया है वे बडे ही मनोवैज्ञानिक है और छोटे बालको की शिक्षा के लिये उसका उप-योग बडा ही लाभप्रद है। मॉन्तेसरी बच्चो को सबसे पहले रूप व आकार का ज्ञान देना चाहती है। इसके लिये मॉन्तेसरी स्कूल मे बच्चो से मेज, कुर्सी, दरवाजा, खिडकी आदि ठीक करवाया जाता है। इसके बाद लगाना-खोलना तथा फीता बाँधना सिखलाया जाता है। लकडी के छोटे व बडे कुन्दो[2] की सहायता से उन्हे लम्बाई व चौडाई का ज्ञान दिया जाता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि-ज्ञानेन्द्रिय शिक्षित की जाती है। रग का ज्ञान देने के लिये उनके समक्ष कुछ आकर्षक रगों के चौसठ कार्ड रखे जाते हैं। रग को पहचान कर वस्तु का नाम बतलाने के लिये उन्हे उत्साहित किया जाता है। कठोर कोमल, गर्म तथा ठण्डे वस्तु से उनकी स्पर्शेन्द्रिय शिक्षित की जाती है। स्पर्श ज्ञान के समय आँखे बन्द कर दी जाती हैं। मॉन्तेसरी का विश्वास है कि ज्ञानेन्द्रियो को प्रबल

1. Didactic Materials. 2. Blocks

वनाने के लिये उन्हे अलग-अलग शिक्षित करना चाहिये। धीमी तथा तीव्र ध्वनि की पहचान वालू, पत्थर के टुकड़े तथा अनाज के दानो को डब्बे में वन्द कर वजाने से कराया जाता है। छोटी-छोटी समान आकार की टिकियो की सहायता से तौल-ज्ञान दिया जाता है। उपर्युक्त विवेचन से यह जान पड़ता है कि मॉन्तेसरी स्व-शिक्षा[1] को शिक्षा का सबसे बडा सिद्धान्त मानती है। वह वच्चे मे आत्म-निर्भरता, अध्यवसाय तथा एकाग्र-शक्ति उत्पन्न करना चाहती है। मॉन्तेसरी बच्चो को एक सीमित क्षेत्र मे पूरी स्वतन्त्रता दे देती है। "यदि मॉन्तेसरी स्कूल को 'वच्चो का स्वराज्य' कहे तो अत्युक्ति न होगी।"[2]

मॉन्तेसरी प्रणाली की आलोचना—

मॉन्तेसरी प्रणाली की उपयोगिता तो सिद्ध हो चुकी है और आज प्रत्येक शिक्षित देश मे मॉन्तेसरी स्कूलो के खोलने की धुन है। पर उसकी प्रणाली में कुछ दोप दिखलाई पडते हैं जिनसे अवगत होना प्रत्येक अभिभावक और शिक्षक के लिये आवश्यक है। यद्यपि इन दोषो का सूक्ष्मतम विश्लेषण करना इस पुस्तक की सीमा के बाहर है, पर उन पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक जान पडता है। मॉन्तेसरी ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा पर आवश्यकता से अधिक महत्व देती है। प्रारम्भ मे मॉन्तेसरी ने मन्द बुद्धि के बालको को पढाना प्रारम्भ किया था और उसके निष्कर्ष प्राय इन्ही पर किये गये परीक्षणो के आधार पर वने हैं। ऐसे बालको की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ दूसरी ज्ञानेन्द्रियो के प्रभावो से पृथक करके कुछ सीमा तक शिक्षित की जा सकती हैं, पर सामान्य बालको के सम्बन्ध मे ऐसा करना युक्तिसगत नही दिखलाई पडता। साधारणत हम कोई भी एक ज्ञानेन्द्रिय-ज्ञान दूसरे ज्ञानेन्द्रिय-ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र नही पा सकते। स्टर्न महोदय का कथन इस प्रसग मे बडा हृदयग्राही है। उनका कहना है कि वालको का वातावरण सकुचित होना ठीक नहीं। बालको के ज्ञानेन्द्रिय-ज्ञान को विभिन्न प्रकार से परिपक्व करने की चेष्टा करनी चाहिये। प्रत्येक स्कूलो को ऐसे वातावरण का आयोजन करना वडा आवश्यक है। पर उपर्युक्त दोप के होते हुए भी मॉन्तेसरी प्रणाली का बालक की शिक्षा में बडा महत्त्व है। मॉन्तेसरी ने ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा के लिये हमे सब से पहले एक निश्चित और सुसगठित कार्यक्रम दिया। रूसो और फ्रोबेल ने भी इस ओर सकेत किया है। फ्रोबेल के किण्डरगार्टेन की उपयोगिता तो अब भी मानी जाती है। पर मॉन्तेसरी प्रणाली का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। मॉन्तेसरी से प्रेरणा लेना सदा लाभप्रद होगा। यदि अभिभावकगण मॉन्तेसरी प्रणाली के सिद्धान्त को अनुसार छोटे बालको के खेल का आयोजन करे तो उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ घर पर ही वहुत कुछ

---

1. Self-Teaching. 2 लेखक द्वारा रचित—"पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास,' द्वितीय सस्करण, पृष्ठ, ३४२।

शिक्षित हो जॉयगी। यदि मॉन्तेसरी स्कूल पर्याप्त सख्या में हमारे देश मे फैल जॉय तो बालको का और साथ ही साथ राष्ट्र का बडा कल्याण होगा। वस्तुत. जिस प्रकार सुसज्जित सेना रखना रक्षा हेतु एक राष्ट्रीय आवश्यकता है उसी प्रकार बालको की प्रारम्भिक शिक्षा के लिये मॉन्तेसरी स्कूलो का खोलना एक राष्ट्रीय आवश्यकता है। राष्ट्र का कल्याण भावी नवयुवको पर ही निर्भर होता है। यह निश्चय है कि यदि बालको की ज्ञानेन्द्रियॉ प्रारम्भ मे ही मनोवैज्ञानिक अवसर पर शिक्षित कर दी जॉय तो स्कूल मे पाये जाने वाले मन्द बुद्धि बालको की सख्या कम हो जाय, क्योकि ऐसी शिक्षा मे कुछ मन्द बुद्धि वालक भी साधारण स्तर पर आने मे अवश्य समर्थ होगे।

६—प्रत्यक्षीकरण (परसेप्शन)

१—स्वरूप—

प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप की ओर थोडा हम सकेत कर चुके हैं। सवेदना ज्ञान के आधार पर होती है। सवेदना शुद्ध ज्ञानेन्द्रियजन्य ज्ञान होता है। इससे हमारे प्राचीन अनुभूतियों से कोई सम्बन्ध नही। इससे हमे किसी वस्तु का पूरा ज्ञान नही हो पाता। हम वस्तु को देखते हैं, स्पर्श करते हैं, सुनते हैं, सूँघते तथा चखते हैं पर यह निर्णय नही कर पाते कि वह वस्तु क्या है। जब हम इस निर्णय की स्थिति पर पहुँच जाते हैं तो हमे प्रत्यक्षीकरण होता है। उद्दीपक के मिलने पर हमे सवेदना होती है। यह ज्ञान मस्तिष्क के पूर्व सचित सस्कारो को जगा देता है। इन सस्कारो के बल पर हम सवेदना की अपने पुराने अनुभवो से तुलना करते हैं। इस तुलना के फलस्वरूप वस्तु का जो निश्चित चित्र हमारे मस्तिष्क पर पडता है वह प्रत्यक्षीकरण है। प्रत्यक्षीकरण मे वस्तु को हम ठीक-ठीक पहचान लेते है कि यह पेन्सिल, फाउन्टेन पेन अथवा साधारण कलम है। उदाहरणार्थ, हमें कोई पुकार रहा है। पुकारने की ध्वनि का सुनाई पडना सवेदना है। ध्वनि के सुनने पर हमारा मस्तिष्क यह सोचता है कि यह ध्वनि किसकी है। जब वह यह जानने मे समर्थ हो जाता है कि यह ध्वनि अमुक मित्र की है तो उसे उस ध्वनि का प्रत्यक्षीकरण ज्ञान हो जाता है।

यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि अपने-अपने मनोविकास की मात्रानुसार लोगो का प्रत्यक्षीकरण एक ही उद्दीपक के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न होगा। उदाहरणार्थ, जब किसी पशु की बोली सुन कर कोई व्यक्ति यह समझ लेता है कि यह गाय की है और भैंस की नही तो यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति को ध्वनि का प्रत्यक्षीकरण हो गया। पर गाय वाला जब यह पहचान लेता है कि यह बोली केवल एक साधारण गाय की ही नही, पर उसकी विशिष्ट गाय की है तब उसके सम्बन्ध मे यह कहा जायगा कि उसे ध्वनि का प्रत्यक्षीकरण हो गया। एक दूसरे उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये, एक कमरे में चार व्यक्ति बैठे हुए हैं। बाहर

से किसी की ध्वनि सुनाई पडी। कमरे के तीन व्यक्ति जब पहचान लेते है कि यह ध्वनि किसी स्त्री की है तो यह कहा जा सकता है कि उन्हे ध्वनि का प्रत्यक्षीकरण हुआ। पर चौथा व्यक्ति उस स्त्री से पूर्व परिचित है। अत उसे बोली पहचान कर यह बतलाना चाहिये कि यह अमुक स्त्री है। जब तक बोली से वह स्त्री को पहचान नही लेता तब तक यह नही कहा सकता कि उसका प्रत्यक्षीकरण पूर्ण है। उस स्त्री की बोली के सम्बन्ध मे एक व्यक्ति का मानसिक सस्कार अधिक घनिष्ठ है। इसलिए वह स्त्री का नाम भी बतला देता है। परन्तु अन्य तीन व्यक्तियो का मानसिक सस्कार कम है, अत. उनका प्रत्यक्षीकरण केवल 'स्त्री-जाति' के प्रत्यक्षीकरण तक ही सीमित है। बालकों और प्रौढो के प्रत्यक्षीकरण में इस प्रकार का मात्रा-भेद होता है। बालको का अनुभव प्रौढो की अपेक्षा अधिक सीमित रहता है। अत किसी वस्तु के सम्बन्ध मे उनका प्रत्यक्षीकरण निम्नतर कोटि का हो सकता है। नीचे बालको के प्रत्यक्षीकरण पर जब हम विचार करेगे तो यह भेद अधिक स्पष्ट हो जायगा। उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्षीकरण मे व्यक्ति अपने पुराने अनुभवो के आधार पर नये अनुभव पर विचार कर उसे पहचानता है, अर्थात् इसमे विचार और बुद्धि दोनो का समावेश होता है जिसका विचार और बुद्धि जहाँ तक विकसित होगी उसी के अनुसार उसका प्रत्यक्षीकरण होगा। बिना प्रत्यक्षीकरण मे परिणित हुए 'सवेदना की' सार्थकता सिद्ध हो ही नही सकती, अर्थात् प्रत्यक्षीकरण सवेदना और सार्थकता का मिश्रण है। संवेदना का आधार वाह्य उद्दीपक होता है और प्रत्यक्षीकरण का आधार सवेदना तथा मन के पुराने सस्कार। सवेदना की प्रक्रिया बडी साधारण होती है और प्रत्यक्षीकरण की विकट।

२—'प्रत्यक्षीकरण' के तीन पक्ष—

मनोवैज्ञानिको ने 'प्रत्यक्षीकरण' के तीन पक्ष का उल्लेख किया है —

(१) उपास्थक[1]—

सबसे पहले हमारे सामने वस्तु आती है। उसकी उपस्थिति मे हम उसके विषय मे कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। नीबू को देख कर हमे उसके रग-रूप का बोध होता है। सगीत की ध्वनि जब कानो मे आती है तो हम जानते हैं कि वह कर्कश अथवा मधुर है। हमारे सामने एक मोर आता है। उसे देख कर हम उसको पहचानते है और हमें उसका ज्ञान होता है। उसके चले जाने पर हम उसको भूल जाते है। वस्तु का सामने होना प्रत्यक्षीकरण का उपास्थक पक्ष कहा जाता है। उपास्थक पक्ष से हमें वस्तु का तात्विक बोध होता है।

(२) प्रतिनिध्यात्मक[2]—

यह प्रत्यक्षीकरण का दूसरा पक्ष है। इसमे कल्पना का कुछ अश दिखलाई

1. Presentative. 2. Representative.

पडता है। इसका आधार उपास्थक पक्ष है। उपास्थक पक्ष के बाद ही इसका बोध सम्भव है। किसी व्यक्ति की आखे लाल-लाल हो जाती हैं, त्यौरी चढ जाती है, साँसो का वेग बढ जाता है। ये सब परिवर्त्तन उस व्यक्ति के क्रोध के सूचक होते हैं। इन्हे देख कर हमे केवल लाल आँख, चढी हुई त्यौरी आदि का ही ज्ञान नही होता, वरन् हमे व्यक्ति के क्रोध का भी भास होता है अर्थात् लाल-लाल आँखे और चढी हुई त्यौरी व्यक्ति के क्रोध की प्रतिनिधि है। इसी प्रकार व्यक्ति का मलिन मुख उसके दुख का प्रतिनिधि है और हँसता हुआ मुख आनन्द का। नीबू केवल अपने रूप व रग का ही हमे बोध नही कराता, वरन् अपने स्वाद का भी वह प्रतिनिधित्व करता है। उसे देखकर हमे उसके स्वाद का भी बोध हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण का एक प्रतिनिध्यात्मक रूप भी होता है।

(३) सम्बन्ध-पक्ष[1]—

कभी-कभी एक वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से हमे उससे सम्बन्धित किसी दूसरी वस्तु का भी ध्यान आ जाता है। उदाहरणार्थ, दूसरे के बच्चे को देख कर हमें अपने बच्चे का ध्यान आ जाता है। सडक पर जातें समय कभी-कभी हम अपने मित्रो से कहते हैं कि हमारे कोट का भी ऐसा ही कपड़ा है जैसा इस व्यक्ति के हाथ मे दिखलाई पडता है। इस प्रकार दूसरे बच्चे को देख हमे अपने बच्चे का बोध होता है, किसी कपडे को देख हमे अपने कोट का ध्यान आ जाता है। अपने बच्चे अथवा कोट का प्रत्यक्षीकरण हमे सम्बन्ध-ज्ञान के फल स्वरूप होता है। हमारा वर्तमान अनुभव अतीत के सम्बन्धित अनुभव को जगा देता है। यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि इस सम्बन्धित अनुभव मे समानता का होना आवश्यक नही। जिस बालक को देख हमे अपने बालक का भास होता है वह बालक हमारे बालक से एकदम भिन्न हो सकता है। यह बात नीचे के उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो जायगी। हम दवात देखते है तो उससे सम्बन्धित हमे कलम का ज्ञान हो जाता है। बच्चे की टोपी देखते हैं तो बच्चे का ज्ञान हो जाता है। कभी-कभी हमारे वर्तमान अनुभव सुप्त सस्कारो को जगा देते हैं, जिससे हमारे अनुभव की सीमा कुछ बढ जाती है। इस प्रकार किसी सम्बन्ध विशेष से जो हमारा प्रत्यक्षीकरण होता है उसे प्रत्यक्षीकरण का सम्बन्ध-पक्ष कहा जा सकता है।

७—बालक का प्रत्यक्षीकरण

नवजात शिशु मे प्रत्यक्षीकरण नही होता, क्योंकि उसके मस्तिष्क मे वातावरण-सम्बन्धी सस्कार नही पडते। आयु के बढने के साथ बालक विभिन्न प्रकार के संवेदना का अनुभव करने मे क्रमश: समर्थ होता है। जैसे-जैसे उसकी यह योग्यता बढ़ती है

---

1. Relational.

उसी के साथ उसका प्रत्यक्षीकरण भी वढता है। हम कह चुके है कि आरम्भ में उसका यह ज्ञान निम्न कोटि का होता है। उसमे अर्थ लगाने की शक्ति वहुत कम होती है। उसे एक रुपया दीजिये तो वह फेक देगा, वह आप की वहुमूल्य वस्तुओ को पायेगा तो उन्हे नष्ट-भ्रष्ट करने मे लग जायगा, क्योकि उन वस्तुओ के मूल्य को वह नही समझता। वह आकर्षित होकर आग की ओर झपटता है। वह जल जाता है। आग-सम्वन्धी उसका प्रत्यक्षीकरण की सीमा यही है कि वह एक ऐसी वस्तु है जो उसे जला देगी। आग से कौन-कौन काम किया जा सकता है इसका वोध उसे वाद मे अनुभव के साथ होता है। चार-पाँच वर्ष का होने पर वह समझ जाता है कि आग ही से भोजन पकाया जाता है। दस-ग्यारह वर्ष का होने पर उसे बोध हो जाता है कि आग की सहायता से विभिन्न प्रकार के इन्जन चलाये जा सकते हैं। प्रारम्भ मे अनुभव की कमी के कारण वालक अपना ध्यान एकाग्र करने मे अधिक समर्थ नही हो पाता। प्रत्यक्षीकरण सदा ध्यान की एकाग्रता पर निर्भर होता है। प्रत्यक्षीकरण का प्राय: तीन चौथाई भाग अनुमान मे रहता है। यह अनुमान अपने पुराने अनुभव के आधार पर ध्यान की एकाग्रता से किया जाता है। वालक मे इन दोनो का प्रौढ व्यक्तियो की अपेक्षा अभाव रहता है, अत उसका प्रत्यक्षीकरण अपूर्ण रहता है।

वालक किसी बात के समझने मे वहुधा भूल किया करते हैं। वे कभी-कभी कुछ का कुछ समझ जाते है। प्रौढ व्यक्तियो के समान अधिक वस्तुओ को एक वार देखने से ही समझने मे वे समर्थ नही होते। वे दूसरो की वातो पर जल्दी विश्वास कर लेते हैं, अत उनके अनुभवो पर अधिक विश्वास नही किया जाता। तीन साल का वालक गधे को घोडा पुकार सकता है और भेड को वकरी। अत वालको का प्रत्यक्षीकरण अस्पष्ट होता है। वह सभी प्रकार के फूलो को एक ही नाम दे डालता है। वह गुलाब, चमेली तथा बेला, आदि फूलो की विशेपता को नही पहचान सकता। अभिभावको और शिक्षको को उचित है कि वे वालको को विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ दिखावे और उनकी विशेपता से उन्हे अवगत करे। प्रश्नो के पूछने और उनके प्रश्नो का उत्तर पाने से ही उनका प्रत्यक्षीकरण पक्का होता है। यह सब विभिन्न पदार्थो के निरीक्षण से सम्भव हो सकता है।

वालक का प्रत्यक्षीकरण प्रौढो के सदृश् सम्पूर्ण नही होता, क्योकि उसकी अनुभूतियो मे स्थायित्व का अभाव रहता है। उसका ज्ञान खण्ड-खण्ड मे होता है। किसी चित्र के दिखलाने पर प्रौढो के सदृश् उसका वर्णन वह नही कर पाता। वह एक एक करके वस्तुओ को गिनता है। उदाहरणार्थ, वह कहता है कि चित्र मे एक औरत, वकरी गाय और ऊँट हैं आदि-आदि। कुछ अनुभव के वाद इन वस्तुओ की वह गणना नही करेगा, वरन् वह पूरे चित्र का वर्णन करेगा। कुछ और अनुभव के वाद वह चित्र की आलोचना करने मे भी सफल हो सकता है।

बालको का देश और काल का ज्ञान अस्पष्ट होता है। आठ-दस महीने का बालक हाथ से चन्द्रमा को पकडने का प्रयत्न करता है। दूर पर रखी हुई वस्तु को पकड़ने की चेष्टा मे वह गिर जाता है। कोई वस्तु उस से कितनी दूर है इसका अनुमान कुछ अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद ही वह कर पाता है। दूरी का ज्ञान प्राप्त करने के लिये बालको को चलने-फिरने की स्वतन्त्रता देना आवश्यक है। बालको को समय का ज्ञान भी अस्पष्ट होता है। तीन वर्ष का बालक दिन व रात को नहीं समझ पाता। पाँच-छ वर्ष का होने पर वह दिन व रात को समझने लगता है पर घण्टे और मिनट और क्षण की कल्पना उसके ज्ञान-शक्ति के बाहर की बात होती है। आठ-दस वर्ष का होने पर वह महीना और वर्ष की कल्पना करने मे समर्थ होता है। अनुभव के बढने पर वह शताब्दी की भी कल्पना कर लेता है। देश और काल के ज्ञान के सदृश् बालको का 'आकार' और 'तौल' के ज्ञान भी प्रौढो की अपेक्षा बडे अस्पष्ट होते हैं। इसे भी अनुभव के आधार पर वे धीरे-धीरे सीखते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बालको का प्रत्यक्षीकरण प्राय. अस्पष्ट ही होता है, क्योकि उनके वर्तमान और अतीत के अनुभव मे सम्बन्ध-हीनता रहती है। जब बालको मे अपने वर्तमान अनुभव को पुराने अनुभव से सम्बन्धित करने की क्षमता आ जाती है तो उनका प्रत्यक्षीकरण स्पष्ट होने लगता है। यह क्षमता ज्ञानेन्द्रियो की शिक्षा मे ही सम्भव हो सकती है। इसके साथ ही साथ जैसा कहा जा चुका है, निरीक्षण पर भी बल देना आवश्यक है। अब हम नीचे निरीक्षण पर ही कुछ प्रकाश डालेगे।

बालक प्राय देखता है कि कच्चे आम हरे-हरे होते हैं, पर वह यह देखने मे असमर्थ होता है कि पके आम भी हरे-हरे होते हैं अथवा कुछ कच्चे आम भी पीले अथवा लाल दिखलाई पडते हैं। बालक अपनी गाय को नित्य देखता है, पर यह नही बतला सकता कि उसका कौन सा सीग टूटा है अथवा उसके किस ओर काला धब्बा है? यह उसकी निरीक्षण-शक्ति की निर्बलता का फल है। वस्तुत उसमे अभिभावकों और शिक्षको का उत्तरदायित्व अधिक है। यदि प्रारम्भ ही मे बालको को निरीक्षण करने की कला समझा दी जाय तो वे ऐसी गलती बहुत कम करेगे। यह ध्यान देने की बात है कि बचपन मे बुद्धि का विकास बहुत कुछ निरीक्षण करने की शक्ति पर निर्भर रहता है। निरीक्षण से किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण बडा सुसगठित होता है, पर यह ध्यान देने की बात है कि निरीक्षण का आधार प्रत्यक्षीकरण ही होता है। इसमें स्मृति, कल्पना और तर्क-शक्ति की भी आवश्यकता होती है। निरीक्षण मे हमारी क्रियाशीलता अधिक बढ जाती है। बालको का परिमित ज्ञान निरीक्षण के आधार पर बहुत विकसित किया जा सकता है।

८—निरीक्षण[1]

न्यूमैन के अनुसार निरीक्षण के तीन भेद किये जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

साभिप्राय[2]—

इसमे व्यक्ति निरीक्षण करने के लिये अपने को पहले ही से तैयार किये रहता है। किन-किन प्रश्नो के उत्तर खोजने की चेष्टा की जायगी यह एक प्रकार से पहले से ही निश्चित रहता है। किसी के लेख की त्रुटियाँ निकालने मे हमारा निरीक्षण साभिप्राय होता है। किसी स्थान के विषय मे कुछ जानकारी प्राप्त कर कुछ शंकाओ के समाधान के लिये जब हम उसे देखने जाते हैं तो हमारा निरीक्षण साभिप्राय होता है।

परिस्थित्यामक[3]—

हम कभी-कभी निरीक्षण वातावरण के परिवर्तन से विवश होकर करते हैं। इसमे हमारा ध्यान अनैच्छिक कोटि का होता है। दरवाजे की खटखटाहट सुनकर उसे समझने के लिये हम विवश हो जाते हैं।

प्रयोजनात्मक निरीक्षण[4]—

इसमे मस्तिष्क पहले से तैयार नही रहता। वह प्रत्येक परिस्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण कर सारी बाते समझना चाहता है। वास्तव मे निरीक्षण का यह भेद 'प्रकार' का न होकर 'मात्रा' का है। प्रत्येक निरीक्षण मे हमारा कुछ न कुछ उद्देश्य तो रहता ही है। यदि ऐसा न हो तो निरीक्षण प्रत्यक्षीकरण ज्ञान की क्रिया के सामान होगा।

निरीक्षण की शिक्षा—

स्पष्ट है कि बालको के अनुरूप विकास के लिये उन्हे विभिन्न वस्तुओ के निरीक्षण करने के लिये उत्साहित करते रहना चाहिये। इसमे अभिभावको और शिक्षको को सहायता देनी होगी। बालक का ज्ञान बहुत परिमित होता है, अतः वह स्वय किसी वस्तु का निरीक्षण उसके सभी दृष्टिकोण से नही कर सकता। अत उन्हे रास्ता दिखाना आवश्यक है। बालक जिज्ञासु होते हैं। वे बहुधा प्रश्न करने की झड़ी लगा देते हैं। इसका तात्पर्य यह नही कि उनकी निरीक्षण-शक्ति तीव्र होती है। वास्तव मे यदि उनकी निरीक्षण शक्ति बढाई जाय तो वे अधिक जिज्ञासु हो जायेगे और अपनी जिज्ञासा का समाधान स्वय करने की चेष्टा करेगे। किसी वस्तु के निरीक्षण मे शिक्षको को उसके विशिष्ट गुणो की ओर बालको को ध्यान आकर्षित करना

---

1. Observation. 2. Purposeful. 3. Circumstancial. 4. Purposive.

चाहिये। निरीक्षण से प्राप्त अनुभव को शब्दो मे प्रकट करने के लिये भी बालको को उत्साहित करना चाहिये इससे उनका भाषा-शक्ति का विकास होगा।

हस्त-कला सम्बन्धी काम तथा मानचित्र आदि के बनाने से बालको की निरीक्षण-शक्ति का विकास होता है। डाल्टन प्लान तथा प्रॉजेक्ट मेथड मे निरीक्षण-शक्ति के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है। बालक को अपनी उन्नति के लिये स्वय उत्तरदायी बना दिया जाता है। उसे विभिन्न वस्तुओ का निरीक्षण कर वांछित कार्य स्वय करना पडता है। विशेष कर प्रॉजेक्ट मेथड में 'करने से सीखने'[1] का सिद्धान्त निरीक्षण-शक्ति के विकास का ही दूसरा रूप है। बालक जितना ही स्वयं 'हाथ का काम' करेगा उसका प्रत्यक्षीकरण उतना ही पुष्ट होगा।

६—पूर्वानुवर्ती ज्ञान[2]

प्रत्यक्षीकरण का विवेचन बिना पुर्वानुवर्ती ज्ञान के उल्लेख के अधूरा रह जायगा। अत. अब इसी पर विचार किया जायगा। पूर्वानुवर्ती ज्ञान हमारे पूर्व सचित संस्कारो का योग है। प्रत्यक्षीकरण ज्ञान के पूर्व हमारे वर्तमान अनुभव का सम्बन्ध इसी पूर्व सचित सस्कारो अथवा पुर्वानुवर्ती ज्ञान से होता है। इसका ऊपर हम उल्लेख कर चुके हैं। हमारा सारा नया अनुभव पुर्वानुवर्ती ज्ञान से सम्बन्धित होता है, तब हमे किसी वस्तु का ज्ञान होता है। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य के आधार पर हरबार्ट ने सबसे पहले अपने नियमित पद (फार्मल स्टेप्स) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण जब पुर्वानुवर्ती ज्ञान के सयोग से होता है तो यह आवश्यक है कि शिक्षक बालको के पुर्वानुवर्ती ज्ञान का ठीक-ठीक ज्ञान रक्खे। इस ज्ञान के अभाव मे वह अपना अध्यापन बालको के लिये रुचिकर अथवा लाभप्रद नही बना सकेगा। जो कुछ बालक सुनता है यदि उसका सम्बन्ध उसके पूर्व सचित सस्कारो से नहीं है तो उस वस्तु का प्रत्यक्षीकरण उसे न हो सकेगा। अत यह आवश्यक है कि शिक्षक किसी विषय के पढाते समय पाठ्य-वस्तु को बालको के पुराने अनुभव से सम्बन्धित करे। इससे यह स्पष्ट है कि बालक की ज्ञान-वृद्धि अथवा प्रत्यक्षीकरण के लिये पूर्वानुवर्ती ज्ञान का उपयोग आवश्यक है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा?

ज्ञानवाही नाडियाँ हमारे ज्ञान के कारण, ज्ञानावाही तन्तुओ के कार्य मे बटवारा।

१—संवेदना और प्रत्यक्षीकरण

सवेदना पहली सीढी, शुद्ध ज्ञानेन्द्रियजन्य ज्ञान, प्रत्यक्षीकरण।

---

1. Learning by Doing. 2. Apperception.

'सवेदना' पशुओ की ज्ञानेन्द्रियाँ मनुष्यो की भाँति विकसित नही, ज्ञानेन्द्रियों की तीव्रता वैयक्तिक भेद पर निर्भर, अभ्यास मे कुछ परिवर्त्तन सम्भव ।

२—'संवेदना' के प्रकार

देशानुभव की शक्ति, एक समय कभी-कभी वहुत सी 'सवेदना'

३—'संवेदना' के भाग

अनुभव का सरलतम भाग, गुणात्मक, तीव्रता, काल और विस्तार—चार भाग; प्रत्येक का होना आवश्यक नही, प्रत्येक के सम्वन्ध मे भिन्नता भी ।

४—वेबर-फेचनर का नियम

उद्दीपक की प्रवलता पर सवेदना की तीव्रता, ज्ञानेन्द्रियो के अनुभव करने की अधिकतम और न्यूनतम सीमा, प्रत्येक व्यक्ति की सीमा में भेद, उद्दीपक के अनुपात के अनुसार परिवर्तन होने से सवेदना के भेद का ज्ञान, यह अनुपात विभिन्न उद्दीपक के साथ पृथक-पृथक ।

५—ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा

सबसे पहले स्पर्श ज्ञान, दृष्टि ज्ञान, ज्ञानेन्द्रियो का विकास एक क्रम से, शिक्षा में इसकी अवहेलना हानिकर ।

ज्ञानेन्द्रियों का स्वास्थ्य और शिक्षक का कर्त्तव्य—

वालक के दोष का पता लगाना आवश्यक ।

वालक स्वभावत. चचल, इसमे वाधा डालना अमनोवैज्ञानिक, आकर्षक, वातावरण, खेल का उचित आयोजन करना आवश्यक।

मॉन्तेसरी, फ्रोवेल, मन्द वालको की शिक्षा का आधार ज्ञानेन्द्रियाँ, मॉन्तेसरी प्रणाली—सवसे पहले रूप व आकार का ज्ञान, व्यावहारिक कार्य में शिक्षा, स्व-शिक्षा सवसे वड़ा सिद्धान्त, मॉन्तेसरी प्रणाली वच्चो का स्वराज्य ।

मॉन्तेसरी प्रणाली की आलोचना—

ज्ञानेन्द्रियो को पृथक-पृथक शिक्षित करना मनोवैज्ञानिक नही, ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान एक दूसरे से स्वतन्त्र नही, मॉन्तेसरी ने सवसे पहले एक सुसगठित कार्यक्रम दिया, मॉन्तेसरी प्रणाली के अनुसार घर पर भी खेल का आयोजन, मॉन्तेसरी स्कूलो की हमारे देश मे आवश्यकता ।

६—प्रत्यक्षीकरण (परसेप्शन)

१—स्वरूप

संवेदना इसका आधार, वस्तु को ठीक-ठीक पहचानना प्रत्यक्षीकरण, अपने

अपने मनोविकास के अनुसार लोगो की सवेदना एक ही उद्दीपक के सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न, बालकों और प्रौढो के प्रत्यक्षीकरण मे भिन्नता, प्रत्यक्षीकरण में विचार और बुद्धि दोनो का समावेश; प्रत्यक्षीकरण, सवेदना और सार्थकता का मिश्रण, सवेदना का आधार वाह्य उद्दीपक; प्रत्यक्षीकरण का आधार, सवेदना और पुराने मानसिक संस्कार।

२—'प्रत्यक्षीकरण' के तीन पक्ष

(१) उपास्थक

वस्तु के सामने उपस्थित होना।

(२) प्रतिनिध्यात्मक

इसमे कुछ कल्पना का अश, आधार उपास्थक पक्ष।

(३) सम्बन्ध पक्ष

सम्बन्ध विशेष से प्रत्यक्षीकरण ज्ञान का होना।

७—बालक का प्रत्यक्षीकरण

नवजात शिशु मे नही, आयु के विकास से प्रत्यक्षीकरण का होना, प्रत्यक्षी करण ध्यान की एकाग्रता पर निर्भर, अत. बालको मे इसकी कमी।

बात को समझने मे बालको की भूल, उनके अनुभव अधिक विश्वसनीय नहीं, उनका प्रत्यक्षीकरण अस्पष्ट, बालको को विभिन्न वस्तुओ की विशेषता से अवगत करना, निरीक्षण का स्थान।

बालक का ज्ञान खण्ड खण्ड मे, अनुभूतियो का स्थायित्व आयु विकास के साथ।

बालको का देश और काल का ज्ञान अस्पष्ट, दूरी के ज्ञान के लिये चलने फिरने की स्वतन्त्रता, आकार और तौल के ज्ञान भी अस्पष्ट।

वालक के अतीत और वर्त्तमान के अनुभव मे सम्बन्धहीनता।

बुद्धि का विकास निरीक्षण पर निर्भर, अत बालको को निरीक्षण करने के लिए प्रोत्साहन, निरीक्षण का आधार प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, कल्पना और तर्कशक्ति की भी आवश्यकता।

८—निरीक्षण

साभिप्राय—

पहले से ही तैयार।

परिस्थित्यात्मक—

विवश होकर।

प्रयोजनात्मक निरीक्षण—

प्रत्येक परिस्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण।

निरीक्षण की शिक्षा—

अनुरूप विकास के लिए विभिन्न वस्तुओ के निरीक्षण के लिए प्रोत्साहन, अभिभावको और शिक्षको की सहायता, अनुभव को अपनी भाषा मे व्यक्त करना।

हस्तकला तथा मानचित्र आदि मे निरीक्षण शक्ति का विकास, डाल्टन प्लान और प्रॉजेक्ट मेथड।

६—पूर्वानुवर्ती ज्ञान

पूर्व सचित सस्कारो का योग, वर्त्तमान अनुभव का सम्बन्ध इन्ही से, इसी से प्रत्यक्षीकरण सम्बन्ध, हरबार्ट का नियमित पद, शिक्षको को बालक के पूर्वानुवर्ती ज्ञान का ठीक ठीक अनुमान।

सहायक पुस्तकें

१—उडवर्थ—साइकॉलॉजी, अध्याय १० व १७।
२—मार्गन ऐण्ड गिलीलैण्ड—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, अध्याय ७, ८।
३—डम्विल—द फण्डामेण्टल्स ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय ४, ५।
४—नॉर्सवर्दी ऐण्ड ह्विटले—साइकॉलॉजी ऑव चाइल्डहूड, अध्याय ८।
५—ओगडेन—साइकॉलॉजी ऐण्ड एड्डकेशन, अध्याय ६ व ११।
६—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मॉडर्न साइकॉलॉजी ऐण्ड एडूकेशन, अध्याय १२।
७—स्टाउट—ए मेनुअल ऑव साइकॉलॉजी, बुक २, अध्याय १।
८—गॉल्ट ऐण्ड हॉवर्ड—ऐन आउटलाइन ऑव साइकॉलॉजी।
९—डेविड केनेडी-फ्रेसर—द साइकॉलॉजी ऑव एड्डकेशन, सेक्शन १, अध्याय १, ३।
१०—मैडम मॉन्तेसरी—द मॉन्तेसरी मेथड, अध्याय १२-१४ (सेन्स ट्रेनिङ्ग)।
११—रावर्ट्स उडवर्थ—एक्सपेरिमेन्टल साइकॉलॉजी, अध्याय १६-२६।
१२—सरयूप्रसाद चौबे—मनोविज्ञान, अध्याय १७, १८।

२२

चिन्तन, तर्क और भाषा[1]

क—चिन्तन

प्राय सभी मनोवैज्ञानिको की धारणा है कि 'चिन्तन करना' वा 'सोचना' मानव मस्तिष्क की ही क्रिया है। पशुओ मे इसका अभाव पाया जाता है। परीक्षणो से यह पता चलता है कि कुछ पशुओ मे 'सूझ'[2] होती है, पर भाषा-ज्ञान के अभाव मे यह नही कहा जा सकता कि वे 'चिन्तन करने' मे समर्थ है। यहाँ यह निर्णय करना कि पशुओ मे कहाँ तक चिन्तन-शक्ति पाई जाती है हमारे क्षेत्र के बाहर है, पर इतना निर्विवाद है कि 'प्रत्यक्षात्मक[3] चिन्तन' की शक्ति केवल मनुष्यो मे ही पाई जाती है। चिन्तन-शक्ति के ही बल पर आज मनुष्य सभी प्राणियो से श्रेष्ठ बन बैठा है। इस शक्ति के अभाव मे कदाचित् वह एक निम्न कोटि का जीव होता। मनुष्य मे अपने पुराने अनुभव से लाभ उठाने की शक्ति है। उसमे स्मृति और कल्पना की शक्ति है। वह कोई कार्य करने के पूर्व उसके परिणामो पर पूरा ध्यान रखता है। यदि बिना परिणामों पर ध्यान दिये ही वह मूलप्रवृत्त्यात्मक आवेश में कार्य कर बैठे तो उसका व्यवहार पशुवत् ही होगा। चिन्तन के ही सहारे मनुष्य अपने को वातावरण मे व्यवस्थित कर पाता है। जिसकी चिन्तन-शक्ति जितनी ही प्रबल होती है वह उतना ही दूसरो से श्रेष्ठ होता है। वास्तव मे मानव जीवन की सफलता चिन्तन-शक्ति पर ही निर्भर होती है। अत इसके विकास पर बचपन से ही ध्यान देना आवश्यक है।

१—प्रत्ययात्मक चिन्तन[3]

चिन्तन-क्रिया सदा किसी प्रयोजनवश हुआ करती है। सबसे पहले किसी लक्ष्य-प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न होती है। इस इच्छा की पूर्ति के लिये व्यक्ति चेष्टायें आरम्भ कर देता है। आरम्भिक चेष्टा मे उसके पुराने अनुभव स्मृति-पटल पर आ जाते हैं। पुराने अनुभव के आधार पर वह अगला पग रखना चाहता है। अगला पग निश्चय करने में वह अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनो पर दृष्टि डालता है। इस प्रकार

1. Thinking, Reasoning and Language. 2. Insight. 3. Conceptual Thinking.

गहन विवेचना के बाद वह एक निश्चय पर पहुँचता है। इस गहन विवेचना को ही हम चिन्तन-क्रिया कह सकते हैं। गहन विवेचना मे हमारा तात्पर्य सूक्ष्मतम विश्लेपण मे है। किसी नई परिस्थिति के आने पर हम अपने सारे अनुभव का स्मरण कर समस्या का हल खोजने में लग जाते हैं। हमारा यह प्रयत्न चिन्तन-क्रिया का मुख्य अंग है। चिन्तन-क्रिया का रूप वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर होता है। इसका उद्देश्य किसी व्यावहारिक लक्ष्य के लिये अथवा ज्ञान-प्रेमी के लिये हो सकता है। ज्ञान-प्रेमी के लिये इसका लक्ष्य ज्ञान-समस्या को हल करने में होगा। एक टेनिस के खिलाडी की चिन्तन-क्रिया अपने टेनिस के विभिन्न उपकरणो के आयोजन की ओर ही केन्द्रित होती है। राजनीतिज्ञ की चिन्तन क्रिया अपने देश तथा अन्य देशो के परस्पर-सम्बन्ध स्थापन की ओर केन्द्रित होती है, अथवा किसी दार्शनिक की चिन्तन-क्रिया ईश्वर, प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्ध को समझने मे सलग्न हो सकती है।

चिन्तन एक जटिल मानसिक क्रिया है और इसका अधिकारी मानव प्राणी ही हो सकता है, क्योकि पुराने अनुभवो के आधार पर सूक्ष्मतम विश्लेषण कर भविष्य पर ध्यान देते हुए किसी निश्चय पर पहुँचना उसी का काम है। इस प्रकार की विचार क्रिया को प्रत्ययात्मक चिन्तन कहते हैं। सुविधा की दृष्टि से इसके स्वरूप पर हम बाद मे प्रकाश डालेंगे। प्रत्ययात्मक चिन्तन के दो और स्तरो का उल्लेख किया गया है: प्रत्यक्षात्मक[1] और कल्पनात्मक[2] इन दो प्रकार पर विचार करने से हमें प्रत्ययात्मक चिन्तन का रूप स्पष्टतर हो जायगा।

प्रत्यक्षात्मक चिन्तन—

इसके नाम से ही जान पड़ता है कि यह निम्न कोटि का चिन्तन है। कुछ मनोवैज्ञानिको का कहना है कि इस प्रकार का चिन्तन पशुओ और छोटे बालकों में पाया जाता है। प्रत्यक्ष शब्द के अन्तर्गत सवेदना और प्रत्यक्षीकरण दोनो का समावेश समझना चाहिये, क्योकि बिना सवेदना के प्रत्यक्षीकरण सम्भव ही नही। प्रत्यक्षात्मक चिन्तन मे प्राणी के सवेदना और प्रत्यक्षीकरण ज्ञान काम आते है। मनोवैज्ञानिको के अनुसार इसमें भी पुराने अनुभवो का उपयोग किया जाता है, क्योकि उन्ही के आधार पर प्राणी कुछ निश्चित करता है। एक गूँगी महिला थी। बिल्ली को देख उसे मारने दौडने-पर वे एक विचित्र प्रकार का स्वर निकाला करती थी। एक बार के अनुभव हो जाने पर घर का कुत्ता जब-जब वैसा स्वर सुनता था तब-तब वह ताड जाता था कि बिल्ली घर मे आई है, अत: उस पर झपटने के लिये बाहर से वह घर मे दौड आता था। कुत्ते के इस व्यवहार मे एक प्रकार की चिन्तन प्रक्रिया स्पष्ट है। वह अपने पुराने अनुभव से यह निश्चित कर लेता था कि घर में बिल्ली

1. Perceptual. 2 Imaginative.

आई है। वह केवल स्वर मात्र के सुनने से ही ऐसा समझ लेता था। उसके इस प्रकार के चिन्तन का आधार गूँगी महिला के स्वर का सवेदनात्मक और प्रत्यक्षात्मक ज्ञान था। कुत्ते के इस चिन्तन मे कदाचित् वही प्रक्रियाये होती है जो किसी प्रौढ व्यक्ति के, पर अन्तर यह है कि उसकी प्रक्रियाये स्पष्ट नही होती। इस प्रकार के चिन्तन मे शब्द अथवा नाम की आवश्यकता नही होती, क्योकि यह किसी उपस्थित घटना के आधार पर होता है। घटना अथवा पदार्थ की अनुपस्थिति मे जो चिन्तन-प्रक्रिया होती है वह केवल प्रौढ मनुष्यो मे ही सम्भव है। पशुओ मे भाषा और नाम के प्रयोग करने की शक्ति नही होती। अत. उनकी चिन्तन-प्रक्रिया केवल प्रत्यक्षात्मक स्तर तक ही रह जाती है। जो बालक बातचीत करना नही जानता उसके चिन्तन प्राय प्रत्यक्षात्मक होते है। पाठको का अनुभव होगा कि आठ-दस महीने का शिशु भी घुडकने से रोने लगता है। कहना न होगा कि उसका इस प्रकार का रोना उसके प्रत्यक्षात्मक चिन्तन का ही परिणाम है।

कल्पनात्मक चिन्तन—

यह मानसिक प्रतिमाओ[1] के आधार पर चलता है। इसमें 'प्रत्यक्ष' का अभाव रहता है। इसमे पुराने अनुभव तथा नाम का सहयोग रहता है। बालक अपनी स्मृति के सहारे भविष्य की बात सोच डालता है। उसका पिता शाम को दूकान से आते समय उसके लिए नित्य सतरे ले आता है। अतः शाम के आने पर पिता की अनुपस्थिति मे भी बालक अपने पिता के आगमन और संतरे की प्राप्ति पर चिन्तन करने लगता है।

प्रत्ययात्मक चिन्तन के स्पष्टीकरण के लिए हमे प्रत्यय ज्ञान का अर्थ समझ लेना भी आवश्यक है।

२—प्रत्यय-ज्ञान[2] का स्वरूप

सवेदना और प्रत्यक्षीकरण के आधार पर प्रत्यय-ज्ञान होता है। आयुवृद्धि के साथ बालक का प्रत्यय-ज्ञान बढता है। किसी एक शब्द, किसी जाति अथवा उसके विशिष्ट गुणो का बोध होना प्रत्यय-ज्ञान कहा जाता है, अर्थात् जाति और भाववाचक शब्दो को समझने लगना प्रत्यय-ज्ञान की ओर सकेत करता है। बालक पहले-पहल घोडा देखता है। कहने पर उसे वह घोडा पुकार लेता है। पर घोडे का ज्ञान अभी उसे स्पष्ट नही हुआ है। इसीलिए गदहे को देख कर भी वह उसे घोड़े की ही संज्ञा दे डालता है। आयु के बढने के साथ वातावरण के साथ उसका सम्पर्क बढता जाता है। वह सडक पर घोडो को कई बार देखता है। घोडे को इक्का और ताँगा खीचते हुए देखा है। उस पर लोगो को सवारी करते हुए भी वह देखता है। इस प्रकार

1. Images. 2. Conception.

विभिन्न कार्य करते हुए उसे घोडे का अनुभव होता है। प्रत्यय-ज्ञान की यह पहली सीढ़ है। इसे पदार्थों की अनुभूति कह सकते है।

बालक ने जितने घोडे देखे वे सभी एक रग के नही थे। कोई सफ़ेद था, कोई काला अथवा भूरा आदि। कोई दुबला था तो कोई मोटा। छोटा, बडा और बूढा सभी प्रकार के घोडो को उसने देखा। इस प्रकार घोडो की परस्पर असमानता का उसे अनुभव हुआ, पर साथ ही साथ विभिन्न घोडो मे वह कुछ समानता भी देखता है। वह समझता है कि घोड़े हृष्ट-पुष्ट होते हैं, दौड़ने में तीव्र होते है। वे इक्के, टाँगे तथा सवारी के उपयोग मे लाये जाते है। उनकी बोली, तथा रूप व रग मे असमानता रहते हुए भी कुछ समानता देखने मे वह समर्थ होता है। उस प्रकार वह घोडे के गुणो का विश्लेषण करता है। गुणो का विश्लेषण करना प्रत्यय-ज्ञान की दूसरी प्रक्रिया है। इस प्रकार विश्लेषण करने के साथ बालक यह समझने लगता है कि घोडे और गदहे मे बहुत अन्तर है। वह घोडे, गाय और ऊँट के परस्पर-भेद को समझ लेता है। वह जान जाता है कि घोडे मे जो गुण है वे गदहे, गाय अथवा ऊँट म नही। इस प्रकार घोडे की जाति का वह वर्गीकरण करता है। वर्गीकरण करना प्रत्यय-ज्ञान की तीसरी प्रक्रिया है। गुणो का विश्लेषण और वर्गीकरण कर लेने के बाद बालक को 'घोडे' शब्द से एक निश्चित प्रकार के पशु का बोध होता है। अत वह एक निश्चित प्रकार के पशु का नामकरण घोडा कर देता है। नामकरण प्रत्यय-ज्ञान की अन्तिम प्रक्रिया है। इस स्थिति मे पदार्थ का अच्छी प्रकार बोध हो जाता है। प्रत्यय शब्द मे वस्तु और उसके नाम दोनो का बोध हो जाता है, अर्थात् 'घोडा' शब्द सुनने से बालक के मन मे घोडे की सभी विशेषताओ का प्रत्यय हो जायगा।

ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है कि प्रत्यय-ज्ञान से ही बालक को किसी वस्तु का पूर्ण ज्ञान हो सकता है। अमनोवैज्ञानिक शिक्षक बालक को बहुधा परिभाषा रटा देता है। केवल परिभाषा रटा देने से बालक का ज्ञान परिपक्व नही हो सकता। ज्ञान की परिपक्वता के लिए प्रत्यय का होना आवश्यक है और प्रत्यय पदार्थों के साक्षात् अनुभूति, विश्लेषण, वर्गीकरण तथा नामकरण से ही सम्भव होता है। प्रत्यय-ज्ञान के सहारे ही बालक मे चिन्तन-शक्ति का उदय हो सकता है। चिन्तन-शक्ति की उपयोगिता की ओर हम सकेत कर चुके है—उसके बिना तो मनुष्य का जीवन पशुवत् हो जायगा। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि एक ही वस्तु का प्रत्यय विभिन्न व्यक्तियो के लिये भिन्न-भिन्न हो सकता है। अपने-अपने लक्ष्य के अनुसार एक ही वस्तु की कल्पना विभिन्न व्यक्तियो की अलग-अलग होगी। उदाहरणार्थ, एक बडे कद्दू को देखकर एक संगीतज्ञ कहेगा कि इसमे सितार का तूम्बा बडा अच्छा होगा। साधू कहेगा कि पानी पीने के लिए इसकी तुमडी बड़ी अच्छी होगी-शाक बेचने वाला कहेगा कि इससे पैसे

खूब मिलेंगे, तेल निकालने वाला कहेगा कि इससे तेल अधिक मिलेगा, तथा कोई वैज्ञानिक इसे अपने किसी प्रयोग के साधन बनाने की कल्पना कर सकता है। इस प्रकार कद्दू का प्रत्यय विभिन्न व्यक्तियो के साथ पृथक्-पृथक् हुआ। प्रत्यय एक प्रयोजनात्मक साधन होता है। अत अपने-अपने प्रयोजन के अनुसार लोगों ने उसको भिन्न भिन्न प्रकार से समझा।

३—प्रत्यय के प्रकार

प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं। एक तो दृष्टिगोचर पदार्थो का होता है . जैसे हमे घोडा, गाय इत्यादि का प्रत्यय होता है। पहले बालक को जातिवाचक सज्ञाओ का प्रत्यय होता है। इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। भाववाचक सज्ञाओ का प्रत्यय उसे शीघ्र नही होता, क्योकि उसमे अनुभव का अभाव रहता है। कठोर लकडी का प्रत्यय बालक कर पाता है। पर कठोरता का प्रत्यय होना उसे कठिन प्रतीत होता है। वस्तु को छूकर वह अनुभव कर लेता है, उसे देख लेता है, पर 'कठोरता' के अभौतिक गुण का प्रत्यय वह कैसे ग्रहण करे ? इस कठिनाई के कारण बालक भाव-प्रत्यय का आत्मसात् उस विशिष्ट वस्तु से कर देता है जिसका वह गुण होता है। लकडी, लोहा व पत्थर इत्यादि कठोर होता है। इस प्रकार सोच कर वह कठोरता का प्रत्यय अपने मन मे बना लेता है। बालक का भाषा-ज्ञान अपूर्ण होता है। अत वह अपने मनोभावो को व्यक्त नही कर पाता। भाव-प्रत्यय बनने की उम्र होती है। नार्सवर्दी और ह्विटले का कहना है कि प्रथम चार-पाँच वर्ष मे बालक दया, न्याय, सत्यता आदि भाववाचक सज्ञाओ का प्रत्यय नही कर पाता। आयु और अनुभव के बढने से उसके प्रत्यय की सीमा भी बढती जाती है।

गत अध्याय मे हम यह कह चुके है कि बालक को देश और काल का प्रत्यक्षीकरण स्पष्ट नही होता। अत उसे इनका प्रत्यय भी ठीक नही हो पाता।

गणित-सम्बन्धी प्रत्यय ज्ञान—

अक का प्रत्यय भी बालक देर मे बना पाता है। बालक प्रौढ व्यक्तियो के सदृश् ४, ५, ६, १२, १३ आदि अक प्रयोग करता है, पर इसका तात्पर्य यह नही कि उसे इनका प्रत्यय बन गया। थॉर्नडाइक के अनुसार किसी सख्या के चार तात्पर्य हो सकते है :—क्रम, समूह, अनुपात और सम्बन्ध। इन चार अर्थो को बालक एक साथ ही नही समझ पाता। इनका प्रत्यय उसके आयु-विकास के साथ होता है। बालक १ से १० तक गिनता है। वह यह जान लेता है कि आठ सात के पश्चात् और नौ के पूर्व आता है। इस प्रकार पहले उसे क्रम का ज्ञान हुआ। जब कहा जाता है कि झोले में आठ संतरे है तो आठ से उसे आठ संतरों के समूह का ज्ञान होता है। जब उससे कहा जाता है कि तुम्हे आठ मिनट तक यहाँ खडा रहना पडेगा या वह पुस्तक यहाँ

से आठ गज की दूरी पर है तो उसे अनुपात का बोध होता है। जब आठ सतरे मे से आधा अलग करने को उसको कहा जायगा तो उसे सम्बन्ध का ज्ञान होगा। बालक को इन सबका ज्ञान एक साथ ही नही होता। वैलेनटाइन[1] का कहना है कि 'पहले-पहल बालको का अको का गिनना ध्वनियो का निरर्थक दोहराना है। इसके बाद यह समझ मे आता है कि ध्वनियो का सम्बन्ध कुछ वस्तुओ के क्रम से होता है। तब वह यह समझता है कि किसी क्रम मे एक अक का सम्बन्ध केवल एक ही वस्तु से होता है ...... ।"

स्पष्ट है कि बालक पहले अमूर्त[2] वस्तु का प्रत्यय पाने मे समर्थ नही होता। अतः उसे पहले मूर्त[3] वस्तु का ही प्रत्यय देना चाहिये। ज्यो-ज्यो बालक का अनुभव बढेगा त्यो-त्यो बहुत सी अमूर्त वस्तुएँ उसे मूर्त जान पडने लगेगी, अर्थात् वह सरलता से अमूर्त का भी प्रत्यय पाने लगेगा।

सम्बन्ध विषयक प्रत्यय-ज्ञान—

सम्बन्ध विषयक[4] प्रत्यय-ज्ञान बालक को गुणवाचक ज्ञान के बाद होता है। छोटा, बड़ा, काला, पीला और हरा रग का ज्ञान बालक को पहले हो जाता है। मानसिक विकास की उच्चता पर सम्बन्ध 'विषयक प्रत्यय-ज्ञान' निर्भर करता है। दो विषयो के परस्पर-सम्बन्ध को समझाने मे शिक्षक को बडी सतर्कता से काम करना पडता है। वास्तव मे बालक को ऐसी स्थिति मे रख देना चाहिये कि सम्बन्ध को वह स्वय समझ ले। सम्बन्ध समझाना यदि आवश्यक हुआ तो मूर्त उदाहरणो की सहायता लेना मनोवैज्ञानिक होगा। उदाहरणार्थ, आधा, तिहाई व चौथाई के परस्पर-सम्बन्ध को समझाने के लिये किसी खरबूजे को-काट कर दिखलाया जा सकता है।

चिन्तन-क्रिया मे मनोवैज्ञानिको ने प्रत्यय, निर्णय और तर्क को आवश्यक माना है। प्रत्यय कैसे बनता है इसका विचार ऊपर किया जा चुका। अब हम 'निर्णय' पर विचार करेंगे।

ख—निर्णय[5]

सभी प्रत्ययो के बनने मे निर्णय की आवश्यकता होती है। गुणो का विश्लेषण तथा वर्गीकरण आदि करने में व्यक्ति को अपनी निर्णय-शक्ति से ही काम लेना पडता है। डम्विल[6] कहता है कि 'निर्णय और प्रत्यय एक ही क्रिया के विभिन्न अंग हैं।

1. द साइकॉलॉजी ऑव अर्ली चाइल्डहूड, (१९४९) पृ० ५८०। 2. Abstract. 3. Concrete 4 Relational. 5. Judgment. 6. द फण्डामेण्टल्स ऑव साइकॉलॉजी, अध्याय ८, पृष्ठ १३७।

प्रत्यय के बनने मे निर्णय की सहायता आवश्यक होती है, चाहे जान पडे अथवा नही। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि निर्णय पूर्व प्राप्त विचारो के आधार पर ही किया जा सकता है।' हम यह कह सकते है कि 'प्रत्यय' हमारी चिन्तन-क्रिया अथवा निर्णय का फल होता है, और किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो चिन्तन हम करते है उसमे हमारा निर्णय निहित रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बिना किसी पूर्व चिन्तन अथवा 'प्रत्यय' के 'निर्णय' करना कठिन है और बिना निर्णय के किसी वस्तु का प्रत्यय पाना कठिन है। किसी अमूर्त वस्तु का प्रत्यय किसी मूर्त वस्तु के प्रत्यय के आधार पर ही प्राप्त किया जाता है। यह स्पष्ट है कि किसी चिन्तन-क्रिया से दोनो को पृथक् नही किया जा सकता। बालक को 'काले' अथवा 'पीले' रग का प्रत्यय देने के लिये हम इन रगो को किसी मूर्त वस्तु, जिसका प्रत्यय बालक को हो चुका है, से सम्बन्धित करते है। हम कहते हैं 'बकरी काली है' अथवा 'यह फूल पीला' है। बालक को 'बकरी' और 'फूल' का प्रत्यय हो चुका है। अत. इन मूर्त प्रत्ययो के आधार पर वह काले और पीले के अमूर्त प्रत्यय को समझने मे समर्थ होता है। किसी वस्तु के विषय मे उसके विभिन्न निर्णय उस वस्तु का उसका वर्णन कहा जा सकता है। अत' बालक को निरीक्षण की वस्तु का वर्णन करने के लिये उत्साहित करना उसे 'निर्णय' करने मे शिक्षित करना है। इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षक को आवश्यकता पडने पर ही यदाकदा कुछ कह देना है। उसे अपनी भाषण देने की प्रवृत्ति को रोकना है। निरीक्षण के बाद अपने भावो को व्यक्ति करने के लिये बालक को सदा उत्साहित करते रहना चाहिये। भावो को भाषा मे व्यक्ति करने से प्रत्ययो मे और स्पष्टता आ जाती है।

बालक को स्वत निर्णय पर पहुँचने मे उत्साहित करने के लिये शिक्षक को कुछ बातो पर ध्यान देना आवश्यक है। बालको की बुद्धि और अनुभव प्रौढ व्यक्ति के सदृश् परिपक्व नही होते। निर्णय करने मे उन्हे अधिक समय की आवश्यकता है। अत उन्हे पर्याप्त समय देना आवश्यक है। बालक को ऐसी परिस्थिति मे रखना चाहिये कि निर्णय करने मे वह स्वतन्त्रता का अनुभव कर सके। बहुधा ऐसा होता है कि बालक अपने बडो के विचारो का अनुसरण करता है। यह अभिभावको और शिक्षको की अमनोवैज्ञानिक आलोचनात्मक प्रवृत्ति का ही फल है। बालक के कुछ गलती करने पर कुछ लोग ऐसी बाते कहने लगते हैं कि वह अपनी स्वतन्त्र निर्णय करने की शक्ति ही खो बैठता है। किसी बात का निश्चय करने के लिये वह यहाँ-वहाँ राय के लिये दौडता फिरता है। अपने विचारो के विकास के लिये बालक को पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। उसे अपने ही रग मे रगना माता-पिता को उचित नही। इससे वह अपने निर्णय-शक्ति को खो बैठेगा और उसके व्यक्तित्व का ह्रास होगा।

ग—स्पीयरमैन के ज्ञान-सम्बन्धी नियम[1]

तर्क पर विचार करने के पूर्व स्पीयरमैन के ज्ञान-सम्बन्धी नियम पर विचार कर लेना उपयुक्त दिखलाई पडता है, क्योकि इन नियमो से मस्तिष्क की क्रिया पर अच्छा प्रकाश पडता है। ये इस प्रकार हैं —

(१) चेतना का सिद्धान्त[2]

(२) सम्बन्ध-ज्ञान[3]—

(३) सम्बन्धी-ज्ञान[4]—

(१) चेतना का सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को अपने प्रत्येक अनुभव के विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान होता है। यदि ऐसा न हो तो विभिन्न अनुभवो के वीच में व्यक्ति कुछ समझ न पाये। हँसना और रोना, पानी व दूध पीना आदि उसे समान लगेंगे। किसी अनुभव में व्यक्ति को दो बातो का ज्ञान होता है। मान लीजिये, हम दूध पी रहे है। पहले हमे दूध के मिठास का अनुभव होता है, फिर हम यह अनुभव करते हैं कि दूध के मिठास का अनुभव करने वाले 'हम' हैं। इस प्रकार हमे चेतना के सिद्धान्त के अनुसार 'अनुभव के स्वरूप' तथा 'अनुभवी' का ज्ञान होता है।

(२) सम्बन्ध-ज्ञान—

इस सिद्धान्त के अनुसार हमे वस्तुओ के परस्पर-सम्बन्ध का ज्ञान होता है। चेतना-सिद्धान्त मे ऐसा नही होता। उसमे हमें केवल वस्तु का ज्ञान होता है। मैदान मे रखी हुई पाँच कुर्सियो को हम देख रहे हैं। सम्वन्ध-ज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार हम यह जानने मे समर्थ होते हैं कि कौन कुर्सी छोटी है और कौन वड़ी है। छोटे और वडे का ज्ञान छोटे बालक को कदाचित् न होगा। वस्तुओ के परस्पर-सम्वन्ध को वह कुछ अनुभव के बाद ही समझ सकेगा। अनुभव के बढने पर प्राय परस्पर-सम्वन्ध खोजने की प्रवृति व्यक्ति में आ जाती है। विभिन्न वस्तुओं का अनुभव तथा उनके परस्पर-सम्बन्ध का ज्ञान प्रायः एक साथ ही होने लगता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु के अनुभव के साथ जानी हुई उससे सम्वन्धित अन्य वस्तु का भी हमें स्मरण हो आता है। स्मृति के अध्याय मे इन सब बातो पर प्रसगानुसार हम प्रकाश डाल चुके हैं। हम जब बछडे को देखते हैं तो उससे सम्बन्धित गाय का भी ज्ञान हमारी चेतना मे आ जाता है।

(३) सम्बन्धी-ज्ञान—

कहना न होगा कि स्पीयरमैन के उपर्युक्त तीन नियम हमारी चिन्तन क्रिया के

---

1. Spearman's Laws of Cognition. 2. Apprehension of Experience. 3. Eduction of Relations. 4. Eduction of Correlates.

आवश्यक अंग हैं। प्रत्यय बनने अथवा निर्णय करने में ये तीन नियम बडे सहायक होते हैं। स्पीयरमैन के तीन नियमो और बालक के मनोवैज्ञानिक और तार्किक क्रम मे बडा सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। क्रमश मानसिक विकास को हम मनोवैज्ञानिक क्रम कह सकते हैं। बालकों को सबसे पहले अपनी माँ का व घर तथा पड़ोसी का क्रमानुसार ज्ञान होता है। पहले उसे व्यक्तिवाचक संज्ञा का ज्ञान होता है, तब जातिवाचक और भाववाचक का। इस प्रकार के विकास को प्रत्यय की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक क्रम के अनुसार उसकी शिक्षा का सचालन करना चाहिए। अर्थात् पहले उसे निकटतम वातावरण तथा दैनिक जीवन-सम्बन्धी आवश्यक वस्तुओ का ज्ञान देकर तब आगे बढना चाहिये। तार्किक क्रम इस मनोवैज्ञानिक क्रम के बाद आता है। मनोवैज्ञानिक क्रम की समानता हम स्पीयरमैन के चेतना-सिद्धान्त मे पाते हैं। चेतना-सिद्धान्त प्रत्यय का आधार है। जब व्यक्ति तार्किक क्रम की अवस्था पर पहुँचता है तो विभिन्न वस्तुओ के अध्ययन मे उसे एक सम्बन्ध-ज्ञान (इडक्शन आव रीलेशन) होता है। यह सम्बन्ध-ज्ञान उन वस्तुओ के देश, काल, गुण तथा मात्रा से सम्बन्ध रखता है। तार्किक क्रिया मे विभिन्न वस्तुओं के अध्ययन मे उसे एक दूसरा रूप भी दिखलाई पडता है। यह रूप सम्बन्धी-ज्ञान (इडक्शन ऑव कोरीलेट्स) का है। किसी वस्तु के अध्ययन से उससे सम्बन्धित किसी दूसरी वस्तु का ध्यान हमे स्वत आ जाता है। स्पीयरमैन के इन नियमो का तर्क अथवा शिक्षा मे बडा महत्त्व है। जब हम तर्क करते हैं तो एक विचार के आते पर उससे सम्बन्धित दूसरा विचार भी अपने आप उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार तर्क-क्रिया मे वडी सहायता मिलती है। अब यह सरलता से समझा जा सकता है कि 'सन्बन्धी-ज्ञान' सिद्धान्त के सहारे ही शिक्षक अपने पाठ को बालक के पूर्वानुवर्ती ज्ञान से सम्बन्धित कर बालक के ज्ञान को स्थायी बनाता है।

घ—तर्क[1]

१—स्वरूप

'तर्क' चिन्तन की सर्वोत्कृष्ट क्रिया-अवस्था है। इसकी स्थिति मस्तिष्क के सुसंगठित हो जाने पर आती है। बालको का मस्तिष्क सुसंगठित नही होता। अत वे तर्क करने मे समर्थ नही होते। हम यह भी कह सकते हैं कि अपने-अपने मनोविकास के अनुसार कुछ न कुछ सभी तर्क करते हैं, क्योंकि तर्क भी एक प्रकार का चिन्तन ही है, पर यह उच्च कोटि का चिन्तन है, तर्क वर्तमान की ओर भी सकेत करता है। 'वस्तुओं के प्रत्यय' तथा 'निर्णय-शक्ति' के प्राप्त कर लेने पर ही तर्क-क्रिया चल सकती है। किसी विषय या परिस्थिति के आने पर व्यक्ति तर्कशील होता है। डीवी[2] के अनुसार "शका

1. Reasoning. 2. How We Think. p. 9.

की उपस्थिति तथा अन्वेषण करने की आवश्यकता तर्क के लिये आवश्यक है। जब किसी जटिल समस्या के आने पर मानसिक क्रिया रुक जाती है तब तर्क की क्रिया चलती है। तर्क किस प्रकार उत्पन्न होता है यह एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है। कुछ दार्शनिको का मत है कि तर्क मानव आत्मा की एक विशेषता है, तथा तर्क-शक्ति ईश्वर प्रदत्त होती है। तर्क में व्यक्ति की रचनात्मक कल्पना[1] काम करती है। तर्क मे प्राप्त प्रत्ययो के आधार पर नई परिस्थितियो को समझने की चेष्टा की जाती है और तर्क किसी वस्तु के प्रत्यय प्राप्त करने की ओर भी लक्षित किया जाता है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि तर्क द्वारा वर्तमान का निरीक्षण कर अतीत के अनुभव के आधार पर एक निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की जाती है। यह निष्कर्ष निकालना ही तर्क की आत्मा है।

तर्क की क्रिया मे व्यक्ति भौतिक परिस्थितियो की अवहेलना नही कर सकता। वाह्य नियमो को मान कर ही उसे चलना पड़ता है। कल्पना में वह इनका अतिक्रमण कर सकता है, पर तर्क में नही। यदि खोई हुई थाली उसे खोजनी है तो घड़े मे हाथ डालना मूर्खता का द्योतक होगा। उसे यह समझना होगा कि थाली घड़े मे नही जा सकती। यदि उसे विना भीगे नदी पर करना है तो नाव का अवलम्वन लेना ही पडेगा। तर्क के सहारे उड कर उस पार जाने मे वह समर्थ नही हो सकता। तर्क एक ऐसा परीक्षण है जिसके सहारे कल्पना मे ही भावी फल का अनुमान लगा लिया जाता है। छोटे बालक और प्रौढ व्यक्ति के चिन्तन मे मुख्य अन्तर यह है कि बालक अपने विचार को कार्य रूप मे देख उसके फल को निर्धारित करना है, अर्थात् विशेषकर वह 'प्रयास एव त्रुटि' की विधि के अनुसार कार्य करने को वाध्य होता है। एक प्रौढ व्यक्ति की ऐसी स्थिति नही। वह अपना कार्य तर्क के वल पर करता है। उदाहरणार्थ, कोई साधारण विद्यार्थी गणित के किसी प्रश्न के हल करने में वार-वार लिखता और काटता है, पर तीव्र विद्यार्थी अपनी कल्पना के सहारे ही शीघ्र समझ लेता है कि किसी विधि मे प्रश्न का हल करना होगा। इस प्रकार वह अपने तर्क के वल पर शीघ्र निर्णय पर पहुँचने मे समर्थ होता है। एक वात पर यहाँ ध्यान देना आवश्यक है। ऊपर चिन्तन की जितनी प्रक्रियाये वतलाई गई है उनमे प्रकारगत भेद नही है। सवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण प्रत्यय-ज्ञान, निर्णय तथा तर्क आदि सभी क्रियाये एक दूसरे से और पर सम्वन्धित व आश्रित हैं।

२—तर्क के प्रकार[2]

तर्क के स्वरूप को समझ लेने के वाद अव तर्क के प्रकार पर विचार करना ठीक होगा। तर्क में या तो हम अपने सचित सस्कार से प्राप्त सिद्धान्तो के अनुसार

---

1 Constructive Imagination. 2. Kinds of Reasoning.

कार्य करते हैं; या अन्वेषण कर नये सिद्धान्तो की खोज करते हैं। इस दृष्टि से तर्क के दो प्रकार का उल्लेख किया जा सकता है—सिद्धान्तात्मक (डिडक्टिव्) और परिणामात्मक (इनडक्टिव्)। नीचे प्रत्येक पर अलग-अलग विचार किया जायगा।

(१) सिद्धान्तात्मक[1] तर्क—

हम अपने जीवन के बहुत से कार्य दूसरो के अनुभवो के आधार पर सचालित किया करते है। हम सुन लेते हैं कि अमुक वस्तु विष वस्तु तुल्य है और उसके खाने से मृत्यु हो सकती है। अत: हम उस वस्तु को नही खाते। हम सुनते है कि यह औषधि ज्वर के लिये वडी अच्छी दवा है। अत. इस अनुभव को स्वीकार कर हम भी उस दवा का सेवन करते हैं। हम सुनते हैं कि दरवाजा खुला रहने से चोर चोरी कर ले जाता है। अतः हम अपना दरवाजा बन्द रखते हैं। इस प्रकार हमारे बहुत से कार्य दूसरो के अनुभव पर चला करते हैं।

हम एक घोड़े को देखते ही उसे भला या बुरा घोषित कर देते हैं, क्योकि घोड़े की अच्छाई अथवा बुराई के बारे मे हमे कुछ ज्ञान है। हम जानते हैं कि जिस घोड़े का पेट बहुत बडा व नीचे को लटका रहता है वह अच्छा नही होता। इस सत्य में हमारा विश्वास होता है। अतः किसी बड़े पेट वाले घोड़े को देख हम निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि वह घोडा अच्छा नही है। इस प्रकार मूर्त वस्तु को देख कर सिद्धान्त द्वारा निष्कर्ष पर पहुँच जाना बडा सरल होता है, क्योंकि इसमें निरीक्षण करने मे कठिनाई नही होती। पर जहाँ निरीक्षण में कठिनाई होती है वहाँ सिद्धान्तो के अनुसार कार्य करना सरल नही होता। डाक्टर रोगी का निरीक्षण कर रहा है, पर उसे रोग का निदान समझना कठिन हो रहा है। फोडे होने के कई कारण होते हैं। रक्त-शोधन के लिये किस सिद्धान्त के अनुसार रोगी को दवा दी जाय यह वह नही समझ रहा है। अतः सूक्ष्म दृष्टि से वह शरीर के सभी चिन्हो का निरीक्षण करता है। आँख, मुँह, दाँत, हाथ व पैर आदि सभी को भली-भाँति देख वह एक निष्कर्ष पर पहुँचता है। यदि डाक्टर बहुत अनुभवी हुआ तो वह अपने निष्कर्ष पर शीघ्र पहुँच जायगा, अन्यथा वह असफल होगा। अनुभव के अभाव मे नया डाक्टर रोग के चिन्हों का भली-भाँति निरीक्षण नही कर पाता। अतः रोग व दवा के सिद्धान्त से पूर्णत. परिचित होते हुए भी वह निष्कर्ष पर पहुँचने मे असफल होता है। यही दशा बिना अनुभव के बालक की भी होती है। सभी प्रकार के आवश्यक प्रत्ययो के रखते हुए भी कभी-कभी बालक निष्कर्ष पर पहुँचने मे सफल नहीं हो पाता। जैसे डाक्टर सिद्धान्तों को जानते हुए भी ठीक सिद्धान्त को चुनने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार बालक सब कुछ जानते हुए भी निष्कर्ष पर कभी नही पहुँच पाता। कभी-कभी उसकी असफलता का कारण

1. Deductive Reasoning.

उसके विचारों (आइडियाज) का अभाव भी होता हैं। पर प्राय: यह देखा जाता है कि उसमें सूक्ष्मतम निरीक्षण करने की शक्ति का विकास नही हुआ रहता, जिससे वह अपने प्राचीन अनुभवो में से यह नही तय कर पाता कि कौन सा अनुभव समस्या के हल में सहायक होगा ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार सिद्धान्तात्मक प्रणाली की प्रक्रिया का क्रम हम इस प्रकार दे सकते हैं। सबसे पहले हमारे सामने समस्या आती है। समस्या के आने पर उसके हल करने के उपाय में हम लग जाते हैं। उपाय की खोज में हम अपनी सभी पुराने अनुभवो पर दृष्टिपात कर उसे हल करने के लिये एक सिद्धान्त को ढूँढ़ लेते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्या को हल कर हम सन्तोष प्राप्त करते हैं।

(२) परिणामात्मक तर्क[1]—

इसके द्वारा किसी नये सिद्धान्त की खोज की जाती है। अपने अनुभव के आधार पर परिणाम निकालने की चेष्टा की जाती है। एक प्रकार से सिद्धान्तात्मक तर्क का यह उलटा जान पडता है। सिद्धान्तात्मक तर्क मे हम एक सिद्धान्त को मान कर दूसरी बातो मे उसका उपयोग करते हैं। परिणामात्मक तर्क में पहले से कोई सिद्धान्त नही माना जाता। इसमे पहले हम प्रदत्तो (डेटा) का सूक्ष्मतम निरीक्षण कर अपनी आवश्यकतानुसार उसको एकत्रित करते हैं। इसके बाद उनका वर्गीकरण कर उनके सम्बन्ध में एक नियम की कल्पना कर ली जाती है। कल्पना के बाद प्रयोगो द्वारा कल्पना की सत्यता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया जाता है। अन्त मे प्रयोगो के फलस्वरूप एक सिद्धान्त का निर्माण किया जाता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये, किसी अध्यापक को विभिन्न प्रकार की सज्ञायें बालक को समझानी हैं। सज्ञा के भेद को समझाने के लिये अध्यापक पहले उसकी परिभाषा नहीं देगा। पहले वह कुछ ऐसे वाक्यो को बालको के सामने रखेगा जिनमे सभी प्रकार की सज्ञाये रहेगी। पहले उसे जातिवाचक सज्ञा वाले वाक्यो को लेना चाहिये। कई उदाहरणो की सहायता से बालको को यह समझाया जाता है कि गाय, हाथी, फूल और शहर आदि शब्दो के प्रयोग से इस जाति के सभी गाय, हाथी, फूल और शहर आदि का बोध हो जाता है। प्रश्नो द्वारा बालक को निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता दी जाती है। अन्त मे बालक जातिवाचक सज्ञा की परिभाषा स्वय दे देता है। इसी प्रकार उन्हे व्यक्ति और भाववाचक सज्ञाये भी बतलाई जा सकती हैं। साथ ही साथ उनकी इस प्रकार तुलना भी की जा सकती है कि सिद्धान्त का स्पष्टीकरण हो जाय। हरबार्ट के नियमित पद[2] परिणामात्मक प्रणाली का ही समर्थन करते हैं। विज्ञान और व्याकरण का अध्ययन प्राय: इसी प्रणाली से किया जाता है।

---

1. Deductive Reasoning. 2. Herbart's Formal Steps.

सिद्धान्तात्मक और परिणामात्मक प्रणाली की तुलना से हमारे विचार में कुछ अधिक स्पष्टता आ जायगी। डम्विल का कहना है कि "परिणामात्मक प्रणाली का प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ हमारे विचार समस्या को हल करने मे समर्थ नही होते, और वस्तु के निरीक्षण के लिये हम आगे बढते है। पर जब हमें अपने प्राप्त विचारो से ही समस्या का पूरा हल दिखलाई पडता है तो हम सिद्धान्तात्मक प्रणाली के अनुसार चलते है। जब हमे नये विचारो की खोज करनी पडती है तो हम परिणामात्मक प्रणाली का अनुसरण करते हैं।" परिणामात्मक प्रणाली के अनुसार चलने का प्रयत्न बहुत कम विद्यार्थी करते हैं। शिक्षको को उचित है कि वे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करे कि विद्यार्थी इस प्रणाली से कार्य करने के लिये उत्साहित हो। यदि विद्यार्थी को सफलता नही मिलती तो भी प्रयत्न से उसके विचार कुछ अधिक स्पष्ट तो अवश्य ही हो जाँ गे। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ेगा कि सिद्धान्तात्मक और परिणामात्मक प्रणालियाँ एक दूसरे पर निर्भर हैं।

ङ—भाषा और चिन्तन

कॉलिन्स और ड्रेवर का कहना है कि "भाषा के द्वारा मनुष्य अपने चिन्तनो को नियन्त्रित कर उसे ठीक ढग मे चलाने में सफल होता है।"[1] डम्विल महोदय का कहना है किसी जाति के भाषा-विकास का इतिहास उसकी बुद्धि-विकास का इतिहास है। भाषा के आधार पर ही मनुष्य पशुओ से श्रेष्ठ हो सका है। सभ्यता के विकास के साथ भाषा का भी विकास होता रहता है। यही बात व्यक्ति के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। बालक पहले मूर्त वस्तुओं को पहचानता है। उसके बाद उसे विचार तथा भाषा का ज्ञान होता है। शिक्षा का तात्पर्य भाषा-विकास से है। व्यक्ति के शब्द-चयन से उसकी बुद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है।[2] भाषा का 'चिन्तन' से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचारो को प्रकट करने के लिये भाषा एक साधन है। इसके अतिरिक्त विचारो को सोचते हुए भी हम भाषा का मन ही मन प्रयोग करते हैं, अर्थात् भीतर ही भीतर हम बात करते हुए सोचते हैं। अत भाषा बिना विचारों की उत्पत्ति सम्भव नही। भाषा के ही कारण हम दूसरों के अनुभव से लाभ उठाने मे समर्थ होते हैं। वास्तव मे यदि भाषा न होती तो हमारा जीवन पशुवत् होता।

सकेत तथा चित्र से भी कभी-कभी हम अपने भावों को व्यक्त करते हैं। प्यास लगती है तो हम मुँह के पास हाथ ले जाकर एक विशिष्ट सकेत करते हैं। भूख लगने पर पेट दिखलाते हैं। आँखों के ऊपर वा नीचे करने से हम सुखद या दु:खद मनोभाव व्यक्त कर सकते हैं। उँगलियाँ हिला कर हम किसी को आने या जाने का संकेत करते

१ एक्सपेरिमेंटल साइकॉलॉजी—पृ० २४३। २ द फण्डामेण्टल ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय ७।

हैं। चित्रकार अपनी मनोदशा का वर्णन चित्र द्वारा करने में समर्थ होता है। सकेत अथवा चित्र का अर्थ भी कुछ भाषा अथवा शब्द ही हुआ करता है, अर्थात् कुछ शब्दो का अर्थ हम सकेत अथवा चित्र द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि चिन्तन-क्रम में भाषा का स्थान मुख्य है।

१—भाषा की उत्पत्ति[1]

भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न बड़ा मनोरजक है। कदाचित् सभ्यता के आदि काल मे मनुष्य विभिन्न ध्वनियो और शारीरिक गतियो के द्वारा अपना विचार व्यक्त किया करता था। ये ध्वनियाँ और शारीरिक गतियाँ ही भाषा के आधार हैं। उदाहरणार्थ, बिल्ली की म्याऊँ-म्याऊँ, शेर का दहाडना, हाथी का चिंघाडना, घोड़े का हिनहिनाना, बकरी का में मे करना, गाय का बाँ बाँ आदि ध्वनियो के आधार पर ही इनसे सम्बन्धित शब्दो का निर्माण किया गया। हँसने, रोने, दौडने व बोलने इत्यादि की हमारी शारीरिक गतियो के अनुसार कुछ शब्दो की सूची बनी। भाषा की उत्पत्ति का आधार कुछ लौकिक भी कहा जा सकता है। एक विशिष्ट प्रकार के जानवर को मनुष्य ने घोडा पुकारना प्रारम्भ किया। अत उसका नाम घोड़ा पड गया। यदि उसे बकरी पुकारना आज से आरम्भ कर दिया जाय तो निश्चय ही उसका नाम बकरी पड़ जायगा। वस्तुओ के गुणो के आधार पर भी कुछ शब्दो को बनाया गया। नम्रता व कठोरता आदि शब्द कुछ वस्तुओ से सम्बन्धित प्रभावो के आधार पर बना लिए गए हैं। उपर्युक्त सिद्धान्तो का पूर्ण समर्थन भले ही न किया जा सके, पर इतना तो सत्य है कि शब्दो का निर्माण कल्पना के बल पर नही किया गया। उनमे कुछ न कुछ स्वाभाविक सकेत अवश्य ही निहित दिखलाई पडता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि वातावरण तथा विभिन्न जातियो के परस्पर-मिलन के फलस्वरूप कुछ शब्दो का उत्तरोत्तर विकास होता गया और अब उनके वास्तविक रूप को पहचानना बडा कठिन है।

२—भाषा और मनोविकास[2]

शब्दो के ही सहारे हम अपने प्रत्ययो को मस्तिष्क में स्थायी बनाने में समर्थ होते हैं। किसी वस्तु को समझने के बाद हम उसका नामकरण कर देते हैं। पश्चात् हम उसे प्रत्यय रूप मे अपने ज्ञान का स्थायी अग बना लेते हैं। भाषा चिन्तन से सम्बन्धित है, अत मनोविकास में भाषा का एक विशिष्ट स्थान है। मनोविकास के साथ व्यक्ति का भाषा-विकास भी होता जाता है। बडे बालक के समान छोटा नही बोल सकता, क्योकि उसका मनोविकास कम हुआ रहता है। वकील, लेखक, शिक्षक

1 Origin of Language. 2. Lnaguage and Mental Development.

तथा धर्मोपदेशको का भाषा ज्ञान अधिक होता है, क्योंकि उनका मनोविकास अधिक हुआ रहता है। अशिक्षित व्यक्ति को पग-पग पर अपने भावों को व्यक्त करने में कठिनाई होती है, क्योंकि उसका मनोविकास भली-भाँति नही हुआ रहता। जिस जाति का मनोविकास अधिक होता है उसकी भाषा भी धनी होती है। हमारे देश में विभिन्न वैज्ञानिक विषयों का पूर्णतः विकास नहीं हो पाया है। बहुत कम लोग उनसे परिचित दिखलाई पडते हैं। अत हमारी देशीय भापाओ मे तत्सम्बन्धी शब्दो का भी अभाव स्पष्ट है। पर कोई भापा कितनी ही घनी क्यो न हो उसमे भावो को पूर्णत. व्यक्त करने की क्षमता का अभाव ही रहता है। मनोभावो की दौड़ान मे भाषा पार नही पाती। बडे से बडे लेखक और भापणवक्ता अपने भावो को व्यक्त करने के लिये शब्दो की खोज करते पाये जाते हैं। कदाचित् यह प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है कि कभी-कभी स्वाद का अनुभव करने पर भी उसे शब्दों मे प्रकट करना असम्भव सा दिखलाई पडता है।

३—बालक में भाषा विकास[1]

यदि मनोविकास और भापा का घनिष्ठ सम्बन्ध है तो बालक के भाषा-विकास की ओर अभिभावक और शिक्षक का उचित ध्यान देना आवश्यक है। प्राय. लोगो की धारणा है कि बालक भाषा-ज्ञान स्वत प्राप्त कर लेता है और उसके लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नही। बालक का भाषा-ज्ञान बडे धीरे-धीरे होता है। भाषा सीखने मे उसकी अनुकरण की प्रवृत्ति प्रधान होती है। जिस शब्द को वह बार-बार सुनता है उसका उच्चारण करना वह सीख लेता है। पहले पहल कुछ निरर्थक शब्द ही वह बोल पाता है। उन्ही के सहारे वह अपने भावो को दूसरो के सामने व्यक्त करना चाहता है। इन शब्दो और उसके भावो से कुछ भी सम्बन्ध नही होता, तथापि वह उनका प्रयोग करता ही है। बन्नू जब ढाई साल का था तो 'पानी' की ओर 'दम' शब्द से सकेत करता था। प्यास लगने पर वह 'दम' शब्द का ही उच्चारण करता था। यह समझना सरल नही कि उसने 'दम' शब्द का ही प्रयोग क्यो किया। कदाचित् उसने अपने वातावरण में 'दम' शब्द का अधिक प्रयोग सुना, या संयोगवश विशिष्ट उद्दीपक के अवसर पर 'दम' शब्द उसके कानो मे पडा और उसने उसे उच्चारित करना सीख लिया। इसका एक दूसरा कारण भी हो सकता है। माँ के लिए उसने 'मम' कहना आरम्भ किया। अत प्रत्येक वस्तु का नाम उसने 'मम' रख दिया। पानी की ओर भी उसने 'मम' शब्द से सकेत करना चाहा। इस प्रकार पानी के लिए 'मम' और दो के लिये 'द । 'द' और 'मम' का सयोग कर उसने 'पानी दो' के लिये

---

1. Language Development in the Child.

'दम' शब्द की रचना कर ली । बालक के मनोविकास की दृष्टि से यह कारण अधिक मनोवैज्ञानिक दिखलाई पड़ता है ।

छोटे बालक कुछ सार्थक शब्दो का भी उच्चारण करते है। पर उनके अर्थ को वे नही समझ पाते । अनुकरण से ही वे इन शब्दो को सीखते है। वर्णमाला के चित्र को देख कर ढाई साल की आद्या ने अनार, आम, एक्का, ओखली, औरत, ऋषि और कबूतर कहना सीख लिया। यदि उससे 'अनार' और 'आम' कहा जाय तो 'एक्का' वह स्वय बोल देगी । उसे अभी दस तक की क्रम से गिनती नही आती, पर एक, दो, तीन, उसे गिनाया जाय तो ग्यारह, बारह, पन्द्रह व सोलह वह स्वय कह जायगी । बिना अर्थ समझे अनुकरण से उसने ऐसा सीख लिया है । सभी बालको मे समान रूप में भाषा-विकास नही होता । यह वैयक्तिक भेद पर निर्भर करता है। कोई बालक साल भर के भीतर ही कुछ बोलना आरम्भ कर देता है और कोई तीन साल पर भी भाषा सीखने में सन्तोषजनक उन्नति नही कर पाता ।

भाषा-विकास सदा अविरल गति से नही चला करता । कुछ दिन सीख लेने के बाद मस्तिष्क अपने सस्कारो को सुसगठित करता है । इस समय ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उन्नति रुक गई है । पर ऐसा सोचना भ्रम है । अपने समय पर मस्तिष्क पुन सीखना प्रारम्भ कर देता है । बालिकाओ मे अनुकरण-प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती है । अत- बालको की अपेक्षा वे भाषा अधिक शीघ्र सीख लेती हैं । भाषा सीखने मे अनुकरण-प्रवृत्ति बहुत काम आती हैं । बालक प्रौढो से अधिक अनुकरणशील होता है । अत उसका भाषा ज्ञान प्रौढो से अधिक शीघ्र होता है । बालक अपने समवयस्क का अनुकरण करने मे बडी रुचि रखता है। यदि अपनी उम्र के साथी उसे प्राप्त हो जाते है तो उसके भाषा-विकास की गति अधिक तीव्र हो जाती है । जिन बालकों को अपनी उम्र के साथी नही मिलते उसका भाषा-विकास बडी शिथिलता से चलता है । अत' अभिभावको को बालक के उचित वातावरण पर सदा ध्यान रखना चाहिये । यदि बालक भाषा-ज्ञान मे पिछडा रहा तो वह मन्द-बुद्धि हो जायगा । अत अभिभावको और शिक्षको को बालक को भाषा सीखने के लिए सदा उत्साहित करते रहना चाहिए। भाषा-ज्ञान बढाने के लिए माता-पिता को स्वय यदाकदा उपयुक्त अवसर पर बालको से बातचीत करनी चाहिए । विभिन्न खिलौने की सहायता से बालको का शब्द-चयन बढाया जा सकता है ।

बालक की भाषा की विलक्षणतायें[1]—

बालक नित्य हजारो शब्दो को सुनता है, पर सबको सीखने का प्रयत्न नही करता । उसे जो शब्द सुनने मे आकर्षक लगते हैं उन्ही को वह सीखता है । आद्या

1. Characteristics of the child's language.

को सितार और तबले की ध्वनि बड़ी मनोहर लगती है। अत. ढाई साल की उम्र मे ही वाद्य-सम्बन्धी कई उपकरणो का नाम याद कर लेने मे उसे कठिनाई नही हुई। अपना भाव व्यक्त करने मे बालक सकेतो का भी उपयोग करता है। एक साल का बालक उँगलियो के सकेत से लोगों को बुलाना सीख लेता है। अपने भाव को व्यक्त करने मे सकेत से बडी सहायता मिलती है। बातचीत करते, पढाते तथा भाषण करते समय हम सदा हाथ व मुँह से सकेत किया करते हैं। यदि इन सकेतों के बिना ही हमे अपना भाव-प्रकाशन करना हो तो श्रोता पर हम यथेष्ठ प्रभाव नहीं डाल सकेंगे। यदि संकेतो की सहायता से बालक को भाषा ज्ञान कराया जाय तो उसका भाषा-विकास शीघ्र होगा। बालक शब्दो के सीखने मे प्राय. उनके रूप मे परिवर्त्तन कर दिया करता है। दो साल की मुन्नी 'चाचा' को 'ताता' और माँ को 'मम्मा' पुकारती है। शब्दो के इन परिवर्त्तन को सुधारने की कोई आवश्यकता नही। सुधारने का प्रयत्न बालक के मानसिक विकास में बाधक हो सकता है। समय आने पर शब्दों का ठीक उच्चारण बालक स्वय समझ लेता है। जैसे प्रौढो के 'बोध' और 'प्रयोग-शब्द-चयन' मे भेद होता है उसी प्रकार बालक के भाषा-ज्ञान मे भी भेद दिखलाई पडता है। बालक कई शब्दो को समझ सकता है पर उन सब का वह प्रयोग नही कर सकता।

भाषा-विकास की अवस्थायें[2]—

भाषा-विकास की पहली अवस्था निरर्थक शब्दोच्चारण की होती है। यह अवस्था प्राय एक साल तक चलती है। निरर्थक शब्दो के उच्चारण से वह सार्थक शब्दो के उच्चारण की तैयारी करता है। प्रायः डेढ साल का हो जाने पर बालक सार्थक शब्दो का उच्चारण करने लगता है। यह विकास की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था मे उस क्रिया का ज्ञान नही रहता। उसके शब्द-ज्ञान मे सभी सज्ञाये ही होती है। यह प्रत्यक्ष-वस्तुओ के ज्ञान प्राप्त करने की अवस्था होती है। अत विभिन्न प्रकार की वस्तुये उसके सामने उपस्थित की जाँय तो उसका शब्द-ज्ञान शीघ्र बढेगा। तीसरी अवस्था मे बालक कुछ सरल वाक्यो के प्रयोग मे समर्थ होता है। यह अवस्था प्राय २ वर्ष से ४ वर्ष तक चलती है। इस अवस्था मे बालक क्रिया, विशेषण और अव्यय का भी प्रयोग करने लगता है, "जैसे माँ लोती खाऊँगा, 'यह लेल गाली है' 'मै बाहर खेलूँगा' इत्यादि। इस अवस्था मे भी उसके शब्द परिवर्त्तन की प्रवृत्ति बदलती नही और उसके वाक्य दो या तीन शब्द के ही बने होते हैं। बालक को इस काल में कुछ देश व काल का भी ज्ञान हो जाता है। वह कह सकता है कि 'बाबूजी बाजार गये हैं, या 'तुम कल आना'। भाषा-विकास की चौथी अवस्था चौथे वर्ष से प्रारम्भ होती है। इस काल मे उसमें विभिन्न विचारो का विकास होता है। वह घटना को देखने से ही

---

2. Stages of language development.

सन्तुष्ट नही होता, वरन् उसका कारण भी जानना चाहता है। सरल वाक्यों के अतिरिक्त भाववाचक सज्ञा वाले वाक्यों का भी वह प्रयोग करने लगता है। उसके वाक्य अब लम्बे भी होते हैं। कुछ शब्दो को वह स्वय गढ़ना भी सीख लेता है, जैसे 'तरकारी वाली' व 'दूध वाला' इत्यादि।

४—भाषा की शिक्षा

उपर्युक्त विवेचन के बाद भाषा-शिक्षण विधि पर थोडा प्रकाश डालना उचित होगा। ऊपर हम कह चुके है कि मनोविकास का भाषा-विकास से घनिष्ट सम्बन्ध है। अत भाषा की शिक्षा पर ध्यान देना बडा ही आवश्यक है। यदि इस शिक्षा पर प्रारम्भ मे ही ध्यान न दिया गया तो बाद में ध्यान देने पर भी यथेष्ठ लाभ न होगा। उचित मनोविकास के लिये बालक को सर्वप्रथम मातृ-भाषा मे शिक्षा देना आवश्यक है। मातृभाषा के ठीक ज्ञान पर ही उसके अन्य विषय के ज्ञान निर्भर रहेगे। अतः प्रारम्भ मे मातृभाषा पर विशेष ध्यान देना चाहिये। भाषा-शिक्षा के 'बोलना', 'पढ़ना', और 'लिखना' तीन प्रधान अग हैं। इन तीनो अगो पर उचित ध्यान देना आवश्यक है। पहले 'बोलने' में शिक्षा देनी चाहिये। 'बोलने' की शिक्षा किस प्रकार देनी चाहिये इस पर ऊपर यथास्थान हम सकेत करते आये हैं। बालक जब साधारण बात करने मे समर्थ हो जाता है तो उसे छोटी कहानियाँ सुनानी चाहिये। साधारण चित्रो का वर्णन करने के लिये उसे प्रोत्साहित करना चाहिये। सरल वस्तुओ को देकर उनके विषय मे उनसे कुछ कहने के लिये कहना चाहिये। मनोविकास में कानो की शिक्षा का महत्त्व प्राय. सभी मनोवैज्ञानिको ने स्वीकार किया है। अत. इसका तात्पर्य यह हुआ कि बालको को बातचीत करने को सदा प्रोत्साहित करते रहना चाहिये।

बोलना सीखने के बाद पढने की बारी आती है। पढने से भाषा-विकास की गति बहुत बढ जाती है। पढने में योग्यता प्राप्त करने से ही बालक अपने पूर्वजो के अनुभव से लाभ उठा सकता है। यदि उसे पढना न आये तो मनोविकास की गति शीघ्र रुक जायगी। पर पुस्तक की बातो को भली-भाँति समझने के लिये उसे सामान्य बातो का ज्ञान बातचीत से प्राप्त कर लेना आवश्यक है। पढने की योग्यता प्राप्त करने के प्रयत्न मे 'बोलने' के महत्त्व को भूल नहीं जाना है। अतः पढने के बाद बालको को अपने भाव-प्रकाशन के लिये उत्साहित करना चाहिये। पढने मे सस्वर और मौन पाठ दोनो पर ध्यान देना आवश्यक है। सस्वर पाठ से उसे शब्दो का ठीक उच्चारण आयेगा और मौन पाठ से समझने की शक्ति का विकास होगा। सस्वर पाठ ऐसा हो कि पढी हुई वस्तु को बालक स्वयं समझता जाय और सुनने वाले भी समझते जाँय। प्राय. ऐसा होता है कि बिना कुछ समझे ही बालक धड़ल्ले से पढता जाता है। उचित

शिक्षा का अभाव ही इसका कारण है। बालक को यह नही बतलाया गया है कि पढते समय शब्दो के अर्थ पर भी ध्यान देते रहना चाहिये।

भाषा-शिक्षा का तीसरा अग 'लिखना' है। लिखने की योग्यता प्राप्त करने ही पर विचारो का सुसगठन होता है। वास्तव मे सभ्यता की बहुत सी उत्कृष्ट उत्पत्तियाँ लिखी हुई रहने के कारण ही अभी तक जीवित हैं। लिखने से मस्तिष्क की परिपक्वता बहुत बढ जाती है। लिखने मे बहुत प्रारम्भ से ही बालक को शिक्षा दी जा सकती है। बालक के अनुभव से सम्बन्धित छोटे-छोटे विषयों पर अपने भाव-प्रकाशन के लिये बालकों को सदा उत्साहित करते रहना चाहिये। बालक के लिखे हुये कार्य को सहानुभूति पूर्वक देखना चाहिये। गलतियो की ओर बडी सावधानी से सकेत करना चाहिये। समय-समय पर उसके लिखने की प्रशसा करना भी आवश्यक है।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

क—चिन्तन

प्रत्ययात्मक चिन्तन केवल मनुष्यो में ही, चिन्तन-शक्ति से ही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ, चिन्तन के ही सहारे वातावरण मे व्यवस्थित होने मे समर्थ, मानव जीवन की सफलता चिन्तन पर निर्भर।

१—प्रत्ययात्मक चिन्तन

चिन्तन-क्रिया प्रयोजनवश, सारे अनुभव का स्मरण कर समस्या का हल खोजना चिन्तन क्रिया का मुख्य अंग, वैयक्तिक भिन्नता।

पुराने अनुभवों के आधार पर भविष्य पर ध्यान रखते हुए किसी निश्चय पर पहुँचना प्रत्ययात्मक चिन्तन।

प्रत्यक्षात्मक चिन्तन—

निम्न कोटि का, पशुओ और बालको मे भी, सवेदना और प्रत्यक्षीकरण ज्ञान की उपयोगिता, शब्द की आवश्यकता नही।

कल्पनात्मक चिन्तन—

पुराने अनुभव और नाम का सहयोग।

२—प्रत्यय-ज्ञान का स्वरूप

सवेदना और प्रत्यक्षीकरण ज्ञान का आधार, एक शब्द से किसी जाति का बोध उसका प्रत्यय-ज्ञान, जाति और भाववाचक शब्दो का समझना प्रत्यय-ज्ञान, पदार्थों की अनुभूति प्रत्ययज्ञान की पहली सीढ़ी।

गुणो का विश्लेषण करना प्रत्यय-ज्ञान की दूसरी प्रक्रिया, वर्गीकरण करना तीसरी प्रक्रिया, नामकरण अन्तिम प्रक्रिया।

प्रत्यय-ज्ञान से ही पूर्ण ज्ञान, परिभाषा रटा देने मे ज्ञान परिपक्व नही, परिपक्वता के लिये प्रत्यय का होना आवश्यक, पदार्थों की साक्षात् अनुभूति, विश्लेषण, वर्गीकरण, तथा नामकरण से प्रत्यय सम्भव, प्रत्यय के सहारे ही विचार-शक्ति का उदय, एक ही वस्तु का प्रत्यय विभिन्न व्यक्तियो मे भिन्न-भिन्न, प्रत्यय एक प्रयोजनात्मक साधन।

३—प्रत्यय के प्रकार

प्रत्यय दो प्रकार का—जातिवाचक और भाववाचक, भाववाचक का प्रत्यय बालक के लिये कठिन।

देश और काल का प्रत्यय बालक में अस्पष्ट।

गणित-सम्बन्धी प्रत्यय ज्ञान—

देर मे, किसी सख्या के चार तात्पर्य-क्रम, समूह, अनुपात और सम्बन्ध; इन चारो का प्रत्यय बालक में एक साथ ही नही, आयु विकास के साथ।

पहले अमूर्त वस्तु का प्रत्यय पाने मे असमर्थ, अत पहले मूर्त वस्तु का ज्ञान देना।

सम्बन्ध विषयक प्रत्यय-ज्ञान—

सम्बन्ध विषयक प्रत्यय-ज्ञान गुणवाचक ज्ञान के बाद मस्तिष्क की उच्चता पर निर्भर, मूर्त उदाहरणो द्वारा।

ख—निर्णय

प्रत्ययो के बनने मे निर्णय की आवश्यकता, निर्णय और प्रत्यय एक ही क्रिया के विभिन्न अग, प्रत्यय निर्णय का फल, वस्तु के विषय में विभिन्न निर्णय उसका वर्णन, वर्णन के लिये उत्साहित करना निर्णय-शक्ति को बढाना।

निर्णय करने में बालक को पूरी स्वतन्त्रता आवश्यक।

ग—स्पीयरमैन के ज्ञान-सम्बन्धी नियम

(१) चेतना का सिद्धान्त—

'अनुभव के स्वरूप' और अनुभवी का ज्ञान।

(२) सम्बन्ध-ज्ञान—

विभिन्न वस्तुओ का परस्पर सम्बन्ध अनुभव से।

अनुभव से सम्बन्धित अन्य वस्तु का स्थान।

(३) सम्बन्धी-ज्ञान—

स्पीयरमैन के तीन नियम चिन्तन-क्रिया के आवश्यक अग, विकास का मनोवैज्ञानिक क्रम, इसी क्रम के अनुसार बालक की शिक्षा, तार्किक क्रम, चेतना सिद्धान्त प्रत्यय का आधार, तार्किक क्रम मे सम्बन्ध-ज्ञान और सम्बन्धी-ज्ञान, सम्बन्धी-ज्ञान के सहारे कक्षा-शिक्षण की सफलता।

घ—तर्क

१—स्वरूप

तर्क चिन्तन की सर्वोत्कृष्ट क्रिया, बालको मे कम, भविष्य की ओर सकेत, प्रत्यय तथा निर्णय प्राप्त कर लेने पर, विषय परिस्थिति के आने पर सृजनात्मक कल्पना की उपयोगिता, नई परिस्थिति को समझने की चेष्टा तर्क वस्तु के प्रत्यय प्राप्त करने की ओर लक्षित।

भौतिक परिस्थितियो की अवहेलना नही, कल्पना मे ही भावी फल का अनुमान लगा लेना तर्क का फल, प्रौढ व्यक्ति के कार्य तर्क के बल पर, विचार की सभी प्रक्रियाये एक दूसरे से सम्बन्धित।

२—तर्क के प्रकार

(१) सिद्धान्तात्मक तर्क—

हमारे बहुत से काम दूसरे के अनुभव के आधार पर।

सूक्ष्मतम निरीक्षण-शक्ति के अभाव मे निष्कर्ष पर पहुँचने मे कठिनाई।

सिद्धान्तात्मक प्रणाली की प्रक्रिया का क्रम।

(२) परिणामात्मक तर्क —

किसी नये सिद्धान्त की खोज, "प्रदत्तो का एकत्रित करना, वर्गीकरण, एक नियम की कल्पना, प्रयोगो द्वारा कल्पना की सत्यता प्रमाणित करने का प्रयत्न, एक सिद्धान्त का निर्माण;" विज्ञान और व्याकरण का अध्ययन इसी प्रणाली से।

सिद्धान्तात्मक और परिणामात्मक प्रणाली।

ङ—भाषा और चिन्तन

भाषा का चिन्तन से घनिष्ठ सम्बन्ध, भाषा बिना हमारा जीवन पशुवत्।

सकेत अथवा चित्र मे भावो का प्रदर्शन, विचार-क्रम से भाषा का स्थान मुख्य।

१—भाषा की उत्पत्ति

ध्वनियाँ और शारीरिक गतियाँ भाषा के आधारभूत, लौकिक आधार, गुणो

के आधार पर, शब्दो का निर्माण कल्पना के बल पर नही, वातावरण तथा विभिन्न जातियो के परस्पर मिलन के स्वरूप कुछ शब्दो का विकास।

२—भाषा और मनोविकास

दोनो का विकास साथ, मनोभावो के दौडाने मे भाषा पार नही पाती।

३—बालक मे भाषा-विकास

भाषा सीखने मे अनुकरण-शक्ति प्रधान, पहले कुछ निरर्थक शब्दो का प्रयोग, एक ही शब्द का प्रयोग अनेक भावो के लिये।

सार्थक शब्दो का भी बिना अर्थ समझे हुए प्रयोग, वैयक्तिक भेद, भाषा-विकास सदा अविरल गति से नही, बालिकाये सीखने मे अधिक तीव्र, समवयस्क साथी के संग मे भाषा-विकास अधिक, वातावरण पर ध्यान, खिलौने की सहायता से शब्द-चयन बढाना।

बालक की भाषा की विलक्षणतायें—

आकर्षक शब्दो का सीखना, सकेत का उपयोग, प्रारम्भ में अशुद्ध उच्चारण को सुधारने की आवश्यकता नहीं, 'बोध' और 'प्रयोग' शब्द-चयन मे भेद।

भाषा-विकास की अवस्थायें—

निरर्थक और सार्थक शब्द, डेढ साल तक क्रिया का ज्ञान नही, प्रत्यक्ष वस्तुओ का ज्ञान, २ से ४ वर्ष के अन्दर सरल वाक्यो का प्रयोग, देश व काल का ज्ञान, भाव-वाचक सज्ञा का ज्ञान, कारण समझना, शब्दो को स्वय गढना।

४—भाषा की शिक्षा

सर्व प्रथम मातृ-भाषा मे शिक्षा, प्रत्येक अङ्ग पर उचित ध्यान, छोटी कहानियाँ, साधारण चित्रो का वर्णन, सरल वस्तुओ का वर्णन।

पढने से भाषा-विकास की गति का बढना, बोलने के महत्त्व को भूलना नही, पढने के बाद भाव-प्रकाशन के लिये प्रोत्साहन, सस्वर और मौन पाठ पढते समय अर्थ पर भी ध्यान।

लिखने से ही विचारो का सुसगठन, छोटे-छोटे विषयो पर लिखित भाव प्रकाशन, सहानुभूति।

सहायक पुस्तकें

१—डम्विल—द फण्डामेण्टल्स ऑव साइकॉलॉजी अध्याय, ८-११।
२—डीवी—हाउ वी थिङ्क।

३—कॉलिन्स और ड्रेवर—एक्सपेरीमेण्टल साइकॉलॉजी, अध्याय १४, १५।
४—ड्रेवर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, अध्याय १०।
५—मैग्डूगल—ऐन आउटलाइन ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १५।
६—डेविड केनेडी फ्रेसर—द साइकॉलॉजी ऑव् एडूकेशन, सेक्शन ४, अध्याय १।
७—गॉल्ट ऐण्ड हॉवर्ड—ऐन आउटलाइन ऑव् जनरल साइकॉलॉजी, अध्याय, ११।
८—स्टाउट—द ग्राउण्डवर्क ऑव् साइकॉलॉजी, अध्याय १२, १३।
९—गेट्स—एडूकेशन साइकॉलॉजी, अध्याय १४।
१०—हार्टमैन—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ११।
११—नन, टी० पी०—एडूकेशन इट्स डेटा ऐण्ड फर्स्ट प्रिन्सीपुल्स, अध्याय १४।
१२—स्पीयरमैन—द नेचर ऑव् इन्टेलीजेन्स ऐण्ड प्रिन्सीपुल्स ऑव कॉगनीशन।
१३— „ —क्रियेटिव् माइण्ड, अध्याय ३।
१४—वैलेनटाइन, सी० डब्लू०—द साइकॉलॉजी ऑव अर्ली चाइल्डहूड, अध्याय २०, २१, २२।
१५—मार्गन—चाइल्ड साइकॉलॉजी।
१६—फ़ाउलर डी० ब्रुक्स—चाइल्ड साइकॉलॉजी, अध्याय ७।
१७—सरयू प्रसाद चौबे—मनोविज्ञान, अध्याय १६।
१८—„ „ „—बाल मनोविज्ञान, अध्याय ६।
१९—„ „ „—प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, 'चिन्तन' पर अध्याय।

———

२३

बुद्धि और उसकी परीक्षा[1]

बुद्धि का वास्तविक रूप समझने के लिये बुद्धि-परीक्षा के विकास पर प्रकाश डालना आवश्यक जान पडता है, क्योकि बुद्धि-सम्बन्धी परीक्षणो के आधार पर ही बुद्धि के स्वरूप को निर्धारित करने की चेष्टा की गई है, यद्यपि यह चेष्टा अभी तक चल ही रही है। बुद्धि के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये मनोवैज्ञानिको ने आपस मे जितना अन्वेषण और वादविवाद किया है उससे अधिक कदाचित् ही किसी अन्य विषय के सम्बन्ध मे किया हो, परन्तु अब भी इस विषय में बडा मतभेद है। पाठको की सुविधा के लिये यहाँ इतना बतला देना आवश्यक जान पडता है कि बुद्धि एक स्वाभाविक शक्ति है। व्यक्ति की अर्जित शक्ति से वह भिन्न होती है। सभी मनोवैज्ञानिको ने बुद्धि को जन्म-जात् माना है, और उसकी परीक्षा के लिये विभिन्न उपायो का उपयोग किया है। इन विभिन्न उपायो पर दृष्टिपात कर बुद्धि के स्वरूप को पहचानने की हम नीचे चेष्टा करेंगे।

क—बुद्धि परीक्षा का इतिहास[2]

बुद्धि-परीक्षा किसी न किसी रूप मे सभ्यता के आदि काल से ही चली आ रही है। अपने वेद और पौराणिक कथाओ के पढने से पता चलता है कि उस समय भी लोग बुद्धि-परीक्षा मे कुछ न कुछ उत्सुकता रखते थे। उपनिषदो मे बृहस्पति और इन्द्र, तथा महाभारत में यक्ष और युधिष्ठिर का सवाद हमें बुद्धि-परीक्षा का ही स्मरण दिलाता है। प्राचीन सस्कृत साहित्य में हम बहुत सी ऐसी पहेलियाँ और समस्यायें पाते हैं जिनके हल करने मे बुद्धि छक सी जाती है। कदाचित् प्राचीन काल मे भारतीय इन्ही सब उपायो से किसी पद के चुनाव के लिये विशिष्ट जनो की बुद्धि की परीक्षा करते थे। बडे-बूढो से आजकल जो कुछ पेचीदी पहेलियाँ सुनने को मिलती हैं वे भी अपने प्रकार की बुद्धि-परीक्षा के ही साधन प्रतीत होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति की योग्यता का अनुमान लगाने की सदा से कुछ न कुछ चेष्टा रही है। वैयक्तिक भिन्नता को सभी स्वीकार करते थे, पर वैयक्तिक भेद के कारण को लोग नही समझ पाते थे। जो

---

1 Intelligence and Its Testing. 2. History of Intelligence Testing.

शिक्षित होते थे उन्हे बुद्धिमान कहा जाता था और दूसरों को मूर्ख। अतः लोग बुद्धि और विद्या मे विशेष अन्तर नही समझते थे। विद्वान् बुद्धिमान माना जाता था। परन्तु धीरे-धीरे लोगों को यह ज्ञान हुआ कि बुद्धि 'ज्ञान' से भिन्न होती है, अतः उसकी भिन्नता का पता लगाना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिको ने इस भिन्नता के रूप को पहचानना चाहा। किसी भी नये कार्य मे कोई न कोई वाधा अवश्य उपस्थित होती है। लोगो की आलोचनाये चारो ओर से आने लगती हैं। बुद्धि-परीक्षा की लहर जव चली तो कुछ विद्वानो ने कहा कि लोहा, सोना, लड़की, पत्थर ऐसे मूर्त पदार्थ अवश्य तौले जा सकते हैं पर 'विचारो' का तौलना कठिन है, समुद्र की गहराई मापी जा सकती है, पर सवेग अथवा बुद्धि को कैसे मापा जाय? इस विचार के समर्थक अव भी कुछ पाये जाते हैं। इस धारणा के विरुद्ध थॉर्नडाइक का कथन है कि "जो कुछ वस्तु है वह एक मात्रा मे रहती है और यदि वह मात्रा में है तो उसकी माप भी की जा सकती है।"

बुद्धि-परीक्षा करने के लिये पहले के प्रयत्न आजकल के सदृश वैज्ञानिक न थे। आकृति-सामुद्रिक[1] तथा मस्तिष्क-विज्ञान[2] पर अठाहरवी शताब्दी तक अधिक विश्वास था। सन् १७७२ ई० में लवेटर[3] ने आकृति-सामुद्रिक पर एक लेख प्रकाशित किया। कुछ परीक्षणो के आधार पर उसने यह प्रतिपादित किया कि चेहरे की आकृति से बुद्धि का पता लगाया जा सकता है। कई व्यक्तियो के नाक, दांत, कपोल तथा भौहे आदि की आकृति तथा उनके चरित्र का लवेटर ने तुलनात्मक अध्ययन किया। उसके आधार पर एक विशिष्ट आकृति के लिये एक विशिष्ट मानसिक गुण का उसने समर्थन किया। यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान ने आकृति-सामुद्रिक को निराधार सिद्ध कर दिया है, पर जन-साधारण का उस पर कुछ न कुछ विश्वास अव भी दिखलाई पडता है। सन् १८०७ ई० में फ्रान्स के गॉल ने अपने मस्तिष्क-विज्ञान के सिद्धान्त पर अपने शिष्य स्पर्जहीम की सहायता से सिर के आकार के आधार पर बुद्धि के अनुमान की युक्ति निकाली। सिर के विभिन्न वाह्य विकास के आधार पर गॉल ने २९ मानसिक शक्तियो की ओर सकेत किया। गॉल के विचारो का खण्डन करते हुए इटली के प्रसिद्ध अपराध-शास्त्र वैज्ञानिक[4] लॉमब्रॉस[5] ने सन् १८७६ ई० मे अपने कुछ समर्थको के साथ यह प्रतिपादित किया कि शरीर और विशेषकर सिर की कुछ भद्दी आकृतियाँ मानसिक दोषो और सवेगात्मक निर्वलता की ओर सकेत करती है। इटली के प्राय सभी अपराध-शास्त्र वैज्ञानिको का यह विश्वास हो गया कि शरीर की कुछ भद्दी आकृति से ही मानसिक दोष उत्पन्न होते है। सन् १८८५ ई० में सर फ्रान्सिस गाल्टन[6] ने लॉमब्रॉस के सिद्धान्त का खण्डन किया। उसने कहा कि शारीरिक अवयवो के अध्ययन से बुद्धि की गहराई का अनुमान

---

1. Physiognomy. 2. Phrenology. 3 Lavater 4 Criminologist. 5. Lombross, Cesara. 6. Galton, Francis.

लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ; गाल्टन के अनुसार मध्यम ऊँगली की लम्बाई से बुद्धि का कुछ पता चलाया जा सकता है। सन् १९०६ ई० में प्रो० कार्ल पियर्सन ने ५००० बालको पर प्रयोग कर यह सिद्ध किया कि सिर की बनावट, मुखाकृति तथा शारीरिक अवयवो और व्यक्ति की मानसिक योग्यता से कोई सम्बन्ध नही।

बुद्धि के मापने मे इस प्रकार सफलता न मिलने पर मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक शक्तियो की माप से बुद्धि को मापने का प्रयत्न किया। उस समय के कुछ वैज्ञानिक श्रवण, स्पर्श तथा दृष्टि-सम्बन्धी ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति का पता लगाना चाहते थे। अत. मनोवैज्ञानिको का भी इधर ही झुकाव हुआ। उस समय उन लोगो का विश्वास था कि व्यक्ति की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो की योग्यता का बुद्धि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी वस्तु को सुन, देख अथवा स्पर्श कर लेने से ही उसके विषय में ज्ञान हो जाना तीव्र बुद्धि का लक्षण समझा जाता था। अत. ज्ञानेन्द्रियो की योग्यता की परीक्षा पर बुद्धि का कुछ अनुमान लगाने की मनोवैज्ञानिको मे प्रवृत्ति आ गई। उदाहरणार्थ, यदि दो वस्तुओ की तौल मे थोड़े से भी अन्तर को भी कोई व्यक्ति पहचान लेता है, अथवा थोडे से भेद वाले एक ही प्रकार के रग को वह पहचान लेता है, तो उसकी बुद्धि तीव्र कही जायगी, अन्यथा साधारण। इसी प्रकार व्यक्ति की शारीरिक शक्ति से भी बुद्धि को पहचानने की विधि निकाली गई, क्योकि ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति पर ही पूरा भरोसा नही किया गया। लोगो का अनुमान हो चला कि शरीर की विभिन्न गतियाँ बुद्धि से सचालित होती हैं। बुद्धि की प्रखरता पर उनकी तीव्रता निर्भर होती है। इस प्रकार का एक प्रयोग डायनमोमीटर की सहायता से व्यक्ति की मुट्ठी की शक्ति मापने मे किया गया। अर्गोग्रेफ यन्त्र से मध्यम उँगली की सहनशीलता मापने का उपाय निकाला गया। मुट्ठी तथा मध्यम उँगली की शक्ति के अनुसार व्यक्ति की बुद्धि की तीव्रता का अनुमान किया गया। आज्ञा पाने तथा उसके पालन के मध्यान्तर के आधार पर भी बुद्धि की माप का उपाय सोचा गया, क्योकि प्रखर बुद्धि वाला व्यक्ति आज्ञाओ का पालन शीघ्र कर लेता है। इस प्रकार बहुत से प्रयोग करने के साधन निकाले गये। सबका विस्तृत विवरण देना इस पुस्तक की परिधि के बाहर है।

बुद्धि की उपर्युक्त कल्पना शीघ्र ही भ्रमात्मक सिद्ध हो गई। प्रयोगो के आधार पर देखा गया कि बहुत से व्यक्ति जो प्रखर बुद्धि वाले कहे जाते थे ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति मे निर्बल थे। वस्तुओ में आपस के थोडे से भेद को वे नही पहचान सके। आज्ञा पालन मे भी उन्होने कोई विशेष सतर्कता न दिखलाई। इसके विपरीत मूर्ख कहे जाने वाले व्यक्तियो ने उनसे अधिक शक्ति और सतर्कता दिखलाई। अत वह सिद्ध कर दिया गया कि ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति तथा शारीरिक शक्ति आदि के मापने से बुद्धि की तीव्रता का अनुमान नही लगाया जा सकता।

(१) बिने का कार्य[1] —

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही इस क्षेत्र मे नया कार्य प्रारम्भ हो गया। इस विषय मे फ्रान्स के मनोवैज्ञानिक डा० अलफ्रेड बिने का नाम विशेप उल्लेखनीय है। बालको की शिक्षा की उचित व्यवस्था के लिये पेरिस म्युनिसपैलिटी ने बिने महोमहोदय से बालको की बुद्धि के मापने के साधन ढूँढने की प्रार्थना की। शिक्षा की उचित व्यवस्था के लिये बिने बालको की मानसिक अवस्था का ज्ञान पाप्त करके यह जानना चाहता था कि एक बर्ष अथवा कुछ महीनो की अवधि के भीतर बाल-मन मे कितना परिवर्त्तन होता है। सन् १८८० ई० से ही बिने इस समस्या पर कार्य कर रहा था। वह कुछ ऐसी परीक्षा-विधि की खोज मे था जिससे बुद्धि के सभी आवश्यक अंगों की परीक्षा हो जाय। कुछ दिनो तक वह उस समय की प्रचलित प्रयोगशाला में ही अन्वेषण करता रहा, पर उसे सफलता न मिली। अत उसने केवल कलम, कागज और स्याही की सहायता लेने का निश्चय किया। अन्त में १९०४ ई० में उसने अपने सहयोगी थ्योडोर साइमन की सहायता से विभिन्न उम्र के बालको की बुद्धि-परीक्षा के लिये पृथक्-पृथक् प्रश्नावली चुनी। प्रत्येक प्रश्नावली मे पॉच या छः प्रश्न रहते थे। बिने ने ३ वर्प से लेकर १५ बर्प के बालको तक की परीक्षा के लिये प्रश्नावलियाँ तैयार की। पर उसने ११ और १३ वर्प वालो को छोड दिया। प्रत्येक प्रश्नावली मे प्रश्नो को इस क्रम से चुना गया कि चार वर्ष वाला बालक जिन प्रश्नो को करता था उसे तीन वर्ष वाला नही कर पाता था। इसी प्रकार आठ वर्प वाला नव वर्प वाले के प्रश्न नही कर सकता था। जो बालक अपनी अवस्था वाली प्रश्नावली को हल कर लेता था वह साधारण तथा जो नही कर पाता था वह मन्द-बुद्धि, तथा जो अपनी अवस्था से ऊपर वाली अवस्था के प्रश्न कर लेता था उसे असाधारण बालक कहा जाता था। इन प्रश्नों के नमूने आगे दिये जायेंगे।

(२) बिने ने अपनी प्रश्नावली कैसे तैयार की ?

बिने का मत था बालक अपनी आयु-वृद्धि के साथ कुछ-ज्ञान भी सीखता जाता है। अतः ५ वर्ष के बालक से ६ वर्ष वाले का ज्ञान अधिक है। बिने ने ज्ञान को बुद्धि का एक चिन्ह माना। उसका कहना था कि यदि किसी अवस्था वाला बालक किसी विशिष्ट विषय पर कुछ प्रश्नो का उत्तर नही दे सकता तो वह अवश्य ही मन्द बुद्धि है। ज्ञान को बुद्धि का एक चिन्ह मानते हुये भी बिने ने अपने प्रश्नों मे स्कूल से प्राप्त ज्ञान का समावेश नही किया। प्रश्नो मे ऐसे ही ज्ञान को लिया गया जिसे साधारण परिस्थिति मे कोई भी बालक स्वतः सीख सकता है। एक अवस्था के लिए ५ या ६ प्रश्न तैयार करने के पहले उसी अवस्था के एक हजार बालको की उनमे परीक्षा ली

---

1. The work of Binet, Alfred.

जाती थी। इस एक हजार मे उच्च, मध्यम और निम्न सभी कोटि के बालक रखे गये। जिन प्रश्नो का उत्तर ६० प्रतिशत बालको से ठीक-ठीक मिल जाता था उसे रखा जाता था और शेप को या तो निकाल दिया जाता था या फिर से सशोधित किया जाता था। बुद्धि के प्रत्येक क्षेत्र से कुछ न कुछ प्रश्न पूछा जाता था। यदि पाँच वर्ष वाला बालक अपनी अवस्था वाले प्रश्नो का उत्तर ठीक-ठीक देता था तो उसकी मानसिक[1] आयु पाँच वर्ष मान ली जाती थी। यदि वह तीन वर्ष की अवस्था वाली प्रश्नावली को ही हल करता था तो उसकी मानसिक आयु तीन वर्ष मानी जाती थी। और यदि छ· वर्ष वाली प्रश्नावली हल कर लेता था तो वास्तविक आयु पाँच साल की रहते हुए भी मानसिक आयु छ. निश्चय की जाती थी। इसके आधार पर बालक क्रमश साधारण व मन्द-बुद्धि के सभी प्रश्न कर लेने के बाद वडी अवस्था की प्रश्नावली के प्रत्येक प्रश्न के करने पर बिने १/५ वर्ष मानसिक आयु जोड देता था। मान लीजिये, कोई सात वर्प का बालक आठ वर्प के सभी प्रश्नो को हल कर लेता है और इसके अतिरिक्त नव वर्प के दो प्रश्न तथा दस वर्ष का एक प्रश्न भी हल कर लेता है तो उसकी मानसिक आयु इस प्रकार होगी —८ + २/५ + १/५ वर्ष = ८ ३/५ वर्ष। बिने का मत था कि नव वर्ष के अन्दर के बालक की यदि मानसिक आयु वास्तविक आयु[2] से दो वर्ष कम हो, तथा नव वर्ष से ऊपर वाले की मानसिक आयु वास्तविक आयु से तीन वर्ष से कम हो तो उसे मन्द-बुद्धि समझना चाहिये।

(३) बिने-साइमन की विधि की विशेषता—

बिने का कार्य मनोविज्ञान के इतिहास की बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। बिने ने सवसे पहले बुद्धि के मापने का एक मनोवैज्ञानिक ढँग ढूँढ निकाला। उसने ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति तथा स्मृति आदि की परीक्षा करने का विचार नही किया, वरन् उच्च मानसिक प्रक्रियाओ की परीक्षा करनी चाही। व्यक्ति के समझने की शक्ति[3], साराश निकालने की शक्ति[4], परिस्थिति के अनुसार विचार करने की योग्यता तथा ध्यान एकाग्र करने की शक्ति आदि की परीक्षा लेकर उसकी बुद्धि का बिने अनुमान लगाना चाहता था। बिने का शक्ति-मनोविज्ञान[5] मे विश्वास न था। मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियाँ आपस में गुथी रहती हैं। अत. उनका पृथक्करण सम्भव नही, बिने बुद्धि मे तीन विशेषतायें देखता है—प्रयोजनता[6], नयी परिस्थिति में अपने को व्यवस्थित करने की योग्यता[7] और आत्म-आलोचन करने की शक्ति[8]।

(४) बिने-साइमन की विधि की आलोचना—

मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक दोनो दृष्टि से बिने-साइमन की विधि की

---

1 Mental Age. 2 Chronological Age. 3. Comprehension power. 4. The power of abstraction. 5 Faculty Psychology. 6 Purposefulness. 7 Capacity to make adaptation. 8. Power of self-criticism.

आलोचना की गई है। बिने ने अपनी प्रश्नावलियो मे वस्तुओ से अधिक शब्दो पर ध्यान दिया है। जिस बालक का भाषा-ज्ञान अच्छा होगा वह बिने की परीक्षा मे अच्छा प्रमाणित हो सकता है, पर अधिक व्यावहारिक बालक को असुविधा होगी। बिने के समर्थको का कहना है कि भाषा-ज्ञान ही एक ऐसी शक्ति है जिसे एक सामान्य मानसिक योग्यता कहा जा सकता है, क्योकि कोई चाहे जिस काम मे रुचि रखता हो उसे कुछ न कुछ भाषा-ज्ञान अवश्य रहेगा। प्रत्येक को अपने-अपने क्षेत्र में पर्याप्त भाषा-ज्ञान रहता है। वस्तुतः प्रत्येक विषय भाषा का एक सुव्यवस्थित पुञ्ज है। भाषा एक ऐसा उपयोगी साधन है कि प्रत्येक क्रियाशील व्यक्ति इसका अपनी आवश्यकतानुसार प्रयोग करता है। अत बिने के कुछ समर्थकों का कहना है कि बालक के शब्द-चयन की परीक्षा से उसकी बुद्धि-विषयक बहुत सी बाते ज्ञात हो जाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि उम्र के आधार पर प्रश्नो का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक नही, क्योकि बुद्धि का विकास अविरल गति से नही चलता। एक दो वर्ष के भीतर वह कभी धीमा रहता है और कभी तीव्र।

बिने की विधि ऐसी है कि प्रत्येक बालक को अकेले ही परीक्षा लेनी पडती है। अत. इसमे समय अधिक लग जाता है। प्रत्येक को लगभग ४५ मिनट देने पडते हैं। इसके अतिरिक्त परीक्षण-विधि कुछ ऐसी है कि साधारण बालक आत्म-विश्वास खो बैठता है और अपनी योग्यतानुसार प्रश्नों का उत्तर देने मे हिचकता है। पर किसी भी वैयक्तिक परीक्षा मे यह दोष तो रहेगा ही। यदि कोई बालक अपनी अवस्था वाले प्रश्नो का पूर्णतः उत्तर नही दे पाता, पर बाद की अवस्था के कुछ प्रश्नो का सुन्दर उत्तर देता है, तब भी बिने महोदय उसकी मानसिक आयु वास्तविक से कम ही मानेंगे। उदाहरणार्थ, कोई आठ वर्ष का बालक अपनी अवस्था के तीन प्रश्नो का उत्तर दे सकता है, पर नव वर्ष के कुछ प्रश्नों का सुन्दर उत्तर देता है—तब भी उसकी मानसिक आयु आठ वर्ष की न मानी जायगी। कुछ लोगो का कहना है कि बिने के सभी प्रश्न बुद्धि का माप नही करते, वरन् इनमें कुछ संकेत-योग्यता[1] का माप करते हैं। बिने का यह मत कि "नव वर्ष तक के सभी बालको की वास्तविक आयु से दो वर्ष कम मानसिक आयु वाले बालक मन्द-बुद्धि हैं ठीक नही जान पडता। उदाहरणार्थ; बिने के अनुसार पॉच वर्ष का बालक जिसकी मानसिक आयु तीन वर्ष है उतना ही मन्द-बुद्धि है जितना कि नव वर्ष का बालक जिसकी आयु सात वर्ष की है। दोनो ही दो वर्ष नीचे हैं, पर पहला पॉच वर्ष में दो वर्ष पिछडा है और दूसरा नव वर्ष मे। अतः अनुपात की दृष्टि से पहला अधिक पिछडा है, अर्थात् दूसरा पहले से कही आगे है।

1. Suggestibility.

अपनी विधि के प्रचार के वाद विने वहुत दिन तक जीवित न रह सका, अन्यथा वह निश्चय ही उपर्युक्त वहुत से दोषो को दूर करने का प्रयत्न करता। उसके मरने के वाद दूसरे लोगो ने उसका अनुकरण किया और दूसरी विधि निकाली जिसमे ऊपर के वहुत से दोषो को कुछ हद तक दूर कर दिया गया है।

(५) बुद्धि की सामूहिक परीक्षा[1]—

विने की विधि मौखिक और वैयक्तिक थी। अत उसके प्रयोग में वहुत समय लगता था, यद्यपि यह मानी हुई वात थी कि उससे बालक की व्यक्तिगत योग्यता का अनुमान अवश्य लग जाता था। शिक्षा के प्रचार से लोगो ने एक ऐसी विधि की इच्छा प्रगट कि जिससे थोडे ही समय मे वहुत से बालको की बुद्धि-परीक्षा हो जाय। ओटिस, थॉर्नडाइक, पाइल, लॉवसीन और पीन्टर ने इस उद्देश्य की पूर्ति की ओर कुछ काम किया। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१८) में सयुक्त राज्य अमेरिका ने जव (१९१७-१९१८) प्रवेश किया तो इस कार्य को वडी प्रेरणा मिली। सरकार ने एक ऐसी बुद्धि-परीक्षा-विधि की माँग की जिससे युद्ध के लिये योग्य सैनिकों तथा अफसरों का चुनाव किया जा सके। इस कार्य के लिये सरकार ने मनोवैज्ञानिकों की एक समिति बनाई। इस समिति ने ओटिस और टरमैन के सामूहिक बुद्धि-परीक्षा विधि के सम्वन्ध मे किए गये कार्य को स्वीकार किया। टरमैन के बनाये हुए प्रश्नो से लगभग साढे छ. लाख सैनिको और ४१ हजार अफसरो की बुद्धि-परीक्षा की गई। सैनिकों तथा अफसरो की सिद्ध योग्यता और बुद्धि-परीक्षा के फल में वडा घनिष्ठ सह-सम्वन्ध[2] पाया गया। वैलर्ड कहता है कि "इस योजना से मूर्खों को निकालना, वैल और गधे को एक ही साथ न जोतना और योग्य व्यक्ति को योग्य पद पर रखना सम्भव हो सका।" किसी व्यक्ति के साथ अन्याय न हो, इसीलिये विने-विधि से कुछ लोगो की वैयक्तिक परीक्षा की गई। जो लोग अशिक्षित थे अथवा अँग्रेजी नही पढ सकते थे उनके लिये क्रिया-प्रश्न[3] बनाये गये। इसमें किसी प्रश्न के उत्तर देने के स्थल पर कुछ साधारण बुद्धि विषयक कार्य करने पडते थे। इस प्रकार अमेरिकन सेना-परीक्षा के दो प्रकार के प्रश्न थे—अलफा टेस्ट्स और बीटा टेस्ट्स, अर्थात् प्रथम और द्वितीय श्रेणी के प्रश्न। अलफा (प्रथम श्रेणी) अग्रेजी जानने वालो के लिये था और बीटा (द्वितीय श्रेणी) अशिक्षित अथवा अँग्रेजी न जानने वालो के लिये। इन परीक्षा-विधियो की विशेषता यह थी कि सैकडो व्यक्तियों की एक ही साथ परीक्षा ली जा सकती थी। लगभग साढे तेइस मिनट में २१२ प्रश्नो का उत्तर अति सक्षिप्त रूप मे देना पडता था। इस प्रकार परीक्षार्थी में अनुमान करने की प्रवृत्ति कुछ आ जाती थी। कभी-कभी एक प्रश्न के

---

1. Group Test of Intelligence. 2. Correlation. 3. Performance Tests.

तीन-चार उत्तर संकेत कर दिये जाते थे और व्यक्ति को ठीक उत्तर चुनना पड़ता था। इस प्रकार एक प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता था। विने के प्रश्नो मे ऐसी वात न थी। उनमे एक प्रश्न के कभी-कभी एक से अधिक उत्तर दिये जा सकते थे। दूसरो से उत्तरो को पूछ कर कोई रट न ले, इसलिये दो या तीन प्रकार के प्रश्न-पत्र प्रयोग मे लाये जाते थे।

अमेरिकन-सेना की परीक्षा विधि से उत्साहित होकर बहुत से मनोवैज्ञानिको ने वैयक्तिक रूप से इस पर कार्य करना आरम्भ किया। इनमें टरमैन और यर्क्स का 'नेशनल इन्टेलीजेन्स टेस्ट्स[1],' पी० बी० बैलर्ड का 'कोलम्बियन मेण्टल टेस्ट्स',[2] जी० थामसन का 'नार्दम्बरलैण्ड मेण्टल टेस्ट्स',[3] कैटेल का[4] 'ग्रूप टेस्ट्स', मायर्स का 'मेण्टल टेस्ट्स',[5] तथा हैगर्टी का 'इण्टेलीजेन्स एक्जामिनेशन'[6] विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बुद्धि-परीक्षा के लिये वैयक्तिक और सामूहिक दो प्रकार की विधियों का निर्माण किया गया। यद्यपि ऊपर प्रसगवश यथास्थान इन दोनो प्रकार पर हम प्रकाश डालते आये हैं, पर इन पर थोडा अलग-अलग विचार कर लेना अधिक सुविधाजनक होगा। इन विपयो पर कार्य कर अपनी साधना से मनोवैज्ञानिको ने बहुत लिख डाला है। इनके सविस्तार वर्णन के लिये इन्ही के लिये एक पुस्तक की आवश्यकता होगी। अतः हमारा क्षेत्र बहुत ही सीमित है और हम नीचे मनोवैज्ञानिको के कार्य का अपनी आवश्यकतानुसार केवल सक्षिप्त साराश ही दे सकेगे।

ख—बुद्धि की वैयक्तिक परीक्षा[7]

वैयक्तिक परीक्षा से एक समय एक ही व्यक्ति की परीक्षा की जा सकती है। इसके प्रश्न के उत्तर मौखिक, क्रिया-प्रधान[8] अथवा मौखिक और क्रिया-प्रधान दोनो प्रकार के उत्तर हैं। क्रिया-प्रधान समस्याओ मे कुछ मूर्त वस्तुओ के साथ कार्य करने होते हैं और मौखिक मे विचार-प्रधान उत्तर देने होते हैं। इसका सचालन एक विशेपज्ञ ही कर सकता है। व्यक्ति के विपय मे उसके वडो की जो सम्मति होती है उस पर भी उसके बुद्धि-माप मे कुछ सहायता ली जाती है। वैयक्तिक परीक्षा मे एक प्रकार से प्रयोगशाला का कार्य हो जाता है। इसके फल पर व्यक्ति की योग्यता के सम्बन्ध मे अधिक विश्वास किया जा सकता है। इस विधि मे सरल से कठिन प्रश्नों की ओर आया जाता है। प्रत्येक उम्र के लिये पाँच या छः प्रश्न रखे जाते हैं। इन प्रश्नो के आधार पर व्यक्ति की बुद्धि मापने का वैसे ही प्रयत्न किया जाता है जैसे उसकी

---

1 Terman's and Yerkes: National Intelligence Tests. 2 Ballard: Columbian Mental Tests 3. Thomson Northumberland Mental Tests. 4 Cattell : Group Tests. 5. Myers : Mental Tests. 6. Haggarty : Intelligence Examination 7. Individual Tests of Intelligence. 8. Performance.

ऊँचाई का। अपनी-अपनी योग्यतानुसार सब लोग थोड़े या अधिक प्रश्न करते हैं। सफलतानुसार उनकी बुद्धि का अनुमान लगाया जाता है। विने विधि के बहुत से सशोधन निकाले गये हैं। इनमे अमेरिकन बालको के लिये टरमैन का और अँग्रेजी बालको के लिये वर्ट का प्रयास प्रशसनीय है। हम नीचे व्यक्तिगत परीक्षा के कुछ नमूने दे रहे हैं। सभी उम्र के लिये निश्चित किये हुए प्रश्नो का देना आवश्यक सा है। अत. पाठको को साधारण अनुमान देने के लिये केवल थोडे ही प्रश्न दिये जा रहे हैं।

१—विने के बुद्धि परीक्षा के प्रश्न[1]

अपने १९११ के सशोधन में विने ने जिस प्रकार की प्रश्नावली की रचना की थी उसका कुछ उदाहरण नीचे दिया दिया जा रहा है —

तीन वर्ष की अवस्था के लिये—

१—तुम्हारे कुल को किस नाम (सरनेम) से पुकारते हैं ?

२—तुम्हारी नाक, आँख और मुँह कहाँ हैं ?

६—दो सख्याओ का दोहराना।

४—छ शब्द के एक वाक्य को दोहराना।

५—चित्र मे जो देखते हो उसे कहो।

चार वर्ष की अवस्था के लिये—

१—तुम लडकी हो या लडका ?

२—कुञ्जी चाकू और सिक्का दिखलाकर—ये क्या हैं ?

३—तीन सख्याओ को दोहराना।

४—कागज मे खीची हुई चार रेखाओ की तुलना करना।

पाँच वर्ष की अवस्था के लिये—

१—चार सिक्को को गिनना।

२—एक समकोण चतुर्भुज की नकल करते हुए उसे खीचना।

३—दो समान लगने वाले सन्दूको की तुलना करना।

४—दस पद के वाक्य को दोहराना।

५—एक चतुर्भुज दफ्ती के बराबर टुकडो को मिलाना।

छः वर्ष की अवस्था के लिये—

१—तेरह सिक्को को गिनना।

२—एक हीरे की सूरत को कागज पर बनाना।

३—कागज पर खिंचे हुए दो सुन्दर और भद्दे चित्रो का पहचानना।

1. Binet Tests.

४—घोडे और गाडी की परिभाषा बतलाना ।

५—सुबह और दोपहर का भेद बतलाना ।

सात वर्ष की अवस्था के लिये—

१—छ: सिक्को (जिसमें तीन दूने मूल्य के हैं) के मूल्य को बतलाना ।

२—क्रमशः दिखलाये हुए चार रंगो का नाम बतलाना ।

३—दाहिना और बाँया कान दिखलाना ।

४—तीन आज्ञाओं का सतर्कता से पालन करना ।

५—एक साधारण चित्र का वर्णन करना ।

बिने की विधि की आलोचना ऊपर बुद्धि-परीक्षा के इतिहास के सम्बन्ध में की जा चुकी है । अमेरिकन मनोवैज्ञानिक टरमैन ने बिने की विधि के दोषों को निकालकर अमेरिकन बालकों के लिये उपयुक्त उनका संशोधित रूप प्रकाशित किया । टरमैन का संशोधन "द स्टैन्फोर्ड रिवीजन" के नाम से प्रसिद्ध है । टरमैन के संशोधन में कुल नब्बे प्रश्न[1] हैं । बिने ने प्रत्येक उम्र के लिये पाँच ही पाँच प्रश्न रक्खे थे । टरमैन ने प्रायः प्रत्येक के लिये छ: प्रश्न कर दिये जिससे एक प्रश्न का मूल्य दो महीने के बराबर हो । बारह वर्ष की अवस्था के लिये टरमैन ने आठ प्रश्न, और चौदह वर्ष के बाद के व्यक्तियो के लिये छः प्रश्न रक्खे । टरमैन के संशोधन में उसकी मौलिकता की छाप दिखलायी पड़ती है । उनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

२—टरमैन द्वारा संशोधित बिने-साइमन-बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न[2]

तीन वर्ष की अवस्था के लिये—

१—तुम्हारी नाक कहाँ है, तुम्हारी आँखे कहाँ हैं, आदि ।

२—बालक को चाकू, कलम अथवा कुञ्जी दिखलाओ और पूछो—'यह क्या है ?'

३—चित्र में तुम क्या देखते हो ? आदि ।

४—तुम लडकी हो कि लडका ?

५—तुम्हारा नाम क्या है ।

६—जो मै कहता हूँ उसे दोहराओ :

(अ) मेरे पास एक कुत्ता है ।

(ब) वह बिल्ली के पीछे दौड़ता है ।

चार वर्ष की अवस्था के लिये—

१—विभिन्न लम्बाई की तीन रेखाये खीच कर पूछो "इसमे सबसे लम्बी कौन है ?"

---

1. Tests. 2. Stanford Revision of Binet-Simon Scale.

२—वृत्त, समकोण चतुर्भुज और त्रिभुज दिखलाओ। दो को एक साथ दिखला कर पूछो कि वे भिन्न अथवा समान हैं।

३—चार पैसे मेज पर रख कर उन्हे गिनने के लिये कहो।

४—एक इञ्च का एक समकोण चतुर्भुज खीच दो और वालक को उसकी तीन नकल बनाने को कहो।

५—तुम थके या भूखे हो तो क्या करोगे ?

६—४, ७, ३, ९ गिन कर अपने पीछे उससे दोहराने के लिये कहो।

पाँच वर्ष की अवस्था के लिये—

१—एक ही आकार की दो सन्दूको मे विभिन्न वस्तुएँ भर कर पूछो दोनों सन्दूको मे कौन भारी है।

२—लाल, हरा, नीला और पीला रग दिखलाकर पूछो—'इसका क्या रग है ?'

३—इन दोनो मे अधिक सुन्दर कौन है ? (तीन-चार चित्र दिखला कर)

४—कुर्सी क्या है ? घोडा क्या है ? (परिभाषा बतलाना)।

५—"धैर्य का खेल" (एक आयत जो दो त्रिभुजो से दिखलाया गया हो, बनाने के लिये कहना)।

६—तीन आज्ञाओ का पालन करना, इसे मेज पर रख दो, दरवाजा बन्द कर दो मेरे पास वे सन्दूके लाओ।

छः वर्ष की अवस्था के लिये—

१—अपना दाहिना हाथ दिखलाओ। अपना बायाँ कान दिखलाओ। अपनी दाहिनी आँख दिखलाओ।

२—इस चेहरे को देखो (चित्र दिखलाकर)। इसमे क्या छोड दिया गया है ?

३—तेरह सिक्को को मेज पर रख कर बालक को जोर-जोर से गिनने को कहो।

४—क्या करना चाहिये जब कि—

(क) तुम्हारे स्कूल जाते समय पानी बरस रहा है ?

(ख) तम्हारे घर मे आग लग गई है ?

(ग) कही जाते समय गाडी छूट गई ?

५—चार-पाँच प्रकार के सिक्के रख कर पूछो—ये क्या हैं ?

६—जो कुछ मै कहता हूँ उसे सुन कर ठीक-ठीक दोहराओ :—

(क) यह समय बडा सुहावना है। पिजडे मे मैने एक चूहा देखा।

(ख) उसकी छुट्टी बडे आनन्द से बीती। वह रोज मछली मारने जाता था।

(ग) मै बाहर घूमने जाऊँगा। कृपया मेरी टोपी दीजिये।

सात वर्ष की अवस्था के लिये—

१—हाथ मे कितनी उँगलियाँ हैं ? दूसरे मे कितनी हैं ? दोनो मे मिला कर कितनी हैं ?

२—यह चित्र किसके बारे मे है ?

३—जो कुछ मैं कहता हूँ उसे दुहराओ । ३, १, ७, ५, ६; १, २, ८, ३, ५; ६, ८, १, ७, ६ ।

४—यह गाँठ जैसी है वैसी ही इस रस्सी मे बनाओ ।

५—एक मक्खी और तितली मे क्या भेद है ?

६—पत्थर और अण्डे मे क्या अन्तर है ? लकडी और शीशे मे क्या अन्तर है ?

७—ऐसा ही चित्र बनाओ (एक बहुभुज क्षेत्र की नकल करना—जैसे हीरा)

३— बर्ट का संशोधन[1]

बर्ट द्वारा सशोधित बिने के प्रश्न 'लण्डन रिवीजन' के नाम से प्रसिद्ध है। बिने के समय मे ही बर्ट ने भी ऑक्सफोर्ड मे स्कूल बालको की बुद्धि-परीक्षा पर प्रयोग आरम्भ किया । पहले उसने अध्यापको से बुद्धि के अनुसार बालकों का वर्गीकरण करने के लिये कहा, तब उसने उनको बारह प्रश्न उनके उम्र के अनुसार करने को दिये । बर्ट ने देखा कि उसके परीक्षा-फल और अध्यापको के अनुमान मे घनिष्ठ परस्पर-सम्बन्ध है । जिन प्रश्नो के फल और अध्यापको के अनुमान में जितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध देखता था उन्हे वह उतना ही ठीक समझता था । बिने के प्रश्नों का लन्दन के स्कूल-बालको पर उसने परीक्षण किया और उनमे संशोधन और सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया । उसने यह देखा कि बिने के प्रश्न बडी उम्र वाले बालकों की अपेक्षा छोटो के लिये अधिक लाभदायक हैं । बर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला कि बुद्धि-परीक्षा के वे प्रश्न जो विचार और तर्क की परीक्षा करते हैं सबसे अच्छे हैं । बर्ट ने कहा कि "यदि बुद्धि प्रकृतिदत्त है, और वह ऊँची मानसिक प्रक्रियाओ मे प्रकाशित होने वाली एक सामान्य मानसिक योग्यता है तो बुद्धि-परीक्षा मे आने वाले प्रश्नों में तर्क और विचार-शक्ति का समावेश होना आवश्यक है ।" इस सिद्धान्त के अनुसार बर्ट ने ऊँची उम्र के प्रश्न मे तर्क-शक्ति के प्रयोग का समावेश किया । सशोधन में तीन वर्ष से सोलह वर्ष तक के लिये ६५ प्रश्न हैं । हर एक उम्र के लिये भिन्न-भिन्न संख्या के प्रश्नों हैं । बर्ट के संशोधन के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे है:—

सात वर्ष के लिये—

क, ख से अधिक चतुर है ।

---

1. The London Revision.

ख, ग से अधिक चतुर है।

बताओ कौन सबसे अधिक चतुर है क, ख अथवा ग ?

आठ वर्ष के लिये—

१—कही जाते समय गाडी छूट गई तो क्या करोगे ?

२—किसी दूसरे की वस्तु को तुमने तोड दिया तो क्या करोगे ?

"न मैं सामुद्रिक यात्रा करना चाहता हूँ और न समुद्र के किनारे रहना। छुट्टियो मे मुझे या तो लन्दन जाना चाहिये, या पैरिस या कैले, बताओ मेरा कहाँ जाना ठीक होगा ?"

नव वर्ष के लिये—

किसी व्यक्ति की परीक्षा वचन से नही वरन् कार्य से लेनी चाहिये, क्यो ?

"तीन लडके एक ही पक्ति मे बैठे हैं। हेनरी 'जार्ज' के बाये हाथ की ओर है और विलियम हेनरी के बाये हाथ की ओर, बताओ बीच मे कौन लडका है ?"

पन्द्रह वर्ष के लिये—

१—'आनन्द और सुख', (२) 'दीनता और कष्ट' मे क्या अन्तर है ?

४—क्रिया-परीक्षा[1]

क्रिया-परीक्षा की ओर ऊपर हम सकेत कर चुके हैं। बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न शिक्षित बालको के लिये तो ठीक सिद्ध हुए, पर अशिक्षित गूँगे, बहरे और अन्धो के लिये वे व्यर्थ ठहरे। अत इनकी बुद्धि-परीक्षा के लिये क्रिया-प्रधान का आविष्कार किया गया। इनमे प्रश्नो के उत्तर देने के बदले कुछ समस्यापूर्ण व्यावहारिक कार्य करने पडते हैं। ये प्रश्न कुछ बातो मे व्यक्तिगत परीक्षा से अधिक लाभप्रद सिद्ध हुए। इनसे व्यक्ति के बुद्धि धैर्य, विश्वास तथा अन्तर्दृष्टि का अच्छा सकेत मिलता है। इनके प्रयोग से बालक की मनोदशा का भली-भाँति पता लगाया जा सकता है। क्रिया-परीक्षा मे परीक्षार्थी से लकडी या दफ्ती के टुकडो से कुछ नमूने बनाने के लिये कहा जाता है। कुछ लकडी या दफ्ती के ऐसे टुकड़े होते हैं जिन्हे निश्चित समय के अन्दर उनके स्थान पर लगाना पडता है। उदाहरणार्थ; एक लकडी का तख्ता होता है जिसे 'फॉर्म बोर्ड' कहते है। उसमे छ छेद बने होते है। इन छेदो मे चौदह टुकडे लगाने होते हैं—किसी मे तिकोना, किसी में चौकोर आदि। सेन्गिन फॉर्म बोर्ड में दस छेद होते है। इनमे समकोण चतुर्भुज, समानान्तर चतुर्भुज अर्द्धवृत्ति तथा वृत्ति आदि बैठाये जा सकते है।

भूल-भुलैया परीक्षा[2] विधि से भी बुद्धि की नाप की जाती है। भूल-भुलैया का

---

1. Performance Tests. 2. Maze Tests.

एक रेखा-चित्र वालक को दे दिया जाता है। उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक विना रुकावट के पहुँचना पड़ता है।

पार्श्व दृश्य-परीक्षा[1]—

उदाहरणार्थ, इसमे एक मनुष्य की मूर्ति से आँख, कान अथवा नाक निकाल ली जाती है और उन्हे एक निश्चित समय के भीतर बैठाना होता है। ३८ छोटी-छोटी टुकड़ियो मे से दस को चुनकर दस मिनट मे किसी चित्र के दस छिद्रो मे चित्र को पूर्ण बनाने के लिये भरना होता है।

इन सब परीक्षाओ मे व्यक्ति जितना ठीक करता है उसी के अनुसार उसकी बुद्धि का अनुमान लगाया जाता है।

५—शिक्षक का कार्य

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रश्नो का बनाना ऐसे मनोवैज्ञानिको तथा विशेषज्ञो का काम है जो कि प्रत्येक अवस्था के वालकों की मनोदशा से भली-भाँति परिचित हैं। शिक्षको के क्षेत्र के बाहर की यह वात है। अत उनके बनाने की विधि की चर्चा करना यहाँ अनावश्यक सा है। किन्तु वालको पर प्रश्नो का यह प्रयोग कुछ चतुर शिक्षक आवश्यक वातो पर ध्यान रखते हुए कर सकते हैं। इस कार्य मे शिक्षको को अवश्य ही हाथ वटाना चाहिये। उनकी सहायता के विना यह कार्य नही हो सकता, क्योकि वहुत से विशेषज्ञो का मिलना अत्यन्त कठिन है। अत. शिक्षको को यह जानना आवश्यक है कि तैयार प्रश्नो के आधार पर वालको की बुद्धि-परीक्षा कैसे लेनी चाहिये। शिक्षक को प्रश्नो का अच्छी प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिये। उनमे जो आदेश दिये हो उन्हे समझ लेना वडा आवश्यक है, अन्यथा साधारण सी भी गलती से सारा काम विगड सकता है। जो वाते वालको को समझानी हो उन्हे अक्षरश ठीक-ठीक समझाना चाहिये। परीक्षा का समय और स्थान ऐसा हो कि बालक थकान का अनुभव न करे। कमरे की खिडकियाँ खुली हो जिससे स्वच्छ वायु आती रहे। प्रकाश की कमी न हो। परीक्षा का समय स्कूल का पूर्वकाल अच्छा है। यदि दोपहर के पहले ही परीक्षा समाप्त हो जाय तो अच्छा होगा, क्योकि उस समय लडके थके नही रहते। परीक्षा मे किसी प्रकार की वाधा घातक होगी। वाहर से विघ्न डालने वाली ध्वनि न आने पावे। यह सव वाते ठीक कर लेने के वाद वालक मे उत्साह और आत्म-विश्वास, आत्म-सम्मान, जिज्ञासा और आनन्द का भाव भरना आवश्यक है। यदि उसमे किसी प्रकार का डर आ गया तो आते हुये उत्तर को भी वह ठीक न वतला सकेगा। मित्र के सदृश् वालक से वात कर उसका डर निकाल देना चाहिये। उसकी गलतियो पर

---

1. Profile Tests

हँसना ठीक नही। परीक्षक की मुद्रा ऐसी हो कि उससे हर समय वालक के लिये सहानुभूति टपके। परीक्षक का व्यवहार ऐसा हो कि बालक तनिक भी यह अनुमान न कर सके कि वह गलती कर रहा है। यदि बालक थक जाय तो परीक्षा को दूसरे दिन के लिये स्थगित कर देना चाहिये। वालक के उत्तर को इस प्रकार अंकित करना चाहिये कि वह यह अनुमान न कर सके कि उसे अंक दिये जा रहे हैं। अतः किसी दूसरे प्रश्न के करते समय अक देना ठीक होगा। अच्छा होगा यदि वालकों के उत्तर तथा उनके विषय मे अकित की हुई पूरी बातों का अध्ययन पुन· कोई विशेषज्ञ भी कर ले।

यदि प्रश्न उम्र के अनुसार नही है तो वालकों के उत्तर की परीक्षा करना कठिन नही, क्योकि ऐसी दशा में प्रत्येक उत्तर के लिये कुछ न कुछ अंक देने का नियम रहता है। पर उम्र के अनुसार प्रश्न होने पर कुछ कठिनाई आ जाती है। ध्यान यह रखना चाहिये कि बहुत सरल या कठिन प्रश्नो से बालक तंग न आ जाय। उदाहरणार्थ, बालक यदि ग्यारह वर्ष का है तो उससे छ वर्ष वाले प्रश्नो को पूछना ठीक नही, क्योकि ये उसके लिये बहुत सरल हो सकते हैं। बाहर वर्ष वाले प्रश्न भी नही पूछने चाहिये, क्योकि वे कठिन हो सकते हैं। अच्छा यह होगा कि यह मान लिया जाय कि ग्यारह वर्ष के लडके की मानसिक आयु नव तो होगी ही। अतः उसे पहले दस वर्ष वाले प्रश्न पूछने चाहिये। इसमे असफल होने पर नीचे के वर्ष के प्रश्नो मे उसकी योग्यता देखनी चाहिये। यदि दस वर्ष वाले प्रश्नो को वह लगभग हल कर लेता है तो आवश्यक होने पर ग्यारह, बारह और तेरह आदि वर्ष के प्रश्नो मे भी उसकी परीक्षा ली जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सरल प्रश्नो से कठिन प्रश्नो की ओर जाना मनोवैज्ञानिक है। किसी बालक की बुद्धि के विषय मे एक निश्चय पर पहुँचने के लिये एक ही विधि से उसकी परीक्षा करना ठीक नही। व्यक्तिगत, क्रिया तथा सामूहिक आदि सभी विधियो से उसे टटोल लेना चाहिये। इससे वाह्य परिस्थितियो से आये हुए विघ्नो के कुपरिणाम का भय जाता रहेगा।

६—मानसिक आयु[1]—बुद्धि-लब्धि[2]

परीक्षा के फलस्वरूप वर्ष और महीने का कुल जोड जितना आता है उतनी ही बालक की मानसिक आयु समझी जाती है। विभिन्न सशोधनो के कारण बिने की बुद्धिमाप-विधि मे कई परिवर्त्तन कर दिये गये हैं। टरमैन ने मानसिक आयु के वदले बुद्धि-लब्धि (इन्टेलीजेन्स कोशेन्ट) की विधि निकाली। बुद्धि-लब्धि निकालने के लिये मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग दे देते हैं। लब्धि एक आती है तो वालक

1. Mental Age. 2 Intelligence Quotient (I. Q).

साधारण बुद्धि का, एक से कम आयी तो मन्द-बुद्धि और एक से अधिक आई तो प्रखर बुद्धि का समझा जाता है। पूर्णाङ्क प्राप्त करने के लिये लब्धि मे प्रायः १०० का गुणा कर दिया जाता है। इस प्रकार जो गुणनफल आता है उसको बुद्धि-लब्धि कहते है:—

$$\text{अर्थात्, बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$$

निम्नलिखित उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये, कोई आठ वर्ष का बालक किसी परीक्षा मे ७० अक पाता है। ७० अक आठ वर्ष के लिये औसत है। अतः बालक की मानसिक आयु आठ वर्ष की मानी गई। ऊपर के नियम के अनुसार उसकी बुद्धि-लब्धि १०० होगी। यदि उसकी वास्तविक आयु दस वर्ष को हुई और आठ ही वर्ष के लडके के बरावर वह अङ्क पाता है तो उसकी बुद्धि-लब्धि $\frac{८}{१०} \times \frac{१००}{} = ८०$ होगी, अर्थात् वह मन्द-बुद्धि हुआ। यदि पाँच ही वर्ष का बालक आठ वर्ष वाले के बराबर नम्बर पाता है तो उसकी बुद्धि-लब्धि $= \frac{८}{५} \times \frac{१००}{१} = १६०$ होगी, अर्थात् यह बालक प्रखर बुद्धि का हुआ। टरमैन ने मनुष्य की बुद्धि को बुद्धि-लब्धि के अनुसार निम्नलिखित कोटि मे रक्खा है।

प्रकार का नाम[1]	बुद्धि-लब्धि
अति प्रतिभाशाली[2]	२००
प्रतिभाशाली[3]	१४० या ऊपर
अत्युत्कृष्ट[4]	१२०-१४०
उत्कृष्ट[5]	११० से १२०
सामान्य[6]	९० से ११०
मन्द[7]	८० से ९०
निर्बल-बुद्धि[8]	७० से ८०
हीन-बुद्धि[9]	७० से नीचे
मूर्ख[10]	५० से ७०
निरा मूढ[11]	३० से ५०
जड़[12]	२० से नीचे

ग—बुद्धि की सामूहिक परीक्षा[13]

बुद्धि-परीक्षा के इतिहास के सम्बन्ध मे हम सामूहिक परीक्षा पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। उन्हे यहाँ दोहराना ठीक न होगा, पर उनकी विशेषता पर फिर विचार

1. Type. 2. Supreme Genius. 3. Genius. 4. Very Superior. 5 Superior. 6. Average or Normal. 7. Dull. 8. Mental deficiency. 9. Feeble—minded. 10. Moron. 11. Imbecile. 12. Idiot. 13. Group Test of Intelligence.

कर लेना आवश्यक जान पडता है। सामूहिक परीक्षा के आविष्कार से बुद्धि-परीक्षा का कार्य प्रयोगशाला ही में नही, वरन् स्कूल में भी सम्भव हो सका है। इसके द्वारा विभिन्न उम्र के सैकडो वालकों की परीक्षा एक ही समय उनके अध्यापक द्वारा ली जा सकती है। इसकी विधि जटिल नही है और इसके उत्तर स्पष्ट है। उनके दो उत्तर नही होते। उनका उत्तर लिख कर देना होता है। इनमें ४० से ६० मिनट का समय लगता है। इनसे मन्द, साधारण और प्रखर बुद्धि के वालको का पता लगाया जा सकता है। इनके फल के आधार पर वालको का वर्गीकरण मानसिक दृष्टिकोण से बडा मनोवैज्ञानिक होता है। वाह्य रूप में सामूहिक परीक्षा साधारण प्रचलित परीक्षा के सदृश् जान पडती है। पर इसकी विधि दूसरी होती है। इसकी विधि ऐसी है कि परीक्षार्थी डरता नही और उत्साहपूर्वक प्रश्नो का उत्तर लिखता है। प्रश्नो के उत्तर में केवल बुद्धि की ही परीक्षा होती है—भाषा अथवा गणित आदि की शक्ति की नही।

सामूहिक बुद्धि-परीक्षा के लिये भी कुछ साधारण तैयारियाँ करनी होती हैं। वालको को हवादार स्थान या कमरे मे बैठाया जाता है। उनको दूर-दूर बैठाया जाता है, जिससे एक दूसरे की नकल न कर सके। इस सम्बन्ध में और सव बाते वैयक्तिक परीक्षा के ही सदृश् हैं। पर इसमे बालकों को पहले ही बतला दिया जाता है कि उनकी परीक्षा ली जा रही है और उन्हे अङ्क दिये जायेंगे। इस प्रकार उन्हे बहुत सावधान कर दिया जाता है जिससे वे सोच समझ कर उत्तर लिखें और अनुमान न लगावे। एक निश्चित समय निर्धारित कर दिया जाता है। अत. कहने पर परीक्षा प्रारम्भ और वन्द कर दी जाती है। परीक्षा प्रारम्भ हो जाने पर कुछ पूछना मना कर दिया जाता है। मानसिक आलस्य को दूर करने के लिये कभी-कभी वास्तविक परीक्षा के पूर्व एक बहुत साधारण अथवा झूठी परीक्षा[1] ली जाती है, जिसका महत्त्व आलस्य भगाने के अतिरिक्त दूसरा नही होता। इसके बाद छपी हुई पुस्तिका उत्तर लिखने के लिये कागज के साथ बाँट दी जाती है, पर उस पर कुछ लिखने या पढने के लिये मना कर दिया जाता है। फिर अध्यापक या परीक्षक कुछ साधारण नियमो को श्यामपट्ट की सहायता से समझा कर उत्तर लिखने का आदेश देता है। वालको को छोटे से छोटा उत्तर पुस्तिका अथवा अलग कागज पर लिखना होता है। कभी-कभी आवश्यक पुस्तिका पर ही प्रश्न छाप दिये जाते हैं, जिससे परीक्षक को विशेष असुविधा न उठानी पडे।

वालको को दो प्रकार का उत्तर देना पडता है। कभी उन्हे उत्तर सोचना पडता है, तो कभी पाँच-छ दिये हुए सकेतो मे से ठीक उत्तर को चुनना पडता है (प्रश्नो के वनाते समय यह ध्यान देना होता है कि उनका ठीक उत्तर केवल एक ही

---

1. Buffer Test.

हो सके) कभी सांकेतिक उत्तरों में से ठीक उत्तर को रेखांकित करना होता है। कुछ प्रश्नो का उत्तर केवल 'हाँ' या 'नही' होता है। इसमे बालक अनुमान लगा सकता है, पर ऐसा करने मे उसे विशेष लाभ नहीं होता, क्योकि अनुमान मे वह गलती भी कर सकता है। वैयक्तिक परीक्षा के सदृश सामूहिक परीक्षा मे भी प्रश्नो का सम्बन्ध बालको के दैनिक जीवन तथा अनुभव से रहता है। इसमे प्राय· सभी लिखित प्रकार के होते हैं। कुछ थोडे ही क्रिया-प्रश्न[1] होते हैं। लिखित प्रश्नों में भाषा का प्रयोग तो आवश्यक ही है। क्योकि भाषा सभी प्रकार के प्रकाशन का साधन है। हम मन मे सोचते हुए भी भाषा का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की बौद्धिक योग्यता उसके भाषा की योग्यता से पहचानी जा सकती है। सामूहिक परीक्षा मे यह देखा जाता है बालक साधारण से साधारण समस्या को अपनी दैनिक परिस्थितियो मे कितनी सरलता से हल कर सकता है। सामूहिक परीक्षा के प्रश्नो के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

(१) **शब्द-चयन की परीक्षा[2]**—

इसमे यह देखा जाता है किसी वर्ग में आने वाले कितने शब्द बालक को स्मरण हैं। कुछ साधारण शब्दो का अर्थ भी बडी टेढी और रुचिकर विधि से उससे पूछा जाता है। पर्याय और विपरीत शब्दों को भी पूछा जाता है।

(अ) मीठा का अर्थ वही है जो····· का होता है।

(ब) ठीक शब्दो को रेखांकित करो—

१—उपकार का अर्थ वही है जो बुराई, पुण्य, पाप और भलाई का होता है।

२—निर्माण करने का वही अर्थ है जो बिगाडने, बनाने, मारने और उठाने का होता है।

३—'पापी' और 'कड़वा' के विपरीत शब्दो को नीचे लिखे शब्दो में से चुनो :—

अच्छा, मोटा, मीठा, पुण्यात्मा, छोटा, बुरा।

(२) **वर्गीकरण**—

नीचे लिखे हुए शब्दो मे जो वर्ग के न हो उन्हे काट दो .—

कागज, पेन्सिल, कलम, दावात, स्याही, टोपी। (यहाँ टोपी का वर्ग दूसरा है, लिखने के कार्य मे वह नही लाई जाती)।

(३) **भाग या पूर्ण**—

कुछ शब्द दे दिये जाते हैं। उनमे यह बतलाना होता है कि कौन सा एक

---

1. Performance Tests. 2 Vocabulary Tests.

दी हुई वस्तु का भाग है। इसमे सम्बन्ध समझने की शक्ति की परीक्षा ली जाती है जैसे—

उपयुक्त शब्द को रेखाङ्कित करो—

सुतली, दावात, घडी, चाकू, चारपाई का भाग है।

(४) अपूर्ण वाक्यो को पूरा करो—

(अ) पूर्णिमा का चाँद······उगता है और····· डूबता है।

(ब) कोष्ट मे आये हुए एक उपयुक्त शब्द को छोड़ सभी काट दो :—

मुझे गर्मी मे बहुत तेज (ठण्ड, सर्दी, अन्धेरा, गर्मी, अच्छा) और जाड़े में (बरसात, गर्मी, ठण्ड) लगती है।

(५) समानता —

इसमे सम्बन्ध का पता लगाना होता है जैसे :—

(अ) हरे रग और घास मे वही सम्बन्ध है जो नीले और····· मे है।

(ब) मछली का तैरना और चिडिया का····· बच्चे के लिए आश्चर्यजनक होता है।

(६) तर्क—

इसमें अपने तर्क-बल पर बालको को ठीक उत्तर देना पड़ता है—

लडके स्कूल भेज दिये गये क्योकि

(अ) माँ काम नही करना चाहती।

(ब) शिक्षा अनिवार्य है।

(७) आदेश का पालन करना—

(अ) वर्णमाला के अन्तिम तीन अक्षरो को लिख कर बीच वाले को काट दो।

(ब) यदि भेडिया चिडिया है तो ३ और ९ का गुणनफल दो, यदि नही तो इस वाक्य के अन्तिम शब्द का प्रथम अक्षर लिख दो।

(८) अंकगणित के प्रश्न—

रिक्त स्थानो को भरो —

(अ) १५, १४, १३, १२......, ...।

(ब) १६, ३२, ६४, १२८,......, ...।

(स) ९ , १३, १७, २१, ..., ...।

(९) चित्र सम्बन्धी प्रश्न—

किसी चित्र के छोडे हुए भाग को बतलाना पडता है, अथवा गलत स्थान पर रखे हुए भाग को बतलाना पडता है, जैसे 'बन्दर के सर पर सीग'।

चित्र सम्बन्धी प्रश्न कम शिक्षित बालको के लिये अधिक उपयोगी होते हैं।

सामूहिक परीक्षा के उत्तरो की जाँच करना बडा सरल है। प्रत्येक प्रश्न के अङ्क पहले से ही निश्चित रहते हैं। अतः अङ्क देने मे कोई कठिनाई नही होती। प्रत्येक बालक के अङ्को के जोड़ की तुलना पहले से ही निश्चित एक 'सामान्य[1] अङ्क' से की जाती है। सामूहिक परीक्षा के प्रश्नो के 'सामान्य अङ्क' निश्चित करने के लिये उन्हें कम से कम १००० बिना चुने हुए बालको को करने के लिये दिया जाता है। योग्यतानुसार जो मध्य श्रेणी का बालक होता है उसी के पाये हुये अङ्क को 'सामान्य अङ्क' मान लिया जाता है। मान लीजिये, किसी सामूहिक परीक्षा के बारह वर्ष के लिये "सामान्य अङ्क" ५५ है। यदि इस परीक्षा में कोई लड़का ५५ अक पायेगा तो उसे साधारण कहा जायगा। ५५ से कम या ४५ पाने से मन्द-बुद्धि और ५५ से अधिक पाने वाला प्रखर-बुद्धि का कहा जायगा। प्रत्येक अवस्था के लिये पहले से ही 'सामान्य अङ्क' चुने रहते हैं। मान लीजिये, कोई १२ वर्ष का लडका ४५ अङ्क पाता है और ४५ अङ्क ९ वर्ष के लिये 'सामान्य अक' है, तो इस १२ वर्ष के लडके की मानसिक आयु ९ वर्ष होगी। इस प्रकार उसकी बुद्धि-लब्धि $\frac{९}{१२} \times १०० = ७५$ हुई।

घ—वैयक्तिक और सामूहिक बुद्धि-परीक्षा की तुलना

यद्यपि ऊपर हम वैयक्तिक और सामूहिक परीक्षा के गुण और दोष पर प्रसगानुसार प्रकाश डालते आये हैं, पर उन्हे तुलनात्मक दृष्टि से एक स्थान पर क्रमबद्ध कर देना अधिक सुविधाजनक दिखलाई पडता है।

१—वैयक्तिक परीक्षा विशेषकर किसी विशेषज्ञ ही द्वारा अधिक सन्तोषप्रद फल दे सकती है। पर सामूहिक परीक्षा में ऐसी बात नही। इसमे विधि के साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी कोई चतुर अध्यापक ठीक फल पर पहुँच सकता है, क्योकि इसमें लगभग सारी बातें पहले से ही निर्धारित रहती हैं।

२—वैयक्तिक परीक्षा में समय की सीमा नही, अतः इसमें बहुत समय लग जाता है, पर बालक की शक्ति की परीक्षा ठीक से हो जाती है। सामूहिक परीक्षा में समय की सीमा निर्धारित कर देने से बहुत से बालको की एक साथ ही थोडे समय में परीक्षा ली जा सकती है, पर इसके फल पर अधिक निर्भर नही रहा जा सकता। इसीलिये सन्देहात्मक स्थानों पर वैयक्तिक परीक्षा का अवलम्बन लिया जाता है। वैयक्तिक परीक्षा की तुलना में हम कह सकते हैं कि सामूहिक परीक्षा से शक्ति[2] की नहीं, वरन् 'वेग'[3] का माप किया जाता है।

---

1. Norm. 2. Power. 3. Speed.

३—वैयक्तिक परीक्षा द्वारा छोटे बालको की परीक्षा सरलता से ली जाती है, क्योकि वे एक समूह में बैठ कर न तो ठीक प्रकार आदेश का पालन ही कर सकते हैं और न प्रश्नों का उत्तर ही ठीक-ठीक भाषा मे लिख सकते हैं। अत वैयक्तिक परीक्षा की उपयोगिता की अवहेलना नही की जा सकती।

४—वैयक्तिक परीक्षा के प्रश्नो को निर्धारित करने मे अधिक कठिनाई का सामना करना पडता है। विशेषकर क्रिया-परीक्षा के आवश्यक उपकरणो के आयोजन मे अधिक व्यय लगता है। सामूहिक परीक्षा मे इससे कम व्यय होता है।

५—वैयक्तिक परीक्षा मे बालको को तैयार करने में अधिक सतर्कता की आवश्यकता होती है। इसलिए परीक्षा लेने के पहिले उनमे आत्म-विश्वास, जिज्ञासा और रुचि उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। परीक्षक कितना भी छिपा कर बालक को अक क्यो न दे, पर उसे पता चल ही जाता है कि उसे अक दिये जा रहे हैं और उसकी परीक्षा ली जा रही है। सामूहिक परीक्षा मे बालक को पहले ही बता दिया जाता है कि उसकी परीक्षा ली जा रही है। अत. वह इसमें अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है।

६—प्रायः यह देखा गया है कि जो धीरे-धीरे सोच कर काम करने वाले होते हैं वे सामूहिक परीक्षा के सीमित समय के कारण अच्छा नही कर पाते। इसके अतिरिक्त सामूहिक परीक्षा मे परीक्षक बालको के सम्पर्क में नही आता। अतः वह नही जान पाता कि बालको ने यथाशक्ति परिश्रम किया है या नही। सामूहिक परीक्षा में बाह्य विघ्नो की तथा एक दूसरे की नकल करने की अधिक सम्भावना रहती है। वैयक्तिक परीक्षा इन सब दोषो से कुछ मुक्त रहती है।

७—यद्यपि वैयक्तिक परीक्षा मे भी कुछ पहले से ही निर्धारित बातो को परीक्षक को मानना पडता है, परन्तु आवश्यकतानुसार वह प्रत्येक बालक की ओर कुछ विशेष ध्यान दे सकता है। मन्द-बुद्धि बालक के प्रति वह विशेष सहानुभूति दिखला सकता है, और जिस बालक को अपने ऊपर गलत विश्वास है उसे वह कुछ निरुत्साह भी कर सकता है। वैयक्तिक परीक्षा में बालक के सम्पर्क मे आने से परीक्षक उसकी विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाओ का अध्ययन कर सकता है। मानसिक आयु के जानने से इसका पता नही चल सकता। स्पष्ट है कि बालक के विषय में कुछ निश्चित करने के लिये केवल सामूहिक परीक्षा के फल पर ही निर्भर रहना बुद्धिमानी से खाली होगा।

सामूहिक परीक्षा में बालको को पहले ही कुछ आवश्यक बाते बतला दी जाती हैं। सभी बालक समान बुद्धि के नही होते। अतः वे कुछ फिर से सुनने की आवश्यकता का अनुभव कर सकते हैं। सामूहिक परीक्षा मे समूह की बुद्धि का जितने ठीक प्रकार मे पता चल सकता है उतना व्यक्ति की बुद्धि का नही।

८— यद्यपि वैयक्तिक परीक्षा में भी प्रश्नो के उत्तर पहले से ही निर्धारित रहते हैं पर उसमे परीक्षक की मानसिक अवस्था का प्रभाव सामूहिक परीक्षा की तुलना मे अधिक पडता है।

ङ—बुद्धि का स्वरूप[1]

बुद्धि की व्याख्या करना सरल नही। इस विषय मे मनोवैज्ञानिको मे बडा मतभेद है। सन् १८३३ ई० मे गॉल्टन ने 'पहचानने और चुनने की शक्ति' को बुद्धि माना। १८९७ ई० में एविन्घॉस ने 'भागो को सम्पूर्ण बनाने की योग्यता' को बुद्धि की शक्ति का परिणाम स्वीकार किया। स्टाउट के अनुसार 'अवधान की शक्ति बुद्धि हैं'। स्टर्न के अनुसार 'नई परिस्थितियो में किसी व्यक्ति को अपने को सुव्यवथित कर लेने की एक सार्मान्य शक्ति 'बुद्धि' है। टरमैन के अनुसार[2] अमूर्त वस्तुओ के विषय मे सोचने की शक्ति बुद्धि है। स्पीयरमैन व्यक्ति की सामान्य योग्यता[3] को बुद्धि मानता है। थॉर्नडाइक बुद्धि का तात्पर्य बहुत व्यापक रूप मे लेता है उसके अनुसार 'व्यक्ति मे वस्तुस्थिति के अनुसार अपेक्षित प्रातक्रिया की योग्यता बुद्धि है।' कुछ लोगो के अनुसार बुद्धि मे कई प्रकार की शक्तियों का समावेश रहता है। इसमे व्यक्ति की मानसिक प्रवृत्तियों का पूरा निचोड निहित है। दूसरों के अनुसार बुद्धि मे व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियो और अर्जित गुणों की छाया स्पष्ट रहती है। इस मतभेद के सामने बुद्धि का स्वरूप निश्चित करना महा कठिन है। तथापि हम कुछ प्रयत्न अवश्य करेगे। बुद्धि कोई ऐसा पारिभाषिक शब्द नही जिसका आविष्कार मनोवैज्ञानिको ने किया हो। एक व्यक्ति बुद्धि में दूसरे से भिन्न होता है। वस्तुतः इस भिन्नता की पहचान के लिये ही मनोवैज्ञानिकों ने इसे अपने क्षेत्र में लिया है।

बैलेर्ड का कहना है कि बुद्धि की विभिन्न परिभाषाओ को तीन श्रेणियो में रखा जा सकता है :—

"(१) बुद्धि एक ऐसी सामान्य योग्यता है जो सभी मानसिक प्रक्रियाओ मे सहायता करती है।

(२) बुद्धि दो या तीन विभिन्न योग्यताओ का समूह है।

(३) बुद्धि सभी विशिष्ट योग्यताओं का निचोड है।"

'बुद्धि एक सामान्य योग्यता है—इसका समर्थन ऊपर दी हुई स्टर्न और स्पीयरमैन की परिभाषा से हो रहा है। बर्ट भी बुद्धि को एक प्रकृतिदत्त सर्वव्याप्त मानसिक योग्यता मानता है। उडरो के अनुसार भी 'बुद्धि योग्यता प्राप्त करने की शक्ति है।' दूसरे सिद्धान्त का समर्थन विने द्वारा दी हुई बुद्धि की परिभाषा से होता

1. Nature of Intelligence. 2. Abstract. 3. General Ability.

है। ऊपर हम थोडा सकेत कर चुके हैं कि बिने के अनुसार बुद्धि[1] एक निश्चित दिशा की ओर जाने की प्रवृत्ति ; २—सुव्यवस्थित हो कर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने की योग्यता; तथा ३—आत्म-आलोचना करने की शक्ति है। तीसरे सिद्धान्त का समर्थन हम थॉर्नडाइक के मत मे पाते हैं। थॉमसन भी बुद्धि को वशपरम्परागत प्राप्त विभिन्न गुणो का निचोड मानता है। इस मत-भिन्नता में भी हमारा विचार है कि बुद्धि के निम्नलिखित रूप को मनोवैज्ञानिको का बहुमत स्वीकार करता है :—

१—बुद्धि एक मानसिक सामान्य योग्यता है। इसकी क्रिया का विभिन्न रूप है।

२—ऊँची मानसिक प्रक्रियाओ मे निम्न प्रक्रियाओ की अपेक्षा यह अधिक क्रियाशील रहती है।

३—नवीन परिस्थिति के आने पर बुद्धि का बल अच्छी प्रकार दिखलाई पडता है।

४—बुद्धि का कार्य सस्कार को केवल ग्रहण करना ही नही है, वरन् अनुभव के विभिन्न अशो की परीक्षा कर उन्हे आवश्यकतानुसार सुव्यवस्थित भी करना है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिको ने प्राय. बुद्धि को एक प्रकृति-दत्त शक्ति माना है। उनका कहना है कि बुद्धि अर्जित शक्तियो से सर्वथा भिन्न है। प्रकृतिदत्त और अर्जित शक्तियो का परस्पर-भेद समझना कठिन है। कुछ मनोवैज्ञानिको का कहना है कि प्रत्येक मानसिक योग्यता में जन्मजात और अर्जित दोनो प्रकार की शक्तियाँ निहित रहती हैं। तुलनात्मक दृष्टि से एक ही शक्ति जन्मजात और अर्जित दोनो कही जा सकती है। उदाहरणार्थ; 'देखने' और 'बोलने' की शक्ति को तुलनात्मक दृष्टि से हम क्रमशः प्रकृतिदत्त और अर्जित दोनो कह सकते हैं। पर 'बोलने' और 'पढने' की शक्ति मे तुलना की जाय तो 'बोलना' प्रकृतिदत्त और 'पढना' अर्जित शक्ति जान पडती है। यह सोचना भ्रमात्मक है कि प्रकृतिदत्त शक्तियो को एक सीमा के भीतर ही शिक्षित किया जा सकता है, पर अर्जित शक्तियो के शिक्षित होने की कोई सीमा नही। दोनो की उन्नति की एक सीमा होती है। व्यक्ति अपनी एक सीमित योग्यता-नुसार ही कुछ सीख सकता है। एक सीमा पर पहुँच जाने मे उसकी उन्नति रुक जाती है। अपनी निश्चित सीमा पर पहुँच जाने पर आगे उन्नति नही होती, फिर बाद मे अभ्यास करते रहने से केवल अवनति रुकी रहती है।

(१) बुद्धि और ज्ञान[2]—

कुछ लोगों का कहना है कि बुद्धि और ज्ञान मे घनिष्ट सम्बन्ध है, ज्ञान की वृद्धि के साथ बुद्धि भी बढती जाती है। जैसे-जैसे बालक की आयु बढती है वैसे-वैसे ही

1. ग्रूप टेस्ट्स ऑव् इन्टेलीजेन्स, पृ० १३६। 2. Intelligence and Knowledge.

उसका ज्ञान और बुद्धि बढती है। इसी लिये बुद्धि-परीक्षा मे पन्द्रह वर्ष वाले प्रश्न दस वर्ष वालो से कठिन होते हैं। बुद्धि-परीक्षा में ज्ञान ही की तो परीक्षा ली जाती है। अत बुद्धि और ज्ञान को हम अलग नही कर सकते, दोनो मे बडी घनिष्ठता है। पर प्रश्न यहाँ यह है कि 'बुद्धि-परीक्षा मे किस प्रकार के ज्ञान की परीक्षा ली जाती है? क्या ऐसे ज्ञान की परीक्षा ली जाती है जो शक्ति के रूप मे व्यक्ति मे वर्त्तमान है अथवा मस्तिष्क पर भारस्वरूप लदा हुआ है? जिस बालक ने बारह ही वर्ष की उम्र मे सारी 'लघु सिद्धान्त कौमुदी' रट डाली है, उसे हम बडी प्रखर-बुद्धि का विशेषण देते हैं और दूसरे को मन्द-बुद्धि पुकारते हैं। साधारण परीक्षा मे भी ज्ञान ही की परीक्षा की जाती है, तो बुद्धि-परीक्षा और इसमे भेद क्या हुआ? यह हम मानते हैं कि बुद्धि की परीक्षा हवा में नही की जा सकती। उसकी परीक्षा ज्ञान रूपी साधन से ही की जा सकती है। पर ऊपर दिये हुये बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नो के अध्ययन से जान पडेगा कि बुद्धि-परीक्षा मे ऐसे ही ज्ञान की परीक्षा ली जाती है जिसे व्यक्ति अपनी सामान्य परिस्थितियो मे बिना किसी अतिरिक्त परिश्रम के स्वत: पा जाता है। उसके लिये स्कूली-शिक्षा की आवश्यकता नही होती। अत. 'बुद्धि-परीक्षा' 'बिना परिश्रम के स्वत: प्राप्त' ज्ञान की परीक्षा करती है और स्कूल की परीक्षा परिश्रम द्वारा अर्जित विद्या की परीक्षा करती है। यह सत्य है कि बारह वर्ष के भीतर लघु-सिद्धान्त कौमुदी का कण्ठस्थ कर लेना प्रखर-बुद्धि का द्योतक है, परन्तु इस ज्ञान का सदुपयोग करना अधिक प्रखर-बुद्धि का द्योतक होगा। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि अर्जित ज्ञान को नई परिस्थितियो में उपयोग करने की योग्यता बुद्धि है। बुद्धि से ऐडम्स का तात्पर्य यह है:— 'सासारिक-जीवन मे उपयोग मे लाने योग्य हमारा 'ज्ञान' अथवा 'विचार' ही बुद्धि है।" बैलर्ड भी कहता है कि "बुद्धि वह मानसिक योग्यता है जो कि ज्ञान, रुचि और आदत रूपी साधनो द्वारा मापी जा सकती है।" मैग्डूगल महोदय भी बुद्धि को ज्ञानात्मक शक्ति नही मानते। उनके अनुसार बुद्धि एक क्रियात्मक मानसिक शक्ति है।

(२) थॉर्नडाइक का मत[1]—

थॉर्नडाइक महोदय के अनुसार बुद्धि कई प्रकार की शक्तियो का एक समूह मात्र है। इन विभिन्न शक्तियो मे किसी प्रकार की समानता अपेक्षित नही। जैसे सन्दूक मे कई प्रकार के गर्मी व जाड़ा के कपडे भर कर रख दिये जाते है, और हम जाडा के कपडे गर्मी में नही पहन सकते, उसी प्रकार मस्तिष्क मे विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ भरी हैं। जैसे सन्दूक मे रखे हुये कपड़ो मे समानता केवल इतनी है कि व्यक्ति उसे आवश्यकतानुसार पहन सकता है उसी प्रकार इन शक्तियों मे भी समानता यह है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार उनका उपयोग कर सकता है। थॉर्नडाइक का

1. Thorndike's view.

मत है कि एक शक्ति का प्रयोग एक ही स्थल पर किया जा सकता है। दूसरे स्थल से उसका कुछ विशेष सम्बन्ध नही। यदि कोई व्यक्ति विज्ञान में ७० प्रतिशत अङ्क पाता है तो उसकी विज्ञान की योग्यता गणित के अध्ययन मे कुछ भी सहायता न करेगी और वह गणित मे शून्य तक पा सकता है। ऐसा कभी-कभी देखा भी जाता है। पर इससे थॉर्नडाइक के मत की सत्यता नही प्रमाणित होती। ऐसे विरले ही व्यक्ति होते हैं जो एक विषय मे तो उत्कृष्ट कोटि के हो और दूसरे मे उनकी योग्यता कुछ भी काम न करे।

(३) स्पीयरमैन का मत—

थॉर्नडाइक से अधिक हृदयग्राही हमे स्पीयरमैन का मत लगता है। स्पीयरमैन का सिद्धान्त 'टू फैक्टर थियरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी व्याख्या हम 'शिक्षा का स्थानान्तर' के अध्याय मे कर चुके हैं। उसी को हम फिर दूसरे शब्दो मे दोहरा सकते हैं। स्पीयरमैन के अनुसार बुद्धि दो प्रकार की शक्ति का योग है। पहली प्रकार की शक्ति को वह 'जी' (जनरल ऐबिलिटी) अर्थात् 'सामान्य योग्यता' पुकारता है। व्यक्ति की सामान्य योग्यता उसके प्रत्येक कार्य मे सहायक होती है। दूसरे प्रकार की शक्ति को वह 'एस' (स्पेशल एबिलिटी) अर्थात् 'विशिष्ट योग्यता' पुकारता है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशेष कार्य करने की योग्यता होती है। अपनी-अपनी विशेष रुचि के अनुसार व्यक्ति गणित, सगीत, कविता अथवा राजनीति इत्यादि मे विशिष्ट योग्यता रखता है। स्पीयरमैन का कहना है कि विशिष्ट योग्यता दूसरे कार्यो मे सहायक नही होती। प्रत्येक कार्य में दो प्रकार की योग्यता काम करती है—सामान्य और विशिष्ट ('जी' ऐण्ड 'एस')। स्पीयरमैन के अनुसार यह सामान्य और विशिष्ट योग्यता ही बुद्धि के आवश्यक अग हैं। इसी प्रकार की बुद्धि से प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य करता है।

स्पीयरमैन के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिको का बहुमत मानता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर किसी सामान्य व्यक्ति की इस धारणा में आशिक सत्य दिखलाई पडता है कि जो एक काम को अच्छी प्रकार करता है वह प्राय और कार्यो को भी उसी परिस्थिति मे अच्छा करता है, क्योकि उसकी 'सामान्य योग्यता' सदा सहायक रहती है। विभिन्न मनुष्यो की विशिष्ट योग्यताये भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। कदाचित् इसीलिये उनकी बुद्धि मे भी भेद दिखलाई पडता है। क्योकि बुद्धि मे 'विशिष्ट योग्यता' का भी समावेश हो जाता है।

बुद्धि की परिभाषा[1]—

हम बुद्धि की परिभाषा इस प्रकार करेंगे—"बुद्धि एक जन्मजाति शक्ति है। इसकी सहायता से व्यक्ति किसी समस्या के हल करने के साधनो को अपनी विशेष

1. Definition of Intelligence.

योग्यतानुसार सोच कर उनके सदुपयोग के लिये क्रियाशील हो सकता है।" यह परिभाषा विभिन्न मनोवैज्ञानिको के मत का निचोड कहा जा सकता है। इसमे स्पीयरमैन और मैग्डूगल की छाप स्पष्ट है।

च—बुद्धि के बढ़ने की सीमा[1]

व्यक्ति के बुद्धि की उन्नति कब तक होती रहती है? इस प्रश्न के उत्तर मे भी मनोवैज्ञानिको मे मतभेद है। पर जो कुछ उन्होने निर्णय किया है वह भी सन्देहात्मक प्रतीत होता है। बुद्धि-परीक्षा के परिणामो से यह ज्ञात होता है कि बालक की बुद्धि उसकी आयु के साथ बढती रहती है, और बुद्धि और वास्तविक आयु मे सदा समान अनुपात बना रहता है, अर्थात् बुद्धि-लब्धि (आई० क्यू०) सदा समान रहता है। बुद्धि-परीक्षा से बुद्धि के बारे मे यह भी ज्ञात होता है कि १—बुद्धि अर्जित शक्तियो से परे है और २—किशोरावस्था के मध्यकाल मे इसकी उन्नति रुक जाती है।

बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न ऐसे बने रहते है कि पाई हुई स्कूली शिक्षा से उनका विशेष सम्बन्ध नही रहता। परीक्षण के आधार पर यह देखा भी गया है कि स्कूली शिक्षा से बुद्धि-लब्धि पर कोई प्रभाव नही पडता। कुछ बालको की बुद्धि की परीक्षा स्कूल में जाने से पहले कर बुद्धि-लब्धि निकाल ली गयी। एक वर्ष बाद उनकी फिर परीक्षा ली गई तो देखा गया कि उनकी बुद्धि-लब्धि मे अन्तर न था। कुछ मनोवैज्ञानिको का मत है कि बुद्धि प्राय. समान रहती है—पर उसमे किसी घातक घटना, रोग तथा थकान के कारण भेद भी आ सकता है। कुछ अन्य मनोवैज्ञानिको का विचार है कि बुद्धि की उन्नति मे शिक्षा का प्रभाव नही पडता, यदि कुछ प्रभाव पडता है तो वह नगण्य है। पर इसका तात्पर्य यह नही कि बुद्धि और शिक्षा से कोई सम्बन्ध ही नही। शिक्षा रूपी साधन से बुद्धि का सदुपयोग किया जा सकता है। शिक्षा न पाने से गाँवों में रहने वाले उत्कृष्ट कोटि के बुद्धिमान व्यक्ति को भी मूर्ख ही कहा जाता है। परीक्षा के आधार पर यह प्रमाणित किया जा सकता है कि बहुत से अशिक्षित ग्रामीणजन बडे बुद्धिमान होते हैं, पर उन्हे कोई नही जानता, क्योंकि उन्हे प्रतिभा दिखलाने का कभी साधन नही मिला। कहने का तात्पर्य यह कि शिक्षक को यह न समझना चाहिये कि यदि शिक्षा से बुद्धि नही बढती तो इस सम्बन्ध मे उसका कोई कार्य ही नही। शिक्षा के बल से बुद्धि का विभिन्न क्षेत्रो के सदुपयोग किया जा सकता है। परिस्थिति के उपस्थित होने पर ही व्यक्ति की विभिन्न सोई हुई शक्तियाँ जाग उठती हैं। अत: स्कूल को बालक के सामने उसकी योग्यतानुसार विभिन्न परिस्थितियाँ रखनी चाहिये, जिससे उसकी सोई हुई शक्तियाँ जाग उठे और वह अपनी प्रकृतिदत्त बुद्धि का सदुपयोग कर सके।

---

1. Limits of the growth of Intelligence.

ऊपर हम सकेत कर चुके हैं कि कुछ मनोवैज्ञानिको की धारणा है कि बुद्धि का विकास थोडे दिन के बाद रुक जाता है। यदि किसी प्रौढ व्यक्ति से कहा जाय कि आज वह उतना ही बुद्धिमान् है जितना वह पन्द्रह या सोलह वर्ष की अवस्था मे था तो कदाचित् वह सहमत न होगा। वह नही मान सकता कि उसकी शिक्षा का उसकी बुद्धि पर कुछ भी प्रभाव नही पडा। बिने ने अपने परीक्षणो के आधार पर देखा कि बुद्धि का विकास पन्द्रह वर्ष तक चलता है। टरमैन के अनुसार बुद्धि सोलह वर्ष के बाद नही बढती। बर्ट का मत है कि बुद्धि की उन्नति चौदह ही वर्ष तक होती है। कुछ लोगो का कहना है कि मस्तिष्क पन्द्रह वर्ष की अवस्था पर अपनी अधिकतम तौल पा जाता है, इसलिये आश्चर्य नही यदि पन्द्रह वर्ष पर बुद्धि का विकास रुक जाये। उडरो का कथन है कि मस्तिष्क की तौल-वृद्धि और बुद्धि-विकास में कोई समानता नही। मस्तिष्क तो पाँच ही वर्ष की अवस्था मे अपना नब्बे प्रतिशत तौल पा जाता है, तो क्या व्यक्ति की बुद्धि भी पाँच वर्ष मे अपनी कुल सीमा की नब्बे प्रतिशत बढ जाती है? बर्ट ने अपने ३४ प्रश्नो से विभिन्न स्कूलो के २००० विद्यार्थियो की बुद्धि परीक्षा की। इन विद्यार्थियो की उम्र ग्यारह और अठारह वर्ष के अन्दर थी। बर्ट ने देखा कि ट्रेनिङ्ग कालेज के प्रौढ व्यक्ति स्कूल विद्यार्थियो से परीक्षा मे अच्छा नही कर सके। उसने देखा कि सन्ध्या-स्कूल के नवयुवको ने और बुरा भी किया। परीक्षणो के आधार पर मनोवैज्ञानिको ने निष्कर्ष निकाला है कि प्रथम कुछ वर्षो में बुद्धि के विकास की गति तीव्र होती है। पर बारह वर्ष के बाद इसके विकास की गति धीमी पड जाती है और सोलह वर्ष के बाद इसमे कोई उन्नति नही होती। मनोवैज्ञानिक ओटिस का कहना है कि अठारह वर्ष तक उम्र का विकास होता रहता है।

कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं कि जिन प्रश्नो के द्वारा सोलह वर्ष के बालको की बुद्धि-परीक्षा की गई उन्ही के आधार पर प्रौढो की बुद्धि-परीक्षा करना ठीक नही, क्योकि प्रौढो की रुचियो में बहुत भेद आ सकता है। जो बाते छोटे बच्चो को रुचिकर होती हैं वे बडो को रुचिकर नही होती। जो अंकगणित का प्रश्न हम सातवी कक्षा में कर लेते थे उसे हम एम० ए० पास करने के बाद उतनी चतुरता से नही कर पाते, यदि हाई स्कूल परीक्षा के बाद हमारे अध्ययन का विषय गणित न रहा हो। इसी प्रकार विज्ञान अथवा भूगोल-सम्बन्धी जो बातें हमें स्कूल-काल मे स्मरण रहती है वे प्रौढावस्था मे विस्मृत हो जाती हैं। तो क्या इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम बचपन की अपेक्षा मूर्ख हो गये हैं? नही, इसका अर्थ यह नही हो सकता। मस्तिष्क का यह नियम है कि जो बाते व्यक्ति के लिये आवश्यक नही होती उसे, वह निकाल देता है। यही कारण है कि अतीत मे सीखी हुई बहुत सी बाते भविष्य में चल कर व्यक्ति भूल जाता है। रुचि-परिवर्त्तन से अतीत की आवश्यक बातें भविष्य में अनावश्यक हो

जाती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि कोई प्रौढ व्यक्ति किसी बुद्धि-परीक्षा में किसी छोटे बालक से बुरा करता है तो इसका अर्थ यह नही कि वह पहले से मूर्ख हो गया है। वास्तव मे प्रौढ व्यक्ति की बुद्धि-परीक्षा के लिये नये बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नो को बनाना आवश्यक है, पर यह कार्य बडा ही कठिन है। बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नो को तैयार करने के लिये मन्द, सामान्य और प्रखर सभी कोटि के बालको पर परीक्षण कर औसत निकालना आवश्यक होता है। प्रायः इस प्रकार के बालक हमे स्कूलो में मिल जाते हैं। पर प्रौढो का इतनी संख्या मे इस प्रकार समान वातावरण मे रहते हुए पाया जाना कठिन है। स्कूल-शिक्षा के बाद व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न जीवन-व्यापार मे लग जाता है। दूसरे, प्रौढ व्यक्ति अपनी बुद्धि-परीक्षा करवाना भी पसन्द नही करेगा, क्योकि इसके फल से उसे आत्म सम्मान की हानि का भय रहता है। इन सब कठिनाइयों के कारण प्रौढों की बुद्धि-परीक्षा के लिये प्रश्नो का बनाना बडा ही दुष्कर कार्य है।

छ—क्या बुद्धि के बढ़ने के काल की एक निश्चित सीमा होती है ?

मनोवैज्ञानिको का मत है कि बुद्धि का विकास एक निश्चित अवस्था तक पहुँचने के बाद रुक जाता है। उनका यह भी कहना है कि व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि अर्थात् मानसिक और वास्तविक आयु का अनुपात सदा समान रहता है। इन दोनो मतो मे से एक अवश्य ही गलत होगा। व्यक्ति की वास्तविक आयु सदा बढती रहती है। यदि बुद्धि-लब्धि समान रहती है तो उसकी मानसिक आयु भी सदा बढ़नी चाहिये। मान लीजिये, दस वर्ष की अवस्था मे किसी बालक की बुद्धि-लब्धि ११० है, अर्थात् उसकी मानसिक आयु ग्यारह वर्ष है। यदि वास्तविक उम्र के साथ उसकी मानसिक उम्र नही बढती तो २० वर्ष की आयु मे उसकी बुद्धि लब्धि $\frac{११}{२०} \times १०० = ५५$ हो जायगी; अर्थात् वह निरा मूर्ख (मोरोन) हो जायगा। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि या तो व्यक्ति की मानसिक आयु वास्तविक आयु के साथ बढती चलती है, अर्थात् बुद्धि का विकास रुकता नही अथवा यह मान लिया जाय कि बुद्धि-लब्धि सदा समान नही रहती, अर्थात् यदि किसी व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि १२० है तो उसके उम्र के साथ यह घटती जायगी। आशा है इस समस्या का स्पष्टीकरण शीघ्र किया जायगा। पर कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि केवल सुविधा व काम चलाने के दृष्टिकोण से ही मनोवैज्ञानिको ने बुद्धि के बढने के काल की एक निश्चित सीमा मान ली है।

ज—वंशानुक्रम और वातावरण का बुद्धि पर प्रभाव[1]

बुद्धि के विकास के रुकने की अवस्था विभिन्न जातियों की सभ्यतानुसार भिन्न-

---

1. The Influence of Heredity and Environment on Intelligence.

भिन्न पायी गई है, अर्थात् इसके विकास पर वशानुक्रम का प्रभाव पडता है। एस० डी० प्रिटिन्स ने परीक्षण के आधार पर देखा कि आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियो के वच्चों के बुद्धि का विकास गौरवर्ण वाले वच्चो की अपेक्षा पहले ही रुक जाता है। प्रो० जे० एन० ग्रीन का कहना है कि वातावरण का प्रभाव बुद्धि-विकास पर पडता ही है। वातावरण यदि सकुचित हुआ तो बुद्धि भी सकुचित हुए बिना न रहेगी। वशानुक्रम और वातावरण का बुद्धि से क्या सम्बन्ध है यही हम नीचे देखेंगे।

१—बुद्धि और वंशानुक्रम

वशानुक्रम और वातावरण का बुद्धि-विकास में भाग समझने के लिये जोडवो का अध्ययन किया गया है। जोडवो का पालन-पोषण अलग-अलग करने से उनके स्वभाव मे वातावरण का विभिन्न प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पडता है। वशानुक्रम का प्रभाव जिस प्रकार व्यक्ति के रूप, रग व शरीर पर दिखलाई पडता है उसी प्रकार उसका प्रभाव बुद्धि पर भी होता है। यदि बुद्धि-सम्बन्धी कुछ दोष अथवा गुण वशानुक्रम मे आ जाते हैं तो उसका प्रभाव भावी वशजो में स्पष्ट पडता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति वशानुक्रम के प्रभाव स्वरूप कुछ गुणो अथवा अवगुणो को लेकर जन्म लेता है। अनुकूल अथवा प्रतिकूल वातावरण उसमे सीमित परिवर्त्तन ही ला सकता है और लाता है। वशानुक्रम का प्रभाव देखने के लिये रक्त सम्बन्धित विभिन्न व्यक्तियो का अध्ययन कर सयुक्त राज्य अमेरिका के विद्वानो ने कुछ निर्णय किया है। उन्हे बुद्धि-परीक्षा में जोडवो मे दूसरो से अधिक समानता दिखलाई पडी। उनके बुद्धि-माप के फल मे ·९ का सह-सम्बन्ध[1] दिखलाई पडा, भाई और बहिनो मे ·२५ का सम्वन्ध रहा। टरमैन का अन्वेषण इस सम्वन्ध में अधिक मनोरजक है। उसने 'हॉल ऑव फेम' के बासठ सदस्यो का अध्ययन किया। इनमें से २२½ प्रतिशत ६४३ प्रखर बुद्धि के बालको से सम्वन्धित थे। गॉल्टन ने वशानुक्रम से बुद्धि का सम्बन्ध समझने के लिये ९७७ विद्वानो का अध्ययन किया। इन विद्वानो के ५३५ बडे प्रसिद्ध सम्बन्धी निकले। गाल्टन ने ९७७ साधारण व्यक्तियो का अध्ययन किया। उसने देखा कि इनके सम्वन्धी केवल चार ही ऐसे थे जो प्रखर बुद्धि के कहे जा सकते थे। उपर्युक्त अन्वेषणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वशानुक्रम का बुद्धि की प्रखरता अथवा मन्दता से घनिष्ट सम्बन्ध है। हम यह भी साराश निकाल सकते हैं कि रक्त का जितना ही निकट सम्बन्ध होता है उतना ही बुद्धि में भी समानता अपेक्षित होती है।

२—बुद्धि और वातावरण

बुद्धि पर वातावरण का किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है यह स्पष्टतया

---

1 एक पूर्णाङ्क का सह-सम्बन्ध होने पर पूरी समानता आ जाती है।

अभी नही कहा जा सका है। चूहो और सूअरो इत्यादि जानवरो के पालन मे कुछ परीक्षणों के आधार पर मनोवैज्ञानिको की यह धारणा है कि किसी पदार्थ विशेष के प्रयोग से स्वास्थ्य पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव पडता है। कदाचित् प्रत्येक का ऐसा कुछ अनुभव हो सकता है। स्वास्थ्य का बुद्धि की वृद्धि पर प्रभाव पडता ही है। स्कूल कुछ दिन जाने के बाद ही बालक की वुद्धि मे कुछ परिवर्त्तन होने लगता है। यदि वातावरण अनुकूल हुआ तो बुद्धि का विकास उत्तरोत्तर होता जायगा, यदि प्रतिकूल हुआ तो इसके विपरीत फल होगा। यही कारण है कि यदि शिक्षित कुल मे पैदा हुए बालको को उचित वातावरण मे नहीं रखा जाता तो उनकी बुद्धि की वृद्धि रुक जाती है। यह भी देखा गया है कि अशिक्षित कुल के बालको को उचित वातावरण मे पालने से उनकी बुद्धि का विकास अधिक किया जा सकता है। बुद्धि-माप सम्बन्धी परीक्षणो से यह बात स्पष्ट है। एस० डी० स्क्रग ने नीग्रो बालको पर परीक्षण कर देखा कि उनकी पढने की योग्यता और बुद्धि-लब्धि मे समानता थी, अर्थात् पढ़ने की योग्यता के बढ़ने के साथ बुद्धि का भी विकास होता गया। थॉर्नडाइक का भी मत है कि स्कूल मे रहने वाले विद्यार्थियो की बुद्धि का विकास होता चलता है। शिक्षा के फलस्वरूप बुद्धि में शीघ्र विकास होने ही के कारण किसी बालक की दूसरी बार बुद्धि-परीक्षा ली जाने पर फल दूसरा मिलता है। ब्राउन ने दो और पॉच वर्ष के अन्तर पर कुछ बालकों की बुद्धि-परीक्षा दूसरी और तीसरी बार की। दूसरी बार और पहली बार के फल मे ·८६ का परस्पर-सम्बन्ध था, और तीसरी और पहली बार मे ६१ का परस्पर-सम्बन्ध था।

झ—बुद्धि का वितरण[1]

बुद्धि-परीक्षा से यह देखा गया है कि बालक प्राय. माध्यमिक योग्यता के होते हैं, अर्थात् उनमें मन्द-बुद्धि और प्रखर बुद्धि की संख्या कम होती है, अधिकता समान योग्यता वालों की ही होती है। मन्द-बुद्धि बालक और उससे ऊपर वाले मे बहुत थोड़ा ही अन्तर होता है। इसी प्रकार प्रखर-बुद्धि और उससे नीचे वाले मे बहुत कम अन्तर रहता है। टरमैन ने पाँच से चौदह वर्ष के ९०५ बालको की बुद्धि का माप किया। उनकी परीक्षा का फल इस प्रकार है :—

प्रखर-बुद्धि		मन्द-बुद्धि	
बालको का प्रतिशत	बुद्धि-लब्धि	बुद्धि-लब्धि	बालको का प्रतिशत
३३·९	९६–२०५	१९६–२०५	३३·९
३२·१	१०६–११५	८६–९५	२०·१
९·०	११६–१२५	७६–८५	८ ६
२·३	१२६–१३५	६६–७५	२·३
० ५५५	१३५–१४५	५५–६५	०·३३

1. Distribution of Intelligence.

टरमैन के निकाले हुए फल से स्पष्ट है कि प्रखर-बुद्धि और मन्द-बुद्धि की सख्या सबसे कम होती है। ऊपर हम देखते हैं १३६–१४५ और ५५–५६ बुद्धि-लब्धि वाले बालको का प्रतिशत क्रमश. ०·५५५ और ०·३३ है। सामान्य योग्यता वालो का प्रतिशत सबसे अधिक अर्थात् ३३ ९ है। इसी प्रकार कही हुई अन्य बाते भी स्पष्ट हैं।

ञ—बुद्धि और लिङ्ग-भेद[1] (इन्टेलीजेन्स ऐण्ड सेक्स डिफ़रेन्सेज़)

बारहवे अध्याय मे वैयक्तिक भिन्नता के सम्बन्ध मे इस पर थोडा प्रकाश डाला जा चुका है। पर प्रसगवश उन बातो की दोहरा देना सुविधाजनक होगा। प्राय: लोगों की यह धारणा होती है कि स्त्रियो की बुद्धि पुरुषो से कम होती है। कदाचित् लोगो की यह धारणा स्त्रियो मे विभिन्न विषयों के ज्ञान के अभाव से आ गई है। पर परीक्षणो द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया है कि यदि स्त्रियो को भी पुरुषों के सदृश सभी सुविधाये दी जाये तो वे किसी भी ज्ञान मे पीछे नही रहेगी। उनका कौटुम्बिक कार्य कुछ ऐसा होता है कि उन्हे पढने-लिखने की कम सुविधा होती है। अत ज्ञान अथवा अनुभव की कमी को बुद्धि की कमी समझना अमनोवैज्ञानिक होगा। यह ध्यान देने की बात है कि बुद्धि की भिन्नता जितनी पुरुषो मे मिलती है उतनी स्त्रियो मे नही मिलती। उत्कृष्ट बुद्धि व हीन बुद्धि के व्यक्ति जितने पुरुषो में मिलते हैं उतने स्त्रियो मे नहीं। पागलखानो मे पुरुषो के आधिक्य का कदाचित् यह भी कारण हो सकता है।

ट—मन्द-बुद्धि[2]

अमेरिकन मनोवैज्ञानिको ने मन्द-बुद्धि बालको की कई श्रेणियो का उल्लेख किया है। (इसका सकेत हम टरमैन के वर्गीकरण मे कर चुके हैं) उनके अनुसार जड[3] व्यक्ति की मानसिक आयु सदा दो वर्ष की होती है। मूढ[4] जड से कुछ अच्छा होता है, पर उसकी मानसिक आयु सदा सात ही वर्ष रहती है। निरा[5] मूर्ख मूढ से अच्छा होता है। उसकी मानसिक आयु सदा बारह वर्ष रहती है। पिण्टर के अनुसार इगलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका मे समस्त निवासियो का एक प्रतिशत मन्द-बुद्धि होता है। अभी यह निश्चित नही किया जा सका है कि बालको मे कितने प्रतिशत मन्द-बुद्धि होते हैं। कुछ लोगो का अनुमान है कि प्रति हजार दो बालक मन्द-बुद्धि होते हैं। कुछ अन्य लोगो का कहना है कि प्रति हजार ५० बालक मन्द-बुद्धि होते हैं। प्रत्येक स्कूल के मन्द-बुद्धि बालको को अलग करके उनकी शिक्षा की अलग व्यवस्था करनी चाहिये। इस समस्या पर अन्तिम अध्याय मे कुछ प्रकाश डाला जायगा।

---

1. Intelligence and Sex Differences 2. Dull. 3. Idiot. 4. Imbecile. 5. Moron.

ठ—क्या शिक्षक और विद्यार्थी को बुद्धि-लब्धि से अवगत करना चाहिये ?[1]

प्रत्येक शिक्षक को विद्यार्थी के बुद्धि-लब्धि को बतला देना ठीक न होगा, क्योकि इससे उसके प्रयत्न मे ढिलाई आ सकती है। विद्यार्थी की प्रत्येक असफलता का कारण शिक्षक उसकी मन्द-बुद्धि ही समझेगा और इस प्रकार अपनी पाठन-विधि के सुधार की ओर वह ध्यान न देगा। इसका फल बालकों पर अच्छा नही पड सकता। वे हतोत्साह होकर मन्द हो जा सकते है। इसके विपरीत प्रखरबुद्धि बालक को वह इतना उत्साह दे सकता है कि वह दम्भी हो जाय। वह अपने को इतना बडा समझ लेगा कि यथा-शक्ति प्रयत्न करना छोड देगा। इन सब भय से बुद्धि-लब्धि को बतला देना युक्ति-सगत नही दिखलाई पड़ता। केवल ऐसे ही शिक्षक को बुद्धि-लब्धि का बतलाना ठीक होगा जो इसका सदुपयोग कर सके और आवश्यकतानुसार बालक की शिक्षा मे उपकरणो को घटा या बढा सके।

क्या बालकों को उनकी बुद्धि-लब्धि बतलाना ठीक है ? इस प्रश्न का उत्तर वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर करेगा। यदि बालक मन्द-बुद्धि है तो कदाचित् बुद्धि-लब्धि का वह तात्पर्य ही न समझेगा। सामान्य योग्यता वाले बालक को बुद्धि-लब्धि बतला देना हानिकर न होगा, पर इसमें भी परीक्षक को परिस्थिति के अनुसार निर्णय करना चाहिये। यदि बुद्धि-लब्धि बतलाने से बातक के उत्साहित होने की आशा है तो उसे बतला देना ठीक होगा, क्योंकि प्रत्येक को अपनी सीमा से अवगत होना आवश्यक है। प्रखर-बुद्धि बालक के स्वभाव को समझ कर उसे बुद्धि-लब्धि बतलाने का निश्चय करना चाहिये। यदि उसमें बहकने की प्रवृत्ति हो तो बुद्धि-लब्धि का बत-लाना ठीक न होगा।

ड—बुद्धि परीक्षा के उपयोग[2]

बुद्धि-परीक्षा से शिक्षा-सम्बन्धी बहुत सी बातों का पता चला है। बुद्धि-लब्धि से बालक का प्रकार जान लिया जाता है। यदि बालक मन्द हुआ तो उसे अलग कर आवश्यक शिक्षा की उचित व्यवस्था की जा सकती है। यदि प्रखर हुआ तो उस पर विशेष ध्यान दिया जा सकता है जिससे वह सभ्यता के विकास में अपना योग दे सके। बुद्धि-परीक्षा से पहले बालको का वर्गीकरण करना बडा ही कठिन था। फलत कुछ विशेष बालकों पर आवश्यक ध्यान देना सम्भव न था। प्राय: यह देखा जाता है कि प्रारम्भ में बालक मन्द-बुद्धि नही दिखलाई पड़ता और छोटी कक्षा में अपने सहपाठियो के साथ सरलता से पढ़ लेता है, पर उसकी कठिनता उम्र के बढने पर दिखलाई पडती

---

1. Should I. Q. be told to teachers and students ? 2. Uses of Intelligence Tests.

है। इसका क्या कारण है? यह मानसिक आयु और बुद्धि-लब्धि के भेद को समझने से स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिये पाँच वर्ष के दो बालक एक की कक्षा मे पढ रहे हैं। एक की मानसिक आयु पाँच वर्ष है अथवा एक सामान्य बुद्धि है, और दूसरे की मानसिक आयु चार वर्ष है, अर्थात् दूसरा कुछ मन्द-बुद्धि है। अर्थात् दोनो की बुद्धि-लब्धि क्रमश. १०० और ८० है। पाँच और छ. वर्ष मे विशेप अन्तर नही, अत. छोटी कक्षा में मन्द-बुद्धि बालक विशेष कठिनाई का सामना नही करता। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में पहले बालक की मानसिक आयु पन्द्रह और दूसरे की बारह होगी। इस प्रकार अब दोनो का भेद तीन वर्ष का हो जायगा। भेद तीन वर्ष का हो जाने से ऊँची कक्षा मे उसे कठिनाई होती है। अर्थात् जो बालक को छोटी अवस्था मे दूसरो के साथ पढाया जा सकता था उसी को बडी कक्षा मे अन्य बालको के साथ पढाना मनोवैज्ञानिक सिद्ध नही हुआ। बुद्धि-परीक्षा आन्दोलन के आने के पूर्व इस बात को समझना सरल न था, अत मन्द-बुद्धि बालक को भी ऊँची कक्षाओं में चढा दिया जाता था। इस प्रकार बुद्धि-परीक्षा की सहायता से बालकों का मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण सम्भव हो सका है। वर्गीकरण ठीक न होने से शिक्षक अपने परिश्रम का उचित फल नही पाता। प्रखर-बुद्धि के बालक के लिये शिक्षा अरुचिकर हो जाती है, क्योकि शिक्षक को कक्षा के मन्द-बुद्धि बालको पर भी ध्यान देना होता है। यदि शिक्षक का अध्यापन प्रखर-बुद्धि के बालको के योग्य हुआ तो मन्द-बुद्धि बालक आलस्य में झपकी लगा सकता है।

बुद्धि-परीक्षा के फलस्वरूप बालको की एक मनोवैज्ञानिक श्रेणी सामने आ गई है। अब यह समझना सरल हो गया है किसी बालक को कैसी शिक्षा की आवश्यकता है। ८० अथवा ६० बुद्धि-लब्धि वाले बालक से अब यह कहा जा सकता है कि उसे कालेज-शिक्षा में अपना समय देना ठीक नही। किसी व्यावसायिक कार्य में लगने के लिये उसे राय दी जा सकती है। इस प्रकार उचित राय देकर समय का अपव्यय बचाया जा सकता है।

यह सत्य है कि बुद्धि-परीक्षा प्रचलित साधारण परीक्षा का स्थान नही पूरा कर सकती। बुद्धि-परीक्षा भविष्य की ओर सकेत करती है और साधारण परीक्षा अतीत के अनुभव की ओर। एक कक्षा से दूसरी कक्षा में चढने के लिये हमे साधारण परीक्षा की ही सहायता लेनी होगी। पर स्कूल मे नये प्रवेश के लिये बुद्धि-परीक्षा का फल हमारी अधिक सहायता कर सकता है। इस प्रकार बुद्धि-परीक्षा फाटक पर बैठे एक चौकीदार का काम कर सकती है। इसकी सहायता से बालको को अयोग्य स्थान पर भेजना रोका जा सकता है। टरमैन का अनुमान है कि यदि प्रारम्भ मे ही ठीक चुनाव किया जाय तो शिक्षा की असफलता को दस प्रतिशत घटाया जा सकता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के फलस्वरूप हमारे देश मे अनिवार्य शिक्षा का प्रचार प्रारम्भ हो गया है। ऐसी अवस्था मे बालको का उचित वर्गीकरण बड़ा आवश्यक है। अतः बुद्धि-परीक्षा की आवश्यकता हमारे देश के लिये अब पहले से बहुत अधिक बढ गई है। ठीक वर्गीकरण के न होने से प्रखर-बुद्धि के बालको की अधिक हानि होती है। क्योकि उन्हे सामान्य बुद्धि वाले बालको के लिये ही बनाये हुये पाठ्य-क्रम के अनुसार चलना पडता है। इस हानि को रोकने के लिये कभी-कभी उन्हे ऊँची कक्षाओ में शीघ्र चढा दिया जाता है। इसका भी परिणाम अच्छा नही होता। ऊँची कक्षाओं मे इन बालको का सग प्रायः बड़ी उम्र के बालको के साथ हो जाता है। शारीरिक दृष्टि से निर्बल होने से ऊँची कक्षाओ मे बडे लडके उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार नही करते, जिससे उन्हे सवेगात्मक धक्का लगता है और उनके बुद्धि-विकास मे रुकावट पड जाती है।

छात्रवृत्ति के देने के निर्णय मे भी बुद्धि-परीक्षा की सहायता ली जा सकती है। बुद्धि-परीक्षा से शिक्षक के कार्य की सफलता भी आँकी जा सकती है। जब बुद्धि-लब्धि और किसी विषय मे बालक की उन्नति का सम्बन्ध नही दिखलाई पड़ता तो आवश्यक उपचार की ओर दृष्टि दौडाई जा सकती है। बुद्धि-परीक्षा से बालक की प्रवृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे यह ज्ञात हो सकता है कि बालक को किन किन विषयों का अध्ययन करना चाहिये। व्यावसायिक चुनाव (वोकेशनल सेलेक्शन) मे बुद्धि-परीक्षा की सहायता लाभप्रद सिद्ध हुई है।

ढ—भारतवर्ष मे बुद्धि-परीक्षा[1]

(१) कठिनाइयाँ—

अपने देश मे बुद्धि-परीक्षा की आवश्यकता की ओर हम ऊपर संकेत कर चुके है। पर इस कार्य मे अनेक कठिनाइयाँ दिखलाई पडती हैं। बालकों की बुद्धि-परीक्षा माता-पिता व अभिभावको की सहानुभूति बिना नही सफल हो सकती। हमारे यहाँ की साधारण जनता अभी इतनी शिक्षित नही कि वह इसकी आवश्यकता का अनुभव कर मनोवैज्ञानिकों के कार्य मे उचित सहायता प्रदान करे। बुद्धि-परीक्षा के लिये बालको की ठीक उम्र का जानना बडा ही आवश्यक है। हमारे देश में ठीक उम्र का पता लगाना एक बडी समस्या है। स्कूलो के रजिस्टर मे बालको की जो उम्र होती है वह प्रायः गलत होती है, क्योकि प्रवेश के समय अभिभावकगण या तो न जानने के कारण बालको की उम्र गलत लिखा देते हैं या भविष्य में नौकरी पाने की सुविधा के लिये ऐसा करते हैं। यदि माता-पिता के घर जाकर बालको की ठीक उम्र जानने का प्रयत्न किया जाय दो इसमे भी विशेप सफलता नही मिलेगी, क्योकि

1 Intelligence Testing in India.

हमारे देश की अधिकाश जनता अशिक्षित है और बालकों की ठीक उम्र याद करने में उसकी कोई रुचि नही, इसके अतिरिक्त पूछने वाले के आशय पर भी उसका सन्देह हो सकता है।

हमारे देश में विभिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाता है। एक ही प्रान्त में कई भाषाये बोली जाती हैं। हमारे यहाँ विभिन्न प्रकार के वातावरण वाले बालक स्कूल मे आते हैं। कोई बहुत धनी है तो कोई बहुत दीन। धार्मिक एकता का भी अभाव है। ऐसी स्थिति में बालको के अन्तर और बाह्य परिस्थिति मे बडा भेद पड जाता है। अत सभी बालको की बुद्धि-परीक्षा के योग्य एक ही प्रश्नावली का बनाना कठिन हो जाता है। किसी प्रदेश के लिये बनाये हुए परीक्षा-प्रश्न विशेषकर उसी प्रदेश के लिये ठीक हो सकते हैं। इस प्रकार हमारे देश मे बुद्धि-परीक्षा के लिये कोई सरल और सर्वमान्य विधि का आविष्कार करना बडा कठिन है।

बुद्धि-परीक्षा मे बहुत धन की आवश्यकता होती है। हमारे देश की उपर्युक्त प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण किसी भी देश से यहाँ अधिक धन की आवश्यकता होगी। अमेरिका तथा योरप के छोटे-छोटे देशो मे भी अभी साधारण जनता के लिये बुद्धि-परीक्षा की सुविधा प्राप्त नही हो सकी है। यद्यपि वहाँ ऐसी बडी-बडी प्रयोग-शालाये खुल गई हैं जहाँ किसी भी बालक की बुद्धि-परीक्षा फीस देने पर की जा सकती है, पर एक बालक की बुद्धि-परीक्षा मे वहाँ भी लगभग चालीस रुपये लग जाते हैं। अत वहाँ भी केवल धनिक लोग ही अपने बालको की बुद्धि-परीक्षा करवा सकते हैं। ऐसी स्थिति मे हमारे देश मे बुद्धि-परीक्षा सबके लिये सुलभ करना एक स्वप्न सा ही जान पडता है। पर प्रदेशीय और राष्ट्रीय सरकार का ध्यान अब इधर आकर्षित हुआ है। आशा है इस क्षेत्र मे यथेष्ट प्रयत्न प्रारम्भ कर देने मे अब देर न लगेगी।

बुद्धि-परीक्षा प्रारम्भ करने के लिये मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञो तथा उसके सिद्धान्तों में शिक्षित व्यक्तियो की आवश्यकता होती है। हमारे यहाँ इन दोनो का अभाव है। पर अब देश के विभिन्न विश्वविद्यालयो मे शिक्षा-विभाग धीरे-धीरे खुल रहे हैं। उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद नगर मे 'ब्यूरो ऑव साइकॉलॉजी' खोल दिया गया है। वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के वैज्ञानिक साधनो द्वारा परीक्षण-कार्य करने की चेष्टा की जा रही है। इसी प्रकार अन्य प्रदेशीय सरकारो का भी ध्यान इधर आकृष्ट हुआ है। दिल्ली इसके लिये विशेषत. उल्लेखनीय है। यहाँ केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा मे इस प्रकार के प्रयोग एक बडे पैमाने पर प्रारम्भ किया है। अत आशा है इस अभाव की पूर्ति शीघ्र ही होगी।

(२) भारतवर्ष में बुद्धि-परीक्षा के कुछ प्रयत्न[1]—

इन कठिनाइयो के होते हुए भी हमारे देश मे बालको की बुद्धि-परीक्षा के सम्वन्ध में कुछ प्रयत्न किये गये हैं। इस क्षेत्र मे हमारे देश मे तीन प्रकार के कार्य किये जा सकते हैं :—(१) पाश्चात्य देशों की बुद्धि-परीक्षा प्रश्नावलियो की अनुवाद कर काम में लाया जाय, (२) अपनी आवश्यकतानुसार उन्हे संशोधित किया जाय, अथवा (३) एकदम नयी प्रश्नावलियाँ बनाई जाँय। प्रश्नावलियो का अनुवाद हमारे बालकों के लिये ठीक न होगा, क्योंकि हमारे बालकों का सामाजिक वातावरण पाश्चात्य बालकों से एकदम भिन्न है। उनकी रहन-सहन व भाषा के अनुसार बनाये हुए प्रश्न हमारे बालकों की बुद्धि-परीक्षा ठीक प्रकार नही कर सकते। अपनी आवश्यकतानुसार उनका सशोधित रूप कुछ उपयोगी सिद्ध हो सकता है। पर सबसे अच्छा तो यह होगा कि एकदम नये प्रश्न बनाये जाँय। अब तक बुद्धि-परीक्षा के लिये पाश्चात्य प्रश्नावलियों के संशोधित रूप का ही उपयोग किया जा सका है। इनका यहाँ कुछ उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। डा० सी० हरवर्ट राइस ने बिने, टरमैन और ओटिस की प्रश्नावलियो के आधार पर पजाव के बालको की बुद्धि-परीक्षा का आयोजन किया। इन्होंने अपनी विधि का नाम 'हिन्दुस्तानी बिने परफॉर्मेन्स पॉइन्ट स्केल' रक्खा। इसमें कुल ३५ प्रश्न हैं, जिनमे नव क्रिया-प्रश्न हैं। उत्कृष्ट कोटि के बालकों की परीक्षा के लिये सात दूसरे प्रश्न भी हैं। प्रत्येक प्रश्न के लिये अलग-अलग अङ्क निर्धारित किये गये हैं। उसी के अनुसार अङ्क देकर बुद्धि की माप कर ली जाती है। डा० राइस की विधि से सभी प्रदेश के बालको की बुद्धि परीक्षा नही ली जा सकती। यह पजाब तथा उत्तर प्रदेश के ही बालको के लिये कुछ उपयोगी सिद्ध हो सकती है; पर इन बालको के लिये भी उसे उपयुक्त बनाने के लिये अभी उसमे प्रयोगो और निरीक्षण की आवश्यकता है।

बिने-साइमन और टरमैन के सशोधन के आधार पर बेलगाँव ट्रेनिङ्ग कालेज के डी० वी० वी० कामत् कनाड़ी तथा मराठी भाषा भाषी बालकों की बुद्धि-परीक्षा के क्षेत्र में कुछ काम किया है। पं० लज्जाशकर झा का भी नाम इस सम्वन्ध मे लिया जा सकता है। इन्होंने सयुक्तप्रान्त, राजपूताना तथा, मध्य प्रान्त के ४० स्कूलों के २११७ विद्यार्थियों पर प्रयोग कर पाश्चात्य प्रश्नावलियों के आधार पर सामूहिक परीक्षा के लिये प्रश्नावलियाँ बनाई हैं। मैसूर विश्वविद्यालय के प्रो० एम० वी० गोपालस्वामी, मध्यप्रान्त में राजपुर जिले के श्री ई० डब्लू मेञ्जेल आदि के भी नाम इस विषय में लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त बिने-साइमन और टरमैन के संशोधन

१. Some Attempts of Intelligence Testing in India.

के आधार पर कुछ अन्य बुद्धि-परीक्षाये बनाई गई हैं। इनके नाम नीचे दिये जा रहे हैं —

१—पटना ट्रेनिङ्ग कालेज[1]—स्टैनफोर्ड हिन्दुस्तानी रिवीजन।

२—लेडी विलिङ्गडन[2] ट्रेनिङ्ग कॉलेज, मद्रास—स्टैनफोर्ड रिवीजन इन तामिल ऐण्ड तेलुगू।

३—खजुआ, उत्तर प्रदेश[3]—गुप्ता विने टेस्ट्स इन हिन्दी।

४—कैलकटा युनिवर्सिटी[4]—मैती ऐडेप्टेशन ऑव् द स्टैनफोर्ड रिवीजन (बगाली)

५—प्रिलिमिनरी[5] क्लासीफिकेशन टेस्ट ऑव् डा० जे० मनरी, इविङ्ग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद (उर्दू, हिन्दी और अग्रेजी में)

६—जलोटा ग्रूप वर्बल टेस्ट[6] (हिन्दी, उर्दू और अग्रेजी में)।

'मानसिक परीक्षा' के क्षेत्र मे 'ब्यूरो ऑव साइकॉलॉजी', उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, कार्य कर रहा है। इस ब्यूरो से कुछ सशोधन निकल चुके हैं और कुछ निकलने के क्रम मे हैं।

उपर्युक्त प्रयत्नो के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रयत्न भी किये गये हैं, परन्तु साधनों की कमी के कारण अभी तक उनका यथोचित प्रचार नही हो पाया है। 'बुद्धि-परीक्षा' पर किसी एक स्वतन्त्र पुस्तक में ही इन सब प्रयत्नो का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ उनका उल्लेख और विवरण सम्भव नही।

अब तक बुद्धि-परीक्षा के क्षेत्र में जितने प्रयत्न किए गये हैं उनका उपयोग ठीक प्रकार नही किया जा सका है। प्रथमत., वे अभी हमारे बालको के लिए पूर्णतः उपयुक्त नही हैं, दूसरे पर्याप्त सरकारी सहायता के अभाव में प्रयोग करने वाले व्यक्तियो का उत्साह भी कम हो गया है। इस सम्बन्ध मे दूसरी बात यह याद रखनी चाहिए कि विदेशी साधनो के सशोधन से बुद्धि-परीक्षा के क्षेत्र मे हमारा काम न चल सकेगा। हमे अपने बालको के लिए ऐसे मौलिक साधनो का आयोजन करना है जो उनके वातावरण पर आधारित हो। विदेशी वातावरण पर आधारित विदेशी साधनो के उपयोग से हम अपने बालको के बुद्धि-सम्बन्धी गुणो और अवगुणो का ठीक-ठीक पता नही लगा सकते। अत. इस क्षेत्र में मौलिक प्रश्नावलियो और साधनों

---

1. Patna Training College: Stanford Revision in Bengali. 2. Lady Willingdon Training College, Madras. 3 Khajua, U. P. Gupta Benet Tests in Hindi, 4. Calcutta University—Maiti's Adaptation of the Stanford Revision (Bengali). 5. Preliminary Classification Test of Dr. J. Manry of Ewing Christian College, Allahabad. 6. Jalota Group Verbal Test (Banaras Hindu University).

की आवश्यकता है। आशा है कि इस ओर मनोवैज्ञानिको और सरकार का ध्यान शीघ्र ही जायगा।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

बुद्धि को समझने के लिये बुद्धि परीक्षा के इतिहास को समझना आवश्यक, मतभेद, स्वाभाविक नही।

क—बुद्धि परीक्षा का इतिहास

वुद्धि-परीक्षा सभ्यता के आदि काल से, महाभारत, पौराणिक कहानियाँ, शिक्षित बुद्धिमान और दूसरा मूर्ख, बुद्धि ज्ञान से भिन्न, बुद्धि का मापना सम्भव।

अठारहवी शताब्दी तक आकृति-सामुद्रिक और मस्तिष्क विज्ञान पर विश्वास, लवैंटर के परीक्षण और निष्कर्ष, गॉल, लॉमब्रॉस-अपराध विज्ञान, गॉल्टन, कार्ल पियर्सन।

शारीरिक शक्तियो के माप से बुद्धि-परीक्षा का प्रयत्न, ज्ञानेन्द्रियो का पता लगाना, शरीर की विभिन्न शक्तियाँ से सचालित, डायनमोमीटर, अर्गोग्रेफ, आज्ञा पालन के आधार पर बुद्धि-परीक्षा।

उपर्युक्त धारणा भ्रमात्मक, प्रखर बुद्धि वाले ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति से निर्बल, उपर्युक्त साधन वुद्धि-परीक्षा मे असफल।

(१) बिने का कार्य—

नई विधि का निर्माण, विभिन्न अवस्था के लिये पृथक प्रश्नावली।

(२) बिने ने अपनी प्रश्नावली कैसे तैयार की—

बाल्क का आयु-वृद्धि के साथ ज्ञान भी सीखना, ज्ञान बुद्धि का एक चिन्ह, पर प्रश्नों मे स्कूल से प्राप्त ज्ञान का समावेश नही, ऐसा ज्ञान जिसे कोई भी बालक सीख सकता था, एक प्रश्नावली को तैयार करने मे १००० बालको की परीक्षा, बुद्धि के प्रत्येक क्षेत्र से प्रश्न, प्रश्नावली करने के अनुसार मानसिक आयु का निर्धारण, बिने की मन्द-बुद्धि बालक की कल्पना।

(३) बिने-साइमन की विधि की विशेषता—

बिने का कार्य महत्त्वपूर्ण घटना, उच्च मानसिक प्रक्रियाओ की परीक्षा; समझने की शक्ति, पृथक्करण की शक्ति, परिस्थिति के अनुसार विचार करने की योग्यता, ध्यान की शक्ति आदि की परीक्षा; शक्ति मनोविज्ञान मे विश्वास नही; बुद्धि की तीन विशेषतायें:—प्रयोजनता, व्यवस्थित करने की योग्यता और आत्म-आलोचना की शक्ति।

(४) बिने-साइमन की विधि की आलोचना—

वस्तुओं से अधिक शब्द पर ध्यान, भाषा-ज्ञान ही एक सामान्य मानसिक

योग्यता, अतः भाषा-ज्ञान की परीक्षा से बुद्धि-परीक्षा, उम्र के आधार पर प्रश्नो का, वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक नही ?

समय अधिक, वालक का आत्म-विश्वास खोना, सभी प्रश्न से बुद्धि माप नही, मन्द-बुद्धि के विषय में बिने की धारणा भ्रमात्मक।

(५) बुद्धि की सामूहिक परीक्षा—

वुद्धि की सामूहिक परीक्षा की आवश्यकता, अमेरिका मे परीक्षण, टरमैन, क्रिया-प्रश्न, अलफा-बीटा टेस्ट्स।

अन्य प्रयत्न।

ख—बुद्धि की वैयक्तिक परीक्षा

एक समय एक ही व्यक्ति की परीक्षा, मौखिक, क्रिया-प्रधान, एक विशेषज्ञ ही द्वारा, वडो की सम्मति से तुलना करना, प्रयोगशाला के सदृश, सरल से कठिन प्रश्नो की ओर, प्रत्येक उम्र के लिये पाँच-छः प्रश्न।

१—बिने के बुद्धि परीक्षा के प्रश्न

तीन वर्ष की अवस्था के लिये—

चार वर्ष की अवस्था के लिये—

पाँच वर्ष की अवस्था के लिये—

छः वर्ष की अवस्था के लिये—

सात वर्ष की अवस्था के लिये—

टरमैन के सशोधन मे ६० प्रश्न, प्रत्येक वर्ष के लिये छ प्रश्न।

२—टरमैन द्वारा संशोधित बिने-साइमन-बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न

तीन वर्ष की अवस्था के लिये—

चार वर्ष की अवस्था के लिये—

पाँच वर्ष की अवस्था के लिये—

छः वर्ष की अवस्था के लिये—

सात वर्ष की अवस्था के लिये—

३—वर्ट का संशोधन

वर्ट के परीक्षा-फल और अध्यापको के अनुमान में परस्पर-सम्वन्ध, वर्ट के अनुसार बिने के प्रश्न छोटे वालको के लिये अधिक लाभदायक, विचार और तर्क की परीक्षा करने वाले प्रश्न सवसे अच्छे, ६५ प्रश्न।

सात वर्ष के लिये—
आठ वर्ष के लिये—
नव वर्ष के लिये—
पन्द्रह वर्ष के लिये—

४—क्रिया-परीक्षा

अशिक्षितो के लिये, बुद्धि, धैर्य, विश्वास तथा अन्तर्दृष्टि का संकेत।

भूल-भुलैया परीक्षा।

पार्श्व दृश्य-परीक्षा—

५—शिक्षक का कार्य

प्रश्नो का बनाना विशेषज्ञो का काम, शिक्षको की सहायता आवश्यक, प्रश्नों का अच्छी प्रकार अध्ययन करना, 'बालको को' आवश्यक बाते समझाना, परीक्षा के स्थान और समय पर ध्यान, बालक मे आत्मविश्वास उत्पन्न करना, बालक के लिये सहानुभूति, बालक का अनुमान न करना कि उसे अंक दिये जा रहे हैं।

बहुत कठिन या सरल प्रश्न पूछना ठीक नही, सरल से कठिन प्रश्नो की ओर जाना, कई विधि से परीक्षा करना उचित।

६—मानसिक आयु—बुद्धि-लब्धि

मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग देना।

ग—बुद्धि की सामूहिक परीक्षा

बुद्धि-परीक्षा स्कूल मे भी सम्भव, विधि जटिल नही, समय कम, फल के आधार पर वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक परीक्षार्थी डरता नही, प्रश्नो के उत्तर मे केवल बुद्धि की परीक्षा।

बालको को बताना कि उनकी परीक्षा होगी, साधारण नियमों को सतर्कता से समझना।

उत्तर सोचना अथवा दिये हुए मे से संकेत करना, प्रश्नो का सम्बन्ध दैनिक जीवन से।

(१) शब्द-चयन की परीक्षा—
(२) वर्गीकरण—
(३) भाग या पूर्ण—
(४) अपूर्ण वाक्यों को पूरा करो—
(५) समानता—

(६) तर्क—
(७) आदेश का पालन करना—
(८) अंकगणित के प्रश्न—
(९) चित्र सम्बन्धी प्रश्न—

प्रत्येक प्रश्न के अंक पहले से ही निश्चित, प्रत्येक बालक के प्राप्तांक की तुलना सामान्य अंक से, सामान्य अंक निकालने की विधि, बुद्धि-लब्धि निकालना।

घ—वैयक्तिक और सामूहिक बुद्धि-परीक्षा की तुलना

ङ—बुद्धि का स्वरूप

मतभेद, स्वरूप निश्चित करना महा कठिन।

मनोवैज्ञानिको का मत।

बुद्धि अर्जित शक्तियो से भिन्न, अर्जित और प्रकृतिदत्त शक्ति का भेद समझना कठिन, दोनो की उन्नति की एक सीमा।

(१) बुद्धि और ज्ञान—

बुद्धि-परीक्षा मे किस प्रकार के ज्ञान की परीक्षा ?

(२) थॉर्नडाइक का मत—

बुद्धि कई प्रकार की शक्तियो का पुञ्ज, एक शक्ति का प्रयोग एक ही स्थल पर सम्भव।

(३) स्पीयरमैन का मत—

बुद्धि सामान्य और विशिष्ट योग्यता का योग, विशिष्ट योग्यता दूसरे कार्यो मे सहायक नही।

स्पीयरमैन के सिद्धान्त बहुमत को मान्य।

बुद्धि की परिभाषा—

च—बुद्धि के बढ़ने की सीमा

बुद्धि-परीक्षा से क्या ज्ञात होता है ?

बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न और स्कूली शिक्षा से कोई सम्बन्ध नही, बुद्धि-लब्धि सदा समान, घटना तथा रोग आदि से भेद सम्भव, शिक्षा के बल से बुद्धि का सदुपयोग सम्भव, बालक के सामने विभिन्न परिस्थितियाँ रखना।

बिने—१५, टरमैन—१५, बर्ट—१४, उडरो-मस्तिष्क की तौल वृद्धि और-वुद्धि विकास मे कोई सम्बन्ध नही, प्रथम कुछ वर्षो में बुद्धि विकास की गति तीव्र, १२ वर्ष के बाद गति धीमी; १६ वर्ष के बाद एकदम बन्द, ओटिस के अनुसार १८ वर्ष तक।

मस्तिष्क का अनावश्यक बातों का भूल जाना, प्रौढ की बुद्धि-परीक्षा के लिये एक दम नई प्रश्नावलियों का बनाना आवश्यक, पर बडा ही दुष्कर।

छ—क्या बुद्धि के बढ़ने के काल की एक निश्चित सीमा होती है ?

व्यक्ति के जीवन में या तो मानसिक आयु का बढ़ना अथवा बुद्धि-लब्धि समान नहीं।

ज—वंशानुक्रम और वातावरण का बुद्धि पर प्रभाव

१—बुद्धि और वंशानुक्रम

वंशानुक्रम का प्रभाव निश्चय, वातावरण का केवल सीमित परिवर्तन ही लाना, जोडवों की बुद्धि में परस्पर-सम्बन्ध, टरमैन और गाल्टन का अध्ययन, रक्त का निकटतम सम्बन्ध और बुद्धि की समानता।

२—बुद्धि और वातावरण

स्वास्थ्य का बुद्धि पर प्रभाव, वातावरण का प्रभाव स्पष्ट।

झ—बुद्धि का वितरण

बालक प्राय: माध्यमिक योग्यता के, मन्द-बुद्धि और प्रखर बुद्धि की संख्या कम।

ञ—बुद्धि और लिङ्ग-भेद (इन्टेलीजेन्स ऐण्ड सेक्स डिफरेन्सेज़)

पुरुषो के सदृश् सभी सुविधाये मिलने पर स्त्रियाँ किसी ज्ञान मे पीछे नही, ज्ञान तथा अनुभव का भेद बुद्धि-भेद नही, बुद्धि की भिन्नता पुरुषो मे अधिक।

ट—मन्द बुद्धि

जड की मानसिक आयु दो वर्ष, मूढ की सात वर्ष, मूर्ख की बारह वर्ष, मन्द-बुद्धि बालको का प्रतिशत निश्चित नही, उनकी शिक्षा की व्यवस्था।

ठ—क्या शिक्षक और विद्यार्थी को बुद्धि-लब्धि से अवगत करना चाहिये ?

शिक्षक के प्रयत्न मे ढिलाई की आशका, बालक के दम्भी अथवा हताश होने का डर, बुद्धि-लब्धि को सबको बतलाना युक्तिसगत नही।

बालक के उत्साहित होने की आशा से बुद्धि-लब्धि बतलाना ठीक।

ड—बुद्धि-परीक्षा के उपयोग

बालक का ज्ञान सम्भव, बालको का मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण सम्भव, इससे शिक्षा अधिक उपयोगी।

बालक को उचित राय देना सम्भव।

बुद्धि-परीक्षा से भविष्य की ओर संकेत, प्रवेश के लिये बुद्धि-परीक्षा का फल सहायक, अमनोवैज्ञानिक वर्गीकरण से बुद्धि-विकास में रुकावट।

छात्रवृत्ति देने के निर्णय में बुद्धि-परीक्षा की सहायता, शिक्षकों की सफलता माप सम्भव, बालक की प्रवृत्ति का अनुमान लगाना सरल, व्यावसायिक चुनाव मे सहायता।

ढ—भारतवर्ष में बुद्धि-परीक्षा

(१) कठिनाइयाँ—

अभिभावको की असहानुभूति, बालकों की वास्तविक उम्र का जानना कठिन।

कई भाषाये, विभिन्न वातावरण के बालक, धार्मिक एकता का अभाव, बालक की अन्तर और वाह्य परिस्थिति में भारी भेद, सर्वमान्य विधि बनाना अत्यन्त कठिन।

अधिक धन की आवश्यकता।

विशेषज्ञो का अभाव।

(२) भारतवर्ष में बुद्धि-परीक्षा के कुछ प्रयत्न—

तीन प्रकार के सम्भव प्रयत्न, एकदम नयी प्रश्नावलियो की आवश्यकता, डा० राइस का प्रयत्न, सभी प्रदेशो के लिये उपयोगी नही।

कुछ अन्य प्रयत्न।

सहायक पुस्तकें

१—टरमैन ऐण्ड मेरिल—मेजरिङ्ग इन्टेलीजेण्स।

२—रॉकवेल, जे० जी०—इन्टेलीजेन्स टेस्टिङ्ग एडूकेशनल मेथड, भाग १६, पृष्ठ १६-३१।

३—पीण्टर आॅर—इन्टेलीजेन्स टेस्टिङ्ग।

४—विटी, पी०, ए०—(सम्पादक) एडूकेशनल मेथड, भाग १६, पृष्ठ १६-३१।

५—थॉर्नडाइक आॅर० एल०—कॉन्स्टैन्सी आॅव द आइ० क्यू० साइकॉलाजीकल बुलटीन, भाग ३७ पृष्ठ १६७-१८६।

६—ब्यॉयन्टन, पी० एल०, इन्टेलीजैन्स, इट्स मेनीफेस्टेशन्स, ऐण्ड मेजरमेण्टस।

७—फ्रीमैन, एफ० एन०—मेण्टल टेस्ट्स।

८—वैलर्ड—मेण्टल टेस्ट्स, अध्याय १, २।

९—स्पीयरमैन—नेचर आॅव इन्टेलीजेन्स।

१०—ट्रेड गोल्ड—मेण्टल डिफीसियेन्सी।

११—ब्राउन ऐण्ड थॉमसन—एशेन्शियलस आॅव मेण्टल मेजरमेण्ट।

१२—जॉर्ज डी० स्टॉडार्ड—द मीनिंग आॅव इन्टेलीजेन्स।

१३—बॉयट, एच० जी०—द साइकॉलॉजी ऑव् इन्टेलीजेन्स ऐण्ड विल ।

१४—कैटल—ए गाइड टु मेण्टल टेस्टिङ्ग ।

१५—कामत—मेजरिङ्ग इन्टेलीजेण्स ऑव इन्डीयन चिल्ड्रेन ।

१६—राइस—हिन्दुस्तानी बिने परफॉरमेन्स स्केल ऐण्ड टीचर्स मैनुअल।

१७—स्टर्न—साइकॉलॉजीकल मेथड ऑव टेस्टिङ्ग इन्टेलीजेन्स ।

१८—कोल ऐण्ड ब्रूस— ऐडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ५ ।

१९—जे० एम० स्टीफेन्स—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ७ ।

२०—सरयू प्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान, अध्याय १० ।

२१— „ „ „ —मनोविज्ञान, अध्याय १३ ।

२२— „ „ „ —प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, अध्याय २० ।

———————

२४
ज्ञान, स्वभाव और झुकाव परीक्षायें[1]

क—ज्ञान परीक्षा[2]

१—बुद्धि-परीक्षा और ज्ञान-परीक्षा में भेद—

बुद्धि-परीक्षा द्वारा व्यक्ति की केवल प्रकृतिदत्त बुद्धि की ही परीक्षा की जाती है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि विभिन्न परिस्थितियो मे अपने को सँभालने की व्यक्ति में कहाँ तक योग्यता है। बुद्धि-परीक्षा का साधन परीक्षार्थी का पूरा वातावरण ही है। वातावरण के सम्पर्क में आने के कारण व्यक्ति ने जो कुछ सीखा है उसकी 'बुद्धि-परीक्षा' मे परीक्षा हो जाती है। बुद्धि-परीक्षा मे व्यक्ति को अपनी अन्तर्दृष्टि का उपयोग करना पडता है और इसके सहारे वह जितना ही शीघ्र प्रश्न का ठीक उत्तर दे देता है उतनी ही उसकी बुद्धि अच्छी समझी जाती है।

ज्ञान-परीक्षा का साधन किसी अध्ययन किये हुए विषय का सीमित-क्षेत्र होता है। इसमे यह देखा जाता है कि अपनी बुद्धि के अनुसार विद्यार्थी किसी विषय का कहाँ तक अध्ययन कर सका है, अर्थात् ज्ञान-परीक्षा में बुद्धि तथा व्यक्ति के उसके उपयोग करने की शक्ति दोनो की परीक्षा ली जाती है।

ज्ञान-परीक्षा में भिन्न-भिन्न विषयो के पढने वालो के लिये भिन्न-भिन्न प्रश्नावलियाँ होगी। अतः बुद्धि-परीक्षा के सदृश् सारे विद्यार्थी समूह के लिये वे लागू नही होगी। उदाहरणार्थ; विज्ञान की प्रश्नावलियाँ सबके लिये नही हो सकती, वे केवल विज्ञान के विद्यार्थी के लिये ही होगी।

बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न आयु के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं। ज्ञान-परीक्षा के प्रश्न अध्ययन में उन्नति के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं। ज्ञान-परीक्षा से बुद्धि का ठीक अनुमान नही लगता। इससे केवल उसकी सतह का कुछ-कुछ ज्ञान होता है। बुद्धि-परीक्षा में बालक के जिस ज्ञान की परीक्षा ली जाती है वह ज्ञान की परीक्षा के लिये नही, वरन् यह देखने के लिये कि मस्तिष्क कहाँ तक शीघ्रता और योग्यता से काम कर सकता है। ज्ञान-परीक्षा में ज्ञान की ही परीक्षा की जाती है। इसमे यह देखा

---

1. Achivement, Temperament and Aptitude Testings. 2. Achievement Testing.

जाता है कि मस्तिष्क कहाँ तक ज्ञान प्राप्त करने में सफल हुआ है। अतः हम कह सकते है कि बुद्धि-परीक्षा मे ज्ञान साधन है और ज्ञान-परीक्षा मे वह साध्य है। यह सत्य है कि ज्ञान बुद्धि ही के बल पर प्राप्त किया जाता है, पर वह बुद्धि से सर्वथा भिन्न है। यदि व्यक्ति की बुद्धि इञ्जिन की शक्ति के समान है तो उसका ज्ञान इञ्जिन के जाने की 'दूरी' के समान है।

२—ज्ञान-परीक्षा की आवश्यकता व प्रचलित परीक्षा के कुछ दोष—

बालको के उचित पथ-प्रदर्शन के लिये केवल उनकी बुद्धि का ही ज्ञान शिक्षक के लिये पर्याप्त नही है। शिक्षक को यह भी जानना आवश्यक है कि विद्यार्थी उसके अध्यापन से कहाँ तक लाभ उठा सका है। बुद्धि-परीक्षा से ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है कि बालक किस विषय में कमजोर है। प्रचलित परीक्षाओ से यह ठीक-ठीक पता नही चलता, क्योकि वे कई दृष्टि से दोषपूर्ण हैं। अर्द्धवार्षिक अथवा वार्षिक परीक्षा मे परीक्षार्थी को बहुत विस्तृत पाठ्य-वस्तु को तैयार करना पडता है। फलत परीक्षा मे पूछे जाने वाले महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का वह अनुमान लगाता है। इसी अनुमान के बल पर वह परीक्षा की तैयारी करता है। सयोगवश यदि उसके तैयार किये हुए प्रश्न आ गये तो वह अच्छे अङ्क पायेगा, अन्यथा सब कुछ सीखने की बुद्धि और क्षमता रखते हुए भी परीक्षा मे वह बुरा करेगा। दूसरे, आजकल की परीक्षाओ में विषय-ज्ञान की परीक्षा मे भाषा-ज्ञान का विशेष महत्त्व रहता है। यदि किसी को अपनी भाषा पर अधिकार है तो विषय-ज्ञान बहुत थोडा रखते हुए भी वह बाजी मार ले जाता है। वह दो ही तीन बातो को अपनी भाषा के बल पर इस प्रकार रख देता है कि उत्तर-पुस्तिका को देखते-देखते थका हुआ परीक्षक शीघ्र मुग्ध हो जाता है और अंक देने मे अपनी उदारता का सारा परिचय दे डालता है। यदि वही उत्तर किसी दूसरे परीक्षक को अक देने के लिए दिया जाय तो अवश्य उसके अनुमान मे भेद आ जायगा। यह बहुधा देखा गया है कि एक ही उत्तर मे एक परीक्षक ६० प्रतिशत देता है और दूसरा ३० प्रतिशत भी देना पसन्द नही करता। ऐसी स्थिति मे शिक्षक को अपने अध्यापन की सफलता तथा विद्यार्थी के ज्ञान का ठीक-ठीक अनुमान नही लग सकता। तीसरे, तीन ही घण्टे मे बहुत से प्रश्नो का उत्तर माँगा जाता है। यह बहुधा देखा जाता है कि विद्यार्थी सब कुछ जानते हुए भी समयाभाव के कारण उचित सफलता प्राप्त नही करता।

चौथे, सभी प्रश्नो की तैयारी मे समान समय देने की आवश्यकता नही होती। सरलता अथवा कठिनता के अनुसार उनकी तैयारी मे कम या अधिक समय देना पडता है। उदाहरणार्थ, 'सिकन्दर का आक्रमण' और 'अशोक' के अध्ययन मे समान समय नही लगेगा, पर प्रश्न-पत्र में दोनो के लिये समान ही अक निर्धारित रहते है।

ऐसी स्थिति से परीक्षार्थी कठिन-कठिन विषयो को यथासम्भव छोड देने की चेष्टा मे रहता है। वह सरलतम विषयो को याद कर परीक्षा में सफलता प्राप्त करना चाहता है। अत स्पष्ट है कि ऐसी मनोवृत्ति के कारण उसे विषय का ठीक बोध नही होता। इसीलिये तो परीक्षा समाप्त होने के कुछ ही दिनो बाद उसका बहुत सा विषय-ज्ञान विस्मृत हो जाता है। अत यह निर्विवाद है कि प्रचलित परीक्षाओ से बालक के ज्ञान-योग्यता की ठीक-ठीक परीक्षा नही हो सकती। अत. बालको को एक कक्षा से दूसरी कक्षा मे चढाने के लिये प्रचलित परीक्षाये बहुत मनोवैज्ञानिक नही है। पर क्या बुद्धि-परीक्षा के फल से इसमें सहायता नही मिल सकती ? अधिक नही, क्योंकि बहुधा देखा है कि समान बुद्धि-लब्धि वाले दो बालको का ज्ञान समान नही होता। ज्ञानार्जन पर गया वातावरण का बहुत प्रभाव पडता है। यदि बालक अच्छे स्कूल मे भेजा गया है और घर पर उसे सभी प्रकार की आवश्यक सुविधायें प्राप्त है तो निश्चय ही वह अपनी जैसी बुद्धि-लब्धि वाले दूसरे बालक से, जिसे ये सब सुविधाये नही है, अच्छा करेगा। अत स्पष्ट है कि बुद्धि-परीक्षा के आधार पर एक कक्षा से दूसरी कक्षा मे नही चढाया जा सकता। इसीलिये ज्ञान-परीक्षा की नयी विधि का आविष्कार किया गया है।

३—ज्ञान-परीक्षा के प्रश्नो के बनाने की विधि—

बुद्धि-परीक्षा मे शिक्षा द्वारा अर्जित ज्ञान को बडी सतर्कता से अलग रखने का प्रयत्न किया जाता है, पर ज्ञान-परीक्षा मे अर्जित ज्ञान की ही परीक्षा की जाती है। इससे यह जान पडता है कि ज्ञान-परीक्षा की प्रश्नावलियाँ बनाना बडा सरल है। वस्तुत. इन्हे कोई भी चतुर शिक्षक बना सकता है। पर उसे प्रश्न ऐसे बनाने हैं कि प्रचलित परीक्षा मे पाये जाने वाले दोष इनमें न हो। प्रश्न ऐसे होने चाहिये कि परीक्षार्थी अनुमान के बल पर सफल होने की चेष्टा न कर सके। पाठ्य-वस्तु के प्राय सभी आवश्यक अगो का उसमे समावेश हो जाना चाहिये। प्रश्न ऐसे न हो कि उनके उत्तर की परीक्षा मे परीक्षक अपनी रुचि अनुसार अङ्क दे, वरन् ऐसे हो कि उनके उत्तर बिल्कुल स्पष्ट हो और किसी भी परीक्षक के यहाँ भेजने से उन पर समान ही अङ्क मिल सके। प्रश्न ऐसे हो कि उनके उत्तर मे अधिक भाषा-शक्ति की आवश्यकता न हो, अन्यथा विषय-ज्ञान के रहते हुए भी भाषा-शक्ति के अभाव मे परीक्षार्थी अपने भावो को व्यक्त न कर सकेगा। उदाहरणार्थ, इतिहास की परीक्षा मे विशेषकर वास्तविक बातो का ही उल्लेख सक्षेप मे करना चाहिये। इन सब बातो पर ध्यान देने ही से ज्ञान-परीक्षा के प्रश्न बनाये जा सकते हैं।

ज्ञान-परीक्षा का सम्बन्ध ज्ञान[1] कौशल[2] अथवा रसानुभव[3] से होता है। ज्ञान के क्षेत्र में गणित, भूगोल तथा इतिहास ऐसे विषय आते हैं। कौशल मे, पढना लिखना

---

1 Knowledge. 2 Skill 3 Appreciation.

अथवा चित्रकला आदि आती है। रसानुभव मे कविता अथवा कठिन गद्य-खण्ड आ सकता है। इन तीनो विषयो का सम्बन्ध विभिन्न कक्षा से भिन्न-भिन्न होता है। अतः प्रश्न बनाने के पहले इन बातों पर ठीक से ध्यान देना होगा। इनके ज्ञान के बाद विषय को विभिन्न मनोवैज्ञानिक भागो मे बाँटना है। उदाहरणार्थ; हिन्दी की परीक्षा का विभाजन आलेख, पढने, लेख, रसानुभव तथा साहित्यिक ज्ञान आदि मे किया जा सकता है। किस भाग पर कक्षा में कितना ध्यान दिया गया है यह जानना आवश्यक है। इन सब बातों के अनुसार ज्ञान-परीक्षा के लिये जो प्रश्न बनाये जायेगे उनकी परीक्षा किसी मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ की सहायता से बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नो के सदृश् कई बार विद्यार्थियो पर करनी होगी। इन परीक्षणो के आधार पर ही अन्तिम रूप मे प्रश्नो को निर्धारित किया जा सकता है। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर पहले से ही छपा रहता है। उसी के अनुसार हर परीक्षार्थी को अङ्क दिये जाते है। कौशल-सम्बन्धी प्रश्नो का नमूना पहले से ही रखा रहता है। उदाहरणार्थ; सुन्दर अक्षरो अथवा किसी चित्र का नमूना पहले से ही बना रहता है। उसी की तुलना मे परीक्षार्थी को अङ्क दिये जाते हैं।

४—ज्ञान-आयु[1]

जैसे बुद्धि-परीक्षा मे किसी आठ वर्ष के बालक के आठ वर्ष वाले प्रश्नो के कर लेने पर उसकी मानसिक आयु आठ मान ली जाती है, उसी प्रकार आठ वर्ष के लिये निर्धारित ज्ञान-परीक्षा में उसके सफल हो जाने पर उसकी ज्ञान-आयु आठ कही जाती है। एक विषय के कई अग होते हैं, जैसे भाषा में आलेख पढना इत्यादि। हर एक अग की ज्ञान-आयु अलग-अलग निर्धारित रहती है। विभिन्न भागो में प्राप्त ज्ञान-आयु के औसत पर बालक की ज्ञान-आयु निश्चित की जाती है। ज्ञान-आयु से बालक के ज्ञान अथवा कौशल आदि के विस्तार का पता चलता है। यदि किसी आठ वर्प के बालक की ज्ञान-आयु दस वर्ष है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसने दस वर्ष बाले बालको के समान ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

५—ज्ञान-लब्धि[2]

यदि आठ वर्ष के बालक की ज्ञान-आयु आठ ही वर्ष है तो वह सामान्य कोटि का बालक कहा जायगा। पर यदि उसकी ज्ञान-आयु दस वर्ष की है तो वह प्रखर-बुद्धि का कहा जायगा, और इसका तात्पर्य यह भी होगा कि अपने समान मानसिक आयु वाले बालक से वह १·२५ गुना आगे है। ज्ञान-लब्धि निकालने के लिये ज्ञान-आयु मे मानसिक आयु का भाग देकर सुविधावश पूर्णाङ्क प्राप्त करने के लिये भजनफल मे १०० का गुणा कर दिया जाता है।

---

1. Achievement Age. 2. Achievement Quotient

$$\text{अर्थात्, ज्ञान-लब्धि (ए० क्यू}[1]\text{)} = \frac{\text{ज्ञान-आयु}}{\text{मानसिक आयु}} \times १००$$

इस विधि के अनुसार उपर्युक्त बालक की ज्ञान-लब्धि $\frac{१०}{८}$ × १००=१२५ होगी।

ज्ञान-परीक्षा से यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि शिक्षक बालक की मानसिक योग्यतानुसार अपने अध्यापनकार्य में कहाँ तक सफल हुआ है। इसीलिये ज्ञान-आयु की तुलना वास्तविक आयु से न कर मानसिक आयु से की जाती है। ज्ञान-लब्धि का आविष्कार सबसे पहले बकिङ्घम और डल्लू० एस० मनरो ने किया। यदि ज्ञान-लब्धि अपेक्षित नही है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि विद्यार्थी अथवा शिक्षक ने यथाशक्ति परिश्रम नही किया। बुद्धि-लब्धि और ज्ञान-लब्धि में भेद समझ लेना आवश्यक है। बुद्धि-लब्धि से बालक के विषय मे एक प्रकार का ऐसा निर्णय मिल जाता है जिससे हम उसे किसी निश्चित पथ की ओर अग्रसर कर सकते हैं। ज्ञान-लब्धि से हमें केवल एक विशेष सकेत मिलता है। उसके आधार पर किसी निश्चित निर्णय पर पहुँच जाना युक्तिसंगत न होगा, क्योकि ज्ञान-लब्धि मे शिक्षक तथा अन्य वातावरण का विशेष हाथ रहता है। बहुत सम्भव है कि शिक्षक अथवा वातावरण मे उपयुक्त परिवर्तन कर देने से बालक की ज्ञान-लब्धि बढ जाय। पर मनोवैज्ञानिको के अनुसार बुद्धि-लब्धि का बढना सम्भव नही। प्रकृति ने बालक को जितनी बुद्धि प्रदान की है उतनी ही उसके पास रहेगी।

(६) **शिक्षा-लब्धि[2]—**

कभी-कभी यह जानना आवश्यक हो जाता है कि अमुक बालक यदि सामान्य बुद्धि का होता तो वह कितना ज्ञान प्राप्त कर सकता। इससे हमे यह पता चल जाता है कि वह दूसरो से किसी विषय मे कितना पीछे अथवा आगे है। इसके लिये उसकी ज्ञान-आयु में वास्तविक आयु का भाग देकर पूर्णाङ्क प्राप्त करने के लिये १०० का गुणा कर देते हैं, अर्थात्

$$\text{शिक्षा-लब्धि} = \frac{\text{ज्ञान आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$$

बालक की उन्नति का ठीक-ठीक पता लगाने के लिये बुद्धि-लब्धि और ज्ञान-लब्धि की तुलना की जा सकती है। यदि ११० बुद्धि-लब्धि वाले बालक की ज्ञान-लब्धि ९० है तो स्पष्ट है कि कही गड़बडी हो रही है। दोनों में इस असमानता का कारण शिक्षक अथवा बालक स्वयं हो सकता है, यदि किसी विषय में बहुत कम ज्ञान-लब्धि आने के कारण औसत ज्ञान-लब्धि में कमी आ जाती है। अत. यह पता लगाना आवश्यक है कि एक विशिष्ट विषय मे बालक क्यो बुरा कर रहा है, जब कि

1. A. Q. or Achievement Quotient. 2. Educational Quotient.

अन्य विषयो में उसने बहुत अच्छा किया है। सम्भव है कि किसी शारीरिक अथवा मानसिक निर्बलता के कारण वह ऐसा कर रहा हो। इसके लिये किसी डाक्टर से बालक के शरीर की परीक्षा करवानी चाहिये अथवा निदानात्मक परीक्षा[1] द्वारा यह पता लगाना चाहिये कि विषय के किस अग मे उसकी निर्बलता है।

ख—स्वभाव वा व्यक्तित्व-परीक्षा[2]

१—आवश्यकता

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि समान ही बुद्धि-लब्धि के दो बालक शिक्षा मे समान उन्नति नही करते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बुद्धि के अतिरिक्त भी कुछ ऐसी बाते हैं जिनका बालक की उन्नति पर प्रभाव पड़ा करता है। बालकों के आलसी, परिश्रमी, लज्जाशील, तथा डरपोक आदि 'प्रकार' दिखलाई पड़ते हैं। कोई अन्तर्मुखी होता है तो कोई बहिर्मुखी। व्यक्तित्व की इन सब विशेषताओ का बालक की उन्नति पर प्रभाव पडता है। अच्छी बुद्धि रखते हुए भी डर अथवा लज्जावश कोई बालक किसी विषय मे अपनी जिज्ञासा प्रगट करने मे सकोच कर सकता है। प्रायः देखा जाता है कि उत्कृष्ट बुद्धि वाला बालक अपनी अकर्मण्यता से सदा पीछे ही रहता है, और कभी परिश्रम के बल पर मन्द बुद्धि तीव्र बुद्धि से आगे बढ जाता है। कहने का तात्पर्य कि बालक के व्यक्तित्व और उसकी उन्नति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बालको के चरित्र व स्वभाव के बारे मे जानना शिक्षक के लिये आवश्यक है। बिना बालक के चरित्र और स्वभाव को समझे बिना शिक्षक दोषो के उचित उपचार का साधन नही सोच सकता। स्वभाव की परीक्षा के लिये मनोवैज्ञानिको ने यथाशक्ति परिश्रम किया है। इसका भी नेता बिने ही था। पर अभी तक इसमें विशेष सफलता नही प्राप्त हो सकी है। अतः इनके निर्णय को बडी सतर्कता से मानना चाहिए।

स्वभाव-परीक्षा से यह जानने की चेष्टा की जाती है कि किसी परिस्थिति-विशेष मे व्यक्ति किस प्रकार का व्यवहार करेगा। उदाहरणार्थ, 'प्रसन्नता' के सम्बन्ध मे किसी व्यक्ति के स्वभाव[3] की परीक्षा लेने में यह जानने की चेष्टा की जाती है कि किसी परिस्थिति विशेष मे वह प्रसन्नचित रहेगा या उसके चेहरे पर उदासीनता छा जायेगी। यदि मनुष्य को अकेले ही रहना होता तो उसकी प्रसन्नता और उदासीनता का प्रश्न न उठता। पर वह सामाजिक प्राणी है और उसके सामाजिक अधिकार और कर्तव्य है। इन अधिकारो और कर्तव्यो से उसके स्वभाव का घनिष्ठ सम्बन्ध है अतः स्वभाव-परीक्षा की युक्ति निकाल कर मनोवैज्ञानिकों ने मानवता की महान सेवा की है।

---

1. Diagnostic Test. 2. Temperament Test or Tests of Personality.
3. Temperament.

स्वभाव-परीक्षा के लिये व्यक्तियो के सभी गुणो व दोषो—जैसे लज्जाशील, डरपोक, आलसी, परिश्रमी, अव्यवस्थित, स्पष्टवादी, अस्पष्टवादी, प्रसन्नचित्त, उदासीन, क्रोधी, आदि का वर्गीकरण कर लिया जाता है। इसके बाद इनसे सम्बन्धित क्रिया अथवा लेख[1] सम्बन्धी प्रश्नो का निर्धारण किया जाता है। इन प्रश्नो के उत्तर से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे स्वभाव के गुण अथवा दोष का पता लगाया जाता है। इन प्रश्नों की सहायता से व्यक्ति के स्वभाव का कुछ साधारण अनुमान हो जाता है, पर स्वभाव के विभिन्न विशेषताओ का पता नही चलता। स्वभाव-परीक्षा की विधि विभिन्न प्रकार की होती है। एक ही विधि से स्वभाव के कई अगो की परीक्षा नही ली जा सकती।

२—स्वभाव परीक्षा की विधियाँ

(१) व्यक्तिगत राय[2]—

बहुधा किसी व्यक्ति को देख कर हम उसके स्वभाव के विषय में निर्णय कर लेते हैं। अति मोटे तथा दुबले व्यक्ति के चेहरे से आलस्य टपकता है। चेहरे पर झुर्रियो के दिखाई पडने से व्यक्ति के स्वभाव की उदासीनता टपकती है। भौंहे हर समय तनी दिखलाई पडने से यह प्रकट होता है कि अमुक व्यक्ति वडा ही कठोर हैं। व्यक्ति के चलने, बैठने तथा बोलने आदि के ढग से भी उसके स्वभाव का कुछ अनुमान लगा लिया जाता है। कुछ लोग डीग भी हाँकते हैं कि वे किसी व्यक्ति के चेहरे से उसके स्वभाव व चरित्र का अनुमान लगा सकते हैं। ऐसे डीग हाँकने वालो में कुछ पुराने शिक्षको का प्रमुख स्थान होता है। ये अपने अनुभव के गर्व मे बालको के सम्बन्ध मे क्या क्या अमनोवैज्ञानिक बात नही कह जाते ? कहना न होगा कि वैज्ञानिक दृष्टि से स्वभाव के विपय में व्यक्तिगत राय का कोई महत्त्व नही।

(२) साक्षात्कार[3]—

व्यक्तिगत राय से साक्षात्कार की विधि अधिक वैज्ञानिक दिखलाई पड़ती है। इस विधि के अनुसार कुछ मनोवैज्ञानिक स्वभाव पहचानने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्ति को बुलाने के पहले ही उसके अध्यापको, सम्बन्धियो अथवा अफसरो आदि से उसके बारे में कुछ वातो का पता चला लिया जाता है। इन बातो के आधार पर कुछ प्रश्न बना लिये जाते हैं। साक्षात्कार के समय इन प्रश्नो की सहायता से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से व्यक्ति की मानसिक प्रतिमाओ, कल्पना तथा स्वप्न का पता लगाया जाता है। इन सबके ज्ञान से उसके स्वभाव की कल्पना की जाती है। उसे कुछ लिखने के लिये देकर उसकी शैली का पता लगाया जाता है। कुछ चित्रो को दिखा कर उसके वर्णन के लिये कहा जाता है। इस प्रकार उसके स्वभाव का अनुमान किया जाता है।

---

1 Verbal. 2 Personal Opinion. 3. Interview.

(३) शब्दों द्वारा मनोविश्लेषण विधि[1]—

इस विधि से व्यक्ति के स्वभाव के विषय में अनुमान लगाने का प्रयत्न सबसे पहले गाल्टन ने किया। बिने ने भी इस विधि को अपनाया। पर डा० युङ्ग ने इसको अधिक मनोवैज्ञानिक बनाया। व्यक्ति के सामने कुछ शब्दों को कहा जाता है। उदाहरणार्थ; उसके सामने 'सुई', 'आकाश' या 'जल' कहा जाता है। इन शब्दो से सम्बन्धित जितने विचार मन में आ सकते हैं उन्हे प्रकाशित करने के लिये व्यक्ति को उत्साहित किया जाता है। हजारों व्यक्तियो पर प्रयोग करके यह पहले ही से निर्धारित रहता है कि सामान्य व्यक्ति की किसी शब्द के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है। सामान्य व्यक्तियों के प्रतिक्रियाओं की एक कुञ्जी बनी रहती है। इस कुञ्जी से तुलना करके यह देखा जाता है कि व्यक्ति की प्रतिक्रिया सामान्य व्यक्ति से कितनी भिन्न होती है। इस प्रकार आन्तरिक मनोदशा का पता लगाया जाता है।

(४) कागज द्वारा परीक्षा[2]—

यह विधि सबसे सरल है। इसका प्रयोग चतुर शिक्षक सरलता से कर सकता है। इसके निर्माण मे कुछ कठिनाई अवश्य होती हैं, पर इसका प्रयोग बुद्धि और ज्ञान-परीक्षा के सदृश् किया जाता है। इस विधि के तीन अंग किये जा सकते हैं। कागज पर व्यक्तियों की रुचि, अरुचि, राय इत्यादि के बारे में कुछ प्रश्न छपे रहते हैं। उनका उत्तर व्यक्तियों को पेन्सिल से लिख देना होता है। इसमें डर यह है कि व्यक्ति सत्य को छिपाने के लिये गलत बाते भी लिख सकता है। दूसरे प्रकार के अंग मे व्यक्ति के नैतिक और सामाजिक गुण की परीक्षा की जाती है। कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं और उनके उत्तर से इन गुणों की परीक्षा की जाती है। कुछ शब्द देकर उनकी परिभाषा माँगी जाती है। कुछ समस्यापूर्ण परिस्थितियो में उनका निर्णय भी पूछा जाता है। "कागज द्वारा परीक्षा" के तीसरे अंग मे व्यक्ति को सचमुच एक कृत्रिम परिस्थिति में रख कर उसके नैतिक गुणों की परीक्षा की जाती है। उदाहरणार्थ; जिन पृष्ठों पर उन्हे छपे हुये प्रश्न किये जाते हैं उन्ही की पीठ पर उत्तरों को भी छाप दिया जाता है और यह देखा जाता है कि व्यक्ति कितनी बार छपे हुए उत्तरो की नकल करता है। कुछ समस्या पर व्यक्ति के तर्क को सुन कर भी उसके स्वभाव का पता लगाया जाता है।

(५) गति-परीक्षा[3]—

कुछ गति अथवा चाल (मूवमेण्ट) से व्यक्ति के स्वभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। इस धारणा के आधार पर गति-परीक्षा द्वारा स्वभाव का अनुमान

---

1. Psycho-analytic Method of word Association. 2. Paper Tests. 3. Motor Tests.

लगाया जाता है। जब व्यक्ति किसी सवेग मे रहता है तो उसके लिखने, बोलने तथा अन्य कार्य करने का ढंग कुछ बदल जाता है। गति-परीक्षा में व्यक्ति को कुछ लिखने, बनाने, करने अथवा बिन्दु लगाने के लिये दिया जाता है।

उदाहरणार्थ, (१) व्यक्ति को कै; कै; कै; ३० सैकेण्ड तक लिखने के लिये दिया जाता है, इसे पूरा कर लेने पर फिर कई बार यही लिखने के लिये कहा जाता है। कुछ देर बाद फिर उसे उल्टा 'कै' लिखना पड़ता है।

(२) किसी कार्य के करने के लिये उसे आज्ञा दी जाती है, थोड़ा कर लेने पर झट दूसरी आज्ञा दी जाती है। इस प्रकार विभिन्न आज्ञाये देकर उसके स्वभाव में परिवर्त्तन का अध्ययन किया जाता है।

(६) प्रयोगशाला की विधि[1]—

किसी संवेग के आने पर व्यक्ति की मुद्रा अथवा शरीर मे विभिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं। उदाहरणाथ, उसके हृदय की धड़कन, नाडी की गति, साँस की गति अथवा शरीर की शक्ति परिस्थितिवश घट या बढ जाती है। इस गति के माप से व्यक्ति के स्वभाव के अध्ययन की विधि का मनोवैज्ञानिको ने आविष्कार किया है। स्फीग्मोग्रैफ यन्त्र से नाडी की गति तथा इलेक्ट्रो-कार्डियोग्रैफ से हृदय की गति नापी जाती है। साइकोगैलवनोमीटर[2] से व्यक्ति के सवेगात्मक परिवर्त्तन को उसके हाथो की प्रतिक्रिया से समझने का प्रयत्न किया जाता है।

स्वभाव-परीक्षा की प्रश्नावालयो के निर्माण में जून डोनी, वोलकर, डा० कोल, कैटेल, थर्स्टन, उडवर्थ, केण्ट सोजनफ तथा प्रेसी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

३—आलोचना

स्वभाव-परीक्षा की प्रचलित विधियो के निर्णय पर पूर्णतः विश्वास नही किया जा सकता। परिस्थितियों के वश व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्त्तन आता रहता है। 'धन' शब्द के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया थोडे ही दिनो बाद बदल सकती है। आज वह धनी है और कल यदि दरिद्र होगया तो उसकी प्रतिक्रिया में परिवर्त्तन आ जायगा। अतः इससे उसके स्वभाव का पता लगाना ठीक नही। किसी अवसर पर व्यक्ति स्पष्टवादी हो सकता है और किसी पर नही। मनुष्य के मस्तिष्क का विश्लेषण नही किया जा सकता, क्योकि उसको नियन्त्रित करना बडा कठिन है। अतः मनोविश्लेषण विधि द्वारा स्वभाव का निर्णय ठीक से नही लगाया जा सकता। साइकोगैलवनोमीटर[2] से व्यक्ति की सवेगात्मक प्रतिक्रिया की मात्रा का अनुमान ठीक-ठीक नही लगाया जा सकता, क्योकि परिस्थितियो के वश उसके सवेग बदलते रहते हैं। स्वभाव पर वाता-

1. Laboratory Method. 2. Psycho-galvanometer.

वरण का इतना प्रभाव पडा करता है कि उसका प्रकृतिदत्त अंश बहुत ही छोटा होता है और उसका मापना बडा कठिन है। वातावरण का स्वभाव पर बहुत प्रभाव पडता है। अतः स्वभाव-परीक्षा द्वारा कुछ स्वाभाविक गुणो का पता लगाया जा सकता है।

ग—झुकाव-परीक्षा[1]

(१) आवश्यकता

केवल बुद्धि, ज्ञान तथा स्वभाव-परीक्षा से ही बालक की शिक्षा-समस्या हल नहीं की जा सकती। प्रायः यह देखा जाता हैं कि प्रखर बुद्धि का बालक भी किसी विषय मे बहुत कमजोर होता है। १२० बुद्धि-लब्धि वाले बालक का गणित अच्छा हो सकता है, पर इतिहास अथवा भूगोल में वह बहुत निर्बल हो सकता है। सगीत-कला मे प्रवीण बालक साहित्य अथवा गणित मे निकम्मा हो सकता है। इसका क्या कारण है ? जान पडता है कि केवल बुद्धि से ही कोई सफलता नही प्राप्त कर सकता। बुद्धि के अतिरिक्त कोई ऐसी बात अवश्य है जो उसके कार्य पर प्रभाव डाला करती है। विभिन्न विषय के लिये व्यक्ति का 'झुकाव' होता है। किसी बालक मे गणित के लिये झुकाव हो सकता है, पर इतिहास, भूगोल अथवा भाषा के लिये नही। अतः शिक्षा से अधिकतम लाभ उठाने के लिये बालक के 'झुकाव' का पता लगाना आवश्यक है। बालक के 'झुकाव' का पता रहने से शिक्षक अपने अध्यापन-कार्य को उसकी आवश्यकतानुसार व्यवस्थित कर सकता है। पाश्चात्य देशो मे 'झुकाव' के माप का प्रचार बड़े जोरों से हो रहा है। हमारे देश में इसका नितान्त अभाव है। 'सभी धान बाइस पसेरी' के हिसाब से सभी बालकों को समान विषय एक ही गति और क्रम से पढ़ाये जाते हैं। प्रारम्भ मे 'झुकाव' का पता न लगने से उसके लिये आवश्यक अभ्यास करने का अवसर नही मिलता। फलतः हमारे देश के बहुत से बालकों के 'झुकाव' प्रौढ़ावस्था प्राप्त करते-करते शिथिल हो जाते हैं।

२—'झुकाव' पर ध्यान न देने के दुष्परिणाम

यदि 'झुकाव' का पता लगा कर तदनुसार प्रत्येक बालक को शिक्षा देने की चेष्टा की जाती तो हमारे कालेज और विश्वविद्यालयो का मानदण्ड (स्टैण्डर्ड) स्वतः बढ़ जाता। स्कूल-काल में 'झुकाव' का पता न लगने से बालक और अभिभावक गण कभी-कभी यह निश्चय नही कर पाते कि हाईस्कूल अथवा इन्टरमीडियेट परीक्षा पास करने के बाद बालक क्या करे ? बालक के सामने सबसे अच्छा रास्ता कालेज अथवा विश्वविद्यालय मे नाम लिखाना दिखलाई पड़ता है। चाहे बी० ए० अथवा एम० ए०

---

1. Aptitude Testing (झुकाव के लिए प्रवणता' और 'रुझान' शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है)।

में पढाये जाने वाले विषयो के लिये उसमे 'रुचि' भले ही न हो, पर वह नाम लिखा ही लेता है और अन्त मे रट-रटा कर डिग्री प्राप्त कर लेता है। विश्वविद्यालयो में योग्यताहीन विद्यार्थियो की इस भेडियाधसान के कारण विश्वविद्यालय का स्तर[1] भी गिरता जा रहा है। यदि माप कर उनके स्कूल-काल मे ही बालको के झुकाव का पता लगा लिया जाय और तदनुसार उनका पथ-प्रदर्शन किया जाय तो विश्वविद्यालयो का मान स्वत· धीरे-धीरे बढ जायगा, और जो एम० ए० होगा उसका पाण्डित्य सचमुच आज के सामान्य एम० ए० से ऊँचा होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे देश के स्कूली बालको के झुकाव के माप की बड़ी आवश्यकता है। यदि झुकाव के अनुसार प्रत्येक बालक की शिक्षा का आयोजन किया जाय तो राष्ट्र का बडा कल्याण होगा। 'झुकाव' के माप के सम्बन्ध में शिक्षक का क्या कर्तव्य होगा ? उसके लिये प्रश्नावलियाँ बनाना शिक्षक के क्षेत्र के बाहर की वस्तु होगी। यह तो मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञो के ही वश की बात है। अत यहाँ प्रश्नावलियो के निर्माण-विधि का उल्लेख करना अनावश्यक सा है। यहाँ केवल झुकाव के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी शिक्षक के कर्त्तव्य की चर्चा कर देना ही प्रर्याप्त दिखलाई पडता है।

३—झुकाव और बुद्धि

'झुकाव' से हम किसी व्यक्ति की किसी कार्य के लिये वर्तमान प्रवीणता का अनुमान लगा सकते हैं। भविष्य की सम्भावना का वर्तमान से सम्बन्ध रहता है, अत. झुकाव भविष्य की ओर भी सकेत करता है। यदि आज कोई व्यक्ति किसी कार्य मे प्रवीण होगा तो यह आशा की जाती है कि भविष्य में भी वह ऐसा ही होगा, यदि वह अपने परिश्रम में ढिलाई नही ले आता। वैयक्तिक भिन्नता केवल बुद्धि और स्वभाव[2] पर ही निर्भर नही होती। यदि ऐसा होता तो समान बुद्धि और स्वभाव वाले व्यक्ति समान ही रुचि के दिखलाई पडते। अत· बुद्धि और स्वभाव के अतिरिक्त भी कोई ऐसी शक्ति है जो वैयक्तिक भिन्नता के लिए उत्तरदायी होती है। यह उनका झुकाव होता है। स्पीयरमैन[3] के सामान्य और विशिष्ट योग्यता (जी' एण्ड 'एस' फैक्टर) के सिद्धान्त से यह बात कुछ अधिक समझ में आती है कि वैयक्तिक भिन्नता 'झुकाव' पर भी निर्भर करती है। स्पीयरमैन के अनुसार 'सामान्य योग्यता' के अतिरिक्त व्यक्ति में कई प्रकार की 'विशिष्ट योग्यतायें' हो सकती हैं, अर्थात् कई विषयों की ओर उसका झुकाव हो सकता है। अत 'सामान्य योग्यता'[4] अर्थात् बुद्धि के समान रहते हुये भी 'विशिष्ट योग्यता'[5] में भिन्नता होने से व्यक्तियो मे भिन्नता आ जाती है। जैसे बिजली की शक्ति प्रकाश, पखा, घण्टी तथा पानी गरम करने इत्यादि में प्रयोग

---

1. Standard 2 Temperament. 3 Spearman's G and S Factors Theory 4 General Ability. 5. Special Ability.

की जा सकती है उसी प्रकार व्यक्ति की बुद्धि उसकी 'विशिष्ट' योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न कार्यो मे प्रयुक्त होती है। समान बुद्धि रखने वाले दो व्यक्ति अपनी 'विशिष्ट' झुकावानुसार गणित, साहित्य, इतिहास अथवा भूगोल आदि को ओर झुक सकते है। इस प्रकार समान बुद्धि होने पर भी उनमे भिन्नता आ जाती है, क्योकि एक अपनी बुद्धि गणित अथवा इतिहास की ओर लगाता है और दूसरा साहित्य अथवा भूगोल की ओर। कहना न होगा कि बुद्धि मे भिन्नता होने से समान विशिष्ट झुकाव वाले व्यक्तियो में भी भिन्नता आ सकती है। उदाहरणार्थ; दो बालको का झुकाव सगीत मे समान हो सकता है, पर दोनो मे जिसकी बुद्धि तीव्रतर होगी वह अवश्य ही दूसरे से अच्छा करेगा। पर यह भी ध्यान देते की बात है कि केवल बुद्धि रखने से ही कोई व्यक्ति अपना जीवन सफल नही बना लकता। केवल बिजली शक्ति से ही हमारा कार्य नही सिद्ध हो सकता, वरन् उसके उपयोग के लिये, बल्ब, पखा, घण्टी, आदि की भी आवश्यकता है इसी प्रकार व्यक्ति की किसी विषय अथवा कार्य मे सफलता के लिये तत्सम्वन्धी झुकाव होना आवश्यक है, जिससे उसके बुद्धि का सदुपयोग हो सके।

४—झुकाव का पता कैसे लगाया जा सकता है ?

ऊपर की बात से स्पष्ट है कि शिक्षक को बालक के झुकाव से अवगत होना आवश्यक है। पर क्या बालक से पूछ लेने से ही काम चल जायगा ? वहुधा वालक कहा ही करता है कि इसमें हमारा मन लगता है और उसमे नही। पर बालक की राय पर हम निर्भर नही रह सकते, क्योकि वातावरण के परिवर्त्तन में उसकी रुचि मे भिन्नता आती रहती है। सगीतज्ञो के मध्य में रहने से वह सगीत के लिये अपनी रुचि प्रगट कर सकता है। और चित्रकारो के साथ रहने मे चित्रकला के लिये। स्वास्थ्य के गिरने अथवा विषय को पढ़ाने वाले शिक्षक के वदल जाने से वह अपनी रुचि के सम्बन्ध मे दूसरी बाते कह सकता है; अर्थात् बालक की राय पर निर्भर रहना युक्ति-संगत न होगा। शिक्षकों, मित्रो तथा माता-पिता की राय पर भी विश्वास करना वैज्ञानिक नही। शिक्षक तथा मित्र बालक की बातो से अवगत नही हो सकते। दूसरे, माता-पिता की यह इच्छा हो सकती है कि बालक उन्ही के व्यवसाय को अपनाये। अतः झुकाव के माप के लिये ऐसी प्रश्नावलियाँ बनानी हैं जिनसे उसका ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सके। व्यक्ति 'क्या जानता है' और "क्या कहता है" इससे जितना उसके झुकाव का पता लगाया जा सकता है उतना "क्या कहता है" से नही लगाया जा सकता। व्यक्ति की जिस विषय अथवा कार्य में जितनी रुचि होती है उसे वह उतना ही जानता है और उतने ही देर तक करता रहता है, अर्थात् उसकी ज्ञान मात्रा अथवा कार्य से उसके झुकाव का पता चलाया जा सकता है। झुकाव-परीक्षा के लिये

प्रश्नावलियाँ ज्ञान के परीक्षा के ही सदृश् बनाई जाती हैं। प्रत्येक झुकाव के लिये अलग-अलग प्रश्नावलियाँ तैयार करना असुविधाजनक है। अतः झुकावों का विश्लेषण करके उनके सामान्य अश समझ लिये जाते हैं और इन्ही की परीक्षा की जाती है।

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि बालक के 'झुकाव' का पता यदि स्कूल-काल मे लग जाय तो शिक्षक उसके पद-प्रदर्शन में उचित ढग से योग दे सकता है। 'झुकाव' के ज्ञात हो जाने पर उसे कुछ विशेष विषय पढाये जायेगे जिससे आगे चल कर वह अपने जीवन को सफल बना सके। व्यवसाय चुनने में यदि व्यक्ति का ठीक प्रकार पथ-प्रदर्शन न किया गया तो मित्रो तथा अभिभावको की राय के अनुसार वह इस कार्य से उस कार्य पर जाता रहेगा। नियुक्तिकार महोदय[1] उम्मेदवारो में यह नही देखते कि किस में काम करने का 'झुकाव'[2] है। वरन् वह यह देखते हैं कि आये हुए उम्मेदवारो में सबसे अच्छा काम कौन कर सकता है। वस्तुत. उनका ऐसा सोचना स्वाभाविक ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि नियुक्तकार व्यक्ति का व्यवसाय निर्देशन[3] नही कर सकता, वह तो किसी मनोवैज्ञानिक की सहायता से व्यवसाय-चुनाव[4] करता है। उसे यह जानने की चिन्ता नही कि व्यक्ति किसी कार्य के लिये विशेष 'झुकाव' रखता है वा नही। व्यवसाय चुनाव के लिये भी कुछ प्रश्नावलियाँ बनायी जाती हैं और उनकी सहायता से मनोवैज्ञानिक नियुक्तिकार को व्यक्ति को पद पर नियुक्त करने अथवा अभ्यास-काल[5] में भेजने की राय देता है। ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने 'झुकाव' से बहुत पहले ही अवगत हो कर उसके लिये उचित शिक्षा (ट्रेनिङ्ग) ले ले।

शिक्षक अपने विद्यार्थी के लिये सहानुभूति रखता है और उसकी हार्दिक इच्छा होती है कि उसका शिष्य जीवन मे ऊँचा से ऊँचा पद प्राप्त करे। अतः यदि उसके हाथ मे शिष्य के झुकाव की माप के लिये कोई साधन होता तो वह अवश्य ही अपना कार्य और अच्छी प्रकार सम्पादित करता। यदि उसे झुकाव-परीक्षा की प्रश्नावलियाँ दे दी जायँ तो उसकी सहायता से बालक के झुकाव का पता लगा कर वह उसके शिक्षा-क्रम को अधिक मनोवैज्ञानिक ढग पर चला सकता है। पर बहुत सम्भव है कि स्कूल-जीवन मे किसी व्यवसाय के लिये बालक के झुकाव का विकास ही न हुआ हो। अतः शिक्षक किसी व्यवसाय को अपनाने के लिये बालक को अन्तिम रूप से राय नही दे सकता, यह तो मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञो का ही काम है। पर जैसा ऊपर कहा गया है, बालक के शिक्षा-क्रम को ठीक प्रकार सचालित करने के लिये उसे बालक के 'झुकाव' का कुछ न कुछ अनुमान अवश्य हो जाना चाहिये। इसके लिए 'झुकाव' परीक्षा

---

1 Employer. 2. Aptitude. 3. Vocational Guidance. 4 Vocational Selection. 6. Apprenticeship.

के लिये मनोवैज्ञानिको द्वारा बनाई हुई विधियों की वह सहायता ले सकता है। पर हमारे देश में ऐसी विधियों का नितान्त अभाव है। शिक्षक अपना अध्यापन-कार्य छोड़ इन विधियों के निर्माण में नही लग सकता, क्योकि न उसके पास उसके लिये समय है और न झुकाव। अत. शिक्षा के कर्णधारों को उचित है कि 'झुकाव' परीक्षा के लिये उचित उपकरणो का आयोजन करे। इस आयोजन मे कुछ विदेश से बनी हुई विधियों की सहायता ली जा सकतो है। 'इनमें स्टेन्क्विस्ट एसेम्बली टेस्ट ऑव मेकैनीकल ऐबिलिटी'. रसथ् इलेक्ट्रिकल इन्क्लीनल टेस्ट, हलूस इञ्जिन लाथ टेस्ट, सीशोर मेज़र ऑव् म्यूजिकल टैलेण्ट टेस्ट, लेवैरेंज टेस्ट्स, रोशर्स स्टेनोग्रैफिक ऐण्ड टाइपिङ्ग टेस्ट्स आदि उल्लेखनीय है।

५—स्कूल का कर्तव्य

व्यवसाय-झुकाव-परीक्षा कला विशेषज्ञों का ही काम है, इससे शिक्षको को इसके प्रति उदासीन हो जाना अपेक्षित नही। वह अपने सीमित क्षेत्र में भी बालक के झुकाव का अनुमान लगा सकता है। ऊपर बार-बार कहा गया है कि इस अनुमान के बिना वह अपना अध्ययन कार्य सफलतापूर्वक सम्पादित नही कर सकता। अतः प्रधानाध्यापकों को चाहिये कि अपनी सीमा के अन्तर्गत बालकों की झुकाव-परीक्षा का आयोजन करे। इसके लिये प्रत्येक बालक के झुकाव के बारे में उसके सम्बन्धियो अथवा मित्रों से लिखित राय माँगनी चाहिये। कहना न होगा कि अभिभावको का भी उत्तरदायित्व यहाँ बढ जाता है। उन्हे यथासम्भव अपनी सच्ची-सच्ची राय भेजनी चाहिये। इन लोगों की राय पर कुछ विश्वास किया जा सकता है, क्योंकि ये सभी लोग बालक के शुभचिन्तक होते हैं। इस राय को प्राप्त करने के लिये प्रधानाध्यापक को अन्य शिक्षको की सहायता से रुचि, अरुचि, प्रिय विषय, स्वभाव, मित्रों का संग, व्यवहार इत्यादि के बारे मे एक ऐसी प्रश्नावली तैयार करनी चाहिये जिसके उत्तर में बालक के सम्बन्ध की सारी बाते अभिभावको और उनके मित्रो के यहाँ से राय के रूप में चली आवे। इस राय की सत्यता की माप बालक की स्कूल में प्राप्त सफलता अथवा असफलता से की जानी चाहिये। प्रत्येक विषय मे बालक की सफलता की मात्रा तथा उसके विषय मे शिक्षक की राय से बालक के झुकाव विषयक अनुमान में सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त उसकी बुद्धि-लब्धि तथा ज्ञान-लब्धि पर भी दृष्टिपात करना होगा। स्वभाव-परीक्षा के फल पर भी ध्यान देना होगा। रुचि, अरुचि, आकाक्षा, सन्देह आदि के विषय में बालक से भी पूछा जाना चाहिये। यदि झुकाव-माप के लिये यन्त्र प्राप्त हों तो उनकी सहायता ले लेना आवश्यक है। इस प्रकार बालक के विपय में पूरा कच्चा चिट्ठा तैयार कर एक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिये, अच्छा तो यह होगा कि असंदिग्ध बातों में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पहले किसी मनो-

वैज्ञानिक से राय ले ली जाय। इस प्रकार स्कूल मे बालक की योग्यता का अनुमान लगा कर उसकी शिक्षा का उचित सचालन किया जा सकता है। इस कार्यक्रम के देखने से शिक्षकगण कदाचित् यह सोच सकते है कि उनके ऊपर एक और अतिरिक्त काम दिया जा रहा है, जबकि वे पहले ही से कार्य-भार से दबे जा रहे हैं। वस्तुत: प्रत्येक बालक की योग्यता माप मे इतनी कठिनाई न उठानी पडेगी यदि पडी भी तो दो-एक और ऐसे अध्यापको की नियुक्ति की जा सकती है जो कि इस कार्य में विशेष हाथ बटावें। वस्तुतः इस कार्य हेतु अध्यापको की सख्या बढाने के लिये शिक्षा के कर्णधारो को प्रेरित करना होगा।

आजकल शिक्षा का प्रचार जिस गति से हमारे देश में हो रहा है उसे देख कर यही आशा होती है कि शीघ्र ही सरकार की ओर से झुकाव-परीक्षा के लिये सभी आवश्यक उपकरणो का आयोजन किया जायगा। यह निर्विवाद है कि किसी प्रकार की झुकाव-परीक्षा बिना स्कूलो की सहायता से सफल नही हो सकती, क्योकि व्यक्ति के जीवन के विभिन्न अंगो से शिक्षक और अभिभावक का परिचय रहता है। पाश्चात्य देशो में जहाँ झुकाव-परीक्षा कर व्यक्ति को एक व्यवसाय अपनाने के लिये राय दी जाती है, वहाँ स्कूलो की सहायता से ही कार्य किया जाता है। अत: झुकाव-परीक्षा से स्कूल उदासीन नही हो सकता। उदासीन होने से न तो वह बालक की शिक्षा का उचित सचालन ही कर सकता है, और न अन्य सस्थाओ के इस प्रयत्न में योग ही।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

क—ज्ञान परीक्षा

१—बुद्धि-परीक्षा और ज्ञान-परीक्षा में भेद—

बुद्धि-परीक्षा मे व्यक्ति की प्राकृतिक योग्यता की परीक्षा।

ज्ञान-परीक्षा में बुद्धि तथा उसके उपयोग करने की शक्ति की परीक्षा।

ज्ञान-परीक्षा मे ज्ञान की परीक्षा, बुद्धि-परीक्षा मे ज्ञान साधन, ज्ञान-परीक्षा मे ज्ञान साध्य, व्यक्ति की बुद्धि इञ्जिन के समान और ज्ञान इञ्जिन के जाने की दूरी के समान।

२—ज्ञान-परीक्षा की आवश्यकता व प्रचलित परीक्षा के कुछ दोष—

विद्यार्थी की सफलता का ज्ञान शिक्षक को आवश्यक, बुद्धि-परीक्षा अथवा प्रच-लित परीक्षा से यह सम्भव नहीं, विस्तृत पाठ्य-वस्तु की परीक्षा अनुमान लगाने की प्रवृत्ति, भाषा-ज्ञान का विषय-ज्ञान से अधिक महत्त्व, परीक्षको की मनोवृत्ति का प्रभाव तीन ही घन्टे में बहुत से प्रश्नो का उत्तर देना।

प्रश्नों की कठिनता के आधार पर उनका अकन नही, फलतः विद्याक्षियो को विपय का ठीक बोध नही, प्रचलित परीक्षा के फल पर विद्यार्थियों को नयी कक्षा मे चढ़ाना ठीक नही, बुद्धि परीक्षा से भी विशेप परीक्षा नही।

३—ज्ञान-परीक्षा के प्रश्नों के बनाने की विधि—

अनुमान लगाना सम्भव नही, पाठ्य-वस्तु के प्रायः सभी अंगो का समावेश, परीक्षक की मनोवृत्ति के लिये स्थान नही, अधिक भाषा-शक्ति की आवश्यकता न हो।

ज्ञान, कौशल तथा रसानुभव पर ठीक-ठीक ध्यान, बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नो के सदृश् परीक्षण, प्रश्नो के उत्तर पहले से ही निर्धारित।

४—ज्ञान-आयु—

विषय के प्रत्येक अग की ज्ञान-आयु अलग-अलग, इनकी औसत पर विषय की ज्ञान-आयु से बालक के ज्ञान और कौशल का अनुमान।

५—ज्ञान-लब्धि—

ज्ञान-आयु मे मानसिक आयु का भाग देना।

यदि ज्ञान-लब्धि अपेक्षित नही तो विद्यार्थी अथवा शिक्षक की असफलता बुद्धि लब्धि और ज्ञान-लब्धि मे भेद, ज्ञान-लब्धि से केवल एक सकेत, इसके आधार पर निश्चित निर्णय ठीक नही।

६—शिक्षा-लब्धि—

ज्ञान आयु मे वास्तविक आयु का भाग देना।

बुद्धि-लब्धि और ज्ञान-लब्धि की तुलना से बालक की उन्नति का ठीक-ठीक अनुमान।

ख—स्वभाव वा व्यक्तित्व-परीक्षा

१—आवश्यकता

बुद्धि के अतिरिक्त भी कुछ अन्य बाते जिनका बालक की उन्नति पर प्रभाव, व्यक्तित्व और उन्नति मे घनिष्ठ-सम्बन्ध, बालक के चरित्र व स्वभाव के बारे में भी जानना शिक्षक के लिए आवश्यक।

परिस्थिति-विशेष मे व्यक्ति के व्यवहार को जानने की चेष्टा, व्यक्ति के अधि-कारो और कर्तव्यो से उसके स्वभाव का घनिष्ट सम्बन्ध, अतः स्वभाव-परीक्षा की आवश्यकता।

गुण व दोष का निर्धारण, प्रश्नों की सहायता से केवल साधारण अनुमान ही, विशेषताओ का ज्ञान नही।

२—स्वभाव-परीक्षा की विधियाँ

(१) व्यक्तिगत राय—

विशेष महत्त्व नही।

(२) साक्षात्कार—

सम्बन्धियो के राय के आधार पर कुछ प्रश्नो का पूछा जाना, मानसिक प्रतिमाओं, कल्पना तथा स्वप्न का पता लगाना, लिखने और वर्णन की शैली से कुछ स्वभाव का अनुमान।

(३) शब्दों द्वारा मनोविश्लेषण विधि—

कुछ शब्दों का नाम लेना और उन पर व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करना, सामान्य व्यक्तियों की प्रतिमाओ की कुञ्जी से तुलना।

(४) कागज द्वारा परीक्षा—

बुद्धि और ज्ञान-परीक्षा के सदृश्, रुचि अरुचि राय, नैतिक व सामाजिक गुण की परीक्षा।

(५) गति-परीक्षा—

सवेग में व्यक्ति के गति में परिवर्त्तन, अतः गति-परीक्षा से स्वभाव का ज्ञान।

(६) प्रयोगशाला की विधि—

नाडी और हृदय की गति की नाप से स्वभाव-परीक्षा।

३—आलोचना

परिस्थिति-वश व्यक्ति के स्वभाव मे परिवर्त्तन, अतः प्रचलित विधियाँ सन्तोषजनक नही, पर कुछ स्वाभाविक गुणो का पता लगाना सम्भव।

ग—झुकाव-परीक्षा

(१) आवश्यकता

बालक की सफलता पर 'झुकाव' का प्रभाव, 'झुकाव' के ज्ञान से उचित शिक्षा की व्यवस्था सम्भव।

२—'झुकाव' पर ध्यान न देने के दुष्परिणाम

३—झुकाव और बुद्धि

'झुकाव' से वर्तमान प्रवीणता का अनुमान, भविष्य की ओर संकेत, झुकाव भी वैयक्तिक भेद के लिये उत्तरदायी।

४—झुकाव का पता कैसे लगाया जा सकता है ?

वातावरण के परिवर्त्तन से रुचि मे भिन्नता, अतः बालक की राय पर निर्भर रहना उचित नही, दूसरो की राय पर भी निर्भर रहना वैज्ञानिक नही, व्यक्ति के कार्य अथवा ज्ञान-मात्रा से उसके झुकाव का पता लगाना, विभिन्न झुकावों के सामान्य अश की परीक्षा ।

'झुकाव' का बहुत प्रारम्भ मे ही पता लगाना, नियुक्तिकार व्यवसाय-पथ-प्रदर्शन नही कर सकता ।

शिक्षक भी 'झुकाव' निर्धारण मे उचित राय नही दे सकता, यह मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ का ही काम, पर शिक्षक को बालक का 'झुकाव' जानना आवश्यक ।

५—स्कूल का कर्त्तव्य

अपनी सीमा के अन्तर्गत प्रयत्न करना , सम्बन्धियो से लिखित राय माँगना, रुचि व अरुचि इत्यादि के सम्बन्ध मे प्रश्नावलियाँ बनाना; उनके उत्तर से झुकाव का अनुमान लगाना; सफलता बुद्धि, ज्ञान और स्वभाव-परीक्षा से तुलना करना, मनोवैज्ञानिक से सहायता ।

झुकाव-परीक्षा आन्दोलन से स्कूल उदासीन नही हो सकता ।

सहायक पुस्तकें

१—रॉस, सी० सी०—मेजरमेण्ट इन टुडेज़ स्कूल्स, न्यूयार्क ।

२—टीग्स, ई० डब्लू—टेस्ट् ऐण्ड मेजरमेण्ट्स इन द इम्प्रूवमेन्ट ऑव् लर्निङ्ग ।

३—मैकॉल, डब्लू० ए०—मेजरमेण्ट ।

४—ब्रूम, एम० ई०—एडूकेशनल मेजरमेण्ट्स इन द एलेमेण्टरी स्कूल ।

५—लिनकॉल ऐण्ड वर्कमैन—यूज ऐण्ड इण्टरप्रीटेशन ऑव हाई स्कूल टेस्ट्स ।

७—केली, टी० एल०—इण्टरप्रीटेशन्स ऑव् एडूकेशनल मेजरमेण्ट्स ।

८—साइमॉण्ड्स पी० एम०—मेजरमेण्ट इन सेकेण्डरी ऐडूकेशन ।

९—ऑलपोर्ट, एफ० एच० ऐण्ड जी० डब्लू०—परसनॉलिटी ट्रेट्स—देयर क्लासीफिकेशन ऐण्ड मेजरमेण्ट, जर्नल ऑव ऐबनॉर्मल ऐण्ड सोशेल साइकॉलॉजी १९२१ ।

१०—डोनी, जे०—विल टेम्परामेण्ट टेस्ट ।

११—ग्रीन, जी० एच—साइकोएनलिसिस इन द क्लासरूम ।

१२—लोम्बार्डी, एम० एम०—द इण्टर-ट्रेटरेटिङ्ग टेकनिक ।

१३—हण्ड, टी०—मेजरमेण्ट इन साइकॉलॉजी ।

१४—विंघम—ऐप्टीट्यूड ऐण्ड ऐटीट्यूड टेस्टिङ्ग ।
१५—वट, सी०—ए स्टडी इन वोकेशनल गाइडेन्स ।
१६—हल, सी० एल०—ऐप्टीट्यूड टेस्टिङ्ग ।
१७—थॉर्नडाइक, ई० एल०—प्रिडिक्शन ऑव वोकेशनल सक्सेस ।
१८—जे० एम० स्टीफेन्स—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ८, १०, १८, २२ ।
१९—कोल ऐण्ड ब्रूस—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १८ ।
२०—सरयू प्रसाद चौबे—किशोर मनोविज्ञान की भूमिका, अध्याय, ५,६,७ ।

२५

विशिष्ट बालक[1]

स्कूलों में सभी बालक समान नही मिलते । कोई कक्षा मे पढाई के समय सोता हुआ दिखलाई पड़ता है, तो किसी को बार-बार समझाने पर भी समझ मे नही आता, तो कोई ऊधम मचाता हुआ दिखलाई पड़ता है । स्कूल को इन सब बालको का अध्ययन कर उनकी शिक्षा का उचित आयोजन करना चाहिये । कहना न होगा कि इस अध्ययन में मनोविज्ञान बड़ा सहायक है । सामान्य बालकों की शिक्षा मे स्कूल को विशेष कठिनाई नही होती, क्योकि निर्धारित पाठ्य-वस्तु उनके लिये पर्याप्त होती है । इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे बालक भी होते हैं जिनके लिये निर्धारित पाठ्य-वस्तु कम या अधिक होती है । ऐसे बालको को हम क्रमश: 'प्रतिभावान्' तथा 'पिछडा हुआ' कह सकते हैं । ये दोनों प्रकार के बालक स्कूल के लिये कठिन बने रहते है । इस अध्याय में इन्ही बालको की समस्या पर संक्षिप्त में विचार किया जायगा ।

१—प्रतिभावान् बालक[2]

ऊपर के संकेत से स्पष्ट है कि जो बालक निर्धारित पाठ्य-वस्तु को निर्धारित समय से बहुत पहले सीख लेता है उसे प्रतिभावान् कहा जा सकता है । ऐसे बालको की मानसिक योग्यता साधारण बालक की योग्यता से अधिक होती है । यदि इनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाय तो समाज के लिये ये वरदानस्वरूप होगे । अत. समाज के कल्याण हेतु यह आवश्यक है कि बहुत प्रारम्भ में ही उनका पता लगा कर उनकी शिक्षा का उचित आयोजन किया जाय । प्रतिभावान् बालक की शिक्षा पर विचार करने के पहले उसके स्वभाव को समझ लेना आवश्यक जान पडता है, क्योकि उसकी विशेषताओं के अनुसार ही उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा । बुद्धि-परीक्षा कर उनकी प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है । मनोवैज्ञानिको का कहना है कि प्रतिभावान् बालक केवल मानसिक योग्यता ही मे बड़ा नही होता, वरन् उसका साधारण स्वास्थ्य तथा सवेगात्मक और सामाजिक विकास भी सामान्य बालक से अधिक व्यवस्थित होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी प्रखर-बुद्धि बालक

1. The Special Child. 2. The Gifted Child.

का स्वास्थ्य अच्छा नही है, उसकी आँखें कमजोर हैं तथा स्वभाव चिढचिढा है तो उसकी उन्नति भविष्य में अवश्य रुक जायगी, अर्थात् उसकी प्रतिभा बहुत दिन तक न टिकेगी। अत व्यक्तित्व का सुव्यस्थित विकास प्रतिभावान् बालक का एक आवश्यक गुण है। टरमैन, वाल्डविन और हेलेनडेवीस के परीक्षणो से स्पष्ट है कि प्रतिभावान् बालको का शारीरिक स्वास्थ्य सामान्य बालको से बुरा नही, वरन् अच्छा ही होता है। हॉलिङ्गवर्थ और टेलर के अन्वेषण भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। हैरियट का कहना है कि प्रतिभावान् बालक का दृष्टिकोण बडा उदार होता है और उसके स्वभाव मे आत्म-आलोचन करने की शक्ति के साथ हास्यरस का भी पुट रहता है।

प्रतिभावान् बालक कई प्रकार के विषयों के अध्ययन में प्रवीणता दिखला सकता है। कला, साहित्य, सगीत तथा यन्त्र-सम्बन्धी कार्यो में एक साथ ही उसकी रुचि देखी जा सकती है। उसका सामाजिक गुण भी सामान्य बालको से कम नही होता। कुछ प्रतिभावान् बालकों के अध्ययन के बाद विटी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनमें ४७ प्रतिशत साधारण रूप मे, ४५ प्रतिशत सामान्य बालकों से अधिक तथा ८०प्रतिशत बहुत कम खेलना पसन्द करते हैं। उनमें ५८ प्रतिशत अपने लिये मित्र खोजने के इच्छुक तथा ३८ प्रतिशत एकदम किसी को मित्र नही बनाना चाहते थे। सामाजिक शिष्टता मे ९० प्रतिशत प्रतिभावान् बालक सामान्य बालकों से अच्छे होते हैं। लेहमन और विल्करसन का कहना है कि 'न्यूयार्क शहर के ६००० प्राइमरी स्कूल के १३० बुद्धि-लब्धि वाले विद्यार्थी सामान्य बालको से अधिक अस्वस्थ थे। ये बालक चरित्र, व्यक्तित्व, सवेगात्मक तथा सामाजिक विकास आदि सभी दृष्टि से सामान्य बालको की अपेक्षा अधिक सुसगठित थे।[1] प्रतिभावान् बालको मे ध्यान की शक्ति अधिक होती है। यदि उनकी रुचि का कार्य मिल गया तो बहुत देर तक बिना थके हुए वे कार्य कर सकते हैं। उनमें मौलिकता और बौद्धिक जिज्ञासा अधिक होती है। यदि थोडा सा पथ-प्रदर्शन करके उन्हे अवसर दे दिया जाय तो आगे का मार्ग वे स्वयं ढूँढने मे सफल हो सकते हैं। किसी विषय का निष्कर्ष निकालने मे कभी-कभी वे अद्भुत चतुरता का प्रदर्शन करते हैं। उनमे तर्क-शक्ति पर्याप्त होती है। थोडा सा सकेत पा जाने पर ही वे अपनी गलती को स्वयं सुधार सकते हैं। टरमैन ने अपने अन्वेषणो में देखा है कि प्रतिभावान् बालक साधारण की अपेक्षा अधिक ईमानदार, दयालु, नैसर्गिक और सहायक होता है। पर बहुधा यह देखा जाता है कि माता-पिता उसको भली-भाँति समझ नही पाते।

---

१. एच० सी० लेहमैन ऐण्ड डी० ए० विल्करसन—द इनफ्लूयेन्स ऑव् क्रॉनॉलॉजिकल एज वर्सेस मेण्टल एज ऑव् प्ले विहेवियर, जेनेटिक साइकॉलॉजी, १९२८, भाग ३५, पृष्ठ ३१२-३२१।

२—अकाल-प्रौढ़ बालक[1]

कुछ लडके ऐसे होते हैं जिनकी प्रतिभा का पता स्कूल-काल मे नही लगता। अतः बहुत प्रारम्भ मे ही बुद्धि-परीक्षा द्वारा उनका पता लगा लेना आवश्यक है। कभी-कभी ऐसा होता है कि वातावरण के कारण कुछ बालक प्रारम्भ में बहुत कुशाग्र बुद्धि दिखलाई पडते हैं, पर वस्तुतः वे ऐसे होते नही। ऐसे बालक आगे चलकर साधारण कोटि के हो जाते हैं। यदि प्रारम्भ में ही इनकी बुद्धि-परीक्षा की जाय तो ये प्रतिभावान् की कोटि मे नही आ सकते। ऐसे बालको को अकाल-प्रौढ़ (प्रीकोशस) बालक कहते हैं। ऐसे तीव्र बालक समय से पहले ही बढे हुए दिखलाई पडते है। उदाहरणार्थ; सात वर्ष की अवस्था मे वे नौ वर्ष के बालक के सदृश् प्रतिभा दिखला सकते है। उनका शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा दिखलाई पडता है। अतः ऐसे चिन्ह बुरे नहीं हैं। पर यह निश्चय कर लेना चाहिये कि बालक की बुद्धि समय के पहले बढती रही है, अथवा वह वास्तव मे प्रतिभावान् है। इसका पता बुद्धि-परीक्षा से ही लग सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी अच्छे अध्यापक, साथी अथवा उत्साही अभिभावक की प्रेरणा से बालक बहुत सी बाते अपने समय से पहले सीखने लगता है। कुछ माता-पिता यह देखकर फूले नही समाते, और अपने बालक की कुशाग्रता का ढिढोरा पीटते फिरते हैं। यदि दबाव से बालक को कुछ अधिक पढाया गया तो प्रारम्भ में वह भले ही अधिक सीख ले, पर आगे चलकर उसका मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है।

अकाल-प्रौढ बालको की सख्या अधिक नही होती। ये प्रायः उन्ही घरों मे पाये जाते हैं जहाँ दूसरे लोग उनके पिता की चापलूसी करने आया करते हैं और इस चापलूसी का भाजन बेचारे बालक को भी बनाते हैं। यदि पिता कोई अफसर, हेडमास्टर अथवा प्रिन्सीपल हुआ तो उसके यहाँ कुछ चापलूस लोगो का आना अवश्य ही होता है। ये लोग बालको के साथ खेलते हैं और उनकी साधारण सी साधारण बात की प्रशसा करते थकते नही। बालक अपनी प्रशसा सुनता है। वह और भी अधिक प्रशसा पाने के लिये इधर-उधर की बाते सीख लेता है। प्रारम्भिक प्रेरणा से वह पढने मे भी मन लगाता है और कुछ ऐसी बाते सीख कर दूसरे को सुनाना चाहता है जिससे लोग उसकी और भी प्रशसा करे। फलतः स्कूल मे भी वह अच्छा नाम पाता है। स्कूल के कुछ अध्यापक अफसरो तथा अपने हेडमास्टर अथवा प्रिन्सीपल के बालकों पर कक्षा मे भी कुछ विशेष ध्यान देते हैं। इस प्रकार प्रारम्भ मे ऐसा बालक अपनी प्रतिभा दिखलाने मे सफल होता है, पर उसका प्रयत्न बहुत अधिक दिनो तक नही चलता। जब उसकी अवस्था बढ जाती है अर्थात् जब वह तेरह-चौदह वर्ष का हो

1. The Precocious Child.

जाता है, तो लोग उसकी अनायास प्रशंसा कम करते हैं, क्योंकि तब वह पहले के सदृश् आगन्तुकों के सम्पर्क में नहीं आता और पिता भी उसको कुछ स्वतन्त्रता देने लगता है। फलतः वह अपनी साधारण कोटि मे आ जाता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि अकाल-प्रौढता का कारण वशानुक्रम और वातावरण दोनो हैं। पर जो वातावरण पर अधिक जोर देते हैं उनका कहना है कि अकाल-प्रौढ़ बालक भी शिक्षक के लिये आगे चलकर एक समस्या ही उपस्थित करते है। इसका एकमात्र उपाय यही है कि स्कूल-जीवन के प्रारम्भ मे ही बालक की बुद्धि-परीक्षा कर ली जाय और यथा-सम्भव प्रतिवर्ष यह परीक्षा होती रहे। यदि बालक पर बौद्धिक विकास[1] के लिये अनुचित दबाव न डाला गया तो अकाल-प्रौढता उसमें आवेगी ही नहीं। अतः अभि-भावकों और शिक्षकों को इस विषय में बडा सतर्क रहना चाहिये।

३—प्रतिभावान् बालिका

लोगो की यह धारणा है कि बालिकाये बालको से मानसिक विकास मे पीछे रहती हैं। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से यह धारणा गलत सिद्ध कर दी गई है। किन्तु जो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो से परिचित नहीं, उनकी ऐसी धारणा अब तक वर्तमान है। पुराने शिक्षक जो कि मनोविज्ञान में कम रुचि रखते हैं वे अब भी नहीं जानते कि बालिका की बुद्धि बालिका होने के नाते बालक से कम नहीं होती। बुद्धि, व्यक्तित्व शारीरिक व सामाजिक गुण, तथा रुचि मे प्रतिभावान् बालिका प्रतिभावान् बालक से नीचे नहीं होती। इन सब बातो मे साधारण बालिका साधारण बालक से कम नहीं होती। टरमैन का कहना है कि तेरह वर्ष तक बालिकायें बालको से बुद्धि मे कुछ अधिक बढ़ती हैं। चौदहवें वर्ष से उनकी बाढ कुछ रुक जाती है। अन्वेषण के आधार पर यह पाया गया है कि अंकगणित तथा साधारण ज्ञान मे प्रतिभावान् बालक प्रतिभा-वान् बालिका से अच्छा होता है। लगभग ग्यारह वर्ष तक बालिका की भाषा-शक्ति बालक से अधिक होती है। यह देखा गया है कि प्रतिभावान् बच्चे साधारण बच्चो की अपेक्षा शीघ्र बातचीत करना और चलना सीख लेते हैं। लडकियाँ लडको से कला, संगीत तथा नाटक आदि मे अच्छी होती हैं। उनकी रुचियाँ लडको से कुछ भिन्न होती हैं। संवेगात्मक बातो से भरी हुई पुस्तको को पढना वे अधिक पसन्द करती हैं। वीर-रस की कहानियाँ उन्हे मनोरंजक नहीं लगती। लडकियो की स्कूल से अनुपस्थिति का प्रतिशत लडको से कम होता है।

४—प्रतिभावान् की शिक्षा-व्यवस्था

"वैयक्तिक भेद और शिक्षा में उसकी व्यवस्था" नामक अध्याय मे प्रतिभावान्

---

1. Intellectual Development

तथा मन्द बालकों की शिक्षा-व्यवस्था पर कुछ प्रकाश डाला गया है। पर प्रसंगवश उन्हीं बातों को कुछ और विस्तार से यहाँ दोहरा देना आवश्यक जान पड़ता है। प्रतिभा-वान् बालकों की शिक्षा का मन्द-बुद्धि बालकों की अपेक्षा अधिक अवहेलना की गई है, क्योंकि वे स्कूल के लिये उतनी विकट समस्या नही दिखलाई पड़ते। पर इन बालकों की शिक्षा-व्यवस्था में विशेष कठिनाई नही दिखलाई पड़ती। पाठ्य-वस्तु मे उचित परिवर्त्तन से ही इनकी समस्या हल हो सकती है। अतः सबसे पहले इनके झुकाव (ऐप्टीट्यूड) की परीक्षा करनी चाहिये। इनके झुकाव का पता लग जाने पर शिक्षा के आवश्यक साधनों का आयोजन करना कठिन न होगा। आयु-वृद्धि के साथ प्रतिभावान् बालकों में स्वतन्त्रता का अधिक विकास हो जाता है। अतः किशोरावस्था[1] के मध्य मे पहुँच जाने पर इन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नही; क्योकि अपने पथ का निर्धारण वे स्वयं कर लेने में सफल हो जाते हैं। स्कूल-जीवन में उनके लिये ऐसा प्रयत्न करना है कि वे अधिक से अधिक सीख सकें। उनका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य साधारण बालकों की अपेक्षा उत्कृष्टतर होता है। अतः उनका पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि वे भविष्य में समाज का नेतृत्व कर सके। उनमें विचार-शक्ति की वृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये जिससे वे अमूर्त[2] वस्तु के विषय में भी अधिक शीघ्र कल्पना कर सकें। इसके लिये उन्हे साहित्य, कला तथा विज्ञान आदि विषयों के रहस्यो को समझने के लिये उत्साहित करना चाहिये। यदि स्कूल-जीवन में इन सब विषयो के लिये उनमे रुचि उत्पन्न हो गई तो भविष्य में वे उनमे स्थायी कार्य कर सकेंगे। पाठ्य-वस्तु मे ज्ञान, कौशल तथा आदर्श की प्रचुरता से ही वे नेता के गुणों को प्राप्त रक समाज का नेतृत्व करने मे सफल हो सकेंगे।

प्रतिभावान् बालको की शिक्षा के लिये चार प्रकार की व्यवस्था का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) एक कक्षा से दूसरी कक्षा मे शीघ्र चढा देना।

(२) पाठ्य-वस्तु को विस्तृत करना।

(३) वैयक्तिक विधि से शिक्षा देना।

(४) वर्गीकरण करके पढाना।

नीचे हम प्रत्येक की ओर अति सक्षेप में सकेत करेंगे।

(१) एक कक्षा से दूसरी कक्षा में शीघ्र पहुँचा देने से बालक को उत्साह मिल जाता है। इससे समय की बचत होती है। योग्य बालक अपने मानसिक विकास के लिये इस प्रकार पूर्ण अवसर प्राप्त करता है। छोटी कक्षाओं को शीघ्र पार कर लेने पर भविष्य में उन्हे बड़ी सुविधा रहती है। परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से कक्षा में

1. Adolescence. 2. Abstract.

शीघ्र चढा देने की प्रणाली की आलोचना की गई है। कुछ विशेषज्ञो का कहना है कि इससे प्रतिभावान् बालको को अपने से बहुत बडे उम्र के बालकों के साथ पढ़ना पड़ता है, और इसका प्रभाव ठीक नही पड़ता। छोटे लड़के बड़ो से मिलना पसन्द नही करते। फलत. बड़े लड़कों के साथ पढने से उन्हे सामाजिक भावना के विकास के लिये उपयुक्त अवसर न मिलने का डर रहता है। एक कक्षा से दूसरी कक्षा मे शीघ्र चढ़ा देने से कुछ विषयो का अध्ययन छूट जाता है और इनकी पूर्ति कभी नही होती।

(२) पाठ्य-वस्तु को विस्तृत कर देना अधिक मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है। पाठ्य-वस्तु को विस्तृत करने का तात्पर्य यह है .—कल्पना कीजिये, कक्षा में शिवाजी का चरित्र पढाया जा रहा है। पाठ्य-पुस्तक मे शिवाजी पर आया हुआ पाठ प्रतिभावान् बालक के लिये बहुत छोटा है और उसका वह शीघ्र अध्ययन कर लेता है। ऐसी दशा में शिक्षक को चाहिये कि शिवाजी पर कोई बडी पुस्तक पढने के लिये प्रतिभावान् बालक को उत्साहित करे। इसी प्रकार अन्य पाठो के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। पाठ्य-वस्तु को विस्तृत करने के अतिरिक्त शिक्षक को अपनी विधि में भी कुछ परिवर्त्तन करना होगा। प्रतिभावान् बालको से एक ही वस्तु को बार-बार दोहराने के लिये नही कहना चाहिये। किसी विषय को सीख लेने पर उसे बार-बार दोहराना उन्हे बड़ा बुरा लगता है। प्रतिभावान् बालको को साधारण बालकों की अपेक्षा कठिन अभ्यास देना चाहिये। उदाहरणार्थ; यदि साधारण बालक को चार अंकगणित के प्रश्न दिये गये हैं तो प्रतिभावान् बालक को दस या अधिक कठिन प्रश्नों को देना चाहिये। कभी-कभी उन्हे दूसरों की सहायता करने के लिये भी उत्साहित किया जा सकता है।

(३) वैयक्तिक विधि से प्रतिभावान् बालकों की शिक्षा-व्यवस्था में उनकी उन्नति के लिये प्राय. उन्ही को उत्तरदायी बना दिया जाता है और कक्षा की शिक्षा पर विशेष ध्यान नही दिया जाता। वैयक्तिक कार्य पर ही सबसे अधिक बल दिया जाता हैं। निश्चित अवधि के लिये पूरा काम दे दिया जाता है। अन्त मे शिक्षक निरीक्षण करता है कि बालक ने कहाँ तक उसे किया है। पर यह सदा ध्यान रखा जाता है कि एक विषय को बिना भली-भाँति पढे वह आगे न बढे और प्रत्येक कार्य-क्रम के सम्पादन के पश्चात् उसकी योग्यता का ठीक-ठीक अनुमान लग जाय।

(४) प्रतिभावान् बालको का पृथक वर्गीकरण करके पढाना अधिक मनोवैज्ञानिक नही लगता। ऐसा करने से उनमे गर्व आ सकता है और निर्बल और असहाय लोगों के प्रति उनमें सहानुभूति का अभाव हो सकता है। इस दोष से बचने के लिये उन्हे ऐसा कठिन कार्य देना चाहिए जिसे करने में उन्हे अपनी सारी शक्ति लगा देनी हो।

५—पिछड़े हुए बालक[1]

कक्षा मे पिछडे हुए बालको की उपस्थिति साधारण तथा प्रतिभावान् दोनो प्रकार के बालको के लिये हानिकर होती है, और इससे पिछडे हुए बालक मे भी आत्म-हीनता का भाव आ जाता है और उसकी भी उन्नति रुक जाती है। शिक्षक किसी विषय को उन्हे समझाने के प्रयत्न मे अपना अध्यापन-कार्य दूसरे बालको के लिये अरुचिकर बना देता है। सबसे पहले बुद्धि-परीक्षा द्वारा पिछड़े हुए बालको का पता लगाना चाहिये। वास्तव मे यथासम्भव बुद्धि-परीक्षा के बाद ही पढाई के लिए बालको का वर्गीकरण करना चाहिये। बालको की बुद्धि-परीक्षा वैयक्तिक विधि से करनी चाहिये। सामूहिक बुद्धि-परीक्षा से ठीक-ठीक पता नही चल सकता। यदि बालक ने कुछ दिन तक स्कूल में शिक्षा प्राप्त कर ली है तो उसकी ज्ञान-परीक्षा भी लेनी चाहिये, क्योंकि कक्षा मे मन्द दिखलाई पड़ने में ही किसी बालक को मन्द-बुद्धि मान लेना न्यायपूर्ण न होगा। कक्षा में पिछड़े होने के आन्तरिक और वाह्य दो कारण होते हैं। आन्तरिक कारण मे बुद्धि की हीनता तथा कुछ ज्ञानेन्द्रियों की निर्बलता आ सकती है। प्राकृतिक निर्वलता पर हमारा अधिकार नही। हमें बालक के साथ एक सीमित वातावरण मे ही काम करना होगा। वाह्य कारण में बालक की पारिवारिक परिस्थिति तथा उसकी मित्र-मण्डली आ सकती है। कभी-कभी बालक बुरी पारिवारिक स्थिति के कारण किसी प्रकार की आवश्यक सुविधा पाने मे असमर्थ रहता है। ऐसी सुविधा के अभाव में साधारण बुद्धि का होते हुए भी वह कक्षा मे पिछडा रहता है। कभी-कभी सारी सुविधा पाने पर भी बुरे साथियो मे पड जाने से उसकी अवनति हो जाती है। अतः बालक के वाह्य और आन्तरिक दोनो कारणो का पता लगाना आवश्यक है। वाह्य कारण का पता लगाने के लिये हमे बालक के कुटुम्ब का सूक्ष्म अध्ययन करना होगा। किसी ज्ञानेन्द्रिय की निर्बलता के बारे में भी जानने के लिये यह अध्ययन सहायक होगा। इससे यह पता लग जायगा कि उसकी निर्बलता वशानुक्रमीय हैं अथवा वातावरण के प्रभाव से। उदाहरणार्थ; कोई बालक जन्म से ही बहरा उत्पन्न हो सकता है और कोई जन्म के वाद अवैज्ञानिक पालन-पोषण की विधि से भी ऐसा हो सकता है। इन सब बातो के पता से उसकी शिक्षा के उपकरणो का आयोजन करना कुछ सरल हो जाता है। पिछडे हुए बालकों का हम निम्नलिखित भेद कर सकते हैं :—

१—जो पारिवारिक परिस्थिति अथवा वातावरण आदि के कारण पीछे हो[2]।

२—मन्द-बुद्धि वाला[3]।

1 The Backward Children. 2. Backward due to family and environmental circumstances. 3. Mentally retarded.

३—किसी ज्ञानेन्द्रिय के निर्बल होने के कारण; जैसे, दृष्टि और श्रवण दोष[1] इत्यादि।

४—शारीरिक दोषयुक्त[2]।

५—हकलाने वाला बालक[3]।

हम प्रत्येक पर नीचे सक्षेप में विचार करेंगे।

(१) वातावरण के कारण पिछड़े हुए बालक की शिक्षा—

इस प्रकार के बालको की शिक्षा-व्यवस्था मे कोई विशेष कठिनाई नही। उनके लिये केवल आवश्यक साधनो का अयोजन कर देना है। पुस्तको के अभाव मे उनके लिये उनका प्रबन्ध कर देना चाहिये। यदि ठीक से भोजन न मिलने के कारण उनका स्वास्थ्य अच्छा न हो तो स्कूल-समय मे उनके लिये कुछ पुष्टकर खाद्य-वस्तु का प्रबन्ध आवश्यक है। प्रधानाध्यक को उचित है कि वह बालक के पिता अथवा अभिभावक से बालक के विषय मे भली-भाँति बात करे और उन्हे यह समझा दे कि यथासम्भव घरेलू कार्यो के कारण बालक की पढाई में विशेष विघ्न न पडे। कभी-कभी कुछ माता-पिता बालको की पढाई से उदासीन हो कर अपने काम मे उनसे सहायता लेते हैं। बालक की पढाई के हित मे यह हानिकर है। अत अभिभावकों को उचित है कि बालक के पढाई मे यथासम्भव इस प्रकार का विघ्न न डाले।

(२) मन्द-बुद्धि बालक की शिक्षा—

मन्द-बुद्धि बालकों की शिक्षा-व्यवस्था में अवश्य कठिनाई होती है। इन पर विशेष ध्यान देना आवश्यक होगा। सबसे अच्छा तो यह होगा कि इनके लिये 'विशेष कक्षा' का आयोजन हो। अन्य बालको के लिये बनाई पाठ्य-वस्तु इनके लिये हितकर नही हो सकती, क्योकि इनकी बुद्धि निर्धारित विषयो के समझने मे समर्थ नही होती। बहुधा देखा जाता है कि ऐसे बालक बौद्धिक कार्य मे तो साधारण बालको से अवश्य पीछे होते हैं, पर शारीरिक अथवा क्रियात्मक कार्यो मे वे पीछे नही होते, वरन् इनमे वे उनसे कही आगे होते हैं। अत उन्हे विशेषकर व्यावहारिक विषयो को ही पढाना लाभप्रद होगा। जिन विषयो का वे अपने जीवन मे उपयोग नही कर सकते उन्हे इन्हे न पढाना चाहिये। उदाहरणार्थ, अकगणित का व्यापारिक अग ही इन्हे पढ़ाना ठीक होगा। भाषा-शक्ति पर कुछ विशेष ध्यान देना होगा, जिससे वे अपने विचारो को सरल शब्दो मे व्यक्त कर सके। गिनना तथा नापना सीखना इनके लिये उपयोगी होगा। कुछ साधारण विषयो के अतिरिक्त इन्हे कौशल-सम्बन्धी विषय भी पढ़ाना लाभप्रद सिद्ध होगा।

---

1. Visual or Auditory defects. 2. Physically handicapped. 3. Stammerer

हमारे देश में मन्द-बुद्धि बालको के लिये स्कूलो का नितान्त अभाव है। क्या बिना अलग स्कूल खोले मन्द-बुद्धि बालकों की शिक्षा की कोई व्यवस्था नही हो सकती ? इनकी शिक्षा के लिये साधारण स्कूल मे ही एक विशेष कक्षा खोली जा सकती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह ठीक नही जान पडता। ऐसी व्यवस्था से मन्द-बुद्धि बालको का भला तो होगा, पर उनमे आत्म-हीनता की भावना आ सकती है। दूसरे बालक "मूर्ख" कह कर इनकी ओर सकेत कर सकते हैं। अतः अच्छा तो यही होगा कि मन्द-बुद्धि बालको का एक अलग ही स्कूल खोला जायगा। पर इसकी भी आलोचना की जाती है। यदि सभी मन्द-बुद्धि बालक एक स्थान पर केन्द्रित कर दिये जाँय तो उनके उत्साह में कमी आ जायगी और सामाजिक भावना का विकास उनमें कम होगा। उनका क्षेत्र बड़ा संकुचित हो जायगा। साधारण बालको के साथ पढ़ने में उनके सामने हर समय एक अच्छा आदर्श उपस्थित रहता है। ऐसी कठिनाई के निराकरण में यदि विषय के अनुसार कक्षा की व्यवस्था की जाय तो अच्छा होगा, अर्थात् एक घण्टे में हर कक्षा मे एक ही विषय पढ़ाया जाय, और बालक अपनी योग्यतानुसार विभिन्न कक्षा में पढ़ने बैठें। अमेरिका मे इस सिद्धान्त पर कुछ प्रयोग किया गया है और इसमे कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है।

(३) ज्ञानेन्द्रियों की निर्बलता के कारण पिछड़ा हुआ बालक—

गूँगे, अन्धे तथा बहरे आदि दोष वाले बालको की शिक्षा की व्यवस्था तो इनके लिये बने हुए विशेष स्कूलो ही द्वारा की जा सकती है। इनकी यहाँ चर्चा करना हमारी परिधि के बाहर है। पर जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ कुछ निर्बल हैं उनकी ओर कक्षा मे कुछ विशेष ध्यान दिया जा सकता है। जिन बालकों की दृष्टि और श्रवण-शक्ति कमजोर है उनकी ओर कक्षा ही मे शिक्षक कुछ विशेष ध्यान दे सकता है। ऐसे बालको की डाक्टरी परीक्षा होनी चाहिये। पर शिक्षक भी इन दोषो का पता सरलता से लगा सकता है। आँख से पुस्तक की दूरी, सिर की स्थिति, श्यामपट्ट, दिवाल-चित्र आदि की ओर देखने मे उसकी मुद्रा, आँखो का रगडना, कुछ पढते समय भौहो का सिकोड लेना, आदि के देखने से दृष्टि-दोष का अनुमान लगाया जा सकता है। श्रवण-दोष का पता लगाना कठिन नही। कोई बात सुनने के प्रयत्न मे बालक थोड़ा आगे को सिर बढा देता है अथवा एक हाथ कान के यहाँ लगा देता है। दृष्टि अथवा श्रवण-शक्ति दोष वाले बालकों की बुद्धि यदि साधारण हो तो उन्हे साधारण बालको के साथ पढाया जा सकता है। इन बालकों को कक्षा मे सबसे आगे बैठाना चाहिये। दृष्टि-दोष युक्त बालक पर सदा ध्यान रखना चाहिये जिससे उसकी आँख पर बल न पड़ने पावे। श्रवण-शक्ति के दोष-वाले बालक को शिक्षक तथा अन्य बालको से बातचीत करते समय उनके मुँह की ओर देखने के लिये उत्साहित करना चाहिये। बातचीत करते समय दूसरों के होंठ के अध्ययन

करने के लिये उन्हे सदा कहते रहना चाहिये । घर पर भी दर्पण के सामने उन्हे सस्वर पढने के लिये कहना चाहिये । ऐसा करने से उन्हे अनुमान होने लगेगा कि किसी ध्वनि के निकालने पर होठो का आकार कैसे बनता है। इस प्रकार कभी-कभी ध्वनि को ठीक न सुनने पर भी होठो के आकार को देख कर ठीक शब्द का वे अनुमान लगा लेंगे ।

(४) अपंग बालक—

किसी बीमारी अथवा दुर्घटनावश अपंग हो जाने वाले बालक की भी शिक्षा पर ध्यान देना आवश्यक है। कदाचित् बुद्धि-परीक्षा से ज्ञात होगा कि ऐसे बालक मन्द-बुद्धि नही होते। अतः इनकी बुद्धि-परीक्षा कर लेनी चाहिये और तदनुसार उनकी शिक्षा देने की व्यवस्था करनी चाहिये । ऐसे बालको को सगीत, चित्रकला, तथा किसी उचित व्यावसायिक कौशल मे शिक्षा देनी चाहिए । अपग व्यक्ति को सदा सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिये । उनका उपहास करना मानवोचित नही । पर उन्हे यह सिखला देना चाहिये कि उन्हे सभी नैतिक और सामाजिक बन्धन मानने होगे, जिससे अपनी अपंगता का वे अनुचित लाभ उठाने की कामना न करे ।

(५) हकलाने वाला बालक—

हकलाने वाला बालक भी शिक्षको के ध्यान न देने से पिछड़ा हुआ हो जाता है । मनोवैज्ञानिकों ने अपने अन्वेषण से यह सिद्ध कर दिया है कि हकलाना, तुतलाना तथा अन्य वाक्-दोष संवेगात्मक अस्थिरता[1] के ही कारण होते हैं। भावना-ग्रन्थियो के उल्लेख में हम इस पर प्रकाश डाल चुके हैं। यदि इन सब दोषो के अन्तर्निहित कारणो को समझ लिया जाय तो उन्हे दूर करना कठिन न होगा। कई लोगो के विषय में देखा गया है कि इनके कारण का जान लेना ही इन दोषो के दूर करने का सबसे बड़ा उपाय सिद्ध होता है । हकलाना दूर करने के लिये आत्म-विश्वास शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। अत शिक्षक को चाहिये कि बालक में आत्म-विश्वास की शक्ति भर दे । सामूहिक कार्यो मे भाग लेने की रुचि भी बालक में उत्पन्न कर देनी चाहिये। संगीत, नाटक तथा भाषण इत्यादि मे भाग लेने के लिये बालक को सदा उत्साहित करते रहना चाहिये । बालक के साथ ऐसा व्यवहार हो कि कक्षा में वह सुख का अनुभव करे । शिक्षक को चाहिये कि उसे अपने निकट बैठावे, जिससे उसका भय धीरे-धीरे निकल जावे । जिन कार्यो में बोलने की आवश्यकता नही होती उनमें सर्वश्रेष्ठ होने के लिये बालक को सदा उत्साहित करना चाहिये । हकलाने वाला बालक अपने को अयोग्य मान लेता है । यह मनोवृत्ति उसमें से निकाल देनी चाहिये। किसी प्रश्न के उत्तर मे उसे पूर्ण वाक्य बोलने के लिये विवश न करना चाहिये । 'एक शब्द का' ही उत्तर यदि ठीक हो तो उसे स्वीकार

---

1. Emotional Stability.

कर लेना उचित है। शिक्षक को देखना चाहिये कि उसके बोलने पर दूसरा बालक हँसता नही, वरन् चुपचाप सुनता है। जिस सामाजिक सेवा में बोलने की आवश्यकता नही होती उसे सदा हकलाने वाले बालक से ही करवानी चाहिये, इससे उसमे कुछ आत्म-शक्ति की वृद्धि होगी।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

निर्धारित पाठ्य-वस्तु जिन्हें कम या अधिक होती है उनकी शिक्षा-व्यवस्था एक समस्या।

१—प्रतिभावान् बालक

निर्धारित वस्तु को निर्धारित समय से बहुत पहले सीख लेने वाला; स्वास्थ्य, सवेगात्मक तथा सामाजिक विकास मे भी बडा उदार और आत्म-आलोचना की शक्ति।

कई प्रकार के विषयो मे प्रवीणता, विटी के अन्वेषण, ध्यान की शक्ति अधिक, मौलिकता और जिज्ञासा अधिक, तर्क-शक्ति पर्याप्त, माता-पिता उसे समझने मे असमर्थ।

२—अकाल-प्रौढ़ बालक

समय से पहले बढा हुआ, बुद्धि-परीक्षा आवश्यक, वातावरण का विशेप प्रभाव, संख्या अधिक नही, बौद्धिक विकास पर अनुचित दबाव नही।

३—प्रतिभावान् बालिका

बालिका का मानसिक विकास बालक से पीछे नहीं, दोनों की तुलना।

४—प्रतिभावान् की शिक्षा-व्यवस्था

प्रतिभावान् बालकों की अधिक अवहेलना; व्यवस्था मे विशेष कठिनाई नही, पाठ्य-वस्तु में परिवर्त्तन, अधिक से अधिक सिखाना, विचार-शक्ति की वृद्धि के लिये परिवर्त्तन करना, ज्ञान, कौशल तथा आदर्श की प्रचुरता।

उत्साह, समय की बचत, सामाजिक दृष्टिकोण से यह अमनोवैज्ञानिक।

पाठ्य-वस्तु वितृत करना अधिक मनोवैज्ञानिक, शिक्षणविधि में भी परि-वर्त्तन, कठिन अभ्यास देना, दूसरों को सहायता देने के लिये उत्साहित करना।

उनकी उन्नति के लिये उन्ही को उत्तरदायी बनाना, निश्चित अवधि के लिये पूरा काम, शिक्षक द्वारा निरीक्षण।

पृथक वर्गीकरण से दम्भी हो जाने का डर।

५—पिछड़े हुए बालक

कक्षा में उनकी उपस्थिति हानिकर, वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षा द्वारा उनका पता लगाना, पिछडने के आन्तरिक और वाह्य दो कारण, दोनो कारणो का पता लगाना आवश्यक।

(१) वातावरण के कारण पिछड़े हुए बालक की शिक्षा—

आवश्यक साधनो का आयोजन, अभिभावको से सम्पर्क।

(२) मन्द-बुद्धि बालक की शिक्षा—

विशेष कक्षा का आयोजन, सामान्य पाठ्य-वस्तु उपयोगी नही, शारीरिक कार्यो मे आगे, व्यावहारिक विषयो को पढाना अधिक लाभप्रद, भाषाशक्ति पर विशेष ध्यान, कौशल-सम्बन्धी विषय भी।

एक घण्टे में हर कक्षा मे एक ही विषय का पढाया जाना।

(३) ज्ञानेन्द्रियो की निर्बलता के कारण पिछड़ा हुआ बालक—

कक्षा में कुछ विशेष ध्यान, डाक्टरी परीक्षा, शिक्षक के लिए भी स्वय पता लगाना सम्भव, बुद्धि साधारण हो तो सबके साथ ही शिक्षा की व्यवस्था, शिक्षक का विशेष ध्यान, श्रवण-शक्ति दोषयुक्त बालक को शिक्षक की सहायता।

(४) अपंग बालक—

बुद्धि-परीक्षा आवश्यक, व्यावसायिक कौशल सम्बन्धी ज्ञान, उपहास नही।

(५) हकलाने वाला बालक—

ध्यान न देने से पिछडा हुआ, सवेगात्मक अस्थिरता के ही कारण, अन्तर्निहित कारणो को समझना, आत्म-विश्वास की आवश्यकता, सामूहिक कार्यो मे भाग लेने के लिये उत्साहित करना, भय दूर करना, पूर्ण वाक्य बोलने के लिये विवश न करना, प्रोत्साहन देना।

सहायक पुस्तकें

१—हेक, ए० ओ०—द एडूकेशन ऑव एक्सेप्शनल चिल्ड्रेन।

२—वेण्टेली—द सुपीरियर चाइल्ड।

३—फीदरस्टोन, डब्लू० बी०—द करीक्यूलम ऑव द स्पेशल क्लास।

४—बेकर, हैरी, जे०—इन्ट्रोडक्शन टु एक्सेप्शनल चिल्ड्रेन।

५—चाइल्ड रिसर्च क्लिनिक ऑव द उड्स स्कूलस्, लैङ्गहॉर्न, पा०, न्यू कण्ट्रीब्यूशन्स ऑव साइन्स टु द एक्सेप्शनल चाइल्ड (१९३५)।

६—शीडमैन, नॉर्म० वी०—द साइकॉलॉजी ऑव द एक्सेप्शनल चिल्ड्रेन।

७—इनग्रैन, सी० पी०—एडूकेशन ऑव द स्लो लर्निङ्ग चाइल्ड।

८—ब्रनश्विग, शिली—परसनॉलिटी स्टडी ऑव् डेफ़ चिल्ड्रेन।
९—केनेडी फ्रेसर—एडूकेशन ऑव् द वैकवर्ड चाइल्ड।
१०—कैलीफोर्निया स्टेट डिपार्टमेन्ट ऑव् एडूकेशन—एडूकेशन ऑव द फिज़ीकली हैण्डीकैप्ड चिल्ड्रेन, १९४१, बुलेटीन, भाग १०, नम्बर १२।
११—विटी, पी० ए० ऐण्ड थोर्प—परसनॉलिटी डेवलपमेण्ट इन द फीबिलमाइण्डेड ऐण्ड द ग्रिफटेट।
१२—सरयूप्रसाद चौबे—बाल मनोविज्ञान।
१३— ,, ,, —किशोर मनोविज्ञान की भूमिका।
१४— ,, ,, —बाल विकास।
१५— ,, ,, —"अपराधी बालक—कारण और उपचार"—शिक्षा अक्टूबर १९५६।
१६— ,, ,, —"किशोरों की शिक्षा सम्बन्धी कुछ मनोवैज्ञानिक बातें"—शिक्षा—अप्रैल १९५५।

———

२६

आवश्यकताएँ, प्रेरणाएँ और भग्नाशा[1]

अध्याय ६–९ में हम देख चुके हैं कि प्राणी का व्यवहार मूलप्रवृत्तियो तथा उनसे सम्बन्धित सवेगो से परिचालित होता है। परन्तु मनोवैज्ञानिको का एक वर्ग मूलप्रवृत्तियो को प्राणी के व्यवहार का कारण नही मानता। यह वर्ग प्राणी के वातावरण[2] पर अधिक ध्यान देता है और इसका विश्वास है कि व्यक्ति का व्यवहार वातावरण और शिक्षा पर अधिक निर्भर करता है, न कि सक्रमित मूलप्रवृत्तियो पर। इस धारणा के पोषक मनोवैज्ञानिको का विश्वास है कि वातावरण का प्राणी की मनोवृत्ति पर प्रभाव पडता है। इस प्रकार प्राणी अपनी कुछ मनोवृत्तियाँ वातावरण में रहकर अर्जित करता है। इसके अतिरिक्त उसकी कुछ स्वाभाविक[3] मनोवृत्तियाँ होती हैं। इन स्वाभाविक मनोवृत्तियो को मनोवैज्ञानिको ने प्रेरणाओ[4] की संज्ञा दी है। व्यक्ति के विविध आचरण और व्यवहार इन स्वाभाविक और अर्जित मनोवृत्तियों से ही नियन्त्रित होना है। अमेरिका (यू० एस० ए०) के अधिकाश मनोवैज्ञानिक इसी धारणा के पोषक हैं। उन्हे मूलवृत्तियो का अस्तित्व स्वीकार्य नही। उन्होने स्वाभाविक मनोवृत्तियो को प्रेरणाओ की सज्ञा दी है। इन प्रेरणाओ से सम्बन्धित कुछ आवश्यकतायें होती हैं। इन आवश्यकताओ की अनुभूति से प्राणी विभिन्न प्रकार के व्यवहार दिखलाने के लिए अभिप्रेरित होता है। आवश्यकताओ का स्वरूप सर्वप्रथम स्वाभाविक होता है। बाद में स्वाभाविक आवश्यकताओ के आधार पर व्यक्ति अपने वातावरण के अनुसार कुछ आवश्यकताओ का अर्जन भी करता है। इस प्रकार आवश्यकताओं के दो भेद किये जा सकते हैं—स्वाभाविक[5] और अर्जित[6]।

इनके अतिरिक्त आवश्यकताओ का वर्गीकरण प्राथमिक[7] और गौण,[8] शारीरिक[9] और मनोवैज्ञानिक[10], तथा दैहिक[11] और सामाजिक[12] रूप मे भी किया जाता है। मनोवैज्ञानिको के इस नवीन दृष्टिकोण पर भी थोडा प्रकाश डाल देना यहाँ

---

1. Needs and Drives or Motives (लेखक द्वारा रचित, मनोविज्ञान, अध्याय १०, द्वि० सं० आगरा बुक स्टोर, आगरा १९५६). 2. Environment. 3. Natural Dispositions. 4 Motives or Drives. 5 Natural. 6. Acquired. 7. Primary. 8. Secondary. 9. Physiological. 10. Psychological. 11. Biological. 12. Social.

आवश्यक जान पड़ता है। अतः नीचे हम इसी पर आ रहे हैं; साथ ही यथास्थान आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के शैक्षिक महत्व की ओर भी संकेत किया जायगा।

आवश्यकतायें

व्यक्तियों की आवश्यकताओं में भिन्नता[1]—

ऊपर यह सकेत किया जा चुका है कि प्राणी के बहुत से व्यवहार उसकी विविध आवश्यकताओ से नियन्त्रित होते हैं। अतः उसके व्यवहार को समझने के लिए उसकी आवश्यकताओ का समझना आवश्यक है। एक जाति के प्राणी की आवश्यकता दूसरे जाति के प्राणी की आवश्यकता से भिन्न होती है। इतना ही नही, वरन् एक ही जाति के प्राणियो की आवश्यकताओं मे विभेद पाया जाता है। अपने-अपने विकास तथा वातावरण के अनुसार लोग विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं का अनुभव करते एक शिशु की आवश्यकता एक प्रौढ व्यक्ति से भिन्न होती है और एक वृद्ध की आवश्यकता प्रौढ से भिन्न होगी। वातावरण मे विभेद के कारण ठण्ड और गरम देश के व्यक्तियो की आवश्यकताओ मे भिन्नता पाई जाती है। स्पष्ट है कि व्यक्ति की शिक्षा का आयोजन उसकी विशिष्ट आवश्यकता के अनुसार करना चाहिए। एक वातावरण के लिए उपयुक्त शिक्षा-व्यवस्था दूसरे वातावरण के लिए अनुपयुक्त ठहर सकती है। अतः शिक्षा के आयोजन मे हमें व्यक्ति की आवश्यकताओ और वातावरण की विशिष्टताओ पर ध्यान देना है।

प्राथमिक और गौण आवश्यकतायें—

प्राथमिक आवश्यकताये वे है जिनकी पूर्ति के विना व्यक्ति का जीना कठिन हो हो जाय। यदि प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति न की जाय तो गौण आवश्यकताओं का प्रश्न ही न उठेगा, क्यो कि तब प्राणी मर जायगा। व्यक्ति अपने अनुभव से गौण आवश्यकताओ का अपने मे जागरण करता है। एक व्यक्ति का अनुभव दूसरे से भिन्न होता है। अत एक व्यक्ति की गौण आवश्यकताये दूसरे की गौण आवश्यकताओं से भिन्न हो सकती हैं। गौण आवश्यकताये प्राथमिक से व्यक्ति के लिए कम महत्वपूर्ण नही होती। कभी-कभी गौण आवश्यकताये ही किसी के लिए प्राथमिक का रूप ले लेती हैं। तब प्राणी प्राथमिक आवश्यकताओ की भी अवहेलना कर बैठता है। जैसे, धन-संकलन की गौण आवश्यकता किसी के लिए इतनी प्रवल हो सकती है कि वह खाने-पीने की प्राथमिक आवश्यकता की अवहेलना कर सकता है। किसी भी व्यक्ति के लिए गौण आवश्यकताये प्राथमिक हो सकती हैं। धन अथवा मान के खोने पर कितने आदमी आत्महत्या करते सुने जाते हैं। ऐसे व्यक्तियो के लिए धन और मान की गौण आवश्यकताये प्राथमिक बन जाती हैं।

---

1. Individual Differences in Needs.

शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें—

प्राथमिक आवश्यकताओ को कभी-कभी शारीरिक आवश्यकताओ का नाम दिया जाता है और गौण को मनोवैज्ञानिक का। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ का शारीरिक आधार नही होता। वस्तुत. मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की नीव शारीरिक ही होती है। अन्तर केवल इतना है कि इस नीव की अत्यधिक स्पष्ट और सरलता से व्याख्या नही की जा सकती। यह याद रखना है कि हमारी चेतना मे शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनो आवश्यकताये समान रूप से स्थान पा सकती है। उदाहरणार्थ, हमे अपनी भूख (शारीरिक आवश्यकता) की उतनी ही चेतना हो सकती है जितनी प्रशसा अथवा मान (मनोवैज्ञानिक आवश्यकता) की हो सकती है। परन्तु कभी-कभी ऐसी भी अवस्था आ सकती कि हम न मनोवैज्ञानिक और न शारीरिक आवश्यकता से ही चेतित हो सकते है।

दैहिक और सामाजिक आवश्यकतायें—

प्राथमिक आवश्यकताओ को कभी-कभी दैहिक भी कहा जाता है, क्योकि उनकी उत्पत्ति देह से होती है। गौण आवश्यकताओ को सामाजिक भी कहा जाता है, क्योकि उनकी उत्पत्ति समाज से सघर्ष के फलस्वरूप होती है। दैहिक और सामाजिक आवश्यकताये एक दूसरे से सम्बन्धित जान पडती हैं। सामाजिक आवश्यकताओ को दैहिक कहा जा सकता है, क्योकि उनका सम्बन्ध किसी एक प्राणी से होता है। इसी प्रकार दैहिक आवश्यकताये सामाजिक कही जा सकती है, क्योकि उनकी तृप्ति के लिए व्यक्ति को समाज के अन्य प्राणियो पर निर्भर रहना होता है। सभी प्राणी भूख[1] अथवा काम-प्रवृत्ति[2] रूपी आवश्यकता से विवश होते है, परन्तु इनकी तृप्ति समाज द्वारा निर्धारित कुछ नियमो के अनुसार ही होती है।

आवश्यकता, शारीरिक बनावट और वातावरण[3]

व्यक्ति की दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति कुछ हद तक उसकी शरीरिक बनावट और उसके वातावरण पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ; सभी प्राणियो को अपनी प्राणरक्षा के लिए आक्सीजन की आवश्यकता होती है। परन्तु मनुष्य और मछली अपने विभिन्न शारीरिक बनावट और वातावरण के कारण इस आवश्यकता की पूर्ति अपने-अपने ढग से करते हैं।

परन्तु गौण अर्थात् सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति के सम्बन्ध मे प्राणी, शारीरिक बनावट और वातावरण मे यह सम्बन्ध नही जान पडता। उदाहरणार्थ, अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति

---

1 Hunger Drive. 2. Sex Drive. 3. Need, Physical Structure and Environment.

विभिन्न व्यक्ति विभिन्न रूप से कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में शारीरिक बनावट और वातावरण का उतना प्रभाव नहीं पडता।

इस प्रकार आवश्यकता से अभिप्रेरित व्यवहार प्रायः तीन बातों पर निर्भर करता है—आवश्यकता, शारीरिक बनावट और वातावरण। किसी आवश्यकता के अनुभव पर शरीर का सन्तुलन[1] प्रायः कुछ शिथिल पड जाता है और शरीर उसकी पूर्ति के लिए किसी ओर प्राणी को प्रयत्नशील करता है। शारीरिक बनावट से केवल आवश्यकता का ही निर्धारण नही होता, वरन् उससे यह भी निश्चय होता है कि उस आवश्यकता की पूर्ति कैसे होगी। विभिन्न जीवो की शारीरिक बनावट से इसका प्रमाण मिल जाता है। किसी प्रेरणा-सम्बन्धी आवश्यकता के पूर्ति-सम्बन्धी व्यवहार पर वातावरण का प्रभाव सीधे पड़ता है।

आवश्यकता और शारीरिक बनावट—

ऊपर यह कहा गया है कि प्राणी की शारीरिक बनावट का उसके व्यवहार पर बडा प्रभाव पड़ता है। हमें यह मानना ही होगा कि हमारी बहुत सी आवश्यकताएँ हमारे शरीर के बनावट के अनुसार ही हुआ करती है। अतएव बकरे की आवश्यकता आदमी से भिन्न होती है। अन्धे की आवश्यकता नेत्र युक्त व्यक्ति से भिन्न होती है। कहने का अर्थ यह है कि प्राणी की शारीरिक बनावट और उसके व्यवहार में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जन्म के समय मानव शिशु की शारीरिक बनावट ऐसी होती है कि वह एकदम असहाय होता है। इस असहाय अवस्था के कारण उसकी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताये होती हैं। इसके विपरीत कुछ निम्नकोटि के जीवो की दशा एकदम भिन्न होती है। जैसे, गाय का बछड़ा जन्मते ही स्तन-पान की ओर झुकता है। मकडे का बच्चा जन्मते ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में एक प्रौढ मकड़े की तरह समर्थ होता है। विभिन्न प्राणियो की आवश्यकता में यह विभेद उनकी शारीरिक बनावट की विभिन्नता के कारण ही आता है।

आवश्यकता और वातावरण—

हमारे विकास पर वातावरण का बडा गहरा प्रभाव पडता है। फलतः हमारा व्यवहार वातावरण द्वारा भी नियन्त्रित होता रहता है। अपने वातावरण की व्याख्या करने में हम अपनी आवश्यकताओं द्वारा नियन्त्रित होते हैं। यह मानी हुई बात है कि अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार लोग किसी विशिष्ट वातावरण का विभिन्न अर्थ समझा करते हैं। व्यक्ति की आवश्यकतायें बहुधा बदलती रहती हैं। अपनी आवश्यकताओं के संदर्भ में वातावरण का अर्थ भी उसके लिए बदलता रहता है। भूखा बालक

1. Equilibrium.

आम को खा सकता है, परन्तु क्रोधी बालक उसी आम को किसी को मारने के लिए अस्त्र बना सकता है। इस प्रकार अपनी आवश्यकतानुसार बालक आम (अपने वातावरण) को कभी खाने का पदार्थ समझता है और कभी-कभी उसी से अस्त्र का काम लेता है। स्पष्ट है कि अपनी आवश्यकतानुसार आम का (अर्थात् वातावरण) वह विभिन्न अर्थ समझता है।

आवश्यकतायें और सांस्कृतिक वातावरण[1]——

प्रचलित सस्कृति का आवश्यकताओ पर केवल प्रभाव ही नही पडता, वरन् उनका निर्धारण भी समाज द्वारा नियन्त्रित होता है। प्राणी को प्रचलित सस्कृति तथा सामाजिक नियमों के अनुसार चलना होता है, जिससे वह कोई असामाजिक कार्य न कर बैठे। प्राथमिक और गौण दोनों आवश्यकताओ की पूर्ति के सम्बन्ध मे सास्कृतिक वातावरण का प्रभाव पडता है। सास्कृतिक वातावरण के प्रभाव के कारण समान आवश्यकता की पूर्ति विभिन्न समाज मे भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है। अतः सास्कृतिक वातावरण के अनुसार समान आवश्यकता की पूर्ति के लिए व्यक्ति में विभिन्न के प्रकार व्यवहार पाये जा सकते हैं।

आवश्यकता की परिभाषा[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब आवश्यकता की परिभाषा दी जा सकती है। आवश्यकता प्राणी के अन्दर का एक ऐसा तनाव है जो व्यक्ति को किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभिप्रेरित करता रहता है। अर्थात् आवश्यकता से एक प्रेरणा की जागृति होती है। अत जहाँ आवश्यकता है वहाँ एक प्रेरणा का होना भी आवश्यक है। कभी-कभी दोनो का अलग-अलग विवेचना करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, क्योकि दोनो साथ-ही-साथ चलती हैं। आवश्यकता के कारण व्यक्ति जिस तनाव का बोध करता है वह तनाव उपस्थित वातावरण को किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक विशिष्ट दिशा मे सगठित कर आवश्यक क्रिया की ओर सकेत करता है। प्रत्येक आवश्यकता के लिए कुछ क्रियाओ और वस्तुओ की आवश्यकता होती है। इनके मिलने पर आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है और तनाव ढीला पड जाता है।

आवश्यकता और प्रेरणा

प्रेरणा से एक ऐसी शक्ति का बोध होता है जो कि व्यक्ति को एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति की ओर ढकेलती है। जब तक इस उद्देश्य की पूर्ति नही हो जाती तब तक प्राणी की क्रियाशीलता चलती रहती है। प्रेरणा के उपस्थित रहने पर प्राणी बाधाओं को पार करते हुये अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर जाने का निरन्तर प्रयत्न

1. Needs and the Cultural Environments. 2. Definition of Need.

करता रहता है। जिस प्रकार नदी के जल को आगे बढने की प्रेरणा रहती है और इस प्रेरणावश जल-प्रवाह आगे पड़ने वाले सभी झाड़-झंकार को आगे बढा ले जाता है उसी प्रकार व्यक्ति मे जब कोई प्रेरणा होती है तो उस प्रेरणावश वह सारी बाधाओ को पार करने का अथक परिश्रम करता है। मनोवैज्ञानिक परीक्षणो मे देखा गया है कि इस प्रेरणा के कारण ही चूहे अथवा बिल्ली अनेक कष्ट सहते हुए अपनी उद्देश्य पूर्ति अर्थात् क्षुधा-निवारण में लगे रहते हैं।

पहले प्राणी किसी आवश्यकता का अनुभव करता है। इस अनुभव के फल-स्वरूप आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसमें एक प्रेरणा उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्रेरणा आवश्यकता की सेवा में ही जागृत होती है। दूसरे शब्दों में प्रेरणा को आवश्यकता का सेवक कह सकते हैं। आवश्यकता वह वस्तु है जिससे कोई प्रेरणा क्रियाशील हो उठती है। आवश्यकता किसी निर्दिष्ट उद्देश्य की ओर संकेत करती है। उदाहरणार्थ; भूख की[1] आवश्यकता से भोजन की ओर सकेत मिलता है। भोजन की प्राप्ति के लिए प्राणी को कई प्रकार की क्रियाओ से गुजरना हो सकता है। प्रेरणा वह शक्ति है जो प्राणी को उद्देश्य की पूर्ति तक क्रियाशील रखती है। आवश्यकता वह अवस्थिति है जिससे किसी उद्देश्य की ओर लगने के लिए व्यक्ति को प्रेरणा मिलती है। प्रेरणा वह शक्ति है जो कि उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्ति को यत्नशील बनाये रहती है।

कुछ शारीरिक आवश्यकतायें और तत्सम्बन्धी प्रेरणायें[2]

शारीरिक आवश्यकताओ का हमारी कुछ दैहिक अवस्थितियो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ; आक्सीजन के लिए हमारी आवश्यकता हमारे रक्त की कुछ दशाओ से नियन्त्रित होती है। अत आक्सीजन की आवश्यकता से हमे साँस लेने की प्रेरणा मिलती है। इसी प्रकार रक्त मे सचित चीनी की मात्रा जब कम हो जाती है तो हमारा पेट सिकुडने लगता है और हमें भूख लगती है। भूख से हमें भोजन करने की प्रेरणा मिलती है। परन्तु यह याद रखना है कि भूख की अनुभूति के लिए सदा पेट के सिकुड़ने की आवश्यकता नही। कभी-कभी आदतवश भी किसी विशिष्ट स्थान अथवा समय पर व्यक्ति भूख का अनुभव कर सकता है। तथापि इतना तो माना ही जा सकता है कि भूख की हमारी दैहिक अवस्थितियों से भी कभी-कभी सम्बन्ध होता है। यही बात प्यास और काम-प्रवृत्ति सम्बन्धी शारीरिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। प्यास और काम-प्रवृत्ति की आवश्यकताये सदा पूर्णतः दैहिक अवस्थितियो पर निर्भर नही करती। क्योकि इनमे समय, स्थान तथा

---

1. Hunger Need. 2 Some Physiological Needs and Their Associated Drives, or Motives.

व्यक्ति-सम्बन्धी उत्तेजनायें भी काम करती हैं, तथापि कुछ दैहिक अवस्थितियों से इनका सम्बन्ध अवश्य ही है। पानी पीने की इच्छा प्यास से सम्बन्धित प्रेरणा है। काम-प्रवृत्ति से वासना की तृप्ति करने की प्रेरणा मिलती है।

कुछ सामाजिक आवश्यकतायें और तत्सम्बन्धी[1] प्रेरणायें

हमारी सामाजिक आवश्यकताये अर्जित होती हैं। इनकी उत्पत्ति हमारी इच्छा और आदत के अनुसार होती है, जैसे—व्यक्ति मे पढने, खेलने, यात्रा करने अथवा किसी वस्तु के बनाने की इच्छा अथवा आदत हो सकती है। इस इच्छा और आदत के कारण व्यक्ति को पुस्तक, शतरज अथवा किसी सवारी की आवश्यकता हो सकती है। जो आवश्यकताये व्यक्ति की निजी इच्छा से पूरी होती हैं उन्हें अर्जित आवश्यकतायें कहा जा सकता है। इन्ही आवश्यकताओ को मनोवैज्ञानिक, गौण अथवा सामाजिक का भी विशेषण दिया जा सकता है।

यह ध्यान देने की बात है कि सभी आवश्यकताओ का शारीरिक अवस्थितियो[2] से हम सम्बन्ध नही बाँध सकते। हमारी बहुत-सी ऐसी आवश्यकताये हैं जो हमारे सामाजिक सम्बन्ध की ओर सकेत करती हैं। इन आवश्यकताओ मे, जैसे, दूसरो के साथ[3] रहने की आवश्यकता, प्रेम की आवश्यकता[4], दूसरे से सम्मान[5] पाने की आवश्यकता, दूसरो पर शासन[6] करने की आवश्यकता, दूसरो को प्रभावित[7] करने की आवश्यकता, कष्ट मे दूसरो की सहायता[8] करने की आवश्यकता तथा प्रतिशोध[9] लेने की आवश्यकता आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

किसी भी सामाजिक प्राणी के लिए सामाजिक आवश्यकताये बहुत ही महत्वपूर्ण होती हैं। सामाजिक आवश्यकताओं को जागृत करके ही हम दूसरो पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। जब व्यक्ति को कोई काम करने के लिए हम प्रेरणा देना चाहते हैं तो हम सामाजिक मान व प्रतिष्ठा आदि आवश्यकताओ की ओर ही उसका ध्यान आकर्षित करते हैं। हमारी विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओ के साथ प्रेरणायें लगी हुई रहती हैं। इन प्रेरणाओ को उकसा करके ही आवश्यकताओं की पूर्ति की चेष्टा की जा सकती है, उदाहरणार्थ, दूसरो के साथ रहने की आवश्यकता की पूर्ति के साथ भय प्रेरणा, प्रेम की आवश्यकता के साथ आत्म-प्रतिष्ठा की प्रेरणा, दूसरों पर शासन करने की आवश्यकता के साथ अपने प्रभुत्व स्थापित करने की प्रेरणा का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ पर हमे यह याद रखना है कि आवश्यकता और

---

1. Some Social Needs and Their Associated Drives, or Motives 2. Physiological conditions. 3 The need to be with people 4 The need for love 5. The need for getting respect from others 6. The need to dominate. 7. The need to influence others 8 The need to help others in trouble 9 The need for revenge

प्रेरणा की कितनी ही लम्बी सूची क्यों न बनाई जाय, परन्तु वह अपूर्ण ही रहेगी, क्योंकि सदा यह समझना सम्भव नही होता कि मानव कब किस आवश्यकता अथवा प्रेरणा के वशीभूत होकर कोई व्यवहार दिखलायेगा।

आत्म-सम्मान की भावना-सम्बन्धी आवश्यकता[1]—

अपनी सभी आवश्यकताओ का व्यक्ति को सदा ज्ञान नही रहता। कभी उसे उनका पूर्ण, कभी आंशिक, और कभी कुछ भी ज्ञान नही रहता। कभी छोटी आवश्यकता बड़ी आवश्यकता द्वारा ढकी जा सकती है। जिस आवश्यकता की पूर्ति के लिए व्यक्ति को अत्यन्त कठिन परिश्रम और प्रतियोगिता का सामना करना होता है उससे उसकी आत्म-सम्मान की भावना सम्बन्धित हो जाती है। आत्म-सम्मान की भावना के आने से व्यक्ति में एक तनाव आ जाता है और आवश्यकता की पूर्ति के बाद ही इस तनाव का अन्त होता है और व्यक्ति को शान्ति मिलती है। आत्म-सम्मान की भावना व्यक्ति-हित और समाज-हित दोनो के लिए हो सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति की किसी न किसी प्रकार की आवश्यकता होती है। आवश्यकता के अभाव मे प्राणी प्रेरणाहीन होकर आलसी हो जायगा और उसका जीवन नीरस हो जायगा। "व्यक्ति[2] कुछ सीख सके इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें आवश्यकता-सम्बन्धी कुछ तनाव आ जाय जिससे स्थिति का समुचित रूप से सगठन कर वह अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सके। परन्तु इस तनाव की अत्यधिकता से व्यक्ति का पथ यदि रुक गया तो वह बडा दुखित होता है। ऐसी स्थिति में वातावरण के प्रति वह अपने को व्यवस्थित नही कर पाता। वह भग्नाशा[3] का अनुभव करता है। विभिन्न व्यक्तियों में इस भग्नाशा की मात्रा भिन्न-भिन्न हुआ करती है। कुछ तो इसके आने पर अव्यवस्थित हो जाते हैं और कुछ सहिष्णुता के गुण के अधिक होने से अव्यवस्थित नही होते।" नीचे भग्नाशा की उत्पत्ति और स्वरूप की ओर अति संक्षेप मे संकेत किया जायगा।

भग्नाशा के कुछ स्रोत[4]

अपने भौतिक और सामाजिक वातावरण में सन्तोषप्रद सम्बन्ध स्थापित करने से ही व्यक्ति का जीवन व्यवस्थित हो सकता है। इस सन्तोषप्रद सम्बन्ध के लिए

१. The need relating to self-respect. २. लेखक द्वारा रचित 'मनोविज्ञान', पृ० १५४-१५५, आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९५३। ३. Frustration. ४. Some Sources of Frustration, (लेखक द्वारा रचित 'समाजशास्त्र परिचय', पृ० १९-२३, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९५५)

उसकी तीन आधारभूत आवश्यकताओ की तृप्ति अत्यन्त आवश्यक है। ये आधारभूत आवश्यकताये ये हैं :—(१) शारीरिक स्वास्थ्य[1]-सम्बन्धी, (२) सरक्षित अनुभव करने की भावना[2]-सम्बन्धी, और (३) व्यक्तिगत परिपूर्णता की भावना-सम्बन्धी[3]। जब इन तीनों आधारभूत आवश्यकताओ मे से किसी की पूर्ति नही होती तो व्यक्ति भग्नाशा का अनुभव करता है। आवश्यकताओ की अपूर्ति अथवा भग्नाशा के कई कारण हो सकते हैं, जैसे, कुछ वाह्य कठिनाइयाँ अथवा स्वय व्यक्ति की कुछ मनोवैज्ञानिक या शारीरिक कठिनाई। इस प्रकार भग्नाशा के तीन स्रोत माने जा सकते हैं—(१) उपस्थित अवस्थितियाँ, (२) सामाजिक रीतियाँ, और (३) स्वय व्यक्ति। नीचे इन तीनों पर सक्षेप मे विचार किया जायगा।

उपस्थित अवस्थितियाँ—

उपस्थित अवस्थितियो के कारण व्यक्ति को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है और इस सामना में यदि वह असफल रहा तो उसे भग्नाशा का भाजन बनना होता है। यदि बालक को घर मे बात-बात पर डाँट सुननी पड़ती है और उसकी साधारण सी साधारण आवश्यकता की अवहेलना की जाती है तो उसका जीवन कलुषित हो जायगा। उसका व्यक्तित्व कुण्ठित हो चलेगा और वह भग्नाशा में डूबने लगेगा। इसी प्रकार कुछ प्रौढ व्यक्तियो को भी अपने अफसरो की बरबस फटकार सुननी पडती है और उन्हे भग्नाशा का सामना करना पडता है, क्योकि उनकी तरक्की रोक ली जाती है। उचित शिक्षा का अभाव, रहने के स्थान का बुरा होना, बेकारी, अवकाश-काल का दुरुपयोग और आर्थिक अभाव भग्नाशा की साधारण अवस्थितियाँ कही जा सकती हैं। इस प्रकार की अनेक अवस्थितियाँ भग्नाशा का कारण बन सकती हैं। इन अवस्थितियो का सम्बन्ध विशेषत. आर्थिक समस्याओ, विषम कौटुम्बिक परिस्थितियो, सामाजिक आवश्यकताओ और मनोरजन-सम्बन्धी बातो से होता है। रोजेनबीग[4] ने भग्नाशा की इन अवस्थितियो को 'वाह्य भग्नाशा' की सज्ञा दी है। वाह्य भग्नाशा के अन्तर्गत उन्होने 'अभाव', 'लोप' और 'बाधा' विषयक कारणो का नाम लिया है। जब अपनी इच्छानुसार व्यक्ति को कोई वस्तु नही मिलती तो उसे उसका अभाव खटकता है और वह भग्नाशा का अनुभव करता है। शिशु के मर जाने पर माता-पिता को उसका लोप खटकता है और वे भग्नाशा में डूब जाते है। प्रेमी और प्रेमिका जब आपस में किसी बाधा के कारण मिल नहीं पाते

1. Physical well-being. 2. Feeling of Security. 3. Sense of Personal Adequacy. 4. Rosenweig, Saul, "Frustration as an Experimental Problem VI, General outline of Frustration, *Character and Personality*, 1938; 7151—60.

अथवा जब किसी बाधा के कारण हमारी किसी इच्छा की पूर्ति नही होती तो भग्नाशा की परिस्थिति आ जाती है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

सामाजिक रीतियाँ—

कभी-कभी कुछ सामाजिक रीतियाँ भी व्यक्ति मे भग्नाशा का कारण बन जाती हैं। प्रत्येक समाज की अपनी अलग-अलग रीति होती है और उसकी अपेक्षा होती है कि विभिन्न सदस्य उसी के अनुसार चले और कुछ बुरी आदतो में न फँसे, जैसे मदिरापान, धूम्र-पान तथा नाच-घरों मे जाना आदि निषेध है। जब कोई व्यक्ति इन सब निषिद्ध वातो को करना चाहता है तो सामाजिक रीति के कारण वह अपने पर रोक लगाकर मन ही मन भग्नाशा का अनुभव कर सकता है।

स्वयं व्यक्ति—

कभी-कभी व्यक्ति स्वयं अपनी भग्नाशा का कारण बन जाता है—जब वह समय पर कोई काम नही कर पाता तो उसकी इच्छाओं और आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं हो पाती। कभी-कभी वह अपने किसी अन्धविश्वास अथवा भय के कारण किसी काम में असफल हो सकता है। आवश्यकता की पूर्ति की इच्छा रखते हुए अनायास भय, आत्मविश्वास की कमी, लोगों द्वारा उपहासित होने के डर आदि से व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति मे विफल होकर भग्नाशा का अभियुक्त हो सकता है।

आन्तरिक भग्नाशा[1]—

जब भग्नाशा का कारण स्वयं व्यक्ति होता है तो रोजेनवीग के अनुसार उसे आन्तरिक भग्नाशा कहा जा सकता है। आन्तरिक भग्नाशा तीन प्रकार की हो सकती है। पहले प्रकार मे व्यक्ति का कोई शारीरिक दोप उसकी भग्नाशा का कारण होता है,—जैसे, लँगड़ापन, बहरापन या अन्धापन आदि। दूसरे प्रकार में उसकी भग्नाशा का कारण कोई बीमारी हो सकती है। बीमारी के कारण कभी-कभी व्यक्ति किसी कार्य में असफल होता है और भग्नाशा का अनुभव करता है। तीसरे प्रकार मे व्यक्ति के मन में कोई बैठा हुआ डर अथवा आत्महीनता की भावना उसकी आवश्यकता की पूर्ति में बाधक हो उसमे भग्नाशा ला सकती है।

बच्चों में भग्नाशा[2]

किसी भी बच्चे की परिस्थिति कभी आदर्शरूप नही हो सकती। अतः प्रत्येक को अपने जीवन-काल में कभी न कभी भग्नाशा का अनुभव करना ही होता है। भग्नाशा के प्रधान कारणों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों का एकमत नही। कुछ लोग शारीरिक दोष को ही बच्चों में भग्नाशा का प्रधान कारण मानते हैं, और कुछ

---

1. Internal Frustration. 2. Frustration in Children.

का कहना है कि शारीरिक दोष से भग्नाशा का आना अवश्यम्भावी नही, क्योंकि शारीरिक दोष के रहते हुए भी बच्चे की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति की जा सकती है।

फ्रॉयड के कुछ सिद्धान्तो के अनुसार बच्चो को भग्नाशा की अनेक परिस्थितियो का सामना करना पड़ता है। फ्रॉयड की धारणा है कि जब बच्चे को माँ का स्तन-पान छोडना पडता है, जब इच्छा के विरुद्ध कोई कपड़ा पहनना पडता है या कोई कार्य करना पडता है तो वह भग्नाशा का अनुभव करता है। जब उसे बड़ों की इच्छानुसार अपने रहन-सहन मे कोई व्यवस्थापन करना होता है तो उसे कष्ट होता है और स्पष्टत: या मन ही मन उसका वह विरोध करता है। जब बालक को किसी नई बात के सीखने में दण्ड भोगना पडता है तो उसे बडा दु:ख होता है और उसे भग्नाशा का अनुभव होता है। अतः स्पष्ट है कि बालक से कोई कार्य हठात् नही कराना चाहिए और न उसे सिखाने के क्रम मे दण्ड ही देना चाहिए। उससे कोई कार्य लेने में उसकी स्वीकृति ले लेना अत्यन्त आवश्यक है। किसी नई आदत के पकड़ने में सदा भग्नाशा का आना आवश्यक नही। यदि नई आदत सीखने के क्रम मे बालक को यथोचित्र प्रशसा और प्रोत्साहन दिया जाय तो उसमें भग्नाशा नही आयेगी। तब वह स्वत: आगे बढता जायगा और उसे आगे ढकलने की आवश्यकता न होगी।

जो बच्चे अपने को अवहेलित और अस्वीकृत अनुभव करते हैं उन्हे भग्नाशा-पूर्ण अनेक परिस्थितियो का सामना करना पडता है। समान परिस्थितियो मे भग्नाशा की मात्रा और प्रकार विभिन्न बच्चों मे भिन्न-भिन्न पाया जाता है। यह मात्रा और प्रकार बच्चे के सुव्यवस्थापन[1] या कुव्यवस्थापन[2] पर निर्भर करेगा। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि बच्चे को जब कभी अपने आत्म-सम्मान की भावना मे धक्के का अनुभव होता है तो उसे भग्नाशा की अनुभूति होती है। अत: बच्चो को भग्नाशा से दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी विविध आवश्यकताओ की समयानुसार पूर्ति की जाय और उसे यथासमय आत्म-सम्मान और आत्म-प्रशसा की भावना दी जाय। यदि ऐसा सम्भव हो सका तो अवश्य ही समाज में सुखी बालकों की सख्या बढ जायगी। बालक ही समाज का भावी नागरिक होता है। अत: सुखी बालको की वृद्धि से समाज का भी सुविकास निश्चित होगा।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

प्राणी अपनी मनोवृत्तियाँ वातावरण में रह कर अर्जित करता है। उनका वह संक्रमण नही करता।

---

1. Good Adjustment. 2. Maladjustment.

स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ प्रेरणाये । प्रेरणाये और आवश्यकताएँ सम्बन्धित ।

आवश्यकताएँ

व्यक्तियों की आवश्यकताओं में भिन्नता—

व्यवहार आवश्यकताओं द्वारा नियन्त्रित ।

व्यक्ति की शिक्षा का आयोजन उसकी विशिष्ट आवश्यकता के अनुसार ।

प्राथमिक और गौण आवश्यकताएँ—

प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति बिना जीना कठिन ।

गौण आवश्यकताएँ अनुभव के फल । प्राथमिक से कम महत्वपूर्ण नही ।

शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें—

मनोवैज्ञानिक का भी शारीरिक आधार । दोनो की चेतना समान हो सकती है ।

दैहिक और सामाजिक आवश्यकताएँ—

एक दूसरे से सम्बन्धित ।

आवश्यकता, शारीरिक बनावट और वातावरण—

आवश्यकताओ की पूर्ति शारीरिक बनावट और वातावरण पर निर्भर ।

आवश्यकता और शारीरिक बनावट—

हमारी बहुत सी आवश्यकताये शारीरिक बनावट के अनुसार ।

आवश्यकता और वातावरण—

हमारा व्यवहार वातावरण द्वारा नियन्त्रित । वातावरण की व्याख्या आवश्यकता द्वारा नियन्त्रित ।

आवश्यकतायें और सांस्कृतिक वातावरण—

प्राथमिक और गौण दोनो आवश्यकताओं पर सास्कृतिक वातावरण का प्रभाव ।

आवश्यकता की परिभाषा

आवश्यकता एक तनाव जो व्यक्ति को किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभिप्रेरित करता है । आवश्यकता से प्रेरणा जागृत ।

आवश्यकता और प्रेरणा

प्रेरणा एक ऐसी शक्ति है जो व्यक्ति को किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये ढकेलती है ।

प्रेरणा आवश्यकता की सेवा मे जागृत ।

आवश्यकता वह अवस्थिति जिससे व्यक्ति को किसी उद्देश्य की ओर लगने के लिए प्रेरणा मिलती है।

कुछ शारीरिक आवश्यकतायें और तत्सम्बन्धी प्रेरणाये

शारीरिक आवश्यकताओं का कुछ दैहिक अवस्थितियों से घनिष्ठ सम्बन्ध। भूख, प्यास, और काम-प्रवृत्ति।

कुछ सामाजिक आवश्यकताएँ और तत्सम्बन्धी प्रेरणायें

सामाजिक आवश्यकताएँ अर्जित।

प्राणी के लिए सामाजिक आवश्यकताएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण।

सामाजिक आवश्यकताओ के साथ प्रेरणा लगी हुई।

आत्म-सम्मान की भावना-सम्बन्धी आवश्यकता—

व्यक्तिहित और समाजहित दोनो के लिए।

प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकता—

आवश्यकता के अभाव में व्यक्ति प्रेरणाहीन और आलसी।

भग्नाशा के कुछ स्रोत

उपस्थित अवस्थितियाँ—

सामाजिक रीति।

स्वय व्यक्ति।

आन्तरिक भग्नाशा।

बच्चों में भग्नाशा

किसी भी बच्चे की परिस्थिति आदर्शरूप नही। अतः प्रत्येक को भग्नाशा का अनुभव।

फ्रॉयड के अनुसार इच्छा के विरुद्ध कार्य करने पर भग्नाशा।

बालक को यथोचित प्रशसा और प्रोत्साहन।

अवहेलित और अस्वीकृत बच्चो को भग्नाशाओ का सामना करना होता है।

विविध आवश्यकताओ की समयानुसार पूर्ति करना।

सहायक पुस्तकें

१—स्टीवेन्स, जे० एम०—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय १७, हेनरी हॉल्ट ऐण्ड कं० न्यूयार्क, १९५१।

२—मैसलो, ए० एच०—ए थियरी ऑव् ह्यूमन मोटिवेशन, साइकॉलॉजी, रिव्यू०, १९४३, ५०, ३७०-३९६।

३—मॉर्गन, सी० टी०, ऐण्ड स्टेलर—फिजियॉलॉजिकल साइकॉलॉजी, मैग्राहिल, अध्याय १८, १९५०।

४—डॉलर्ड, जे० ऐण्ड अदर्स—फ्रस्ट्रेशन ऐण्ड अग्रेशन, येल यु० प्रेस, १९३९।

५—सरयू प्रसाद चौबे,—मनोविज्ञान, अध्याय १०, आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९५६।

६—सरयू प्रसाद चौबे,—समाजशास्त्र परिचय, पृष्ठ १९–२३, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९५५।

७—कोल ऐण्ड ब्रूस—एडूकेशनल साइकॉलॉजी, अध्याय ७, वर्ल्ड बुक कं०, १९५०।

अंग्रेजी से हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की सूची

(List of Technical Terms from English to Hindi)

अंग्रेजी से हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की सूची

A

Abnormal–असाधारण ।
Accidental–आकस्मिक ।
Acquisitive Instinct–संचय या सग्रह मूलप्रवृत्ति ।
Active–सक्रिय ।
Adolescence–कैशोर, कैशोरावस्था ।
Achievement–ज्ञान-आयु ।
Achievement Quotient–ज्ञान-लब्धि ।
Achievement Test–ज्ञान-परीक्षा ।
Adjustment–अनुकूलन या व्यवस्थापन ।
Aesthetic–रसात्मक ।
Aesthetics सौन्दर्य-विज्ञान ।
Affective–भावात्मक ।
Alfa–अलफा ।
Ambivert–मध्यमुखी, उभयमुखी ।
Amusement–आमोद ।
Analytic–विश्लेषणात्मक ।
Anger–क्रोध ।
Animal Psychology–पशु मनोविज्ञान ।
Anticipatory–पूर्वाभिनय ।
Appeal–शरणागति ।
Apperception–पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष-ज्ञान ।
Appetite–भूख ।
Appetitive–रूच्यात्मक ।
Appreciation–रसानुभव ।
Appreciation Lesson–रसानुभूति पाठ ।
Apprenticeship–अभ्यास काल ।
Aptitude–झुकाव, प्रवीणता या रुझान, अभिरुचि ।
Arithmetical Ability–अंकगणित-शक्ति ।
Association of Ideas–विचारो अथवा प्रत्ययों का परस्पर-सम्बन्ध ।
Association Reflex–सम्बद्ध सहज-क्रिया ।
Astronomy–खगोल ।
Attention–अवधान, ध्यान ।
Auditory–श्रवण-सम्बन्धी ।
Auto-suggestion–आत्मनिर्देश ।
Average–साधारण, सामान्य ।

B

Backward Child–पिछड़ा हुआ बालक ।
Behaviourism–व्यवहारवाद ।
Biology–जीव-विद्या या प्राणिविज्ञान ।
Brain–मस्तिष्क या भेजा ।

C

Carriers of Heredity–वंशानुक्रमता के वाहक ।

Cathartic Theory–रेचकसिद्धान्त ।
Cell–कोष-सूत्र
Censor–प्रतिहारी ।
Change–परिवर्तन ।
Character–चरित्र ।
Characteristics–विशिष्ट गुण, विशेषतायें, विलक्षणतायें ।
Childhood–बाल्यकाल या बालकाल ।
Cohesion–सम्बद्धता ।
Chromosome–वंश-सूत्र पित्र्यैंक ।
Circumstancial–परिस्थित्यात्मक ।
Classification–वर्गीकरण ।
Club–गोष्ठी ।
Cognition–ज्ञान ।
Cognitive–ज्ञानात्मक ।
Collection–संग्रह ।
Combat–युयुत्सा ।
Combination of Responses–प्रतिक्रियाओ का मिश्रण ।
Complex–भावना ग्रन्थि ।
Complex Reflex Action–विषम सहज-क्रिया ।
Conation–चेष्टा ।
Concept–प्रत्यय ।
Conception–प्रत्यय-ज्ञान ।
Conceptual–प्रत्ययात्मक ।
Concrete–मूर्त ।
Conditioned Reflexes–अभिसंधानित, सम्बद्ध प्रत्यावर्तित सहजक्रिया, या नियन्त्रित प्रतिक्षेप ।
Conditioned Responses–सम्बद्ध प्रत्यावर्तित अथवा अभिसधानित प्रतिक्रिया, नियन्त्रित प्रतिक्रिया ।
Conflict–द्वन्द्व ।
Conscious–चेतन मन ।
Consciousness–चेतनता या चेतना ।
Consolidation–पचाना, एकीकरण ।
Constructive–रचनात्मक, विध्यात्मक ।
Contiguity–सहचारिता ।
Continuity of Germ-plasm–बीज-कोष की सनातनता ।
Contrast–वैपरीत्य ।
Contra-suggestion–विरुद्ध-निर्देश ।
Correlation–अन्योन्य-सम्बन्ध, परस्पर सम्बन्ध या सहसम्बन्ध ।
Creative–सृजनात्मक ।
Creativeness (feeling of)–कृति-भाव ।
Crowd–भीड़ ।
Culture Epoch Theory–सस्कृति युग सिद्धान्त ।
Curiosity–जिज्ञासा ।

D

Data–प्रदत्तो, सामग्री ।
Day-dreaming–दिवास्वप्न ।
Deduction–निगमन ।
Deductive–सिद्धान्तात्मक ।
Defect–दोष ।
Degree–मात्रा ।
Delinquency–बालापराधी ।
Depth psychology–अन्तश्चेतना मनोविज्ञान ।
Destructive–ध्वंसात्मक ।
Diagnostic Test–निदानात्मक परीक्षा ।
Didactic Apparatus–शिक्षोपकरण
Discipline–विनय ।
Discontinuous Variation or Mutation–आकस्मिक परिवर्त्तन ।
Disgust–घृणा ।
Distraction–विघ्न, विचलन ।
Distribution–विभाजन ।
Distress–करुणा, दुख ।
Division–विभाजन ।
Dominance–प्रभुत्व ।
Dominant–व्यक्त ।
Doubt–सशय ।
Dramatic Method–नाट्य प्रणाली ।

Dream-स्वप्न।
Drives-प्रेरणायें।
Dull-मन्द।
Dynamic Theory of Instincts-मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाशीलता का सिद्धान्त।

E

Eduction of Correlates-सम्बन्धी ज्ञान।
Educational Quotient-शिक्षा-लब्धि।
Effect, the law of-प्रभाव का नियम।
Ego-अहं।
Elan Vital-जीवनी शक्ति।
Elementary-मौलिक, प्राथमिक।
Elemination of Wrong Responses-व्यर्थ प्रतिक्रिया की अवहेलना।
Emotion-संवेग।
Emotional-संवेगात्मक।
Empathy-समानुभूति।
Employer-नियुक्तिकार।
Environment-वातावरण।
Environmentalist-वातावरण-वादी।
Escape-पलायन।
Ethics-आचार-शास्त्र।
Exercise, the law of-अभ्यास का नियम।
Existentialism-सत्तावाद।
Experiment-परीक्षण।
Experimental Psychology-प्रयोगात्मक मनोविज्ञान।
Extrovert-बहिर्मुखी।

F

Factor Analysis-तत्व विश्लेषण।
Faculties-मानसिक शक्तियाँ।
Fantastic Imagination-तरंगमयी या तारंगिक कल्पना।
Fatigue-थकान।
Fear-भय।
Feeble-minded-मन्द-बुद्धि।
Feeling-राग, भाव, अनुभूति।
Fluctuation-विचलन।
Forgetting-विस्मृति।
Free-Association Test-स्वतन्त्र साहचर्य-माप।

G

Gemmules-ज्येमूल्स।
General Ability-सामान्य योग्यता।
Genes-जीन्स, पिज्यैक।
Genius-प्रतिभाशाली।
Genetic psychology-जनन मनोविज्ञान।
Gifted Child-प्रतिभावान् बालक।
Germ Cell-बीज-कोष।
Gestalt Psychology-अवयवीवाद।
Gland-गिल्टियाँ, ग्रन्थियाँ।
Gregariousness-सामूहिकता।
Group-समूह।
Group Mind-समूह मन।
Group Psychology - समूह मनोविज्ञान।
Group Test-सामूहिक परीक्षा।
Guardian-अभिभावक।

H

Habit-आदत।
Habit Memory-आदत जन्य स्मृति।
Hallucination-विभ्रम, भ्रान्ति।
Hatred-घृणा।
Health Chart-स्वास्थ्य का विवरण-पत्र।
Herd Instinct-सामूहिक जीवन की प्रवृत्ति।
Heredity-वंशानुक्रम।
Hereditarian-वंशानुक्रमवादी।
Hetero sexuality-भिन्न-लिङ्गीय प्रेम।

Heuristic Method–ह्यूरिस्टिक पद्धति ।
Horme–सप्रयोजनता ।
Homosexuality–स्वलिङ्गीय प्रेम ।
Hormic Theory–प्रयोजनवाद ।
Human Being–मानव ।
Hypnosis–मोह-निद्रा या सम्मोहन ।
Hypnotism–सम्मोहन-क्रिया ।

I

Idealist–आदर्शवादी ।
Ideo-motor-type–विचार-जन्य-गति प्रकार ।
Idiot–जड ।
Image–प्रतिमा ।
Image Memory–प्रतिमायुक्त या वास्तविक स्मृति ।
Imagination–कल्पना ।
Imbecile–मूढ़ ।
Imitation–अनुकरण ।
Incentive–प्रेरक ।
Individual Difference–वैयक्तिक भिन्नता ।
Individuality–व्यक्तित्व ।
Inductive–परिणामात्मक ।
Industrial Psychology–व्यावसायिक मनोविज्ञान ।
Infancy–शैशव ।
Inferiority–आत्महीनता या दैन्य ।
Inhibition–विलयन ।
Innate–जन्मजात ।
Insight–अन्तर्दृष्टि, सूझ ।
Instability–अस्थिरता ।
Instinct–मूलप्रवृत्ति ।
Instinctive–मूलप्रवृत्यात्यक ।
Intelligence–बुद्धि ।
Intelligence Quotient–बुद्धि-लब्धि ।
Insane–विक्षिप्त ।
Intensity–तीव्रता ।
Interest–रुचि, रोचकता ।
Interview–साक्षात् ।
Introspection–अन्तः प्रेक्षण ।
Introvert–अन्तर्मुख ।
Intuitive Type–अन्तर्दृष्टि प्रधान ।
Inventive–आविष्कारात्मक ।

J

Judgment–निर्णय

K

Kind–प्रकार ।
Knowledge–ज्ञान ।

L

Laughter–हास
Law of Effect–परिणाम का नियम ।
Law of Exercise–अभ्यास का नियम ।
Law of Readiness–तत्परता का नियम ।
Law of Variation–भिन्नता का नियम ।
Leader–नेता ।
Learning–सीखना ।
Libido–कामप्रवृत्ति ।
Living Cell–जीवकोष ।
Loneliness–एकाकीपन ।
Love– प्रेम ।
Lust–कामुकता ।
Mental–मानसिक ।
Mental Measurement–मानसिक माप ।
Method–विधि ।
Mind–मस्तिष्क ।

M

Mass Suggestion–समूह निर्देश ।
Master Sentiment–स्थायीभाव ।
Mathematics–गणित ।
Maturation–विवृद्धि ।
Maturity–परिपक्वावस्था, प्रौढावस्था ।
Measurement–नाप, माप ।
Mechanical–यान्त्रिक ।
Memory–स्मृति ।
Mendelism–मेण्डलवाद ।
Mneme–सचय ।
Mood–उमग ।
Moron–मूर्ख ।
Motivation–उत्साह, प्रेरणा ।
Motive–प्रेरणा, ।
Motor–गतियुक्त, गतिवाही ।
Motor Nerve–गतिवाही तन्तु ।
Motor Reflexes–पेशीय सहज-क्रियाये ।
Motor Test–गति परीक्षा ।
Muscle–पेशी ।

N

Narcissism–स्वात्य-प्रेम ।
Naturalism–प्रकृतिवाद ।
Natural Selection–प्राकृतिक चुनाव ।
Neagtive–अभावात्मक, निषेधात्मक ।
Nervous System–नाडी मण्डल ।
Neurosis–स्नायु-रोग ।
Newness–नवीनता ।
Non-Voluntary–अनैच्छिक, अनायास ।
Normal–साधारण, स्वाभाविक सामान्य ।
Nursery–शिशु-पाठशाला ।

O

Observation–निरीक्षण ।
Organism–जीव ।
Organic–जैव ।
Ownership Feeling–अधिकार भावना ।

P

Paper Test–कागज परीक्षा ।
Parental Instinct–पुत्रकामना मूलप्रवृत्ति ।
Part Method–खण्डश विधि ।
Passive–निष्क्रिय ।
Perception–सविकल्पक प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षीकरण ।
Preception–प्रत्यक्षात्मक, प्रात्यक्षिक ।
Peformance Test–क्रिया प्रश्न, क्रिया माप, क्रियात्मक परीक्षा ।
Personality–व्यक्तित्व ।
Philosophy–दर्शन-शास्त्र ।
Phrenology–मस्तिष्क-विज्ञान ।
Physical–शारीरिक ।
Physically Handicapped–शारीरिक दोषयुक्त ।
Physics–भौतिक शास्त्र ।
Physiognomy–आकृति सामुद्रिक ।
Physiology–शरीर-विज्ञान ।
Plateau of Learning–सीखने का पठार ।
Play–खेल ।
Pleasure Principle–आनन्द-सिद्धान्त, ऐन्द्रिय वासना तृप्ति-सिद्धान्त ।
Pragmatic–कार्यसाधक ।
Precocious Child–अकाल प्रौढ बालक ।
Presentative–उपास्थक ।
Prestige Suggestion–आप्त निर्देश ।
Profile Test–पार्श्व दृश्य परीक्षा ।
Progressive School–प्रगतिशील समुदाय ।

Prompting Method–उकसाने की रीति।
Psycho-Analytic School–मनोविश्लेषणवाद।
Psycho-Analytic Method–मनोविश्लेषण विधि।
Punishment–दण्ड।
Purposeful–साभिप्राय।
Purposive–प्रयोजनात्मक।
Purposiveness–प्रयोजनता।
Purposivism–प्रयोजनवाद।

R

Race Preservation–जाति रक्षा।
Random Response–अनायास प्रतिक्रिया।
Rational–विवेकयुक्त।
Reactive–प्रतिकारात्मक।
Readiness, the Law of–तत्परता का नियम।
Realist–यथार्थवादी।
Reality Principle–वास्तविकता का सिद्धान्त।
Reasoning–तर्कशक्ति।
Recall–पुनर्स्मरण।
Recapitulation–पुनरावृत्ति।
Recency–नवीनता।
Receptive–आदानात्मक।
Recessive–सुप्त।
Recognition–पहचान।
Recreative Theory–पुनर्प्राप्ति का सिद्धान्त।
Redirection–मार्गान्तरीकरण।
Reflex–सहज-क्रिया, प्रतिक्षेप।
Regression–प्रत्यागमन।
Relational–सम्बन्ध-पक्ष।
Representative–प्रतिनिध्यात्मक।
Repression–अवदमन।
Reproductive Organ–जननेन्द्रिय
Repulsion–निवृत्ति।
Response–प्रतिक्रिया।
Retention–धारण, ग्रहण।
Reward–पुरस्कार।
Routine Tendency–आवर्तन प्रवृति।

S

Saving Method–बचाने की रीति।
Scouting–बालचर पद्धति।
Self-Assertion–आत्मप्रदर्शन।
Self-preservation–आत्म रक्षा।
Sensation– संवेदना।
Sensation type–संवेदना (प्रकार) प्रधान।
Sense Training–ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा।
Sentiment–स्थायीभाव।
Sex–काम-भावना या काम-प्रवृत्ति।
Shifting–अस्थिरता।
Shifting Response–स्थानापन्न प्रतिक्रिया।
Shifting Stimulus–स्थानापन्न उद्दीपक।
Similarity–समानता।
Skill-कौशल।
Socialogy–समाज-शास्त्र।
Social Psychology–समाज मनोविज्ञान।
Somnambulism–निद्रावस्था में चलना।
Spaced Learning समय विभाग द्वारा याद करना।
Span–विस्तार।
Special Ability–विशिष्ट योग्यता।
Spiritualism–अध्यात्मवाद।
Spontaneous–सहज।

Stammerer--हकलाने वाला।
Statistics--संख्या-शास्त्र।
Stimulus--उद्दीपक।
Stimulus Response Theory--उत्तेजना वा उद्दीपक प्रतिक्रियावाद।
Structural Psychology--चेतना-रचनावाद।
Sublimation--शोधन, परिमार्जन।
Submissiveness--दैन्य।
Suggestion--निर्देश।
Superiority Complex--आत्माभिमान की ग्रन्थि।
Surplus Energy Theory--प्रवृद्ध शक्ति का सिद्धान्त।
Substitute Response--स्थानापन्न प्रतिक्रिया।
Substitute Stimulus--स्थानापन्न उद्दीपक।
Symbol--प्रतिरूप।
Sympathy--सहानुभूति।
Synthetic--संश्लेषणात्मक।

T

Teasing--चिढ़ाना।
Temperament--स्वभाव।
Temperament Test--स्वभाव परीक्षा।
Tender Emotion--वात्सल्यरस, स्नेह।
Thinking--चिन्तन।
Thinking Type--विचार (प्रकार) प्रधान।
Trait--गुण।
Training--शिक्षा।
Transfer of Training--शिक्षा का स्थानान्तर।
ransitoriness of Instincts--मूलप्रवृत्ति का अस्थायीपन।
Trial and Error--प्रयास एवं त्रुटि।
Twins--जुडवे, यमजो।

U

Unconscious Self--अज्ञात चेतना।

V

Verbal Ability--शाब्दिक शक्ति।
Visual--दृष्टि सम्बन्धी।
Vividness--प्रबलता।
Vocational Guidance--व्यावसायिक निर्देशन।
Vocational Selection--व्यावसायिक चुनाव।
Volition--सकल्प।
Voluntary--ऐच्छिक।

W

Will--सकल्प शक्ति।
Whole Method--समग्र विधि।
Wonder--आश्चर्य।

Z

Zygotes--भ्रूण-कोष।

अनुक्रमणिका

(विषयों और लेखकों की)

(Subjects' and Authors' Index)

अनुक्रमणिका

(अ)

(आ)

(ए)

(ऐ)

(ओ)

(अ)

(क)

(ख)

(ज)

(थ)

(द)

(ध)

(न)

(फ)

(य)

(र)

(ल)

(व)

मुद्रक—नरसिह नाथ भार्गव, बी० एस-सी, दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, दरेसी २, आगरा ।

पाश्चात्य शिक्षा
का
संक्षिप्त इतिहास

—डा० सरयू प्रसाद चौबे, एम० ए०, एम० एड०

इस पुस्तक में गत बीस शताब्दी के पाश्चात्य शिक्षा के इतिहास की विवेचना है। शिक्षा में विभिन्न प्रगतियों तथा सुकरात, प्लैतो, अरस्तू, रुसो, पेस्तॉलाजी, हरबार्ट, फ्रोबेल, स्पेन्सर, ड्यूई और मान्तेसरी आदि महान् शिक्षकों के सिद्धान्तों का इसमें अनुशीलन है। इस पुस्तक को हिन्दी में इस विषय पर सर्वप्रथम पुस्तक होने का गौरव प्राप्त है।

द्वितीय चित्रमय संस्करण] रु० ८)

शिक्षण सिद्धान्त
की
रूप-रेखा

—डा० सरयू प्रसाद चौबे, एम० ए०, एम० एड०

हिन्दी में 'शिक्षा' पर अभी कम ही पुस्तकें निकली हैं। जो हैं भी उनका क्षेत्र बहुत कुछ सीमित जान पड़ता है। विद्वान लेखक ने कितने ही मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं व यह आशा की है कि इससे बहुतों को प्रेरणा मिलेगी।

[द्वितीय नितान्त संशोधित संस्करण] रु० ४)

लक्ष्मीनारायन अग्रवाल
शिक्षा संबंधी प्रकाशक,
आगरा।

दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा।